श्रीरूपकलादेव्यैनमः | श्रीहनुमतेनमः

॥ श्रीसीताराम ॥

मानस-पीयूष

(श्रीरामचरितमानस का संसार में सबसे बड़ा तिलक)

प्रथम सोपान (बालकांड)

भाग २ (ख)

[उमा-शम्भु-संवाद, प्रश्नोत्तर, अवतारहेतु-प्रकरण दोहा ११०(४) से दोहा १८८(६) तक]

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी, एवं श्रीमानसी बंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरण दासजी (श्रीकरुणासिंधुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, श्री पांडेजी, श्रीरामबख्शजी (मुं० रोशनलालकृत टीका), श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी संतउन्मनी श्रीगुरुसहायलालजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव; मानसराजहंस पं० विजयानंद त्रिपाठीजीकी अप्रकाशित एवं प्रकाशित टिप्पणियाँ, श्रीस्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीजीकी अप्रकाशित टिप्पणियाँ, आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनंगेपरमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारी दासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानस-विज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओं का सुन्दर संग्रह ।

तृतीय संस्करण

संपादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मानस-पीयूष कार्यालय, ऋणमोचनघाट, श्रीअयोध्याजी

तुलसी संवत् ३३५ वि० सं० २०१४] [मूल्य ८)

कुछ ग्रन्थोंके नाम जो भाग २ में आये हैं

अगस्त्य रामायण
अगस्त्यसंहिता
अद्भुत रामायण
अध्यात्म रामायण
अनेकार्थकोश
अन्वितार्थ प्रकाशिका टीका
(श्रीमद्भागवतकी)
अभिप्राय दीपक
अभिज्ञान शाकुन्तल
अमरकोश
अमरविवेक टीका (महेश्वरकृत)
अमरव्याख्यासुधा
अलंकार-मंजूषा
अष्टाध्यायी (पाणिनि)
अष्टावक्र वेदान्त
आगमसार
आचार मयूख
आनन्द रामायण
आत्मरामायण
आह्निक सूत्रावली
उपनिषद्—
कठ, छान्दोग्य, तैत्तिरीय,
मुक्तिकोपनिषद, श्रीरामतापनी,
श्रीरामरहस्य, वृहदारण्यक,
शाण्डिल्य, श्वेताश्वतर,
श्रीसीतोपनिषद ।
उपनिषदभाष्य (श्रीदर्शनानंदकृत)
उमानन्दनाथकृत तांत्रिक ग्रन्थ
(श्री)एकनाथमहाराजकी भागवत
टीका
एकाक्षरकोश
ऋग्वेद
कथासरितसागर
कवितावली
कामन्दकीय नीतिसार
(प्रतिष्ठेन्दुशेखर)

कामसूत्र (वाभ्रव्यऋषि)
कार्तिकमाहात्म्य
काशीखण्ड
किशोर रामायण
कुमारसम्भव
कुलार्णवतन्त्र
कृष्णगीतावली
कोशलखण्ड
गीता
गीता ज्ञानेश्वरी टीका
गीतावली
चर्पटपञ्जरी
चाँद (पत्रिका)
चाणक्यनीति
(श्री) जानकीभाष्य (श्रीराम-
प्रसादाचार्य)
तार्किकरक्षा
तुलसीपत्र (बालकराम विनायक)
त्रिकाण्डशेष कोश
(श्री) दुर्गाकल्पद्रुम शास्त्रार्थ
परिच्छेद
देवी भागवत
दोहावली
नवरस तरंग (श्रीशबरीशजी)
नक्षत्र चित्रपट श्रीरघुनाथशास्त्रीकृत
नारद पञ्चरात्र
नारदभक्तिसूत्र
(श्री) निम्बार्काचार्य भाष्य
पाण्डव गीता
पातंजल योग
पार्वतीमंगल
पुराण—
कालिका, गरुड़, पद्म, ब्रह्माण्ड,
भविष्योत्तर, श्रीमद्भागवत,
मत्स्य, महाभारत, मार्कण्डेय,
लिङ्ग, वायु-पुराण, वामन,

वाराह, ।
हरिवंश
प्रबोधचन्द्रनाटक
प्रसन्नराघव नाटक
विजय दोहावली
विनयपत्रिका
बरवै रामायण
वैराग्यसंदीपनी
भक्तमाल (श्रीनाभाजी)
भक्तिरसबोधिनी टीका
(श्रीप्रियादासजी)
भक्तमालकी टीका (श्रीरूपकलाजी)
भक्ति रसायन
भर्तृहरिशतक
भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व
भावार्थ रामायण
भास्करबीजगणित
भुवनेश्वरसंहिता
मनु संहिता
मनुस्मृति
,, कल्लूकभट्टकृतटीका
मन्त्ररामायण (यजुर्वेद)
महारामायण
माधवनिदान
माधुरी (पत्रिका)
माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदीय
मानसतत्व विवरण
मानसपत्रिका
मानसमणि
मानसर
मानसांक (गी० प्र०)
मेदिनीकोश
यजुर्वेद
योगतारावली
योगशास्त्र
योगसूत्र

रघुवंश
रसरत्नहार
राजशिक्षा सोपान
रामचन्द्रिका
(श्री) रामरहस्यत्रय
(श्री) रामस्तवराज
,, भावप्रकाशिका टीका श्रीरसरंगमणिकृत
रामहृदय
'रायलहारस्कोप' (वि. सूर्यनारायणकृत)
(श्री) रामाज्ञाप्रश्न
लट्टायनसंहिता
लोमश रामायण
लोलम्बराज
वसिष्ठसंहिता
वात्स्यायनसूत्र
विश्रामसागर
विष्णुधर्मोत्तर
वीरभद्रचम्पू
वेदान्तसार अभंग रामायण (मराठी)
वैदिक निघन्टु
शतपथ ब्राह्मण
शाङ्कर भाष्य (ब्रह्मसूत्रपर)
शिवसंहिता
शिवस्मृति
शुकदेवलालकी टीका
शुक्रनीति
शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिन वाजसनेयी
,, ,, रुद्राष्टाध्यायी
श्रीभाष्य
संगीत दामोदर
सतसई (तुलसीकृत)
सत्यार्थप्रकाश (स्वामीदयानन्द)
सदाशिवसंहिता
सनत्कुमारसंहिता
सप्तशती
सरयूदासजीका रामचरितमानस का गुटका
सांख्यकारिकाभाष्य (गौडपादाचार्य)
सांख्यतत्त्व कौमुदी
सांख्यशास्त्र
सामवेद भाष्य (जयदेव वेदालंकार)
साहित्य दर्पण
सिद्धान्ततत्त्वदीपिका
सिद्धान्त शिरोमणि (श्रीभास्कराचार्य)
सुधा (पत्रिका)
सुन्दर विलास
सुन्दरी तन्त्र
सूर्य्यसिद्धान्त
सौन्दर्य लहरी
स्वप्नाध्यायी
हठयोग प्रदीपिका
हनुमानबाहुक
हस्तामलकस्तोत्र
हितोपदेश
हेमकोश

नोट—श्रीरामचरितमानसकी टीकाओंके नाम तथा संकेताक्षरोंके विवरण सब भाग १ में दिये जा चुके हैं, अतः यहाँ नहीं दिये जाते।

बालकांड भाग २ के संस्करण

संस्करण	साइज़	पृष्ठ संख्या	सम्वत्	प्रेस
प्रथम	डेमाई अठपेजी	६६६-१०६०	तु० सं० ३०३-३०४	सीताराम प्रेस, श्रीअयोध्याजी
		१०६१-१४८६	सम्वत १९८३-१९८४	श्रीसीताराम प्रेस, बनारस
द्वितीय	२०×३०=८	१-९६०	श्रावण शु० ११ संवत् २००६	आनन्द प्रेस, श्रीअयोध्याजी
तृतीय	,,	भाग २ (क)	पौष सम्वत् २०१४	श्रीसीताराम प्रेस, वाराणसी पृष्ठ १-४८६ तक
,,	,,	भाग २ (ख)	,,	श्रीशङ्कर मुद्रणालय, वाराणसी

श्रीपार्वतीजीके प्रश्न

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी ॥ ४ ॥
पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा । बालचरित पुनि कहहु उदारा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—उदार=बड़ा दानी; देनेमें किंचित् संकोच न करनेवाला ।—'उदारो दातृ महतोः' इत्यमरः । ३।३।१६ ।'; 'जनु उदार गृह जाचक भीरा । ३.३६.८।', 'सुनहु उदार सहज रघुनायक । सुंदर अगम सुगम बर दायक । ३. ४२. १ ।', 'ऐसो को उदार जग माहीं । बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं । विनय १६२ ।' =सुन्दर; यथा 'उदारं सुंदरं प्रोक्तमुत्कृष्टं पूजितं तथा' इति त्रिलोचनः' । =सरल; यथा 'बालचरित अति सरल सुहाए । सारद सेष संभु श्रुति गाए । २०४।१ ।', 'दक्षिणे सरलोदारौ' इत्यमरे । ३।१।८ ।

अर्थ—प्रथम उस कारण को विचारकर कहिए जिससे निर्गुण ब्रह्म 'सगुण वपुधारी'* होता है । ४ । हे प्रभो ! श्रीरामजीका अवतार कहिए और तब फिर उदार बालचरित कहिए ॥५॥

नोट—१ श्रीपार्वतीजीकी मुख्य शंका और उनका सिद्धांत "प्रथम सो कारन ⋯ धारी" में है । उनका सिद्धान्त है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होता ही नहीं—'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद । सो कि देह धरि होइ नृप जाहि न जानत बेद । ५० ।' देखिये । दूसरे यह कि 'जौ नृप-तनय त ब्रह्म किमि । १०८ ।' अर्थात् जो देह धारण करता है वह निर्गुण ब्रह्म नहीं है । इस प्रकार उनके सिद्धान्तमें ब्रह्म दो हैं, एक निर्गुण दूसरा सगुण । और शिवजीका सिद्धान्त है कि जो निर्गुण है वही सगुण है, दोनों एक ही हैं । १०६.१ 'जौ अनीह व्यापक बिभु कोऊ । ⋯' में बताया गया है कि शिवजीकी चेष्टा ही देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि ब्रह्म एक ही है, निर्गुण ही सगुण है । अतएव उनका अब केवल यह प्रश्न रह गया कि 'निर्गुण ब्रह्म किस कारण सगुण होता है ?' क्यों शरीर धारण करता है ?

टिप्पणी—१ 'प्रथम सो कारन ⋯' इति । (क) पार्वतीजीकी मुख्य शंका यही है । उन्हें निर्गुणके सगुण होनेमें संदेह है, इसीसे निर्गुण ब्रह्मके सगुण होनेका ही प्रश्न प्रथम किया । अथवा, प्रथम अवतारका हेतु वा प्रयोजन पूछा, फिर अवतारकी लीलाका प्रश्न क्रमसे करती हैं । (ख) यहाँ निर्गुण ब्रह्मका सगुण होना पूछनेसे जाना गया कि उमाजीने अपनी इस शंकाको कि, 'ब्रह्म अवतार नहीं लेता ।' शिथिल समझा और शिवजीके—'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी । अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी । ५१ ।" अर्थात् ब्रह्म अवतार लेता है—इस उपदेशको पुष्ट समझा । (ग) यहां वस्तुतः दो प्रश्न हैं । एक कि 'निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे हुआ ?' दूसरे 'वपुधारी कैसे हुआ ?' अर्थात् पंचतत्व निर्मित शरीर कैसे धारण किया ?—[इससे सिद्ध हुआ कि वे समझती हैं कि प्रभुका यह शरीर मनुष्यकासा पंचतत्वोंका ही है; यथा 'छिति जल पावक गगन समीरा । पंचरचित अति अधम सरीरा । ४.११ ।' अतः 'बपु धारी' में यह प्रश्न आ गया कि 'उनका शरीर इन्हीं पंचतत्वोंसे बना है, या वे और किसी प्रकार स्वरूप धर लेते हैं, वह शरीर किसी और प्रकारका है ?'] । (घ) 'कहहु बिचारी'—भाव कि निर्गुणका सगुण होना बहुत कठिन है । क्या यह बात आपके बिचारमें आसकती है ? यहाँ 'कहहु बिचारी' कहा अर्थात् स्वयं समझकर कहिए और आगे चलकर पुनः कहती हैं कि "राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी । सर्ब रहित सब उर-पुर-बासी ॥ नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू । मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू ।१२०।६-७।' अर्थात्

* इसके अर्थ ये हैं—(१) सगुण शरीरधारी होता है । (२) सगुण कैसे होता है ? तथा बपुधारी कैसे होता है ? (पं० रामकुमार) ।

मुझे समझाकर कहिए। 'बिचारी' और 'समुझाई' 'कहहु' का तात्पर्य यह है कि यह शंका भारी है, इसे विचारने और समझानेकी आवश्यकता है।

['बिचारी' में यह शंका होती है कि "क्या शिवजी जानते नहीं हैं, अब उसका कारण ढूँढ़ निकालेंगे ?", परन्तु यह बात नहीं है। पार्वतीजीके कथनका भाव यह है कि निर्गुण ब्रह्म अवतार लेता है, यह तो आपके व्यवहार और प्रभुके ऐश्वर्यसे जो मैंने वनमें देखा था, निश्चय हो गया; परन्तु वह क्यों अवतार लेता है यह समझमें नहीं आता, पूर्णकामको प्रयोजन नहीं हो सकता, सत्यसंकल्पको शरीर धारण-की आवश्यकता नहीं। अतः उसे इस तरह विचारकर कहिये कि मेरी समझमें आ जाय।]

२ 'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।...' इति। (क) अर्थात् रज और वीर्यसे पैदा हुए, गर्भमें रहे, कि आकर प्रकट हो गए ? गर्भसे प्रकट हुए कि गर्भमें नहीं आए ऐसे ही प्रकट हो गए ? और प्रकट होकर जो चरित किये सो कहिये।

नोट—२ 'राम अवतारा'। यहां इस प्रश्नमें अवतार पूछा कि कैसे अवतीर्ण हुए, गर्भसे पैदा हुये कि साक्षात् प्रकट हो गए। परन्तु जब शिवजीने चार दोहोंमें 'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। ११६।१।' से 'ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं। ११६.६।' तक अगुण-सगुणका स्वरूप भली भाँति समझाया तब इनको पूर्ण विश्वास हो गया कि श्रीरामजीही निर्गुण और सगुण दोनों हैं, मोह-माया, हर्ष-विषाद इत्यादिका लेशभी इनमें नहीं है, ये 'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी' हैं और तब इन्होंने श्रीरामजीके अवतारका हेतु भी पूछा। इसीलिये शिवजीने अवतारके साथ अवतारका हेतु भी कहा है। 'नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। १२०.७।' का उत्तर "हरि अवतार हेतु जेहि होई। १२१.२।' से 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा। १८८।६।' तक है। इसके आगे शुद्ध परात्पर ब्रह्मका अवतार वर्णन किया गया है।

श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि "इनको पूर्व सती तनमें तीन संदेह हुए थे उनका स्मरण करके गर्भित प्रश्न करती हैं। क्रमहीसे दोनों प्रश्नोंके अवान्तर समस्त तात्पर्य भरा है। वे सोचती हैं कि हमारे मतमें निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं होता। यदि शिवजी कहेंगे कि निर्गुण सगुणरूप होता है तब मैं समझूंगी कि सती-तनमें मुझसे समझते न बना था, रामचन्द्रजीही निर्गुण ब्रह्म हैं, भक्तोंके लिए सगुण हुए। दूसरा प्रश्न अवतार और लीलाका यह सोचकर किया कि यदि रामचन्द्रजीको निर्गुण न कहेंगे तो यह कहेंगे कि विष्णुके अवतार हैं, तब मैं यह समझूंगी कि मेरी समझमें गलती थी कि ये विष्णु नहीं हैं। यदि न निर्गुण और न विष्णुही कहा तो दशरथ-पुत्र कहेंगे; परन्तु मैंने बनमें इनके चरित्रमें परात्पर विग्रह स्वरूप देखा है, यह सोचकर तीसरा प्रश्न लीलाका किया कि इससे उनका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट समझमें आ जावेगा। बाक़ी सब प्रश्न इन्हींके अन्तर्गत हैं।"

वि० त्रि०—रामजी कैसे अवतीर्ण हुए ? भाव यह कि सभी अवतारोंके अवतीर्ण होनेकी विधि पृथक्-पृथक् है। नृसिंह भगवान् खम्भेसे अवतीर्ण हुए, बाराह ब्रह्मदेवकी नासिकासे, इत्यादि। ये कैसे अवतीर्ण हुए ?

नोट—३ 'बालचरित पुनि कहहु उदारा' इति। (क) बालचरितको उदार कहनेका भाव कि इसमें थोड़ी ही रीझमें बहुत कुछ दे देते हैं, जैसे बालक लड्डू देख रुपया भी दे देता है, गोदमें आ जाता है, इत्यादि। देखिए, श्रीभुशुण्डीजीको कैसा बड़ा वर मिला। यथा "मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी। ७।८४।८।' से 'एवमस्तु कहि रघुकुल नायक।...कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही।७.८८. १।' तक। 'उदार' के सभी अर्थ जो शब्दार्थमें दिये गए यहाँ लगते हैं। बालचरित सुंदर हैं, सरल हैं, उत्कृष्ट हैं और परम दानशील हैं। पुनः, (ख) उदार = देशकालपात्रापात्रका विचार न करके याचकमात्रको स्वार्थरहित मनोवांछित दान देनेवाला। यथा 'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणे। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरेः।'

भ० गु० द०, वै० ।' वि० त्रि० कहते हैं कि इस चरितमें दासोंको अधिक आनन्द मिलता है; यथा. 'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा ॥ अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ।', इसीसे इसे उदार कहा ।

४ बालचरित प्रकरण कहाँसे कहाँ तक है ? इसके और अन्य चरितोंके प्रकरणठी क-ठीक जाननेके लिए हमें मूल रामायणसे सहारा लेना चाहिये जो श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीभुशुण्डीजीसे उत्तरकांडमें कहलाया है। वहाँ बाल-चरित ऋषि-आगमन तक दिखाया है। यथा "तब सिसुचरित कहेसि मन लाई ॥ बाल-चरित कहि बिबिध बिधि मन महँ परम उछाह। रिषि आगमन कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिबाह। ६४।' शिशु चरित तो प्रगट होते ही दोहा १६२ से प्रारंभ हो गया; यथा "कीजै सिसु-लीला अति-प्रिय-सीला यह सुख परम अनूपा ॥ सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा ॥", "सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी ॥" परन्तु सिलसिलेसे यह प्रसंग नामकरणसंस्कार होने पर 'मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहि सुख माना। १६८।२ ।' से प्रारंभ होकर "यह सब चरित कहा मैं गाई। २०६।१ ।" तक गया है।

कहहु जथा जानकी बिबाही। राज तजा सो दूषन काही ॥६॥
बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा ॥७॥
राज बैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला ॥८॥

अर्थ—जिस तरह जानकीजीको ब्याहा सो कहिए। राज्यका त्याग किया सो किस दोषसे ? ॥ ६ ॥ वनमें बसकर जो अपार चरित किये, उन्हें कहिए। हे नाथ ! जिस प्रकार रावणको मारा वह कहिए ॥७॥ हे सुखस्वरूप श्रीशंकरजी ! राज्य पर बैठकर श्रीरामजीने बहुत लीलाएँ कीं, वह सब कहिए ॥८॥

टिप्पणी—१ 'कहहु जथा जानकी बिबाही।' इति। इस प्रश्नसे मुनि-यज्ञरक्षा, अहल्योद्धार, धनुर्भङ्ग, इत्यादि (बालचरितके पश्चात्) जितना भी चरित बालकाण्डकी समाप्ति तक है वह सब 'जानकी-विवाह' की कथा है; यथा 'बालचरित कहि बिबिध बिधि मन महँ परम उछाह। रिषि आगवन कहिसि पुनि श्री रघुबीर बिबाह। ७।६४।' इस तरह चार प्रश्नोंमें बालकाण्ड समाप्त हुआ। आगेके चरणमें 'राज तजा...' यह अयोध्याकांडका प्रश्न है। एक ही प्रश्नसे अयोध्याकाण्ड पूर्ण हुआ।

नोट—१ मूल रामायणमें 'बालचरित' के पश्चात् 'ऋषि आगमन' है तब 'श्रीरघुबीरविवाह'; परन्तु यहाँ श्रीपार्वतीजीके प्रश्नोंमें 'बालचरित' के पश्चात् 'विवाह' का प्रश्न है। दोनोंमें भेद नहीं है, क्योंकि ऋषि-आगमन ही विवाह का मुख्य कारण है। श्रीदशरथजी महाराजने जब पुत्रों के देने में संकोच किया, तब वसिष्ठजी ने राजाको समझाया है। यथा 'सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं ॥२०८।५', 'तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा।'; वह समझाना यही था कि इनके साथ जाने से इनका विवाह होगा। कवि ने विश्वामित्रजी के वचनों में भी 'अति कल्याण' ये शब्द देकर इसी बातको गुप्त रीतिसे कह दिया है। यथा 'देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान। धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान। २०७।' विवाहको 'कल्यान कार्य' कहते भी हैं; यथा "कल्यान काज बिबाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं ।१.१०३।' गीतावलीमें भी श्रीविश्वामित्रजीके बहाने विवाह कहा गया है। यथा "जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो। राम भरत रिपुदवन लखन को जय सुख सुजस सुनायो। तुलसिदास रनिवास रहस बस भयो सब को मन भायो। गी० १.१४ ।', विश्वामित्रजीने भी कहा है—'राजन राम लखन जौं दीजै। जस रावरो लाभ ढोटनिहूँ...। गी० १.४८।' यह बात वाल्मीकीय और अध्यात्म-रामायणोंसे भी स्पष्ट है। पुत्र जब विवाह योग्य हुए तब राजाको उनके विवाहकी बड़ी चिंता हुई। उसी समय शिवजी विश्वामित्रजी आए। यथा 'अथ राजा दशरथ-

स्तेषां दारक्रियां प्रति ॥३७॥ चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः । तस्य चिन्तयमानस्य मंत्रिमध्ये महात्मनः ॥३८॥ अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः । वाल्मी० १।१८ ।' अर्थात् धर्मात्मा राजा दशरथ मंत्रियों, बंधुवर्गों और गुरु सहित पुत्रोंके विवाहके संबंधमें विचार कर ही रहे थे कि उसी समय महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्रजीका आगमन हुआ। पुनश्च, "रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः । १२ । योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी । १८ । विश्वामित्रोऽपि रामाय तां योजयितुमागतः । एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन । १६ । अ० रा० १।४ ।' अर्थात् वसिष्ठजीने समझाया कि श्रीरामजी मनुष्य नहीं हैं, सनातन परमात्मा हैं और सीताजी योगमाया हैं जो जनकनन्दिनी हुई हैं। दोनोंका संयोग (विवाह) करानेके लिए ही इस समय श्रीविश्वामित्रजी यहाँ आए हैं, यह अत्यन्त गुप्त रहस्य है, इसे कभी किसीसे न प्रकट करना।—अतएव श्रीपार्वतीजीने 'ऋषि आगमन' को 'विवाह' का ही अंग मानकर उसको पृथक् नहीं कहा। ☞ इस तरह 'कहहु जथा जानकी बिवाही' यह प्रश्न वा प्रसंग "आगिलि कथा सुनहु मन लाई । १.२०६.१ ।' से बालकाण्डके अन्त तक है। और मूल रामायणके अनुसार 'आगिलि कथा सुनहु मन लाई' से 'रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया ।१.२१०.७।' तक 'ऋषि आगमन' प्रसंग है और 'तब मुनि सादर कहा बुझाई । चरित एक प्रभु देखिय जाई ॥ धनुषयज्ञ सुनि···।१.२१०.८।' से 'सियरघुबीर बिवाह' प्रकरण प्रारंभ होगा।

प. प. प्र.—'जथा' का भाव कि जयमाल स्वयंवरमें व्याहा या पण-स्वयंवरमें, या वीरशुल्का प्राप्त की या ब्राह्म-विवाहविधिसे व्याहा अथवा दुष्यन्त-शकुन्तला-विवाहके समान गान्धर्वविधिसे व्याहा, या कन्याकी इच्छासे कन्याके पिता आदिसे युद्ध करके ले आए, इत्यादि, कहिए।

वि. त्रि.—भाव कि माता-पिताने कन्या देखकर विवाह नहीं किया, अपने पुरुषार्थसे श्रीरामचन्द्रजीने श्रीजानकीजीको व्याहा, सो वह कथा कहिए।

टिप्पणी—२ 'राज तजा सो दूषन काहीं' इति। किस दोषसे राज छोड़ दिया? इस प्रश्नसे जनाया कि राज्यमें कोई दोष देखा होगा तभी उसे छोड़ा, नहीं तो राज्यके लिए लोग संसारमें क्या नहीं करते; उस पर भी 'अवधराज सुरराज सिहाहीं' ऐसे राज्यको क्यों छोड़ते? इसका उत्तर शिवजीने "भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुवराजू ॥ राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥ गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदय अस बिसमउ भयऊ॥ जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा॥ बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥ प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। २.१०.२-८।' इन चौपाइयोंमें दिया है। चारों भाइयोंके सब संस्कार जन्मसे लेकर विवाह तक साथ-साथ हुए और राज्य भाइयोंको छोड़कर अकेले मुझ बड़े पुत्रको हो, यह अनुचित समझ उन्होंने राज्यत्यागके उपाय रच दिये और राज्य छोड़ दिया।

नोट—२ इस पर यह शंका होती है कि 'जब इस दोषसे छोड़ा तब फिर उसे ग्रहण क्यों किया?' समाधान—बिना भक्त भरतके राज्य स्वीकार न किया और भरतजीके देनेसे स्वीकार किया। (रा० प्र०)। पुराणों तथा रामायणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरघुनाथजीने राज्य सब भाइयोंके पुत्रोंको बाँट दिया था।

३ राज्य तो केकयीके वरदानके कारण छोड़ा गया पर यहाँ श्रीरामजीका उसमें दोष देखकर छोड़ना कहा गया। इसका कारण यह है कि श्रीरामजी स्वतंत्र हैं, वे राज्य ग्रहण करना चाहते तो यह विघ्न होता ही क्यों? यह सब लीला तो प्रभुकी इच्छासे ही हुई। यथा 'तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी। २.२१८.३।' सत्योपाख्यानमें तो कैकेयीजीसे श्रीरामजीका यह माँगना लिखा है कि हमारे लिए तुम अपयश सहो, यदि तुम्हारा हम पर प्रेम है और कैकेयीजीने उसे स्वीकार भी कर लिया था। अतः जो कुछ भी हुआ वह श्रीरामजीकी इच्छासे।

टिप्पणी—३ 'बन बसि कीन्हें चरित अपारा···' इति । (क) ☞इस प्रश्नसे अरण्य, किष्किन्धा, और सुन्दर तीन कांड समाप्त हुए। बनचरित बहुत हैं इससे 'अपार' कहा। बहुत चरितका प्रमाण भुशुण्डीजीकी मूल रामायणसे मिलता है। उन्होंने बनचरितकी सूची दो दोहोंसे अधिकमें दी है। यथा-(१) 'सुरपति सुत करनी ।७।६४।८', (२) 'प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी ।७।६४।८', (३, ४) 'कहि बिराध बध' 'जेहि बिधि देह तजी सरभंग', (५-६) 'बरनि सुतीच्छन प्रीति पुनि' 'प्रभु अगस्ति सतसंग । ६४ ।', (७) 'कहि दंडक बन पावनताई', (८) 'गीध मइत्री पुनि तेहिं गाई', (९) 'पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा । भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा ।', (१०) 'पुनि लछिमन उपदेस अनूपा' इत्यादिसे 'सागर निग्रह कथा सुनाई । ७ । ६७ । ८ ।' तक सैंतालीस चरित्र भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे वर्णन किये हैं। अतएव 'अपार' कहा। अथवा, 'अपार' इससे कहा कि अन्य प्रश्नोंका और विशेषकर कई प्रश्नोंका उत्तर एक ही एक कांडमें मिल जाता है और इसका उत्तर तीन कांडोंमें है। अथवा, जिसका कोई पार न पा सके ऐसे जो गुप्त रहस्य हैं उनमेंसे अनेक वनमें (चित्रकूट, स्फटिकशिला, पंचवटी आदिमें) हुए; अतएव 'अपार' कहा। अथवा सतीतनमें प्रभुकी अपार महिमा वनमें देख अत्यंत सभीत हो गई थीं, उस चरितका पार न पा सकीं, उसको विचारकर 'अपार' कहा। (ख) वनमें पर्णकुटी छाकर बहुत दिन (लगभग तेरह वर्ष) रहे, अतएव 'बन बसि' वनमें बसना कहा। (ग) 'कहहु नाथ जिमि रावन मारा'—से संपूर्ण लंकाकांडका ग्रहण हुआ। यदि इतना ही कहतीं कि रावणवध कहिए, 'जिमि' अर्थात् जिस तरह यह शब्द न कहतीं तो शिवजी केवल राम-रावण-संग्राम कहते। सेतुबंधन, अंगद रावणसंवाद, कुंभकर्णमेघनादादिका वध इत्यादि कुछ न कहते। 'जिमि' शब्दसे इन सबोंका ग्रहण हुआ। [इससे रावणके मारनेकी विधि पूछी। इसका मारना बड़ा कठिन था। दुर्गम स्थानमें निवास, मेघनाद कुम्भकर्ण प्रभृतिसे रक्षित, स्वयं तपस्या वरदानादिसे अजेय, सिर कटनेपर भी न मरना, आदि ऐसी अनेकानेक बातें थीं। जनकनन्दिनजी भी इसके मरनेकी विधि त्रिजटासे पूछने लगीं। सो उसके मरनेकी विधि बताइये। (वि० त्रि०)]

४ "राज बैठि कीन्ही बहु लीला।···" इति। (क) मूल रामायणमें यह प्रसंग इस प्रकार है "जेहि बिधि राम नगर निज आए। बायस बिसद चरित सब गाए॥ कहेसि बहोरि राम अभिषेका। पुर बरनत नृपनीति अनेका॥ ७।६८।' यह प्रसंग उत्तरकाण्डके प्रारंभसे 'अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आए। कृपासिंधु के मन अति भाए। ७.५०.१।' तक है। (ख) "संकर सुखसीला" कहनेका भाव यह है कि आप सब चरित (जो राज्यपर बैठकर श्रीरामचंद्रजीने किये) मुझसे कहकर मुझे सुख दीजिए, जैसे श्रीरामचंद्रजीने अपने चरित्रोंद्वारा श्रीअवधपुरवासियोंको सुख दिया था। श्रीरामचन्द्रजीने राजा होनेपर राज्यलीलासे पुरवासियोंको सुख दिया, अतएव पुरवासी उन्हें 'सुखराशि' कहते थे; यथा "रघुपति-चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी। ७.२०.६।' आप मुझे सुनाकर सुख देंगे, अतएव आप भी 'सुखशील' हैं। श्रीरामचंद्रजीने श्रीअवधमें अपने चरितसे पुरवासियोंको सुख दिया था, श्रीशिवजीने कैलासपर श्रीरामचरित सुनाकर श्रीपार्वतीजीको सुख दिया। श्रीरामचरितसरितमें स्नान करनेवालोंको आज भी वही सुख होता है। यथा 'भरत राम रिपु दवन लखन के चरित सरित अन्हवैया। तुलसी तबके से अजहूँ जानिबे रघुबर नगर बसैया। गीतावली। १।६।६।' तब श्रीपार्वतीजीको सुख क्यों न हो। कुछ महानुभाव 'सुखशीला'को लीला और शंकर दोनोंका विशेषण मानते हैं। क्योंकि चरित देखकर पुरवासी सुखी हुये थे जैसा ऊपर कहा गया है। [☞'सुखशील'का भाव कि रामराज्यसे ऐसा सुख हुआ कि आजतक भारत उसे भूलता नहीं। जब बहुत सुख मिलता है तब लोग कहते हैं कि रामराज्य है। आप सुखशील हैं, ऐसे सुखकी कथा कहिये। (वि० त्रि०)]

दोहा—बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंसमनि, किमि गवने निज धाम ॥११०॥

अर्थ—फिर (तत्पश्चात्), हे करुणाधाम! जो आश्चर्य (की बात) श्रीरामजीने किया वह कहिए। रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी प्रजा-सहित अपने धामको कैसे गए? ॥११०॥

टिप्पणी—१ (क) 'करुनायतन' इति। पार्वतीजी जानती हैं कि शिवजी श्रीरामजीकी 'निज धाम यात्रा' न कहेंगे। उनकी अरुचि जानकर उसको कहलानेके लिये 'करुनायतन' सम्बोधन देकर सूचित करती हैं कि मुझपर करुणा करके यह चरित कहिये। यद्यपि पार्वतीजीने बहुत नम्रतापूर्वक यह प्रश्न किया तथापि शिवजीने पर-धाम-यात्रा नहीं ही कही। (ख) 'कीन्ह जो अचरज राम' इति। 'आश्चर्यकी बात' कहा, क्योंकि किसी और अवतारमें ऐसा नहीं हुआ (कि भगवान् सदेह अपने धामको गए हों और अपनी प्रजाको भी साथ ले गए हों। यह अद्भुत चरित इसी अवतारमें देखा गया। (ग) ☞अवतारसे लेकर निजधाम यात्रातक पृथक्-पृथक् कथाएँ पूछकर अंतमें फिर उन्होंने यह भी कह दिया कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई।' जिसमें एक भी चरित रह न जाय।—इससे श्रीपार्वतीजीकी श्रीरामकथामें अत्यंत प्रीति प्रकट होती है। (यह प्रीति देखकर ही शिवजीने श्रीरामचरित कहा।—'तब मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई। ७।१२८।')

वि० त्रि०—'कीन्ह जो अचरज ···' इति। प्रजाप्रेमकी पराकाष्ठा हो गई। संपूर्ण प्रजाको कैसे साथ ले गए? 'कर्म वैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्', कर्मकी विचित्रतासे ही सृष्टिमें वैचित्र्य है। सबका कर्म एक साथ ही कैसे समाप्त हुआ जो सबके सब मुक्त हो गए?

"किमि गवने निज धाम"

इस प्रश्नका उत्तर श्रीरामचरितमानसमें स्पष्ट रीतिसे कहीं नहीं पाया जाता। गुप्त रीतिसे इसका उत्तर अवश्य उत्तरकांडमें सूचित कर दिया गया है, ऐसा बहुतोंका मत है। उनका मत है कि श्रीरामस्वरूपका बोध हो जानेसे श्रीपार्वतीजीको गुप्त उत्तरसे पूर्ण संतोष हो गया, उनको उत्तर मिल गया, नहीं तो वे कथाकी समाप्तिपर अवश्य इस प्रश्नका उत्तर माँगतीं। दूसरा मत है कि श्रीशिवजीने इस प्रश्नका उत्तर गुप्त या प्रकट किसी रूपसे दिया ही नहीं।

कुछ महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'परमधाम-यात्रा स्पष्ट शब्दोंमें क्यों वर्णन नहीं की गई अथवा इस दोहेके प्रश्नोंका उत्तर स्पष्ट क्यों नहीं कहा गया?' उसका उत्तर भी अपने-अपने मतानुसार दिया है। हम पहिले उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ करते हैं—

१ परधाम यात्राके संबंधमें ऋषियोंके मत भिन्न-भिन्न हैं। कितने ही मतोंसे इसके उत्तरमें विरोध पड़ता। श्रीगोस्वामीजीने प्रश्न तो कहा "पर चित्त उनका अत्यंत कोमल था, अंतमें उपरामकी बात न कही जा सकी।" (बाबा रामदासजी)।

२ उपासकोंका भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी श्रीअयोध्याजीमें नित्य बिहार करते हैं, अतएव उनके भावानुसार किसी अन्य धाममें उनकी यात्रा हुई ही नहीं। वा, इसीसे 'विरस जानकर यात्रा न कही।' (वंदनपाठकजी)। गुप्त उत्तरसे उपासकोंकी भावनाके विरुद्ध भी न पड़ा और उत्तर भी हो गया।

३ "उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप। ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप। ७।४७।" में प्रजाका नित्य-धाम-गमन गुप्तरूपसे कहा गया है। क्योंकि 'कृतार्थरूप' कहनेसे प्रजाका आवागमनरहित होना सूचित कर दिया गया है। ब्रह्म श्रीराम जहाँके राजा हैं वह सच्चिदानंदघन है, 'अप्राकृत' है अर्थात् साकेत केवल सच्चिदानंद है यह सूचित किया। (रा० प्र० से उद्धृत)।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि "इस प्रश्नको उत्तरके योग्य न विचारकर उत्तर न लिखा। क्योंकि साकेत और श्रीअवध एक ही पदार्थ हैं। जैसे साकेतविहारी और अवधविहारी नाम मात्र दो हैं, इसी प्रकारसे व्यवस्था श्रीसाकेत और श्रीअवधकी जानो।"—[प्रमाण सदाशिवसंहिता यथा 'भोगस्थानं पराऽयोध्या लीलास्थानत्विदं भुवि। भोगलीलापतीरामो निरंकुश विभूतिकः।' (स० शि० सं० पटल ५)]—"अवधहिं में प्रगट भए हैं अवधहिं में पुनि रहे समाय।' इसीलिए इस प्रश्नका खंडन-'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप।...' इस दोहेमें किया। यहाँ कृतारथरूप कहकर और ठौर जानेका भ्रम दूर किया क्योंकि वे कृतार्थरूप हैं, और ठौर क्यों जायेंगे ? जहाँके राजा ब्रह्मसच्चिदानन्दघन रघुनायक हैं वहाँका त्याग किस भाँति संभव है ? यहाँ 'बहुरि कहहु करुनायतन०' इस प्रश्नको व्यर्थ ठहराया" (व्यर्थ ठहराया अर्थात् पुरवासियोंको किस तरह और कहाँ ले गए, यह प्रश्न ही 'नर नारि कृतारथ रूप...' जान लेनेपर अब नहीं उठता या रह जाता)।

सारांश तात्पर्य्य यह निकला कि श्रीपार्वतीजीको श्रीरामतत्त्वका उस समय यथार्थ बोध न होनेसे उनका 'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम' यह प्रश्न करना उचित ही था। परन्तु रामतत्त्वके ज्ञाता श्रीशिवजीने जब उन्हें बोध करा दिया कि 'अवधबासी नरनारि कृतारथरूप ...' हैं तब उनका 'निजधाम गवन' का संदेह ही निवृत्त हो गया, इसीसे उन्होंने कथाके बाद यह कहा कि 'जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह। उ० ५२।' जो शिवजीने 'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप' कहा था, वही 'प्रभु चिदानंदसंदोह' श्रीपार्वतीजीके वचनोंमें है।

बाबा श्रीजयरामदासजी रामायणी (साकेतवासी) लिखते हैं कि "इस प्रश्नका उत्तर शिवजीने दिया ही नहीं है, इसीसे इस ग्रन्थमें वह कहीं नहीं मिलता। उत्तर न देनेका कारण यह है कि "श्रीपार्वतीजीने कुल १४ प्रश्न किये हैं। उन्हें दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भागमें ८ प्रश्न हैं—'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी' से 'राज बैठि कीन्ही बहु लीला। सकल कहहु संकर सुभ सीला।' तक। "उपर्युक्त प्रथम ८ प्रश्नोंका आरंभ 'प्रथम' शब्दसे होता है और उनकी समाप्ति राजगद्दीकी प्राप्ति-विषयक प्रश्नपर होती है। उसके आगे 'बहुरि'—शब्दसे दूसरा भाग आरंभ होता है। उसमें छः प्रश्न हैं, जिनमें श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध न होनेके कारण कुतर्कके आभास एवं असंभावनाकी आशङ्कासे युक्त पहला प्रश्न तो यही है। इसके सिवा ५ क्रमशः भगवत्तत्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके विषयमें हैं। यथा 'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।...।' जब श्रीशङ्करजीने 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रकट परावरनाथ' से 'राम सो परमात्मा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी' इस चौपाईतक पार्वतीजीको श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध करा दिया, तब श्रीपार्वतीजीकी सारी कुतर्ककी रचना नष्ट होगई और उन्हें जो श्रीरघुनाथजीका प्रजावर्ग सहित निज धामको जाना असंभवसा जान पड़ता था वह सारी दारुण असंभावना नष्ट होगई,—'सुनि शिवके भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतर्क की रचना॥ भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥'—तब वे श्रीमहादेवजीके चरणकमलोंको स्पर्शकर हाथ जोड़कर कहने लगीं—'ससिकर सम...तुम कृपालु सब संसय हरेऊ। राम स्वरूप जान मोहि परेऊ॥...प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू।' अर्थात् अब मुझे श्रीरामजीके स्वरूपका बोध हो गया है... मुझे, अपनी किंकरी जानकर मैंने पहले (श्रीरामचन्द्रजीके सिंहासनारूढ़ होने तकके आठ) प्रश्न किये हैं अब 'सोई'—केवल उतनोंहीका वर्णन कीजिये। [तात्पर्य्य कि इसके आगे 'बहुरि' शब्दसे आरंभ होनेवाले छः प्रश्नोंको मैं वापस लेती हूँ। अब उनके उत्तर सुननेकी मुझे आवश्यकता नहीं है। अतः वे खारिज समझे जायँ]। इस प्रकार जब प्रश्नकर्त्ताहीने अपने प्रश्नोंको निकाल दिया तो वक्ता उत्तर कैसे दे सकता है ? इसी उत्तरकांडमें राज्याभिषेकतकका चरित्र सुनानेके पश्चात् जब शिवजीने कहा कि 'अब का कहौं सो कहहु

भवानी' तब उन्होंने "बायस तनु रघुपति भगति मोहि परम संदेह' इत्यादिसे नया प्रश्न श्रीकाकभुशुण्डिजीके विषयमें किया है। इससे सिद्ध है कि अब उन्हें पीछेके प्रश्नोंका उत्तर सुननेकी इच्छा नहीं थी।"

किसी-किसी महानुभावका मत है कि इस प्रश्नका उत्तर 'एक बार रघुनाथ बुलाए···। ७।४३।' से 'गए जहाँ सीतल अमराई। भरत दीन्ह निज बसन डसाई।। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई। मारुतसुत तब मारुत करई। ७।५०।' तकमें गुप्तरूपसे है। शीतल अमराईसे लौटकर फिर घरमें आना वर्णन नहीं किया गया और प्रसंगकी समाप्ति करही दी गई। अतएव समझना चाहिए कि इतनेसे ही निजधामयात्रा सूचित करदी गई है। और कोई कहते हैं कि 'हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता।। पुनि कृपाल पुर बाहेर गए" इन अर्धालियोंमें पुर-बाहर जाना कहकर परधामयात्रा, और, 'सेवक' कहकर 'प्रजा' को संग लिये जाना सूचित कर दिया गया है, यथा 'हम सेवक स्वामी सियनाहू। होउ नात एहि ओर निबाहू।' पुनः सेवकसे सुग्रीवादि सखा सेवकोंकोभी साथ लेजाना जना दिया। 'गए जहाँ सीतल अमराई' के शीतल अमराईसे निज धाम साकेतलोक सूचित किया।

संत उन्मनी टीकाकार, पं० शिवलालपाठक और श्रीपंजाबीजी इस दोहेमें दो प्रश्न मानते हैं। १—'कीन्ह जो अचरज राम' अर्थात् कौन-कौन आश्चर्य्यजनक कार्य्य किये ? २—प्रजासहित निज धाम क्योंकर गए ? मयंककार लिखते हैं कि "प्रथम आश्चर्य यह है कि अपने विश्वास-निमित्त श्रीरामचन्द्रजीने श्रीजानकीजीसे शपथ कराया···चौथा आश्चर्य्य यह है कि मनुष्यशरीरसे किस प्रकार परधाम गए ? और पाँचवाँ यह कि क्या इस अयोध्यासे श्रेष्ठ कोई अन्य रामचन्द्रजीका धाम है ?

वेदान्तभूषणजी—प्रत्येक प्रधान भगवद्वतारोंके निजधामगमनमें कुछ विलक्षणता है। जैसे, नृसिंहजीका शरभ-शिवसे युद्ध करके, श्रीकृष्णजीका व्याधके बाणद्वारा, इत्यादि। वैसेही मुख्यतम अवतार श्रीरामजीकेभी निजधामगमनमें जो विलक्षणता हो वह कहिए। अयोध्याके प्रतापी राजाओंमेंसे कई एक राजा अपनी अयोध्यानिवासी प्रजाको साथ लिये भगवल्लोकको गए हैं। सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र, रुक्मांगदजी और ऋषभजी और कुशजी अयोध्याके समस्त जीवोंसहित परधामको गए हैं। और, श्रीरामजी एक तो मुख्यतम अवतार, दूसरे अवधनरेशोंमें सबसे प्रतापी रघुवंशमणि थे, अतः वे अवश्य अवधनिवासी प्रजाओंके साथ स्वधामको गए होंगे। अतएव उस गमनका चरित्र भी कहिए। पार्वतीजी यह समझे बैठी हैं कि अन्य अवतारोंकी तरह श्रीरामजी भी कहींसे आकर फिर चले गए होंगे; क्योंकि 'अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी' यह बात सतीजीसे स्वयं श्रीशिवजीने ही कही थी और इस समय पार्वतीजीको 'पूरुब जन्म कथा चित आई' है, इसीसे उन्होंने ऐसा प्रश्न किया कि निज धामको कैसे गए ? परंतु शिवजी तो जानते हैं कि प्रभु 'अवधहीसे प्रगट हुए और अवधमेंही रहत समाय', इसीसे उन्होंने कहा कि 'राम अनादि अवधपति सोई' अर्थात् श्रीरामजी कहींसे आते नहीं और जब आतेही नहीं तो जायेंगे कहाँ ? अतः 'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप।···' यही पार्वतीजीके प्रश्नका उत्तर भी है।

☞इस दीन (संपादक) की समझमें तो श्रीपार्वतीजीने जितने प्रश्न किये, उनमेंसे कोई भी वापस नहीं लिये गए। यदि श्रीरामचरित (परमधाम) के बादके प्रश्न वापस लिये गये होते तो शिवजीने श्रीरामचरित वर्णन करते हुए बीच बीचमें उनकी व्याख्या न की होती। केवल बात यह है कि श्रीरामचरितमें ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सभी सिद्धान्तोंके प्रश्न किसी न किसी पात्र द्वारा उठाए गए हुए और उनके उत्तर दिये हुए बराबर पाए जाते हैं। श्रीपार्वतीजी न जानती थीं कि भक्ति आदि भी श्रीरामचरितके अंग हैं इसीसे उन्होंने प्रश्न किया। जब उत्तर मिल ही गया तो अंतमें फिर कैसे पूछतीं ? फिर पूछतीं तो समझा जाता कि कथा ध्यान देकर नहीं सुनी एवं बड़ी मूर्ख हैं। बुद्धिमानके लिये इशारा काफी है। प्रश्नकर्त्ताका संतोष होगया, फिर क्यों वह पूछता ? दूसरे, यदि प्रश्न वापस लेतीं तो अपनी 'चोरी' आदि

और गुप्त रहस्य शिवजी न कहते । विशेष आगे १११ (१-५) में भी देखिये । यह मेरा अपना विचार है और महानुभावोंको जो रुचे उनके लिये वही अच्छा है । संतोष हो जाना चाहिए ।

प० प० प्र०—'किमि गवने निज धाम' के उत्तरका उपक्रम यों किया है—'जानि समय सनकादिक आए । ७।३२।३ ।' यहाँके 'समय' शब्दका भाव 'निजधाम-गमन-समय' लेना आवश्यक है, अन्यथा शब्द-गत निरर्थक दोष घटित होगा, क्योंकि नारद और सनकादिक तो प्रति दिन अयोध्यामें आते थे और दरबारमें ही आते थे, यह 'नारदादि सनकादि मुनीसा । दरसन लागि कोसलाधीसा । दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं ।' के 'कोसलाधीस' शब्दसे सिद्ध होता है । 'कोसलाधीस' से राज्यसिंहासनासीन दरबारमें बैठे हुए श्रीराम अभिप्रेत हैं । इस उद्धरणमें 'समय जानि', 'अवसर जानि' इत्यादि शब्द नहीं हैं । उप-संहारमें भी 'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन । ७।५० ।' ऐसा कहा है । जब भगवान् प्रजासहित निजधाम गवन करनेको तैयार हुए उसी अवसरपर नारदजी आए ।

☞ साक्षात् निजधाम गमनके समय जो अन्तिम स्तुति नारदकृत है उसमें रघुपति, रघुनाथ, इत्यादि रघुवंश'या रविकुलसंबंधी एक भी शब्द नहीं है । 'गावन लागे राम कल कीरति सदा नवीन' उपक्रम है और 'तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन । ७।५१।९ ।' उपसंहार है । 'राम' शब्दसे उपक्रम किया और 'प्रभु' शब्दसे उपसंहार किया, क्योंकि रघुकुल वा रविकुलका संबंध छोड़कर प्रभु राम ही उस समय निज धामको जा रहे थे, रघुवंशमणि निज धाम नहीं गए, प्रभु राम गए । (इस स्तुति में 'दसरथकुल कुमुद सुधा-कर' और 'कोसलामंडन' शब्द आए हैं) ।

और भी प्रमाण देखिए—वसिष्ठजीने अवतारकालमें कभी श्रीरामजीकी ऐश्वर्यभावसे न तो स्तुति ही की न कुछ माँगा ही; क्योंकि गुरु-शिष्य संबंधका निर्वाह आवश्यक था । पर जब उन्होंने देखा कि प्रभु आज कलमें परधाम सिधारनेवाले हैं तब वे स्वयं राजमहलमें गए और ऐश्वर्यभावसे स्तुति करके उन्होंने वर भी माँग लिया । इससे भी बलवत्तर प्रमाण 'मारुतसुत तब मारुत करई । पुलक बपुष लोचन जल भरई । ७।५०।७ ।' यह चौपाई है । सेवामें पुलक बपुष होना स्वाभाविक है पर लोचन जलका उल्लेख रामसेवारत हनुमान्जीके चरित्रमें नहीं है; यह लोचनजल रामवियोग दुःखजनित है । (उत्तरकांडमें देखिए) । दूसरा जो संपादकजीका मत है वही उचित है ।

पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी । जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी ।।१।।
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा । पुनि सब बरनहु सहित बिभागा ।।२।।
औरौ राम रहस्य अनेका । कहहु नाथ अति बिमल बिबेका ।।३।।

शब्दार्थ—तत्व = वास्तविक यथार्थ पदार्थ । विज्ञान = विशेष ज्ञान, अनुभव । = ब्रह्मलीन दशा । मं० श्लो० ४, १.१८.५,१.३७.६ 'कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी' में देखिये । बिभाग = प्रत्येक भाग । कई खंडों या वर्गोंमें विभक्त वस्तुका एक-एक खंड या वर्ग; अंश, भाग । औरौ = औरभी । रहस्य = गुप्त एवं गूढ़ चरित्र ।

अर्थ—हे प्रभो ! फिर वह तत्व विस्तारपूर्वक कहिये जिसके विशेष ज्ञान एवं साक्षात्कारमें ज्ञानी मुनि डूबे रहते हैं ।। १ ।। फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य इन सबोंको (अर्थात् इन चारोंके स्वरूपों को) उनके प्रत्येक भागसहित (पृथक्-पृथक्) वर्णन कीजिए ।। २ ।। औरभी जो श्रीरामजीके अनेक रहस्य (गुप्त चरित) हैं उन्हेंभी कहिए । हे नाथ ! आपका ज्ञान अत्यंत निर्मल है ।। ३ ।।

टिप्पणी—१ 'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी' इति । (क) ऊपर कहा था कि 'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं' अब वही गूढ़ तत्व पूछ रही हैं । विज्ञानसे गूढ़ तत्व लख पड़ता है, इसीसे 'जेहि बिज्ञान' पद दिया । (ख) 'सो तत्व जेहि' का भाव कि सब विद्याओंका तत्व होता है सो मैं नहीं पूछती, किंतु मैं वही

तत्व पूछती हूँ जिसमें विज्ञानी मुनि मग्न रहते हैं। (ग) ☞ श्रीपार्वतीजीने श्रीरामचरित पूछकर तब तत्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और रामरहस्य पूछे। (इसका कारण यह है कि वे समझती थीं कि ये सब बातें रामायणमें नहीं हैं। इसीसे उन्होंने ये प्रश्न अलग किये। ☞ यहां सहज जिज्ञासुका स्वरूप दिखाया है कि वह अज्ञ होता है)। श्रीशिवजीने इन सब प्रश्नोंके उत्तरभी रामायणके अंतर्गतही कह दिये, इसीसे रामचरितके पश्चात् इनके उत्तर नहीं दिये। यदि पृथक् उत्तर देते तो समझा जाता कि ये सब रामायणमें नहीं हैं।

वि० त्रि०—सगुण विषयक प्रश्न करके अब शुद्ध निर्गुणरूप पूछती हैं। सिद्धि विषयक बातें पूछकर फिर साधनके विषयमें पूछती हैं कि भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यको विभाग सहित कहिए, क्योंकि ये चारों साधन पृथक् होनेपर भी परस्पर उपकारी हैं।

नोट—१ (क) 'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी।…'का उत्तर, यथा "धरे नाम गुर हृदय बिचारी। बेदतत्व नृप तव सुत चारी ।१।१९८।१।', 'जोगिन्ह परम-तत्व-मय भासा। शांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।' १।२४२।४।' इस प्रकार 'तत्व' = गूढ़ तत्व, परम तत्व = ब्रह्म। यह अर्थ कोशोंमेंभी है।

(ख)—भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके उत्तर क्रमसे सुनिये। (१) 'भक्ति' का उत्तर 'भगति निरूपन बिबिध बिधाना ।१.३७.१३।' में देखिए। (२) 'ज्ञान' का उत्तर है 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ।३।१५।७।' ज्ञानका स्वरूप ४.७. १४-२२ में यों दिखाया है—"प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥ सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥ सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई॥ अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥ सुनि बिराग संजुत कपि बानी।" पुनः यथा "तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया॥ छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥ प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥ उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी।।४।११।३–६।' पुनः अयोध्याकांडमें निषादराजको लक्ष्मणजीने ज्ञान-वैराग्य-भक्तिरस-मिश्रित उपदेश दिया है जो 'लक्ष्मणगीता' नाम से प्रसिद्ध है। यथा 'बोले लषन मधुर मृदु बानी। ज्ञान बिराग भगति रस सानी॥ काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता। निज कृत करम भोगु सबु भ्राता॥ जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनमु मरनु जहँ लगि जग-जालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि व्यवहारू॥ देखिअ सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥ सपनें होइ भिखारि नृप रंकु नाकपति होइ। जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ। ९२।' इत्यादिसे 'भगत भूमि भूसुर सुरभि… । ९३।' तक। (३) विज्ञान, यथा 'तिन्ह सहस्र महँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी। ७।५४।५।' श्रीपार्वतीजीके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि ब्रह्ममें लीन होनाही 'विज्ञान' है। इस तरह 'विज्ञान' का उत्तर 'ब्रह्मानंद सदा लय लीना। देखत बालक बहु कालीना॥ ७.३२.४।,' 'ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं। बढ़इ दिवस निसि बिधि सन कहहीं।' इत्यादि। (४) 'विराग' का उत्तर; यथा 'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी। ३.१५.८।' (किसीने ज्ञानदीपक प्रसंगको ज्ञान, विज्ञान के उत्तरमें दिया है; पर वह पार्वतीजीके प्रश्नका उत्तर नहीं है)।

टिप्पणी—२ "भगति ज्ञान बिज्ञान…" इति। भक्तिको प्रथम कहा क्योंकि ज्ञान और वैराग्य दोनों भक्तिके पुत्र हैं। 'विभाग सहित' का भाव कि इनका एक साथ भी वर्णन हो सकता है। यथा "भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा। ७. ११५।' इस तरहका वर्णन वे नहीं चाहतीं। उनको पृथक्-पृथक् सुननेकी श्रद्धा है, इसीसे विभाग-सहित कहनेकी प्रार्थना की।

३ "औरौ राम-रहस्य अनेका।···" इति। (क) 'औरौ' का भाव कि पूर्व जो तत्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान आदिके प्रश्न किये वे सबभी 'रहस्य' हैं; यथा 'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ। ७।११६।' (ज्ञान और भक्तिके भेदके संबंधमें ऐसा कहा गया है)। इनके अतिरिक्त और भी जो अनेक रामरहस्य हैं उन्हें कहिए। यदि 'औरौ राम रहस्य' न कहकर केवल 'रहस्य' कहतीं तो भ्रम होता कि किसका रहस्य कहें, क्योंकि शिवरहस्य, देवीरहस्य, विष्णुरहस्य आदि अनेक रहस्य हैं। अतः 'राम रहस्य' कहकर जनाया कि केवल श्रीरामजीके और रहस्य पूछती हैं। (ख) 'अनेका' का भाव कि कोई संख्या देकर रामरहस्य पूछतीं तो प्रीतिकी इति समझी जाती कि बस इतनाही सुननेकी इच्छा है, आगे नहीं। 'अनेक' कहकर जनाया कि सब कहिए जितने आप जानते हों, एक दो कहकर न रह जाइयेगा। (ग) 'अति बिमल बिबेका" इति। रामरहस्य गुप्त वस्तु है, किसीको वह देख नहीं पड़ता और न कोई उसे जान सकता है। यथा 'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ। जो जानइ रघुपति-कृपा सपनेहु मोह न होइ। ७. ११६।' रहस्य विमल विवेकरूपी नेत्रोंसे देख पड़ता है। यथा 'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन। १।२।२।', 'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।···सूझहिं रामचरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक। १।१।' अतएव 'अति बिमल बिवेका' विशेषण देकर जनाया कि आपको सब रहस्य देख पड़ते हैं। (पुनः भाव कि साधक-सिद्ध-सुजान सिद्धांजन लगाकर गुप्त वस्तु देखते हैं और भक्त लोग श्रीगुरुपदरजरूपी अंजन लगाकर विमल विलोचन पाकर गुप्त चरित्र देख लेते हैं; पर आप तो सहज ही अति निर्मल ज्ञानवान् हैं, आपको विना किसी उपायके श्रीरामकृपासे सहज ही सब रहस्य साक्षात् देख पड़ते हैं। वै० सं० में शेष और महेशको बिमल विवेकी कहा है, यथा 'को बरनै मुख एक तुलसी महिमा संत की। जिन्ह के बिमल बिबेक सेष महेस न कहि सकत। ३४।' यहां,'अति बिमल बिवेक' कहकर उन्हें शेषसे भी श्रेष्ठ जनाया।

नोट—२ इस प्रश्नका उत्तर-(क) "देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥ १. २०१।' से 'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई। २०२.८।' तक। (ख) 'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ। १.१९५। यह रहस्य काहू नहि जाना।' (ग) 'निज-निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा। १।२४४।७।' (घ) 'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी। १.२४१.४।···'। (ङ) 'मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥ एकटक सब सोहहिं चहु ओरा। रामचंद्र मुखचंद चकोरा। २।११५।४-५।' (च) "लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना।३.२४.४।' इत्यादि।

प० प० प्र०—पहले आठ प्रश्नोंके कथनमें 'कहहु' क्रिया-पद बार-बार आया है। इसका कारण यह है कि वे सब प्रश्न रामचरित कथाके हैं। 'कथा' के साथ मानसमें करना या कहना या गाना क्रिया का ही प्रयोग मिलता है। जहाँ तात्विक सिद्धान्तोंकी चर्चा या कथनका संबंध है वहाँ कहना या करना क्रियाका प्रयोग न करके बखानना, वर्णन करना इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। यह दोहा ४४ की टीकामें लिखा जा चुका है। वही नियम यहाँ भी चरितार्थ किया है; पर 'रहस्य' के साथ 'कहहु' कहा है। इसमें भाव यह है कि गूढ़ चरित कथाका 'रहस्य कहहु'। यह भेद ध्यानमें रखनेसे मतभेदके लिये स्थान बहुत कम हो जाते हैं।

इन प्रश्नोंके उत्तर श्रीरामकथाके कथनमें प्रसंगानुकूल दिये हैं। प्रत्येक सोपानमें न्यूनाधिक प्रमाणसे गूढ़ तत्वका बखान है, भक्ति-ज्ञान-विज्ञान-विरागादिका विवरण है। रामरहस्योंका उद्घाटन प्रसंगानुसार यत्र-तत्र किया है। उत्तरकाण्डमें विशेषरूपसे है।

वि० त्रि०—'रामरहस्य अनेका' इति। जितनी भाँतिकी मायायें हैं उन सबोंमें रहस्य होता है। उस रहस्यके जाननेसे वह माया समझमें आ जाती है। सबसे प्रबल रामकी माया है। उस मायाका रहस्य ही

रामका रहस्य है। उसके जाननेसे राममायाका पता चलता है, अतः उसके जाननेकी बड़ी आवश्यकता है, जिसके सामने महेशके उपदेशका बल नहीं चलता। वह माया भी एक प्रकारकी नहीं है। उमाका स्वयं अनुभूत विषय है। एक मायाने उन्हें मोहित किया था और दूसरीने अनेक ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रसहित पलभरमें रचे। यह दो प्रकारकी माया तो उनकी स्वयं अनुभूति थी। अतः रहस्य भी कमसे कम दो होने चाहिये, इसलिये 'रहस्य अनेका' कहती हैं।

जौं प्रभु मैं पूछा नहि होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥ ४॥
तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥ ५॥

अर्थ—हे प्रभो! जो बातें मैंने न भी पूछी हों, वह भी, हे दयालु! छिपा न रखिएगा॥ ४॥ वेदोंने, आपको त्रैलोक्यका गुरु कहा है। अन्य जीव पामर (नीच) हैं, वे क्या जानें?॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई।०' इति। (क) ☞श्रीपार्वतीजीके इस प्रश्नके कारण, उनके इस कथनसे, अब शिवजी अपना अनुभव भी कहेंगे, नहीं तो जितना उन्होंने पूछा था उतना ही कहते। (ख) 'दयाल' संबोधनका भाव कि विना जानी हुई बातका प्रश्न कोई कर ही न सकती थीं, जितनी बातें जानती थीं उतनी हीका प्रश्न किया है, क्या और पूछने योग्य बात है सो नहीं जानतीं। अतः 'दयाल' कहकर जनाया कि दया करके औरभी जो मैंने नहीं पूछा हो, मैं न जानती हूँ, वह भी कहिए। (ग) 'राखहु जनि गोई' का भाव कि बहुत बातें गोपनीय हैं, (उन गोपनीय बातोंकोभी कृपा करके अपनी ओर से कहिए। यह प्रश्न करनेकी चतुराई है। छिपानेवाली बातें पूछती हैं इसीसे उपक्रम और उपसंहारमें प्रार्थना की है—'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं' तथा 'सोउ दयाल राखहु जनि गोई'। पुनः, उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें 'दया' करनेको कहा है—'रघुपतिकथा कहहु करि दाया' और यहाँ 'सोउ दयाल०'। दयाका संपुट देनेका भाव कि सबका उत्तर दया करके दीजिए। 'दया' मुख्य है। उपक्रममें पूछे हुए चरितोंको दया करके कहनेको कहा और उपसंहार में बिना पूछे हुए चरितोंको दया करके कथन करनेकी प्रार्थना करती हैं।☞कौन बातें हैं जो पार्वतीजीने नहीं पूछीं और शिवजीने कहीं? उत्तर—अपनी चोरी अपना अनुभव। यथा 'औरौ एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥ काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥ १९६। ३-५।', 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजनु जगत सब सपना। ३.३९.५।' इत्यादि।

प० प० प्र०—'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई···गोई' इति। रमणीय भाव यह है कि जिन प्रश्नोंके पूछनेकी इच्छा है पर पूछना असम्भव-सा हो रहा है, उन प्रश्नोंका उत्तर भी गुप्त न रखियेगा। ऐसे प्रश्नोंमें मुख्य है 'सीतापरित्याग'। सती-देहमें पार्वतीजी पतिपरित्याग दुःखका अनुभव भरपूर कर चुकी हैं, इससे इस प्रश्नके लिये उनकी जिह्वा खुलती ही नहीं, अतः इस सम्बन्धका प्रश्न करना असम्भव हो गया। इस प्रश्नके उत्तर का संकेत 'दुइ सुत सुंदर सीता जाए।७।२५।६।' में है। क्योंकि आगे 'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे' ऐसा कहा है। इस भेदमें ही सीतापरित्याग और परित्यक्त दशामें पुत्रजन्म सूचित किया है। श्रीसीता-भूमि-विवर-प्रवेश-विषयक ऐसा दूसरा प्रश्न है जो वे न कर सकीं। इसका उत्तर केवल दो-एक शब्दोंमें 'दोउ बिजयी बिनयी अति सुंदर' इस चरणमें सूचित कर दिया है। 'बिजई' से रामाश्वमेध समयका विजय और 'बिनई' से दोनों पुत्रोंके यज्ञमण्डपमें श्रीसीताजी और श्रीवाल्मीकिजीके साथ आकर रामायण गान करके जो विनय दिखाया है उसकी ओर संकेत है। इसीके सम्बन्धसे भूमि-विवर-प्रवेश ज्ञात होता है। ऐसा ही तीसरा प्रश्न जिसके पूछनेका साहस न हुआ वह है 'लक्ष्मणजीका निर्याण', इसका उत्तर 'एक बार बसिष्ठ मुनि आए। जहाँ राम सुखधाम सुहाए। अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा।' में

गूढ़ ध्वनि द्वारा संकेत किया गया है। यहाँ पद-प्रक्षालन सेवा स्वयं रघुनाथजीने की है। (ठीक है। पर एकान्तमें मिलनेके कारण स्वयं करना उचित है। हनुमान्‌जी अथवा कोई भ्राता भी साथमें नहीं है। कोई भी साथ होता तो वसिष्ठजी न आ सकते थे। यह भी कहा जा सकता है)।

इन प्रसंगोंके स्पष्ट वर्णनके लिये जो कठिनता हृदयमें चाहिए वह गोस्वामीजीके कोमल हृदयमें नहीं है, अतः उनसे भी इन प्रसंगोंका स्पष्ट कथन न करते बना।

टिप्पणी— २ "तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।···" इति। (क) 'त्रिभुवन गुर' का भाव कि आप सबके गुरु हैं, अतः कथा कहकर त्रैलोक्यवासियोंका उपकार करना आपका कर्त्तव्य है, सो कीजिए। (ख) 'पाँवर का जाना' अर्थात् अपनेसे वे कुछ नहीं जान सकते, जो आप कहेंगे वही वे जानेंगे। भाव कि सब जीवोंको कृतार्थ कीजिए, सबोंपर कृपा करके सब पदार्थ प्रकट कर दीजिए। [पुनः 'आन जीव पावर' का भाव कि आप पामर जीवोंमें नहीं हैं, आपकी गणना तो ईश्वरकोटिमें है, कारण कि आप मोक्षाधिकारी हैं अर्थात् स्वयं जीवन्मुक्त रहते हुए दूसरोंको मुक्ति प्रदान करते हैं। (वे० भू०)। (ग) उमाजीके प्रश्नोंका प्रकरण यहां समाप्त हुआ। 'बिश्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी।१०७.७।' उपक्रम है और 'तुम्ह त्रिभुवन गुर०' उपसंहार है।]

प० प० प्र०—जबतक पति-पत्नी-भावसे प्रार्थना करती रहीं तबतक रामकथा कहनेका विचार शिवजी-के मनमें नहीं आया। 'तुम्ह त्रिभुवन गुर' कहनेसे अब गुरु-शिष्य- संबंध प्रस्थापित होनेपर कथाका उपक्रम करेंगे। (सब प्रश्न यहाँ समाप्त हो गये। अन्तमें इसपर समाप्त करके जनाया कि दूसरा कोई इनका यथार्थ उत्तर दे नहीं सकता। उपक्रममें 'बिश्वनाथ' और 'त्रिभुवन' शब्द हैं, उपसंहारमें भी 'त्रिभुवनगुर' है। उनके चुप हो जानेपर उत्तरका आरंभ हुआ)।

उमा-प्रश्न-प्रकरण समाप्त हुआ।

प्रश्नोत्तर-प्रकरणारंभ

प्रश्न उमा के[1] सहज सुहाई। छल-बिहीन सुनि सिव मन भाई॥ ६॥

हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ ७॥

शब्दार्थ—आए=झलक पड़े, स्मरण हो आए।

अर्थ - श्रीपार्वतीजीके छलरहित सहज ही सुंदर प्रश्न सुनकर शिवजीके मनको भाए॥ ६॥ हर (श्री-शिवजी) के हृदयमें सब रामचरित आ गए। प्रेमसे शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर गया॥७॥

टिप्पणी—१ 'प्रश्न उमाके···' इति। गोस्वामीजी सर्वत्र 'प्रश्न' शब्दको स्त्रीलिंग ही लिखते हैं। यथा 'प्रश्न उमाके सहज सुहाई' (यहां), 'धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी। ७.९५.२।' इत्यादि। (ख) 'सहज सुहाई' अर्थात् बनावटी नहीं; यथा 'उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। १.११३।' छलरहित होनेसे 'सुहाई' कहा। अपना अज्ञान एवं जो बातें प्रथम सतीतनमें छिपाये रही थीं, यथा 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई', वह सब अब कह दीं; इसीसे 'छल बिहीन' कहा। यथा 'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं। २३७.२।' ईश्वरको छल नहीं भाता, यथा 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।५.४४.५।' ये प्रश्न 'छल बिहीन' हैं, अतः मनको भाए। (ख) प्रश्न 'सुहाये' और 'मन भाये' हैं यह आगे शिवजी स्वयं कहते हैं—'उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई। ११४.६।'

१ कै—१७२१। के—१६६१, १७०४, १७६२। कर-छ०, को० रा०।

नोट—१ प्रश्न चार प्रकारके होते हैं--उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम । उत्तम प्रश्न छलरहित होते हैं, जैसे कि जिज्ञासु जिस बातको नहीं जानते उसकी जानकारीके लिये गुरुजनोंसे पूछते हैं जिससे उनके मनकी भ्रान्ति दूर हो । फिर उन बातोंको समझकर वे उन्हें मनन करते हैं । यथा 'एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे छल-हीना । ३.१४.५ ।' मध्यम प्रश्न वह हैं जिनमें प्रश्नकर्त्ता वक्तापर अपनी विद्वत्ता भी प्रगट करना चाहता है जिससे वक्ता एवं और भी जो वहाँ बैठे हों वे भी जान जायँ कि प्रश्न-कर्त्ता भी कुछ जानता है, विद्वान् है । निकृष्ट प्रश्न वह हैं जो वक्ताकी परीक्षा हेतु किये जाते हैं । और अधम प्रश्न वे हैं जो सत्संग-वार्तामें उपाधि करने, विघ्न डालनेके विचारसे किये जाते हैं ।☞पार्वतीजीके प्रश्न उत्तम हैं क्योंकि वे अपना संशय, भ्रम, अज्ञान मिटानेके उद्देश्यसे किये गए हैं । यथा "जौं मोपर प्रसंन सुखरासी । जानिय सत्य मोहि निज दासी ॥ तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना ।···" । १०८.१–२ ।', 'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू','अजहूँ कछु संसउ मन मोरें । करहु कृपा बिनवौं कर जोरें ।१०९।२,५।' इत्यादि ।

२ कुछ महानुभावोंने इस विचारसे कि 'प्रश्न' शब्द पुल्लिग है और 'सुहाई' स्त्रीलिंग,·'सुहाई' और 'छल बिहीन' को 'उमा' का विशेषण माना है; पर यह उनकी भूल है। ग्रंथकारने इस शब्दको स्त्रीलिंगका ही माना है ।

टिप्पणी- २ "हर हिय रामचरित सब आए ।···" इति । (क) पूर्व कहा था कि "रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा । ३५।११ ।" इससे स्पष्ट है कि सब रामचरित शिवजीके हृदयमें हैं; तब यहाँ यह कैसे कहा कि शिवजीके हृदयमें आए ? इस शंकाका सामधान यह है कि बात सब हृदयमें रहती है पर स्मरण करानेसे उनकी सुध आ जाती है । मानसग्रंथ हृदयमें रहा, पर पार्वतीजीके पूछनेसे वह सब स्मरण हो आया । यही भाव हृदयमें 'आए' का है । यथा "सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई । बहुत जनम कै सुधि मोहि आई ।७।९५।३।" [भुशुण्डीजी सब जानते थे, पर गरुड़जीके प्रश्न करनेपर वे सब सामने उपस्थितसे हो गए, स्मरण हो आए । श्रीमद्भागवतमें इसी प्रकार जब वसुदेवजीने देवर्षि नारदजीसे अपने मोक्षके विषयमें उपदेश करनेकी प्रार्थना की; यथा 'मुच्येमह्यञ्जसैवाद्धा तथा नःशाधि सुव्रत । ११।२।९ ।', तब देवर्षि नारदजीने भी ऐसा ही कहा है यथा "त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः । स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥ १३ ॥" अर्थात् आपने परमकल्याणस्वरूप भगवान् नारायणका मुझे स्मरण कराया जिनके गुणानुकीर्त्तन पवित्र हैं । वैसे ही यहाँ समझिये । पुनः जैसे पंसारीकी दूकानमें सब किराना रहता है पर जब सौदा लेनेवाला आकर कोई एक, दो, चार वस्तु माँगता है तब उसके हृदयमें उस वस्तुका स्मरण हो आता है कि उसके पास वह वस्तु इतनी है और अमुक ठौर रक्खी है । इसी तरह जैसे-जैसे पार्वतीजीके प्रश्न होते गए वैसे ही वैसे उनके उत्तरके अनुकूल श्रीरामचरित चित्तमें स्मरण हो आए] पुनः, हृदयमें 'आए' का भाव कि सब प्रश्नोंके उत्तर मुखाग्र कहने हैं, सब चरित शिवजीको कंठ हैं, उनके हृदयसे ही निकलेंगे, पोथीसे नहीं । (ख) 'सब' अर्थात् जो चरित पूछे हैं एवं जो नहीं पूछे हैं वे भी । (ग) 'प्रेम पुलक···' इति । चरित-स्मरण होनेसे प्रेम उत्पन्न हुआ; यथा 'रघुबर भगति प्रेम परमिति सी ।१.३१.१४।' उससे शरीर पुलकित हुआ क्योंकि शिवजीका श्रीरामचरितमें अत्यन्त प्रेम है; यथा 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के । १.३२.८।' (घ) ['हर' शब्द देकर जनाया कि वे रामचरित कहकर उनका दुःख हरेंगे] ।

श्रीरघुनाथ रूप उर आवा । परमानंद अमित सुख पावा ॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका रूप हृदयमें आ गया । उन्हें परमानन्दका अमित सुख प्राप्त हुआ ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) श्री = शोभायुक्त । दूसरे चरणमें शोभाका आधिक्य दिखाते हैं । परमानन्दस्वरूप श्रीशिवजी भी शोभाको देखकर असीम सुखको प्राप्त हुए । (पं० रामकुमारजी 'परमानंद' शब्दको

शिवजीमें लगाते हैं।) । (ख) प्रथम 'हर हिय रामचरित सब आए' कहकर तब 'श्रीरघुनाथरूप उर आवा' कहनेका भाव कि जब रामचरित हृदयमें आता है तभी रामरूप हृदयमें आता है; यथा 'रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग स्नेह बन सिय-रघुबीर-बिहारु। १.३१।' श्रीरामचरित और श्रीरामरूप हृदयमें आए। रामचरित सुनाना है और श्रीरामरूपका भ्रम (जो पार्वतीजीको है उसे) दूर करना है, इसीसे ये दोनों हृदयमें आकर प्राप्त हुए। पुनः, रामचरित आनेपर तब श्रीरामरूप हृदयमें आया, क्योंकि रामचरितमें श्रीरामरूप कथित है, जब चरित कहा जाता है तब उसमें रामरूपका वर्णन होता है; अतः रामरूप पीछे आया। [नाम-स्मरणके प्रभावसे रूपका अनायास हृदयमें आना कहा गया है, यथा 'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेषे।' और यहाँ चरितसे हृदयमें रूपकी प्राप्ति कही। इस प्रकार रामनाम और रामचरितकी समानता दिखाई। प. प. प्र.]।

नोट—१ प्रथम चरित आता है, उससे प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेमसे रूपका साक्षात्कार होता है। ठीक यही दशा क्रमशः शिवजीकी हुई। यथा 'हर हियँ रामचरित सब आए', 'प्रेम पुलक लोचन जल छाए', तब 'श्रीरघुनाथ रूप उर आवा।' श्रीदशरथजी महाराजने श्रीजनकपुरसे आई हुई पत्रिका जब पाई और उसमें श्रीरामजीके चरित पढ़े तब उनकी भी क्रमशः यही दशा हुई थी। यथा 'बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥ राम लषन उर कर बर चीठी। १।२९०।४-५।' 'रामकथा मंदाकिनी…। १।३१।' भी इसी भावका पोषक है।

बाबा हरीदासजी—श्रीशिवजी अबतक कहाँ रहे जो गिरिजाजीके सुध कराने पर चरित और ध्यान उदय हुए?" (संभवतः उनकी शंका यह है कि उनका ध्यान अबतक कहाँ रहा?)। समाधान "जबसे सतीजीसे वियोग हुआ तबसे गिरिजा समान श्रीरामकथाका श्रवणरसिक तथा श्रीशिवजीसे पूछनेवाला कोई और न मिला। अथवा, वे अबतक परात्पर निर्गुण ब्रह्मके ध्यानमें रहे, वही पिछला अभ्यास बना रहा, जब उमाजीने सुध कराई तब उनके हृदयमें रामचरित और ध्यान उदय हुए।"

नोट—२ कोई-कोई 'श्रीरघुनाथ' से 'श्रीसीताजीसंयुक्त श्रीरामजी' का अर्थ करते हैं, जैसे 'बसहु हृदय श्री अनुज समेता। ३।१३।१०।', 'श्रीसहित दिनकरबंसभूषन काम बहु छबि सोहई। ७।१२।' इत्यादिमें 'श्री' शब्द श्रीसीताजीके लिए आया है। परन्तु आगे 'बंदौं बालरूप सोइ रामू। ११२।३।' कहा गया है, इससे यहाँ बालरूपका ही हृदयमें ध्यान होना निश्चित है। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि यहाँ वही रूप अभिप्रेत है जिसके दर्शन उन्हें पार्वतीजीसे विवाह करानेके लिए हुआ था।

प. प. प्र.—'रूप उर आवा' इति। पार्वती-विवाह प्रकरणमें श्रीरामजीने जिस रूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया था, उसे शिवजीने हृदयमें रख लिया था, पर दीर्घकाल तक निर्गुण-निर्विकल्प-समाधि और पार्वती-विवाह तथा उसके पश्चात् दीर्घकाल तक गिरिजारमण होकर शृंगार-लीला विहारके कारण वह सगुण मूर्ति विस्मृत सी हो गई थी। अब चरित्र-स्मरणके प्रभावसे वही मूर्ति प्रगट हुई; ऐसा मानना ही पूर्व संदर्भ और वस्तु-स्थितिके अनुरूप है। 'श्रीरघुनाथ' शब्दोंका भी उसी रूपसे संबंध है।—'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप सीलनिधि तेज बिसाला'। श्री='तेज बिसाला'। वही रूप हृदयमें आया क्योंकि यहाँ भी पार्वतीजी ही निमित्त बनी हैं।

नोट—४ 'परमानंद अमित सुख पावा' इति। (क) उत्तरकांडमें श्रीभुशुण्डीजीके वचन हैं कि "जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति। ७।८८।', इन्हीं वचनोंकी अपेक्षासे इन्हींके अनुसार यहाँ 'अमित परमानंद सुख' कहा। श्रीरामदर्शनका सुख ऐसा ही है; यथा "चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा॥ हरष बिबस तन दसा भुलानी।

१।१४८।', "जाहिं जहां जहं बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद। १।२२३।' इत्यादि। (ख) 'अमित सुख' का स्वरूप आगे दिखाते हैं—'मगन ध्यानरस'।

दोहा—मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति-चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥१११॥

शब्दार्थ—दंड-'दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर …' १.८५ छंदमें देखिए। =घड़ी, साठ पल या चौबीस मिनटका काल। रस=वेग, आनंद-'रसो ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति' (तैत्ति० आनंदवल्ली अनुवाक ७)। =किसी विषयका आनंद; यथा 'जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि'। =मनकी तरंग। ध्यानरस=ध्यानजनित आनंद; यथा 'जाग न ध्यानजनित सुख पावा।३।१०।१७।'

अर्थ—श्रीमहादेवजी ध्यानके आनन्दमें दो दंड तक मग्न रहे, फिर उन्होंने मनको बाहर किया और हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीका चरित वर्णन करने लगे॥ १११॥

टिप्पणी—१ (क) मन ध्यानरसमें मग्न हो गया, बाहर नहीं होना चाहता था; क्योंकि मूर्त्ति अत्यंत मधुर है, मनोहर है। यथा 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी। २१५।८।', 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी। ३३७.५।'; इसीसे ध्यानको 'रस' कहा। चरित हृदयमें आए, श्रीरामरूप हृदयमें आया, दो दंड श्रीरामरूपमें मनको मग्न किये रह गए, फिर उसे ध्यानसे अलग किया। इसीसे 'कीन्ह' पद दिया। (ख) 'बाहेर कीन्ह' से सूचित करते हैं कि ज़बरदस्ती हठपूर्वक मनको ध्यानसे हटाया। (ग) "परमानंद अमित सुख' को छोड़कर मनको किसलिये बाहर किया?" इसका उत्तर यह है कि ध्यान करनेके लिये इस समय बहुत कालका अवकाश नहीं है, हरिचरित्र वर्णन करना है, इसीसे हरिचरित्र वर्णन करनेमें मनको लीन किया। ☞ इसी तरह सभी भक्त चरित्रके लिये ध्यान छोड़ देते हैं। यथा 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। ७.४२।' (सनकादिकजी), 'राम लखनु उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥ पुनि धरि धीर पत्रिका बांची। १।२९०।' (श्रीदशरथजी)। क्योंकि भक्तोंको भगवान्‌से भगवान्‌के चरित्र प्रिय हैं—"प्रभु ते प्रभु चरित पियारे" इति गीतावल्याम्। पुनः ऐसी मूर्तिका परम आनंद छोड़कर कथा कहने लगे, यह कथाका माहात्म्य है। यहां कथाका यह महत्व दिखाकर कथाकी विशेषता दिखाई है। [और भी उत्तर ये हैं—(३) कदाचित् ध्यानमें समाधि लग जाय तो प्रश्नकर्ता बैठा ही रह जायगा। इस समय पार्वतीजी कथा सुननेको अति उत्कंठित हैं। (पं०)। (४) ध्यानमें स्वार्थ था और चरितसे परमार्थ होगा अर्थात् श्रीरामचरित कहनेसे तीनों लोकोंका उपकार होगा और ध्यानमें केवल अपने हीको सुख है, यह जानकर ध्यान छोड़ा। (पं०)। (५) ध्यानमें मग्न होकर श्रीरामचरित वर्णन करनेके निमित्त वृत्तिका उत्थान किया। ध्यान करनेका कारण यह है कि ध्यानके पश्चात् वचन मधुर और स्निग्ध होकर निकलते हैं। (पं०)। (६) आनंद ध्यान और यश दोनोंमें तुल्य है। अतः कुछ काल ध्यान किया फिर यश कथन करने लगे। जैसे, कोई पेड़ा खाकर जलेबी खाय। (रा० प्र०)। (७) सब कामोंके प्रारंभमें ध्यान करना विधि है। अतएव ध्यान करके तब कथा आरम्भ की। (रा० प्र०)। (८) ध्यान करनेका हेतु यह था कि प्रभुसे प्रार्थना करें कि वह शक्ति प्रदान करें जिससे हमारे कथनसे इनका महामोह वा भ्रम दूर हो। (रा० प्र०)। वा, (९) ध्यानमें प्रश्नोंपर विचार करते रहे जब विचार आ गए तब मनको बाहर किया (रा० प्र०)।] (१०) प्रश्न सुनतेही सब चरित हृदयमें आतेही वे गद्‌गद् हो उनके आनंदमें मग्न हो गए, परंतु प्रश्नोंका उत्तर देना था उस संस्कारसे फिर देहपर आगए।

नोट—श्रीबैजनाथजी ध्यानरसका अर्थ 'शान्तरस' करते हैं। भाव यह कि "शान्तरसमें डूबे रहे फिर मन बाहर किया अर्थात् परमहंसी वृत्ति छोड़ सज्जनोंकी वृत्ति धारण की। यहाँ शान्तरसमें परमात्मा

श्रीरामरूप आलंबन और आत्मतत्त्व उद्दीपन हैं; इत्यादि ।" इस भावमें "रस" = वह आनन्दात्मक चित्तवृत्ति या अनुभव जो विभाव अनुभाव और संचारीसे युक्त किसी स्थायीभावके व्यंजित होनेसे उत्पन्न होता है। "पार्वतीजीका प्रश्न सत्संग मूलक है, प्रेम जल पाकर उससे रामचरित अंकुर हुआ, जिसके चिंतनसे इन्द्रियोंकी वृत्ति अहंकारमें, अहंकार चित्तमें, और चित्त बुद्धिमें लीन हो गए। बुद्धि पाकर मन शुद्ध हो आत्मरूपमें, आत्मरूप श्रीरामरूपमें लीन हो गया।" (वै०) ।

टिप्पणी—२ "हरषित बरनै लीन्ह" इति । ☞श्रीरामचरितका वर्णन महात्मा लोग हर्षपूर्वक ही किया करते हैं। यथा 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १।४१।६।' अब इनके उदाहरण सुनिये। चारों वक्ताओंकी हर्षपूर्वक प्रवृत्ति इसी ग्रंथमें देख लीजिए। यथा—(क) 'भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू ।१।३६।१०।' (श्रीगोस्वामीजी) । (ख) "सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें ।। रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा ।। तदपि जथाश्रुत कहौं बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी। १।१०५।' (श्रीयाज्ञवल्क्यजी) । (ग) "करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी ।१।११२।५।' (श्रीशिवजी) । (ख) "भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुनगाहा। ७।६४।६।' (श्रीभुशुण्डीजी) ।

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें ।।१।।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई ।।२।।

शब्दार्थ—भुजंग = सर्प। रजु (रज्जु) = रस्सी। जाइ हेराई = खो जाता है; अदृश्य हो जाता है; बिस्मृत हो जाता है; नगण्य हो जाता है।

अर्थ—जिनको विना जाने झूठा भी सत्य जान पड़ता है, जैसे रस्सी को विना पहचाने (उसमें) साँप (का भ्रम हो जाता है) ।। १ ।। जिसके जान लेने पर संसार खो जाता है, जैसे जागनेपर स्वप्नका भ्रम जाता रहता है ।।२।।

नोट—१ यहाँसे लेकर 'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी···। ११२।५।' तक वस्तुनिर्देशात्मक तथा नमस्कारात्मक मंगलाचरण है।

वस्तुनिर्देशात्मक वह मंगलाचरण कहलाता है जिसमें वक्ता सूत्ररूपसे वह समस्त कथा बीजरूपसे कह जाता है जो वह वर्णन करना चाहता है। समस्त रामचरितमानसका तात्पर्य पार्वतीजीका मोह छुड़ाना है और वह रामरूपका ठीक ज्ञान करादेनेहीसे होगा। अतः यहाँ शिवजीने श्रीरामजीके ठीक रूपका ज्ञान करानेके हेतुही यह चौपाई कही है। गोस्वामीजीके समस्त काव्यग्रन्थोंमें इस प्रणालीका निर्वाह बड़ी खूबी-से हुआ है, सैकड़ों उदाहरण उसके रामचरितमानसहीमें पाये जाते हैं। यथा 'नीलाम्बुज श्यामल कोमलाङ्गं सीता समारोपित वामभागं। पाणौ महासायक चारुचापं नमामि रामं रघुवंश नाथं ॥', 'गई बहोरि गरीब निवाजू।' इत्यादि। 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें और 'जेहि जाने जग जाइ हेराई' उपमेयवाक्य हैं और 'जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें' तथा 'जागे जथा सपन भ्रम जाई' उपमान वाक्य हैं। दोनों वाक्योंमें 'जिमि और 'जथा' वाचकपद देकर समता दिखाई है। अतएव इनमें 'उदाहरण अलंकार' है।

"झूठेउ सत्य···" इति ।

(समन्वय-सिद्धान्तानुसार)

१—यद्यपि अद्वैत सिद्धान्तमेंही रज्जुसर्पके दृष्टांतसे जगत्को मिथ्या कहना प्रचलित है तथापि श्रीमद्गोस्वाजीने इन (रज्जुसर्पादि) प्रचलित दृष्टान्तोंको समन्वय सिद्धान्तमेंभी सुगमताके साथ लगाया है जिससे सभी दृष्टान्त समन्वयसिद्धान्तमें लग जाते हैं और इसकी उपादेयता भी बढ़ जाती है।

मानसपीयूषके इस संस्करणके परिचयमें बताया जा चुका है कि श्रीमद्‌गोस्वामीजी भगवान् बोधायनाचार्यके समन्वयसिद्धान्तके पूर्ण अनुयायी हैं। इस समन्वय सिद्धान्तका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त नाम पड़नेपरही लोगोंमें परस्पर भेदभाव मालूम पड़ने लगा है, भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने आचार व्यवहारोंसे उस व्यापक सिद्धान्तसे जनसमुदायको अपनाया। उन्हींके शिष्यप्रशिष्योंमें श्रीगोस्वामीजी हैं। अतः उनके रचित इस मानसमेंभी उसी तरह व्यापक शब्दोंके प्रयोग भरे पड़े हैं जिससे लोगोंको अद्वैत-सिद्धान्तप्रतिपादनकीही भावना होती है।

समन्वय सिद्धान्तमें 'झूठ, मृषा, मिथ्या, असत्य' का अर्थ महर्षि पतंजलिके "विपर्ययो मिथ्या ज्ञानमतद्रूपं प्रतिष्ठम्" इस सूत्रके अनुसार 'विपरीत वा अयथार्थ ज्ञानका विषय' है। अर्थात् जिस वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान हमें नहीं हुआ, जिसको हम कुछका कुछ समझ रहे हैं।

'सत्य का अर्थ है "यथार्थ ज्ञानका विषय" अर्थात् जिसको हम ठीकठीक जानते हैं।

समन्वयसिद्धान्तमें 'ब्रह्म' शब्दसे 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' काही ग्रहण होता है। अर्थात् चिदचित् जगत् ब्रह्मका शरीर है और ब्रह्म इसका शरीरी अन्तर्यामी आत्मा है। तात्पर्य यह कि जो चराचर जगत् हमारे दृष्टिगोचर हो रहा है वह वस्तुतः 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' ही है। परन्तु हमने उस अन्तर्यामी ब्रह्मको उस रूपमें न जानकर केवल उसके एक अंश परिणामी जगत्को एकरस नित्य मान लिया (और उसीमें हम आसक्त हो गए), यही 'अयथार्थ ज्ञान' है और जगत् 'अयथार्थ ज्ञानका विषय' है, अतः 'झूठा' है। यदि हम अन्तर्यामी ब्रह्मको जगत्के शरीरीरूपमें जानते होते तो यह 'झूठा' न कहा जाता।

यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि "रज्जु-सर्पका दृष्टान्त अद्वैतसिद्धान्तमेंही ठीक बैठता है; क्योंकि जैसे केवल रज्जुमें उससे अत्यन्त भिन्न सर्पका भास होता है, वैसेही केवल ब्रह्ममें जगत्का भास होता है और समन्वय सिद्धान्तमें तो ब्रह्म सदा चिदचिद्विशिष्ट होनेसे जगत् सूक्ष्मावस्थामेंभी उसमें वर्तमान है; रज्जुमें यदि सर्प होता तो यह दृष्टान्त ठीक होता?" यह भी प्रश्न होता है कि "रज्जुमें सर्पकी कौन सत्ता विद्यमान है जिससे सर्पका भ्रम हो जाता है, क्योंकि रज्जु और सर्पके लिये तो पंचीकरण-प्रक्रियाकाभी संघट्ट नहीं हो सकता?"

उसके समाधानके लिए हमें प्रथम सिद्धान्त जान लेना चाहिए कि समन्वय सिद्धान्तमें दार्शनिकोंने 'आकृति' को भी शब्दोंका वाच्य माना है। उसीको 'जाति' आदि शब्दोंसे भी व्यवहार किया जाता है। इसीसे रज्जु, जलरेखा तथा भूदलनादिमेंही सर्पकी भ्रान्ति होती है, अन्यत्र नहीं; क्योंकि अन्यत्र आकृति भी नहीं पाई जाती।

अवयवरचनाविशेषको जाति माना जाता है। गौकी आकृतिविशेषको ही गोत्व जाति कहते हैं। वह आकृति जहाँ भी होगी, उसको गौ माना जायगा। इस सिद्धान्तानुसार सर्पका लंबापन, वर्तुलाकार आदि कुछ आकार-विशेष रज्जुमें होनेसे रज्जुमें सर्प भी वर्तमान है। जैसे ब्रह्मके साथ जगत् भी है, वैसे ही रज्जुके साथ सर्प भी है। अतः दृष्टान्तमें कोई वैषम्य नहीं आता।

इसपर शंका हो सकती है कि "जब रज्जुमें नित्य सर्प है ही तब जो लोग व्यवहारमें यह कहते हैं कि 'यह रज्जु है' 'यह सर्प है' इसकी व्यवस्था किस प्रकार होगी?" इसका समाधान यह है कि रस्सीमें रस्सीके अवयव बहुत हैं और सर्पके अवयव कम हैं, अतः रस्सीमें रस्सीके अवयव विशेष होनेसे उसे रस्सी कहा जाता है। परन्तु जब अंधकारादि दोषरूप प्रतिबंधकोंसे उसके अवयव आच्छादित हो जाते हैं तब उसमें स्थित सर्पके जो अवयव हैं, वे अनुभवमें आते हैं; इसीसे उसमें सर्पका भास होता है। जब प्रकाश आदिसे अन्धकारादि दोषरूप प्रतिबंधकोंका नाश हो जानेपर रज्जुके अवयव अनुभवमें आते हैं तब रज्जुका ज्ञान होनेसे सर्पका अनुभव नहीं होता।

इस प्रकार रज्जुमें कुछ अंशोमें सर्पकी स्थिति होनेपर वह अव्यवहारी अर्थात् व्यवहार करनेमें अयोग्य है; अतः उसको सर्प नहीं कहा जाता। पुनः, 'झूठा' का अर्थ परिणामी अर्थात् परिवर्तन शील और 'सत्य' का अर्थ 'अपरिणामी' अर्थात् 'स्थिर' भी ले सकते हैं। परमात्माको न जाननेसे जीव इस परिवर्तनशील जगत्को स्थिर समझकर उसमें फँसता है। अतः इन चौपाइयोंसे भ्रमकी निवृत्ति की गई है।—(व्या० न्या० मीमांसा० वेदान्ताचार्य सार्वभौम वासुदेवाचार्यजी)।

२ बाबा जयरामदासजी—'झूठेउ सत्य ···' इति। जैसे—'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं' में कुछ लोगोंका कहना है कि गोस्वामीजीने जगत्को मिथ्या माना है, वैसे ही यहांपर उनके मतानुसार जगत्-प्रपंचको झूठा कहा गया है। परन्तु यहांपर भी पूर्व (रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः) की तरह सर्प और रस्सीकी उपमा है। अतएव यहां भी उसी प्रकार प्रकट जगत्के नानात्वका सत्य भासना मृषा है, न कि जगत्।* इसके बादकी चौपाइयाँ स्पष्ट बतला रही हैं कि यह जगत् जब रामरूपमें यथार्थ भासता है तब इसका नाना-रूप प्रतीत होना खो जाता है, यथा 'जेहि जाने जग जाइ हेराई।···' तथा 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू···'। तात्पर्य यह कि जिस रूपमें हम जगत्को देख रहे हैं वह सत्य नहीं है; इसका रूप राममय है। अतः इस जगत्का नानाकार झूठा है, न कि जगत्ही झूठा है; जगत् तो रामरूप आकारमें सत्य है, क्योंकि जब हमको जगत् निजप्रभु-राम-मय जान पड़ता है तब इसका नानात्व इसी प्रकार गायब हो जाता है जिस

*"यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं" में जगत्को मिथ्या मानना अद्वैतवाद कहा जाता है। बाबा जय-रामदास 'दीन' जी लिखते हैं कि अद्वैतवादके निरासमें यहाँ पहले तो 'यत्सत्वात्' (जिस प्रभुकी सत्तासे ऐसा हो रहा है—'नाथ जीव तव माया मोहा' । फिर श्लोकके प्रथम और अद्वैतवादके विरोधी तीसरे चरणपर ध्यान देना चाहिये। यह 'यत्' कौन है यह चौथे चरणमें बताकर उनको प्रणाम किया गया है। 'यन्माया···' से उन्हें कर्मयोगका अधीश्वर, 'यत्सत्वात्···' से ज्ञानका आधार और 'यत्पादप्लव···' से उन्हें उपासनाका आधेय बताया गया है। अंतिम चरणमें उन्हींको "अशेषकारण परम्" बताया है। इससे अवतारवाद और सेव्यभाव स्पष्ट सिद्ध होता है।

अब रहा यह प्रश्न कि जगत् मृषा कितने अंशमें मालूम होता है। इसका निर्णय दी हुई उपमासे ही कीजिये। रस्सीको साँप मानना मिथ्या है, न कि रस्सी और साँप ये दोनों मिथ्या हैं, क्योंकि यदि साँपका अस्तित्वही न होता तो उसका भ्रम ही कहाँसे आता? इसी प्रकार यह जगत् कारणरूपसे सत्य और कार्यरूपमें मृषा है, इसीसे हमें रामरूप जगत्में नानारूप जगत्की भ्रान्ति हो रही है। अर्थात् है तो यह जगत् (स्थावर जंगम) श्रीरामरूप—'अग जग रूप भूप सीतावर' (वि० प०), परन्तु हमलोगों को प्रभुकी ही मायाके आवरणके कारण नानारूपमें भास रहा है। जैसे रस्सी यथार्थमें है, वैसे ही यह समस्त जगत् रामरूपमें यथार्थ है—'सीयाराममय सब जग जानी', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत', 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'।

जिस तरह रज्जुमें सर्पका भ्रम मिथ्या है, उसी तरह इस रामरूप जगत्में गृह, वृक्ष, पर्वत, सरिता, पशु, पक्षी, पुत्र, कलत्र आदि नानात्वका भासना झूठा है। (मानसरहस्य)। परन्तु सर्प किसी समय देखा सुना हुआ है, सर्पका होना मिथ्या नहीं है। "नानारूप जगत् विशेषण या शरीररूपमें सत्य देखा गया है परन्तु जगत्का विशेष्य या स्वतंत्ररूपसे देखना ही झूठा है, मिथ्या है।–(मा० पी० सं०)। अतः यह विधिप्रपंच भी कारणरूपसे नित्य और अनादि है। यथा "बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।", 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (गीता १३।१६)। अतएव जगत्को सर्वथा मिथ्या नहीं कहा गया है, किंतु इस प्रकट जगत्का नानारूपमें सत्यसा प्रतीत होना मिथ्या माना गया है।

प्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम नष्ट हो जाता है। स्वप्नका भ्रम क्या है--'सपनें होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ'। अर्थात् कोई राजा स्वप्नमें अपनेको भिक्षुकके रूपमें जानता या देखता है अथवा कोई भिक्षुक अपनेको इन्द्ररूपमें देखता है'। परन्तु स्वप्नमें राजाका भिक्षुक होना तथा भिक्षुकका इन्द्र होना मिथ्या था, न कि संसारमें भिक्षुकका होना और स्वर्गमें इन्द्रका होना। ये दोनों बातें सत्यही हैं, केवल स्वप्नमें उन व्यक्तियोंका अपने लिये ऐसा परिवर्तन देखना झूठा था। इसी प्रकार जगत्‌को झूठा न कहकर उसमें जो नानात्व भासता है, उसे ही झूठा कहा गया है। साथही जगत् जिस रामका रूप है, उसकी वन्दना की गई है और नामजप (उपासना) की बात कही गई है, जो अद्वैतवादके विरुद्ध है। (मानसरहस्य)।

वेदान्तभूषणजी-'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाइ' इति। जैसे यहां श्रीशिवजी मङ्गलाचरण करते हुए जगत् और श्रीरामजीमें परस्पर स्वभाव तथा स्वरूपके भेद बतलानेके लिये रज्जु और भुजंगका दृष्टान्त देते हैं वैसे ही श्रीगोस्वामीजीने भी अपने मङ्गलाचरणमें 'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' से यही बात कही है। इन प्रकरणोंमें जगत्‌के मिथ्यात्वका तात्पर्य्य नहीं है क्योंकि जो पदार्थ नित्य तथा भगवदाश्रित रहते हैं वे कभी मिथ्या हो ही नहीं सकते; कारण कि भगवान् भी मिथ्या नहीं हैं। जगत् नित्य और हरि-आश्रित है, यथा 'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी' और 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई' इत्यादि। इसीसे यहाँ मिथ्या न कहकर भ्रम कहा गया है। 'भ्रम' का अर्थ है 'औरका और समझ पड़ना' जैसे कि भूदलन, जलरेख और रज्जुका सर्प आदि। वैसे ही भ्रममें पड़कर अस्वतंत्र जगत्‌को स्वतंत्र मान लेना झूठा है, इसीसे 'भ्रम' कहा। 'जग जाइ हेराई' कहकर केवल अदृश्य होना कहा, मिथ्या नहीं। क्योंकि जगत् तो सदैव सृष्टिक्रमानुसार बना ही रहता है, केवल जिस भाग्यभाजन जीवपर परमात्माकी निर्हेतुकी कृपा हो जाती है वह मुक्त हो जाता है और त्रिपादविभूति श्रीसाकेतमें जानेपर वह ब्रह्मके सहित संपूर्ण कामनाओंको भोगते हुए आप्तकाम हो जाता है, यथा 'यो वेद निहितं गुहायाम्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तैत्ति० आ० १.१)।

पं० रामकुमारजी—१ 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।०' इति। ☞ यहां झूठ जगत्‌के लिये और 'जाहि' आगेका 'जेहि' श्रीरामचन्द्रजीके लिये आया। जगत्‌का ग्रहण 'जेहि जाने जग जाइ हेराई' से और 'राम' का ग्रहण 'बंदौं बालरूप सोइ रामू' इन अगले चरणोंसे हुआ। ☞ यह भी स्मरण रहे कि यहाँ दृष्टान्त एकदेशीय है, सर्वदेशीय नहीं, केवल सत्य और असत्य दिखलानेके लिये दृष्टान्त दिया गया है। इतना मात्र दिखानेके लिए, कि बिना रामजीको जाने जगत् सत्य प्रतीत होता है और उनको जाननेपर वही असत्य है, दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ झूठा जगत् सर्प है और श्रीरामजी रज्जु हैं। दृष्टान्तके इस अंशसे यहाँ कविको प्रयोजन नहीं है कि "रस्सी जड़ है और सर्प चैतन्य है, ऐसे ही रामजी जड़ हैं और जगत् चैतन्य"। इस देशमें दृष्टान्त नहीं दिया गया है। यहाँ कविने दो दृष्टान्त दिये, एक जाननेमें, दूसरा न जाननेमें, अर्थात् श्रीरामजीको न जाननेसे जगत् सत्य है और जाननेसे असत्य।

२ (क) 'झूठेउ'। जगत् झूठा है, यथा 'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है' (क०)। (ख) यहाँ रज्जु रामजी हैं और जगत् भुजंग (सर्प) है, यथा 'मां पाहि संसार-भुजंग-दष्टं०'। (ग) जगत्‌को भुजंगकी उपमा देनेमें भाव यह है कि जगत्‌का वास्तविक रूप न जाननेसे वह सर्पकी तरह चैतन्य तथा भयदायक है; यथा 'बूड़ेउ मृगबारि खायेउ जेवरी के साँप रे' (वि० ७४)। [नोट - पंडितजीका आशय यह जान पड़ता है कि 'झूठेउ सत्य…' इस चौपाईमें जो रज्जु-सर्पका दृष्टान्त दिया गया है, उसमें केवल 'अन्यथा ज्ञान' अर्थात् भ्रम ही दर्शित किया गया हो यह बात नहीं है, किंतु जैसे रज्जु वस्तुतः

हितकारक ही है, बाधक नहीं है, परन्तु उसका ज्ञान न होनेसे उसमें अहितकारक और बाधक सर्पका भास होता है, वैसे ही श्रीरामजी सबके हितकारक और अनुकूल हैं, परन्तु उनको न जाननेसे उनमें दुःखदायी एवं प्रतिकूल संसारका अनुभव होता है]। (घ) 'जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने' इति। भाव कि जैसे रज्जुमें सर्प भ्रम है, वैसे ही श्रीरामजीमें जगत् भ्रम है। जिनकी दृष्टिमें रज्जु है उनकी दृष्टिमें (वहाँ) सर्प नहीं है और जिनकी दृष्टिमें सर्प है, उनकी दृष्टिमें (वहाँ) रज्जु नहीं है। इसी प्रकार जिनकी दृष्टिमें श्रीरामजी हैं, उनकी दृष्टिमें जगत् (स्वतंत्रात्मक) नहीं है और जिनकी दृष्टिमें जगत् है, उनकी दृष्टिमें रामजी नहीं हैं। (एक ही वस्तुमें) रज्जु और सर्प (के भाव) चित्तमें एक संग नहीं रहते।

वैजनाथजी—१ श्रीपार्वतीजीके मनमें श्रीरामरूपकी सत्यतामें भ्रम है; इसीलिये श्रीशिवजी कहते हैं कि 'हे प्रिय ! इसमें कुछ तुम्हारा दोष नहीं है, संसारमें स्वाभाविक यही रीति है कि जिसी पदार्थको विचारो उसीको विना यथार्थ जाने झूठ भी सत्य ही देख पड़ता है।

२ श्रीरामरूपको जान लेना चाहिये, क्योंकि जान लेनेसे जगत् ही हेराय जाता है, जैसे स्वप्नमें किसीने देखा कि मैं लुट गया; अथवा, किसीने देखा कि मुझे द्रव्य मिल गया, जागनेपर दोनोंके भ्रम मिट गए। वैसे ही संसार भ्रमरूप है। जैसे हण्डीमें गिलास और गिलासमें दीपशिखा है पर सब यही कहते हैं कि हण्डीका प्रकाश है, कोई यह नहीं कहता कि दीपशिखाका प्रकाश है। इसी प्रकार प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पंचभूतमय जगरचनामें भगवत्-रूपकी चैतन्यता है, पर लोग ऐसा न मानकर देहव्यवहारहीको सत्य माने हैं। यथा राजा-प्रजा, ब्राह्मण-शूद्र, पिता-पुत्र इत्यादि भ्रमरूप संसारकी सत्यता तभीतक है जबतक रामरूपको नहीं पहचाना, जब रामरूपकी पहचान हुई तब लोकसत्यता हेराय गई। भाव कि वैर त्यागकर सबमें समदृष्टिसे भगवान्को व्याप्त देखने लगता है।

पं० श्रीकान्तशरण—श्रीरामजीको जानना जागना है। जाननेपर सम्पूर्ण जगत्का बोध श्रीरामजीके शरीररूपमें हो जाता है, तब उस (जगत्) के प्रेरक-नियामक श्रीरामजी जाने जाते हैं और जगत्की भ्रमात्मक नानात्व सत्ता नहीं रह जाती, यही जगत्का 'हेराय' (खो) जाना है जैसे स्वप्नकी मनः कल्पित सृष्टि जागनेपर नहीं रह जाती, वैसे ही जगत्का नानात्वरूप भी मनसे कल्पित है, यथा "जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेछनीय अहि हाटक तृनकी नाई॥" (वि० १२४)। अर्थात् जगत् श्रीरामजीका शरीर है, यथा 'जगत्सर्वं शरीरं ते'। (वाल्मी० ६।११७।२७)। ऐसा ज्ञान होनेपर फिर कोई शत्रु मित्र आदि नहीं रह जाते। अतः हित करनेवाले माता, पिता आदिको मित्र, और अनहित करनेवालोंको शत्रु आदिकी भावना मनकी भ्रमात्मक कल्पना है। यही नानात्वदृष्टि 'सुतबित-देह-गेह स्नेह' रूप जगत्के नामसे प्रसिद्ध है। इस नानात्वका दशदिगात्मक रूप—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी…" है।

* अद्वैतमतके अनुसार भाव *

"झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।…" इति। प्रथम मंगलाचरण श्लोक ६ में 'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं' अर्थात् जिनकी सत्तासे सकल (संसार) सत्य भासता है ऐसा कहा है। परन्तु वहाँ यों भी अर्थ हो सकता है कि सत्य जगत् जिनकी सत्तासे भासता है, अतः ग्रंथकार इस उद्धरणका अपना अभीष्ट अर्थ स्पष्ट करते हैं कि जगत् झूठा है परंतु सत्य भासता है। संभवतः इसी अभिप्रायसे कविने वहाँका रज्जु-सर्पका दृष्टान्त ही यहाँ दिया है।

वहाँ केवल यही कहा कि ब्रह्मकी सत्तासे जगत्का भास होता है, परन्तु यह नहीं बताया था कि वह विपरीत भास अर्थात् भ्रम क्यों होता है और उसकी निवृत्ति कैसे होगी। वह यहाँ कहते हैं कि ब्रह्मके न

जाननेसे झूठा जगत् सत्यसा भासता है तथा ब्रह्मको जाननेसे उसकी निवृत्ति होती है। अर्थात् जगत्का अनुभव तो जैसा ब्रह्मज्ञानके पहले था वैसा ही रहेगा, परन्तु ज्ञानके पूर्व वह उसे सत्य समझता था, अतः प्रियाप्रिय भावसे सुख, दुःख, हर्ष, विषाद आदि पाता था, अब ज्ञान होनेसे उसके सत्यत्वबुद्धिका नाश हो गया अतः अब वह सुख दुःख नहीं पाता।

यहाँपर यह सब विषय कहनेका तात्पर्य है कि शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि यद्यपि तुमने केवल श्रीरामजीके स्वरूपको नहीं जाना अतः उसके जाननेके लिये यह प्रश्न किया है, तथापि इसके साथ और भी बात यह है कि श्रीरामजीको न जाननेसे प्रपंच दुःखदायी भासता है और उनको जाननेसे उस दुःखकी निवृत्ति होती है।

इसी प्रकार हम लोगोंको भी यह समझना चाहिए कि यदि हमें श्रीरामजीके विषयमें कोई शंका न भी हो तो भी इस प्रापंचिक दुःखसे छूटनेके लिए श्रीरामजीका स्वरूप जानना आवश्यक है और स्वरूपके ज्ञानके लिए चरित जाननेकी आवश्यकता है। नादबिन्दूपनिषद्में कहा है कि जैसे रज्जुका त्याग करके अर्थात् रज्जुको न जानकर भ्रमसे कोई सर्पका ग्रहण करता है अर्थात् उसे सर्प समझता है, वैसे ही मूढ़ बुद्धि जीव सत्य ब्रह्मस्वरूपको न जानकर जगत्को देखता है। जब वह रज्जुके टुकड़ेको जान जाता है तब सर्परूप नहीं रहता, वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्मको जाननेपर यह सब प्रपंच शून्य हो जाता है। यथा "यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात्। २६। तद्वत् सत्यमविज्ञाय जगत् पश्यति मूढधीः। रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति। २७। अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपंचे शून्यतां गते। ···" श्रीमद्भागवतमें भी दशमस्कंधमें ब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं कि रज्जुके अज्ञानसे उसमें सर्पशरीरकी उत्पत्ति अर्थात् अनुभूति होती है और रज्जुके ज्ञानसे उस सर्पकी निवृत्ति होती है, वैसे ही आत्माका स्वरूप न जाननेसे यह सकल प्रपंच भासता है और आत्माके ज्ञानसे विलीन होता है। यथा "आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्। ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा। १०।१४।२५।"

यद्यपि उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें जगत् तथा रज्जु सर्पको स्पष्ट शब्दोंसे मिथ्या नहीं कहा है तथापि वह बात अर्थात सिद्ध है कि जो अज्ञानसे भासता है और ज्ञानसे नष्ट होता है वह मिथ्या (भ्रम) ही है। अन्यत्र स्पष्ट शब्दोंमें मिथ्यात्व कहा भी गया है। यथा 'वेदः शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः। लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः। ४३।' (तेजोबिन्दूप०)। अर्थात् वेद, शास्त्र, पुराण, कार्य, कारण, ईश्वर, तीनों लोक, पंचभूत और प्राणी इत्यादि सब मिथ्या हैं, इसमें संशय नहीं। भागवत दशम-स्कंधकी ब्रह्मस्तुतिमें 'ये ते तरन्तीव भवानृतांबुधिम्। १०.१४.२४।' इस प्रकार संसारको मिथ्या समुद्र कहा है। अध्यात्मरामायणमें भी "असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्। ७.५.३७।" ऐसा कहा है। अर्थात् रज्जु आदि जो सर्प नहीं हैं, उनमें सर्पकी भावना जैसे होती है वैसे ही ईश्वरमें जगत्की भावना होती है।

तेजोबिन्दूपनिषत्के वाक्योंसे यह शंका उपस्थित होती है कि "जब वेद शास्त्र पुराण आदि सभी मिथ्या हैं तब दुराचरण आदिसे न तो कोई रोकनेवाला रह गया और न कोई रोकनेकी आवश्यकता ही रह गई। इस प्रकार आचार-विचार सभीका लोप हो जायगा जो परिणाममें अहितकर है?' समाधान यह है कि जब तक जीवको किंचित्भी देहाभिमान है तबतक उसको वेद शास्त्र पुराण आदि सब जगत् सत्य ही है और उसको वेदशास्त्रानुसार चलना ही चाहिए। आत्मज्ञानोत्तर जब वह ब्रह्ममें लीन रहेगा तब उसके लिये ये सब कथन सत्य हैं क्योंकि उस समय संसार सत्य हो वा झूठ उसके लिये दोनों बराबर हैं। (ब्रह्मचारीजी)

वि० त्रि०—झूठ और सत्यका विभाग बुद्धिके अधीन है। जिस पदार्थको विषय करनेवाली बुद्धिका नाश नहीं होता वह पदार्थ सत्य है और जिसको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है वह झूठ है। झूठ-विषयक बुद्धि तभी तक बनी रहती है जबतक सत्यका ज्ञान न हो। सत्यका ज्ञान होतेही झूठविषयक

बुद्धिका नाश हो जाता है, जैसे जबतक रज्जुका ज्ञान नहीं होता तबतक सर्पविषयक बुद्धि बनी रहती है; रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पविषयक बुद्धिका नाश हो जाता है। अतः रज्जु सत्य है और उसमें भासित होनेवाला सर्प झूठ है। इसी न्यायसे संसारका मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मके ज्ञानसे संसार खो जाता है; अर्थात् संसारको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे जागनेसे स्वप्नको विषय करनेवाली बुद्धिका नाश हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।

※ जेहि जाने जग जाइ हेराई··· ।" ※

पं० रामकुमारजी—(क) श्रीरामजीको जानना जागना है। जगत् स्वप्न-भ्रम है। स्वप्नमें अनेक भ्रम होते हैं, यथा 'सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ', 'जौं सपने सिर काटै कोई ।०' इत्यादि। इसीसे 'सपन-भ्रम' कहा; एक भ्रम न कहा। जैसे जागनेसे स्वप्नभ्रम जाता रहता है, वैसेही श्रीरामजीको जाननेसे जगत् जाता रहता है। भाव कि जब श्रीरामजी ही शरीरी-शरीररूपसे व्यापक व्याप्य हैं, यथा 'बिश्वरूप ब्यापक रघुराई'। भगवान् ही विश्वरूप हैं—'बिश्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिश्वास। लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु। लं० १४।' पुनः यथा 'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः ॥भा० ११।२।४१।' जब यह समझ पड़ता है तब जगत् कहाँ रह जाता है? कहीं भी तो नहीं—"मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।" बस जगत् इस भाँति दीखने लगता है।—यह भाव 'जग जाइ हेराई' का है। पुनः, (ख) जगत् बिना जाने अज्ञानतासे है, ज्ञान होने पर जगत् नहीं है। जगत् स्वप्नरूप है, यथा 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।' श्रीरामजीको जाने बिना जगत् सर्पकी नाईं दुःखदाता है, अर्थात् जन्ममरण बनाही रहता है और रामजीको जान लेनेसे वही दुःखद जगत् रामरूपमय होकर सुखदायक हो जाता है—'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७।११२।'

(नोट)—१ सर्प भयदायक है, डस लेता है। रस्सी निर्भय और सुखदायक है, जल भरनेके काम आती है, इत्यादि। इसी प्रकार जगत् और श्रीरामजी हैं। अर्थात् जगत्-व्यवहार सत्य मान लेनेसे, उसमें आसक्त होनेसे, जन्म-मरण होता है; यही सर्पका डसना है। और, उसे श्रीराममय जान लेनेसे, श्रीरामजीको उसका प्रकाशक और उसे प्रकाश्य जान लेनेसे लोकपरलोक सब प्रकारसे सुख होता है। श्रीरामजी सत्य हैं, जगत्-व्यवहार असत्य है, ऐसा निश्चय होनेपर आवागमन छूट जाता है।

२ "हेराई" शब्दका स्वारस्यही है कि वह वस्तु (जिसका 'हेराना' कहा गया है) है, पर हमारे काममें नहीं आती। अर्थात् अब हमको जगत् दुःखद नहीं रह गया। इस शब्दसे जगत्का अभाव नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत इससे उसकी अन्यत्र सत्ता ही ज्ञात होती है।

वेदांतभूषणजी—ईश्वरकर्तृक होनेसे स्वाप्नसृष्टि और जागृतसृष्टि दोनों सत्य हैं, क्योंकि 'ईश देइ फल हृदय बिचारी' अर्थात् ईश्वर तो जीवोंके शुभाशुभ कर्मानुसार सुखदुःख फल देनेके लिए ही सृष्टिकी रचना करता है। अतः स्वाप्नसृष्टिभी ईश्वरकर्तृक है, इसे स्वयं श्रुतिही स्पष्टरूपसे कहती है, कि 'न तत्र रथा न रथयोगा न पंथानो भवंत्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते स हि आत्मा' (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।१०)। अर्थात् स्वप्नावस्थामें रथ, घोड़े, सड़क, और मैदान आदि नहीं रहते, परन्तु जीवोंके कर्मानुसार वहाँ पर भी ईश्वर सब कुछ तैयार कर देता है। जिस तरहसे स्वप्नमें कर्मफल भोगनेके बाद जागने पर जीवोंको वह स्वप्न एक भ्रममात्रही मालूम होता है, उसी तरह स्थूल शरीरसे जागृतावस्थाके सुख दुःख भोग लेनेसे जबसब प्रकारके कर्मोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है और जीव भगवत्कृपासे परमपद प्राप्त कर लेता है तब यह स्थूल जगत् भी एक भ्रम ही मालूम पड़ने लगता है। इसे श्रुतियोंने 'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति' (छांदोग्य

८।१२।३) इत्यादि शब्दोंमें समझाया है। इसका और भी विशेष विवरण 'जौं सपने सिर काटै कोई। ११८।२।' में देखिए।

(नोट) ३ "जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई" इति। स्वप्नसृष्टि और स्वप्न-सृष्टिके व्यापार सोतेमें सत्यही जान पड़ते हैं। जब तक स्वप्न देखनेवालेकी नींद नहीं टूटती, वह जागता नहीं, तब तक (स्वप्नमें ही कोई कितना समझावे) उसे कदापि कोई समझा नहीं सकता कि यह सब भ्रम है, स्वप्न है, मिथ्या है। जब वह स्वयं जागता है तब आप ही आप बिना परिश्रम जान लेता है कि यह सब हमारा भ्रम था।

श्रीलक्ष्मणजीने निषादराजको समझाते हुए इस बातको बड़ी उत्तम रीतिसे दिखाया है; यथा "सपने होइ भिखारि नृपु, रंक नाकपति होइ। जागें लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥ २।९२।" अर्थात् जैसे कोई कंगाल स्वप्नमें देखे कि वह राजा हो गया, उसे इन्द्रका पद प्राप्त हो गया, अथवा कोई राजा देखे कि वह भिखारी हो गया, तो यह भ्रम दोनोंको स्वप्नमें सत्य जान पड़ता है। एक मारे खुशीके फूला नहीं समाता, दूसरा शोकसे पीड़ित हो रहा है। जब वे जागते हैं, तो न पहलेका हर्ष, न दूसरेका शोक रह जाता है। दोनोंको तब विश्वास होता है कि यह तो सब झूठा था, भ्रम था—यही हाल इस जगत्का है।—'जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई। १।११८।२।'

ठीक यही हाल जगत्का है। जो कुछ यहाँ हमें दिखाई पड़ता है, यह सब स्वप्नका भ्रम है, यथा '⋯धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू ॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं ।२।९२।' जब तक हम मोह-निशामें सो रहे हैं ये सब प्रपंच हमें सत्य जान पड़ते हैं, यथा 'मोह-निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा। २।९३।' जब ज्ञानरूपी सूर्य्योदय होता है और हमारी आँखें खुलती हैं तब हम श्रीरामजीहीको सत्य जानते हैं और जगत्के व्यवहार असत्य प्रतीत होते हैं, जगत् प्रपंचको सत्य मानना ही स्वप्न देखना है। यह हमारी माता है, यह पिता हैं, यह भाई हैं, यह पुत्र है, यह स्त्री है, यह हमारा शरीर है, यह हमारा धन है, यह हमारा घर है, ये हमारे मित्र हैं, ये हमारे कुटुम्बी हैं, इत्यादि अहं-ममत्वके कारण सुखदुःखात्मक भोगका नाम ही जगत् है। और संसारसे वैराग्य होना अहं-ममत्वका छूट जाना जगका हेराना वा खो जाना है। श्रीरामजीको जानना जागना है; यथा 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना ॥', "जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ होइ बिबेकु मोह-भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा। २।९३।४-५।'

इसी विषयको विनयपत्रिकाके निम्न पदोंमें क्या ही अच्छा दिखाया है। इनसे ये रज्जु सर्प, स्वप्न और जागना, इत्यादि खूब स्पष्ट समझमें आ जावेंगे।

(१) "जागु जागु जीव जड़ जोहै जग-जामिनी। देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी ॥ सूते सपने ही सहै संसृत संताप रे। बूड़ो मृगबारि खायो जेवरीको साँप रे ॥ कहैं वेद बुध तू तौ बूझि मन माहिं रे। दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे ॥ तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहूँ ताय रे। रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥ ७३।"

(२) 'जानकीशकी कृपा जगावती सुजान जीव जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्री हरे। करि बिचार तजि बिकार भजि उदार रामचंद्र भद्रसिंधु दीनबंधु वेद बदत रे ॥ मोहमय कुहू-निसा बिसाल काल बिपुल सोयो खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जूपरे। अब प्रभात प्रगट ज्ञान-भानु के प्रकास बासना सराग मोह द्वेष निबिड़ तम टरे। ७४।'

बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सिधि (सिद्धि)-आठ सिद्धियाँ (अणिमा आदि) भगवत् वा योगसंबंधी हैं और दश सामान्य सिद्धियाँ हैं, इनका विस्तृत उल्लेख मं० सो० १ में हो चुका है। इनके अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। सुलभ = सहज ही प्राप्त हो जाती हैं।=सुगम। जिसु=जिसका। यह 'यस्य' का अपभ्रंश जान पड़ता है। यथा 'नारद के उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह। १।७८।' में 'किसु'=किसका।

अर्थ—उन्हीं रामचन्द्रजीके बालरूप (एवं बालकरूप श्रीरामचन्द्रजी) की मैं वन्दना करता हूँ, जिनका नाम जपनेसे सब सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) "बंदौं बालरूप" इति। श्रीरामजीके निर्गुणरूपका गुण कहकर अब सगुणरूपके गुण कहते हैं। जब निर्गुणसे सगुण हुये तब प्रथम बालरूप धारण किया, इसीसे, अथवा, शिवजीकी उपासना बालरूपकी है इससे बालरूपकी वन्दना की। अथवा, शिवजी चाहते हैं कि हमारे हृदयरूपी आँगनमें प्रभु बसें, और बालरूप ही आँगनमें विचरता है इसीसे वे दशरथ अजिरविहारी बालरूप रामकी वंदना करते हैं। (ख) पूर्व जो 'श्रीरघुनाथरूप उर आवा। १११।८।' कहा था उसे यहाँ खोला कि वह कौन रूप था-बालरूप।

नोट—१ "बालरूप सोइ रामू" इति। (क) "सोइ"-जिनके विशेषण ऊपर दो चौपाइयोंमें दिए और यहाँ भी। अर्थात् जिनको न जाननेसे झूठा भी सत्य प्रतीत होता है और जिनके जाननेसे जगत्के व्यवहार असत्य प्रतीत होने लगते हैं; पुनः जिनके नामके जपसे सम्पूर्ण सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं उन रामचन्द्रजीको (बन्दौं)। (ख) श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "शिवजी शान्तरसमें श्रीरामचन्द्रजीको भजते हैं, इसीसे बालरूपहीको इष्ट मानते हैं, उसीका ध्यान करते हैं, क्योंकि यावत् विधिकी भक्तियाँ हैं उन सबके करनेको बालरूप सुलभ हैं। इस अवस्थामें विधि-अविधि नहीं देखते और थोड़ी सेवामें बहुत प्रसन्न हो जाते हैं; जैसे बच्चा मट्टीके खिलौनेके बदलेमें अमूल्य पदार्थको दे देता है।" [इस कथनसे भगवान्में अज्ञताका आरोपण होता है कि वे ऐसे अज्ञानी हैं कि किसीके फुसलानेमें आ जाते हैं। पर वस्तुतः इसमें भाव यह है कि भगवान्को जिस प्रकारसे जो भजता है, भगवान् उसके साथ उसी प्रकारका नाट्य करते हैं। जो उनको लड़का मानते हैं, उनके साथ वे भी प्राकृत बालकोंकासा नाट्य करते हैं। दूसरा भाव इसमें यह है कि बालक रूपमें जितनी सेवा भक्त कर सकता है उतनी सेवा अन्य अवस्थाके रूपोंमें नहीं हो सकती।] (ग) श्रीलोमशजी और कागभुशुण्डीजीकी उपासना भी बालकरूप रामकी थी। यथा 'बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहिं मुनि कृपानिधाना। ७.११३।', "इष्टदेव मम बालक रामा।७।७५।" पुनः, देखिए कि सभी जीवोंके बालक स्वाभाविक ही बड़े ही भले और प्यारे लगते हैं, संभव है कि यह भी एक कारण बालरूपकी उपासनाका हो।-(रा० प०)। काशिनरेशजी लिखते हैं कि "बालक सो परमहंस वेदन अस भनी है" अर्थात् बालक परमहंस रूप हैं। अतएव बालरूपकी वन्दना की। (रा० प० प०)

२ इस ग्रंथमें कई ठौर शिवजीका ध्यान करना, हृदयमें अन्य अवस्थाओंके रूपों और छबिकी मूर्त्तिको धारण करना, और बाल, विवाह, उदासीन, राज्याभिषेक आदि सभी समयके रूपोंमें मग्न होना वर्णित है। यथा 'परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले। १.१९६।', 'संभु समय तेहि रामहिं देखा।'''पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता॥'' भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥ ५०।', "अंतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥ १.७७।", "बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर॥ ७.१३।'''बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग। ७.१४।"

इससे स्पष्ट है कि श्रीशिवजी सभी रसोंके आनन्दके भोक्ता हैं।—'सेवक स्वामि सखा सिय-पीके'। सभी रसोंके उपासक श्रीशिवजीको अपना गुरु मानते हैं।-"तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना।", "संकर भजन

बिना नर भगति न पावइ मोरि । ७.४५ ।" और "बिनु तव कृपा रामपद पंकज सपनेहु भक्ति न होइ ।", 'रिषै सिद्ध मुनि मनुज दनुज सुर अपर जीव जग माहीं । तुअ पद बिमुख पार न पाव कोउ कल्पकोटि चलि जाहीं ।। विनय ६ ।' भी इसके प्रमाण हैं। भक्तमालमें श्रीनरसीजीकी कथा भी देखिए ।

ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि "अब यह प्रश्न है कि श्रीशिवजीका ध्येय स्वरूप क्या है ? कुछ महात्माओंका मत है कि उनका ध्येय रूप श्रीरामजीका बालस्वरूप है। क्योंकि यहाँपर वे स्वतः भावसे हार्दिक चावसे रामजीके बालरूपकी वन्दना करते हैं—"बन्दौं बालरूप सोइ रामू" । यहाँपर उद्दीपन प्रत्यक्ष स्वरूप रामजीका कोई नहीं है । प्रत्यक्ष कोई उद्दीपन होनेसे उससे प्रभावान्वित होकर हृदय उसके वशीभूत हो जाता है । अतः उस समय उस छटाका ध्यान एवम् स्मरण होना स्वाभाविक है। परन्तु जब प्रत्यक्ष कोई उद्दीपन न हो उस समय यदि भावुक स्वतः किसी स्वरूपका ध्यान करे तो वह उसका सहज और एकान्त ध्येय समझा जाता है । यहाँपर भगवान् शंकरका रामजीके बालस्वरूपका ध्यान ऐसा ही ध्यान है। उसका स्मरण होते ही वे मग्न हो गए, उनका मन उस रूपमाधुरीमें लीन हो गया । जब जब रामावतार हुआ तब तब उनकी बाल-छबिके दर्शनोंके लोभसे वे अपने शिष्य भुशुण्डीके साथ छद्मवेशसे अयोध्या-राजसदनमें अवश्य गए हैं । छद्मवेष तभी धारण किया जाता है जब हृदयमें कोई रहस्यात्मक भाव उत्पन्न होता है—वह उसका निजी ऐकान्तिक भाव होता है । इससे भी भगवान् शङ्करका बाल-स्वरूप ही स्वकीय ध्येय सिद्ध होता है । यदि यह कहा जाय कि उन्होंने भगवान् (श्रीरामचन्द्रजी) के और रूपोंको भी प्रेमसे देखा है, जैसे विवाह, वनयात्रा, संग्राम, विजय, राज्याभिषेकके अवसरोंपर तथा भगवान्ने जब प्रगट होकर उन्हें विवाह प्रस्तावपर सहमत किया तब—"संकर सोइ मूरति उर राखी" । तो इसका यह तात्पर्य है कि भावुकों और उपासकोंका एक अङ्गी रस अथवा ध्येय होता है और (रस अथवा रूप) अङ्ग स्वरूप । जैसे मुख है तथा और अङ्ग हैं। जैसे सभी अङ्गोंकी छटाँओंपर भावुक जन मोहित होते हैं और उनका वर्णन करते हैं पर मुखका विशेष रूपसे, उसके दर्शनोंसे वे अत्यन्त आनन्दित होते हैं । इसी प्रकार रसिक उपासकोंका अङ्गी रस उनका सविशेष भाव अथवा ध्येय होता है तथा इष्टके मुखेतर (अन्यान्य) अङ्गोंकी तरह अन्य रस या भाव अथवा स्वरूप अङ्गभूत सामान्य होता है । यद्यपि "जनक भवनकी शोभा जैसी । गृहगृह प्रति पुर देखिय तैसी ।।" तथापि राजसदनकी विशेषता थी । इसी प्रकार इष्टके यद्यपि सभी स्वरूप एकसे गुण धर्म एवम् महत्त्वके हैं, परन्तु अपनी रुचि और भावनाके अनुसार एक विशेष अथवा अङ्गी ध्येय हो जाता है ।

प्र० स्वामीका मत है कि शिवजी बालरूपके उपासक नहीं हैं और उसके प्रमाणमें लिखते हैं कि "मानसमें जिस रूपके दर्शनके लिये शिवजी छटपटा रहे हैं वह बालरूप नहीं है । बालकांडमें ५० (३) में 'जय सच्चिदानंद जगपावन' कहकर जिनके प्रेममें मग्न हुए वह बालरूप नहीं है । 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा' में जिसका कथन है वह बालरूप नहीं है, 'रघुबीररूप' है (इसके आगे 'रघुबीर', 'वीर', 'रघुनाथ' शब्दोंके भेद लिखे हैं, जो दोहा २१० में आ चुके हैं) । 'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला । रूप सील निधि तेज बिसाला । १।७५।५ ।', यह अवतार समाप्तिके पश्चात्की बात है । यह भी बालरूप नहीं है। शिवपार्वती-विवाहके समय 'बैठे शिव बिप्रन्ह सिरु नाई । हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई' । जिस राम-प्रभुकी इच्छासे विवाह स्वीकार किया और जिसकी मूर्त्तिको हृदयमें रख लिया था, उसीका स्मरण किया । यह भी बालरूप नहीं है ।

'जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं । ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक । ३२४ छन्द ।' जनकजीने बालरूप रामके पद नहीं पखारे । इत्यादि । संपूर्ण मानसमें केवल एक बार ही बालरूपको बंदन किया है । यहाँ बालरूपका बंदन साभिप्राय है, गूढ़ार्थ-चन्द्रिकामें साधार सबिस्तर लिखा है। यह बंदन

सती-पार्वती-भवानीके भ्रमको मिटानेके हेतु ही किया है।"—पाठक दोनों महात्माओंकी दलीलोंको स्वयं विचार करके जैसा उनको रुचे ग्रहण करें।

३ (क) श्रीसंतसिंहजी पंजाबी लिखते हैं कि "ऊपर दो चौपाइयोंमें स्वरूप-लक्षण अर्थात् परमात्माका निज स्वरूप वर्णन हुआ और यहाँ तटस्थ लक्षणोंका स्वरूप कहा है।" (तटस्थ = किसी वस्तुका वह लक्षण जो उसके स्वरूपको लेकर नहीं बल्कि उसके गुण और धर्म्म आदिको लेकर बतलाया जाय)। प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि श्रीपार्वतीजीने प्रश्न किया कि निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे होता है, अतः निर्गुण सगुणको समझानेके लिए श्रीशिवजीने दोनों रूप कहे हैं, पहला रूप यही है—'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।···जेहि जाने जग जाइ हेराई।···' और दूसरा रूप 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू' है, यह बात 'सोइ' शब्दसे प्रकट होती है। इसीको पंजाबीजीने तटस्थ लक्षण कहा है।

संत उनमनी टीकाकार लिखते हैं कि यह रूप "भ्रूआणमध्यमें वा अधर श्वेत द्वीपमें सन्तोंको अनुभव होता है। यद्वा केवल नेत्र सूर्य्य अग्नि इत्यादि बुद्धि संवित् प्रवृत्ति करि। जिसका भेद सन्त ही जानते हैं।"

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "बालरूप राम और किशोररूप राम एकही हैं, फिर भी बालरूपके उपासक बालरूपको ही इष्ट मानते हैं। प्रसंग यहाँ निर्गुण ब्रह्मका है। निर्गुणमें ही जगत्का भ्रम होता है। अतः बालक रामकी उपासनासे निर्गुण ब्रह्मकी उपासना कही। निर्गुण सगुणमें अवस्था भेद मात्र है। सगुणको किशोरावस्था मानिये तो निर्गुण बाल्यावस्था है। जगत्में रहते हुए भी प्रपंचसे पृथक् होनेसे बालरूप में निर्गुण उपासना ही कही।"

४ 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू।···अजिर बिहारी' इस चौपाईमें "प्रथम निदर्शना" अलंकार है। 'सोई' 'जोई' इत्यादि शब्दोंसे यह बात प्रगट है। वीरकविजी लिखते हैं कि 'ऊपरकी चौपाई (जेहि जाने जग जाइ हेराई।०) का भाव लेनेसे यहाँ 'विकस्वर अलंकार' होता है। पहले विशेष बात कहकर उसका समर्थन 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू'—इस सामान्यसे करके फिर भी संतुष्ट न होकर विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करते हैं कि जिनका नाम जपनेसे सारी सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।"

टिप्पणी—२ (क) 'सोइ रामू।···' इति। जिसके विना जाने जगत् रज्जुमें सर्पकी नाईं भासता है और जिसके जाननेसे जगत् स्वप्नभ्रमवत् हिरा जाता है, ऐसा कहकर श्रीरामजीकी वन्दना करनेका भाव यह है कि पार्वतीजीको श्रीरामरूपमें भ्रम है, इसीसे श्रीरामरूपकी वन्दना करते हैं कि (मैं तो एक बार इनको उपदेश कर ही चुका पर इनको बोध न हुआ, अतः अब आप ऐसी कृपा करें कि) मेरे अबकी बारके कथनसे इनको आपका रूप जान पड़े। आपके जाननेसे भ्रम दूर होता है, यह बात स्वयं पार्वतीजीने आगे स्वीकार की है; यथा 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ। १.१२०.२।' पुनः भाव कि विना आपको जाने जगत्ने सतीजीको सर्पकी नाईं दुःख दिया, डस लिया, जिससे इनका मरण और पुनर्जन्म हुआ। अब मैं प्रार्थना करता हूँ, कृपा कीजिए कि आपका रूप इनको जान पड़े जिसमें आगे जन्ममरण दुःख न भोगना पड़े। (ख) "सब सिधि सुलभ···" इति। [यथा 'विनाप्यर्थैः समर्थं हि दातुमर्थचतुष्टयम्। मङ्गलायतनं तन्मे बाल्ये यद्रामभाषितम्।' अर्थात् बिना अर्थके भी जो धर्मार्थकाममोक्ष देनेमें समर्थ है, ऐसा रामजीका बाल्यावस्थाका भाषण, मेरे लिये मंगलका आयतन हो। (वि० त्रि०)]। यहाँ तक छः चरणोंका अन्वय एक साथ है।

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी ॥४॥

शब्दार्थ—द्रवौ ('द्रवना' से)=कृपा कीजिये। अजिर = आँगन।

अर्थ—मंगलोंके धाम, अमंगलोंके हरनेवाले और श्रीदशरथ महाराजके आँगनमें विहार करनेवाले वे (बालकरूप श्रीरामजी मुझपर) कृपा करें ।।४।।

टिप्पणी—१ (क) नाम, रूप, लीला और धाम इन तीनोंका संबंध लगाकर तब शिवजी "बंदौं बालरूप···" इत्यादिसे रूपकी वन्दना करते हैं। तात्पर्य कि शिवजीने यहाँ श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका मंगलाचरण किया है।☞ नामादि चारों 'मंगलभवन' हैं यथा—

नाम—मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी। १.१०.२

रूप—मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी। (यहाँ)

लीला—मंगल करनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। १.१०

धाम—सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी। १.३५.५

अतएव पार्वतीजीके मंगल कल्याणके लिए यहाँ कथाके प्रारंभमें शिवजीने चारोंका मंगलाचरण किया है। यथा 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू' से नाम, 'बंदौं बालरूप सोइ रामू' से रूप, 'द्रवौ सो दसरथ-अजिर' से धाम (क्योंकि दशरथ-अजिर श्रीअयोध्याधाममें है) और 'बिहारी' से लीला (क्योंकि विहार करना लीला है) का मंगलाचरण किया है।

(ख) 'मंगलभवन···' अर्थात् आप स्वयं मंगलके भवन हैं और दूसरोंका अमंगल हरते हैं। "मंगलायतनो हरिः"। 'दसरथ अजिर बिहारी' कहते हुए 'द्रवौ' कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारे हृदयांगनमें ही विहार कीजिये। यथा "तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताइ हरैं। अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं। दमकैं दँतियां दुति दामिनि ज्यों किलकैं कल बाल बिनोद करैं। अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिरमें बिहरैं।।" (क० १।३)। इसीसे बालरूपकी वंदना की। बालक घरका आँगन छोड़ बाहर नहीं निकलता, सदा आँगनमें ही 'विचरता' है।

नोट—१ स्मरण रहे कि श्रीमद्गोस्वामीजीने "मंगल भवन अमंगलहारी" नामको स्मरणकर कथा प्रारम्भ की है, यथा "भाय कुभाय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू।। सुमिरि सो रामनाम गुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा।। २८।१-२।' भगवान् शंकरने भी उसी 'मंगल भवन अमंगलहारी' से कथा प्रारंभ की है। भेद केवल इतना है कि श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीरामनामको 'मंगलभवन अमंगल हारी' कहा, यथा 'मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी। ६। २।' और श्रीशिवजीने वही विशेषण श्रीरामरूपको दिया। इस प्रकार ग्रन्थमें नाम और रूप दोनोंका ऐक्य और दोनोंका 'मंगल भवन अमंगलहारी' होना पुष्ट किया है। ग्रंथकारने यह बात नाम-वंदनामें भी प्रकट की है, यथा 'समुझत सरिस नाम अरु नामी'।

२ प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि चौपाईके अन्तिम चरणमें जो 'अजिरबिहारी' शब्द आए हैं वे बालरूप ही पर घटित हो सकते हैं। अतः 'मंगलभवन अमंगलहारी' शब्द भी 'बालरूपके' ही विशेषण हैं। वास्तवमें राजा दशरथका अमंगल (वंशलोप वा अपुत्र होना इत्यादि) बालस्वरूप प्रकट होकर हरण किया और बालस्वरूपसे ही दशरथके घरको मंगलसे भर दिया। चारों भाइयोंके संस्कार होते समय उनके जन्मके क्रमानुसार लगातार तीन दिन तक एक एक मंगलका सिलसिला चला जाता था—जैसे रामजीकी छठी चतुर्दशीको, भरतजीकी पूनोंको और लक्ष्मण और शत्रुघ्नजीको प्रतिपदाको। गीतावलीमें इस बातको रतजगाके संबंधमें गोस्वामीजीने स्पष्ट कहा है, यथा 'ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागन होंहिंगे नेवते दिये।' (गी० बा० पद ५) इत्यादि।

पं० शुकदेवलालजी—प्रथम भगवच्चरित्रके मंगलाचरण हीमें श्रीपार्वतीजीके समस्त संदेहोंको निवारण करते हुए श्रीशिवजीने अपने इष्टदेव बालरूप श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया है।

करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी ॥५॥
धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी† ॥६॥

अर्थ—त्रिपुरासुरके नाशक श्रीमहादेवजी श्रीरामजीको प्रणाम करके हर्षपूर्वक अमृत समान वचन बोले ॥ ५ ॥ हे गिरिराजकुमारी ! तुम धन्य हो ! धन्य हो ! तुम्हारे समान कोई भी उपकारी (परोपकार करनेवाला) नहीं है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'करि प्रनाम…' इति। ☞श्रीशिवजीका तीन बार प्रणाम करना इस प्रसंगमें लिखा गया। एक 'बंदौं बालरूप सोइ रामू', दूसरे 'करि प्रनाम रामहि' (यहाँ) और तीसरे दोहा ११६ में "रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ।" प्रथम 'बंदौं…' में मानसिक मंगलाचरण है, दूसरे 'करि प्रनाम…' में वाचिक और तीसरे 'सिव नायउ माथ' में कायिक मंगलाचरण है। इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनोंसे यहाँ मंगलाचरण और प्रणाम दिखाया। पुनः, (ख) वंदन और प्रणाम दो बातें दो बार कहकर जनाया कि निर्गुणरूपकी वंदना की और सगुणरूपको प्रणाम किया। ['बंदौं बालरूप' ये श्रीशिवजीके वचन हैं और 'करि प्रनाम' ये ग्रंथकारके वचन हैं। 'वंदन' में स्तुति और प्रणाम दोनों शामिल हैं। संभवतः शिवजीने 'बंदौं बालरूप' कहते हुए साथ ही साथ शिर झुकाया और फिर श्रीगिरिराजकुमारीको संबोधन करने लगे। इसी बातको कवि लिखते हैं "करि प्रनाम…"। 'बालरूप' भी सगुणरूप ही है।] (ग) 'त्रिपुरारी' का भाव कि शिवजीने त्रिपुरासुरका वध किया था, अब उनकी वाणीसे त्रिपुरके समान दुःखदाता मोहरूपी असुर एवं अरि नाशको प्राप्त होगा। [पुनः अमरकथाको सुनकर त्रैलोक्य आनन्दित होगा; अतएव 'त्रिपुरारी' विशेषणयुक्त नाम दिया। ४८।६, १०६।८, १०७।७ देखिए]। (घ) "मगन ध्यानरस…। रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १११।' पर प्रसंग छोड़ा था। बीचमें मंगलाचरण किया, अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं। वहाँ 'हरषित बरनै लीन्ह' कहा, यहाँ, 'हरषि सुधा सम गिरा उचारी'। (ङ) गिरा सुधा समान है; पार्वतीजीने अंतमें स्वयं इसे अपने मुखसे स्वीकार किया है। यथा 'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर। ७।५२।' 'सुधासम' कहनेका भाव कि मधुर है, अत्यन्त रुचिकर है तथा जन्ममरण छुड़ानेवाली है। (च) 'गिरा उचारी' से पाया गया कि पूर्वकी चारों चौपाइयाँ मानसिक हैं। मनमें मंगलाचरण किया, अब वाणी उच्चारण करते हैं।

नोट—१ 'सुधा सम' कहा क्योंकि आप अमर कथा कहेंगे; इसीको सुनकर शुकजी अमर हो गए। पुनः यहाँ 'सुधा' ही न कहकर 'सुधा सम' कथनका भाव कि—(क) समुद्रसे निकली हुई सुधासे तृप्ति हो जाती है, अन्य दूसरे स्वादकी इच्छा नहीं होती, परन्तु श्रीरामकथा सुधासे रसज्ञोंकी तृप्ति नहीं होती,—'…नहिं अघात मति धीर'। और साथही साथ अन्य रसोंके स्वादोंकी इच्छा भी नहीं होती। यथा "तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे। विनय १६६।' (ख) समुद्रसे निकली हुई सुधा पांचभौतिक शरीरको युगान्त या कल्पान्त तकके लिये अमर बना देती है और श्रीरामकथासुधा जीवको मुक्त कर देती है, जिससे वह फिर जन्ममरणको प्राप्त ही नहीं होता—यथार्थतः अमर होना यही है।—"न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" (छां० ८।१५।१), 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' (गीता ८।१६)। (ग) इसपर शंका हो सकती है कि "जब सुधा 'रामकथासुधा' की समता नहीं कर सकती तब उसकी उपमा देकर सम क्यों कहा ?" तो उत्तर यह है कि जब समानताकी उपमा नहीं मिलती तब किंचित् मात्र भी जिसमें सादृश्य होता है उसीको देकर संतोष करना पड़ता है। जैसे 'इषुवत्सविता गच्छति'

† अधिकारी—छ०। उपकारी—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, को० रा०।

अर्थात् सूर्य बाणके समान वेगसे जाते हैं। इसमें बाणकी अपेक्षा सूर्यकी गति बहुत भारी है पर उपमा दें तो किसकी दें, उपमा तो सर्वसाधारणके अनुभूत वस्तुकी ही दी जाती है जिससे वह तात्पर्यको समझ जाय। पुनः जैसे 'वायु वेगसमं मनः' इसमें मनके वेगको वायुके समान कहा गया है यद्यपि मनका वेग अकथनीय है। इत्यादि।

टिप्पणी—२ 'धन्य, धन्य गिरिराजकुमारी....' इति। (क) उपकारके संबंधसे 'गिरिराजकुमारी' संबोधित किया। १०७।६ 'सैलकुमारी' देखिए। गिरि परोपकारी होते ही हैं। गिरिराजने गिरिजाका व्याह शिवजीके साथ करके देवताओंका उपकार किया। 'यहाँ द्वितीय सम' अलंकार है। गिरिराजकी कन्या परोपकारिणी हुआ ही चाहें। इसमें परिकराङ्कुरकी ध्वनि है। (ख) 'धन्य धन्य'—भाव कि तुम धन्य हो, गिरिराज धन्य हैं कि जिनकी तुम कन्या हो। ☞परोपकारी जीव धन्य हैं क्योंकि परोपकार समस्त शास्त्रोंका सिद्धांत है; यथा—'पर हित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई। निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥ ७।४१।१-२।' 'अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् (प्रसिद्ध)। धर्म और पुण्य पर्याय हैं। "कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला' गरुड़जीके इस प्रश्नका उत्तर भुशुण्डीजीने यह दिया है कि "परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा। ७।१२१।२२।" इस तरह धर्म=पुण्य। पुनः यथा 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इत्यमरः। ३।१।३। ['धन्य धन्य' में आदरकी वीप्सा है। यहाँ वीप्सा अलंकार है। 'धन्य धन्य' अर्थात् तुम प्रशंसायोग्य हो। ☞श्रीभुशुण्डीजीने गरुड़जीके सुन्दर प्रश्न सुनकर उनकी बुद्धिके संबंधमें ऐसा ही कहा है; यथा 'धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी।७।६५।२।' वैसे ही यहाँ 'प्रश्न सुहाई' के संबंधसे 'धन्य धन्य' कहा गया। अध्यात्म रा० सर्ग १ में इसी भावको यों लिखा है—"धन्यासि भक्तासि परात्मनस्त्वं यज्ज्ञातुमिच्छा तव रामतत्त्वम्। पुरा न केनाप्यभिचोदितोऽहं वक्तुं रहस्यं परमं निगूढम्। १६।" अर्थात् तुम श्रीरघुनाथजीकी परम भक्ता हो क्योंकि तुमने श्रीरामतत्वके जाननेकी इच्छा प्रकट की है। अतएव तुम धन्य हो, प्रशंसायोग्य हो। इस परम गोप्य रहस्यको आजतक मुझसे किसीने नहीं पूछा था और न मैंने कहा।—इसके अनुसार यह भी भाव हुआ कि परम गोप्य रहस्य प्रथम-प्रथम इन्हींने पूछा इससे 'धन्य धन्य' कहा। वि० त्रि० का मत है कि पार्वतीजी के "प्रथम विनय 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना' की पूर्तिमें यहाँसे हाथ लगा। इस विनयमें दो अभिलाषायें हैं—एक तो रामकथा सुननेकी, दूसरी अज्ञानहरणकी। अतः दोनों अभिलाषाओंके लिये दो बार धन्य धन्य कहा।" (ग) 'उपकारी'—क्या उपकार किया यह आगे कहते हैं कि सबको श्रीरामचरणानुरागी बनानेके लिये जगत्का कल्याण करनेके लिये श्रीरामकथा, श्रीरामतत्व पूछा है।

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ ७॥
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी॥ ८॥

शब्दार्थ—कथा प्रसंग=कथाके प्रसंग। (पं० रा० कु०)। =कथा और प्रसंग। =कथाके संबंध में। (वीरकवि)। १।३७।१५ "औरौ कथा अनेक प्रसंगा" देखिए।

अर्थ—तुमने श्रीरघुनाथजीकी कथाके प्रसंग (एवं कथा और उसके प्रसंग) पूछे हैं, जो समस्त लोकोंके लिये जगत्पावनी गंगाजी (के समान) है॥ ७॥ तुम श्रीरघुवीरजीके चरणोंकी अनुरागिणी हो। तुमने प्रश्न जगत्के कल्याणके लिये किये हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ "पूँछेहु रघुपति कथा...." इति। (क) पार्वतीजीने कहा था 'रघुपति कथा कहहु करि दाया', वही बात यहाँ शिवजी कह रहे हैं। (ख) कथा प्रसंगा=कथाके प्रसंग। पार्वतीजीने कथाके प्रसंग

ही पूछे हैं; यथा 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी।'…', 'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा', 'बालचरित पुनि कहहु उदारा', इत्यादि। ये सब कथाके प्रसंग ही हैं। इसीसे 'कथा-प्रसंग' पूछना कहा। (किसी किसीका मत है कि "यहाँ कथा और प्रसंग दो बातें हैं। पार्वतीजीने प्रथम जो यह कहा था कि 'रघुपति कथा कहहु करि दाया' उसकी जोड़में यहाँ 'कथा' शब्द दिया और फिर जो एक-एक प्रसंग पृथक्-पृथक् पूछे उनकी जोड़में यहाँ 'प्रसंग' शब्द दिया गया।" पंजाबीजीका मत है कि 'प्रसंग'=वार्ता। (ग) "सकल लोक जग पावनि गंगा।" इति। अर्थात् सकल लोक और जगको पावन करनेवाली है। यथा 'वाल्मीकि गिरिसंभूता रामसागर-गामिनी। पुनातु भुवनं पुण्या रामायण महानंदी।' यहाँ 'सकल लोक' से 'जग' को पृथक् कहा है, यथा 'तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं। २।२।४।', 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं।।। ३।१७।६।' तथा यहाँ 'लोक जग पावनि' कहा। (हमने 'जगपावनि' को गंगाका विशेषण माना है और 'सकल लोक' को 'कथा-प्रसंगा' के साथ लेकर अर्थ किया है। प्रोफ़े० दीनजी कहते हैं कि 'मेरे विचारसे इसका पाठ 'पावनि जस' होना अधिक संगत जान पड़ता है, नहीं तो लोक और जग शब्दोंमें पुनरुक्ति हो जाती है और न्यूनपदत्व और अन्वयभ्रष्टताका दोष आ जाता है। परन्तु प्रायः समस्त प्राचीन पोथियोंमें पाठ 'जग पावनि' ही है। 'लोक' का अर्थ 'लोग' भी है। इस तरह यह 'द्वितीय निदर्शना अलंकार' है।

नोट—१ "सकल लोक जग पावनि गंगा" इति। श्रीभगीरथ महाराज केवल अपने पुरुषा सगर महाराजके पुत्रोंके उद्धारके लिए गंगाजीको पृथ्वीपर लाए। पर इस कार्य्यसे केवल उन्हींका उपकार नहीं हुआ वरन् तीनों लोकोंका हुआ और आज भी हो रहा है क्योंकि गंगाजीकी एक धारा स्वर्गको और एक पातालको भी गई जहाँ वे मंदाकिनी और भोगवती नामसे प्रसिद्ध हुईं। श्रीशिवजी कहते हैं कि इसी तरह तुम्हारे प्रश्नोंसे तीनों लोकोंका हित होगा। यहाँ पार्वतीजीका प्रश्न भगीरथ है, कथाको जो कहेंगे वह गंगा है। प्र० स्वामी लिखते हैं कि 'जग' में श्लेष है। जग-का दूसरा अर्थ है जंगम। भागीरथी गंगा तो देश-परिच्छिन्न हैं, स्थावर हैं और पार्वतीजीके निमित्तसे प्रगट होनेवाली रामकथा गंगा जंगम है—'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।'

टिप्पणी—२ "तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी।'…" इति। (क) ☞भगवान्‌के अनुरागी जगत्‌का हेतु रहित उपकार करते हैं। यथा "जग हित निरुपधि साधु लोग से। १।३२।१३।', 'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी। ७।४७।५।' तुममें मोह नहीं है (यह आगे कहते हैं), तुमने जगत्‌के हितार्थ प्रश्न किया, अतएव तुम रघुबीर चरणकी अनुरागिनी हो। पुनः कथा सुननेसे अनुराग होता है, यथा 'राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान।७।१२८।' तुम तो अनुरागिनी हो ही, तुमने जगके हितके लिये प्रश्न किये जिसमें कथा सुनकर सारा जगत् श्रीराम-चरणानुरागी हो जाय तथा (सकल लोक जग पावनि गंगाके समान यह कथा पूछकर तुमने) सकल जग-को पावन किया।

नोट—२ श्रीरामचरणानुरागिणी कहनेका एक कारण पूर्व श्रीभरद्वाजप्रसंगमें भी कह आये हैं कि वक्ताओं की यह रीति है। दूसरे, श्रीरामचन्द्रजीने प्रगट होकर श्रीशिवजीसे इनकी सुफ़ारिश की थी, यथा "अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिसतर सहित कृपानिधि बरनी।।'…'जाइ बिबाहहु सैलजहिं…" (७६)। श्रीरामपदमें प्रेम न होता तो प्रभु ऐसा क्यों करते? तीसरा भाव कि श्रीरामपदानुरागीको मोहभ्रमादि होता ही नहीं और तुम श्रीरामानुरागिनी हो, अतः यह निश्चय है कि तुम अपनेमें मोह आदि कहकर लोकहित करना चाहती हो। (रा० प्र०)।

३ श्रीअनुसूयाजीने अंबा श्रीजानकीजीको पातिव्रत्यधर्मका उपदेश देकर कहा था कि 'सुनु सीता

तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित। ३।५।' वैसेही यहाँ शिवजीके वचन हैं।

दोहा—रामकृपा तें पारबति¹ सपनेहु तव मन माहिँ।
सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिँ ॥११२॥

अर्थ—हे पार्वती ! मेरे विचार (समझ) में तो श्रीरामकृपासे तुम्हारे मनमें स्वप्नमें भी शोक, मोह, संदेह और भ्रम कुछ भी नहीं है ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'रामकृपा तें' का भाव कि तुम रघुबीरचरणानुरागिनी हो, इसीसे तुम पर रामकृपा है और रामकृपासे शोकादि कुछ नहीं हैं। इससे शिवजीका यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि मोह-संदेहादि सब श्रीरामकृपासे जाते रहते हैं। अथवा, (ख) श्रोताकी खातिरी करना सब वक्ताओंकी रीति है। यथा 'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी। चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहु अति मूढ़ा ॥ १।४७।' (इति याज्ञवल्क्यः), 'सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे ॥ तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया।७।७०।' (इति भुशुण्डिः) तथा यहाँ 'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी'। अथवा, (ग) शोक-मोह-संदेहादिके रहते हुएभी यह कहकर कि तुम्हारे मनमें कुछ भी नहीं है यह दिखाते हैं कि भगवत्-सम्मुख होतेही जीवके अवगुण नहीं गिने जाते। यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं। ५।४४।२।'

नोट—१ 'सोक मोह संदेह भ्रम' के भेद। १।३१।४ 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' में देखिए। वि० टी० कार लिखते हैं कि 'श्रीअगस्त्य-शिवसत्संगमें जो वस्तु पार्वतीजीको प्राप्त हुई थी वह उन्होंने बनमें जाकर गँवा दी, खो दी, इसीसे शोक हुआ, सतीतनमें पतिके वचनपर विश्वास न हुआ और श्रीरामचन्द्रजीके ब्रह्म होनेमें संदेह हुआ यही मोह है; और श्रीरामचन्द्रजीको प्राकृत नर समझा यह भ्रम है'।

नोट—२ यहाँ प्रायः लोग यह शङ्का किया करते हैं कि "श्रीशिवजी यह कहते हैं कि 'हमारे विचारमें तो तुम्हें शोक मोह संदेह भ्रम स्वप्नमें भी नहीं हैं', यदि यह सत्य है तो फिर शिवजीने आगे चलकर यह कैसे कहा कि, 'अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद। सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम-तम रविकर-बचन-मम। ११५।', 'एक बात नहिं मोहिं सुहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी। १।११४।७।' और 'राम सो परमात्मा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥ अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं।११६।५-६।' इतना ही नहीं वरन् श्रीपार्वतीजीने आपके इन अंतिम वचनोंका समर्थन भी तुरत ही किया कि "ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥ तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा।१।१२०(१-३)' और कथाकी समाप्तिपर पुनः ऐसा ही कहा, यथा "नाथ कृपा मम गत संदेहा॥'''उपजी राम-भगति-दृढ़ बीते सकल कलेस। ७।१२९।', 'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।७।५२।' श्रीयाज्ञवल्क्यजीभी इनको भ्रम होना सूचित करते हैं, वे श्रीभरद्वाजमुनिसे कहते हैं कि 'सुनि सिवके भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतरक कै रचना॥ भइ रघुपति-पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती। ११६।७-८।' ?"

इस शंकाका समाधानभी अपनी-अपनी मतिके अनुसार लोगोंने किया है।

---

१ हिमसुता—१७२१, छ०, भा० दा०, रा० प०। पारबति—१६६१,१७०४,१७६२, को० रा०, गौड़जी। 'हिमसुता' पाठमें 'हिम' से 'हिमगिरि' का अर्थ लेना होगा। साहित्यानुसार 'हितसुता' शब्द ठीक नहीं है, 'हिमगिरिसुता' ठीक है। हिमगिरिसुताका भाव यह है कि 'हिमगिरि अचल, धवल, स्वच्छ है, वैसेही तुम्हारी बुद्धि अचल, निर्मल और निर्विकार है। (वै०, रा० प्र०)।

१—श्री पं० रामकुमारजी कहते हैं कि—(क) भगवान् भक्तोंके अवगुणोंको हृदयमें नहीं लाते, यथा 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ', 'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन' (बि० २०६), इत्यादि। [विशेष प्रमाणोंके लिए २६ (५) देखिए]। तब औरोंकी क्या गिनती ! सन्त अपने प्रभुका स्वभाव गुण क्यों न अनुसरें ? अतः वे भी प्रभुके कृपापात्रोंमें अवगुण रहते हुए भी उन अवगुणोंको गिनतीमें नहीं लाते। पुनः, (ख) उत्तम वक्ताओंकी रीति यहां दिखाई है। प्रथम ख़ातिर फिर भय आदि यह रीति है। अर्थात् वे श्रोताको पहिलेसे भय नहीं देते; क्योंकि ऐसा करें तो वह डर जायगा, उनका उपदेश ही क्या सुनेगा। जिसका फल यह होगा कि हृदयमें सन्देहकी ग्रन्थि जैसीकी तैसी बनी ही रह जावेगी। इस विचारसे वे उसकी बड़ी ख़ातिर करते हैं। ऐसाही श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि और श्रीभुशुण्डीजीने किया है; यथा 'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।'''कीन्हेहु प्रश्न मनहु अति मूढ़ा।' (४७), यह कहकर मुनि कथा कहने लगे और जैसे 'सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥ तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥' (उ० ७०) कागभुशुण्डीजीने यह कहकर तब फिर कहा कि 'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं।'; वैसे ही यहाँ शिवजीने ऐसा कहकर उनका आदर किया, दमदिलासा दिया, आगे फिर "तदपि असंका कीन्हेहु सोई" इत्यादि वचन कहते हुए भय देकर कथा प्रारम्भ करेंगे। आदर और भयकी रीति श्रीशुकदेव-परीक्षितजीके सम्वादमें भी देख लीजिए। (पं० रामकुमारजीके भाव सयुक्तिक और उचित हैं—प० प० प्र०)।

२ श्रीमानसी वन्दनपाठकजी इस शंकाका समाधान यों करते हैं कि "यहाँ जो मोहादिका न होना कहा है वह अविद्याजनित शोकमोहादि हैं जो भवसिन्धुमें डालनेवाले हैं। श्रीपार्वतीजीको विद्यामायाजनित मोह है। वह रामविषयक-मोह भवपार करनेवाला है, यथा "हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥ ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥ (उ० ७६)। इसका प्रमाण शिवजीने आप ही दिया है कि 'तदपि असंका कीन्हेहु सोई। कहत सुनत सबकर हित होइ'। इस चौपाईसे प्रकरण लगा है, संदेह नहीं है। विशेष ११४ (७) भी देखिए।

३ शिवजीके इस वाक्यमें 'राम कृपा ते' और 'मम बिचार' शब्द बड़े गूढ़ हैं। जिसपर श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा होगी उसको शोकादिक रह ही नहीं सकते, श्रीरामकृपासे यह सब छूट जाते हैं, हमारे विचारमें तो ऐसाही है कि तुमने यह शंका परोपकार हेतुही की है, यह तुम्हारी शंका नहीं है। इसीसे आगे चौपाई में "अशंका" शब्द दिया अर्थात् जो सत्यही शंका नहीं है किन्तु शंकाभास है—केवल शंकाका मिस (बहाना) है। आगे जो कहा 'तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी' और 'जदपि मोह बस कहेउ भवानी' उसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि तुम्हें मोह नहीं है, कथा सुननेकेलिये तुमने अपनेको मोहके वश होना कहा। तो भी हमारे सिद्धान्तसे परात्पर परब्रह्मके विषयमें ऐसा प्रश्न (इस अभिलाषासे भी कि कथा सुननेको मिले) करना अनुचित है। और जो उन्होंने कहा कि संशय छोड़ो, हमारे भ्रमभंजन वचन सुनो, यह श्रीपार्वतीजीके वचनोंके अनुसार कहा है अर्थात् यदि तुम्हें भ्रम है जैसा तुम कहती हो तो वह भी दूर हो जायगा और औरोंके भी भ्रम दूर होंगे।

४ ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि वास्तविक तात्पर्य्य यह है कि भगवान् शिवने पहले श्रीपार्वती अम्बाके स्वतः शुद्ध (प्रकृत) स्वरूपको सहज ही सम्बोधन किया और फिर उनके लीला (नाट्य) स्वरूपको। यही कारण है कि उन्होंने पूर्वमें उनमें स्वप्नमें भी शोक-मोह संदेह-भ्रमकी स्थिति नहीं मानी, उनकी उद्भावना नहीं की। फिर घटनाक्रमसे उनमें किञ्चित् मोहका आरोप करते हुए उनके नाट्य-चरितको बुद्धिस्थ किया। अस्तु भगवतीका मूल स्वरूप तो वैसा ही शुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव (मोहरहित) है जैसा श्रीशिव भगवान्ने वर्णन किया है।

५

५ मानसतत्त्व विवरणकार लिखते हैं कि "शिवजी श्रीपार्वतीजीके 'अज्ञ जानि जनि रिसि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू', 'सो फल भली भाँति हम पावा', 'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं', इत्यादि इन वाक्योंका अभिप्राय देखकर कहते हैं कि हे पार्वती! जिस क़िस्मके शोक मोह और संदेह भ्रमपर मेरी दृष्टि थी सो तुम्हारे मनमें स्वप्नमें भी नहीं है इस जागृतिका क्या कहना, कि जो तुम पूर्व वृत्तान्त स्मरण करके डर रही हो। 'तदपि असंका०' और एक बात नहि मोहिं सुहानी।००' फिर यह क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि शिवजी जिस बातपर क्रोध कर रहे हैं वह 'विमोह' मात्र अर्थात् महामोह है। वह बात न सुहाई, क्योंकि वह उपासकोंकी रीतिके प्रतिकूल है।"

६ पं० श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि "श्रीशिवजी और श्रीयाज्ञवल्क्यजीने इनके पूर्व पक्षके अंशोंको लेकर कहा है कि जिनमें मोह आदि वास्तविक रूपमें होंगे, वे इन वचनोंसे छूट जायँगे। इस तरह इस प्रसंगके महत्त्वको कहा है। श्रीपार्वतीजीने जिस भावसे अज्ञान बनकर पूर्व पक्ष किया है उसका अंततक निर्वाह किया है और इस तरह श्रोताओंके लिये प्रसंगोंका महत्व और वक्ताओंके प्रति कृतज्ञता वर्णनकी रीति बतलाई है।"

७ वि० त्रि० लिखते हैं कि शिवजी पार्वतीजीपर रामजीकी कृपा देख चुके हैं कि स्वयं प्रकट होकर माँगा कि 'जाइ बिवाहहु सैलजहि यह मोहि मांगे देहु', उस पार्वतीको शोक, मोह, संदेह, भ्रम क्या कभी हो सकता है? 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटै सकल राम की दाया'। अतः कहते हैं 'सोक मोह···नाहिं।'

तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई॥ १॥
जिन्ह हरिकथा सुनी नहि काना। श्रवनरंध्र अहि भवन समाना॥ २॥

शब्दार्थ—असंका (आशंका)=झूठी शंका, बिना सन्देहका संदेह, बनावटी शंका।=शंका।=अति शंका (प० प० प्र०)। श्रवण=कान। रंध्र=छेद। अहि-भवन=सर्पका बिल।=बांबी।

अर्थ—तथापि तुमने वही आशंका की है जिसके कहने सुननेसे सबका कल्याण होगा॥१॥ जिन्होंने कानोंसे हरिकथा नहीं सुनी, उनके कानोंके छिद्र साँपके बिल-के समान हैं॥२॥❁

टिप्पणी—१ 'तदपि असंका···' इति। (क) आशंका; यथा "जौ नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। १०८।' पार्वतीजीने शंकायें कीं और कथा-प्रसंग पूछे; दोनोंसे सबका हित कहते हैं, यथा "पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा॥ तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी।"—यही हित है। अर्थात् इससे जगत् पवित्र होगा; सबका भ्रम दूर होगा; जैसा शिवजी स्वयं आगे कहते हैं—"सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम। ११५।"—('अशंका' शब्द देकर शिवजी अपने पूर्वके वचनोंको पुष्ट कर रहे हैं। अर्थात् जिसमें तुम्हें संदेह नहीं है वही बात, शंका उठाकर, तुमने दूसरोंके हितार्थ पूछी है। 'आशंका' शुद्ध शब्द है उसे 'अशंका' कहा जैसे आकाशको अकास, 'आनंद' को अनंद, 'आश्चर्य या आचरज' को अचरज, 'आषाढ़' को असाढ़, इत्यादि।)

(ख) 'कहत सुनत····'। कहने-सुननेसे कैसे हित होगा? इस तरह कि लोग कहेंगे कि पार्वतीजीने ऐसी शंका की थी और शिवजीने ऐसा उत्तर दिया था, अतएव माननीय है—ऐसा समझकर भ्रमादि दूर होंगे। [पुनः, 'कहत सुनत' का भाव कि चाहे कहें चाहे सुनें, अर्थात् वक्ता और श्रोता दोनोंका कल्याण होगा। 'सब कर' का भाव कि इसके कथन-श्रवणका अधिकार सबको है, कोई भी जाति, वर्ण या आश्रमका क्यों न हो, सभीका भला होगा। 'कहत सुनत सब कर···' ये शब्द 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।···' के उत्तरमें हैं। अर्थात् तुमने जो कहा कि 'स्त्रियां अधिकारिणी नहीं हैं' यह बात श्रीरामकथाके संबंधमें नहीं है, इसके

❁ दूसरा अर्थ—"जिन कानोंने हरिकथा नहीं सुनी वे कर्णछिद्र सर्पके बिलके समान हैं।" आगेकी चौपाइयोंमें इसी प्रकारका अर्थ है इसलिये यहाँ भी वैसा ही अर्थ कर सकते हैं। (मा० पी० प्र० सं०)

कथन-श्रवणके अधिकारी सभी हैं। क्या हित होगा ? उत्तर--भ्रम दूर होगा, भवबंधन छूटेगा, श्रीरामपदमें प्रीति होगी। यथा 'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं। ७।१२६।' 'उपजइ प्रीति रामपदपंकज॥ मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥ ७।१२६।']

प० प० प्र०--'तदपि असंका कीन्हिहु...' इति। पार्वती-तनमें भी सती-तन-वाला संशय बना ही है, यह देखकर उसकी चर्चा चलाई। श्रीरामजीको नर कहा, इससे महेशजीके हृदयमें खलबली मच गई है, पर पार्वतीजी सभीत न होने पावें इस विचारसे ऊपरसे शान्ति धारण करके कहा कि 'कहत सुनत सबकर हित होई'। तथापि हृदयकी खलबली शान्तिका भंग करना चाहती है; अशंकाका विषय छोड़कर विषयान्तर कहनेका यही कारण है। सतीदेहमें भवानीने जो कुछ किया था, उसकी स्मृति बलवती होकर आगेकी चौपाइयोंमें पर्यायसे व्यक्त हो रही है। इन चौपाइयोंमें तथा आगे ११५ (८) तक मानसशास्त्राभ्यासियोंके लिये बहुत खाद्य भरा हुआ है। २--श्रीरामजीका दर्शन होनेपर सतीजीने नमन नहीं किया। नमस्कार भी नहीं किया। बहुत समझानेपर भी उनके हृदयमें रामभक्ति न आई। रामगुनगान न करके उल्टे उनकी परीक्षा लेनेको दौड़ी गईं। अन्तमें कैलासके मार्गमें शिवजीके विविध कथाएँ कहनेपर भी उन्हें हर्ष न हुआ। सतीजीने रामकथा सुनानेकी प्रार्थना भी न की। इन्हीं छः बातोंकी चर्चा आगेकी छः चौपाइयोंमें करते हैं; पर पार्वतीजी भयभीत होने न पावें, इस हेतुसे क्रम भंग किया है तथा 'राम' के स्थानमें 'हरि' शब्द प्रयुक्त किया है। तथापि चौ० ६ में तो 'राम' शब्द आ ही गया।--ऊपर कहा हुआ भावार्थ न लेनेसे प्रथम चौपाई और बादकी छः चौपाइयोंमें विषयान्तर और अप्रस्तुत विषयक कथन दो दोष होते हैं।

वि० त्रि०--१ 'तदपि असंका...' इति। भाव कि तुम्हारी आशङ्काका अभिप्राय यह है कि चरित्र देखकर जब मुझे मोह हो गया तो वही चरित्र सुनकर जीवोंको मोह होना कौन बड़ी बात है। अतः शंकाके व्याजसे वे बातें मुझसे कहलाना चाहती हो जिनसे संसार मोहसे छूटकर कल्याण प्राप्त करे।

२ 'जिन्ह हरि कथा...' इति। जो विकलेन्द्रिय या विकृतमस्तिष्क हैं उन्हें किसी वस्तुका सम्यक् ज्ञान हो नहीं सकता, उनका कथन सर्वथा उपेक्षणीय है। ऐसे लोग छः प्रकारके होते हैं। इनसे शिवजी श्रोताको सावधान किये देते हैं। पार्वतीजीके प्रथम विनय 'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।...' का उत्तर हरि विमुख निन्दा तथा प्रार्थनाकी स्वीकृति द्वारा शिवजी दे रहे हैं। ☞निन्दा विधेयकी स्तुतिके लिये की जाती है, निन्दायोग्यकी निन्दाके लिये नहीं। यहाँपर छः प्रकारकी निन्दा हरिकथाश्रवणकी स्तुतिके लिये की गई। कामकथारूपी सर्पके निवाससे जिसके कर्णछिद्र बिलके समान भयंकर हो गए, उसके कलेजे पर साँप लोट रहा है, उसके कहनेका कौन प्रमाण ! (यह पहिला हरिविमुख है)।

टिप्पणी--२ 'जिन्ह हरि कथा सुनी नहि काना।...' इति। (क) हरिकथासे हित होता है और ये उसे नहीं सुनते, अतएव इनके कान व्यर्थ हैं। (यहाँ 'हरि' शब्द देकर भगवान्‌के सभी अवतारों और स्वरूपोंकी कथायें सूचित कर दी हैं। कोई-कोई 'हरि' से 'राम' का ही अर्थ लेते हैं।--'रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लो० ६)। (ख) 'सुनी नहिं काना' का भाव कि जो वस्तु सुननी चाहिए, जैसे कि हरिकथा, यथा 'श्रवनन्ह को फल कथा तुम्हारी' (विनय), सो नहीं सुनते और जो न सुनना चाहिए, सो सुना करते हैं। (ग) अहिभवनमें सर्प रहते हैं, कानोंमें प्रपंचरूपी सर्पोंने निवास किया है। अर्थात् कानोंसे विषयप्रपंचकी कथाएँ सुना करते हैं। [सर्पके बिलमें प्रायः कोई दूसरा जीव नहीं जाता, वैसे ही जिन कानोंमें विषय-सर्प रहता है उनमें श्रीरामकथा नहीं जाती। अर्थात् उनको रामकथा अच्छी नहीं लगती।] (घ) यहाँ 'श्रवण' को प्रथम कहा क्योंकि श्रवणभक्ति प्रथम है। (ङ) पहले तो कहा कि 'कहत सुनत सब कर हित होई'; इसमें 'कहत' शब्द प्रथम रक्खा और 'सुनत' पीछे, परंतु यहाँ 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना' कहा, अर्थात् यहाँ 'सुनना' प्रथम कहते हैं और आगे 'जो नहि करै राम गुन गाना' कहते हैं अर्थात् कहना, गुण गान

करना यह पीछे कहते हैं। इस भेदमें तात्पर्य यह है कि श्रवण और कथन दोनों ही एक समान प्रधान हैं, कोई कम-बेश न्यूनाधिक नहीं है। पुनः, श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिकी गणना 'श्रवण' ही से प्रारंभ की है; यथा "श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं···।७।२३।" पुनः, वाल्मीकिजीने श्रीरघुनाथजीके जो चौदह निवास-स्थान कहे हैं, उनमें भी यही क्रम है। यथा "जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना। भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।···लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।···जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।२.१२८।"; अतएव गोस्वामीजीने भी इस प्रसंगको 'श्रवण' ही से उठाया।

नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा ॥३॥

ते सिर कटु तुंबरि सम-तूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला ॥४॥

शब्दार्थ—दरस (सं० दर्श, दर्शन) = मूर्ति, स्वरूप; यथा 'भरत दरसु देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भागु। २.२२३।' ☞'दरस दिखाना, दरस देखना' पूर्वकालमें भाषाका मुहावरा सा रहा है ऐसा जान पड़ता है। यथा 'ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई। २.१०९.७।' श्रीप्रियादासजीने 'भक्तिरसबोधिनी टीका' (भक्तमाल) में इसका प्रयोग किया है। यथा 'कह्यो कुवाँ गिरो चले गिरन प्रसन्न हिये जिये सुख पायो ल्यायो दरस दिखाइए।' (पीपाजीकी कथा क० २८३) अर्थात् दर्शन दिया। वैसे ही यहाँ, 'दरस देखा'=दर्शन किया। पुनः, दरस=दर्श, दर्शन; यथा 'दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना। १.३५.१।' मोरपंख=मोरका पर जो देखनेमें बहुत अधिक सुंदर होता है और जिसका व्यवहार अनेक अवसरोंपर प्रायः शोभा या शृंगारके लिये होता है। लेखा=लिखा हुआ।= रेखायें, नकशा, गणना, गिनती। कटु तुंबरि=कड़वी लौकी (तोंबी) जो भोजनके कामकी नहीं होती। कोई-कोई इसका अर्थ उस कड़वी लौकीका करते हैं जिसके कमंडल बनाये जाते हैं, जो भोजनके कामकी नहीं होती। संत महात्माओंका कहना है कि यहाँ कमंडलवाली तोंबीसे तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उससे तो संत महात्माओंका बड़ा उपकार होता है। प्रत्युत उस लौकीसे तात्पर्य है जो लंबी-लंबी होती है तथा जो कमंडलके काममें नहीं आती, किंतु उससे जाल बनाये जाते हैं जो जीवोंके फाँसने और नष्ट करनेके काममें आते हैं। यह लौकी जाल सरीखी फैलती है। लोग जहाँ इसे होते देखते हैं तुरत उखाड़ फेंकते हैं। बैजनाथजी 'कड़वी तरोई' अर्थ करते हैं। 'सम तूल'—समान, सम, समतल-ये पर्याय शब्द हैं। इनका अर्थ है—सदृश, तुल्य। 'समतूल' गहोरा (बुंदेलखण्ड) देशकी बोली है। वहाँ 'बराबर' के अर्थमें इसका प्रयोग होता है। मानसमें अन्यत्र भी इसका प्रयोग हुआ है। यथा 'एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल। तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल। १.२४७।' पदमूल—नोट-२ देखिए।

अर्थ—जिन नेत्रोंसे संतोंका दर्शन नहीं किया गया❀ वे नेत्र मोरके पंखकी चंद्रिकाओंके समान हैं ॥३॥ जो सिर भगवान् और गुरुके चरणोंपर नहीं झुकते अर्थात् उनको प्रणाम नहीं करते, वे कड़वी तोंबीके समान × हैं ॥४॥

❀ अर्थान्तर -१ संतोंको देखकर उनका अवलोकन नहीं किया। २ नेत्रोंसे संतदर्शन न हुआ और न संतोंने उन्हें देखा। ३ आदरसमेत दर्शन नहीं किया। (पं० शुकदेवलालजी। इनका मत है कि दरस और देखा दो शब्द ताकीदके लिये लिखे गए। ☞ ये सब अर्थ टीकाकारोंने पुनरुक्ति समझकर किये हैं। वस्तुतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। दरस=रूप, दर्शन; यथा 'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे। २।१२८।६।')

× सम और तूलमें पुनरुक्तिके भ्रमसे लोगोंने ये अर्थ किये हैं—१ कटुतूँबरि और तूल (रूई) के समान हैं (न जानें कब उड़ जायँ)। २—तूँबरि सम कटु और तूल सम तुच्छ। (पं०)। ३ अनुमानमें कटु तूँबरि समान हैं। (तुल अनुमाने) इत्यादि।

टिप्पणी—१ "नयनन्हि संत दरस···" इति । (क) कथा संतके संगसे होती है; यथा "बिनु सतसंग न हरि कथा···। ७.६१ ।' जब संतोंका दर्शन ही नेत्रोंसे कभी नहीं किया, उनके पास गए ही नहीं, तब कथा सुननेको कैसे मिले ? कथामें रुचि क्योंकर उत्पन्न हो ? (ख) प्रथम "जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना" से हरिविमुखोंको कहा, अब 'संत दरस नहिं देखा' से संत वा भागवतविमुखोंका हाल कहते हैं कि साधुसंतोंसे इतना बैर रखते हैं कि आँखोंसे उन्हें देखते भी नहीं, उनका संग तो दूर रहा। भा० २.३.२२ में जो "लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये" ये शब्द आए हैं उसके 'विष्णुलिंग' से संत ही अभिप्रेत हैं । 'संत भगवंत अंतर निरंतर नहि किमपि···' ।

वैजनाथजी—"यहाँ असज्जनोंके लक्षण वर्णन करके सज्जनोंके लक्षण दर्शित किये हैं । यथा कथा-श्रवण उचित, संतदर्शन उचित तथा हरिगुरुचरणोंको प्रणाम उचित, हरिभक्ति उचित, गुणगान उचित, कथा सुनकर हर्ष होना और लीलामें मोह न होना उचित हैं । इन सब बाह्यकर्मोंके साथ एक एक अंगको व्यर्थ कहा(यदि उस अंगसे वह उचित कार्य्य न हुआ) ।"

नोट—१ "लोचन मोरपंख कर लेखा" । मोरके पक्षमें चंद्रिकाएँ बनी होती हैं, देखनेमें वे नेत्रसे जान पड़ते हैं जो बड़े ही सुन्दर और जीको लुब्ध करनेवाले होते हैं । परन्तु वे चंद्रिकाएँ देखने ही भरकी सुन्दर हैं, रेखा मात्र ही हैं, उनकी आकृति मात्र नेत्रकी सी है, उनसे देखनेका काम नहीं लिया जा सकता, चक्षुका काम रूप देखना है सो उन नेत्रोंसे नहीं हो सकता, अतएव वे व्यर्थ हैं ।

संतोंका दर्शन जिन नेत्रोंसे न किया गया उनकी गणना मोरपंखमें की गई है । अर्थात् वे नेत्र चाहे कैसे ही खूबसूरत कमलवत् ही क्यों न हों, पर वे और उनकी सुन्दरता व्यर्थ हैं । हरिगुरु-संत-दर्शनहीसे नेत्र सफल होते हैं अन्यथा वे नेत्र केवल नामधारक हैं । यथा 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी । लोचन सुफल करउँ उरगारी । ७ । ७५ ।'

वि० त्रि०—सन्तका लक्षण है कि उनको भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर न शरीर प्यारा है न घर । यथा 'तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहँ देह न गेह' । रामप्रेमसे ही सन्तका आदर है । जिसने रामकथा सुनी ही नहीं, वह सन्तके दर्शनके लिये क्यों जायगा ? नेत्रोंका फल भगवद्दर्शन है, किन्तु भगवद्दर्शन दुर्लभ है, परन्तु भगवान्‌की चलमूर्ति (संत) का दर्शन तो सुलभ है । सन्तदर्शनसे पाप दूर होते हैं, उसे सन्तदर्शन हुआ नहीं, अतः वह पापी है, जो चाहेगा बकेगा ।

टिप्पणी—२ 'ते सिर कटुतूँबरि समतूला' इति । (क) कटुतूँबरी सिरके आकारकी होती है । लंबी तूँबरी न तो कड़वी होती है और न सिरके आकारकी ही, इसीसे 'कटु' तूँबरीकी उपमा दी गई । (ख) ☞ संतका दर्शन करनेपर संतके चरणोंमें मस्तक नवाना चाहिए । अतः क्रमसे कथाश्रवण कहकर जिनसे कथा प्राप्त होती है उन संतोंको कहा, संतमिलनपर प्रणाम कहा गया । परन्तु यहाँ 'संत' पद न कहकर उसकी जगह 'हरि-गुरु-पदमूला' कहा, इसका कारण यह है कि हरि, गुरु, संत तीनों एक ही हैं—'भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक'—(नाभाजी) । पुनः, (ग) प्रथम 'हरि' को कहा, फिर संतको और यहाँ गुरुको भी कहकर हरिका संपुट दिया । इस तरह यहाँ तक भगवान्‌के तीनों रूपोंसे विमुखोंका हाल कहा—हरिविमुख, संतविमुख और गुरुविमुख । सब दृष्टांत तीनोंमें लगालेने चाहिये, यह जनाया । आगे भगवान्‌के चौथे शरीर 'भक्ति' से विमुखोंको कहते हैं ।

नोट—२ "ते सिर० । हरिगुरु पद मूला ।।"—यहाँ "पद मूला" पद कैसा उत्तम पड़ा है । इसकी विलक्षणता श्रीमद्भागवतके स्कंध २ अ० ३ के २३ वें श्लोकसे मिलान करनेपर स्पष्ट देख पड़ेगी । "पदमूल" तलवेको कहते हैं । रज और चरणामृतका तलवों हीसे सम्बन्ध है । इन्हींकी रज लोग शिरपर धारण करते

और तीर्थ पान करते हैं। ध्यान भी चरणचिह्नका किया जाता है। पुनः ऊपरके भागमें नूपुरादि और नखका ध्यान होता है। तुलसी ऊपर चढ़ेगी। शीशपर तलवेही रक्खे जाते हैं। "पदमूला" में पदका ऊपरी भाग और पदमूल दोनोंका अभिप्राय भरा है। श्रीमद्भागवतके 'भागवताङ्घ्रिरेणु' अर्थात् रज और 'विष्णुपद्या··· न वेद गंधम्" अर्थात् चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीका सूँघना दोनों ही भाव इसमें दर्शा दिये हैं।

इसी प्रकार यहाँ "हरि-गुरु" पद भी विलक्षण चमत्कार दिखा रहा है। इसमें गुरु-गोविन्द, दोनोंके नमस्कारका भाव है। श्रीमद्भागवतमेंभी इन दोनोंकी वन्दनाका निर्देश है; यथा 'न नमेन्मुकुन्दम्' (श्लोक० २१) अर्थात् भगवान्‌का वन्दन। फिर वहीं आगे "भागवताङ्घ्रिरेणु" अर्थात् भगवद्भक्त, भागवतकी चरणरेणु-का सेवन। अस्तु, दोनों ही सेव्य हैं।

हरिगुरुको जो प्रणाम इत्यादि नहीं करते उनके शिर व्यर्थ हैं। वे शरीरपर मानों बोझ ही हैं, जैसा श्रीमद्‌भागवतके "भारः परम पट्ट-किरीट-जुष्टमप्युत्तमाङ्ग" (श्लोक २१) में कहा है।

जिन्ह हरि भगति हृदय नहि आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥ ५॥

जो नहि करै राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥ ६॥

शब्दार्थ—आनी (आनना = लाना) = लाई; यथा "कुल कलंकु तेहि पावँर आना। १।२८३।३।' 'आनहु रामहि बेगि बोलाई। २।३६।१।' सव (शव) = मृतक; मुर्दा, मरा हुआ।

अर्थ—जो हरिभक्तिको अपने हृदयमें नहीं लाए अर्थात् जिनमें हरिभक्ति नहीं है, वे प्राणी जीतेजी मुर्देके समान हैं॥ ५॥ जो जिह्वा श्रीरामगुणगान नहीं करती, वह मेंढककी जीभके समान है॥ ६॥

टिप्पणी १—'जिन्ह हरिभगति हृदय नहि आनी।०' इति। (क) हरिगुरुसंतचरणसेवनसे हरिभक्ति प्राप्त होती है, अतः 'नमत हरिगुरपदमूला' कहकर हरिभक्तिको कहा। (ख) 'हरिभगति' शब्दसे जितनी प्रकारकी भक्तियाँ हैं उनसबोंका यहाँ ग्रहण हुआ। इनमेंसे तीन भक्तियाँ ऊपर तीन अर्धालियोंमें कही गई—कथा-श्रवण, संतसंग और गुरुपदसेवा (तीसरि भगति अमान)। (ग) 'जीवत सव समान तेइ प्रानी' इति। (लं० ३० में अंगदके वचन रावणप्रति ये हैं—'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नुबिमुख श्रुति संत बिरोधी॥ तनु पोषक निंदक अवखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी'। इनमें १४ प्राणियोंको 'जीवत सव सम' कहा है, उन १४ मेंसे दो ये हैं—विष्णु-विमुख और श्रुतिसन्तविरोधी। अर्थात् जीते जी ये मुर्दे (मरे हुए) के तुल्य हैं। इस प्रमाणके अनुसार उपर्युक्त चार अर्धालियोंमें जिनको गिना आए वेभी इस गणनामें आ गए, क्योंकि 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं।' तथा 'जिन्ह हरिभगति हृदयँ नहिं आनी' ये दोनों विष्णुविमुख हैं ही और 'नयनन्हि संत दरस नहिं देखा' ये संत विरोधी हैं तथा ये सब एवं 'जे न नमत हरिगुरुपदमूला' श्रुतिविरोधी हैं क्योंकि वे श्रुतिके प्रतिकूल चलते हैं।

नोट—१ शवसमान कहनेका भाव कि उनका जीवन व्यर्थ है, जैसे मुर्दा फेंका या जलाया ही जाता है। पुनः, जैसे मुर्देको छूनेसे वा उसके संबंधसे लोग अपवित्र हो जाते हैं, स्नान दानसे शुद्धि होती है, वैसे ही भक्तिहीन मनुष्य अपवित्र तथा अमंगलरूप और उसके संगी भी अपवित्र। २—प्रोफे० श्रीदीनजी कहते हैं कि शव-समानका भाव यह है कि जैसे मुर्दा-शरीर घृणाका पात्र हो जाता है, उसी प्रकार वह भी घृणाका पात्र है, कोई भी उसे अपने सन्निकट नहीं रखना चाहता। ३ मिलान कीजिए—'जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जगमें तुलसी नतु डोलत और मुये धरि देही॥' (क०)

टिप्पणी—२ "जो नहि करै राम गुन गाना।" इति। (क) ऊपर शिवजीने कथाके संबंधमें कहा है कि "कहत सुनत सब कर हित होई"। 'कहत सुनत' मेंसे 'सुनत' अर्थात् श्रवन करना 'जिन्ह हरिकथा

सुनी नहि काना' में कह आए, अब 'कहत' अर्थात् कीर्तन करना वा कीर्तन-भक्ति कहते हैं। भक्ति पाकर गुणगान करना चाहिए, अतः 'हरिभगति हृदय नहि आनी' के बाद 'गुन गान' करना लिखा। गुन गान करने और सुननेसे हृदय पुलकित होता है, अतः आगे इसे कहते हैं।

नोट—४ 'जीह सो दादुर जीह....' इति। मेंढकके जिह्वा होती ही नहीं। इसकी उपमा देकर सूचित किया है कि जिह्वाका साफल्य श्रीरामगुणगानमें है, जिनसे यह न हुआ उनकी जिह्वा व्यर्थ है, न होनेके सदृश है, उनका बोलना निरर्थक है जैसे कोई विना जीभके बड़बड़ाये। मेंढकोंके विषयमें ऐसी कथा है कि एक बार अग्निदेव रुष्ट होकर पातालको चले गए। वहाँ अग्निकी उष्णतासे मेंढक ऊपर निकल आए। इधर देवगण अग्निकी खोजमें जब वहाँ पहुँचे तो मेंढकोंसे अग्निका पता लग गया। अग्निदेवने मेंढकोंको शाप दिया कि तुम्हारे जीभ न रहे। इसपर देवताओंने उन्हें आशीर्वाद दिया कि उष्णतासे यदि तुम मृतक भी हो जाओगे तो भी पावसके प्रथम जलसे तुम सजीव हो जाया करोगे। अयोध्याकांडमें कहा भी है—'जल ज्यों दादुर मोर भए पीन पावस प्रथम। २५१।' सुना है कि जापानमें इनकी खेती होती है।

कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥७॥

शब्दार्थ—निठुर (निष्ठुर) = निर्दय, दयारहित।

अर्थ—वही छाती वज्रसमान कठोर और निष्ठुर है; जो हरिचरित सुनकर भी हर्षित नहीं होती॥ ७॥

नोट—१ भगवत्-चरित्र सुनकर हर्ष होना चाहिए। यथा 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।१.४१.६।' हर्ष न होनेसे कठोर और निष्ठुर कहा। निठुर="जिसमें निचोड़नेसे कुछ भी रस न निकले; रसहीन, भावनाहीन; जिसमें कोई भी भलीबुरी भावना रह ही नहीं जाती।" (प्रोफ़० दीनजी)। पुनः, निठुर कहनेका भाव कि वे अपनी आत्माका नाश कर रहे हैं, उनको अपने ऊपर भी किंचित् दया नहीं आती। (वै०)। यथा "ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती॥ ७.५३।' पुनः द्रवीभूत न होनेसे कुलिशकठोर और निष्करुण होनेसे निठुर कहा। यथा 'हिय फाटहु फूटहु नयन जरहु सो तन केहि काम। द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम।'—(वि०त्रि०)। २—चौपाईका भाव यह है कि प्रथम तो वे कथा सुनते ही नहीं और यदि सुनते भी हैं तो हृदयमें हर्ष नहीं होता, प्रत्युत मोह होता है। मोहका हेतु आगे कहते हैं।

३☞११३ (२) से ११३ (७) तक सभी चौपाइयों का भाव और अर्थ श्रीमद्भागवत २.३ से मिलता-जुलता है, अतः हम उनश्लोकोंको यहाँ उद्धृत करते हैं—

"आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया॥१७॥
तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥१८॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥१९॥
बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न श्रृण्वतः कर्णपुटे नरस्य। जिह्वाऽसती दादुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय-गाथाः॥२०॥
भारः परंपट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्। शावौकरौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥२१॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिंगानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये। पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥२२॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु। श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवोयस्तु न वेद गन्धम्॥२३॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥२४॥"

अर्थात् ("सूर्यनारायण उदय और अस्त होहोकर मनुष्योंकी आयुको वृथा नष्ट करते हैं। इसमें उतना ही समय सफल है जिसमें हरि-चर्चा की गई हो। जैसे मनुष्य जीते हैं वैसे क्या वृक्ष नहीं जीवित रहते, लोहारकी धौंकनी क्या हमारे तुम्हारे सामने नहीं श्वासा लेती, ऐसे ही गाँवके पशु कुत्ता, शूकर आदि क्या

भोजन और मलत्याग नहीं करते ? यदि मनुष्यमें भक्ति नहीं है तो मनुष्योंमें और उनमें कुछ अन्तर नहीं है। कुत्ते जिस प्रकार द्वार द्वार फिर फिरकर गृहपाल द्वारा ताड़ित होते हैं, ग्राम्य शूकरादि जैसे असार वस्तु ग्रहण करते हैं और ऊँट जैसे केवल कण्टक भोजन करता है एवं गधा जैसे केवल बोझ लादता है, वैसेही जिसके श्रवणपथमें भगवानने कभी प्रवेश नहीं किया अर्थात् हरिभक्तिहीन मनुष्य कुत्तेके समान सर्वत्र तिरस्कारको पाता है और शूकरके समान असार (विषय) ग्राही है। वह ऊँटके समान दुःखादि कण्टकों-को भक्षण करता है एवं गधेके समान केवल संसारके भारमें क्लेशको प्राप्त होता है ॥१७-१९।) । हे सूतजी! मनुष्यके कान बिलके समान व्यर्थ हैं जिनमें कभी भगवद्चरित्र नहीं गया, वह जिह्वा मेंढककी जिह्वाके सदृश वृथा है जो हरिकथाओंका कीर्त्तन नहीं करती ॥२०॥ वह शिर पट्ट और किरीट मुकुटसे युक्त होनेपर भी भाररूप है जो हरिके आगे न झुके, वे हाथ मुर्देके हाथोंके समान हैं जो सोनेके कंकण धारण किए हैं परन्तु कभी हरिकी सेवा या टहल नहीं करते ॥ मनुष्योंके वे नेत्र मोरके परमें जैसे केवल देखनेके नेत्र बने होते हैं वैसे ही हैं जो भगवान्की पवित्र मूर्त्तियोंका दर्शन नहीं करते और वे पैर वृक्ष ऐसे वृथा हैं जो भगवान्के मंदिरमें या तीर्थ-स्थानमें नहीं जाते ॥२२॥ वह मनुष्य जीते ही मरेके तुल्य है जो भगवान्के चरणोंकी रेणुको शिरपर नहीं धारण करता या विष्णुके चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीके गन्धको नहीं सूँघता ॥२३॥ वह हृदय वज्रका है जो हरिनामोंको सुनकर उमग न आवै, गद्गद न हो और रोमांच न हो . आवै एवं नेत्रोंमें आनंदके आँसू न भर आवें ॥ २४ ॥

☞४ 'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना ।' से 'सुनि हरिचरित न जो हरषाती ।' तकका आशय यह है कि श्रवणेन्द्रिय तभी सफल होती है जब उससे निरन्तर भगवान्का चरित्र सुना जाय, अतः कानोंसे सदा भगवान्के चरित, गुण और नामादिकोही श्रवण करना चाहिए। इसी तरह नेत्रोंसे संत भगवंत आदिके दर्शन चरणस्पर्श आदि करे, सिरसे भगवान्, संत, गुरुको प्रणाम करे। हृदयसे भक्ति करे और चरित सुनकर, संत हरि गुरुका दर्शन और उनको प्रणाम करके हर्षित हो, हर्षसे शरीरमें रोमांच हो। जिह्वासे निरं-तर श्रीरामयश-गुण-नामका कीर्त्तन करे, इत्यादिसे ही नेत्र, सिर, हृदय और जिह्वाका होना सफल है, नहीं तो इनका होना व्यर्थ हुआ। यथा "चक्षुर्भ्यां श्रीहरेरेव प्रतिमादिनिरूपणम्। श्रोत्राभ्यां कलयेत्कृष्णगुणनामान्यहर्निशम्। ६१।६७।", "सा जिह्वा या हरिं स्तौति तन्मनस्तत्पदानुगम्। तानि लोमानि चोच्यन्ते यानि तन्नाम्नि चोत्थितम्। ५०।२९।" (प० पु० स्वर्गखंड)। इन सब चौपाइयोंमें 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

प० प० प्र०—श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें हाथ, चरण, नाक और भगवन्नामकी भी चर्चा है, पर सती-जीके चरित्र-प्रसंगमें उनका संबंध नहीं आया, इसीसे शिवजीने यहाँ उनकी चर्चा नहीं की। भागवतके श्लोकोंमें इतना ओज नहीं है जितना इन चौपाइयोंमें है। इसका कारण भी शिवजीके हृदयकी 'प्रक्षुब्धता पर दबाई हुई अवस्था' है। आगे ११४ (७) से ११५ (७) तक यह दबान भी उड़ जाती है और प्रक्षुब्ध हृदयकी भावना स्वयं प्रगट हो जाती है। श्रीमद्भागवतके श्लोकोंके शब्दोंको कुछ फेर-फार करके यहाँ प्रयुक्त करना भी गूढ़-भाव-प्रदर्शनार्थ है। रामायणी लोग श्लोकों और चौपाइयोंके शब्दोंका मिलान धात्वर्थके आधारसे कर सकेंगे। मराठी गूढार्थचन्द्रिकामें विस्तारसे लिखा है। (यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है)।

गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहनसीला ॥८॥

शब्दार्थ—विमोहन = विशेष मोहमें डालनेवाली। सीला (शील। यहां यह शब्द विशेषण है)= प्रवृत्त, तत्पर, प्रवृत्तिवाला, स्वभावयुक्त। यथा 'सकल कहहु संकर सुखसीला। १.११०.८ ।', 'कपि जयसील रामबल ताते ।'

अर्थ—हे गिरिजे ! सुनो। श्रीरामचन्द्रजीकी लीला देवताओंका हित और दैत्योंको विशेष मोहित करनेवाली है ॥८॥

नोट—१ इसके जोड़की चौपाइयाँ अयोध्या, अरण्य और उत्तरकांडोंमें ये हैं—"राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे। २।१२७।७।", 'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरिबिमुख न धरम रति। ३ मं०।", "असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी। ७।७३।१।" इन उपर्युक्त उद्धरणोंमें जो 'बुध', 'पंडित', 'मुनि' और 'जन' कहे गए हैं वेही यहाँ 'सुर' हैं और जो उनमें 'जड़', 'विमूढ़', 'हरि बिमुख न धर्म रति' और 'दनुज' कहे गए हैं वेही यहाँ 'दनुज' हैं। अथवा, ७।७३ में 'दनुज बिमोहनि', 'जन सुखकारी' कहा और यहाँ 'दनुज बिमोहन सीला' और 'सुर हित' कहा; अतएव 'जन' ही 'सुर' हैं। अथवा, चारों स्थलोंमें पृथक्-पृथक् नाम देकर 'सुर, जन (भक्त), बुध, पंडित मुनि' इन सबोंको सुखकारी जनाया। अथवा, बुध और जनको सुख, पंडित मुनिको वैराग्य और सुरोंको हितकारी होना कहा। पुनः, गीता और विष्णुधर्म्मोत्तरमें दो प्रकृतिके प्राणियोंका संसारमें होना कहा गया है, एक दैवी दूसरी आसुरी। यथा "द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।" (गीता १६।६), "द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च। विष्णुभक्ति परो दैवो विपरीतस्तथासुरः।" (विष्णु धर्म्मोत्तर)। अर्थात् इस लोकमें दो प्रकारके जीवोंका सर्ग (सृष्टि) है, एक दैवी दूसरी आसुरी। जो विष्णुभक्तिपरायण हैं वे दैवी-सर्गसंभूत हैं और जो उनके विपरीत हैं, वे आसुरी-सर्ग संभूत हैं।—इसके अनुसार सुर, बुध, पंडित आदिसे दैवीसर्गसंभूत प्राणीमात्र और दनुज, मूढ़ आदिसे आसुरी संपत्तिवाले अभिप्रेत हैं। वैराग्य और सुख होना हित है। आसुरी और दैवी संपदावालोंके लक्षण गीता अ० १६ में देखिए।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ जन अथवा दैवी संपदावाले 'सुर' हैं और दुर्जन अथवा आसुरी संपदावाले असुर हैं। (ख) कहना-सुनना और न कहना-सुनना दोनों ऊपर कह आए। अब दोनोंका हेतु लिखते हैं। जो सुर हैं उनका हित होता है, अतः वे कहेंगे-सुनेंगे। जो आसुरी-संपत्तिवाले हैं उनको श्रीरामलीला मोह उत्पन्न करनेवाली है, अतः वे कथा न कहें-सुनेंगे। (यह सती-चरित्रपर कटाक्ष है, व्यंग है। प० प० प्र०)।

नोट—१ श्रीरामकथा देवताओंको हितकारिणी और दैत्योंको अहितकारिणी है। तात्पर्य यह है कि दैवीसंपत्तिवाले सात्त्विक-बुद्धिवाले सज्जनोंमें इससे भक्ति, वैराग्य, विवेक आदिकी वृद्धि होती है, उनका लोक-परलोक दोनों बनता है और आसुर-संपत्तिवालों राजस-तामस-वृत्तिवालोंमें उसी रामचरितसे मोहकी विशेष वृद्धि होती है, ये शास्त्रोंमें सुनते हुए भी मूढ़ ही बन जाते हैं, ईश्वरको प्राकृत मनुष्यही कहने लगते हैं। इसपर यह शंका हो सकती है कि—"रामलीला वस्तु तो एक ही है उससे दो विरुद्ध कार्य कैसे?" समाधान यह है कि—जैसे स्वातीजल तो वही होता है पर उसका बूँद पृथक्-पृथक् वस्तुओंमें पड़नेसे उनमें पृथक्-पृथक्गुण उत्पन्न करता है। देखिए सीपमें पड़नेसे वह मोती बन जाता है, वही केलेमें पड़नेसे कपूर, बाँसमें बंसलोचन, गोकर्ण (गौके कान) में पड़नेसे गोरोचन बन जाता है और सर्पमें उसीसे विषकी वृद्धि होती है। ११।६ देखिए। पुनः देखिए, भगवान् श्रीकृष्णके जिस अद्भुत रूपको अर्जुन देखकर उनकी शरण गए, उसीको दुर्योधनने देखकर उसे नटका खेल कहा। इत्यादि। इसी तरह श्रीरामलीला वस्तु एक ही है पर पात्रापात्रभेदसे वह भिन्न-भिन्न एवं विरोधी गुणोंको उत्पन्न करती है; 'सुरों' का हित होता है और असुरोंका अहित। यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

२ "गिरिजा सुनहु"—यहाँ पार्वतीजीको संबोधन करके सुननेको कहनेमें भाव यह है कि—शिवजी कथाका पात्रभेदसे भिन्न भिन्न गुण कहकर श्रीपार्वतीजीको सावधान कर रहे हैं कि देखो फिर लीलासे मोहमें न पड़ जाना, मोहमें पड़ना असुरोंका काम है न कि दैवीसंपत्तिवालोंका। इसी प्रकार जब अरण्यकांडमें पहुँचे तब भी सावधान किया है—'उमा राम गुन गूढ़...'। क्योंकि वहाँ तो वही लीला वर्णन की जायगी कि जिससे उन्हें सतीतनमें मोह हुआ था। (वै०)।

दोहा—रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि। सत[1] समाज सुरलोक सब को न सुनै[2] अस जानि ॥११३॥

अर्थ—श्रीरामकथा कामधेनु समान है, सेवा करनेसे सब सुखोंकी देनेवाली है। संतसमाज समस्त देवलोक हैं, ऐसा जानकर उसे कौन न सुनेगा ? ॥११३॥

नोट—१ 'रामकथा सुरधेनु'। सुरधेनु = कामधेनु। क्षीरसागरमंथनसे निकले हुए चौदह रत्नोंमेंसे यह भी एक है। यह अर्थ, धर्म, कामकी देनेवाली है। जमदग्निजी और वसिष्ठजीके पास इसीकी संतान नंदिनी आदि थीं।—३१।७ 'कामदगाई' देखिए। 'सेवत'—रामकथाकी सेवा उसका पूजनीयभावसे सादर कीर्त्तन श्रवण है।

टिप्पणी—१ 'रामकथा सुरधेनु०' इति। (क) पूर्व 'सुरहित' कहकर अब उसे (सुरहितको) चरितार्थ करते हैं कि भक्त सुर हैं, रामकथा सुरधेनु है, सतसमाज सुरलोक है। तात्पर्य कि कामधेनु सुरलोकमें है, रामकथा संतसमाजमें है—'बिनु सतसंग न हरिकथा'—इससे रामकथाके मिलनेका ठिकाना बताया। जैसे सुरधेनुका ठिकाना सुरलोक है वैसे ही कथाका संतसमाज है। (ख) 'सेवत सब सुखदानि'। सब सुखोंकी दात्री जानकर दैवीसंपदावाले ही सुनते हैं अर्थात् सब सुनते हैं। 'सब सुखदानि' का भाव कि कामधेनु अर्थ, धर्म और काम तीन पदार्थ देती है और 'कथा चारों पदार्थ देती है' यदि ऐसा लिखते तो चार ही पदार्थोंका देना पाया जाता परन्तु कथा चारों पदार्थ तो देती ही है और इनसे बढ़कर भी पदार्थ ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, ज्ञान, वैराग्य, नवधा प्रेमपराभक्तियाँ इत्यादि अनेक सद्गुणोंको भी देनेवाली है, यही नहीं किंतु श्रीरामचन्द्रजीको लाकर मिला देती है। अतएव 'सब सुखदानि' कहा। पापहरणमें गंगासमान और सर्वसुखदातृत्वमें कामधेनु समान कहा। ('सब सुखदानि' अर्थात् सबको, जो भी सेवा करे उसे ही, सब सुखोंकी देनेवाली है)।

प० प० प्र०—सब सुख तो रामभक्तिसे मिलते हैं, यथा 'सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी। ७।८५।३।' रामकथा सुरधेनु रामप्रेमभक्ति प्रदान करती है। मानसके उपसंहारमें शिवजीने ही कहा है कि 'रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन-पुट पान। ७। १२८।', 'सुख कि होइ हरि भगति बिनु। बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।' भाव यह कि संतसंगमें रामकथा श्रवण करनेसे वैराग्य, विमल ज्ञान और पराभक्ति लाभ क्रमशः होते हैं।

नोट—२ रामकथाश्रवण स्वयं रामभक्ति है। इसीसे सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। बालकांड दो० ३१ में भी कहा है—'जीवनमुकुति हेतु जनु कासी', 'सकल सिद्धि सुख संपति रासी', 'रघुबर भगति प्रेम परमिति सी।'

नोट—३ (क) यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। (ख) सुरतरु, चिन्तामणि और कामधेनु सभी अभिमतके देनेवाले हैं। यहाँ कामधेनुकी उपमा दी क्योंकि धेनु सर्वत्र पूजी जाती है और श्रीरामकथा भी पूजनीय है, यह दोनोंमें विशेष समता है। पुनः गौ बिचरती है, तरु स्थायी है और चिंतामणि केवल इन्द्रको प्राप्त है। कथा भी संतसमाजद्वारा सर्वत्र सबको प्राप्त है। (ग) 'सुरलोक सब', यही पाठ प्रायः सभी प्राचीन पोथियोंमें

१ संत सभा—वै०, रा० प्र०। संतसमाज-१६६१। 'स' पर अनुस्वार स्पष्ट है पर हाथसे पोछा हुआ जान पड़ता है। यह लेखकप्रमाद है क्योंकि इससे छन्दोभंग दोष आता है।

२—सुनैं-१६६१।

मिलता है, परन्तु 'सब' का ठीक अर्थ न समझकर कुछ टीकाकारोंने 'सब' की ठौर 'सम' पाठ कर लिया है। सुर-लोक = देवताओंके लोक, स्वर्ग। देवलोक बहुत हैं। मत्स्यपुराणमें भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् ये सातो लोक देवलोक कहे गए हैं। विश्रामसागर एवं दासबोधमें स्वर्ग एक्कीस कहे गए हैं। वरुण, कुबेरादि अष्ट लोकपालोंके ही आठ लोक हैं। इनके अतिरिक्त नवग्रहोंके लोक भी सुरलोक कहे जाते हैं, इत्यादि। अतएव 'सब' पाठ निस्संदेह ठीक है। पुनः लोकका अर्थ समाज भी है। यह अर्थ भी यहाँ ठीक घटित हो सकता है। अर्थात् 'संतसमाज समस्त देवसमाजके समान है'।

४ 'को न सुनै अस जानि' इति। (क) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "सभीका इससे हित है—'सुनहिं बिमुक्त बिरति अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥' अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुषोंको भक्ति तथा वैराग्यवानोंको मुक्तिका लाभ है और विषयी संपत्तिको पाते हैं जिससे उन्हें मोह बढ़ता है।" (ख) इसकी जोड़की चौपाई दोहा ३१ (७) में है—'रामकथा कलि कामद गाई'। वहाँ भी देखिये।

वि० त्रि०—विनय करते हुए गिरिजाने कहा कि 'जासु भवन सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुख सोई', इसीके उत्तरमें शिवजी कहते हैं कि दरिद्रजनित दुःख सहनेका कोई कारण नहीं। रामकथारूपी सब सुखदानि कामधेनुका सेवन करो। अज्ञानसे ही लोग दुःख सह रहे हैं, नहीं तो रामकथारूपी कामधेनुके रहते दुःखकी कौनसी बात है?

रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी॥१॥
रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी॥२॥

शब्दार्थ—करतारी=हाथकी ताली। तारी (ताली)=दोनों हथेलियोंके परस्पर आघातका शब्द।= हथेलियोंको एक दूसरेपर मारनेकी क्रिया; थपेड़ी। कलि=कलियुग।=कलह, पाप, मलिनता। कुठारी= कुल्हाड़ी।

अर्थ—श्रीरामकथा हाथकी सुंदर ताली है जो संशयरूपी पक्षियोंको उड़ाने वाली है॥१॥ श्रीरामकथा कलिरूपी वृक्ष (को काटने) के लिये कुल्हाड़ी है। हे गिरिराजकुमारी! उसे आदरपूर्वक सुनो॥२॥

टिप्पणी—१ 'रामकथा सुंदर करतारी' इति। (क) कथाको 'करतारी' कहनेका भाव कि—(१) कथा शब्दरूप है और करताली भी शब्द है। (२) रामकथाको ऊपर सुरधेनु और संतसमाजको सुरलोक कहा है परन्तु सुरधेनु और सुरलोक दोनों अगम (दुर्लभ) हैं। कामधेनु सुरलोकमें है, संतसमाज मृत्युलोकमें है और कथारूपिणी कामधेनु संतसमाजमें है—यह सुगमता ऊपर दोहेमें दिखाई गई। किन्तु संतसमाजका मिलना भी तो दुर्लभ है, यथा 'सतसंगति दुर्लभ संसारा। ७.१२३.६।' अतएव 'करतारी' समान कहकर राम-कथाका सबको सुलभ होना जनाया। क्योंकि हाथ सबके होते हैं, ताली बजाना अपने अधीन है। 'करतारी' अपने पास है, मानों कामधेनु अपने घरमें बँधी है, सभी घर बैठे सुख प्राप्त कर सकते हैं, सन्तसमाज ढूँढ़नेका कोई प्रयोजन नहीं है। (ख) ['ताली दोनों हाथोंसे बजती है। भवानी, गरुड़ आदि श्रोता और शिष्य बाएँ हाथके समान हैं और श्रीशिवजी, भुशुण्डीजी आदि वक्ता और गुरु दक्षिण हस्तवत् हैं। प्रश्नोत्तर होना शब्द अर्थात् तालीका बजना है। (पं०)। अथवा, मुखसे कथाका वर्णन करना ताली बजना है, नाम और रूप दोनों हाथ हैं, दिव्य गुण अँगुलियाँ हैं, नाम और रूपकी गुणमय कथा 'करतारी' है। जैसे कि अहल्यो-द्धारमें उदारता; यज्ञरक्षामें वीरता, धनुर्भंगमें बल, खरदूषणादिके बधमें शौर्य, शबरी-गीधपर अनुकंपा और सुग्रीवपर करुणा इत्यादि गुण सुननेसे संशय आप ही चले जाते हैं। (बै०)]। (ग) 'करतारी' को सुंदर कहनेका भाव कि तालीके शब्दसे कथाका शब्द सुंदर है क्योंकि यह भगवत् यश आदि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण है और वह ध्वन्यात्मक है। [पुनः भाव कि वक्ता और श्रोता दोनों सुंदर अर्थात् ज्ञानी विज्ञानी

हों। जब ऐसे वक्ता श्रोता परस्पर श्रीरामकथा कहते सुनते हैं तब उनके शब्द सुनकर सब जीवोंके संशय-रूपी पक्षी उड़ जाते हैं। (शीलावृत्त)]

२ "संसय बिहग उड़ावनिहारी" इति। (क) श्रीपार्वतीजीने प्रार्थना की थी कि 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें।' (अर्थात् कुछ संशय अब भी बना रह गया है); इसी वाक्यके संबंधसे शिवजी यहाँ कहते हैं कि रामकथा संशयको उड़ा देनेवाली है। (ख) 'संशय' को विहंग कहनेका भाव कि जैसे पक्षी वृक्षपर आते, बैठते और तालीका शब्द करनेसे अर्थात् हाँकनेसे उड़ जाते हैं, वैसे ही अनेक संशय जो आते (उत्पन्न होते) हैं वे कथा सुननेसे चले जाते हैं। [(ग) जैसे ताली बजानेके साथ-साथ लोग हल्ला मचाते हैं, लगे-लगे कहते हैं, तब पक्षी उड़ता है, वैसे ही कथा जब कहे-सुने और उसमें लगे अर्थात् उसे धारण करेगा तब संशय पक्षी भागेगा, अन्यथा नहीं। (खर्रा)। पुनः भाव कि चिड़िया उड़ानेका सुगम उपाय यही है कि बैठे-बैठे ताली बजा दे, चिड़ियाँ स्वयं उड़ जायँगी। इसी भाँति कथा आरंभ कर दे, संशय आप ही भाग जायगा। (वि० त्रि०)]।

मा० म०—"सम श्रोता वक्ता बजै तारी चुटकी नून। नेह कथा रघुनंद को तारी हुटकी ऊन।" अर्थात् जहाँ श्रोता वक्ता समान हों वहाँ मानों ताली बजती है और जहाँ दोमेंसे एक भी न्यून हुआ वहाँ मानों चुटकी बजती है। परंतु चुटकीसे संशय पक्षी भागता नहीं और जो इससे भी न्यून हुआ तो उसको केवल हाथ ही हिलाना जानो।

नोट—१ संशय पक्षी है जो खेतका अन्न और वृक्षोंके फल खाता है, रखवाले उसे हाँकते हैं, इत्यादि। यहाँ खेत या वृक्ष, अन्न और फल, किसान, रखवाले और पक्षी आदि क्या हैं? उत्तर—यहाँ तन खेत वा वृक्ष है। श्रीरामभक्ति श्रीरामसम्मुखता श्रीरामप्रेम आदि अन्न और फल हैं। जीव किसान है। गुरु, आचार्य, संत वक्ता रखवाले हैं; यथा 'जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ येहि ताल चतुर रखवारे। ३८।१।' ये राजकुमार हैं तो ब्रह्म कैसे? ब्रह्म हैं तो स्त्रीवियोगमें बावले क्यों हो रहे थे? एक तुच्छ राक्षसने उन्हें नाग-पाशमें बाँध कैसे लिया? इत्यादि संशय पक्षी हैं जो जीवके श्रीरामसम्मुखता आदि अन्न वा फलको खाते हैं। आचार्योंके मुखसे जो कथाका वर्णन होता है वही थपोड़ी शब्द है जिससे संशय उड़ जाते हैं। (वै०) ।

२ "रामकथा कलि बिटप कुठारी" इति। (क) ☞श्रीरामकथाको प्रथम संशयरूपी पक्षीको उड़ानेके लिए 'करताली' कहा। रामकथा-करतालीने संशय-पक्षियोंको उड़ा तो दिया, परंतु जबतक उनके बैठनेका आधार वा अड्डा 'विटप' बना हुआ है तबतक वे वहाँसे सर्वतः जाते नहीं, उड़े और फिर आ बैठे। अतएव पक्षीको उड़ाना कहकर अब उसके आधारको जड़से काट डालना भी कहा। न वृक्ष रहेगा न पक्षी उसपर बैठेगा। इस तरह भाव यह हुआ कि श्रीरामकथा संशय पक्षीको उड़ाकर फिर उसके बैठनेके स्थान (संशयके स्थान) कलि-विटपका भी नाश करती है। (ख) कलिको विटप कहनेका भाव कि पक्षी वृक्षपर आते हैं और संशय कलिमें आते हैं। अर्थात् संशय मलिन बुद्धिमें होते हैं, दिव्य बुद्धिमें नहीं। (पं० रा० कु०)। संशयका आधार मनकी मलिनता है जो पापोंका मूल है। संशय मलिन मनमें ही बसेरा लेते हैं; यथा 'तदपि मलिन मन बोधु न आवा। १०९।४।' कलिका स्वरूप भी मल मूल मलिनता ही है, यथा 'कलि केवल मल मूल मलीना'; इसीसे 'कलि' को 'विटप' कहा। कलिका अर्थ मलिनता वा पाप भी है। (ग) बैजनाथजी 'कलि बिटप' का रूपक यों देते हैं कि यहाँ कलि वृक्ष है, कुसंग उसका मूल है, कुमति अंकुर है। पाप कर्म शाखा पल्लवादि हैं और दुःख फल है। रामकथा कुल्हाड़ी है। "आचार्य लोहाररूप धातु नाम गढ़नि, गुण धार, युक्ति बेंट, वक्ता बढ़ई" और वचन प्रहार है।—(सूक्ष्म रीतिसे केवल इतनेसे काम चल जाता है। कलि-वृक्ष, कथा कुल्हाड़ी, वक्ता-काटनेवाला, वचन-प्रहार)। (घ) संशयमें विहंगका और कलिमें

वृक्षका आरोपण 'सम अभेद रूपक' है। एक रामकथाकी समता पृथक्-पृथक् धर्मोंके लिये करताली और कुल्हाड़ीसे देना 'मालोपमा अलंकार' है। दोनोंकी संसृष्टि है। (वीर)।

टिप्पणी—३ 'सादर सुनु···' इति। ☞श्रीरामचरित आदरपूर्वक सुनना चाहिए। यथा—

'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥ १।१०।६।'
'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥ १।२।१२।'
'सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥ १।३८।२।'
'राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥ ५। सोइ सादर सर मज्जन करई···॥ १।३९।६।'
'सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥ १।४३।६।'
कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥१।३५।' (तुलसी)।
'तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई।' (याज्ञवल्क्य) १।४७।५
'कहौं राम-गुन-गाथ भरद्वाज सादर सुनहु। १।१२४।' (याज्ञवल्क्यजी)।
'सब निज कथा कहउँ मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई।'(भुशुंडीजी) ७।६५।४।

तथा यहाँ "सादर सुनु गिरिराजकुमारी"।

नोट—३ (क) उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि चारों वक्ताओंने अपने अपने श्रोताओंको सादर सुननेके लिये बराबर सावधान किया है। (ख) 'सादर सुनु' का भाव कि पापका नाश तथा संशयकी निवृत्ति एवं बुद्धिकी मलिनताका सर्वतः अभाव तभी होगा जब कथा सादर सुनी जायगी और सादर श्रवण तभी होता है जब उसमें श्रद्धा हो। कथा औषधि है, श्रद्धा उसका अनुपान है। यथा 'अनूपान श्रद्धा अति रूरी। ७।१२२।७।' इसीसे रामकथा सादर सुननेकी परंपरा है। (ग) ☞ यहाँतक कथाका माहात्म्य कहा और कथाके अधिकारी तथा अनधिकारी बताए। इस प्रसंगका उपक्रम 'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। ११२।६।' है और 'सादर सुनु गिरिराजकुमारी' उपसंहार है। (घ) ☞संशय दूर करके कथा कहनेकी रीति है। यथा 'एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुर-पद-पंकज धूरी॥···करत कथा जेहि लाग न खोरी।१।३४।'

राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥३॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म (सभी) सुन्दर और अगणित हैं, ऐसा वेदोंने कहा है॥ ३॥ जैसे भगवान् श्रीरामजीका अंत नहीं, वैसे ही उनकी कथा, कीर्त्ति और गुण भी अनंत हैं॥ ४॥

नोट—१ नाम जैसे कि राम, रघुनंदन, अवधविहारी, हरि, आदि। गुण जैसे कि उदारता, करुणा, कृपा, दया, भक्तवत्सलता, ब्रह्मण्य, शरणपालत्व, अधम उधारण आदि। चरित जैसे बालचरित, यश-कीर्ति-प्रतापादिका जिनमें वर्णन ऐसे धनुर्भंग-युद्धादि चरित। जन्म जैसे कि मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, कृष्ण, वराह आदि असंख्यों अवतार लेना। कर्म जैसे कि वेद-धर्म-संस्थापन आदि। (पं०, वै०)।

टिप्पणी—१ 'राम नाम गुन चरित···' इति। (क) नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म आदिको यहाँ गिनाकर तब कथा कहनेका भाव यह है कि जो कथा हम कहते हैं उसमें श्रीरामनाम, श्रीरामगुण, श्रीरामचरित, श्रीरामजन्म, और श्रीरामकर्म ये सभी हैं और सभी सुहाए हैं। [मा० त० वि० कार लिखते हैं कि "नाम, गुण आदि पाँच गिनाए मानों पंचांगरूपको श्रुतियोंने अगणित भेद करके गाया है"] (ख) [नाम, गुण आदि सभी अनंत हैं। यथा 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा। ७।९१।३।', 'राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी।···रघुपति चरित न बरनि सिराहीं। ७।५२।३-४।'] (ग) 'श्रुति गाए' यथा "जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु

नाथ हम तव्र सगुन जस नित गावहीं । ७।१३ ।' श्रु'ति गाए' कथनका भाव कि सब प्रामाणिक हैं । भगवान् के जन्म कर्म सब दिव्य हैं और असंख्य हैं । यथा 'जन्मकर्म च मे दिव्यं (गीता ४।६), 'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः । (भागवते १।३।२६) ।

"जथा अनंत राम भगवाना ।…" इति । भाव कि जैसे श्रीरामजी भगवान् (षडैश्वर्ययुक्त) हैं वैसे ही उनके चरित आदि ऐश्वर्यसे भरे हुए हैं; जैसे श्रीरामजीका अंत नहीं मिलता वैसे ही कथा आदिका भी अंत नहीं मिलता । [पं० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है । पर प्रायः लोग वही अर्थ करते हैं जो ऊपर दिया गया ।]

नोट—२ 'जथा अनंत'…' इति । यथा "नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते, मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये । गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्यपारम् । भा० २।७।४१ ।" अर्थात् उन पुराण-पुरुषके मायाबलका अंत न तो मैं ही जानता हूँ और न तुम्हारे अग्रज समस्त (सनकादि) मुनिही जानते हैं । आदिदेव शेष भगवान् अपने हजार मुखोंसे नित्यप्रति उनका गुण गान करते हुए भी अबतक पार न पा सके । तब और जीव किस गिनतीमें हैं ।

३ वे० भू० जी—'भगवाना' इति । यह शब्द जीव विशेष और परमात्माके लिये भी शास्त्रोंमें व्यवहृत हुआ है जिसका कारण यह है कि 'भग' शब्दसे बहुतसे अर्थोंका ग्रहण किया जाता है । सब शब्दोंमें साधारण और असाधारण दो भेद होते हैं । जो शब्द किसी एकके लिए ही प्रयुक्त किया जा सके, दूसरेमें उसका समावेश न हो उसे असाधारण कहते हैं और जिस शब्दका प्रयोग बहुतोंमें होता हो उसे साधारण कहा जाता है । इसलिए असाधारण 'भग' (ऐश्वर्य्य) केवल परमात्मामें ही व्यवहृत हो सकता है और साधारणका व्यवहार जीवविशेष, जैसे कि देवताओं और महर्षियों आदिमें करके उन्हें भी भगवान् शब्दसे विशेषित किया गया है । असाधारण भग ये हैं, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य्य, तेज, वीर्य्य, पोषणत्व, भरणत्व, धारणत्व, शरण्यत्व, सर्वव्यापकत्व, और कारुण्यत्व आदि । यथा "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यतेजो वीर्य्याण्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ।" (तत्वत्रयभाष्ये) ॥१॥ "पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम् । कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम् ॥ २ ॥" इन श्लोकोंमें कहे हुए ऐश्वर्य्य केवल परमात्माहीके गुण हैं, इसलिए ये असाधारण हुए । साधारण भग ये हैं—"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य यशसः श्रियमेव च । ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णांभग इतीरणा ॥ १ ॥" (वि० पु०), 'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव जीवानामगतिंगतिम् । वेत्ति विद्यामविद्याञ्च सवाच्यो भगवानिति ॥ २॥' इन श्लोकोंमें कही हुई बातोंके प्राप्त एवं जाननेवालोंको भी भगवान् कहा जाता है और ये सब साधनोंसे प्राप्त एवं ज्योतिष तथा दर्शनोंसे जानी जाती हैं । इसलिए शास्त्रज्ञों, लौकिक ऐश्वर्यशालियों तथा देवताओंको भी भगवान् शब्दसे विशेषित किया जाता है । इन श्लोकोंमें कहे गए भग परमात्मा तथा जीव-विशेषमें भी रहनेसे ये साधारण भग हुए । यही कारण है कि कहीं-कहीं ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि देवताओंको तथा नारद वशिष्ठादि महर्षियोंको भी अभियुक्तोंने भगवान् शब्दसे विशेषित किया है ।

तदपि जथा श्रुत जसि मति मोरी । कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी ॥५॥

शब्दार्थ—तदपि = तथापि; तो भी । जथाश्रुत = सुना हुआ । १०५ (३-४) देखिए ।

अर्थ—तो भी तुम्हारी अत्यंत प्रीति देखकर मैं कहूँगा, जैसा कुछ मैंने सुना है और जैसी कुछ मेरी बुद्धि है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ "तदपि जथाश्रुत …।" ☞ अभिमानरहित बोलना उत्तम वक्ता पुरुषोंकी रीति है । इसीसे सभी वक्ताओंने 'दूसरोंसे सुनी हुई' और 'मति अनुसार' कहा है । (क) 'जथाश्रुत', यथा—(१) गोस्वामीजी–'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो…॥३०॥…भाषाबद्ध करबि मैं सोई ।" (२) याज्ञवल्क्यजी–'तदपि जथाश्रुत कहौं बखानी । १०५।४ ।' (३) भुशुण्डीजी—'संतन्ह सन जस किछु सुनेउं तुम्हहि

सुनायउँ सोइ । ७।६२ ।' तथा यहाँ शिवजी 'जथाश्रुत' कहते हैं । (ख) 'जसि मति मोरी' (मति अनुसार); यथा—(१) 'करइ मनोहर मति अनुहारी । ३६।२ ।' (तुलसीदासजी) । (२) 'कहौं सो मति अनुहारि अब···। १।४७ ।', 'रघुपति-कृपा जथा-मति गावा । मैं यह पावन चरित सुहावा ।७।१३०।४ ।' (याज्ञवल्क्य जी)। (३) 'निज मति सरिस नाथ मैं गाई । ७।६१।१ ।', 'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा । ब्यास समास स्वमति अनुरूपा ।'··'नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ । ७।१२३ ।' (भुशुण्डीजी) । (४) 'मति अनुरूप निगम अस गावा । १।११८ ।' (वेद) । (५) 'निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं । ७।६१।४ ।' वैसे ही शिवजी भी निरभिमानके वचन कह रहे हैं ।

नोट—१ 'जथाश्रुत जसि मति···' के और भाव –(क) वेदोंने भी इनका वर्णन करके पार न पाया, वे 'नेति नेति' कहते हैं, 'इति' नहीं लगा पाते, और किसीकी भी बुद्धि वहाँतक नहीं पहुँच सकी फिर भला और किसीकी क्या सामर्थ्य कि कहे ! इसलिए जैसा कुछ हमने सुना समझा है वह कहता हूँ । (ख) श्रीपार्वतीजीने शिवजीको 'भगवान्', 'समर्थ' आदि विशेषण देकर तब उनसे प्रश्न किए और कथा पूछी है; यथा 'सिव भगवान ज्ञान-गुन-रासी','प्रभु समर्थ सर्बग्य सिव सकल-कला-गुन-धाम ।','जोग-ज्ञान-वैराग्य-निधि प्रनत कल्पतरु नाम', 'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना ।' इसी पर उनका इशारा है । वे कहते हैं कि यह सब ठीक है पर भगवान् रामचन्द्रजी और उनके चरित इत्यादि अनन्त हैं, हम इतने समर्थ होने पर भी उनका वर्णन यथार्थ नहीं कर सकते । (ग) इन शब्दोंसे अपने वाक्यको प्रमाणित कर दिखा रहे हैं । अर्थात् यदि उनका अंत मिल सकता तो हम सब जानते ही होते और कह भी सकते । (घ) 'यथाश्रुत' कहकर तब 'जसि मति मोरी' कथनका भाव कि जो कुछ हमने सुना है वह भी सबका सब और यथार्थ मैं नहीं कह सकता, जहाँ तक मेरी बुद्धिकी पहुँच है वहीं तक कह सकूँगा । इससे यह भी जनाया कि सुना बहुत है इतना ही नहीं कि जितना कहता हूँ । (ङ) अनन्त वस्तुके कथनमें यही होता है कि वह यथाश्रुत और यथामति कहा जाता है ।

टिप्पणी—२ (क) 'कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी' इति ।☞यह कथाका उपक्रम है । इसका उपसंहार "तव मन प्रीति देखि अधिकाई । तब मैं रघुपति कथा सुनाई । ७।१२८।२ ।' पर है । (ख) 'प्रीति अति'– [श्रीपार्वतीजीने पूर्ण कथा-श्रवण हेतु तीन अधिकारी गिनाए हैं-(१) जो मन कर्म वचनसे वक्ताका दास हो । (२) जो अति आर्त्त हो । और (३) जो वक्ताका कृपापात्र हो । इन तीनोंमेंसे 'अति आर्त्त' होना ही 'अति प्रीति' है, इसीको शिवजीने ग्रहण किया । अतएव जो पार्वतीजीने कहा है कि 'अति आरति पूछौं सुरराया । रघुपति कथा कहहु करि दाया ।' यही 'अति प्रीति' है, जिसका देखना शिवजी कह रहे हैं] (ग) अति प्रीति देखकर तब कथा कहने-सुनानेका भाव कि कथा, कीर्त्ति, गुण आदि गुह्य (गोपनीय) थे, अति प्रीति देखकर प्रकट किये गए ।☞उपसंहार भी 'तव मन प्रीति देखि···' पर करके शिवजी उपदेश कर रहे हैं कि जिसकी श्रीरामकथामें अत्यन्त प्रीति हो उसीको कथा सुनानी चाहिए, प्रीतिरहितको कदापि न सुनावे । इसी प्रकार श्रोताको चाहिए कि पहले अपनेको 'अति आर्त्त अधिकारी' बना ले, तब प्रश्न करे, तो फिर 'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं ।' (घ) श्रीशिवजी इन चौपाइयों और शब्दोंसे कथाका प्रारंभ करते हैं और अन्तमें इन्हीं शब्दोंसे कथाकी समाप्ति करेंगे ।—

उपक्रम		उपसंहार
"जथा अनंत राम भगवाना । तथा कथा कीरति गुन नाना ॥ रामनाम गुन चरित सुहाये । जनम करम अगनित स्रुतिगाये ॥"	१	राम अनंत अनंत गुनानी । जनमकरम अनंत नामानी ॥७।५२॥ स्रुति सारदा न बरनइ पारा ।
"जसि मति मोरी"	२	मैं सब कही मोरि मति जथा (उ० ५२)
"कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी"	३	तव मन प्रीति देखि अधिकाई ।०']

उमा प्रश्न तव सहज सुहाई । सुखद संत-संमत मोहि भाई ॥६॥
एक बात नहिँ मोहि सोहानी । जदपि मोह बस कहेहु भवानी ॥७॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना । जेहि श्रुति गाव धरहिँ मुनि ध्याना ॥८॥

शब्दार्थ—संत संमत=संत अनुमत=जिसमें संत भी सहमत हों। सम्मत=सहमत, अनुमत, अनुमोदित ।=अनुमति । भाई=अच्छी लगी । (गोस्वामीजी 'प्रश्न' को स्त्रीलिंग मानते हैं, इसीसे उसीके अनुसार 'भाई' क्रिया दी है)।

अर्थ—हे उमा ! तुम्हारे प्रश्न स्वाभाविक ही सुन्दर, सुख देनेवाले और संतसंमत हैं (अतएव) मुझे भी भाए ॥ ६ ॥ (परन्तु) हे भवानी ! मुझे एक बात अच्छी नहीं लगी, यद्यपि तुमने मोहवश ही ऐसा कहा (अथवा, यद्यपि तुमने अपनेको मोहके वशमें होना कहा है) ॥ ७ ॥ तुमने जो यह कहा कि ' वे राम कोई और हैं जिन्हें वेद गाते हैं और जिनका ध्यान मुनि लोग करते हैं ।' ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ "उमा प्रश्न···" इति । (क) 'संतसंमत' अर्थात् छलरहित हैं; यथा 'प्रश्न उमा के सहज सुहाई । छल-बिहीन सुनि सिव मन भाई । १.१११.६ ।'–[इन दोनों चौपाइयोंमें एक ही बात कही गई है । १११.६ में 'सहज सुहाई' और 'छलबिहीन' होनेसे 'मन भाई' कहा था और यहाँ 'सहज सुहाई' 'सुखद संतसंमत' होनेसे 'मन भाई' कहा है । इस प्रकार 'सुखद संतसंमत' से 'छलविहीन' का अर्थ ग्रहण कराया गया । (ख) 'सहज सुहाई' के भाव १११.६ में देखिए । वैजनाथजी लिखते हैं कि प्रश्न सहज सुन्दर हैं क्योंकि रामतत्व-विषयक हैं, इसीसे सबको 'सुखद' हैं । संतसंमत हैं क्योंकि परमार्थ-साधक हैं; इसीसे मुझे भाए ।]

वि० त्रि०—प्रश्नकी प्रशंसा करते हैं । 'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि' यह प्रश्न बहुत सुन्दर है और इसमें स्वाभाविकता है । ऐसे मार्मिक प्रश्नके उत्तरमें वक्ताको भी सुख होता है । सन्तोंकी भी यही सम्मति है कि प्रकृत जिज्ञासुकी यथार्थ जिज्ञासाका उत्तर देना चाहिए । शुष्क तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है । बलवान् तार्किक निर्बलको दबा लेता है और जो उससे भी बड़ा तार्किक है वह उसके तर्कका भी खण्डन कर देता है, अतः शास्त्रकी मर्यादाके भीतर भीतर तर्क होना चाहिए। तुम्हारा तर्क शास्त्रके भीतर है, शास्त्रके समझनेके लिए है।

टिप्पणी—२ (क) 'एक बात नहिं··' भाव कि और सब बातें सुन्दर, सुखद और संतसंमत हैं, केवल एक ही बात असुन्दर, दुःखद और साधु-असम्मत है; इसीसे वह हमें नहीं अच्छी लगी, अन्य सब अच्छी लगीं । [(ख) यहाँपर यह दिखाया है कि रोचक और भय तुल्य होने चाहिएँ, तभी जिज्ञासुका कल्याण होता है । यदि संकोचवश रोचकही रोचक कहे तो ठीक नहीं और यदि अपनी उत्कृष्टता दिखानेके लिए बहुत ही भय या ताना दे तो वह भी उचित नहीं । वक्ताओंको यह नीति स्मरण रखनी चाहिए । इसी विचारसे श्रीशिवजीने प्रथम पार्वतीजीकी प्रशंसा की, उनके प्रश्नोंको सुन्दर, सुखद सन्तसम्मत कहा और तब यह कहा कि 'एक बात नहिं मोहि सोहानी' । (बाबा रामदासजी, पं०, रा० प०) । पुनः 'नहिं मोहि सोहानी' का भाव कि एक प्रश्न जो सन्तसम्मत नहीं है वह भवानीके मुखसे निकलना न चाहिये था, ऐसा प्रश्न उमा (=महेशकी लक्ष्मी) को लांछनास्पद है । जो प्रश्न शिवजीको अप्रिय लगा उससे उनके हृदयमें क्रोधका प्रादुर्भाव हुआ है और वे पार्वतीजीको फटकारना चाहते हैं, पर वे भयभीत न हो जायँ, इस लिए सामान्यरूपसे कहेंगे । प० प० प्र० ।] (ग) 'जदपि मोह बस कहेहु' अर्थात् पक्षपात करके नहीं कही गई तब भी हमें अच्छी नहीं लगी । ☞ यह बात शिवजीको यहाँ तक असह्य हुई कि उनसे रहा न गया, उन्होंने उसे कह ही डाला । वह कौन एक बात है सो आगे कहते हैं । (घ) पूर्व दोहा १०८ में श्रीपार्वतीजीने तीन बातें कहीं । (श्रीरामपरत्वके तीन प्रमाण दिए)—(१) प्रभु जे मुनि परमा-

रथबादी कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ।', (२) सेस सारदा बेद पुराना । सकल करहिं रघुपति-गुन-गाना', (३) 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग आराती ॥'' और अन्तमें कहा 'राम सो अवध-नृपतिसुत सोई । की अज अगुन अलख गति कोई ।'-यह अंतिम बात है। 'की अज अगुन···' ही वह बात है जो न सुहाई । 'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना' के 'कोउ आना' का और 'की···कोई' का एक ही अर्थ है । शिवजीको यह बात कितनी दुःखद और नापसन्द (अरुचिकर) एवं असह्य हुई यह उनके उत्तरके शब्दोंकी स्थितिसे झलक रही है । उन्होंने पार्वतीजीकी तीन बातोंमेंसे दोको 'राम कोउ आना' के साथ कहा । (अर्थात् 'राम कोउ आना' कहकर उसी अर्धालीके दूसरे चरणमें 'जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना' इन दो बातों वा प्रमाणोंको कहा, अपनेको न कहा)। 'राम कोउ आना' के साथ अपना नाम नहीं रक्खा—

पार्वतीजीका प्रश्न	श्रीशिवजीका उत्तर
सेस सारदा बेद पुराना । सकल करहिं रघुपति गुन गाना	१ जेहि श्रुति गाव
प्रभु जे मुनि परमारथ बादी ।	२ धरहिं मुनि ध्याना
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती ।	३ इसका उत्तर नहीं दिया ।

'राम कोउ आना' के साथ अपना नाम न देकर जनाया कि दाशरथी श्रीरामजीके अतिरिक्त किसी अन्य रामके साथ हमारा नाममात्र भी नहीं है, अन्य रामके प्रतिपादनमें हमारा किंचित् कहीं भी संबंध नहीं है । ☞ यह शिवसिद्धान्त है । जहाँ अन्य रामका प्रतिपादन हो वहाँ हमारे सम्बन्धकी कौन कहे वहां तो हमारा नाम भी नहीं सुना जायगा ।

वि० त्रि०—आँखें तो बहुतोंको हैं पर सभी रत्नको पहचान नहीं सकते, उन्हें शीशेमें और रत्नमें भेद नहीं मालूम पड़ता, उस भेदको तो केवल जौहरीकी आँखें देखती हैं । अतः रत्नका ग्रहण दो एक रात्निकोंको दिखाकर, सत् तर्क द्वारा श्रद्धा करके ही संसार करता है । जो अभागा रात्निकोंपर कुतर्कके बलसे श्रद्धा नहीं करता, वह सदा रत्नसे वंचित रहता है । इसी भाँति राम ब्रह्म हैं या नहीं, इसका निर्णय सामान्य पुरुष नहीं कर सकता । इस बातके जौहरी परमार्थवादी मुनि और शेष-शारदादि हैं, उनके वचन पर सत् कर्मद्वारा श्रद्धा करना ही प्राप्त है ।

शिवजीका कहना है कि जब तुम स्वयं कहती हो कि 'प्रभु जे मुनि परमारथबादी । कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥ सेष सारदा बेद पुराना । सकल करहिं रघुपति गुन गाना ॥ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग आराती ॥', तब तुमने कुतर्कका आश्रयण करके इनके वचनोंमें अश्रद्धा क्यों की ? ये लोग जब कहते हैं कि ये वही राम हैं जिनका वेद गुणगान करता है और मुनि ध्यान धरते हैं, तब तुम्हारे मनमें 'राम कोउ आना' की भावना कैसे उठी ? जिसे विशेषज्ञ महात्मा एक स्वरसे कहें उस विषयमें भी संशयको बनाये रखना, यह मोहकी छाया है । यही बात मुझे भी अच्छी न लगी । इस प्रकारकी धारणा तो हरिविमुखोंको होती है, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । अब उन्हीं हरिविमुखोंकी भर्त्सना पार्वतीजीका भ्रम मिटानेके लिए शिवजी क्रमसे करते हैं ।

वै०—'मोह बस कहेहु'=तुमने अपने मनको मोहके वश होना कहा है । इस अर्थमें भाव यह है कि इस कथनसे तुम निर्दोष ठहरती हो, मोह वश होनेसे मनुष्य ऐसा कह सकते हैं । शिवजी पार्वतीजीको वचन-दण्ड दे रहे हैं, उनके कथनका अभिप्राय यह है कि तुम कहती हो कि अब पहला-सा विमोह नहीं किन्तु कुछ ही है, अज्ञ जानकर रुष्ट न हूजिए, अब कथा सुननेकी रुचि मुझको है । सो कथा सुननेके लिए तो तुमको मोह नहीं और श्रीरामरूपमें संदेह करनेके लिए मोह है यद्यपि उनका प्रभाव तुमने अघाकर देख लिया है !

जैसे एक बने हुये मतवालेने राजाको गालियाँ दीं। उसके नौकरोंने उसे दण्ड देना चाहा तो राजाने रोक दिया कि वह तो पागल है, अपने होशमें नहीं है, ऐसेको दंड देना उचित नहीं। वह और भी शेर हुआ, अधिक गालियाँ देता हुआ आगे चला जहाँ नदीमें हलकर पार जाना पड़ता था। वहाँ उसने अपनी जूती उतारकर हाथमें ले ली। तब राजाने उसको दंड देनेकी आज्ञा दी और कहा कि गालियाँ देनेके लिए तुझे होश न था और जूती बचानेका होश है! वैसे ही यहाँ शिवजी कहते हैं कि हमारे विचारमें तुम्हें मोह नहीं है, तुमने जान-बूझकर ऐसा प्रश्न किया है इसीसे मुझे यह बात नहीं सुहाई।

नोट—'भवानी' संबोधनका भाव कि तुम तो भव-पत्नी हो, हमसे सम्बन्ध रखनेवालेको ऐसा कदापि न कहना चाहिए था। यही मुझे दुखी कर रहा है।

दोहा—कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरि-पद-बिमुख जानहिं झूठ न साच॥११४॥

शब्दार्थ—ग्रसना = बुरी तरह पकड़ना; ऐसा पकड़ना कि छूट न पावे। झूठ=वह बात जो यथार्थ न हो। 'झूठ साँच कुछ नहीं जानते' यह बोली है, मुहावरा है अर्थात् वे झूठ और सत्यमें फर्क नहीं निकाल सकते, उसका विवेचन नहीं कर सकते।

अर्थ—ऐसा अधम मनुष्य कहते हैं, जिन्हें मोहरूपी पिशाचने ग्रस लिया है, जो पाखण्डी हैं, हरिपद-विमुख हैं और झूठ-सच कुछ नहीं जानते*॥ ११४॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहहिं सुनहिं अस अधम…'—भाव कि न तो ऐसा कहना ही चाहिए और न सुनना ही। अधम=अधर्मी। 'अधर्मी' हैं अर्थात् कर्म (कर्मकांड) रहित हैं। 'ग्रसे जे मोह पिसाच' मोह पिशाचने ग्रस लिया है अर्थात् ज्ञान (ज्ञानकांड) रहित हैं। 'हरिपदबिमुख' हैं अर्थात् उपासना (कांड) रहित हैं। इस तरह इन तीन उपाधियोंसे उन लोगोंको जो दाशरथी श्रीरामजीसे भिन्न अन्य 'राम' का प्रतिपादन करते हैं, वेदत्रयी कर्म-ज्ञान-उपासना कांडत्रयसे रहित बताया। और कांडत्रयरहित होनेसे इनकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती, सदा संसारचक्रमें पड़े जनमते-मरते रहेंगे—यह जनाया। (ख) 'ग्रसे जे मोहपिसाच'—मोहको पिशाचकी उपमा देनेका भाव कि भूत प्रेत जिसको लगते हैं, जिसके सिरपर सवार होते हैं, वह पागल सरीखा बोलने लगता है, वैसे ही ये बोलते हैं। जैसे पिशाच सिरपर चढ़कर पिशाच-ग्रस्तसे जो चाहता है कहलवाता है, वैसे ही मोहरूपी पिशाच इनके सिरपर सवार है, वही इनसे परमेश्वरके विषयमें जैसी-तैसी बातें बकवाता है; यथा 'बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे। ११५.७।'; 'मरम बचन सुनि राउ कह कहु कछु दोषु न तोर। लागेउ तोहि पिसाच जिमि कालु कहावत मोर। २.३५।' (ग) 'पाषंडी' हैं अर्थात् दिखानेभरके लिये करते हैं। [(घ) त्रिपाठीजीका मत है कि "यह पहिले प्रकारके हरिविमुखों (जिन्होंने 'हरिकथा सुनी नहिं काना') के लिये कहते हैं कि ऐसे अधम लोग ऐसी बातें कहते और सुनते हैं। हरिकथा तो कभी सुनी नहीं, वे मिथ्या संसारको ही सत्य माने बैठे हैं, ब्रह्म (सत्य) उनके लिये कोई वस्तु ही नहीं है।"]

नोट—ग्रसे जे मोह पिशाच, पाखण्डी इत्यादि विशेषण औरोंके देकर उसके अभिप्रायसे शिवजी पार्वतीजीको धिक्कारते हैं। (वै०)। इस भावके अनुसार यहाँ तुल्य-प्रधान गुणीभूत व्यंग है—"चमत्कारमें

* कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं—वे झूठ जानते हैं, सत्य नहीं जानते। और कहते हैं कि जैसे सन्तोंको झूठ बोलना विषके समान जान पड़ता है, वैसे ही खलोंको सत्य बोलना विषके समान जान पड़ता है।—'मिथ्या माहुर सज्जनहिं खलहिं गरल सम साँच। तुलसी छुअत पराइ ज्यों पारद पावक आँच। ३३९।' (दोहावली)। अतएव इनका झूठ ही जानना कहा।

व्यंग्य अरु वाच्य बराबर होय ।' तुल्य प्रधान गुणीभूत वहाँ कहा जाता है जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बराबरीके हों। कथन तो यहाँ सर्व-साधारणके लिये है पर उस सर्व-साधारणमें पार्वतीजी भी आ जाती हैं; अतः उनपर भी घटित हो जाता है, वे चाहें तो ऐसा समझ सकती हैं कि यह सब मुझको कहते हैं। 'मोह पिसाच' में सम-अभेद रूपक है। पहले एक साधारण बात कहकर कि ऐसा अधम नर कहते हैं फिर उसका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे करना कि जो मोहग्रस्त हैं, पाखण्डी हैं इत्यादि वे ऐसा कह सकते हैं किन्तु तुम्हारा कहना युक्त नहीं—'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। प्र० स्वामीके टिप्पण आगेकी चौपाईमें देखिए।

अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी ॥१॥

लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी ॥२॥

शब्दार्थ—अज्ञ=जिनका धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो। अकोविद=शास्त्रजन्य ज्ञानसे रहित।=जो पंडित नहीं है। काई=जंग, मैल, मल। लंपट=विषयोंमें लपटे हुए, विषयी, कामी; यथा 'पर त्रिय लंपट कपट सयाने। ७.१००।' कपटी=जिनके मनमें कुछ हो और बाहर कुछ।—'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा।'

अर्थ—जो अज्ञानी, अकोविद, अन्धे और भाग्यहीन हैं; जिनके मनरूपी दर्पणमें विषयरूपी मल लगा है ॥ १ ॥ जो विशेषरूपसे लंपट, कपटी और कुटिल हैं, जिन्होंने (जागृतकी कौन कहे) स्वप्नमें भी सन्तसमाजका दर्शन नहीं किया ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'अज्ञ' से ज्ञाननयनरहित जनाया और 'अकोविद' से श्रुतिस्मृतिनेत्ररहित। [यथा वृद्धपाराशरस्मृतौ—"श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे ब्राह्मणानां प्रकीर्त्तिते। एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्ध इतीरितः।" अर्थात् शास्त्रोंमें ब्रह्मवेत्ताओंके वेद और धर्मशास्त्र दो नेत्र कहे गए हैं। इनमेंसे जिसको एक ही का ज्ञान हो दूसरेका न हो वह काना है और जिसे दोनोंका ज्ञान न हो उसे अंधा कहा गया है। पुनश्च यथा हितोपदेशे—"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यंध एव सः।" अर्थात् अनेक संशयोंका छेदन करनेवाला और परोक्ष बातोंका दर्शानेवाला शास्त्र सबकी आँख है; जिसे यह न हो अर्थात् जिसे शास्त्रका ज्ञान नहीं है, वह ही अंधा है]; इसीसे (ज्ञान-श्रुतिस्मृति नेत्रहीन होनेसे) अंधा कहा। अथवा, (ख) 'अज्ञ अकोविद' से भीतर (हृदय) के नेत्रोंसे रहित कहा और 'अंध' से बाहरके नेत्रोंसे रहित जनाया (अर्थात् इनके भीतरकी और बाहरकी दोनों ही फूटीं); क्योंकि सगुण ब्रह्म बाहरके नेत्रोंसे देख पड़ता है। आगे इसीको स्पष्ट करके लिखते हैं—'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना।' (ग) [मा० पी० प्र० सं० —'अज्ञ अकोविद'··· का अन्वय वा संबंध चौथी चौ० 'मुकुर मलिन···' से है। 'अज्ञ' हैं अर्थात् ज्ञान-वैराग्य-नेत्रहीन हैं।···ज्ञान-वैराग्य और श्रुतिस्मृति ये ही दो नेत्र कहे गए हैं, यथा 'ज्ञान बिराग नयन उरगारी। ७.१२०।'···]

प० प० प्र०—मोह पिशाचग्रस्त=विमोहवश। पाखंडी=न धर्मरति। हरिपदबिमुख=हरि-बिमुख। जानहिं झूठ न साँच=मतिमंद। इस प्रकार यहाँ चारको कहा, पर इनमें प्रथम मोहपिशाचग्रस्तोंका उल्लेख पार्वतीजीपर कटाक्ष करके ही किया है। इन चारोंको ही आगे क्रमशः अभागी, अंध, अकोविद और अज्ञ कहते हैं, यथा 'अज्ञ अकोविद अंध अभागी'। पर चौपाईमें क्रम उलटा है। कारण कि शिवजीने पार्वतीजीके मोहसे ही उपक्रम किया है और अन्तमें उपसंहार भी पार्वती-मोहके विषयमें ही करना है।

सती-पार्वती, गरुड़, नारदादि ज्ञानीको मोह होता है, वे अभागी हैं। पाखंडी=जो वेदविरोधी रावणादि राक्षसोंके समान हैं, अपनी सत्ता, ऐश्वर्यादिके अभिमानसे मदसे अंधे हो जाते हैं जिससे रामलीलाका रहस्य उनकी समझमें नहीं आता। हरिपदबिमुख हरिभक्तिविहीन हरिविरोधी अकोविद है, वह उलटा ही जानता है। और जो अज्ञ अर्थात् मतिमंद है, वह झूठ और सत्य कुछ नहीं जानता, उसको शास्त्रज्ञान आदि कुछ नहीं है।

ऐसे चार प्रकार न माननेसे भरद्वाज, गरुड़, सती, पार्वती आदिको भी पाखण्डी और हरिविरोधी कहना पड़ेगा; पर ऐसा मानना सत्यका अपलाप और सन्तोंकी निन्दा ही ठहरेगी। (आगे शृङ्खला ११५। ३-४ में देखिए)।

वि० त्रि०—वेद-असम्मत वाणी बोलनेवाले, यदि विज्ञ भी हों, तो उन्हें अज्ञ ही समझना चाहिए। जिसे इतना अभिमान है कि अपनी समझके सामने ईश्वरीय वाणीको नहीं गिनता, अथवा ऐसा अविश्वासी है कि सनातन वेदपर विश्वास नहीं करता, अथवा मनसे भी अचिन्त्य रचनावाले संसारको देखनेपर भी उसके रचयिताकी ओर जिसका ध्यान नहीं जाता, वह विज्ञ होनेपर भी अज्ञ है, कोविद (पंडित) होनेपर भी मूर्ख है, आँख रहते अंधा है।···यदि ईश्वरमें विश्वास हो तो यह बात भी समझमें आवे कि इस विश्वका रचनेवाला विश्वके कल्याणके लिये बिना कुछ उपदेश दिये उसे उपेक्षित नहीं छोड़ सकता। अतः उसे वेद शास्त्रकी आवश्यकता मालूम पड़ेगी, और जिसे ईश्वरपर विश्वास नहीं वह वेद क्यों मानेगा? तब वह अभागी है, भवभंजनपदविमुख है, मुनि-जन-धन-सर्वस्व शिव-प्राण उसके भाग्यमें नहीं, वह सदा जन्म-मरणरूपी संसारमें पड़ा हुआ अधमगतिको प्राप्त होता चला जायगा।

टिप्पणी—२ 'कोई बिषय मुकुर मन लागी' इति। (क) विषयरूपी काई मनरूपी दर्पणमें लगी हुई है अर्थात् मन विषयी हो रहा है, तब रामरूप कैसे देख पड़े? विषयीको भगवान् नहीं देख पड़ते। यथा "राम प्रेम पथ पेखिये दिए बिषय तन पीठि। तुलसी केंचुरि परिहरे होत साँपहू डीठि।" (दोहावली ८२)। अर्थात् श्रीरामप्रेमगली तभी देख पड़ती है जब विषयको पीठ दे, उससे विमुख हो जाय, जैसे सर्पको उस समय तक नहीं सूझ पड़ता जबतक केंचुल उसके शरीरको आच्छादित किये रहती है।

३ "लंपट कपटी कुटिल···" इति। (क) [लंपट अर्थात् कामी, परस्त्रीगामी, व्यभिचारी हैं, इसीसे उनके मनमें कपट रहता है, स्वकार्यसाधनार्थ वे कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं और मनमें उनके कुछ है, सारा व्यवहार कपटका रहता है, अतः कपटी कहा। कुटिल हैं अर्थात् टेढ़ी चाल चलते हैं। वि० त्रि० लिखते हैं कि "कपटी अपनी अन्तरात्मासे कपट करता है, उसे सत्यज्ञान हो ही नहीं सकता। यथा 'कपट करौं अंतरजामिहु ते अघ व्यापकहि दुरावों'। कुटिल परम सरल वचनमें भी पेंच देखता है, यथा 'चलै जोंक जिमि बक्रगति जद्यपि सलिल समान।' ऐसे लोगोंको वेदपर विश्वास नहीं हो सकता।"] 'सपनेहुँ' का भाव कि सन्तसमाजका दर्शन बड़े भाग्यसे होता है, यथा 'बड़े भाग पाइब सतसंगा। ७.३३.८।' जब बड़े भाग्य उदय हों तभी दर्शन होता है, सामान्य भाग्यसे सन्तदर्शन नहीं मिलता। और, इनके न तो बड़ा भाग्य है और न सामान्य ही; ये तो अभागे हैं। इसीसे इन्हें स्वप्नमें भी सन्तसभाके दर्शन नहीं हुए। [पुनः, भाव कि जागृत्यवस्थामें दर्शन होना बड़ा भाग्य है। यह न हो पर कदाचित् स्वप्नमें ही सन्तोंके दर्शन हो जायँ तो भी भाग्य ही समझना चाहिए, यद्यपि यह सामान्य ही है। पर ये पूरे 'अभागी' हैं, क्योंकि इन्हें कभी स्वप्नमें भी दर्शन नहीं हुआ। पुनः, मुहावरेके अनुसार 'सपनेहु' का भाव 'कभी भी' 'भूलेसे भी' है। पुनः, ऊपर जो 'अज्ञ अकोविद अंध अभागी' में 'अंध अभागी' कहा था उसीके संबंधसे यहाँ 'सपनेहु संतसभा···' कहा। अंधे भी स्वप्न देखते हैं, पर ये ऐसे अभागे हैं कि इन्होंने कभी स्वप्न भी सन्तोंका नहीं देखा। पुनः भाव कि मनुष्य जो व्यवहार दिनमें करता है प्रायः वही उसे स्वप्नमें देख पड़ता है और ये तो लंपट हैं, इनका व्यवहार कपट एवं कुटिलताका रहता है, अतएव इन्हें वही स्वप्नमें दीखेगा। जागृतिमें सन्तसमागम किया होता तो स्वप्नमें भी सम्भव था।—स्वप्नमें भी किये हुए सत्सङ्गका प्रभाव श्रीवसिष्ठजी तथा श्रीविश्वामित्रजीके उस प्रसङ्गसे अत्यंत स्पष्ट हो जाता है जब कि पचास हजार वर्षके कठिन तपके फलपर विश्वामित्रजी अपने सिरपर पृथ्वी न धारण कर सके और वसिष्ठजी स्वप्नमें किये हुए केवल दो घड़ीके सत्सङ्गके फलपर पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेको समर्थ हुए थे। स्वप्नके सत्सङ्गका यह प्रभाव

है अतः 'सपनेहु संत सभा नहीं देखी' का भाव कि स्वप्नमें भी सत्सङ्ग होना दुर्लभ पदार्थ है; यदि हो जाता तो वे सुधर जाते, संत-असंमत-वाणी न कहते। पुनः भाव कि इनका साथ सदा असन्तोंका रहता है, अतः ये सब आचरण इनमें हैं]। ☞'संतसभा नहिं देखी' का भाव कि सन्तदर्शनसे बुद्धि निर्मल हो जाती है। यथा 'संत दरस जिमि पातक टरई। ४।१७।', 'काक होहिं पिक बकउ मराला', 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। १।३।' इन्होंने दर्शन नहीं किया; इसीसे मलिनबुद्धि बने रहे।

कहहिँ ते बेद असंमत बानी। जिन्ह[1] के सूझ लाभु नहिँ हानी ॥३॥

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना ॥४॥

शब्दार्थ—वेद-असंमत = वेदविरुद्ध, वेदोंके प्रतिकूल।

अर्थ—जिन्हें अपना हानि-लाभ नहीं सूझता, वे ही वेदविरुद्ध वचन कहते हैं ॥ ३ ॥ (उनका मन-रूपी) दर्पण मैला है और वे नेत्ररहित हैं, तब भला वे बेचारे श्रीरामरूप कैसे देखें ? ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहहिं ते बेद···' इति। 'संतसभा नहिं देखी' से संत-विरुद्ध और 'वेद-असंमत' से वेदविरुद्ध। अर्थात् उनकी वाणी सन्त और श्रुति दोनोंसे विरुद्ध है; अतएव वह प्रमाण नहीं है। इससे जनाया कि तुम्हारी 'राम कोउ आना' वाली बात संत-श्रुति-असंमत है। (ख) 'लाभ नहिं हानी' इति। लाभ क्या है? रघुपति-भक्तिका होना। यथा 'लाभु कि किछु हरिभगति समाना। ७।११२।८।', 'लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा। ६।२६।८।' हानि क्या है? नरतन पाकर भी भगवद्भक्ति न करना। यथा 'हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई। ७।११२।६।' [पुनः यथा 'तुलसी हठि हठि कहत नित चितु सुनि हित करि मानि। लाभ राम-सुमिरन बड़ो बड़ी बिसारे हानि।' (दोहावली २१)] (ग) 'सूझ'—ऊपर इनको 'अंध' कह आए, इसीसे यहाँ न सूझना कहा, क्योंकि अन्धेको सूझता नहीं। लाभ और हानि इनको नहीं सूझते; यथा 'परमारथ पहिचानि मति लसति विषय लपटानि। मनहु चिता ते अधजरत तुलसी सती परानि ॥" इति दोहावल्यां। अर्थात् परमार्थको जानकर भी बुद्धि विषयमें लपटी रहती है; इनकी दशा वैसी ही शोचनीय है जैसे कोई स्त्री सती होने जाय और अधजली होकर उठ भागे]

प० प० प्र०—"काई बिषय मुकुर मन लागी॥ लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संतसभा नहिं देखी।'— ये हैं वेद-असम्मत-वाणी कहनेके कारण और 'जिन्हके सूझ लाभ नहिं हानी', कारण भी चार ही गिनाये हैं। चारोंको लाभ हानि नहीं सूझती। जिन्होंने स्वप्नमें भी सन्तसभा नहीं देखी वे अकोविद होते हैं। जो अंधे हैं वे मदांध हैं, वे विशेष विषयलंपट, विशेष कपटी और विशेष कुटिल बनते हैं जैसे रावण। अज्ञ और अंध अकोविद लोगोंके मनपर विषय काई लगी रहती है।—ऐसे चार भेद न माननेसे सती, पार्वती, गरुड़को लंपट कपटी कुटिल विशेष आदि मानना पड़ेगा। सतीने कपट तो किया ही पर विशेष नहीं किया और लंपटादि नहीं हैं यह है दुर्जनोंका लक्षण। जो अभागी हैं वे 'हरि मायाबल जगत भ्रमाहीं'। शेष तीन अविद्या मायावश भ्रमते रहते हैं।" (शृङ्खलाके लिये ११५।७-८ में देखिए)

वि० त्रि०—वेद तो कहता है कि 'चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः।' (रा०पू०ता० उ०); (अर्थात्) चिन्मय महाविष्णु हरि रघुकुलमें श्रीदशरथजीके यहाँ उत्पन्न हुए। रामरहस्योपनिषद् कहता है कि 'राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः। राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम्।' और मुक्तिकोपनिषत्में कहा है कि 'राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः। इदानीं त्वां रघुश्रेष्ठ प्रणमामि मुहुर्मुहुः।' राम आप परमात्मा सच्चिदानन्दविग्रह हैं। हे रघुश्रेष्ठ! आपको बार बार प्रणाम। सामवेदके उत्तरार्चिक अ० १५ खं० २ सू० १ मं० ३ में संक्षेपसे रामकथा भी वर्णित है—'भद्रोप-

---

१ जिन्हहिं न—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। जिन्ह के—१६६१, १७०४।

भद्रया सह सचमान आगात्, स्वसारं जारोऽभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्नि वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराम-मस्थात्।' (भद्रः कल्याणकरो रामचन्द्र भद्रया सीतया सचमानः सहितः यदा वनमागात् तदा जारः धर्म-विरुद्धाचरणेन स्वायुषो जरयिता रावणः पश्चाद् रामासान्निध्ये स्वसारं स्वपित्रादिऋषिरक्तोत्पन्नत्वेन भगिनी-तुल्यां सीताम् अभ्येति हरणार्थमायात् तदनन्तरं सु प्रकेतैः शोभनध्वजैः द्यु भिः अलौकिकैरुशद्भिः कमनीयै-र्वर्णैं रथैः कुम्भकरणादिश्च सह अग्निः क्रोधाग्निप्रज्वलितहृदयो रावणः वितिष्ठन् युद्धाय सन्नद्धः सन् रामम् अभिस्थात् रामस्य सान्निध्यं गतवान्।) अर्थात् कल्याणकर श्रीरामचन्द्र जब कल्याणकरी सीताजीके साथ वन गये, तब धर्मविरुद्धाचरणसे अपने आपको नष्ट करनेवाले रावणने रामजीकी अनुपस्थितिमें स्वपित्रादि ऋषियोंके रक्तसे उत्पन्न भगिनीके समान सीताके समीप जाकर उन्हें हरण किया; तदनन्तर क्रोधाग्निसे जलता हुआ वह विचित्र वर्णवाले रथोंसे सज्जित होकर कुंभकर्णादिकोंसे युक्त, रामजीके साथ युद्ध करने गया।' मन्त्ररामायण प्रसिद्ध ही है; पर वे कहेंगे कि राम कोई दूसरे हैं।

टिप्पणी—२ "मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।…" इति। (क) 'मुकुर' का भाव कि निर्मल मनसे श्रीरामजी देख पड़ते हैं। यथा 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ ५।४४।' 'नयन' का भाव कि श्रुतिस्मृति-ज्ञानसे श्रीरामरूप देख पड़ता है। पर इनका मन-मुकुर मलिन है और श्रुतिस्मृति-ज्ञान-नेत्र इनके नहीं हैं, अतः इन्हें नहीं सूझता। 'मुकुर मलिन और नयन बिहीना' की व्याख्या "अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी" में कर आए हैं, पर वहाँ 'रामरूप देखहिं किमि दीना' यह नहीं कहा था, इससे इसकी व्याख्या वहाँ नहीं की गई। (ख) 'रामरूप देखहिं किमि' का भाव कि बिना रामरूप देखे वेद-असंमत-वाणी कहते हैं, यदि रामरूप देख पड़े तो ऐसा न कहें। ☞ जिन्हें पूर्व कह आए और जिन्हें 'पर' (आगे) कहेंगे वे सब रामरूप देखनेके अधिकारी नहीं हैं। (ग) 'देखहिं किमि दीना' इति। शंका—"दीन तो भगवान्‌को प्रिय हैं; यथा 'जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना। १।१८६।' और दर्शनके अधिकारी हैं (यथा 'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना। ३।८।४।', 'हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया। ३।१०।४।' "एहि दिवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।" (विनय), तब यहाँ 'देखहिं किमि दीना' कैसे कहा ?" समाधान यह है कि जिन दिव्य गुणोंसे भगवान् देख पड़ते हैं उन गुणोंसे ये हीन हैं, ऐसे दीन रामरूप देखनेके अधिकारी नहीं हैं। जो दीन भगवान्‌को प्रिय हैं वह सब दिव्य गुणोंसे पूर्ण हैं पर अपने-को सबसे छोटा वा तुच्छ मानते हैं। गीताके "अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रिताः। ९।११।' ही यहाँके 'दीन' हैं।

नोट—१ यहाँ मुकुरकी उत्प्रेक्षासे अपने हृदयमें श्रीरामजीको देखना कहा, क्योंकि मन वा अन्तः-करणमें ही ज्ञान वैराग्य नेत्र हैं और वहीं श्रीरामरूप भी है। यथा 'दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। वि० १३५।', 'परिहरि हृदयकमल रघुनाथहि बाहेर फिरत बिकल भयो धायो। वि० २४४।' (बाबा रामदासजी)।

२ (क) मानस-तत्व विवरणकार लिखते हैं कि—"यहाँ उपमेयलुप्ता अलंकार है। विषयसे अन्तः-करण मलिन हो रहा है—'ज्ञानंचाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयं भवेत्। दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत्॥' इति शिवसंहितायां। इसलिये सफाई जरूरी है सो हुई नहीं। एवं जो सन्तरहस्य है—'उलट नयना देखले अपना राम अपनेमें' सो इससे भी हीन हैं एवं रामधन रहित हैं तो रामरूप कैसे देख सकें ? अथवा दो जनोंको निकट वस्तु देखना अगम है। एक वह जिसका दूरबीन मलिन है, दूसरा जिसे मोतियाबिन्द हो। और रामरूप तो दूरसे भी दूर और निकटसे भी निकटतर है। दूरबीनका मुकुर मानसचक्र है उसमें जंग लगा अर्थात् अगोचरी मुद्रा सिद्ध नहीं हुई है। पुनः, श्रु ति स्मृति रूपी नेत्र होते तो भी रामरूप देख पड़ता क्योंकि श्रुतिस्मृतिके नेत्र रामनाम हैं, यथा 'लोचनस्तु श्रुतीनाम्'। यह भेद उनको नहीं मिला, अतएव वे

रामरूप कैसे देख सकें।" (ख) प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार' है। (ग) रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'मुकुर मलिन०' का भाव यह है कि "विवेक-रहित हैं। कदाचित् मोतियाबिन्द आदिसे जब नहीं सूझता है तब ऐनक लगाते हैं सो वह भी मलिन है, अर्थात् देखनेके उपयोगी नहीं। यहाँ मुकुर स्थाने उपदेष्टाको जानो।" (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि "मनरूपी दर्पण तो विषयरूप मल लगनेसे मलिन है, फिर वे विचार विवेकरूपी नेत्रोंसे रहित हैं, उनको अपना ही रूप नहीं सूझता है तब रामरूप कैसे देख पड़े ? मनदर्पण अमल आत्मरूपके सम्मुख हो और विचार-विवेक नेत्र हों तो अपना रूप देखे और वैराग्य सन्तोषकी सहायतासे सावधान होवे तब आत्मरूपके बुद्धि-विज्ञान नेत्रोंसे रामरूप देख पड़े। जो अपना ही आत्मरूप भूला है और बुद्धि ज्ञानहीन विषयवश है वह दीन रामरूप कैसे जाने ? यहाँ गुण देख उपमेयका उपमानमें आरोप होनेसे 'गौनी साध्यवसाना लक्षणा' है।"

☞ नोट—विषयकाईके दूर करनेकी औषधि भी गोस्वामीजीने बताई है। वह यह कि गुरुपद रजके सेवनसे मलिनता दूर होती है। यथा 'श्रीगुरुचरन सरोजरज निज मन मुकुर सुधारि।' पुनः यथा 'गुरु पदरज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन।'

जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥५॥

हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—जलपना=बकना, डींग मारना; बकवाद करना, बढ़-बढ़कर बातें करना, शेखी बघारना। यथा 'एहि बिधि जल्पत भयउ बिहाना। ६।७१।६।', 'जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु।६।२२।', 'सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई। ६।८६।१०।', 'जनि जल्पना करि सुजस नासहि···। ६।८६।' कल्पित=मनसे गढ़े हुए, मनगढ़न्त; यथा 'दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ। ७।९७।' भ्रमाहीं=भ्रमते रहते हैं, जन्म-मरणके चक्रमें चक्कर खाते रहते हैं। ☞ 'भ्रमाना' भ्रमना-की सकर्मक क्रिया है परन्तु यहाँ वह अकर्मक क्रियाके ही अर्थमें है। अघटित=अयोग्य, अशोभित, अनुचित, कुछ आश्चर्यकी बात।

अर्थ—जिनके निर्गुण-सगुणका विवेक नहीं है, वे अनेक मनगढ़ंत बातें बकते हैं ॥ ५ ॥ भगवान्की मायाके वशमें होकर वे संसारमें चक्कर खा रहे हैं। उनके लिये तो कुछ भी कह डालना असंभव नहीं है (अर्थात् वे सभी तरहकी बेढंगी बातें कह सकते हैं, उनका कुछ भी कह डालना आश्चर्य की बात नहीं)।

टिप्पणी—१ (क) 'अगुन न सगुन बिबेका' इति। अगुण-सगुणका विवेक यह है कि जब वह अव्यक्त रहता है तब अगुण, निर्गुण वा अव्यक्त कहलाता है और जब प्रत्यक्ष दिखाई देता है तब वही सगुण कहा जाता है, दोनोंमें वास्तविक भेद नहीं है। यथा 'एक दारु गत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू। १।२३।४।' अर्थात् निर्गुण काष्ठके भीतरके अव्यक्त अप्रकट अग्निके समान है और सगुण प्रत्यक्ष वा व्यक्त अग्निके समान है। जैसे 'अति संघर्षन कर जो कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई", वैसे ही जो निर्गुण 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥···' इत्यादि विशेषणोंसे युक्त है वह भी 'नामनिरूपन नाम जतन तें' प्रगट हो जाता है—'सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें', पुनः, प्रेमकी अधिकतासे प्रगट हो जाता है; यथा 'प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी', 'नेम प्रेमु संकर कर देखा।···प्रगटे राम कृतग्य कृपाला। १।७६।' इत्यादि। विशेष १।२३।४ में देखिए। एवं श्रीशिवजी भी अगुण-सगुणका विवेक आगे स्वयं ही कहते हैं—'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।···जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।११६। १-३।' (ख) 'जल्पहिं कल्पित बचन' अर्थात् वेद-असंमत वाणी कहते हैं। वेदविरुद्ध होनेसे 'कल्पित' कहा। (ग) 'रामरूप देखहिं किमि दीना' और 'जल्पहिं कल्पित बचन' दोनों बातें कहकर जनाया कि श्रीरामरूप तो देखते नहीं और बातें बहुत गढ़ते-बकते हैं।

२ "हरि माया बस⋯" इति । (क) अर्थात् अविद्यामायाके वश हैं । (हरिमाया दो प्रकारकी है, एक विद्या दूसरी अविद्या । जीव अविद्या मायाके वश जगत्में जन्ममरणके चक्रमें पड़े भ्रमण करते रहते हैं, चौरासी भोगते हैं, बारंबार जन्म लेते और मरते रहते हैं । यथा "तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ॥ एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भव-कूपा ॥ एक रचइ जग गुन बस जाकें । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें । ३।१५।४-६ ।' अतः यहाँ अविद्यामायावश होना ही अभिप्रेत है ।")। (ख) 'तिन्हहिं कहत⋯'—अर्थात् अज्ञानकी बातें जो वे कहते हैं वे सब उनमें घटित हैं, उनके योग्य ही हैं । (ग) ☞ ऐसा ही भुशुंडीजीने कहा है । यथा "माया बस मतिमंद अभागी । हृदय जमनिका बहु बिधि लागी ॥ ते सठ हठ बस संसय करहीं । निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥ काम-क्रोध-मद-लोभरत गृहासक्त दुख रूप । ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप ॥ ७।७३ ।' इस तरह शिवजी और भुशुण्डीजीका एक ही सिद्धान्त है । [जिसने हरिभक्तिको हृदयमें स्थान नहीं दिया उस चौथे प्रकारके हरि-विमुखके विषयमें यह कहा गया है । (वि० त्रि०)]

बातुल भूत बिबस मतवारे । ते नहिँ बोलहिँ बचन बिचारे ॥७॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना । तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना ॥८॥

शब्दार्थ—बातुल=जिसको बात वा बाई चढ़ी है; बावला; सिड़ी; पागल । भूतविवश=जिसके शरीरमें भूतप्रेत समागया है, भूतका आवेश है; प्रेतग्रस्त । मतवारे (मतवाले)=जो मदिरा, भंग, धतूर आदि मादक पदार्थ खाकर पागल हो जाते हैं; उन्मत्त; नशेमें चूर । कान करना=सुनना । यथा 'तेइ कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी । २।५० ।' यह मुहावरा है ।

अर्थ—जिन्हें सन्निपात हो गया है, जो पागल हैं, जो भूत (प्रेतों) के विशेष वश हैं, जो मतवाले हैं और जिन्होंने महामोहरूपी मदिरा पी है, उनके कथन (वचनों, बातों) पर कान न देना चाहिए । ७,८ ।

टिप्पणी—१ 'बातुल भूत बिबस मतवारे' का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी होता है कि-'बातुल' से लोभी (यथा 'लोभ बात नहिं ताहि बुझावा । ७।१२०।४ ।') वा कामी (यथा 'काम बात कफ लोभ अपारा ।' ७।१२१।३० ।'), 'भूतबिबस' से मोहग्रस्त (यथा 'ग्रसे जे मोह पिसाच । ११४ ।') और 'मतवारे' से महामोही (यथा 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना') का ग्रहण कर लें तो भाव यह होगा कि लंपट (कामी लोभी), 'ग्रसे जे मोह पिसाच' और महामोही ये कोई विचारकर वचन नहीं बोलते । इनके कथन पर कान न देना चाहिए । पर यह अर्थ शिथिल है, क्योंकि एक ही बात दो जगह कहने से पुनरुक्ति दोष आता है ।—पूर्व जो 'ग्रसे जे मोह पिसाच' कहा उसीको यहाँ 'भूतविवश' कहा, [क्योंकि भूत और पिशाच प्रायः एक ही हैं । पूर्व जो 'लंपट कपटी कुटिल' कहा, वही यहाँ 'बातुल' हैं; क्योंकि लंपट कामीको कहते हैं; यथा 'परतिय लंपट कपट सयाने'; और कामको वात कहा ही है—'काम बात⋯। ७।१२१ ।' वातग्रस्तको बातुल कहते हैं]; 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना' कहनेसे 'मतवारे' का कथन हो चुका, तब पुनः 'मतवारे' कहनेका प्रयोजन ही क्या रह गया ? यदि कविको यह अर्थ अभीष्ट होता तो विकारोंके नाम खोलकर लिखते; जैसे 'मोह' को पिशाच और महामोहको मादक कहा था ।

टिप्पणी—२ 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना ।⋯' इति । (क) ☞ 'मोह' को पिशाच कहा—'ग्रसे जे मोह पिसाच' । 'महामोह' को मादक (मद्य) कहा । तात्पर्य कि पंचपर्वा अविद्याके भेदोंमेंसे मोह और महामोह भी दो भेद हैं । यथा "तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तः करण विभ्रमः । महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोग सुखैषणा । मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते । अविद्या पंचपर्वैषा समुद्भूता महात्मनः", (विष्णु-पुराण) । अर्थात् अविवेकको तम कहते हैं, मनके भ्रमको मोह, विषयसुखकी इच्छाको महामोह, मरणको अंधतामिस्र और क्रोधको तामिस्र कहते हैं । इस प्रकार परब्रह्म परमात्मासे यह पाँच प्रकारकी अविद्या प्रगट

हुई है। (१३६।५-६ भी देखिए *)। (ख) यह प्रसंग 'मोह' से उठाया था—'ग्रसे जे मोह पिसाच', और 'महामोह' पर समाप्त किया—'जिन्ह कृत महामोह मद···'। आदि अन्तमें मोहको लिखनेका भाव कि जितने अवगुण इनके बीचमें वर्णन किये गए, वे सब मोह और महामोहके अन्तर्गत हैं। पुनः, (ग) अनधिकारी कुतर्कियोंका प्रसंग 'मोह' से उठाकर (यथा 'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। ११४।') यहाँ महामोहपर समाप्त करनेका तात्पर्य यह है कि मोह सभी अवगुणोंका मूल है, यथा 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। ७.१२१.२६।', 'मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।' [(घ) 'महामोहमद पाना' का भाव कि साधारण मदिरासे माते हुएके वाक्यका कोई प्रमाण नहीं करते क्योंकि वे तो अनाप-शनाप बका ही करते हैं, तब जो महामोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए हैं उनकी कौन कहे ? (रा० प्र०)]। (ङ) ☞ जो-जो श्रीरामजीमें कुतर्क करनेवाले हैं, उन-उनके नाम यहाँतक गिनाए कि इतने लोगोंकी बातें न सुननी चाहिए। यहाँतक कहनेवालोंकी छः कोटियाँ कीं। प्रत्येक कोटिमें 'कहना' है। यथा—(१) 'कहहिं सुनहिं अस···। ११४।' (२) 'कहहिं ते बेद असंमत बानी।' (३) 'जल्पहिं कल्पित बचन अनेका।' (४) 'तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं।' (५) 'ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।' (६) 'तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना।'–[(१) से (५) तक 'कहना' क्रिया वा कथनार्थवाची शब्दका प्रयोग हुआ और अन्तमें 'कहा' (कथन) शब्दका प्रयोग हुआ। इसका भाव यह है कि जिन जिनका ऐसा कहना लिखा गया, उन सबोंका ही कहना न मानना चाहिए, उनपर ध्यान न देना चाहिए, उनके वचन अयोग्य हैं, वेदविरुद्ध होते हैं। मा० पी० प्र० सं०]। (च) छः कोटियाँ कहनेका भाव कि ऐसे लोग छः प्रकारके हैं—(१) कांडत्रयरहित। (२) अवगुणी। (३) निर्गुणसगुण विवेकरहित। (४) मायावश। (५) बातुल भूतविवश मद्यप। (६) महामोहवश।—महामोह भीतरकी मदिरा है और मतवालोंका मतवालापन मदिरासे है।'

प० प० प्र०—'बातुल भूत बिबस मतवारे' यह वचन अज्ञ, अकोविद और अंध इन तीनोंके लिए उपसंहारात्मक है। काम वात है, उससे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। अज्ञान विषयी जीव विषय-कामनारूपी वातसे बातुल हैं। भूत और पिशाच भिन्न हैं, यथा 'संग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि' (शिव-समाज वर्णनमें), 'जंबुक भूत प्रेत पिसाच। ३।२० छं० १।', इत्यादि। माधवनिदानग्रंथमें भी भूतग्रहोत्थ उन्माद और पिशाचग्रहोत्थ उन्मादके लक्षण भिन्न हैं। 'अयथार्थ वाग् विक्रमचेष्टः' भूतोत्थ उन्मादका एक लक्षण है। वह मनुष्य लज्जास्पद आसुरी राक्षसी वृत्तिसे बोलता है, क्रिया करता है। यह अकोविदके लिए

* मानस तथा गोस्वामीजीके अन्य ग्रंथोंमें तम, और महामोह ये शब्द यत्र-तत्र आये हैं। इनका अर्थ प्रसंगानुसार जहाँ जैसा है वहाँ वैसा मानसपीयूषमें लिखाही गया है। टीकाकारोंने इनके अर्थोंके भेद जो लिखे हैं वह भी इसमें दिये गए हैं। यहाँ पर पं० रामकुमारजीने मोह और महामोह दोनों शब्दोंके प्रयोगका कारण यह बताया है कि पंचपर्वा अविद्यामें ये दोनों नाम हैं।

ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिकाकी 'सांख्यतत्व कौमुदी' टीकामें पंचपर्वा अविद्याका नाम आया है। यथा "अतएव 'पंचपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः। ४७।" उस प्रसंगमें कहा गया है कि योग-शास्त्रमें जो पंचक्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, बताए हैं इन्हींको सांख्यशास्त्रने क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र कहा है। तम और मोहके उसीमें आठ-आठ भेद कहे हैं और महामोहके दश। यथा "भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः। ४८।" अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार और पंचतन्मात्राओंमें आत्मबुद्धि होना 'तम' है। अणिमादि अष्टसिद्धियोंमें आत्मीयत्व और शाश्वतिकत्व बुद्धि 'मोह' है। और, शब्दादि पंचविषय दिव्य और अदिव्य भेदसे दश हैं, इनमें आसक्ति होना 'महामोह' है।—यह व्याख्या सांख्यशास्त्रानुसार है।

कहा है। ऐश्वर्य-मदसे अंध ही मतवारे हैं। यथा 'सब ते कठिन राजमदु भाई। जो अँचवत नृप मातहिं तेई। २।२३१।६-७।'

'जिन्ह कृत महामोह मद पाना' यह वचन 'हरिमायावश अभागी' जीवोंके लिए है।—'मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं। ७।७३।८-९।' सतीजीने स्वयं ही कहा है कि 'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञान राम पर आना'। उपक्रममें इनके विषयमें कहा कि 'तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं' और उपसंहारमें कहा कि 'तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना'। शेष तीन अज्ञ, अकोविद अंध (के विषयमें कहा) 'जल्पहिं कलपित बचन अनेका'। (शृंखलाके लिये ११७।१-३ देखिए)।

वि० त्रि०—'बातुल भूत बिबस मतवारे।···' यह पाँचवें हरिबिमुखके विषयमें कहा जो रामगुणगान नहीं करता। रामगुणगान न करनेवालेकी बुद्धि मलिन हो जाती है, वह विचारहीन बातें बोलता है। 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना।···' यह छठे प्रकारके हरिविमुखके विषयमें कहा है जो हरिचरित सुनकर हर्षित नहीं होता। मद्य पीनेवाले प्रत्यक्ष देखते हैं कि मद्यपकी बुद्धिका लोप हो जाता है। स्वयं भी बुद्धिलोपका अनुभव करते हैं। उन्हें बुद्धिलोपकी अवस्था अच्छी लगती है, वे उसीपर आसक्त हैं। इस लिये वे मद्य पीते हैं। इसी भाँति कुछ लोग ऐसे हैं कि उन्हें धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध तथा ईश्वरके विरुद्ध बोलना अच्छा लगता है, जानते हैं कि यह बात बुरी है, पर उन्हें व्यसन होगया है, उसका त्याग नहीं कर सकते, जिस भाँति मद्यप मद्यके दोषोंको जानता हुआ उसको त्याग नहीं सकता, बल्कि उसकी प्रशंसा करता है। मद्यपके कहनेका न तो कोई खयाल करता है और न कोई उसका कहना मानता है। मोहमयी मदिरा तो बड़ी प्रबल है, उसे पान करनेवालेकी बात तो कभी सुननी नहीं चाहिए, वह सब कुछ कह सकता है। तुम तो परीक्षा तक ले चुकी हो, तुम्हें रामकथापर रुचि है, तुमने ऐसी बात मुँहसे निकाली कैसे?

दोहा—अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु राम पद।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम-तम रबिकर बचन मम॥११५॥

अर्थ—अपने हृदयमें ऐसा विचारकर संदेहको छोड़ो और श्रीरामजीके चरणोंका भजन (सेवन) करो। हे गिरिजे! भ्रमरूपी अंधकारका नाश करनेवाले सूर्यकिरणरूपी हमारे वचन सुनो॥११५॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस' अर्थात् यह लोग अप्रमाणिक बात कहते हैं, इनके कथन पर कान न देना चाहिये, ऐसा। (ख) ☞ऐसा ही भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे कहा है। यथा "अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद। ७.९०।' तात्पर्य यह है कि विचार करनेपर संशय चला जाता है। विना हृदयमें विचारे संदेह दूर नहीं होता किंतु परिताप बढ़ता जाता है। यथा "अनसमुझे अनसोचिबो अवसि समुझिये आपु। तुलसी आपु न समुझिये पल पल पर परिताप।" (दोहावली)। संशय दूर होनेपर भजन बनता है। (ग) 'सुनु गिरिराजकुमारि···'-भाव कि जिनको पूर्व गिना आए हैं, उनके वचन न सुनो, वे भ्रममें डालनेवाले हैं; प्रत्युत हमारे वचन सुनो, क्योंकि हमारे वचन भ्रमके नाशक हैं। ☞ संशय दूर करके अब भ्रमको दूर करते हैं।

वि० त्रि० १ (क) 'अस···तनु संसय···' इति। अधम नर बातुल, भूतविवश और मतवालेकी भाँति श्रुतिसिद्धांत विषयोंपर शंका उठाते हैं, शास्त्रविरुद्ध बातें कहते हैं। संसारसागरके पार जानेके इच्छुकोंको वेदपर विश्वास करना ही होगा। संशय और विपर्यय ये दोनों तत्परत्वके मुख्य प्रबंधक हैं। इनका नाश विपरीत निश्चयसे होता है। अतः इस विषयकी शंका छोड़ो। रामको ब्रह्म समझकर भजो। (ख) 'सुनु'—मनन निदिध्यासन भी 'श्रवण' के अन्तर्गत हैं। जिसने सुनकर मनन निदिध्यासन नहीं किया, उसने

वस्तुतः श्रवण ही नहीं किया, क्योंकि उसका सुनना न सुननेके बराबर है। यहाँ 'सुनु' कहकर तीसरी विनतीके उत्तरकी समाप्ति कही गई।

☞यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि "शिवजी पार्वतीजीसे खलोंके वचन श्रवण करनेको मना करते हैं और यह उमामहेश्वरसंवाद त्रेतायुगमें हुआ, यथा 'एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गए कुंभजरिषि पाहीं'। ८७ हजार वर्षपर शिवजीकी समाधि छूटी, फिर सतीका मरण हुआ, पार्वतीका जन्म हुआ, ४४०० वर्ष पार्वतीजीने तप किया, तत्पश्चात् विवाह हुआ, भोगविलासमें बहुत वर्ष बीते, उसके कुछ दिनों बाद संवाद हुआ। १२ लाख ९६ हजार वर्ष त्रेताका प्रमाण है तबतक त्रेतायुग ही रहा। तब त्रेतायुगमें खल कहाँ रहे? यथा 'ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृंदबहु होइहहिं कलिजुग माहिं।७.४०?" इसका समाधान यह है—शिवजीने पार्वतीजीसे कहा कि 'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हेहु प्रश्न जगतहित लागी'। जगत्‌के हितार्थ जब यह प्रश्न किये गए हैं तब यह आवश्यक हुआ ही कि इसके अधिकारी और अनधिकारियोंका वर्णन करते। किनकी बातें कान देनेसे मोह उत्पन्न होता है, यह भी बताना ही चाहिये जिससे जगत् उनसे बचे। अतएव जगत्‌हितार्थ श्रीपार्वतीजीके मिषसे जगत्‌को खलोंके वचन सुननेसे मना करते हैं। शिवजी सर्वज्ञ हैं, वे जानते हैं कि आगे द्वापर और कलिमें ऐसे खल होंगे। यह उपदेश वा कथन वैसा ही है जैसा अनुसूयाजीका पातिव्रत्यका उपदेश श्रीसीताजीप्रति हुआ है, यथा 'सुनु सीता तव नामु सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय राम कहेउँ कथा संसारहित'। (ग) 'रबिकर बचन मम'—यहाँ वचनको सूर्य्यकिरण कहा है, रवि क्या है? शिवजीका ज्ञान ही रवि है, यथा 'जासु ज्ञान रबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनिकमल बिकासा। २.२७७.१।' (घ) ☞'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि' उमाजीके इस वचनके सम्बन्धसे यहाँ 'भ्रमतम रबिकर बचन मम' कहा गया। यहाँ परंपरितरूपक है।

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा ॥१॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥२॥

शब्दार्थ—सगुन, अगुन—नोट १ में देखिए। अरूप = व्यक्तरूप रहित। = प्राकृतरूप रहित, चिदानंदरूपवाला। अलख (अलक्ष्य) = जो देख न पड़े।

अर्थ—सगुण और निर्गुणमें कुछ भेद नहीं, मुनि, पुराण, पंडित और वेद (ऐसा) कहते हैं ॥१॥ जो निर्गुण, (व्यक्त) रूपरहित, अलक्ष्य और अजन्मा है वही भक्तके प्रेमके वश सगुण (व्यक्त गुणयुक्त) होता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'सगुनहि अगुनहि नहि⋯।' इति। पूर्व दोहा ११५ (५) में कहा कि 'जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥' अब अगुन-सगुनका विवेक कहते हैं कि इनमें कोई भेद नहीं है। निर्गुण सगुणमें कुछ भेद नहीं है, इस कथनका भाव यह है कि जैसे निर्गुणमें मोहादि विकार नहीं हैं वैसे ही सगुणमें भी विकार नहीं हैं। निर्गुणमें सगुणसे बड़ा भेद समझ पड़ता है, निर्गुणमें किंचित् भी विकार नहीं है और सगुणमें सभी विकार देख पड़ते हैं (यद्यपि वस्तुतः ये भी विकार नहीं हैं), इसीसे इनमें अभेद कहा। दोनोंमें अभेद है, कोई भी भेद नहीं है, इसमें 'मुनि पुराण बुध और वेद' का प्रमाण देते हैं—'गावहिं मुनि⋯'।

❋ सिद्धान्त ❋

☞१—समन्वयसिद्धान्तानुसार ब्रह्म वस्तुतः गुणसामान्याभावयुक्त है ही नहीं। वह सदा दया, क्षमा, वात्सल्य आदि दिव्य गुणों और सम्यक् ऐश्वर्योंसे युक्त है। दिव्य गुणोंकी दो अवस्थायें हैं। एक

व्यक्त, दूसरी अव्यक्त। जब दिव्य गुण अव्यक्त अवस्थामें रहते हैं तब ब्रह्मको निर्गुण वा अगुण कहा जाता है। अगुण=अ (नहीं)+(व्यक्त) गुण ।=नहीं हैं व्यक्त गुण जिसमें। अथवा, अगुण=अव्यक्त हैं गुण जिसके। यह मध्यमपदलोपी समासद्वारा अर्थ होगा।

'अगुण' का अर्थ मानसके बहुतेरे प्रसंगोंमें इसी प्रकार होगा। गोस्वामीजीका अभिप्राय भी यही जान पड़ता है जैसा कि अनेक प्रसंगोंपर विचार करनेसे सिद्ध होता है; यथा 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥···एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥···निर्गुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार। १.२३।", "जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥ ३.१३।"—(इसमें यद्यपि 'अगुन' शब्द नहीं है परंतु अंतिम चरणके 'सगुन' शब्दसे स्पष्ट है कि प्रथम दो चरणोंमें 'निर्गुण' स्वरूपका वर्णन है),"लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥··· बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥ ७।१११।" इत्यादि। और "कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥ ६।११३।" में तो स्पष्ट ही कर दिया गया है।

यद्यपि 'निर्गुण' शब्दका अर्थ समन्वय-सिद्धान्तके विद्वानोंने "मायिक गुणोंसे रहित" किया है तथापि यह अर्थ मानसके ऐसे-ऐसे कतिपय प्रसंगोंमें संगत नहीं होता।

जैसे कि प्रकृत प्रसंगमें 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।' से जना रहे हैं कि सगुण और अगुण दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं जो अनुभवमें आती हैं। आपाततः भिन्न अवस्था होनेसे इनको दो मान सकते हैं परंतु विचारपूर्वक सूक्ष्म दृष्टिसे देखने पर उनमें भेद नहीं है, यही बात यहाँ कही गई है। अब 'अगुन' का अर्थ 'मायिक गुणोंसे रहित' लेनेसे यह आपत्ति पड़ती है कि तब सानिध्यात् 'सगुण' का अर्थ भी उसी ढंग-से 'मायिक गुणोंसे युक्त' होगा जो अत्यंत अनिष्ट है। दूसरे, जो मायिक गुणोंसे रहित है वह दिव्यगुणोंसे युक्त है इस कथनसे कोई विशेषता नहीं आती। तीसरे, 'मायिक गुणोंसे रहित' और 'दिव्यगुणोंसे युक्त' ये विशेषण व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओंमें समान रूपसे लग सकते हैं तब फिर 'नहिं कुछ भेदा' शब्दोंका महत्व ही क्या रह जाता है?

२ अद्वैत सिद्धान्तमें ब्रह्मको निर्गुण अर्थात् दिव्य (अर्थात् सात्विक) और अदिव्य (अर्थात् राजस तामस) सर्वगुणोंसे रहित केवल सच्चिदानंदस्वरूप माना जाता है। ध्यान रहे कि 'सच्चिदानन्द' गुण नहीं है किंतु ब्रह्मका स्वरूप ही है। उपनिषद् पुराण आदिमें जो माया प्रकृति अव्यक्त आदि नामोंसे कही जाती है, वह ब्रह्मकी शक्ति है। उसके सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। मायामें ये तीनों गुण समान अवस्थामें रहते हैं। जब इन गुणोंमें मिश्रण आरंभ होता है तब महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत आदि सब सृष्टि अनुभवमें आती है। इस मायाके दो भेद हैं-विद्या और अविद्या। विद्योपाधि ब्रह्मको ईश्वर कहा जाता है। यह ईश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ एवं भक्तवत्सल तथा दया क्षमा आदि गुणोंसे युक्त है। यद्यपि ये सब गुण मायाके हैं ब्रह्मके नहीं, तथापि माया स्वयं जड़ है, उसको स्वयं कुछ बल नहीं है, वह चिद्रूप ब्रह्मके आश्रयसे ही सब कुछ करती है; जैसा मानसमें ही कहा है—"एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें। ३.१५.६।" अतः इन मायाके गुणोंका आदि आश्रय होनेसे ब्रह्मको 'सगुण' कहा जाता है परंतु वह वस्तुतः है निर्गुण।

सत्व गुण भी मायाका ही है तथापि मायाका परिवार जहाँ-जहाँ गिनाया गया है वहाँ-वहाँ काम क्रोधादि राजस तामस गुणोंका ही उल्लेख मिलता है; जिससे स्पष्ट है कि दया क्षमा वात्सल्य आदि सात्त्विक गुण जो कि साधारण जीवों तकमें देख पड़ते हैं वे जीवको मायासे छुड़ानेवाले हैं। इसीसे उनको मायाके

परिवारमें नहीं गिनाया गया। जैसे मोक्षादिकी कामना कामना नहीं कही जाती, वैसे ही सात्त्विक गुण मायाके होनेपर भी उनकी गणना मायामें नहीं की जाती। अतः जैसे जीवोंके सात्विक गुण मायामें नहीं गिने जाते वैसे ही ईश्वरके जो शुद्ध सात्विक गुण हैं वे भी मायाके नहीं माने जाकर ईश्वरके ही माने जाते हैं यद्यपि वे गुण हैं मायाके ही।

टिप्पणी—२ "गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा" इति। अर्थात् हमारे इस वाक्यके कि 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा' ये सब प्रमाण हैं। 'सगुनहि...' ये वचन शिवजीके हैं। इन वचनोंको कहकर वे जनाते हैं कि हम भी यही कहते हैं। यथा 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम।' यही प्रथम वचन है।

वि० त्रि०—शास्त्रका अनुवाद बाँच लेनेसे कोई शास्त्रके मर्मको नहीं जान सकता। उसे तो गुरुपरंपरासे मननशील महात्मा लोग जानते हैं। अतः वेद पुराणके साथ ही, मुनि और बुधको भी प्रमाण दे रहे हैं।

नोट—मुनि, पुराण, बुध और वेदोंके गानेके प्रमाण, यथा (क्रमसे)—

(क) "निरंजनंनिष्प्रतिमं निरीहं निराश्रयं निष्कलमप्रपंचम्। नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं निरन्तरं राममहं भजामि।", "रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात् किंचिन्न विद्यते। तस्माद्रामस्वरूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्।" (रा० स्तव० ५६, ६४), अर्थात् निर्मल, निरुपम, इच्छासे रहित, जिनको किसीका आश्रय नहीं है, निरवयव, प्रपंचसे रहित, अविनाशी, जिनका स्वरूप निर्विषय है ऐसे श्रीरामजीको मैं निरंतर भजता हूँ॥ ५६॥ श्रीरामजी ही सत्य पर-ब्रह्म हैं। उनके बिना और कुछ नहीं है, अतः यह जगत् श्रीरामजीका ही स्वरूप है (यह बात) सत्य है। अथवा यह जगत् सत्य है, सत्य है॥ ६४॥

(ख) "सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते॥" (विष्णुपु०)। अर्थात् सत्व, रज, और तम ये प्रकृतिके गुण हैं। ये गुण भगवान्में नहीं हैं, वह सर्व शुद्ध पदार्थोंसे शुद्ध है। वह आदि पुरुष (मेरे ऊपर) प्रसन्न हों॥ शास्त्रोंमें जो भगवान्को निर्गुण कहा जाता है इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् मायाके तुच्छ गुणोंसे रहित हैं॥

पुनश्च "परमानन्दसंदोहो ज्ञानमात्रश्च सर्वशः। सर्वैर्गुणैः परिपूर्णः सर्वदोष विवर्जितः॥" (वराहपु०) अर्थात् वह परमात्मा श्रेष्ठ आनंदसे परिपूर्ण, ज्ञानस्वरूप, और सर्वव्यापक है। वह सर्व (दिव्य) गुणोंसे परिपूर्ण और सर्व दोषोंसे रहित है।

"समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः। तेजो बलैश्वर्य महावबोध सुवीर्य शक्त्यादि गुणैकराशिः॥ परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः संति परावरेशे।" (विष्णु पु० ६.५.८४—८५) अर्थात् सर्व मंगलकारी गुणोंसे युक्त, अपने शक्तिके लेशमात्रसे जो अनंत ब्रह्मांडोंको धारण करते हैं, जो तेज, बल, ऐश्वर्य, आदि गुणोंसे युक्त हैं (हम लोगोंके दृष्टिसे) श्रेष्ठ (देवता आदि) जिसके अपेक्षा छोटे हैं ऐसे जिस ईश्वरमें क्लेश आदि कुछ भी नहीं हैं वे बड़ोंके भी बड़े हैं।

'समस्त हेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्'''' (विष्णु पु० १.२२.५३) विष्णु जिनका नाम है ऐसा श्रेष्ठ पद सर्व त्याज्य (गुण आदि) से रहित है।

(ग) "निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बंधाद्युपपद्यन्ते" (जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यजी। श्रीभाष्य)। अर्थात् परब्रह्मके विषयमें (श्रुति पुराणादिमें) जो निर्गुण बोधक वाक्य मिलते हैं उनका परब्रह्ममें त्याज्य गुणोंका संबंध न होनेसे प्रतिपादन किया जाता है। 'स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेष कल्याणगुणैकराशिम्।" (जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजी)। अर्थात् समस्त दोषोंसे रहित और स्वभावतः जिनमें कल्याणकारी दिव्य गुणोंका एक समूह स्थित है।

प्राकृतगुणरहितत्त्वेन दिव्यगुणवत्त्वेन च निर्गुण सगुणपदवाच्यं ब्रह्म एकमेव।" (बिन्द्वाचार्य

जगद्गुरु श्रीरामप्रसादाचार्यजी) प्राकृत गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण और दिव्यगुणोंसे युक्त होनेसे सगुण शब्दोंसे कहा जानेवाला परब्रह्म एक ही है।

(घ) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।" (श्वेताश्वतर उ० ६-८) इसपर ब्रह्मकी स्वाभाविक ज्ञान बलक्रियात्मक बिबिध परा-शक्ति सुनी जाती है। "य आत्मापहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः ।" (छांदोग्य ८.७.१) । अर्थात् आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासादिसे रहित, और सत्यकाम सत्यसंकल्प है।

टिप्पणी ३ "अगुन अरूप अलख अज जोई।···" इति। (क) यह श्रीपार्वतीजीके "राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।" इस प्रश्नका उत्तर है। चारों विशेषणोंका स्वरूप आगे दृष्टान्तद्वारा दिखाते हैं। (ख) "भगत प्रेम बस सगुन सो होई" यह सगुण होनेका हेतु कहते हैं, यथा "तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरौं देह नहिं आन निहोरे। ५.४८।', 'ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥ १.१३।', "भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप। ७.७२।" भगवती श्रुति भी कहती है—'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' (रा०पू०ता०)। यह पार्वतीजीके प्रथम प्रश्न "प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी। ११०.४।" का उत्तर यहाँसे चला।

मा० त० वि०—जो अगुण अर्थात् सच्चिदानंदमात्र है, अरूप अर्थात् प्राकृतरूपरहित अनादिरूप है, अलख अर्थात् प्राकृत दृष्टिसे गोचर नहीं किंतु निज शक्तिसे (गोचर होता है) और जो अज है अर्थात् मातापिताके रजवीर्यसे उत्पन्न नहीं, वही भक्तके प्रेमके मारे सगुण होता है, जब भक्तको देखा कि वह तदाश्रय, तल्लीन, तद्रूप हो गया, फिर तो सगुणरूप बनाका बना ही है अर्थात् स्वतंत्र सच्चिदानन्दरूप ही किसीको साकेतादि सर्वोत्कृष्ट लोकोंमें अद्भुत लीला संपन्न, किसीको पुत्रस। इत्यादि यथायोग्य भावात्मक प्रेमकी बाहुल्यतासे, न कि जीवोंकी तरह परतंत्र, अल्पज्ञ आदि गुणविशिष्ट हो जाता है। ऐसे निर्विशेष तत्त्वका सविशेष होना क्यों कर (सिद्ध होता है) यह आगे कहते हैं "जल हिम···"।

वि० त्रि०—अगुण, अरूप, अव्यक्त और अज जिस ब्रह्मको कहते हैं, वह भक्तके प्रेमके वश हो जाता है। जैसा भक्त चाहता है वैसा वह बन जाता है। यथा 'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। गीता ७।२१।' वह निर्गुणसे सगुण, अरूपसे रूपवान्, अव्यक्तसे व्यक्त और अजसे जन्मवाला हो जाता है।

वे० भू०—भाव यह है कि जो अगुण है अर्थात् सच्चिदानन्दमात्र है, प्राकृत गुण (जैसे काम क्रोधादि) रहित है, जो प्राकृतरूप श्यामत्व, गौरत्व तथा बाल, पौगंड, युवा आदि अवस्थापन्न रूपरहित है वा जिसका रूप अनादि है, जो अलख है अर्थात् जो प्राकृत नेत्रादि इन्द्रियोंसे अगोचर है किंतु अपनी शक्तिसे ही गोचर होता है, जो माता-पिताके वीर्यसे उत्पन्न नहीं एवं जिनका जन्ममरणादि विकारोंसे रहित शुद्ध सत्त्वात्मक विग्रह है वे ही भगवान् भक्तोंके प्रेमवश दिखाने मात्रको प्राकृत गुणोंका भी ग्रहण करते हैं। यथा "शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिल बुद्ध्यवस्थं चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम्। तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्यामास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः। भा० ४.७.२६।', "मनहु महा बिरही अति कामी। ३.३०.१६।', "नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयो रोष रन रावन मारा।" तथा प्राकृतरूपोचित अवस्थाओंका ग्रहण भी अपने दिव्य विग्रहमें करते हैं; यथा "भये कुमार जबहिं सब भ्राता। १.२०४।', "बय किसोर सुखमासदन···। १.२२०।' इत्यादि। इसीसे प्राकृत इन्द्रियोंसे ग्राह्य भी होते हैं, यथा "नयन बिषय मो कहँ भयेउ। १.३४१।', "समरथ धाइ बिलोकहिं जाई।···२.१२१।", "सब सिसु एहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात। तन पुलकहिं अति हरषु हिय देखि देखि दोउ भ्रात। १।२२४।' इत्यादि।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें ॥३॥

शब्दार्थ—हिम उपल=बर्फका पत्थर अर्थात् ओला। बिलग = अलग, भेदवाले।

अर्थ—जो गुणरहित है वही सगुण है। (यह) कैसे ? जैसे जल और ओलेमें भेद नहीं ॥३॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीपार्वतीजीको संदेह था कि निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं होता, यथा "ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।१.५०।' श्रीशिवजी ने निर्गुणका सगुण होना कहकर उनका यह संदेह दूर किया। आगे दोहेतक श्रीरामरूपमें जो संदेह है उसे दूर करते हैं। (ख) "जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें" इति। अर्थात् जैसे जल और हिमउपलमें कुछ भेद नहीं है, इसी प्रकार अगुण और सगुणमें भेद नहीं है। जो अरूप था उसका रूप इस प्रकारसे हुआ जैसे जलसे हिमउपल हुआ, जो अगुण था वह ऐसा सगुण हुआ जैसे हिमउपल, तथा जो अलख था वह ऐसा लख पड़ा, जो अज था उसने इस प्रकार जन्म लिया। ☞ हिमउपलमें ही सब दिखा दिया। प्रथम जो जल था वही कारण पाकर पत्थर (ओला) हुआ और फिर जल हो गया। ऐसे ही जो प्रथम निर्गुण था वह (भक्तप्रेमरूपी) कारण पाकर सगुण (व्यक्त गुणवाला) हुआ और फिर निर्गुण (अव्यक्त गणवाला) हो गया। [(ग) जो निर्गुण है वह सगणरूप कैसे धारण करता है, इसका उत्तर यहाँ दिया कि जो निर्गुण है वही सगुण है जैसे जल और ओला। भाव कि तुम सगुणमें विकार आरोपण करती हो, वस्तुतः उसमें विकार है नहीं। जैसे जल निर्विकार है वैसे ही ओला भी। ओला भी जल ही है और कुछ नहीं। वैसेही सगुण और निर्गुणमें भेद नहीं। (खर्रा)]।

मा० त० वि०—जल कारण पाकर ओला बन गया पर ज्योंका त्यों स्वयमेव रसरूपही है न कि औरका और होगया।

नोट—१ 'जल हिम उपल' का दृष्टान्त देनेका तात्पर्य यह है कि जैसे जलमें कठिनता, वर्तुलाकार और विशिष्ट श्वेतता आदि गुण प्रथम देखनेमें नहीं आते परन्तु जब शैत्यसंयोग होता है तब बिना किसी अन्य वस्तुके मिलाये ही वह बर्फ बन जाता है, उस समय उसमें ये सब गुण प्रकट होजाते हैं और तद्नुसार उसका नामभी दूसरा हो जाता है। अज्ञानी लोग इसे जलसे भिन्न समझते हैं पर ज्ञानी इसमें और जलमें अभेद मानेंगे। यदि जलमें कोई अन्य वस्तु मिलनेसे ओला बनता तो कहा जा सकता था कि उपर्युक्त धर्म उस मिलाये हुये वस्तुके हैं पर इसमें कोई अन्य वस्तु न मिलानेपर भी ये गुणधर्म उत्पन्न होते हैं अतः यह सिद्ध है कि ये गुणधर्म पूर्वही स्थित थे, प्रथम अव्यक्त थे, अब व्यक्त हो गए। जैसे कोई अपरिचित मनुष्य हमारे सामने आवे तो हम उसे मनुष्य ही कहते हैं। यदि वह गाने लगा तो हम उसे गवैया कहेंगे अर्थात् गुणके प्रकट होनेपर हम कहेंगे कि गवैया आया है। यदि हम उस मनुष्यके गुण पहलेसेही जानते हैं तो न गानेपर भी हम उसे गवैया ही कहते हैं। इसी तरह अव्यक्त ब्रह्मको न जाननेपर हम उसके गुण प्रकट होनेपर उसे सगुण कहते हैं और उसके गुण पूर्वसेही जाननेपर अव्यक्तावस्थामेंभी हम उसे उन गुणोंसे युक्त कहते हैं। जैसे अव्यक्तावस्थामें भी " जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता ....." आदि कहकर स्तुति की गई है और सगुण होने पर भी उसको "जय सगन निर्गुण रूप अनूप भूप सिरोमने। ...." आदि कहा है।

वेदान्तभूषणजी—जल और ओलेमें केवल द्रवत्व और कठिनत्वका भेद रहता है। अर्थात् वही पदार्थ जब द्रवत्वरहित तथा कठिनत्वविशिष्ट रहता है तब ओला कहा जाता है और जब द्रवत्व-विशिष्ट तथा कठिनत्वरहित रहता है तब जल कहा जाता है। केवल द्रवत्व एवं कठिनत्वके उद्भूतानुद्भूतके कारण वह दो नामसे कहा जाता है। 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्। छांदोग्य ६. ३. ४।' के अनुसार अप् तत्वमें चतुर्थांश तेजतत्व तथा चतुर्थांश पृथ्वीतत्व है, इसलिये जिस समय तेज तत्वकी अधिकता

रहती है उस समय अप् तत्व द्रवत्वाधिक्यके कारण जल कहा जाता है और जिस समय पृथ्वी-तत्वकी अधिकता रहती है उस समय अप् तत्व कठोरतायुक्त होनेके कारण हिम, उपल, ओला, बर्फ आदि कहलाता है। केवल इसके अतिरिक्त जल और ओलेमें कोई भेद नहीं रहता। इसी तरह स्वाभाविक दिव्यगुण-विशिष्ट सगुण और स्वाभाविक हेयगुणरहित निर्गुणमें केवल ऐश्वर्य्य तथा माधुर्य्यके गोपनत्व एवं प्रदर्शनत्व-मात्रका भेद रहता है। अर्थात् जब ब्रह्म अपने ऐश्वर्य्यके आधिक्यका गोपन करके माधुर्य्यके आधिक्यका प्रदर्शन प्राकृत-इन्द्रिय-विशिष्ट जीवोंको कराता है तब सगुण और जब माधुर्य्याधिक्यका गोपन करके केवल शास्त्रों द्वारा ऐश्वर्य्याधिक्यका प्रदर्शन कराता है तब निर्गुण कहा जाता है। जिस तरह अप् तत्वके द्रवत्व एवं कठिनत्वका कारण तेज एवं पृथ्वीतत्वकी उद्भूतता तथा अनुद्भूतता है उसी तरह ब्रह्मके उभयरूप-प्रदर्शनत्वका कारण 'भगत प्रेम बस सगुन सो होई', 'सोइ दसरथ-सुत भगतहित कोसलपति भगवान' इत्यादिके अनुसार भक्तपरवशता करुणा आदिको प्रगट करनेसे सगुण तथा इससे भिन्न ईश्वरत्व-प्रदर्शनकालमें निर्गुण कहलाता है।

वि० त्रि०—शास्त्रकी मर्यादा कहकर अब उसी मर्यादाके भीतर तर्क भी दे देते हैं। प्रश्न यह है कि निर्गुण और सगुण दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, एकमें ही विरुद्धधर्माश्रयत्व कैसे सम्भव है? उत्तर देते हैं कि दो पदार्थ नहीं हैं, अवस्थाभेदसे स्वरूपमें भेद मालूम पड़ता है। वास्तवमें भेद कुछ नहीं। जैसे जलका स्वाभाविक गुण द्रवत्व है, परन्तु शीतके वश होकर उसमें दृढ़ता आ जाती है और वह पत्थर सा दृढ़ हो जाता है, जो बात उसमें नहीं थी वह आ जाती है।—इस भाँति 'जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि' इस मोहांशको मिटाया।

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ॥४॥

शब्दार्थ—तिमिर = अंधकार। पतंग = सूर्य। प्रसंग (सं०) = घनिष्ठ संबंध, संबंध-प्राप्ति।❀

अर्थ—जिसका नाम भ्रमरूपी अंधकार (नष्ट करनेके) लिये सूर्यके समान है उसमें मोहका संबंध कैसे कहा जा सकता है? ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कथाका माहात्म्य कहा, यथा "रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुख-दानि।…११३।', 'रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी॥ रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी।' इत्यादि; अब नाममाहात्म्य कहते हैं—'जासु नाम भ्रम…'। और आगे रूपमाहात्म्य कहते हैं। (ख) –(यहाँ पार्वतीजीके "नारि बिरह मति भोरि" का उत्तर है)। (ग) 'जासु नाम भ्रम तिमिरि पतंगा' इति। अर्थात् जिनका नाम लेनेसे दूसरोंके भ्रम मिट जाते हैं; यथा "सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥…१।२५।७।' [भाव कि प्रभुका तो नाममात्र भ्रमका नाशक है। जहाँ सूर्य प्रकाशमान है वहाँ अन्धकार कैसा? नामके तेजके सन्मुख मोह जा ही नहीं सकता; यथा "दिनकर के उदय जैसे तिमिरि तोम फटत" (विनय)। (घ) 'तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा' अर्थात् जिसके नाममें यह गुण है कि वह दूसरेके मोह-भ्रमको दूर कर देता है, उसमें मोह-संबन्धप्राप्ति असम्भव है, उसमें मोह होनेकी चर्चा चलाना अयोग्य है, मोह होना तो कोसों दूर है, भाव यह कि भ्रम अपनेमें है, उसमें मोहका लेश संबन्ध नहीं है। पार्वतीजीने जो कहा था कि 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। १।५१।२।' यही 'बिमोह प्रसंग' है, जिसकी ओर यहाँ इशारा है। (यह समाधान 'कैमुतिकन्याय' से किया गया है। जिसने बड़े बड़े काम किये उसे छोटा काम क्या बड़ी बात है)]।

नोट—भुशुण्डीजीनेभी ऐसा ही कहा है। यथा 'निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख

❀ प्रथम संस्करणमें 'प्रसंग' का अर्थ 'चर्चा' लिखा गया था और इस चरणका अर्थ 'उसके सम्बन्धमें मोहकी चर्चा कैसे ला सकते हैं' किया गया था।

संदोहा । प्रकृति-पार प्रभु सब-उर-बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ।। इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं ।। ७।७२ ।' यहाँ परंपरित रूपक और वक्रोक्तिका मिश्रण है ।

वि० त्रि०—नाम और रूप मायाके अंश हैं । इसलिये उन्हें उपाधि कहा । यथा 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी' । स्वरूप तो उनका सच्चिदानन्द है, पर इस नाम उपाधिमें, जिसके सम्बन्धसे ऐसा सामर्थ्य आ जाता है कि सूर्यकान्तमणिकी भाँति पापरूपी रूईकी राशिको भस्म करके ज्ञानका कारण होता है, वह विरह विकल नहीं हो सकता ।

राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा ।।५।।
सहज प्रकासरूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना ।।६।।

शब्दार्थ—दिनेसा (दिनेश)=दिनके स्वामी; सूर्य । लव लेसा (लवलेश)=किंचित् भी, लेश वा नाममात्र । बिहान = सवेरा ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानंद (रूप) सूर्य हैं । वहाँ मोहरूपी रात्रिका लेशमात्र नहीं है ।।५।। वे स्वाभाविक ही प्रकाशरूप और भगवान् (षडैश्वर्ययुक्त) हैं । वहाँ विज्ञानरूपी सवेरा ही नहीं होता ।।६।।

टिप्पणी— १ (क) ''राम सच्चिदानंद'' का भाव कि सच्चिदानन्दरूपमें मोहादि विकार नहीं हैं; इसीसे ऐश्वर्यमें सच्चिदानन्द कहते हैं; यथा 'जय सच्चिदानंद जग पावन । १।५० ।', 'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा । कहि सच्चिदानंद परधामा । १।५० ।', 'जानेउँ राम प्रताप प्रभु चिदानंद संदोह ॥ ७।५२ ।', 'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप । ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप । ७।४७ ।', 'सोइ सच्चिदानंद घन रामा ।। अज बिज्ञान रूप बल धामा ।।··· ।७।७२।', 'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन ।७।६८।', 'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भएउ मोहि मोह । कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह । ७।७७ ।' इत्यादि, तथा यहाँ 'राम सच्चिदानंद दिनेसा ।' कहा । (ख) नामको सूर्य कह आए; यथा 'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । अब रूपको सूर्य कहते हैं । इस तरह नाम-नामीसे अभेद दिखाया ।—['न भेदो नाम नामिनोः ।' पुनः भाव कि—(१) पहले दूसरे के अंधकारको दूर करना कहा । फिर स्वयंप्रकाशरूप होना कहकर दर्शित किया कि उनके पास तो अंधकार जा ही नहीं सकता । (२) नामको पहले कहा क्योंकि नामके अभ्याससे रूपका साक्षात्कार होता है] ।

नोट—१ ''राम सच्चिदानंद दिनेसा'' का भाव कि जैसे सूर्योदय होता है तो किसीको बतलाना नहीं पड़ता कि यह सूर्य है, सब देखकर आपही जान लेते हैं, वैसेही श्रीरामजीके रूप, चरित्र, गुण आदि देखकर उन्हें सच्चिदानन्द भगवान् माननाही पड़ता है, प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रहती । परशुरामगर्वदलन, बालिवध, खरदूषणवध, सेतुबंधन इत्यादि प्रसंग ऐसे ही हैं । 'सच्चिदानंद' पद देकर सूर्यसे इनमें विशेषता दिखाई । (मा० पी० प्र० सं) ।

टिप्पणी—२ 'नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा' इति । भाव कि सूर्यके पास रात्रि नहीं होती, इसी प्रकार सच्चिदानंदरूपमें मोह नहीं होता । यथा 'चिदानंद संदोह मोहापहारी । ७।१०८ ।' सूर्य रात्रिका 'अपहारी' है, वैसे ही सच्चिदानन्द 'मोहापहारी' है । (यहाँ परंपरित रूपक अलंकार है) ।

३ ''सहज प्रकासरूप भगवाना ।···'' इति । (क) भगवान्‌से सूचित किया कि समस्त ब्रह्माण्डोंके तथा मायाके पति हैं; यथा ''सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी । अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी । १।५१ ।'' (ख) 'नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा' कथनसे पाया वा समझा गया कि मोह नहीं है तो ज्ञानरूपी बिहान है, अतएव उसके निराकरणार्थ कहते हैं कि 'सहज प्रकासरूप भगवाना ।··' । [भाव कि जिस प्रकार सूर्य सहज प्रकाशरूप है, उसमें अंधकार या निशाका लेश नहीं,

दिनकाभी प्रवेश नहीं; पृथ्वीके जिस भागमें उसकी विद्यमानता होती है, वहाँ दिनकी कल्पना की जाती है और जहाँ उसका अभाव रहता है वहाँ रात्रिकी भावना होती है, अर्थात् उसकी अभाव-दशाको रात्रि कहते हैं और भावकी अवस्थाको दिन; वस्तुतः उसमें इन दोनोंकी सम्भावना नहीं, वह शुद्ध और सहज प्रकाशरूप है; यथा "सहज प्रकाशरूपेच रवौ न दिशा न दिनम्।" इसी तरह सच्चिदानन्द भगवान् परम ज्ञानके तत्वभूत स्वतः और स्वाभाविक प्रकाशमय अविच्छिन्न ज्ञानके सूर्य हैं। इसलिये उन्हें ज्ञानकी अपेक्षा नहीं।—'देखिय रबिहि कि दीप कर लीन्हे।' वहाँ न अज्ञान है न ज्ञान, ज्ञान वा अज्ञान होना जीवधर्म है जैसा आगे कहते हैं। जैसे रातकी अपेक्षा दिन है वैसेही पहले अज्ञान होता है तब ज्ञान होता है; यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो एकरस स्वतः प्रकाश है। प्रभु स्वतः प्रकाशरूप हैं और उनका बड़ा भारी ऐश्वर्य है। 'नहिं तहं मोह निसा...' से दिखाया कि उनमें अज्ञान नहीं है और 'नहिं तहं पुनि बिज्ञान बिहाना' से दिखाया कि ज्ञान भी नहीं है]

पुनः, (ग) 'सहज प्रकाशरूप' कहकर जनाया कि सूर्य सहज प्रकाशरूप नहीं है। वह श्रीसीतारामजी हीसे प्रकाश पाता है। यथा "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥ गीता १५।१२।" (अर्थात् जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ संपूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है...उसको तू मेरा ही तेज जान)। और, श्रीरामचन्द्रजी सहज प्रकाशरूप हैं, किसीके प्रकाशसे प्रकाशरूप नहीं हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं।

नोट—२ 'नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना' इति। भाव कि सवेरा तो वहाँ ही कहा जा सकता है जहाँ रात रही हो। जहाँ रात है ही नहीं वहाँ यह नहीं कह सकते कि सवेरा हुआ। वैसेही जहाँ अज्ञानरूपी रात्रि है ही नहीं वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान हुआ; जहाँ मोह रहा हो वहीं ज्ञानसे उसके नाश होनेपर विज्ञानरूप सवेरा होना कहा जा सकता है। [यहाँ अधिक अभेद रूपक है।—(वीरकवि)]।

पुनः, यों भी कह सकते हैं कि उदय तभी कहा जा सकता है जब सूर्य्य अस्त हुआ हो, और जहाँ सूर्य्य सर्वकाल है, अस्त कभी होता ही नहीं, वहाँ तो उसका उदय होना अथवा प्रभात होना नहीं कहा जा सकता। इसी तरह प्रभु तो सदा विज्ञानरूप ही हैं वहाँ विज्ञानका उदय होना नहीं कहा जा सकता।

श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि "लोग कहते हैं कि सूर्य्य रात्रिका शत्रु है, जब भानुने रात देखी ही नहीं तो उसका नाशक कैसे? वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीकी आत्मामें अविद्या फुरती ही नहीं तो उसकी अभाव क्रिया कैसे कही जाय? जो कोई कहे कि उनमें अज्ञान नहीं पर ज्ञान तो है, उसपर कहते हैं कि वे सहज प्रकाशरूप हैं अर्थात् उनका प्रकाश उपजने या विनाश होनेवाला नहीं है। उनमें ज्ञानका होना ऐसे कहते हैं जैसे सूर्य्यके लिए दिन—दोनों ही असम्भव। तात्पर्य्य यह कि जिन्होंने निशा देखी है वे दिनको भी जानते हैं; जिस भानुमें रात कभी हुई नहीं उसमें दिन किसको कहिये। वैसे ही जिन जीवोंकी बुद्धिमें अविद्या है सो अविद्याकी निवृत्त्यवस्थाको ज्ञान कहते हैं और जिस सच्चिदानन्द आत्मामें अज्ञान कुछ फुरा ही नहीं वहाँ ज्ञान किसको हो और किसका"

श्रीपंजाबीजीके लेखका भाव यह है कि ज्ञान वा अज्ञानका होना जीवमें स्थापित हो सकता है, राममें नहीं। जीव अज्ञानी है, इसलिए उसे ज्ञानका भास होता है। जिसमें अज्ञान है ही नहीं उसमें ज्ञानका भास कैसा? जिसने रात्रिको देखा है उसे दिनका भान होगा, जिसने रात्रि देखी ही नहीं और सदा प्रकाश ही में रहता है वह तो यही जानेगा कि केवल यही दशा रहती है, दिनका उसे नाम तक मालूम न होगा। इसी प्रकार राममें अज्ञानकी स्थापना नहीं हो सकती। अतः ज्ञानकी भी स्थापना नहीं की जा सकती। वहाँ तो एकरूप सदा ही ज्योति ही ज्योति है, प्रकाश ही प्रकाश है, विज्ञान ही विज्ञान है।

३ 'पुनि' इति। पूर्व लिखा जा चुका है कि यह शब्द गहोरावासियोंमें विना अर्थकाही बोला जाता है। यथा 'मैं पुनि पुत्रबधू असि पाई' में 'मैं पुनि' = मैंने, 'मैं पुनि गएउँ बंधु संग लागा' में 'मैं पुनि' = मैं। 'पुनि' का

अर्थ 'और' भी ले सकते हैं। अथवा 'पुनि' का भाव कि जैसे रातके बाद फिर दिन, अज्ञानके बाद फिर ज्ञान, वैसा यहां पुनर्विज्ञानका प्रसंग नहीं।

४ इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक ये हैं—"अज्ञानसंज्ञौ भवबंधमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्। अजस्र चिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥ भा० १०.१४.२६।" अर्थात् भवबंधन और उससे मोक्ष दोनों ही अज्ञानके नाम हैं। ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न अस्तित्व नहीं रखते। जैसे सूर्यमें दिन और रातका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्वमें न तो बन्धन ही है और न मोक्ष ही। पुनश्च, "यथाप्रकाशो न तु विद्यते रवौ ज्योतिः स्वभावे परमेश्वरे तथा। विशुद्धविज्ञानघने रघूत्तमेऽविद्या कथं स्यात्परतः परात्मनि॥ २१॥ नाह्नो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेत् प्रकाशरूपा व्यभिचारतः क्वचित्। ज्ञानं तथाज्ञानमिदं द्वयं हरौ रामे कथं स्थास्यति शुद्ध चिद्घने॥ २३॥ तस्मात्परानन्दमये रघूत्तमे विज्ञानरूपे हि न विद्यते तमः। अज्ञानसाक्षिण्यरविन्दलोचने मायाश्रयत्वान्नहि मोहकारणम्॥२४॥" (अ० रा० १.१) अर्थात् जिस प्रकार सूर्यमें कभी अंधकार नहीं रहता, उसी प्रकार प्रकृत्यादिसे अतीत, विशुद्ध ज्ञानघन, स्वतः प्रकाशरूप, परमेश्वर परमात्मा राममें भी अविद्या नहीं रह सकती॥ २१॥ प्रकाशरूपताका कभी व्यभिचार न होनेसे जिस प्रकार सूर्यमें रात-दिनका भेद नहीं होता, वह सर्वदा एक समान प्रकाशमान रहता है-उसी प्रकार शुद्ध चेतनघन भगवान् राममें ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रह सकते हैं? २३। अतएव परानन्दस्वरूप विज्ञान अज्ञानसाक्षी कमलनयन भगवान् राममें अज्ञानका लेश भी नहीं; क्योंकि वे मायाके अधिष्ठान हैं; इस लिये वह उन्हें मोहित नहीं कर सकती॥ २४॥

हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥७॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥८॥

शब्दार्थ—अहमिति (अहं इति)=अहं ऐसा।=अहंकार, यथा 'अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा। २८३।६।', 'जिता काम अहमिति मन माहीं। १२७।५।', 'चले हृदय अहमिति अधिकाई। १२६।७।', 'हृदय रूप अहमिति अधिकाई। १३४।१।' परमानंद=परम आनंदस्वरूप। परेश (पर ईश)=सबसे परे जो ब्रह्मा आदि हैं उनके भी स्वामी। सर्वश्रेष्ठ स्वामी। यथा 'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी'। पुराना= पुराणपुरुष।

अर्थ—हर्ष शोक, ज्ञान अज्ञान, अहं ऐसा जो अभिमान अथवा अहंकार और अभिमान (ये सब) जीवके धर्म हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजी (तो) ब्रह्म, व्यापक, परमानंदस्वरूप, परात्पर स्वामी और पुराण-पुरुष हैं, यह सारा जगत् जानता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ "हरष बिषाद..." इति। (क) जीव कर्मवश दुःख सुखका भागी होता है, उसमें ज्ञान और अज्ञान दोनों रहते हैं, परन्तु ईश्वरमें ज्ञान एकरस रहता है। यथा "ज्ञान अखंड एक सीताबर॥ जौं सब के रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥ ७।७८।" (ख) 'अहमिति' अर्थात् मैं। इसीको 'अहंकार' कहते हैं। अहंकार और अभिमानमें भेद यह है कि अहंकार अपनेका होता है और अभिमान वस्तुका होता है कि यह हमारी है। [वैजनाथजीका मत है कि देहव्यवहारको अपना मानना 'अहमिति' है और मैं ब्राह्मण, मैं विद्वान्, मैं धनी, मैं राजा इत्यादि 'अभिमान' है। हमारी समझमें 'अहमिति' 'अहं इति' कहकर अभिमानका स्वरूप क्या है यह बताया है। वि० त्रि० जी 'अहमिति' से अस्मिता और 'अभिमान' से गर्वका अर्थ लेते हैं।] (ग) 'जीव धर्म' इति। ये सब जीवके धर्म हैं। यथा 'माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥ ७।७८।६।' भाव कि तुम श्रीरामजीमें

'विषाद' समझती हो यदि हम उनमें 'हर्ष' कहें, तुम उनमें अज्ञान कहती हो यदि हम उनमें ज्ञान कहें, तो यह भी नहीं बनता; क्योंकि हर्ष विषाद ये सभी जीवके धर्म हैं।

नोट—१ "जीव धर्म···"। अर्थात् ये सब विकार जीवोंमें होते हैं, ईश्वरमें नहीं। उदाहरणार्थ श्रीलोमशमुनि, श्रीसनकादिजी और गरुड़जीको लीजिए। चिरजीवी मुनि श्रीलोमशजी निर्गुणब्रह्मके वेत्ता परम ज्ञानी जो "सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥ ७।१११ ।' ऐसा कहते थे और 'ब्रह्म-ज्ञान-रत मुनि बिज्ञानी' थे, उनको भी क्रोध आ ही गया। श्रीसनकादिजीको भी क्रोध आ गया कि जो "ब्रह्मानंद सदा लयलीना।···समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥ ७।३२ ।", इन्होंने जय विजयको शाप दे ही तो दिया। "गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी। हरिसेवक अति निकट निवासी। ७।५५ ।" सो इनको भी मोह हो ही गया। ये सब विज्ञानी हैं, फिर भी जीव ही तो ठहरे। श्रीरामजी इन द्वन्द्वोंसे परे हैं, जीव नहीं हैं, वे तो 'ब्रह्म व्यापक···' हैं।

टिप्पणी—२ "राम ब्रह्म ब्यापक····" इति। (क) ब्रह्म अर्थात् बृहत् हैं, बड़ेसे भी बहुत बड़े हैं। व्यापक हैं अर्थात् सूक्ष्म हैं। यथा "अणोरणीयान्महतो महीयान्।" इति श्रुतिः। (श्वे० ३।२०)। यह जगत् जानता है, यथा 'सब को प्रभु सब में बसै जानै सब कोइ।' (विनय)। परमानन्दस्वरूप हैं अर्थात् उनमें दुःख कहीं आ ही नहीं सकता। पुराना, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना। १४४।६।

दोहा—पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ ॥११६॥

शब्दार्थ—"पुरुष"—महर्षि पतंजलिके सिद्धान्तानुसार "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।" (समाधिपाद)। अर्थात् पंचक्लेश और कर्मविपाकाशय (कर्मफलभोग) आदिसे अपरामृष्ट (अर्थात् जिनको क्लेशादि स्पर्श भी नहीं कर सकते) वह पुरुषविशेष ईश्वर है। यजुर्वेदमें पुरुषकी व्याख्या इस प्रकार है—'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः।३१।३।' श्वेताश्वतरमें "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्। ३।३।१९" अर्थात् जो सबको जाननेवाले हैं, जिनको जाननेवाला कोई नहीं है, उनको महापुरुष सबके आदि पुरातन और महान् पुरुष कहते हैं। "प्रसिद्ध"=विख्यात अर्थात् वेदों शास्त्रों आदिमें प्रसिद्ध। दूसरा अर्थ 'सिद्ध' शब्दमें 'प्र' उपसर्ग लगाकर 'प्रसिद्ध' शब्द बना हुआ लेकर किया जाता है। इस प्रकार 'प्रसिद्ध'=जिसको उभय विभूतिकी सिद्धि बिना किसी उपायके स्वाभाविक ही प्राप्त हो=उभयविभूतिनायक। इस तरह यह श्रीरामजीका एक विशेषण है; यथा 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' (यजु० ३१।३), 'भोगस्थानं पराऽयोध्या लीलास्थानं त्विदं भुवि। भोगलीलापती रामो निरङ्कुश विभूतिकः।' (सदाशिव संहिता ५)। "प्रकासनिधि"=प्रकाशके अधिष्ठान खज़ाना वा भंडार। प्रगट (प्रकट)=प्रत्यक्ष हैं। "परावर"—'परे अवराः (न्यूनाः) यत्र' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'परावर'का अर्थ है 'जिसमें बड़ेसे बड़े जाकर छोटे होजाते हैं।' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ। यह शब्द परब्रह्म परमात्माके लिये उपनिषदोंमें भी आया है; यथा—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ मुण्डक० २ खण्ड २ श्रुति ८।" अर्थात् उस 'परावर' (परात्पर पुरुषोत्तम) से इस जीवके हृदयकी अविद्यारूप ग्रंथि खुल जाती है और उसके सब संशय कट जाते हैं तथा उसके शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। * नाथ=सबके स्वामी; सर्वेश्वर।—'पतिं विश्वस्य आत्मेश्वरम्'।

* प्रायः अन्य टीकाकारोंने 'परावरनाथ' को एक शब्द मानकर 'परावर' के अर्थ किये हैं—(क) पर=त्रिपादविभूति जो परधाममें है। अवर=एकपादविभूति अखिल ब्रह्माण्डरचना। (वै०)। (ख)

अर्थ—जो पुराण-पुरुष हैं (जिनको 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' नामसे कहा गया है), (वेद-शास्त्रादिमें) प्रसिद्ध हैं एवं उभयविभूतिनायक हैं,† संपूर्ण प्रकाशके अधिष्ठान हैं, प्रकट हैं‡ परावर हैं और सबके नाथ हैं, वेही रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी मेरे स्वामी हैं—ऐसा कहकर श्रीशिवजीने मस्तक नवाया (प्रणाम किया) ॥ ११६ ॥

नोट—१ 'प्रसिद्ध' का अर्थ यदि विख्यात लें तो भाव होगा कि सब कालमें, सब देशमें तथा वेद-शास्त्रपुराणादिमें प्रसिद्ध हैं; यथा 'शास्त्रं न तत्स्यात् नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यात् नहि यत्र रामः । न संहिता यत्र न रामदेवो न सा स्मृतिर्यत्र न रामचन्द्रः ।' (पद्मपुराणे । वै०) 'ब्रह्माविष्णुमहेशाद्या यस्यांशाः लोकसाधकाः । तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे ।' (स्कंद पु० । वै०) ।

२ 'प्रकाशनिधि' इति । भाव यह कि संपूर्ण प्रकाशयुक्त पदार्थोंके जो प्रकाशक हैं, संपूर्ण ज्योतिमानोंका संपूर्ण प्रकाश जिनके प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशद्वारा सम्पादित होता है, सारा जगत् जिनके प्रकाशसे प्रकाशित है; यथा "तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः", "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥" (मुण्ड० २, खण्ड २।९, १०) । 'सब कर परम प्रकाशक जोई'

वैजनाथजीके मतानुसार, 'प्रकाश निधि' = 'जिसके रूपमें संपूर्ण प्रकाश परिपूर्ण है' । यथा "तत्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम् । राजाधिराजं रविमंडलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि" (सनत्कुमारसंहिता), 'एकं चापि परं समस्तजगतां ज्योतिर्मयं कारणम् । प्रागं ते च विकारशून्यमगुणं निर्नामरूपं च यत् । तच्छ्रीरामपदारविन्दनखर प्रान्तस्थ तेजोमलम् । प्रज्ञा वेद विदो वदन्ति परमं तत्वं परं नास्त्यतः ।'' (भा०) । (वै०) । 'प्रकाशनिधि' का विशेष विवरण "ज्योतिश्चरणाविधानात्" ब्रह्मसूत्र १।१।२५ पर श्रीभाष्य, श्रीआनंदभाष्य और श्रीजानकीभाष्य देखना चाहिए ।

३ 'राम सो अवधनृपतिसुत सोई ।....', पार्वतीजीके इस प्रश्नका उत्तर चल रहा है । 'राम ब्रह्म व्यापक....' से अन्तर्यामी स्वरूप कहकर अब सर्वकारणरूप पर-स्वरूप कहते हैं । (रा० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) दोहेका भावार्थ यह है कि जो 'पुरुष, प्रसिद्ध, प्रकाशनिधि और परावर नाथ' इन विशेषणोंसे युक्त हैं वे 'श्रीराम' प्रगट हैं । वे रघुकुलमणि हैं, अर्थात् उन्होंने रघुकुलमें जन्म लिया है । (ख) अन्तमें 'रघुकुलमनि' कहकर (पूर्व कथित) समस्त ऐश्वर्यको माधुर्यमें घटित किया है । (ग) ☞ यही प्रसंग उत्तरकांड दोहा ७२में विस्तारसे कहा गया है । यथा "सोइ सच्चिदानंदघन रामा । अज विज्ञानरूप बलधामा ॥ ३ ॥ व्यापक व्याप्य अखंड अनंता । अखिल अमोघ-सक्ति भगवंता ॥ ४ ॥ अगुन अदभ्र गिरा-

---

पर=जीव । अवर=माया । (ग) परावर='ब्रह्मादि पूर्वज, मनु आदि' । (मानसकोश) । (घ) पर = निर्गुण । अवर=सगुण । (रा० प्र०) । (ङ) पर = कारणावस्थापन्न जीव तथा प्रकृति=सूक्ष्म चिदचित् । अवर=कार्यावस्थापन्न जीव और प्रकृति=स्थूल चिदचित् । (वे० भू०) । (च) पर=अवतारी । अवर=अवतार । नाथ=सर्वेश्वर । कर्मधारयसमाससे । (वे० भू०) ।

इस तरह 'परावरनाथ'=(क) त्रिपादविभूति एवं एकपादविभूति दोनों विभूतियोंके स्वामी । यथा "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।" (पुरुषसूक्त यजु० ३१।३) । (ख) जीव और प्रकृतिके स्वामी । 'जीव, माया और जगत्के स्वामी'—(मानसांक) । (ग) ब्रह्मादि पूर्वजोंके स्वामी । (घ) निर्गुण और सगुण दोनोंके स्वामी । (ङ) सृष्टिके पूर्वोत्तर कालीन जीव और प्रकृतिके स्वामी । (च) अवतारी, अवतार और सर्वेश्वर ।

† अर्थान्तर—'जो पुरुष प्रसिद्ध हैं' । (वै०) । ‡ प्रथम संस्करणमें 'प्रगट' का अन्वय 'रघुकुलमनि' के साथ करके अर्थ किया गया था कि 'जो रघुकुलमें मणिरूप प्रकट हुए हैं' ।

गोतीता । सबदरसी अनवद्य अजीता ॥ ५ ॥ निर्मम निराकार निर्मोहा । नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥ ६ ॥ प्रकृति-पार प्रभु सब-उर-बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥७॥ इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥ ८ ॥ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप ।···। ७२ ।"

२ 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ' कहकर मस्तक नवानेका भाव यह है कि श्रीशिवजीने प्रथम मानसिक प्रणाम किया था । "बंदौं बालरूप सोइ रामू ।···करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी । १।११२ ।"—वाला प्रणाम मानसिक था । और अब वचन कहकर प्रणाम करते हैं । इसीसे 'कहि' शब्द दिया गया ।

३ "राम ब्रह्म व्यापक···। पुरुष प्रसिद्ध···नाथ" इन विशेषणोंका भाव यह भी है कि जिन्हें वेदान्ती व्यापक ब्रह्म कहते हैं । सांख्य पुराण-पुरुष कहता है, [यहाँ 'सांख्य' से सेश्वर सांख्य, जिसे पातंजलिदर्शन कहते हैं, समझना चाहिये न कि कपिलदेवजीका सांख्य, क्योंकि (कपिलदेवजीके) सांख्य सिद्धान्तमें 'पुरुष' शब्दसे अनेक जीवोंका ही ग्रहण किया गया है । उसमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानी गई है ।]—जिसे योगी प्रकाशनिधि और पौराणिक परावरनाथ कहते हैं, सारांश यह कि जो कोई भी जो कुछ भी नाम कहता है, हैं वह सब श्रीरामजी ही । यथा हनुमन्नाटके—"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः । अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः, सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥" अर्थात् शैव 'शिव' मानकर, वेदान्ती ब्रह्म मानकर, बौद्ध बुद्ध मानकर, प्रमाणमें प्रवीण नैयायिक लोग कर्ता-शब्दसे, जैनी अर्हन् शब्दसे, और मीमांसक कर्म-शब्दसे जिसकी उपासना करते हैं, वेही ये त्रिलोकीनाथ हरि श्रीरामचन्द्रजी आप लोगोंके वाञ्छित फलोंकी पूर्ति करें ।

पंजाबीजी—"राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना ।" से लेकर यहाँ तक बारह विशेषणोंमें निर्गुणका स्वरूप कहा और 'रघुकुलमनि' यह एक विशेषण सगुण रूपका कहकर अपनी अभेद उपासना श्रीरामचंद्रजीके स्वरूपमें लखाकर शंकरजीने ग्रंथके आरंभके समय निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु इष्टदेवको प्रणाम किया ।

वे० भू०—'मम स्वामि सोइ' का भाव कि 'रघुकुलमनि' महाराज श्रीदशरथजीको भी कहा गया है; यथा 'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ । बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ । १।१८८।७ ।' अतः ब्रह्म, व्यापक, पुरुष आदि अनेक विशेषण देकर तब 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ' कहा । अर्थात् जो इन विशेषणोंसे युक्त हैं वे 'रघुकुलमणि' मेरे स्वामी हैं, अन्य 'रघुकुलमणि' नहीं ।

नोट—४ "हर्ष विषाद ज्ञान अज्ञाना ।" से लेकर यहाँ तकका तात्पर्य यह है कि जिस ब्रह्मकी वार्ता इस समय मैं कर रहा हूँ उसमें हर्षविषादादि जीवधर्मोंका आरोप नहीं हो सकता । वह तो जीव और माया तथा मेरे समान ईश-कोटिवाले व्यक्तियोंका भी स्वामी है और वही मेरा इष्टदेव श्रीरामरूपमें प्रत्यक्ष है ।

वि० त्रि०—१ श्रीशिवजी अब उन छहों आप्तों (राज्ञिकों) की ओरसे उत्तर दे रहे हैं जिनके सिद्धान्तका उमाने अनादर किया था । 'राम-सच्चिदानंद दिनेसा । ११६।५ ।' से दोहा ११६ तक परमार्थवादीकी ओरसे कहा । २-हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अस्मिता और गर्व ये सातो जीव-धर्म हैं । बंधसे लेकर मोक्षतक द्वैत जीवकल्पित है, इससे उन्हें जीवधर्म कहा । ब्रह्मके सात धर्म हैं—व्यापक, परमानन्द, परेश, पुराना, पुरुष प्रसिद्ध (यथा 'जगदात्मा प्रानपति रामा'), प्रकाशनिधि (यथा 'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं') और प्रकट परावरनाथ (यथा 'राम रजाइ मेटि जगमाहीं । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ॥ उमा दारुजोषित की नाईं । सबहिं नचावत राम गोसाईं") ।

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी । प्रभु पर मोह धरहि जड़ प्रानी ॥१॥

जथा गगन-घनपटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहि कुबिचारी ॥२॥

शब्दार्थ—जड़ = मूर्ख ।-विशेष टिप्पणीमें देखो । प्रानी (प्राणी) = जीव, मनुष्य । धरना = आरोपण करना । अपनेमें स्थित गुणोंको दूसरेमें मानना । पटल = परदा । = समूह, (पं० रा० कु०, वै०) । झाँपना= ढक लेना, छिपा देना ।

अर्थ—अज्ञानी मूर्ख मनुष्य अपना भ्रम तो समझता नहीं, (और उलटे) मोहका आरोपण करता है प्रभु श्रीरामजीमें ॥ १ ॥ जैसे आकाशमें मेघपटल देखकर कुविचारी मनुष्य कहता है कि मेघोंने सूर्यको ढक लिया ॥ २ ॥

नोट—१ इन चौपाइयोंकी जोड़की चौपाइयाँ भुशुण्डि-गरुड़-संवादमें ये हैं—"जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा । सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥ नौकारूढ़ चलत जग देखा । अचल मोह बस आपुहि लेखा ॥ बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी । कहहिं परस्पर मिथ्याबादी ॥ हरि बिषइक अस मोह बिहंगा । सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥ ७।७३ ।"

टिप्पणी—१ "निज भ्रम···" इति । (क) नहिं 'समुझहिं' का भाव कि यदि अपना भ्रम समझ पड़ता तो प्रभुपर मोहका आरोप कदापि न करता । अज्ञानी कहनेका भाव कि भ्रम अज्ञानसे होता है और अज्ञान जीवका धर्म है । यथा 'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना । जीव धर्म··· । १।११६ ।' [(ख) 'प्रभु पर मोह धरहिं' अर्थात् प्रभुको अज्ञानी समझते हैं । यहाँ सतीजीके 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी' इन विचारोंकी ओर संकेत है । पुनः, 'नारि बिरह दुख लहेउ अपारा । भएउ रोषु रन रावन मारा । १।४६ ।' (श्रीभरद्वाज-वाक्य) । अर्थात् प्रभुका नरनाट्य देखकर उन्हें सचमुच ही सुखी एवं दुःखी, कामी एवं क्रोधी, इत्यादि मान लेते हैं और उनको प्राकृत राजा समझने लगते हैं । विरही, कामी, क्रोधी आदि समझना ही प्रभुमें मोहका आरोप करना है । वस्तुतः ब्रह्म अवतारकालमें भी कभी मोहावृत नहीं होता बरंच नरनाट्य करता हुआ वह लीलारसका भोग करता है । यथा 'परम पुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसुदेवादि पितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यधर्मलीलारसं भुङ्क्ते ।' (श्रीभाष्य ४।४।१४)] (ग) 'जड़ प्रानी' कहनेका भाव कि प्रभुमें मोहका आरोप करना जड़ता है । यथा 'जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही ।···राम कृपा आपनि जड़ताई । कहउँ खगेस सुनहु मन लाई । ७।७४-७५ ।' श्रीरामजी सूर्य हैं, मोह रात्रि है, सूर्यके यहाँ रात्रि कभी भी नहीं है —'राम सच्चिदानंद दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा ।' जहाँ मोहरात्रिका लेशमात्र नहीं वहाँ मोहका आरोप करते हैं, प्रभुको अज्ञानी समझते हैं, अपना भ्रम नहीं समझ पड़ता, अतः जड़ कहा । [जो पुरुष मोहवशात् इष्ट-अनिष्ट, सुखःदुःख आदि नहीं जानता उसे अज्ञ वा जड़ कहते हैं । यथा 'इष्टं वानिष्टं वा सुखदुःखे वा न चे इयो मोहात् । विन्दति परवशगः स भवेदिह जड़ संज्ञकः पुरुषः ।"] (घ) अपना भ्रम नहीं समझते, उलटे प्रभुपर मोह धरते हैं, इसीपर आगे दृष्टान्त देते हैं । प्रभुपर मोह धरना अधर्म है, यथा "पाछिल मोह समुझि पछिताना । ब्रह्म अनादि मनुज करि माना । ७।६३ ।'

नोट—२ "जथा गगन घन···" इति । (क) पूर्व एक साधारण बात कहकर कि अज्ञानी मूर्ख मनुष्य अपना भ्रम तो समझता नहीं उलटे प्रभुपर मोहका आरोपण करता है, अब उसकी विशेषसे समता दिखाते हैं । अतः यहाँ 'उदाहरण' अलंकार है । यहाँ सच्चिदानन्द भगवान् रामजी निर्मल आकाश हैं, सूर्यका बादलोंसे ढाँका जाना कहना श्रीरामजीको मोहावृत कहना है, और 'अज्ञानी जड़ प्राणी' यहाँके 'कुविचारी' हैं । (ख) "झाँपेउ भानु" इति । झाँपना कहनेसे जान पड़ता है कि वस्तु जो छुपाई गई है वह छोटी है और ढाँकनेवाली वस्तु बड़ी है । मेघ नीचे हैं, सूर्य ऊपर । वे सूर्यको तो ढक नहीं सकते । हाँ ! वे पृथ्वीके सन्निकट होनेसे अपने आकारप्रकारानुसार पृथ्वीके किंचित् अंशको एवं उस अंशपर उपस्थित चराचरवर्गको ही आच्छादित करते हैं । इस तरह मेघोंने देखनेवालेको ढक लिया, इसीसे उसे सूर्य नहीं दिखाई पड़ते । परंतु वह अपनी ग़लती नहीं समझता । यदि बद्रीनारायण आदिक ऊँचे पर्वतोंकी शिखरपर

वह मनुष्य चढ़ जाय तो उसको अपनी ग़लती सूझ पड़े कि मेघ तो बहुत नीचे थोड़ेसे घेरेमें हैं और सूर्य्य तो इनसे बहुत दूर ऊँचे पर है। वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी तो 'मोह-पार' हैं और इनको मोहने घेर लिया है जिससे वे उससे परे जो रामरूप है उसे तो देख ही नहीं सकते और हठवश कहते हैं कि श्रीरामजीको मोह है। अपनेमें ज्ञान हो तो समझे कि यह तो नरनाट्य है। श्रीपंजाबीजी यों लिखते हैं कि "परदा तो नेत्रोंपर पड़ा है और वे उसे सूर्य्यके आगे ठहराते हैं।"

टिप्पणी—२ (क) प्रथम श्रीरामजीको सूर्य कह आए—"राम सच्चिदानंद दिनेसा"। इसीसे यहाँ सूर्यका ही दृष्टान्त प्रथम दिया है। (ख) 'कहहिं कुबिचारी' का भाव कि जो सुविचारी, विचारवान् समझदार ज्ञानी हैं वे ऐसा नहीं कहते, वे तो यह कहेंगे कि हमारी दृष्टिके सामने मेघका आवरण आ गया है जिससे हम सूर्यकी प्रभासे वंचित हो रहे हैं। (ग) 'कुविचारी' का भाव कि ये विचार नहीं करते कि सूर्य लक्षयोजन (पर) है, बादलोंसे कैसे ढाँका जा-सकता है ? जब बादल सूर्यके ऊपर होते और सूर्यसे बड़े होते तब कहीं ढक सकते। अपनी दृष्टि और सूर्यके बीचमें बादल हैं, इससे अपनी ही दृष्टि ढकी हुई है जिससे सूर्य नहीं देख पड़ते। चौपाईका तात्पर्य यह है कि मोह अपनेमें है, प्रभुमें नहीं। [जैसे बादलोंसे सूर्य नहीं ढके हैं वैसे ही श्रीरामजी श्रीजानकी-विरहमें न तो विलाप ही कर रहे हैं, न उन्हें खोज रहे हैं और न व्याकुल ही हैं, वे तो नरनाट्य कर रहे हैं, श्रीजानकीवियोग तो उनको कभी होता ही नहीं, दोनोंका नित्यसंयोग है। (जैसा सतीतनमें परीक्षा करके पार्वतीजी देख चुकी हैं। यथा "अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥ सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥१।५६।', 'सती दीख कौतुक मग जाता। आगे रामु सहित श्री भ्राता॥ ··· १।५४।' याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं "कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें। १.४९।" उनमें मोह नहीं, मोह और भ्रम है देखनेवालेको। (वै०, नंगे परमहंसजी)]।

प० प० प्र०—'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी।···' इत्यादि तीन अर्धालियोंमें अज्ञ, अकोविद, अंध, अभागीकी चर्चा सोदाहरण चलाई है। प्रभुपर मोह आरोपित करनेका सर्वसामान्य हेतु यहाँ सिद्धांतरूपसे कहा है। आगे दो चौपाइयोंमें दृष्टान्त है। रज्जु न देखनेसे किसी किसीको भ्रम पैदा होता है। भ्रमका मूल कारण अज्ञान है। न जाननेसे बाह्य-सादृश्यसे विपरीत ज्ञान पैदा होता है। इसको भ्रम कहते हैं। रज्जुके स्थानमें रज्जु-ज्ञान न होनेसे सर्पका भ्रम होता है, अथवा सर्पको न जाननेसे पुष्पहारका भ्रम होता है; यही उस रज्जुपर या सर्पपर अपना अज्ञान और भ्रम आरोपित करना है। रज्जु है नहीं यह अज्ञान आरोपित करना है, राम ब्रह्म नहीं हैं यह अज्ञानका धरना है और राम नृपसुत हैं यह भ्रमका धरना है। तीनों अवस्थाओं तथा तीनों कालोंमें रज्जु रज्जु ही है, वह कभी सर्प नहीं बनती, वैसेही राम सदा सर्वकाल सर्व अवस्थाओंमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही हैं।

२ अज्ञानी=जड़ मूढ़। 'जड़' की व्याख्या 'ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती। ७।५३।७।', 'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी।' इन उद्धरणोंमें है। अर्थात् जड़=हरिपदबिमुख, हरिभक्ति विमुख, केवल ज्ञानके लिये यत्न करनेवाले। अज्ञानी अपना भ्रम प्रभुपर आरोपित करते हैं। हरिपदबिमुख, हरिभक्तिविमुख अपना मोह प्रभुपर धरते हैं। अब वाच्यार्थमें दृष्टान्त देकर गूढ़ार्थमें हरिमायावश अभागीकी हालत कहते हैं।—

'जथा गगन घनपटल···' इति। 'घनच्छन्न दृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढ दृष्टेः स नित्योपलब्धि स्वरूपोऽहमात्मा। हस्तामलक स्तोत्र १२।' नेत्रोंके ऊपर मेघपटल सामने आनेसे देखनेवाला सूर्यको नहीं देख सकता, वह मेघपटलको ही देखता है। यह-अकाशस्थ मेघ-

पटल निसर्गसे स्वयं आता है या पवनके प्रभावसे इकट्ठा होता है, इसमें देखनेवाला कारण नहीं है, अथवा नेत्रेन्द्रिय भी सदोष नहीं है, पर सूर्यको न देख सकनेसे उसकी बुद्धिमें भ्रम पैदा होता है, आकाशमें मेघपटल न आता तो वह ऐसा न कहता। यह दृष्टान्त हरिमायामोहित सती, पार्वती और गरुड़ समान व्यक्तियोंके लिए है। मोहाम्भोधर प्रकृतिके प्रभावसे ही आता है और बुद्धिमें जो भ्रम होता है वह हरि-मायाकी महिमासे ही। (शृंखलाके लिये ११७।३-४ में देखिये)।

वि० त्रि०—'निज भ्रम···' इति। अपने भ्रमको न समझनेवाले ही अज्ञानी हैं। जो अपने भ्रमको समझता है वह ज्ञानी है। दर्पणके प्रतिबिंबका ज्ञान जानकारके लिए प्रमा और अनजानके लिए भ्रमात्मक है। मन्दान्धकारमें रज्जुका सर्प दिखाई पड़ना अज्ञान नहीं है, रज्जुको सर्प समझना अज्ञान है। वह तो सभीको सर्परूपमें ही दिखाई पड़ेगी। परन्तु जानकारको वहाँ भ्रमप्रयुक्त क्रियाका अभाव है। अविवेकी प्राणी अपने भ्रमको न समझेंगे, वे रज्जुको ही दोष देंगे कि वह सर्परूपमें क्यों परिणत हो गई। 'जथा गगन···'—इससे आवरणशक्ति कहा।

चितव जो लोचन अंगुलि लाएं। प्रगट जुगल ससि तेहि कें भाएं ॥३॥

उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥४॥

शब्दार्थ—लाएँ = लगाकर, लगाये हुये। भाएँ=समझमें; यथा 'नहिं भलि बात हमारे भाएँ। १।६२।' बिषइक=विषयका=संबंधका; संबंधी।

अर्थ—जो कोई मनुष्य नेत्रमें अँगुली लगाकर चन्द्रमाको देखे तो उसकी समझमें दो चन्द्रमा प्रकट हैं ॥ ३ ॥ उमा! श्रीरामचन्द्रजीके विषयका मोह ऐसा है* जैसा आकाशमें अंधकार, धूँआ और धूलका सोहना ॥ ४ ॥

नोट—१ "लोचन अंगुलि लाएं।०" इति। (क) आँखके निचले भागमें एक उँगलीसे जरासा दबाकर और पुतलीको जरा ऊपर चढ़ाकर देखनेसे एक वस्तु दो रूपोंमें दिखाई देती है, यह प्रत्यक्ष अनुभव जो चाहे करके देख ले। (ख) भाव यह है कि दोष क़सूर तो अपना करें और चन्द्रमा दो दिखाई दें तो कहते हैं कि दो चन्द्रमा उदय हुए हैं। इसमें चन्द्रमाका क्या दोष? (ग) पूर्व एक साधारण बात कही कि मूर्ख अपनेमें तो दोष देखते नहीं, उलटे प्रभुमें मोहकी कल्पना कर लेते हैं, इसी उपमेय वाक्यकी समता विशेष बातसे यहाँ भी दिखा रहे हैं। अतएव यहाँ 'उदाहरण' अलंकार है।

टिप्पणी—१ पिछले चरणोंमें सूर्यका दृष्टान्त देकर अब चन्द्रमाका दृष्टान्त देते हैं। इस तरह सूर्य और चन्द्रमा दोनोंका दृष्टांत देकर जनाया कि श्रीरामजी सदा सर्वकालमें निरन्तर रहते हैं; सूर्यसे दिनका ग्रहण हुआ और चन्द्रसे रात्रिका। पुनः भाव कि जैसे मेघसमूह (के आवरण) से सूर्य नहीं देख पड़ते वैसेही भारी मोहसे श्रीरामजी ब्रह्म नहीं जान पड़ते किंतु मनुष्य जान पड़ते हैं। जैसे उँगली लगानेसे दो चन्द्रमा देख पड़ते हैं, वैसे ही सामान्य मोहसे श्रीरामजी देख तो पड़ते हैं पर चन्द्रमाकी तरह दो देख पड़ते हैं—ईश्वर और मनुष्य। यथा 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि। १।४३।' इति भरद्वाजः, एवं 'राम सो अवधनृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई। १।१०८।' इति श्रीपार्वतीवाक्यं।

नोट—२ भगवान् शंकराचार्यजीने भी प्रथम ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें 'एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत्' लिखा है।

३ यहाँ दो दृष्टान्त देनेका भाव यह भी हो सकता है कि किसी वस्तुका यथार्थ ज्ञान होनेके लिए करण अर्थात् मन और इन्द्रिय आदिका शुद्ध होना आवश्यक है। करणके निर्दोष होनेपर भी यदि कोई

* अर्थान्तर—'श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें इस प्रकार मोहकी कल्पना करना वैसा ही है जैसा' (मानसांक)। सोहना=दीखना। (मानसांक)।

बाह्य प्रतिबंध आ जावे तो भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। प्रथम दृष्टान्त ('जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु ···') से बाह्य प्रतिबंध जनाया और दूसरे दृष्टांत ('चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ') से करण-का दोष दिखाया। अब दार्ष्टान्तमें भगवान् श्रीरामजी भानु हैं, उनका नरवेष धारणकर नरनाट्य करना घनपटल है, यह भगवान्का ज्ञान न होनेके लिए बाह्य प्रतिबंध है। पुनः, अविद्याके कारण अपना मन और इन्द्रियाँ दूषित हैं वैसे ही अंगुली लगानेसे अपने नेत्र दूषित हुये, यह श्रीरामरूपी चन्द्रका यथार्थ ज्ञान न होनेके लिये करणदोष है।

दो दृष्टान्त देकर जनाया कि एकएक ही प्रतिबंध होनेसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं होता और जहाँ अनेक प्रतिबंध हैं वहाँ यथार्थ ज्ञान कब हो सकता है।

श्रीनंगे परमहंसजी-'प्रगट जुगल ससि···' का भाव कि "जिसकी बुद्धिमें द्वैत लगा है उसको श्रीराम-जानकी दो देख पड़ते हैं, नहीं तो (दोनों) एक हैं। अतः श्रीरामजीके लिये जो मोह है कि श्रीजानकीजीके विरहमें खोजते हैं यह वृथा है।"

वेदान्तभूषणजी—'चितव जो लोचन अगुलि लाए।०' इति नेत्रमें अँगुली लगाकर दोनों पुतलियों-की सीधको ऊपर नीचे कर देनेसे दो चन्द्रमाकी प्रतीति होती है। उस अवस्थामें चन्द्रमाको दो मान लेना निस्संदेह अज्ञान है, लेकिन दो चन्द्रकी प्रतीति होना अज्ञान नहीं है क्योंकि दर्शन सामग्री एवं देश भेदसे चन्द्रद्वयका प्रतीत होना सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि चक्षुगोलकोंकी नेत्रेन्द्रियोंके एक सीधसे हटकर ऊपर और नीचे हो जानेसे दो सामग्री हो जाती हैं जिससे चन्द्रद्वयकी प्रतीति होती है जैसे एक वस्तुको दो व्यक्ति एक साथ ही देखते हों वैसे ही अँगुली लगानेपर नेत्रेन्द्रियाँ दो जगह होकर एक साथ ही चन्द्रमा को देखती हैं। दो व्यक्तियोंके देखनेपर दोनों शरीरोंका अनुग्राहक जीवात्मा भिन्न भिन्न होता है, इसी-लिए उस पदार्थका दो रूपसे भासित होना नहीं माना जा सकता है। परन्तु नेत्रमें अँगुली लगानेपर तो चक्षुरिन्द्रिय देखनेकी शक्तियाँ दो भागोंमें बँट जाती हैं किन्तु उनका अनुग्राहक प्रत्यगात्मा एक ही होनेके कारण चन्द्रद्वयकी प्रतीति होना 'सर्वं विज्ञान यथार्थमितिवेदविदाम्मतम्' इस शास्त्रसिद्धान्तके अनुसार सत्य है। इसीसे यहाँ श्रीशंकरजीने, अँगुली लगानेके कारण जो चन्द्रद्वयकी प्रतीति होती है, उस प्रतीतिके यथार्थ होनेसे ही उसमें कोई दोष नहीं दिया जैसे कि अन्य दृष्टान्तोंमें 'अज्ञानी, कुविचारी, मोहित और भ्रमित' आदि कहा है। शंका हो सकती है कि "जब उन्हें उसमें कुछ अच्छा या बुरा कहना ही न था तब "चितव जो लोचन अंगुलि लाए।०' आदि कहनेका प्रयोजन ही क्या था?", इसका समाधान बहुत ही सरल है कि देखनेकी सामग्री दो हो जानेसे तो दो चन्द्रकी प्रतीति होनी ठीक ही है, परन्तु ब्रह्मको 'अवधनृपतिसुत' से भिन्नको 'अगुण, अज आदि विशेषणयुक्त' देखना, अथवा सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्मको दो अवस्था-वाला मान लेना सत्य नहीं किंतु अज्ञान है। क्योंकि ब्रह्मके जाननेका साधन औपनिषदिक ज्ञान दो भागों में विभक्त नहीं होता, किंतु धर्म्मभूतज्ञानके साथ तिरोहित हो जाता है, और उसकी जगहपर अज्ञान एवं तज्जन्य मायामोह भ्रमादि आसन जमा लेते हैं। इसीसे यहाँ 'चितव जो लोचन' आदि कहना पड़ा।

टिप्पणी - २ "उमा राम बिषइक अस मोहा।···" इति। (क) यहाँ तक जीव (देखनेवालों) के संबंधका जैसा मोह है वैसा कहकर अब रामबिषयक मोहको कहते हैं अर्थात् जो श्रीरामजीमें प्रत्यक्ष मोह देख पड़ता है (जैसे कि श्रीसीताजीको खोजना, उनके विरहमें विलाप करना, इत्यादि) वह कैसा है यह बताते हैं। 'नभ तम···'। (ख) 'नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा' इति। अर्थात् वह मोह ऐसा है जैसे तम, धूम और धूरिसे आकाश शोभित होता है। यहाँ 'सोहा' एकवचन क्रिया है। यदि आकाशके द्वारा तम, धूम, धूरिकी शोभा कहनी होती तो सोहे बहुवचन कहते। (ग) 'सोहा' कहनेका भाव कि तम-धूम-धूरिसे अकाशकी अशोभा नहीं हुई, किंतु शोभा ही हुई। इसी प्रकार मोह (की लीला) से

श्रीरामजी अशोभित नहीं हुए वरंच शोभित हुए हैं। तात्पर्य कि नरतनमें मोहादिके ग्रहणसे माधुर्यकी शोभा है, ऐश्वर्य प्रगट होनेसे स्वाँगकी शोभा नहीं रह जाती। [मोह आदि जो नरनाट्यमें दिखाए गए हैं उनसे श्रीरामजीकी भी शोभा है। यदि वे ऐसी लीला न करते तो शोभा न होती। क्योंकि प्रभुने नर-शरीर धारण किया है। जैसे नाट्य करनेमें यदि नटका स्वरूप खुल जाय तो नटकी शोभा नहीं रह जाती, वैसे ही प्रभुके माधुर्य नरनाट्यमें यदि लोग यह जान जाते कि ये परात्पर ब्रह्म हैं तो फिर नरनाट्य ही कहाँ रह जाता? ऐश्वर्य न प्रगट हो इसी विचारसे तो श्रीशंकरजी समीप न गए थे, यथा 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ'। ऐसा ही श्रीवाल्मीकिजीने कहा है। यथा "नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥ तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥ २.१२७।" प्रभुके नरनाट्यकी शोभा यही है कि लीलाको देख-देख सब वाह-वाह ही करते रहें कि खूब भेस बनाया, जैसा भेस वैसा ह, नाट्य। श्रीभुशुण्डीजीने भी गरुड़जीसे ऐसा ही कहा है, यथा "जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥ ७.७२। असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥" अध्यात्मरामायणमें वसिष्ठजीने कहा है। यथा "देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं भक्तानां भक्तिसिद्धये। रावणस्य-वधार्थाय जातं जानामि राघव। २४। तथापि देवकार्यार्थं गुह्यंनोद्घाटयाम्यहम्। यथा त्वं मायया सर्वं करोषि रघुनन्दन। २५। तथैवानुविधास्येऽहं शिष्यस्त्वं गुरुरप्यहम्। २.२।' अर्थात् हे राघव! मैं जानता हूँ, आपने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये, भक्तोंकी भक्ति सफल करनेके लिये और रावणका वध करनेके लिये ही अवतार लिया है। २४। तथापि देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये मैं इस गुप्त रहस्यको प्रकट नहीं करता। हे रघुनन्दन! जैसे आप मायाके आश्रयसे सब कार्य करेंगे वैसे ही मैं भी 'तुम शिष्य हो और मैं गुरु हूँ' इस संबंधके अनुकूल व्यवहार करूँगा।'

नोट—"नभ तम धूम धूरि" इति। तम, धूम और धूरि दार्ष्टान्तमें क्या हैं, इसमें मतभेद है।

(१) पं० रामकुमारजीका मत है कि-(क) यहाँ श्रीरामजी नभ हैं, राजसी, सात्त्विकी और तामसी मोह क्रमसे तम, धूम और धूरि हैं। ये श्रीरामजीको स्पर्श नहीं कर सकते। (जैसे तमादि आकाशका स्पर्श नहीं कर सकते, उसका अंत नहीं पा सकते। यथा "तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा। ७.९१।") । अथवा, (ख) जैसे आकाशमें तम, धूम और धूरि सोहते हैं, वैसे ही श्रीरामजीमें मोह शोभित हो रहा है। तम तमोगुण है, धूम सत्वगुण और धूरि रजोगुण है। इन मायिक गुणोंसे ईश्वर मलिन न होकर शोभाहीको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि श्रीरामजीके ग्रहण करनेसे 'मोह' की 'लीला' संज्ञा हुई जिसके गानसे जीव कृतार्थ होता है।

(२) श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "आकाश सदा एकरस निर्मल शोभित है। उसमें देखने मात्रको अन्धकारसे विशेष आवरण, धूरीसे सामान्य और धूमसे किंचित् आवरण दिखाई पड़ता है सो देखने-वालेको देखने मात्रका आवरण है, आकाश तो सदा अमल है। वैसे ही विषयी जीवोंको अपने मोहसे प्रभुमें मोह दिखाई पड़ता है। आत्मरूपमें ८ आवरण हैं। १ प्रकृति, २ बुद्धि, ३ त्रिगुणाभिमान, ४ आकाश, ५ वायु, ६ अग्नि, ७ जल, ८ पृथ्वी। वायुतक जीवको ज्ञान रहता है। जब अग्नितत्त्वमें आया तब किंचित् आवरण हुआ जैसे धूमसे आकाशमें—(सतीजी, गरुड़जी आदि ज्ञानियोंको जैसे मोह हुआ)। जलतत्त्वका आवरण सामान्य आवरण है जैसे आकाशमें धूल (जैसे रावणादि विमुख जीव जानते हुए भी प्रभुमें मनुष्यत्व आरोपण करते थे)। पृथ्वीतत्व आवरण होनेसे जीव विषयी हुआ, यह विशेष आवरण है, जैसे अंधकार—(विषयी प्रभुमें ईश्वरता देखते ही नहीं)।"

(३) वीरकविजी (श्रीवैजनाथजीके ही भावको लेकर) इस प्रकार लिखते हैं कि आकाश निर्लेप है। धूल धरतीका विकार है, धुआँ अग्निका और तम सूर्य्यके अदृश्य होनेका। कारण पाकर ये आकाशमें फैलते और स्वयं विलीन हो जाते हैं। आकाश इनके दोषोंसे सर्वथा अलग है, वह ज्योंका त्यों निर्मल बना रहता है। यहाँ भी उदाहरण अलंकार है।

(४) श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि जैसे आकाशमें तम, धूम और धूरि देख पड़ते हैं किन्तु आकाशमें ये कोई विकार नहीं हैं, वैसे ही श्रीरामजीके विषयमें (उनके नरनाट्यमें) बालचरित, श्रीसीता-वियोगविरह और रणक्रीड़ा करके रावणादिका वध दिखलाई पड़े हैं, पर ये कोई श्रीरामजीमें हैं नहीं क्योंकि तम, धूम, धूरि ये सब आकाशमें कारणसे हैं वैसे ही श्रीरामजीके चरितमें बालचरित आदि सब कारण पाकर हुए हैं। जैसे तम, धूम और धूरिके कारण कुहरा, अग्नि और पवन हैं वैसे ही बालचरितका कारण मनुशतरूपाका वरदान है। (दोनोंने वर माँगा था कि हमारे पुत्र हों और प्रभुने उनको यह बर दिया भी, यथा "चाहौं तुम्हहिं समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ। १.१४९।" "एवमस्तु करुनानिधि बोले।", "जो बरुनाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहिं अति प्रिय लागा।...१५०। जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।", "इच्छामय नरबेष सँवारें। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारें ।। अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता ।। १.१५२।" सीताविरहका कारण नारदजीका शाप है। यथा 'मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी ।। श्राप सीस धरि हरषि हिय...। १। १३८।', 'मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुखभारा। ३.४१।')। रणक्रीड़ा तथा रावणादिके वधके कारण ब्रह्मस्तुति एवं आकाशवाणी हैं। (रणक्रीड़ामें नागपाशबंधन, अठारह दिन तक रावणसे संग्राम करके तब उसका वध करना, इत्यादि रणकी शोभाके लिये हैं। यही शिवजीने बताया है। यथा 'नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना ।। रनसोभा लगि प्रभुहिं बँधायो...।६.७२।' नहीं तो "भृकुटिभंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई।१.६५।"; रावणवधके कारण ब्रह्मस्तुति, आकाशवाणी और रावणका वरदान है। यथा 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा।...। १।१८६।', 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई ।। गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना।', "हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ।। १।१७७।", "रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साचा। १।४९।')। जैसे आकाशमें कुहरा, अग्नि और पवनरूपी कारणोंका अभाव होनेसे तम, धूम आदि कार्योंका अभाव हो जाता है (वैसे ही सबके वरदानों आदिकी पूर्ति बालचरित, सीताबिरह, रावणवध आदि कार्योंद्वारा हो जानेपर फिर ये मोह लीलारूपी कार्य नहीं रह जाते जिनसे लोगोंको भ्रम हो जाता है)। और, आकाश कार्यकारणसे रहित सदा स्वच्छ है वैसे ही श्रीरामजी इन कार्य-कारणोंसे रहित, अर्थात् उनसे परे, सदा स्वच्छ, निर्मल, निर्विकार हैं। यथा 'सुद्ध सच्चिदानंदमयकंद भानुकुल केतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु ॥ २।८७।"

(५) मयङ्ककार कहते हैं कि "शिवजीके वचनका तात्पर्य्य यह है कि राम-विषयक मोहरूपी तमने गरुड़के हृदयको तमवत् आच्छादित किया और तुम्हारे हृदयको धूमवत् आच्छादित किया और भरद्वाज मुनिके हृदयको धूरवत् आच्छादित किया, तब उनके संदेह निवारणार्थ कागभुशुंडी, मैं और याज्ञवल्क्यने पराभक्तिमय कथाको कहा जिससे वह सब दूर हो गए और उन्हींके द्वारा जगत्में इस कथाका प्रचार हुआ।" सारांश यह कि गरुड़जीको रणमें प्रभुका बंधन देखकर, तुमको (सतीतनमें) सीताविरहविलाप एवं वनलीला देखकर और भरद्वाजको स्त्रीविरह तथा रोषयुक्त हो रावणवध करने इत्यादिमें जो मोह हुआ वही क्रमशः तम, धूम और धूरि है। [परन्तु इस भावमें यह शंका उपस्थित होती है कि क्या उस समय श्रीभरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद हो चुका था, जब शिवजीने श्रीपार्वतीजीसे यह कथा कही? याज्ञवल्क्यजीके "ऐसेइ

संसय कीन्ह भवानी । महादेव तब कहा बखानी ॥ कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभुसंबाद ॥ १.४७ ।" से विरोध होता है। यदि भरद्वाजजीकी जगह श्रीभुशुंडीजीका मोह लें तो कुछ अच्छा अवश्य हो जाता है, पर तीनों संवादोंको इन तीन दृष्टान्तोंमें लानेकी बात चली जाती है।]

नोट—यहाँ तक बाहरके आवरण कहे आगे भीतरके आवरण कहते हैं। (पं० रा० कु०)।

प० प० प्र०—१ 'चितव जो…' इति। (क) इस दृष्टान्तमें यह भेद है कि यहाँ नयन दोष जानबूझ कर निर्माण किया गया है। निसर्ग और हरिमाया यहाँ अज्ञान और भ्रमका कारण नहीं है। 'नयन दोष जा कहँ जब होई।…' यह दृष्टान्त सदृश नहीं है। यहाँ नयन दोष प्राकृतिक है, सहज ही पैदा हुआ है और यहाँ 'चितव जो…' में नयनदोष जानबूझकर अल्पकालके लिये निर्माण किया गया है—दोनोंमें इतना भेद है। पाखण्डी लोग जानबूझकर ऐसा करते हैं। रावण ठीक ठीक जानता था पर जानबूझकर प्रभुपर मनुष्यत्वका आरोप करता रहा। (ख) मोहपिशाचग्रस्त पाखण्डी हरिपदविमुख और 'जानहिं झूठ न साँच'-वालोंके मोहभ्रमादिके हेतु भिन्न भिन्न होते हैं, पर 'प्रभु पर मोह धरहिं' यह कार्य एक ही है।

२ 'नभ तम धूम धूरि जिमि।सोहा' इति। 'सोहा' एकवचन है। 'धूरि' कर्त्ता होता तो 'सोही' चाहिए था। तम, धूम, धूरि तीनोंको साथ ले लें तो 'सोहहिं' चाहिए था। अतः 'नभ सोहा' ऐसा लेनेसे अर्थ होता है कि तम, धूम और धूरिके कारण आकाश सोहता है, उसकी कुछ हानि नहीं होती।

तम (अंधकार) में ही आकाशकी शोभा मनोहर लगती है। दिनमें सूर्यके प्रकाशमें आकाश नयन-मनोहर नहीं होता। रामचरित्रमें अज्ञान, मोह भ्रम, हर्ष शोक आदि विकार जो दीखते हैं वे उनकी शोभा ही बढ़ाते हैं—'फूलें कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा।' रात्रिमें ही असंख्य तारागण, ग्रहादिक आकाशस्थ देदीप्यमान मणिदीपोंके समान उस सुनील आकाशपटलपर मनोहर लगते हैं, उससे प्रसन्नता और शीतलताका लाभ होता है। उसपर भी यदि राका रजनी और राकाशशि हों तब तो उस मनोहरतासे परमानन्द आदि होते हैं और चकोरको तो परम सुख और सुधाकी प्राप्ति होती है। चक्रवाक दुखी होते हैं। निर्गुण ब्रह्ममें मायाका संयोग होनेपर सगुण ब्रह्म दीखता है, इसमें यदि 'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम' और 'रामचरित राकेशकर' भी हों तो सन्त-चकोरोंको सुखकी परम सीमा ही उपलब्ध होती है। तम तमोगुणका प्रतीक है, अज्ञानका उपमान है। वह आकाशस्थ तम आकाशको स्पर्श तक नहीं करता। इसी प्रकार राम-कृष्णादिके तमोगुणी चरित भी भक्तोंको सुखदायक, दुर्जनोंको बिमोहक और सुरहितकारी ही होते हैं।

३ 'धूम' धूसर होता है पर ऊर्ध्वगामी है और ऊर्ध्वगति सत्वगुणका लक्षण है—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः। गीता।' अतः धूमसे भगवान्‌के सत्वगुणी चरित्र समझना चाहिए। निर्गुण निराकार ब्रह्ममें सत्वगुण भी नहीं है। धूमको आकाशमें फैलानेमें वायुकी आवश्यकता है, वातकी मदद बिना गतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। वायु (=माया)+निर्गुण निराकार ब्रह्म=सगुण साकार ब्रह्म। उनके सत्वगुणी लीला चरित आकाशगामी धूमके समान आकाशकी शोभाके वर्धक ही होते हैं। प्रतिक्षण इस धूमकी गति और दिशा पलटती है। वह आकाशगामी धूम भी नयनमनोहर होता है, इसीसे लोग उसका फोटो लेते हैं। इन चरित्रोंके पठन-पाठन, कथन-श्रवण और अनुकरणसे ज्ञान-भक्ति-लाभ होता है और जैसे वह धूम आकाशमें समा जाता है, वैसेही ज्ञानी भक्त जीव ब्रह्ममें लीन हो जाता है अथवा हरिधामगमनरूपी सर्वोत्तम परमोच्च गतिको प्राप्त होता है।

४ 'धूरि' रजोगुणका प्रतीक है। धूरि=रज। 'रज मग परी निरादर रहई' पर 'गगन चढ़त रज पवन प्रसंगा'। आकाशमें चढ़नेके लिये इसे भी पवनकी आवश्यकता है। वह आकाशगामी रज आकाशकी शोभा ही बढ़ाती है। वैसे ही प्रभुके रजोगुणी चरित हर्ष-शोक, विरहविलापादि, कामीजनोंकेसे चरित्र,

विवाहोत्सव, पुत्र-जननादि सभी चरित्र रजोगुणी हैं। पर इन चरित्रोंके पठन-पाठनादिसे जीवके हृदयाकाशका रजोगुण भाग जाता है, और वह स्वच्छ निर्मल बन जाता है। वायु और अग्नि (सूर्यकी उष्णता) की सहायतासे जो वाष्प तैयार होता है उसको जलधर बनानेके लिये आकाशस्थ अति सूक्ष्म रजः कणोंका ही उपयोग होता है और वह जलद जगजीवनदाता होता है, वाष्प नहीं। निर्गुण ब्रह्मरूपी आकाशमें रजोगुणी सगुणचरित्ररूपी लीला धूरि मायारूपी पवनकी गतिसे उड़ती है। भाव कि वह निर्गुण ब्रह्म ही करुणाघन, दयाघन बनकर कृपावारिकी वृष्टि करता है। 'कृपा-बारिधर राम खरारी' भक्त-भव-हारी होते हैं। निर्गुण ब्रह्म ग्रीष्म-ऋतुके दिवसके आकाशके समान है। जीवके हृदयका रजोगुण 'रज मग परी निरादर रहई' के समान 'सबके पद प्रहार नित सहई'। सगुण चरित्रमें त्रिगुणात्मक लीला ही मनोहर और प्रलोभनीय होती है।

वि० त्रि०—अब विक्षेप कहते हैं। आवरणसे आत्माका अज्ञान होता है, विक्षेपसे द्वैतकी प्रतीति होती है। अपनी आँखमें उँगली द्वारा विक्षेप हुआ, चन्द्रमाको कोई विक्षेप नहीं हुआ, अच्छी तरह मालूम है कि एक है; पर चन्द्रमा दो दिखलाई पड़ने लगते हैं। जगत्‌का आभास कर्म दोषोंसे उत्पन्न है, उसकी निवृत्ति ज्ञानमात्रसे नहीं हो सकती। चूक अपनी है, चन्द्रमाकी नहीं। इसी भाँति अपना द्वैत भाव राममें दिखाई पड़ता है। जबतक कार्यका लय नहीं होगा, व्यवहार लय नहीं हो सकता। इसी भाँति स्वयं मलावृत होनेसे रामजीमें मलिनता दिखाई पड़ने लगती है। हमें जब अंधकार, धूम और धूलिका अनुभव होता है, तब कहते हैं कि आकाश अंधकार, धूम और धूलिसे भर गया। तमसे सूक्ष्म, धूमसे स्थूल और धूलिसे स्थूलतर मल कहा। यहाँ ब्रह्मकी उपमा आकाशसे दी गई, क्योंकि आकाश और चिदात्मा विलक्षण नहीं हैं। दोनों ही सूक्ष्म, निर्मल, अज, अनन्त, निराकार, असङ्ग और सबके भीतर बाहर व्याप्त हैं। चैतन्यपूर्ण आत्मा ही आकाश है, उसमें किसी वस्तुका लेप नहीं हो सकता। जीव समझता है कि जैसी हमें सच्ची विकलता होती है, वैसी ही रामजीको भी होती है। यह निर्गुण निराकारमें अध्यासका उदाहरण है। वह सबका प्रकाशक है, उसमें अज्ञानान्धकार कहाँ?

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ ५॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ ६॥

शब्दार्थ—करन (करण) = इन्द्रियाँ। सचेत = चेतन-युक्त चैतन्य, सजग, स्फूर्त। प्रकाशक = प्रकाश करनेवाले। जिसकी सत्तासे किसी अन्य वस्तुका अस्तित्व क़ायम रहे वह 'प्रकाशक' और वह वस्तु 'प्रकाश्य' कहलायेगी। जैसे अँधेरेमें दीपकद्वारा हम किसी वस्तुको देखते हैं तो दीपक 'प्रकाशक' है और वह वस्तु 'प्रकाश्य' है। दीपकको हटा दिया जाय तो वह वस्तु स्वयं लुप्त हो जायगी। इसी तरह श्रीरामजी समस्त वस्तुओंके प्रकाशक हैं। (लाला भगवानदीनजी)। उनके सत्तारूपी प्रकाशसे जगत् भासित होता है, अनुभवमें आता है, अतः जगत् प्रकाश्य है जैसा आगे कहते हैं।

अर्थ—विषय, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके देवता और जीव सबके सब (प्रतिलोमरीतिसे) एक दूसरे (की सहायता) से चैतन्य होते हैं॥ ५॥ जो सबका परम प्रकाशक है (अर्थात् जिसके कारण सबका अस्तित्व अनुभवमें आता है) वही अनादि (ब्रह्म) अयोध्यापति श्रीरामजी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) "बिषय करन···" इति। पूर्व कह आए हैं कि श्रीरामजी सहज प्रकाशरूप एवं प्रकाशनिधि हैं—'सहज प्रकासरूप भगवाना।'···'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि···। ११६।' अब उनका प्रकाश कहते हैं। विषय इन्द्रियोंसे, इन्द्रियाँ देवताओंसे और देवता जीवसे उत्तरोत्तर सचेत हैं। विषय, करण आदि एकसे एक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। विषयमें इन्द्रियोंको आकर्षण करनेकी शक्ति है, यही विषयकी चैतन्यता

है ।❀ [विषय, इन्द्रियाँ और उनके देवताओंके नाम निम्न चार्ट (नकशे) से स्पष्ट हो जायँगे । प्रत्येक इन्द्रिय पर एक-एक देवताका वास है; यथा 'इंद्री द्वार झरोखा नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना । आवत देखहिं बिषय बयारी । ते हठि देहिं कपाट उघारी । उ० ११८ ।' इन्द्रियोंमें चेतनता उनके देवतोंसे आती है, यदि देवता अपना बास उनपरसे हटा लें तो वे कुछ काम नहीं कर सकतीं, इसी भाँति विषय इन्द्रियोंसे चेतनता पाते हैं और इन्द्रियोंके देवता जीवसे प्रकाश पाते हैं । शरीरके जीवरहित होनेपर देवता इन्द्रियोंको सचेत नहीं कर सकते । जीव भी बिना श्रीरामजीकी सत्ताके कुछ नहीं कर सकता है ।

	विषय—	इन्द्रियाँ—		इन्द्रियोंके देवता—
पंच तन्मात्रा, विषय ज्ञानेन्द्रियोंके विषय	शब्द	श्रवण	ज्ञानेन्द्रिय	दिशा
	स्पर्श	त्वचा (त्वक्)		पवन
	रूप	नेत्र		सूर्य
	रस	जिह्वा		वरुण वा प्रचेता
	गंध	नासिका		अश्विनीकुमार
कर्मेन्द्रियोंके विषय	भाषण, भक्षण	वाणी (मुख)	कर्मेन्द्रिय	अग्नि
	लेना देना	हाथ		इन्द्र
	चलना	पैर		जगविष्णु उपेन्द्र
	मल त्याग	गुदा (पायु)		यम, वा मित्र
	मैथुन, मूत्र त्याग	उपस्थ		प्रजापति वा मृत्यु
	संकल्प करना	मन	अन्तःकरण	चन्द्रमा
	निर्णय करना	बुद्धि		ब्रह्मा
	धारणा	चित्त		विष्णु, वा अच्युत वा वासुदेव
	अहंता होना	अहंकार		शिव (रुद्र)

नोट—१ 'बिषय करन सुर···' इति । अद्वैतमतानुसार भाव यह कहा जाता है कि 'जीव चेतन है, सुर भी जीव होनेसे चेतन हैं और विषय तथा करण जिसमें मनका भी समावेश है मायाके कार्य होनेसे जड़ हैं । जैसे तारमें बिजली और कोयलेमें अग्निके प्रविष्ट होनेसे तार तथा कोयला प्रकाशरूप देखनेमें आता है, वैसे ही चेतन जीव मनमें व्याप्त होनेसे मन चैतन्ययुक्त अर्थात् सचेत होता है । मनसे और देवताओंसे इन्द्रियाँ तथा देह सचेत होते हैं । जीव ब्रह्मका प्रतिबिंब है । अतः जैसे चन्द्रका प्रकाश और जल आदिमें पड़े हुए सूर्यप्रतिबिंबका प्रकाश वस्तुतः सूर्यके ही प्रकाश हैं वैसेही जीवका चैतन्य भी श्रीरामजीका ही है । इस प्रकार श्रीरामजी सबके परम प्रकाशक अर्थात् सबको सचेत करनेवाले हैं ।'

२ विशिष्टाद्वैतमतानुसार जीव स्वयं चेतन है तथापि प्रलयावस्थामें देह, मन, इन्द्रियाँ आदि न होनेसे वह जड़वत् ही रहता है । जब श्रीरामजीकी इच्छासे देहादिकी सृष्टि होती है तब उसमें प्रविष्ट होकर वह चेतनताका व्यवहार करता है । अतः उसको भी सचेत करनेवाले श्रीरामजी हुए । अथवा, मायावशात् यह जीव अचेत अर्थात् अज्ञानाच्छादित रहता है, मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्त्तव्य है, इत्यादिका ज्ञान उसको नहीं रहता । जब श्रीरामजीकी कृपा होती है तब वह सचेत होता है ।

❀ 'विषय' का अर्थ देश और आश्रय भी होता है । इस अर्थको लेकर किसीका कहना है कि करण, सुर और जीव सभीका आश्रय या देश देह है, इस तरह 'विषय' का अर्थ 'देह' भी होता है । देह जड़ होनेपर भी जीवका चैतन्य लेकरही सचेत होता है ।

टिप्पणी—२ "सब कर परम प्रकासक जोई ।···" इति । (क) सबके 'परम प्रकाशक' कथनका भाव कि करण, सुर और जीव ये सब एकही एकके प्रकाशक हैं और श्रीरामजी सबके प्रकाशक हैं। पुनः भाव कि करण, सुर और जीव ये सब प्रकाशक हैं और श्रीरामजी 'परम प्रकाशक' हैं। इन्द्रिय-सुर-जीवके प्रकाशसे विराट् (समष्टि ब्रह्मांडगोलक) चैतन्य न हुआ, किन्तु श्रीरामजीके प्रकाशसे चैतन्य हुआ। [यथा 'वर्षपूग सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्। कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्। भा० २।५।३४।" अर्थात् वह अण्ड एक सहस्र वर्ष तक जलमें पड़ा रहा, तदनन्तर काल-कर्म-स्वभावस्थित जीव (सबको अपने स्वरूपमें स्थित रखनेवाले परमात्मा) ने उस निर्जीव अण्डको सजीव कर दिया]। (ख) "राम अनादि अवधपति सोई" अर्थात् जो सबका परम प्रकाशक परमात्मा है वही श्रीरामजी हैं। 'अनादि' का भाव कि विषयकरणादिके आदि श्रीरामजी हैं और श्रीरामजीका आदि कोई नहीं है, वे अनादि हैं। अनादि देहलीदीपकन्यायसे राम और अवधपति दोनोंके साथ है। 'अनादि' अवधपतिका भाव कि अनादिकालसे अवधपति हैं ('अनादि अवधपति' कथनसे अवधकी भी अनादिता सूचित कर दी)। इस विशेषणसे जनाया कि त्रेतायुगसेही ये अवधपति नहीं हुए किन्तु अनादि कालसे हैं। पुनः,'अनादि राम' कहनेसे निर्गुण ब्रह्मका बोध होता इसीसे सगुणवाचक पद 'अवधपति' दिया। [(ग) श्रीरामजी सबके प्रकाशक कैसे हैं यह 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं···' मं० श्लो० ६ की व्याख्यामें भी देखिए। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों मतोंके अनुसार ब्रह्म सबका परम प्रकाशक है। अद्वैतमतानुसार ब्रह्मका परमप्रकाशकत्व ऊपर "बिषय करन सुर" पर नोट १ में एक प्रकारसे दिया ही है, दूसरा प्रकार ऐसा है— इस मतमें भ्रमका अधिष्ठान ही उसका (भ्रमका) प्रकाशक है, जैसे रस्सी पर सर्पका भ्रम होता है। यहाँ सर्पका भास करानेवाली रस्सी ही है। रस्सी यहाँ न होती तो सर्पका भास न होता। अतः सर्पका प्रकाशक रस्सी है। परन्तु विचार करने पर रस्सी भी भ्रम ही है; वस्तुतः यह सन है। (सनको ही ऐंठन आदि देनेसे रस्सी, टाट, बोरा आदि अनेक पदार्थ मानते हैं परन्तु सर्वसाधारणको यह बात ध्यानमें नहीं आती) अतः सिद्ध हुआ कि सर्पका प्रकाशक रस्सी है और रस्सीका प्रकाशक सन है; इसलिये सर्पका परम प्रकाशक सन है। ऐसे ही दुनियामें जो ये अनेक पदार्थ अनुभवमें आते हैं उनमें एकका दूसरा प्रकाशक है; जैसे परई, पुरवा आदिका मृत्तिका; घड़ा, लोटा, गिलास आदिका तांबा; कटक, कुंडल, आदिका सुवर्ण; धोती, कुरता आदिका रुई प्रकाशक है; परन्तु मृत्तिका, ताँबा, सुवर्ण और रुई इत्यादिका भी मूल प्रकाशक परब्रह्म ही है। अतः इन सब अनंत पदार्थोंका परम प्रकाशक (इनका मूलतत्व) परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी ही हैं। विशिष्टाद्वैतमतानुसार भी पूर्व नोट २ में एक प्रकार कहा है, दूसरा-जैसे सूर्य, अग्नि आदि सबको प्रकाशित करते हैं परंतु उनको भी प्रकाशित करनेवाले श्रीरामजी हैं, यथा 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलं। यच्चंद्रमसियच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्। गीता १५।१२।' इत्यादि।

वि० त्रि०—'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। ११७।१।' से यहाँ तक शिवजीने शारदाकी ओरसे उत्तर दिया।

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू ॥७॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥८॥

शब्दार्थ—प्रकाश्य, प्रकाशक—ऊपर चौ० ५-६ में देखिये। मायाधीश=मायाका स्वामी वा प्रेरक एवं अधिष्ठाता। सहाया=सहायतासे।

अर्थ—यह सब जगत् प्रकाश्य है। मायाके अधिष्ठाता, ज्ञान और गुणोंके धाम श्रीरामजी प्रकाशक हैं ॥ ७॥ जिनकी सत्यतासे जड़ माया भी मोहकी सहायतासे सत्यसी जान पड़ती है ॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'जगत प्रकास्य···' इति। ☞ अन्तर्प्रकाश (भीतरका प्रकाश) कहकर अब बाहरका

प्रकाश कहते हैं । जगत् प्रकाशमान् है, श्रीरामजी प्रकाशकर्त्ता हैं । जगत् कार्य है; उसमें प्रकाश कहकर अब (आगे) जगत्के कारणमें प्रकाश कहते हैं । जगत्का कारण माया है । 'श्रीरामजी मायापति हैं, ज्ञानगुण-धाम हैं; इस कथनका भाव यह है कि मायाकी जड़ता और अवगुण (विकार) इनमें नहीं आते । ये तो मायाको ज्ञान और गुण देते हैं, तब उनसे वह जगत्की रचना करती है; यथा 'एक रचइ जग गुन बस जाके ।'

नोट—१ "प्रकाशक", "मायाधीश", "ज्ञानगुणधाम" । इन विशेषणोंको देकर सूचित करते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी जगत्के प्रकाशक और कारण, और केवल जगत्हीके नहीं वरन् जगत्को रचनेवाली मायाके भी प्रकाशक हैं । मायाको जड़ कहा अर्थात् बताया कि उसमें अपनी कुछ शक्ति नहीं है, उसमें श्रीरामजीकी शक्ति है इसीसे श्रीरामजीको मायाका स्वामी कहा । श्रीभुशुण्डीजीने भी कहा है कि "माया खलु नर्तकी बिचारी" है (उ० ११६); जैसा नाच श्रीरामजी नचाते हैं वैसा नाचती है । यथा 'सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा । ७।७२ ।'

"मायाधीश कहनेसे यह शंका होती है कि मायाके सम्बन्धसे श्रीरामजीमें भी मायाजनित अज्ञान और अवगुण होंगे ? इस शंकाके निवारणार्थ "ज्ञान-गुण धाम" विशेषण दिया अर्थात् श्रीरामजीमें माया-के विकार नहीं हैं, वे तो ज्ञान और गुणोंके घर हैं, उन्हींसे ज्ञान और गुण पाकर माया जगत्की रचना करती है । (मा० पी० प्र० सं०) ।

"ज्ञान गुणधाम्", ज्ञानादि दिव्य गुणोंके धाम हैं । यथा "ज्ञानबलैश्वर्य्यवीर्यशक्तितेजःसौशील्यवात्सल्यमार्द-वार्जवसौहार्दसौम्यकारुण्यमाधुर्य्यगांभीर्य्यौदार्य्यस्थैर्य्यधैर्य्यशौर्यपराक्रमसत्यकामसत्यसंकल्पकृतित्वकृतज्ञताद्यसंख्येयकल्याणगुण गुणौघमहार्णवः इति रामानुजमंत्रार्थे ।" पुनः भगवद्गुणदर्पणे यथा "ज्ञानशक्ति बलैश्वर्य्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥ हेयप्रत्यनीकत्वाशेषत्वाभ्यां सह गुणाष्टकमिदं । जगदुत्पत्यादिव्यापारेषुप्रधान-कारणं ॥ आश्रयणभजनोपयोगिनोऽन्ये गुणावक्ष्यन्ते तत्र सत्यत्वज्ञानत्वानंतत्वैकत्वविभुत्वामलत्वस्वातंत्र्यानंद त्वादयो ॥ इत्यादि ॥ (वैजनाथजी) ।

मूलरामायणमें नारदजीने श्रीरामचन्द्रजीके अनेक गुण वर्णन किए हैं जो विशेष देखना चाहें देख लें । इनमेंसे यदि एक गुण भी किंचित् मात्रामें किसीमें आ जाता है तो वह महात्मा और सिद्ध हो जाता है।

नोट—२ 'जासु सत्यता तें ···' इति । (क) जिन शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं उनका प्रकरणानुसार जो अर्थ ठीक बैठता है वही लिया जाता है; जैसे 'हरि' शब्द मानसमें (१) 'रामाख्यमीशं हरिम् । मं० श्लो० ६।', (२) 'कृपासिंधु नररूप हरि । मं० सो० ५ ।' (३) 'कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा । ४।१२।७ ।' इत्यादि स्थानोंमें पृथक्-पृथक् अर्थमें आया है । (१) में जीवोंके क्लेश हरनेवाले अथवा भगवान् । (२) में भगवान् अथवा सूर्य, और (३) में बंदर अर्थ लिया गया है । वैसे ही झूठ, मृषा, मिथ्या आदि शब्दोंका प्रयोग तुलसीग्रंथावलीमें भिन्न-भिन्न स्थलोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें हुआ है । यथा 'झूठेहुँ हमहिं दोष जनि देहू । २।२८।३ ।', 'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं । २।२१० ।', 'झूठइ लेना झूठइ देना । ७।३६ ।', 'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है । क० ७।','मृषा न कहउँ मोर यह बाना ।७।१६।७।','छाँड़हु नाथ मृषा जल्पना । ६।५६ ।', 'मिथ्यारंभ दंभ रत जोई । ता कहँ संत कहहिं सब कोई । ७।९८ ।' इत्यादि स्थलोंमें जहाँ जो अर्थ ठीक बैठता है वही लिया गया है ।

इसी प्रकार 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें । १।११२।१ ।' में जो अर्थ ठीक बैठता है वह दिया गया । वहाँ 'सत्य' के प्रतिपक्षमें 'झूठ' शब्द दिया गया, उसीके अनुसार यहाँ भी 'सत्य इव' कहनेसे इसके प्रति-पक्षमें 'झूठ' का ग्रहण होता है । सत्य इव भासती है अर्थात् सत्य नहीं है, झूठ है । इस 'झूठ' का अर्थ यहाँ

परिवर्तनशील अर्थात् परिणामी, बदलनेवाला, अस्थिर।' और 'सत्य' का अर्थ 'परिवर्तनरहित अर्थात् अपरिणामी, न बदलनेवाला, स्थिर' है।

माया अर्थात् मायाका कार्य जगत् झूठा है और श्रीरामजी सत्य हैं। जैसे जल ठंडा है और अग्नि उष्ण है। इस भेदको न जाननेवाले मनुष्यको यदि गर्म जल दिया जाय तो वह उसका उष्णता धर्म जलका ही धर्म समझेगा; वैसे ही जगत् श्रीरामजीमें मिला हुआ है इसलिये कभी-कभी जगत्में भी सत्यत्वका अनुभव हो जाता है, यद्यपि वह सत्यत्व-धर्म श्रीरामजीका ही है। मोहवशात् इस भेदको और श्रीरामजीको न जाननेसे अज्ञानी जीव इस सत्यत्वको जगत्का ही मान बैठते हैं और उसमें फँसकर दुःख उठाते हैं।

'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने' में श्रीरामजीको न जाननेसे झूठ सत्य जान पड़ता है यह बताया था। और यहाँ बताते हैं कि श्रीरामजीकी सत्यतासे माया सत्य सी जान पड़ती है। इन दोनों वाक्योंको विचार करनेसे यह बात सिद्ध होती है कि जगत्में भासमान सत्यत्व वस्तुतः श्रीरामजीका है; जब हम रामजीको जानेगें तब हमें यह ज्ञान हो जायगा कि यह सत्यत्व श्रीरामजीका है।

पूर्व 'विषय करन' को सचेत और जगत्का प्रकाश करनेवाला कहा और यहाँ श्रीरामजीको 'माया-धीस' कहा, उससे जान पड़ा कि माया अर्थात् विषय करण और जगत् भी कोई एक सत्य वस्तु है जिसके अधीश श्रीरामजी हैं। उसके निराकरणार्थ कहते हैं कि 'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव···'। अर्थात् माया सत्य नहीं है, उसका सत्यसा भासना श्रीरामजीकी सत्यतासे है।

जैसे "यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं···" इस प्रसंगकी कुछ बातें 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।११२।१।' में कविने खोलीं, वैसे ही "झूठेउ सत्य···" की कुछ विशेष बातें यहाँ खोलते हैं।

'झूठेउ सत्य' से यह अर्थ होता है कि झूठा भी सत्य है। अथवा, जो द्वैत अद्वैत दोनोंको सत्य मानते हैं उनके मतानुसार 'झूठ भी है और सत्य भी है' ऐसा भी अर्थ होता है। अतः गोस्वामीजी अपना अभीष्ट अर्थ स्पष्ट करनेकेलिये यहाँ 'भास सत्य इव' पद देते हैं अर्थात् माया वस्तुतः सत्य नहीं है, किन्तु श्रीरामजीकी सत्यतासे सत्य भासित होती है।

"बिषय करन सुर जीव समेता" से लेकर यहाँ तक तीन बातें दिखाईं। एक यह कि इन सबोंके सचेत करनेवाले श्रीरामजी हैं। दूसरे यह कि जगत्मात्रको प्रकाशित करने वाले (अर्थात् जिनके कारण हमें जगत् अनुभवमें आता है वह) भी श्रीरामजी ही हैं। तीसरे यह कि उनमें जो सत्यत्व भासता है वह भी श्रीरामजीके सत्यत्वसे ही भासता है। यथा "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।मुण्ड० २।२।१०।" जैसे 'रज्जु सर्प' के संचलन, भास, सत्यत्व आदि सब गुणधर्म उसके अधिष्ठान 'रज्जु' के ही हैं वैसे ही यह जगत् श्रीरामजीमें भासित होनेसे इस जगत्के चेतनत्व, भास और सत्यत्व सब गुणधर्म श्रीरामजीके ही हैं, यह बात उपर्युक्त प्रसंगसे जनाई है।

मा० पी० प्र० सं०—स्थूल शरीरकी सत्तासे नख और बाल बढ़ते हैं, यदि इन दोनोंको शरीरसे अलग कर दें तो स्थूल शरीरको किंचित् पीड़ा नहीं होती। इसी प्रकार ईश्वरकी सत्तासे जड़ मायामें सत्यकी प्रतीति होती है, उसके अलग हो जानेसे जीवको दुःख नहीं, वरन् सुखही होता है। पुनः, जैसे चुम्बक पत्थरकी सहायतासे लोहा (जड़ वस्तु) चैतन्य (चलता हुआ) जान पड़ता है, वैसे ही माया मोहकी सहायतासे सत्य जान पड़ती है। (यह भाव अध्यात्म रामायणके आधारपर होगा। यह अद्वैत मत है)। अध्यात्म रामायण सर्ग १ में शिवजीके वचन इस प्रसंगपर ये हैं—"सर्वान्तरस्थोपि निगूढ आत्मा स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे। जगन्ति नित्यं परितोभ्रमन्ति यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि॥ १८॥ एतन्नजानन्ति विमूढचित्ताः स्वाविद्यया संवृतमानसा ये। स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्धबुद्धेस्वारोपयन्तीह निरस्तमाये॥ १६॥" अर्थात् प्रभु सब जीवोंके अन्दर बसे हैं, परन्तु बहुत गुप्त हैं, अपनी मायासे रचे हुये इस संसारको देख रहे हैं। जगत्

जड़ है तौ भी उनके प्रभावसे नित्य ही इस प्रकार परिभ्रमण कर रहा है जैसे जड़ लोहा चुम्बक पत्थरके प्रभावसे। अर्थात् यह जो मायाका दृश्य है यह प्रभुकी सत्ताके कारण सत्यसा देख पड़ता है। ऐसा न जानकर अपने मनपर अविद्यामायाका आवरण डाले हुए मूर्ख लोग अपने अज्ञानको आत्मरूप, शुद्धबुद्ध, मायासे परे प्रभुमें आरोपण करते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'जासु सत्यता तें जड़ माया' इति। आगे इसीको दृष्टान्त देकर दिखाते हैं। झूठी मायाके संबंधसे रामजी न देख पड़े, किन्तु असत्य मालूम हुए, यथा '"गगन घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥', 'मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म'। रामजी सत्य हैं; उनकी सत्यतासे झूठी माया सत्य जान पड़ी। (ख) जो असत्य और जड़ माया श्रीरामजीकी सत्तासे सत्य और चेतन भासती है—ऐसा कहनेसे यह पाया जाता कि सभीको माया सत्य प्रतीत होती है, इससे "मोह सहाया" पद दिया। भाव यह कि जिसको मोह है, उसीको माया सत्य भासती है, अन्यको नहीं। यथा "बदन हीन सो ग्रसइ चराचर पान करन जो जाहीं", "जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि। २।१४२।' (मोह, अज्ञान, अविवेक पर्याय शब्द हैं। अविवेकी मनुष्य अपनेको देह समझकर देहके ही पालन पोषणमें लगा रहता है। यदि मोह न होता तो वह देहको जड़, असत्य और अपनेको उससे भिन्न चेतन अमल सुखराशि जानता) जो मोहरहित ज्ञानी पुरुष हैं जैसे श्रीशुक-सनकादिकजी उनको तो वह असत्य ही देख समझ पड़ती है। (प्र० सं०)। (ग) पुनः, यहाँ श्रीरामचन्द्रजी और माया दोनोंका प्राबल्य दिखा रहे हैं। श्रीरामजीमें इतनी सत्ता है कि असत्यको सत्य प्रतीत करा देते हैं और मायामें इतनी असत्यता है कि ऐसे ईश्वरको असत्य कर देती है। देखिए, गरुड़को मोहमें डाल दिया, यथा 'व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥ सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥"। ७।५८।' इसी तरह सतीजीको, यथा 'बहुरि राम-मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा।' (प्र० सं०)।

वि० त्रि०—माया अघटित-घटना-पटीयासी है। उसके अधीश बनकर सगुण हुए। मिथ्या माया जड़ है। उसमें प्रकाशन शक्ति नहीं है। परिच्छेदके अवभासको अनात्माभास कहते हैं, वही अविद्या, जड़ शक्ति, शून्य या प्रकृति कहलाता है। ब्रह्म चेतन है, उसकी सत्यतासे जड़ माया (संसार), मोह (अज्ञान) की सहायतासे सत्य भी मालूम होती है। भाव यह कि श्रीरामजीमें जो 'बिरह बिकलतादि' तुमने देखा वह माया थी, सत्य नहीं था। जब रामजीमें सारा संसार, बिना हुए दिखाई पड़ता है तो उतना बिरह बिकलतादिका बिना हुए दिखाई पड़ना कौनसी बड़ी बात थी। तुम्हारे अज्ञानकी सहायतासे वह सब सत्य दिखाई पड़ा।

दोहा—रजत सीप महुं भास जिमि जथा भानुकरबारि।
जदपि मृषा तिहुं काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि॥११७॥

शब्दार्थ—रजत = चाँदी। भास (सं०) = भासती है = चमकती है; प्रतीत होती है। भास (संज्ञा) = प्रतीति। भानुकर = भानु (सूर्य) कर (किरण)। भानुकर बारि—१।४३।८ 'तृषित निरखि रबिकर भव बारी।"' में देखिए। मृषा = अयथार्थ ज्ञानका विषय, धोखा देनेवाला। टारना = हटाना।

अर्थ—जैसे सीपमें (व्यवहारात्मिका) रजतका भास और जैसे सूर्यकिरणमें (व्यवहारात्मक) जलका भास, यद्यपि ये (व्यवहारात्मिक रजत और व्यवहारात्मक जल दोनों) तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) में मिथ्या हैं (तथापि) इस 'भ्रम' को कोई हटा नहीं सकता। (भाव कि भ्रम हो जाता ही है)॥११७॥

टिप्पणी—१ जैसे सीपमें चाँदीका भास होता है और सूर्यकिरणमें जलका, वैसे ही श्रीरामजीकी सत्यतामें माया सत्य भासती है। (पिछली चौपाई 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह

सहाया।' में जो कहा उसीका दृष्टान्त इस दोहेमें दे रहे हैं। वहाँ मायाका स्वरूप कहा, यहाँ उसका दृष्टांत दिया)। सीप सत्य है, (उसमें) चाँदी (का भास) झूठ है। सूर्यकिरण सत्य है, (उसमें) जल (का भास) झूठ है। ऐसे ही श्रीरामजी सत्य हैं, माया झूठी है।

२ यहाँ दो दृष्टान्त दिये हैं—सीपमें चाँदीका भ्रम और रविकिरणमें जलका भ्रम। दो दृष्टान्त इस लिये दिये कि श्रीरामजीके दो रूप हैं, एक निर्गुण दूसरा सगुण। (इन्हीं दो का प्रसंग यहाँ चला जा रहा है)। दो रूप, यथा 'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही'। सगुण स्थूल है, इससे सगुण रूपके दृष्टांतमें 'सीप' को कहा, क्योंकि 'सीप' स्थूल है। निर्गुणरूप सूक्ष्म है; उसके लिये रविकिरणका दृष्टान्त दिया, क्योंकि सूर्यकिरण भी सूक्ष्म है। अथवा, जो दृष्टान्त मायाके लिये दिया, वही आगे जगत्‌के लिये देते हैं; इसीसे यहाँ दो दृष्टान्त दिये—एक मायाके लिये, दूसरा जगत्‌के लिये। [पुनः ऐसा भी कह सकते हैं कि रज्जुसर्प अँधेरेका दृष्टान्त है और रजत-सीप तथा मृगजल पूर्ण प्रकाशके दृष्टान्त हैं जिनमेंसे एक निकटका और दूसरा दूरका है]

नोट—१ समन्वय सिद्धान्तानुसार 'मृषा' शब्दका अर्थ 'अयथार्थ ज्ञानका विषय, धोखा देनेवाला, परिवर्तनशील' इत्यादि ही माना जाता है, जैसा कि 'झूठेउ सत्य' की व्याख्यामें लिख आए हैं। 'तिहुँ काल' का भाव कि यह आजहीका ऐसा नहीं है, भूतकालमें भी ऐसा ही था और आगे भी ऐसा ही 'मृषा' रहेगा। 'भ्रम न सकइ कोउ टारि' का भाव कि यह जानतेहुए भी कि शुक्ति रजत और मृगजल सदा ऐसाही धोखा देते हैं तब भी इनके धोखेमें लोग आ जाते हैं। 'जदपि' कहकर इसमें यह विलक्षणता दिखाई।

इस सिद्धान्तानुसार शुक्ति रजत और मृगजल दोनों हैं और सदा अपने अधिष्ठानमें, अर्थात् रजत शुक्तिमें और जल सूर्यकिरणमें, स्थित हैं। इसका समर्थन 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने। ११२।१।' में किया जा चुका है। एक समाधान और यह भी है कि नैयायिकोंने चांदीको तेज माना है और शुक्ति पृथ्वीतत्व है। पंचीकरणके अनुसार पृथ्वीमें तेजका अष्टमांश है। अतः शुक्तिमेंके पृथ्वीतत्वका अंश आच्छादित होनेसे उसमें स्थित तेजस्तत्वका अनुभव होता है। तब उसमें चाँदीका भास होता है। इसी प्रकार सूर्यकिरण तेज है और पंचीकरणानुसार तेजमें जलतत्त्वका अष्टमांश है। जब तेजस्तत्वका आच्छादन होता है तब किरणोंमें जलतत्वका भास होता है। [श्रीरामानुजाचार्यस्वामी, स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी और श्रीप्रभाकरजी आदि वेदवेत्ताओंका यह निश्चित सिद्धांत है कि सम्पूर्ण ज्ञान सत्य है—'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्।' (श्रीभाष्य), और श्रुति स्मृतियोंमें भी त्रिवृत्करण, पंचीकरण और सप्तीकरण आदिसे सीपमें रजतकी तथा रविकिरणमें जलकी नित्य सत्यता समझाई गई है। रज्जुमें सर्पका, सीपमें रजतका तथा रविकिरणमें जलका भ्रम उसकी स्वल्पसत्ताका प्रत्यायक है। जहाँपर जिसकी सत्ता स्वल्पमात्र भी नहीं रहती, वहां उसका भ्रम नहीं होता। जैसे सीपकेही पृष्ठ भाग पर अथवा तमाल-पत्रादिमें रजतका भान नहीं होता क्योंकि वहाँ रजतकी स्वल्प सत्ता भी नहीं है। (वे० भू०)]।

इस पर यह शंका हो सकती है कि इस सिद्धांतके अनुसार जब शुक्तिमें रजत और सूर्यकिरणमें जल सूक्ष्मरूपसे है ही तब उसके ज्ञानको 'भ्रम' क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि उसके ज्ञानको यहाँ 'भ्रम' नहीं कहा गया, किन्तु वह वस्तुतः 'मृषा' अर्थात् अयथार्थ ज्ञानका विषय, अस्थिर और परिवर्तनशील है तथापि हम उसे यथार्थ ज्ञानका विषय, स्थिर और परिवर्तनरहित समझते हैं; यही 'भ्रम' है।

२ बाबा जयरामदासजी—"जासु सत्यता ते जड़ माया…" यह चौपाई अद्वैतमतके समर्थनमें उद्धृत की जाती है। यहाँ यह कहा जाता है कि मायाको असत्य कहा गया है, अतः यह अद्वैतवाद है। परन्तु इसके ऊपरकी चौपाई देखिये—"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुनधामू।" इसमें श्रीरामजीको मायाधीश कहकर स्पष्ट मायावाद सूचित किया गया है तथा जगत् शब्द जड़ मायाके पर्यायवाची शब्दके

रूपमें व्यवहृत हुआ है। दोहेके नीचेकी चौपाई 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।' में भी जगत्का भासनाही असत्य कहा गया है; क्योंकि यहाँ भी वही स्वप्नकी उपमा दी गई है; यथा "जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई।" और इस भ्रम का हटना सिवा रामकृपाके और किसी साधनसे सम्भव नहीं है—'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।' यद्यपि यह भ्रम तीनों कालमें मिथ्या है, अर्थात् यह जगत् तीनों कालमें रामरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, फिर भी उस भ्रमको कोईभी अपने पुरुषार्थसे हटानेमें समर्थ नहीं है जैसा कि "रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर-बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।" इस दोहेमें कहा है। यहाँ 'रजत-सीप' की उपमासे 'विद्यामाया' और 'भानुकरबारि' की उपमासे अविद्यामायाको सूचित किया गया है; क्योंकि विद्यामाया—'एक रचइ जग गुन बस जाकें' दुःखद नहीं है, परन्तु वह नानारूप-जगत्को भासित कराकर, पर्दासा डालकर भ्रम उत्पन्न करती है और दूसरी अविद्यामाया मृगतृष्णाकी भाँति "मैं", "मोर", "तैं" 'तोर' बंधनवाली दुःखरूपा है, यथा 'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥'

इन दोनों प्रकारकी मायाओंसे युक्त जगत् न कभी पहले भूतकालमें ही रामरूपको छोड़कर वस्तुतः इस नानारूपमें था, न अब वर्तमानकालमें ही है और न आगे कभी भविष्यमें ही इसका यह नानात्व वास्तविक होगा; तीनों कालोंमें यह जगत् भगवत्स्वरूप ही सत्य है। इसीसे कहा गया है—'एहि बिधि जग' अर्थात् इस प्रकारका यह जगत् जो 'हरि आश्रित रहई' अर्थात् जिसके आश्रय केवल श्रीरामजी ही हैं, जिनका यह विश्वरूप है—"विश्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिश्वास।" अतएव यहाँ भी माया या जगत्को मिथ्या न कहकर उसके नानात्व भ्रमको ही मिथ्या कहा गया है; जो भ्रम श्रीरामकृपासे ही मिटता है। भ्रम मिटनेपर जीवको यह संसार श्रीरामरूप भासने लगता है तथा वह भ्रमजनित दुःखसे मुक्त होकर सुखी हो जाता है। इस लिये यहाँ भी अद्वैतवादसे कोई संबन्ध नहीं है। (मानस रहस्य)।

३ वे० भू०—वेदान्तप्रकरणमें गोस्वामीजी 'असत्य' और 'जड़' शब्दोंको पर्य्यायवाची तथा 'सत्य' और 'चेतन' शब्दोंको पर्य्यायवाची मानते हैं ❀। यह निम्न चौपाई और विनयके पदसे स्पष्ट हो जाता है—'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।' अर्थात् जिस ब्रह्मकी चैतन्यतासे सहायक भूत अपने कार्य्य मोहके सहित जड़ माया भी चैतन्य भासित होती है, वह दयालु ब्रह्म रघुकुलावतीर्ण श्रीरामजी ही हैं। यदि यहाँ 'सत्य इव' का 'चैतन्य इव' अर्थ न किया जायगा तो 'जड़' शब्दकी कोई गतिही नहीं रह जाती। अतएव 'जड़' शब्दके साहचर्य्यसे मायामें सत्यका अर्थ चैतन्य और 'असत्य' का अर्थ जड़ मानना नितांत आवश्यक है।† मायाको मिथ्या माननेको तो ग्रंथकार ही विनयपत्रिका और कवितावलीमें

❀ परन्तु गोस्वामीजीने इस ग्रन्थमें श्रीरामजीको सत् (सत्य चित्) (चेतन) एक साथ ही अनेक बार कहा है। यथा 'व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनंद रासी॥१।२३।६।' 'राम सच्चिदानंद दिनेसा। १।११६।५।', 'सोइ सच्चिदानंदघन०। ७।२५।' इत्यादि। यदि सत्य और चेतन पर्याय होते तो क्या इस प्रकार एक साथ इनका प्रयोग हो सकता है? (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

† परन्तु इसपर शंका होती है कि—यहाँ जड़ शब्द एकबार और सत्य शब्द दो बार आया है अतः विशेष होनेसे सत्य शब्दके प्रतियोगितामें जड़का अर्थ मिथ्या क्यों न किया जाय? जैसा कि आगेके दोहा 'जदपि मृषा तिहुँ काल' में स्पष्ट कहाही है, इसी प्रकार अन्यत्रभी 'असत्य', मिथ्या आदि शब्दोंका प्रयोग किया ही है। वहाँ भी क्या ऐसी ही खींचातानी करके अर्थ किया जाय जो सर्वथा अनुचित है। (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

मना,कर रहे हैं। यथा 'जौं जग मृषा तापत्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे ?‡ 'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है। जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है।' (क०)। अद्वैतसिद्धान्त प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक तीन सत्ताओंको मानता है। गोस्वामीजीने इनको कहीं भी स्पष्ट न लिखकर अद्वैत सिद्धातोंको भ्रमात्मक माना है। यथा "कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपनु पहिचानै।" भाव यह है कि प्रकृतिको सत्य कहनेवाले सांख्यवादको, असत्यमाननेवाले अद्वैतवादको और दोनों सिद्धांतोंको प्रबल माननेवाले द्वैताद्वैत (भेदाभेद) वादके सिद्धांतोंको भ्रमात्मक* कहते हुए परित्याग करनेके लिये बतलाया गया है।

कोई-कोई समझते हैं कि रजत-सीप आदि दृष्टान्त केवल अद्वैतवादियोंके ही हैं। ऐसा मानना सर्वथा भूल है क्योंकि इन्हीं दृष्टान्तोंको सभी दार्शनिकोंने अपने-अपने पक्षके समर्थनमें अर्थान्तरसे दिया है।

इसी तरह रज्जु सर्प और भानुकरबारि आदिके दृष्टान्तोंको भी समझना चाहिए।

इस दोहे से अद्वैतवाद कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अध्यास तो विना तीनके बन ही नहीं सकता। एक तो अधिष्ठान (आधार) जिसमें कि किसी दूसरी वस्तुका आरोप होता हो। दूसरा वह पदार्थ जिसकी कल्पना अधिष्ठानमें की जाय। तीसरा वह (अधिष्ठाता) जो कि अज्ञानसे दूसरेमें दूसरेका आरोप करे। जैसे कि दृष्टान्तमें १ अधिष्ठान=सीपि, रवि किरण और रज्जु आदि। २—कल्पित पदार्थ रजत, जल और सर्पादि। ३—अधिष्ठाता=कल्पना करनेवाला अज्ञानी व्यक्ति। क्योंकि सीपि, रविकिरण और रज्जु आदिको तो यह भाव हो ही नहीं सकता कि मुझमें चाँदी, जल और सर्पादिका आरोप हुआ है। इसी प्रकार चाँदी आदिको भी यह अनुमान नहीं हो सकता कि मैं सीपि आदिमें अध्यस्त हूँ। यह भास तो उसे होगा जो अधिष्ठान सीपी आदि तथा अध्यस्त रजत आदिसे सर्वथा भिन्न कोई एक तीसरा ही हो। उसी तरह,

‡ वस्तुतः यहाँ लोगोंका तर्क वितर्क है कि यदि जगको झूठ कहें तो दुःखका अनुभव किस प्रकार हो सकता है? इसके आगे कहते हैं कि—'कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रमतें दुख होइ बिसेषें।' अर्थात् (सूर्यके किरणोंसे) जो मृगजलका भ्रम होता है उससे भी बहुत दुःख होता है, परन्तु उसको सत्य नहीं कहा जाता। अन्तमें 'तुलसीदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठि श्रुति गावै' इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंमें जगत्को झूठ कहा और अपने सिद्धांतको श्रुतिकी संमति भी बताया। (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

* इस कथनसे तो प्रायः सब आचार्योंके सिद्धान्तोंको भ्रमात्मक कहना पड़ेगा, क्योंकि कुछ लोग (बौद्धादि) जगत्को असत्य मानते हैं, कुछ (विशिष्टाद्वैती, द्वैती तथा सर्वसाधारण लोग) इसको सत्य मानते हैं और कुछ (निंबादित्यानुयायी) सत्यासत्य मानते हैं। अतः उपर्युक्त कथनानुसार ये सब सिद्धांत भ्रमात्मक मानने पड़ेंगे। श्रीस्वामी शंकराचार्यजीके अनुयायी (अद्वैती) जगत्को न सत्य मानते हैं न असत्य, किन्तु सदसद्विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय मानते हैं, अतः गोस्वामीजीके विचारसे यही एक सिद्धांत भ्रमरहित है, (ध्यान रहे कि अद्वैत मतमें मिथ्या, मृषा, असत्य आदि शब्दोंका तात्पर्य 'अनिर्वचनीय' ही है)। दूसरोंको क्या कहें खास गोस्वामीजीने ही अपने ग्रंथोंमें इन शब्दोंका प्रयोग विशेषरूपसे किया है जैसा कि अद्वैतीयोंको छोड़कर अन्य कोई प्रायः नहीं करता, तो क्या गोस्वामीजी अपने ही कथनको भ्रम कहेंगे, मेरे विचारसे तो गोस्वामीजीके इस कथनका तात्पर्य यह है कि "जगत्के सत्य मिथ्याविषयक वादविवादसे जीवका उद्धार न होगा; अतः इस व्यर्थ झगड़ेको छोड़कर आत्मज्ञान कर लेना चाहिये, इसीसे ही जीवका उद्धार होगा, (ध्यान रहे कि यहाँ पर 'सो आपनु पहिचाने' कहा है, अपनेको जाननेसे मोक्ष कहनेवाले अद्वैती ही है)। (पं० रूपनारायण मिश्र)।

अधिष्ठानपदार्थ ब्रह्म १। अध्यस्त पदार्थ जगत् २। और अधिष्ठाता (अध्यास करनेवाला) अज्ञानी ३, होने चाहिये। विना इन तीनोंके अध्यासवाद बनही नहीं सकता। और जब तीनों नित्य (अनादि) होंगे तभी स्वामी शंकराचार्यजीके बतलाये "एवमनादिरमन्तो नैसर्गिकोऽयमध्यासः" इस सिद्धान्तके अनुसार यह अध्यासवाद सिद्ध होगा। ❀

४ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "अपने स्थानमें चाँदी और जल सच्चे हैं। उसी सचाईसे सीपमें चाँदीकी प्रभा दिखाई देती है और रविकिरणमें जलकी। सीपमें चाँदीका प्रकाश मात्र है, स्थूल सीपही है, उसको चाँदी मानना भ्रम है; तथा रविकिरणमें जलका प्रकाशमात्र है, स्थूल किरण ही है, उसको जल मानना भ्रम है। वैसे ही संसारमें ईश्वरका प्रकाश मात्र है, स्थूल पंचभौतिक है यथा स्त्री पुत्र आदि यावत् देह व्यवहार है, उसको सच्चा मानना भ्रम है। यद्यपि देह व्यवहार तीनों कालमें वृथा है तो भी उसमें सचाईका भ्रम मिटता नहीं।"

नोट—५ अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार दोहेका भाव यह है कि जगदुत्पत्तिके पूर्व यह जगत् नहीं था अथवा प्रलयके बाद नहीं रहेगा, यह बात सर्व साधारणकी बुद्धिमें आ जाती है परन्तु जब कि प्रत्यक्ष जगत्का अनुभव हो रहा है और उससे सुख दुःख प्राप्त होता है, अतः अनुभवकालमें तो यह अवश्य है, ऐसा ही सर्व साधारण लोग समझते हैं। परन्तु इस सिद्धान्तमें चराचर जगत् न तो प्रथम था, न इस समय है और न आगे होगा। गोस्वामीजी दो दृष्टान्त देकर इसी सिद्धांतका प्रतिपादन यहाँ कर रहे हैं।

रज्जुसर्पके दृष्टान्त पूर्व दिये गए। उसपर कदाचित् कहा जाय कि सर्प चेतन होनेसे हल्ला-गुल्ला करनेसे भाग गया होगा वस्तुतः वह सर्प ही था, रस्सी न थी, अतः रस्सीमें सर्पका भ्रम होना सिद्ध नहीं होता, अतएव शुक्ति (सीप) रजतका दृष्टान्त देते हैं। रजत् समझकर जब उसको उठाया तब हाथमें सीप आई तब ध्यानमें आ जाता है कि जिसको हम रजत समझते थे वह रजत नहीं है, सीप है। अतः सिद्ध हुआ कि सीप अनुभवकालमें रजत न था, अब भी नहीं है। अतएव आगे भी नहीं होगा। इस प्रकार तीनों कालमें उसका मृषात्व सिद्ध हो गया।

कुछ दार्शनिक रज्जु-सर्प, शुक्ति (सीप) रजत, और मृगजल आदिको सत्य अर्थात् तीनों कालोंमें विद्यमान मानते हैं; अतः गोस्वामीजी अपना मत स्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं कि ये तीनों कालोंमें मृषा है।

❀ वस्तुतः अद्वैत सिद्धान्तानुसार ब्रह्मको छोड़कर अन्य जीव अथवा जगत् कोई पदार्थ है ही नहीं परंतु यह बात पामर जीवोंके समझमें सहसा नहीं आती। अतः उनको समझानेके लिए शास्त्रमें कहा गया है कि जैसे रज्जुपर सर्प भासता है वैसाही ब्रह्मपर जगत् भासता है। तात्पर्य प्रातिभासिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता मानकर ही यह सब कथन है। पारमार्थिक सत्तामें तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वा 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि कथनको भी स्थान नहीं है, ठीक ही है जब कि ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं तब किसको किसका अध्यास होगा! परंतु यह तत्व न समझनेसे ही अनेक शंकाएँ उठती हैं। उनका समाधान भी किया जाता है जिस पर लोग और तर्क वितर्क करने लगते हैं; जैसे श्रीरामजीका श्रीजानकीजीसे कदापि वियोग नहीं होता तथापि लीलाके अनुसार दोनोंका वियोग, उससे दोनोंको शोक, पुनर्मिलन, फिर हर्ष इत्यादि पुराणादिमें वर्णित हैं; जिसको लेकर अज्ञानी जीव उसपर तर्क वितर्क करने लगते हैं, उन्हीं लोगोंके विषयमें बालकांडमें श्रीपार्वतीजीके प्रश्न पर दोहा ११४ से ११८ तक कहा गया है। मेरे विचारसे श्रीगोस्वामीजीने इस भक्ति-प्रधान ग्रंथमें चरित्रको ही प्राधान्य दिया है तथापि अन्य विषय और दार्शनिक तत्व-विचार भी यत्र तत्र संक्षेपसे दिये हैं, ऐसे स्थलोंपर अपने संप्रदायके सिद्धांतानुसार ग्रंथकी संगति लगाने भरका यत्न करना चाहिए, अन्य सिद्धान्तके खंडनमें समय न देना ही अच्छा। (पं० रूपनारायण मिश्र)।

प० प० प्र०—'रजत सीप···' इति। इन दृष्टान्तोंसे जनाते हैं कि जगत्‌की प्रातिभासिक सत्ताका नाश जीवके अधीन नहीं है। व्यवहारकालमें व्यावहारिक सत्ताका नाश भी जीवके प्रयत्नसे नहीं होता है। भ्रमाधिष्ठान सीप और भानुकरको जान लेनेपर भी उस ज्ञानी की इन्द्रियोंको विशिष्ट परिस्थितिमें शुक्तिमें रजत और भानुकरमें जलका आभास तो होगा ही, पर वे त्रिकालमें सत्य नहीं हैं यह जाननेवाला उनसे सुखप्राप्तिकी आशा कभी करेगा ही नहीं। इस विश्वकी पारमार्थिक सत्यता सत्ता नहीं है। यह प्रपंच 'मोहमूल परमारथ नाहीं' यह लक्ष्मणगीतामें कहा ही है। जीवन्मुक्तावस्थामें भी विश्वकी प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता नष्ट नहीं होती है। केवल निर्विकल्प समाधिअवस्थामें विश्व नहीं रह जाता।

दो दृष्टान्त साभिप्राय हैं। इन दो दृष्टान्तोंसे केवलाद्वैतसंप्रदायके दो मतोंका दिग्दर्शन कराया है। शुक्तिका रजतमें शुक्तिका उपादान कारण है और सूर्यकिरणोंकी विशिष्ट परिस्थिति निमित्त कारण है। एक पक्ष मायाधिष्ठान ब्रह्मको निमित्त और मायाको उपादान कारण मानता है। जल-बीचि, कनक-कंकण दृष्टान्त भी इस मतके ही निदर्शक हैं। दूसरे दृष्टान्तमें भानुकर उपादान है और भूमिकी विशिष्ट परिस्थिति निमित्त कारण है। (यह दूसरा पक्ष है जो) ब्रह्मको उपादान और मायाको निमित्त मानता है। इन दो दृष्टान्तोंमें सूर्यस्थानीय ब्रह्म है, एकमें सूर्य उपादान है और एकमें निमित्त। भागवतटीकाकार श्रीधर ब्रह्मको उपादान और मायाको निमित्त मानते हैं तथा बहुतसे ज्ञानोत्तरभक्तिमार्गीय केवलाद्वैती सन्तोंका भी यही मत है। शङ्करानन्दादि ब्रह्मको निमित्त और मायाको उपादान मानते हैं। पर दोनोंमें अभेद होनेसे कोई हानि नहीं है। ब्रह्मको उपादान माननेवाले परिणामवादका अंगीकार नहीं करते।—देखिए श्रीमद्भागवतकी वेदस्तुति 'न घटतः उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोः···। भा० १०।८७।३१।' की श्रीधरी टीका।

वि० त्रि०—सीपमें रजत तीन कालमें असत्य है। सीपोंकी सत्यतासे उसमें सत्यताकी प्रतीति होती है। सीपीका इदमंश रजतमें प्रतीत होता है, और सीपीका नील पृष्ठ त्रिकोणादिरूप तिरोहित रहता है। इसी भाँति परमात्मामें इस मिथ्या जगत्‌की प्रतीति होती है। असंग आनन्दादि गुण तिरोहित हो जाते हैं, और रजतकी भाँति जगत् भासित होने लगता है। यह हुआ मन्द अंधकारका भ्रम। अब प्रकाशका भ्रम कहते हैं। जेठकी दुपहरियामें जलका भ्रम होता है। वह जल तीनों कालोंमें असत्य है, पर दिखलाई पड़ता है। ज्ञानसे भ्रमकी निवृत्तिमात्र होती है, संसार-दर्शनकी निवृत्ति नहीं होती, वह तो उसी भाँति भासित होता रहता है। 'भ्रम न सकै कोउ टारि' का यही अभिप्राय है कि असत्य प्रतीतिके बाद भी उसका दिखाई देना नहीं बन्द होता। उसी भ्रमको कोई टाल नहीं सकता। संसार-भ्रम क्या टलेगा?

टिप्पणी—२ (क) "तिहुँ काल" का भाव कि श्रीरामजी तीनों कालोंमें हैं, माया उनके आश्रित है, इससे वह भी तीनों कालोंमें है। यथा 'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।' (ख) 'भ्रम न सकै कोउ टारि'—मृषा होते हुये भी सत्य ऐसा भासती है इस भ्रमको कोई हटा नहीं सकता। अर्थात् भ्रमको दूरकर मायाको छोड़ देना शक्तिसे बाहर है, यथा 'सो दासी रघुबीरकी समझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।' ☞ छूट नहीं सकती तब आखिर जनक, शुकदेव आदि मायासे छूटे कैसे? अपनी शक्तिसे नहीं, किंतु रामकृपासे। रामकृपासे ही यह भ्रम मिटता है यही आगे कहते हैं,—'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।' पुनः, [(ग) यहाँ 'कोउ' का अर्थ है स्वयं वह अथवा दूसरा कोई अथवा जिस अधिष्ठानपर भ्रम हुआ है जबतक उसका ज्ञान नहीं होगा तबतक कोई नहीं टाल सकता। इसी से श्रीरामजीको जाने विना उनमें जो जगत्‌का भास होता है उसे कोई टाल नहीं सकता। (घ) 'कोउ न सकै' का यह भी एक भाव है कि टारने का प्रयत्न तो बहुत करते हैं; योग, जप, तप, यज्ञ आदि अनेक साधन करते हैं, परन्तु इनके द्वारा छूटना तो दूर रहा और अधिक भ्रममें फँसता जाता है]

नोट—६ पंजाबीजी लिखते हैं कि "सीपमें चाँदी सीपके अज्ञान (ज्ञान न होने) से और रेतका

ज्ञान न होनेसे रविकिरणके विषय मृगतृष्णाका जल दृष्टिमें आता है। ये कल्पित पदार्थ असत्य हैं, पर उस समय असत्य नहीं भासते", इसीसे 'न सकै कोउ टारि' कहा।

एहि बिधि जग हरि आश्रित[१] रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥१॥
जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई ॥२॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥३॥

शब्दार्थ—आश्रित = ठहरा हुआ, सहारे पर टिका हुआ, अधीन।

अर्थ—इसी प्रकार जगत् भगवान्‌के आश्रित रहता है, यद्यपि वह असत्य (परिवर्तनशील) है तोभी दुःख देता है ॥ १ ॥ जैसे, यदि स्वप्नमें कोई सिर काटे तो बिना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता ॥ २ ॥ हे गिरिजे! जिसकी कृपासे ऐसा भ्रम मिट जाता है वही कृपाल श्रीरघुनाथजी हैं ॥३॥

नोट—१ (क) दोहा ११७ (८) 'जासु सत्यता तें जड़ माया।…' में मायाका स्वरूप कहा और यहाँ ११८ (१) में जगत्‌का स्वरूप बताया। इन दोनोंके बीचमें दोहा ११७ 'रजत सीप…' को देकर दोहेको दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर सूचित किया। अर्थात् माया और जगत् दोनोंका एक ही स्वरूप है यह जनाया। (ख) 'एहि बिधि' अर्थात् जिस विधि सीपीके आश्रित चाँदी और रविकिरणके आश्रित जल इसी प्रकार हरिके आश्रित जगत् है। अर्थात् उनकी सत्तासे जगत् सत्य (अपरिणामी) प्रतीत होता है। (ग) 'एहि बिधि…' का तात्पर्य यह है कि शुक्ति-रजत और मृगजल शुक्ति और सूर्यकिरणके आधारपर ही भासते हैं। वैसे ही जगत् भी श्रीरामजीके आधार पर भासता है। 'एहि बिधि' से इन्हीं दोका बोध होता है न कि मायाका। मायाका स्वतंत्र अनुभव है नहीं, जगत् आदि कार्यरूपसे ही उसका अनुभव होता है। अतः दोनों-में अभेद मानकर ही यत्र-तत्र इन शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। (घ) "एहि बिधि" से जाना गया कि जैसे शुक्तिरजत, मृगजल, रज्जुसर्प आदि तीनों कालमें नहीं हैं वैसे ही जगत् पहले नहीं था, अभी नहीं है और न आगे रहेगा। इसपर यदि कोई कहे कि 'जब यह असत्यही है तो फिर उसकी चिंताकी क्या आवश्यकता, उससे कोई हानि नहीं होगी?' तो उस पर कहते हैं कि यद्यपि यह असत्य है तथापि दुःख देता है, अतः उसके (भ्रमके) निवृत्तिका उपाय करना चाहिए। यहाँ शंका हो सकती है कि 'ब्रह्म सत्य है तब उसका आश्रित जगत् असत्य कैसे हो सकता है'। समाधान—जैसे ब्रह्म चेतन है परंतु उसका आश्रित जगत् जड़ है। ब्रह्म आनंदघन है परन्तु जगत् दुखदाई है; वैसे ही सत्य ब्रह्मका आश्रित जगत् असत्य हो सकता है।

टिप्पणी—१ (क) 'एहि बिधि' अर्थात् जैसे माया हरिके आश्रित है वैसे ही जगत् भी हरिके आश्रित है। (ख) जो दृष्टान्त मायाके सम्बन्धमें दिया वही दृष्टान्त जगत्‌में देनेका तात्पर्य यह है कि माया और जगत् दोनों एक हैं। माया जगत्‌की उपादान कारण है; कार्य्य और कारण अभिन्न हैं जैसे मृत्तिका और घट*। भगवान्‌ने स्वयं कहा है 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।' जगत् मायामय है। (ग) 'जदपि असत्य देत दुख अहई'। 'यद्यपि असत्य है तो भी दुःख देता है' यह सत्य है, तब शंका होती है कि असत्यका दुःख देना कैसे सत्य माना जाय? इसी पर शंकानिवारणार्थ दृष्टान्त देते हैं—'जौं सपने सिर काटै कोई०'। ☞ यहाँ दिखाया कि माया और जगत्‌का स्वरूप एक ही है। माया असत्य है—'जदपि मृषा तिहुं०'; जगत् असत्य है—'जदपि असत्य०'; माया हरिके आश्रित,—'जासु सत्यता

१ आस्रत—१६६१। * मायाको जगत्‌का उपादान कारण मानना सांख्यका मत है। अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैतादि ब्रह्मको ही उपादान कारण मानते हैं।

ते जड़ ...'; जग हरि-आश्रित—'एहि बिधि जग०'; माया भ्रमरूप है,—'भ्रम न सकै कोउ टारि'; जगत् भ्रम-रूप,—'जासु कृपा अस भ्रम'।

२ "अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते। रूप्यंशुक्तौ फणीरज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥ इति अष्टावक्रवेदान्ते" अष्टावक्रजी कहते हैं कि हमको अज्ञानके कारण यह जगत् सीपमें चांदी, सूर्यकिरणमें जल और रस्सीमें सर्पकी नाईं भासता है। यही तीनों दृष्टान्त गोस्वामीजीने भी दिये हैं, परन्तु युक्तिके साथ। जहाँ जैसा चाहिए वहाँ वैसा कहा, एक ही ठौर तीनों दृष्टान्त न कहे। यह तुलसीकी विलक्षणता है। तीनों दृष्टान्त यथा 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने' (१), 'रजत सीप महँ भास जिमि' (२), 'जथा भानुकर बारि' (३)। गोस्वामीजीने पूर्व सर्पको 'जग' के साथ दोनोंका भयावन-धर्म लेकर कहा। भाव यह कि जैसे सर्प भयावन है, उसके डसनेसे लहरें आती हैं, मृत्यु होती है, वैसे ही जगत् भयावन है, उसको सत्य जानना ही उसका डसना है जिससे पुनर्जन्म-मरण होता है। और यहाँ 'रजत सीप०' इस दोहेमें सीपमें चांदी और मृगवारिमें जल इन्हीं दोका प्रयोजन था जैसा कि दोहा ११७ की टिप्पणी १ में लिखा गया।

३ श्रीगोस्वामीजीने दोनों प्रचलित मतोंको यहाँ दिया है। किसीके मतसे माया और जगत् हैं। उनके मतके अनुकूल कहते हैं कि 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'। अर्थात् जगत् है तभी तो जगत्को प्रकाशित करते हैं। तथा 'मायाधीस ज्ञानगुनधामू' से दिखाया कि माया है तभी तो मायाके अधीश हैं। पुनः, किसीके मतसे न माया है न जगत्। यथा 'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोहसहाया॥' 'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।०', 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत०'। सीपमें चाँदी नहीं है, सूर्य्यकी किरणमें जल नहीं है, ऐसे ही माया और जगत् भी नहीं हैं।

वे० भू० जी—रजतादिका दृष्टान्त देकर 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई' पदसे जग और ब्रह्मका शरीर-शरीरी-भावसे अपृथक्सिद्ध संबंध दिखलाया है। क्योंकि श्रुतिस्मृतिका मंतव्य जगत् और ब्रह्मके शरीर-शरीरी-भावमें है। यथा 'यस्य पृथिवी शरीरं', 'यस्यात्मा शरीरमिति श्रुतिः', 'जगत्सर्वं शरीरं ते' इत्यादि।

टिप्पणी—४ (क) 'जौं सपने सिर काटै कोई।०'। अर्थात् जगत् स्वप्न है,—'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना'। संसारी दुःख स्वप्नका दुःख है जो जागनेसे ही जाता है। यथा 'सपने के दोष दुख जागे ही पै जाहिं रे।' (विनय)। हरिको जाननाही जागना है, यथा 'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।' (ख) 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई'।—'अस' अर्थात् जैसे जागने-से स्वप्न भ्रम मिट जाता है उसी प्रकार। पुनः, अस अर्थात् जो किसीके टाले न टल सका था, यथा 'भ्रम न सकै कोउ टारि', वह भ्रम (मिट गया)। भाव यह है कि भ्रमका मेटनामिटाना क्रियासाध्य नहीं है वरन् कृपासाध्य है। स्वप्नका भ्रम जागनेसे जाता रहता है। मोह-निशामें सोये हुओंको रामकृपा जगाती है, यथा विनये 'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव०'। मूढ़ताका त्याग और श्रीहरिपदमें अनुराग करना ही जागना है, यह रामकृपासे ही होता है। सोतेमें अपना दुःख दूर करनेका सामर्थ्य जीवमें नहीं है, (वह किसीके जगानेसे ही जागता है। जैसे सोतेमें बर्राते हुए सुनकर लोग सोए हुएको सावधान कर देते हैं कि क्या है? क्या बर्रा रहे हो? यही बात यहाँ बताते हैं कि 'जासु कृपा०' अर्थात् इस संसाररूपी रात्रिमें सोये हुए जीवको श्रीरामजीकी कृपा जगाती है।) रामकृपासे दुःख दूर होता है। और कोई भ्रम टाल भी नहीं सकता, रामजीकी कृपासे भ्रम मिट जाता है। (ग) 'सोइ कृपाल रघुराई'। जगत्का भ्रम कृपा करके मेटते हैं अतः कृपाल कहा। पुनः कृपालका भाव कि कृपा करके रघुराई हुए, अवतारका हेतु कृपा ही है—'मुख्यं तस्य हि कारुण्यं'। (कृपा न करते तो रघुकुलमें अवतार ही क्यों लेते? नास्तिकोंका उपहास क्यों सहते?)।

वि० त्रि०—ऊपर सीपमें रजत और भानुकरमें बारिके रहनेकी विधि कह आए कि उनकी भ्रान्तिमात्र होती है। इसी भाँति हरिमें जगत्के होनेकी भ्रान्तिमात्र है, वस्तुतः जगत् कुछ हुआ नहीं, भ्रान्तिमात्र है, मिथ्या है, फिर भी यह दुःख देता रहता है। उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई स्वप्नमें सिर काटे। सिर तो वस्तुतः सुरक्षित है, सिरका काटना बिल्कुल झूठ है, पर स्वप्न देखनेवाला सिरके कटनेकी पीड़ा और मरनेका दुःख ठीक ठीक अनुभव करता है। उसे उस दुःखसे कोई छुटा नहीं सकता। उसको दुःखसे बचा देनेका एकमात्र उपाय उसका जागना है। जागनेसे ही उसका भ्रम मिट सकता है। स्वप्नके विकल्पमें केवल मन ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप होकर विचित्रतासे भासता है। इसी प्रकार शुद्ध संवित् भी विचित्राकारसे भासती है। 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। ११७। ७।' से 'गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई। ११८। ३।' तक श्रीशिवजीने शारदाकी ओरसे कहा।

नोट—२ (क) 'कृपा' अर्थात् एकमात्र हम ही समस्त जीवोंकी रक्षाको समर्थ हैं, जीवको सामर्थ्य नहीं है कि वह अपना दुःख दूर कर सके, यह सामर्थ्यका अनुसंधान कृपा है। यथा 'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधानं कृपा सा पारमेश्वरी।'—(वै०)। (ख) 'जासु कृपा', यथा 'सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि', 'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥' (ग) जागना कृपासाध्य है तो कृपा कैसे हो? इसका उत्तर यह है कि "मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।" छल छोड़कर भजन करनेसे प्रभु कृपा करते हैं, इसका उदाहरण इसी ग्रन्थमें ठौर-ठौर मिलेगा, यथा "मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा", जब इस प्रकार ब्रह्मादिक प्रभुके शरण गए तब तुरत कृपा हुई, यथा 'गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह' (१८६), प्रभुने दुःखकी निवृत्तिका उपाय कर दिया।

रू०ना० मिश्र अद्वैत सिद्धान्तानुसार भाव यह है कि यहाँ असत्य होते हुये भी जगत् दुःख देता है इसका उदाहरण देते हैं "जौं सपने सिर काटै कोई ···।"। अद्वैतमतानुसार जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है। स्वप्नमें देखे हुये सब पदार्थ मिथ्या होनेपर भी सुख दुःख देते हैं वैसे ही जगत् मिथ्या होनेपर भी सुख दुःख देता है, यथा "तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्॥ भा० १०।१४।२२।" अर्थात् यह अशेष जगत् असद्रूप, स्वप्नवत् अत्यंत दुःखद है। पुनश्च, "शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया। स्वप्नो यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥भा० ११.११.२।" अर्थात् इस जीवको मायासे शोक, मोह, सुखदुःख और देहप्राप्ति इत्यादि संसृतिका भास होता है, वह वास्तविक नहीं है जैसे कि स्वप्न।

यहाँ 'जासु सत्यता ते जड़ माया' से 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई' तक ग्रंथमें परब्रह्म श्रीरामजी को सत्य तथा जगत्को मृगजल, शुक्तिरजत, स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। इसी प्रकार इस ग्रंथमें तथा विनय पत्रिकामें परब्रह्म श्रीरामजीको सच्चिदानंदरूप एक, अनीह, अज, निर्गुण, निर्विकार, निराकार इत्यादि तथा जगत्को रज्जुसर्पादिवत् मिथ्या अनेक स्थलोंमें कहा है, इससे यही सिद्ध होता है कि श्रीगोस्वामीजी अद्वैत सिद्धांतके अनुयायी हैं; क्योंकि उपनिषद्, श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराण आदि सर्वमान्य प्राचीन ग्रन्थोंमें इस प्रकारका वर्णन मिलता है जिसको सर्व सांप्रदायिक अपने अपने सिद्धांतानुसार किसी न किसी प्रकार लगा लेते हैं परंतु निजी सांप्रदायिक ग्रंथमें इस प्रकारका वर्णन अद्वैतानुयायियोंके ग्रंथोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता है।

श्रीगोस्वामीजी किस सांप्रदायके हैं यह तो इतिहासज्ञ लोग सिद्ध करें परंतु उनके ग्रंथकी शैली सगुणोपासक अद्वैतियोंके समान है* इतनी बात निर्विवाद है और "वचस्येकं मनस्येकं कार्यमेकं महात्मनाम्"

* श्रीगोस्वामीजी विशिष्टाद्वैती होते हुए उन्होंने अद्वैतियोंकासा प्रतिपादन क्यों किया इसका कुछ समाधान इस ग्रंथके प्रारंभमें "नये संस्करणका परिचय" में देखिए।

इस वचनके अनुसार जैसा वे प्रतिपादन करते हैं वैसा ही उनका मत है यह भी सिद्ध ही है।

इसपर शंका हो सकती है कि अद्वैती तो निर्गुण ब्रह्मको ही माननेवाले हैं। वे तो "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ही ब्रह्म हूँ, यही कहनेवाले हैं। वे सगुणोपासना और भक्तिमार्ग क्या जानें? इसका समाधान यह है कि—अद्वैत मतानुयायियोंमें दो भेद हैं, एक ज्ञान प्रधान और दूसरा भक्तिप्रधान। इनमें पहले भक्तिमार्गको मानते हुए भी तत्वविचार, आत्मचिंतनमें विशेष निमग्न रहते हैं और दूसरे ब्रह्मको निर्गुण निर्विकार आदि मानते हुए भी सगुण रूपके सेवा पूजा आदि भक्तिमार्गमें निमग्न रहते हैं। इन दो मार्गोंमें प्रथममार्ग विशेष कठिन है, दूसरा उसकी अपेक्षा कुछ सुलभ है, अतः प्रथम मार्गके अनुयायी थोड़े हैं और दूसरे मार्गके अनुयायी विशेष हैं। गोस्वामीजीने अपने ग्रंथोंमें दोनों मार्गोंका प्रतिपादन समान भावसे किया है तथा दोनों मार्गके अनुयायी इसमें वर्णित हैं। इस चरित्र प्रधान ग्रन्थके अंतिम फलश्रुतिमें भी "रामचरनरति जो चह अथवा पद निर्वान" कहकर स्पष्टरूपसे दो फल बताये हैं। श्रीलोमशजी प्रथम पक्षके अनुयायी हैं और श्रीशिवजी, अगस्त्यजी, सुतीक्ष्णजी आदि दूसरे पक्षके अनुयायी हैं।

अद्वैतसिद्धान्तको माननेवाले सगुणोपासक किस प्रकार होते हैं इसका उदाहरण महाराष्ट्रिय संत हैं। श्रीज्ञानेश्वर महाराज, नामदेवजी, एकनाथमहाराज, तुकारामजी महाराज, समर्थ रामदासस्वामी आदि अनेक महात्मा कट्टर अद्वैती होते हुए कट्टर सगुणोपासक हो गए हैं; यह बात उनके ग्रंथोंसे सिद्ध होती है। किसीने यहाँ तक कह डाला है कि यथार्थ उपासक तो अद्वैती ही हो सकता है, अन्य लोग तो उपासनाकी नक़ल उतारते हैं। ठीक भी है। उपासक तो अपने इष्ट उपास्यको छोड़कर अन्यको जानताही नहीं, कहाँ तक कहें वह अपना तन, मन, धनकी कौन कहे स्वयं अपनेको उपास्यमें मिला देता है; जैसा कि अरण्यकांडमें अनुसूयाजीने श्रीकिशोरीजीसे कहा है कि उत्तम पतिव्रताको अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषका भान ही नहीं होता, ऐसे ही उस उपासककी स्थिति है; वह "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह जो सब अनुभवमें आता है वह सब मेरा उपास्य परब्रह्म परमात्मा ही है, 'अहं ब्रह्माऽस्मि' अर्थात् मैं जिसको 'अहम्' ऐसा कहता हूँ वह 'ब्रह्म' ही है; मैं वास्तविक कोई वस्तु नहीं है। "देह-बुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः। तत्वबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥" अर्थात् देह बुद्धिसे मैं आपका दास हूँ, जीव बुद्धिसे आपका अंश हूँ, परंतु तत्वविचारसे वास्तविक मैं तुही हूँ, यहाँपर 'एव' शब्द 'त्वं' के साथ लगा है न कि 'अहम्' के साथ अर्थात् 'त्वं' का प्राधान्य है। दूसरोंको क्या कहें, इस सिद्धान्तके आद्य उद्धारक शंकराचार्य "अविनयमपनय विष्णो०" इत्यादि 'षट्पदी' में कहते हैं, 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥' अर्थात् हे नाथ! यद्यपि (आपमें और मेरेमें वास्तविक कुछ) भेद नहीं है (तथापि द्वैत बुद्धिसे व्यवहार दशामें यही कहा जाय कि) आपसे 'मैं' हूँ, न कि मुझसे आप; जैसे समुद्र और तरंगोंमें कुछ भेद नहीं है तथापि समुद्रसे तरङ्ग कहा जाता है तरङ्गोंसे समुद्र नहीं कहा जाता।

बड़े खेदकी बात है कि ऐसे महापुरुषको कुछ लोग 'मिथ्यावादी, मृषावादी' इत्यादि व्यंग्य कटु वचन (गुप्त गालियाँ) कहा करते हैं। सुना जाता है कि प्राचीन ग्रन्थोंमें कुछ लोगोंने अद्वैत खंडनके समयमें इस प्रकार कहा है, यदि यह सत्य हो तो उन महापुरुषोंको क्या कहा जाय! हो सकता है कि अपने सिद्धांतके अभिनिवेशसे क्रोधावेशमें आकर मुखसे कुछ निकल गया हो जैसा कि श्रीरामजीके राज्याभिषेकमें विघ्न होनेसे क्रुद्ध होकर लक्ष्मणजीने अपने पिताको कटु वचन कहे हैं (अ० रामायण); परन्तु हम लोगोंको विशेषतः श्रीरामानन्दियोंको तो उसका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमलोगोंके पूर्वाचार्य श्रीनाभास्वामीजीने अपने श्रीभक्तमालमें "कलिजुग धर्म पालक प्रगट आचारज संकर सुभट।०' इत्यादि वर्णन किया है। गोस्वामीजीके ग्रन्थोंको माननेवालोंको तो विशेषरूपसे सावधान रहना चाहिए, क्योंकि इन्होंने तो जगत्को 'मिथ्या, मृषा, असत्य, झूठ आदि' कहनेकी झड़ी ही लगा दी है।

मुख्य तात्पर्य कहनेका यह है कि अद्वैतसिद्धान्तानुयायी होनेसे और जगत्‌को झूठ कहनेसे उपासनामें यत्किंचित् भी न्यूनता नहीं आती किन्तु विशेष लाभ ही है। अपने ऊपर अपना प्रेम तो सबका स्वभाव-सिद्ध है, 'मैं सदा रहूँ, मेरा नाश कभी न हो' यह सभी चाहते हैं, परन्तु मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? यह न जाननेसे देहादिको ही अपना स्वरूप मानकर अर्थात् यह देहादिक ही मैं हूँ ऐसा समझकर ही इनपर प्रेम करते हैं और रात दिन उसके लालन-पालनमें लगे रहते हैं परन्तु जब यह ज्ञान होगा कि यह "देह, इन्द्रियाँ, मन और चेतन जीवात्मा" मैं नहीं हूँ किन्तु परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी ही मेरा स्वरूप हैं तब देहादिकी आसक्ति, प्रेम आदि हटकर श्रीरामजीपर यह सब होगा और तदनुसार उन्हींका लालन, पालन आदि सब कुछ होगा।

इसी प्रकार जगत्‌को मिथ्या माननेसे लाभ ही है, क्योंकि जगत्‌को झूठ समझनेपर न तो उसपर आसक्ति रहेगी, न उसकी इच्छा होगी और न उसके प्राप्तिसे हर्ष तथा अभावसे दुःख होगा, इन सब विषयोंको दुःखदाई तो सबही मानते हैं, उसका त्याग तो अवश्य करना ही है, तब इसको सत्य माननेका व्यर्थ उपद्रव किसलिये किया जाय, सत्य माननेसे उसमें आसक्ति बढ़ेगी, मिथ्या माननेसे आसक्ति घटेगी और उसके त्यागमें कष्ट नहीं होगा, इस प्रकार अद्वैतियोंके इस सिद्धान्तमें भी लाभ ही है।

अद्वैती जो जगत्‌को मिथ्या कहते हैं इस मिथ्या शब्दका अर्थ है 'अनिर्वचनीय' अर्थात् जिसका प्रतिपादन ठीकठीक नहीं हो सकता। नहीं कहो, तो अनुभवमें आता है; और है कहो, तो विचारनेपर हाथमें कुछ लगता नहीं। जैसा रज्जु-सर्प रज्जुके न जाननेसे अनुभवमें आया और समीप जाकर देखने लगे तो लापता हो गया; इसलिये इसको है वा नहीं, कुछ कहा नहीं जाता, इसीको 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। ठीक भी है कि व्यासजी, जैमिनीजी, आदि षड्दर्शनाचार्य तथा श्रीस्वामी रामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् भी जिसके निर्वाचनमें सहमत होकर एक निर्णय न कर सके तो उसको 'अनिर्वचनीय' न कहा जाय तो और क्या कहा जाय वह तो 'अनिर्वचनीय' सिद्ध ही हुआ।

उपनिषद्, पुराण, आदिमें द्वैत और अद्वैत ये दो शब्द मिलते हैं। विशिष्टाद्वैतका नाम तक कहीं नहीं है, तथापि श्रीरामानुजाचार्यजीने सब श्रुतियोंका समन्वय करके एक सिद्धान्त सिद्ध किया और उसीका नाम 'विशिष्टाद्वैत' रक्खा है। (इसका अर्थ कोई यह न समझे कि यह सिद्धान्त आधुनिक है। ये सब सिद्धांत प्राचीन परंपरागत हैं, समयानुसार लुप्त हुए थे, तो इन आचार्योंने उनका जीर्णोद्धार किया है), ठीक ऐसे ही श्रीगोस्वामीजीने अपना क्या सिद्धान्त है यह कहीं स्पष्ट नहीं कहा, तथापि इस चरित्र ग्रंथमें निर्गुण परब्रह्मका वर्णन तथा जगन्मिथ्यात्व आदि अद्वैतियोंके खास विषयोंका वर्णन उन्होंने विशेष रूपसे किया है (जिसकी यहाँ बिलकुल आवश्यकता नहीं थी) इसीसे उनके विचारोंका अनुमान कोई भी निष्पक्षपातसे कर सकता है, मेरे विचारसे जो अद्वैती निर्गुणमतके नामपर उपासकोंको तुच्छ समझते हैं या विरोध करते हैं, और जो उपासनाके नामपर निर्गुण विचारको तुच्छ समझते हैं या विरोध करते हैं, उन दोनोंके लिए गोस्वामीजीने इस प्रकार एकत्र वर्णन किया है कि ये दोनों इसको पढ़ें, मनन करें और परस्पर विरोध करना छोड़ दें।

जगन्मिथ्यात्व सिद्ध करनेके लिए 'रज्जु-सर्प, शुक्तिरजत, स्वप्न' आदि दृष्टान्त दिये जाते हैं, इसका कारण यह है कि—जब मनुष्यके अनुभवके विरुद्ध कोई बात कही जाती है तो उसके समझमें नहीं आती तब उसको समझानेके लिये उसके अनुभवमें आई हुई बातोंका दृष्टान्त दिया जाता है, तब उसके समझमें आता है।

जगत् वस्तुतः है नहीं तो अनुभवमें कैसे आता है? यह समझानेके लिये ही रज्जुसर्पादिके दृष्टान्त दिए जाते हैं, इन दृष्टान्तोंको अपने सिद्धान्तानुकूल लगानेके लिये जगत्सत्यत्ववादी अनेक युक्तियाँ लगाते

हैं जैसे कि सर्प कभी देखा था उसीका यहाँ स्मरण हुआ, अथवा, लंबाकृति आदिरूपसे रज्जुमें सर्प सर्वदा रहताही है। पंचीकरणसे शुक्तिमें (पृथ्वीमें) चांदी (तेज) सूक्ष्मरूपसे रहता है, रविकिरणों में जल रहताही है, स्वप्नमें ईश्वर सब पदार्थ उत्पन्न करते हैं, इत्यादि। क्या सर्वसाधारण लोगोंको समझानेपर भी वे इन युक्तियोंको समझ सकते हैं ? यदि नहीं तो इन दृष्टान्तोंसे क्या लाभ ? इसीसे तो जगत्सत्यत्ववादी इन दृष्टान्तोंको कभी नहीं देते (और उनको आवश्यकता भी क्या है ? सर्वसाधारण लोग तो जगत्को सत्य मानते ही हैं। उनकोष्टा दृन्त देकर समझानेकी आवश्यकता ही नहीं)। गोस्वामीजीने इन दृष्टान्तोंकेद्वारा जगन्मिथ्यात्व अनेक बार सिद्ध किया है इससे भी उनके सिद्धान्तका अनुमान कोई भी कर सकता है। (पं० रूपनारायण मिश्र)

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ॥४॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना ॥५॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥६॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा ॥७॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥८॥

शब्दार्थ—अनुमानि=अनुमान करके, विचार करके। ☞न्यायके अनुसार प्रमाणके चार भेदोंमें से एक 'अनुमान' भी है जिससे प्रत्यक्ष साधनके द्वारा अप्रत्यक्ष साध्यकी भावना हो। इसके भी तीन भेद हैं—पूर्ववत् वा केवलान्वयी, शेषवत् वा व्यतिरेकी (जिसमें कार्यको प्रत्यक्ष देखकर कारणका अनुमान किया जाय) और सामान्यतोदृष्ट वा अन्वयव्यतिरेकी (जिसमें नित्यके सामान्य व्यापारको देखकर विशेष व्यापारका अनुमान किया जाता है)। बकता (वक्ता) = बोलनेवाला; भाषण-पटु। जोगी=योगी। = योग (कौशल) वाला अर्थात् योग्य। परस (सं० स्पर्श)=छूनेकी क्रिया; छूना। यथा "दरस परस मज्जन अरु पाना। हरै पाप कह बेद पुराना। १।३५।" घ्राण (सं०) = नाक। बास (वास) = गंध; सुगंध; बू। असेषा=संपूर्ण। अलौकिक=इस लोकसे परे की; इस लोककी नहीं।=अप्राकृत दिव्य; अमायिक।=अद्भुत।

अर्थ—जिसका आदि और अन्त किसीने न पाया। वेदोंने बुद्धिसे अनुमान करके इस प्रकार (जैसा आगे लिखते हैं) गाया है ॥ ४ ॥ (कि वह) विना पैरके चलता है, विना कानके सुनता है, विना हाथके अनेक प्रकारके कर्म करता है ॥ ५ ॥ मुखके विनाही संपूर्ण रसोंका भोक्ता (भोग करने वा आनंद लेनेवाला) है। वाणीके विनाही बड़ा योग्य वक्ता है ॥ ६ ॥ शरीरके विनाही (अर्थात् विना त्वक् इन्द्रिय, त्वचाके) स्पर्श करता और नेत्रोंके विनाही देखता है। नाकके विनाही संपूर्ण गंधको ग्रहण करता है (अर्थात् सूँघता है) ॥ ७ ॥ उस (ब्रह्म) की करनी सब प्रकारसे ऐसी 'अलौकिक' है (कि) जिसकी महिमा वर्णन नहीं की जा सकती ॥ ८ ॥

नोट—१ श्वेताश्वतरोपनिषद् तृतीयाध्यायमें इससे मिलती-जुलती श्रुतियाँ ये हैं-"सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।···१७।···अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्। १६।" अर्थात् वे परमात्मा समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं। १७। वे हाथों और पैरोंसे रहित होनेपर भी सब जगह समस्त वस्तुओंका ग्रहण करते हैं और वेगपूर्वक सर्वत्र गमन भी करते हैं। नेत्रके विनाही देखते हैं, कानोंके विना सब कुछ सुनते हैं। वे समस्त जानने योग्य और जाननेमें आनेवाले समस्त पदार्थोंको भली भाँति जानते हैं; परन्तु उनको जाननेवाला कोई नहीं है। जो सबको जाननेवाला है, भला उसको कौन जान सकता है ? उनके विषयमें महापुरुष कहते हैं कि वे सबके आदि, पुरातन, महान् पुरुष हैं। १६।

२ पद्मपुराण भूमिखंड अध्याय ८६ वेन-विष्णु-संवादान्तर्गत गुरुतीर्थ तथा च्यवनमहर्षि की तीर्थ-यात्राकथा-प्रसंगमें कुंजल (तोता)-उज्वल-संवादमें कुंजलने भगवान्का ध्यान इसी तरहका वर्णन किया है। यथा ('ध्यानं चैव प्रवक्ष्यामि द्विविधं तस्य चक्रिणः। केवलं ज्ञानरूपेण दृश्यते ज्ञानचक्षुषा। ६९। योगयुक्ता महात्मानः परमार्थपरायणाः। यं पश्यन्ति यतीन्द्रास्ते सर्वज्ञं सर्वदर्शकम् ।७०।) हस्तपादादिविहीनश्च सर्वत्र परिगच्छति। सर्वं गह्णाति त्रैलोक्यं स्थावरं जङ्गमं सुत। ७१। मुखनासाविहीनस्तु घ्राति भुङ्क्ते हि पुत्रक। अकर्णः शृणुते सर्वं सर्वसाक्षी जगत्पतिः। ७२। अरूपो रूपसम्पन्नः पंचवर्गसमन्वितः। सर्वलोकस्य यः प्राणः पूजितः सचराचरे। ७३। अजिह्वो वदते सर्वं वेदशास्त्रानुगं सुत। अत्वचः स्पर्शमेवापि सर्वेषामेव जायते। ७४। सदानन्दो विरक्तात्मा एकरूपो निराश्रयः। निर्जरो निर्ममो व्यापी सगुणो निर्गुणोऽमलः ।७५।' अर्थात् (मैं चक्रधारी भगवान्का ध्यान कहता हूँ। वह दो प्रकार का है निराकार और साकार। निराकारका ध्यान ज्ञानरूपसे होता है, ज्ञाननेत्रसे ही वे देखे जाते हैं। योगी और परमार्थपरायण महात्मा तथा यतीन्द्र उन सर्वज्ञ सर्वद्रष्टाका साक्षात्कार करते हैं। ६९,७०। वे हस्तपादादि रहित होनेपर भी सर्वत्र जाते और समस्त चराचर त्रैलोक्यको ग्रहण करते हैं ।७१। मुख और नासिका रहित होनेपर भी वे खाते और सूँघते हैं। बिना कानके सुनते हैं। सबके साक्षी और जगत्पति हैं। ७२। रूपहीन होनेपर भी पंचेन्द्रियुक्त रूपवाले भी हैं। सर्वलोकोंके प्राण और चराचरसे पूजित हैं। ७३। जिह्वारहित होनेपर भी वे वेदशास्त्रानुकूल सब बातें बोलते भी हैं। त्वचारहित होनेपरभी सबोंका स्पर्श करते हैं ।७४। वे सत् आनन्दस्वरूप, विरक्तात्मा, एकरूप, निराश्रय, जरा-ममता-रहित, सर्वव्यापक, सगुण, निर्गुण और विशुद्ध हैं। ७५।"

३—वैराग्यसंदीपिनी में गोस्वामीजीने यही विषय यों लिखा है—'सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत। बास नासिका बिनु लहइ परसइ बिना निकेत। ३।"

टिप्पणी—१ "आदि अंत कोउ जासु न पावा।···" इति। (क) आदि और अंत तन धारण करनेसे होता है, उसके तन नहीं है जैसा आगे कहते हैं—'तनु बिनु परस···'। [(ख) इस कथनका भाव यह है कि प्राकृत लोगोंका जन्म 'आदि' है और मरण 'अन्त' है और ये तो स्वतः भगवान् हैं, परात्पर ब्रह्म हैं, अतएव 'अनादि' हैं। स्मरण रहे कि अवतारमें जन्म नहीं होता, प्रभु प्रगट हो जाते हैं। (मा० पी० प्र० सं)। पुनः, 'आदि अंत किसीने न पाया' का भाव कि सारी सृष्टि प्रभुसे ही उपन्न होती है और अन्तमें उन्हीं में लीन हो जाती है; तात्पर्य कि सृष्टिके पूर्वभी एकमात्र प्रभुही थे और सृष्टिके अंतपर भी एकमात्र वे ही रह जाते हैं और कोई नहीं। तब बीचमें पैदा हुआ जीव उनका आदि अंत क्या जाने? सृष्टिके स्थिति-कालमें भी जीव जब ज्ञानका सब व्यवहार कर रहा है, उस अवस्थामें भी वह उनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि वह परिच्छिन्न है, अणु है, और प्रभु अपरिच्छिन्न तथा व्यापक हैं। अतः 'आदि··· पावा' कहा। (ग) वैजनाथजी लिखते हैं कि "श्रीरघुनाथजीका रूप कब और किससे हुआ, नाम कब किसने धरा, धाम कब किसने निर्माण किया और लीला कबसे प्रारंभ हुई इति 'आदि' और कबतक रहेंगे इति 'अंत' किसीने भी न पाया।" (घ) मनुष्यकी बुद्धिमें सादि और सान्त पदार्थ ही आ सकते हैं, अनादि और अनन्तकी वह भावना नहीं कर सकता। जिसका आदि और अन्त हो उसीका वर्णन सम्भव है। (वि.त्रि.)]

२ (क) 'मति अनुमानि' इति। भाव कि वेद भी यथार्थ (नहीं जानते और न) कह सकते हैं, बुद्धि के अनुमानभर कहते हैं; क्योंकि आदि अंत कुछ है ही नहीं। (भाव यह है कि वेद अनादि हैं सो वे भी जिनका आदि और अन्त खोजते-खोजते हार गए तब अपनी बुद्धिसे अनुमान करके उन्होंने ऐसा कहा, तो फिर और लोग किस गिनतीमें हैं। इसी विचारसे यहाँ केवल वेदोंका नाम दिया और 'कोउ' शब्दसे शेष सब सृष्टिको जना दिया।)

नोट—४ रा० प्र० कार कहते हैं कि भाव यह है कि "वह जैसा है वैसा वेद भी नहीं जानते और

न कह सकते हैं। इसपर यदि कोई शंका करे कि "आदि अन्त नहीं तो जन्म, परधामगमन आदि तो सुना गया है, और जिनके हाथ पैर इत्यादि होते हैं उनका एक दिन अभाव भी है?" तो इसके निवारणार्थ कहते हैं कि उनका प्राकृत शरीर ही नहीं, तो जन्म और अन्त कैसे बनेगा—'चिदानंदमय देह तुम्हारी'। इसीको आगे कहते हैं—तीन चौपाइयोंमें प्राकृत इन्द्रिय, प्राकृत शरीर और प्राकृत करनी इत्यादि का निषेध करके फिर कहेंगे कि वह अप्राकृतिक है तथा उसकी इन्द्रियाँ कर्म इत्यादि भी अप्राकृत हैं।

५ "गावा"—बैजनाथजी लिखते हैं कि "जो बात निश्चय-पूर्वक जानी समझी न हो उसको समझाकर विस्तारसे कहना असम्भव है। इसलिए 'बखाना' 'वर्णन करना' इत्यादि शब्द न देकर 'गाना' शब्दका यहाँ प्रयोग किया, क्योंकि 'गान' में केवल भावार्थ ही दर्शित किया जाता है; पढ़ने सुननेवाला जैसा चाहे। समझ ले। इस प्रकार वक्ताकी भी मर्यादा बनी रह जाती है।" दोहा ४५ भी देखिए।

टिप्पणी—३ (क) 'बिनु पद चलै···' इति। यहाँसे भगवान्का वर्णन है। भगवान् पादके देवता हैं इसीसे 'पद' से वर्णन प्रारंभ किया। इन्द्रियके बिना इन्द्रियका विषय (भोग) कहते हैं यह ईश्वरकी ईश्वरता है। इन्द्रियके बिना इन्द्रियका विषय नहीं होता। इन्द्रियोंका विषय भी उनमें नहीं है, यह उनकी ईश्वरता है, जैसा आगे कहते हैं। यथा 'महिमा जासु जाइ नहिं बरनी' वे सब जीवोंकी इन्द्रियों और इन्द्रियोंके विषयको प्रकाशित करते हैं, यथा 'बिषय करन सुर जीव समेता।···सब कर परम प्रकासक जोई।' और आप स्वयं इन्द्रिय और उनके विषयसे रहित हैं। क्योंकि इन्द्रिय और उनके विषय माया हैं। (ख) 'तन बिनु परस··· असेषा' यहाँ तक दश इन्द्रियोंमेंसे आठका विषय कहा, अश्लील समझकर गुदा और लिङ्गके विषय नहीं कहे।

४ 'असि सब भाँति अलौकिक करनी' इति। (क) 'सब भाँति'—पृथक्-पृथक् चरण, कर, नेत्र, नासिका और श्रवण आदिकी कह आए। जिसके रूपको वेद पार नहीं पाते, जिसकी महिमाका वर्णन करना असंभव है; इस कथनका तात्पर्य यह है कि उनका रूप अनंत है. उनकी महिमा अनंत है। यथा 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा।' (ख) ऐसी अलौकिक करनी है। भाव कि जैसी करनी प्रभुमें है कि बिना इन्द्रियके सब कार्य करते हैं वैसी करनी त्रैलोक्यमें नहीं है, यह अलौकिकता है।

वि० त्रि०—योगी लोग आज भी ऐसे बहुतसे कार्य कर दिखाते हैं जिन्हें साधारण पुरुष विश्वास नहीं कर सकते। जिसकी प्रकृति जिस वस्तुके विश्वास करनेकी नहीं होती वह उस वस्तुका विश्वास नहीं कर सकता। 'आँखमें पट्टी बाँधकर पीठके द्वारा पुस्तक पढ़नेका कौतुक जिसने देखा है, वह बिना हाथके ग्रहण करनेपर, बिना पैरके चलनेपर, बिना आँखके देखनेपर, बिना कानके सुननेपर अविश्वास नहीं कर सकता, फिर जिन कामोंको योगिवर्य कर सकते हैं, उन्हें परमेश्वर जो नित्य योगी हैं, जो सर्वदा ऐश्वर्यशाली हैं, अवश्य कर सकते हैं, वे बिना पैरके चल सकते हैं, बिना हाथके ग्रहण कर सकते हैं, बिना कानके सुन सकते हैं, बिना आँखके देख सकते हैं, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। इसीसे 'बड़ योगी' अर्थात् महायोगी कहा है। लौकिक करणीके वर्णनके लिये शब्द हैं, अलौकिक पदार्थके वर्णनके लिये शब्द नहीं मिलते। इसलिये जिस महाप्रभुकी करणी सब भाँतिसे अलौकिक है, उसकी महिमा नहीं वर्णन की जा सकती।

"आदि अंत···अलौकिक करनी" इति।

इन चौपाइयोंके जोड़की जो श्रुतियाँ नोट १ में श्वेताश्वतरोपनिषद्से उद्धृत की गई हैं उनके पूर्व की श्रुतियाँ ये हैं—१ "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। श्वे० ३।३।" अर्थात् उनकी सब जगह आँखें हैं, सब जगह मुख हैं, सब जगह हाथ हैं और सब जगह पैर हैं। २ "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ३।९।" अर्थात् उस परम पुरुष परमेश्वरसे यह संपूर्ण जगत् परिपूर्ण है। ३ "सर्वाननशिरोग्रीवः।३।११।" अर्थात् वह परमात्मा सब ओर मुख, शिर और ग्रीवावाला है। ४ "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। ३।१४।" वह परम पुरुष हजारों सिरवाला, हजारों आँखोंवाला और हजारों पैरोंवाला है। ५ 'सर्वतः पाणि-

पादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । ३.१६ ।" अर्थात् वह परम पुरुष सब जगह हाथपैरवाला, सब जगह आँख, सिर और मुखवाला तथा सब जगह कानोंवाला है ...' ६—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् । १७ ।" अर्थात् जो समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका जाननेवाला तथा सबका स्वामी और सबका शासक एवं सबसे बड़ा आश्रय है ।

वेदोंमें ब्रह्मके रूप और प्रत्येक इन्द्रियोंके वर्णनके साथ ही इन्द्रियोंका व्यापार भी वर्णित है । यथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ।' (यजु), इस श्रुतिमें ब्रह्मके मुख होना कहा है । इसी तरह "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ।' (छां०), 'सर्वगन्धः सर्वरसः' (बृ० उ०), 'बाहूराजन्यः कृतः' (यजु०), 'चन्द्रमा मनसो जातः' (यजु०), 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छां०), 'ईक्षां चक्रे' और 'तदैक्षत बहु स्याम्' (छां०) में ब्रह्मका श्वास लेना, सूँघना तथा स्वाद लेना, दो भुजाओंवाला होना, मन वाला, संकल्प करनेवाला, इच्छा करनेवाला कहकर बुद्धिवाला सूचित किया गया है । ये सब श्रुतियाँ ब्रह्मको शरीरवाला कहती हैं ।

इस तरह परस्पर विरोधी श्रुतियाँ वेदोंमें हैं । और सभी सत्य हैं, देखने सुननेमात्र इनमें विरोध भासित होता है । ☞ इसीसे कहते हैं—"अस सब भाँति अलौकिक करनी" । परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्धधर्माश्रय हैं । एक ही समयमें उनमें विरुद्ध धर्मोंकी लीला होती है । इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्मसे सूक्ष्म और महानसे महान् बताये गए हैं—"अणोरणीयान्महतो महीयान्" कठ० १ वल्ली २.२० । वे परमात्मा अपने नित्य परधाममें विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूरसे दूर चले जाते हैं-'आसीनो दूरं व्रजति' । परधाममें निवास करनेवाले पार्षदोंकी दृष्टिमें वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं । 'शयानो याति सर्वतः' । अथवा वे सदासर्वदा सर्वत्र स्थित हैं, उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देशमें चलते भी वही हैं, सोते भी वही हैं और दूर देशमें जाते आते भी वही हैं । वे सर्वत्र सब रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं । इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्यस्वरूप होनेपर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यका अभिमान नहीं है । कठ १.२.२१ ।

संपूर्ण लोकोंमें स्थित समस्त जीवोंके कर्म एवं विचारोंको तथा समस्त घटनाओंको अपनी दिव्य शक्तिद्वारा निरंतर देखते रहते हैं । भक्त जहाँ कहीं भी भोजनके योग्य वस्तु समर्पित करता है उसे वे वहीं भोग लगा सकते हैं । वे सब जगह प्रत्येक वस्तुको एक साथ ग्रहण करनेमें और अपने आश्रित जनोंके संकटका नाश करके उनकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं । जहाँ भी उनके भक्त उन्हें बुलाना चाहें, वहीं वे एक साथ पहुँच सकते हैं । उन्होंने भक्तोंकी रक्षा करने तथा उनको अपनी ओर खींचनेके लिये हाथ बढ़ा रक्खा है । भक्त जहाँ उनको प्रणाम करता है वहीं उनके चरण और सिर आदि अंग मौजूद रहते हैं ।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—"बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करै बिधि नाना ।' इस चौपाईको पढ़नेपर यह शंका उठती है कि जब भगवान् विना पैरके चल सकते हैं, विना कानके सुन सकते हैं, विना हाथके काम-काज कर सकते हैं, तब उन्हें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता होती है ? वे तो निराकाररूपसे ही सब कुछ कर सकते हैं । और भगवान्के निराकार एवं सर्वव्यापी होनेकी स्थितिमें 'बिनु पद चलै' आदि भी कहना कहाँ तक ठीक है ?"

उत्तर—भगवान्के गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण ही इस प्रकारकी शंकाएँ उठा करती हैं । यदि हम भगवान्के सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी होनेपर ही विश्वास कर लें तो इस शंकाका समाधान अपने आप हो जाता है । क्योंकि जो सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है वह सब जगह सब कुछ कर सकता है ।··· इस प्रसंगमें ग्रन्थकारने वेद वचनों ('अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि) का ही अक्षरशः अनुवाद किया है—'जेहि इमि गावहिं बेद०' । अस्तु । उपर्युक्त शंका केवल श्रीमानसमें ही नहीं, वेदोंसे भी

संबंध रखती है। बिनु पद चलै इत्यादिसे यही दिखलाया गया है कि परब्रह्म श्रीभगवान् जीवोंकी भाँति मायिक शरीर और इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखकर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण शरीर और इन्द्रियोंके कार्य्योंको अपनी शक्तिसे ही सिद्ध कर लेनेमें पूर्ण समर्थ हैं। यहाँ यह बात नहीं कही गई है कि परमात्माको चलनेकी आवश्यकता पड़ती है, बल्कि उनके इस ऐश्वर्यका कथन किया गया है कि और कोई विना पैरके नहीं चल सकता परन्तु भगवान्में सामर्थ्य है, वे विना पैरके भी चलते हैं, यही अघटित घटना है; इसी लिये आगे की चौपाईमें कहा गया है—'असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहीं बरनी ॥'

अब रही यह शंका कि "सर्वव्यापीको चलनेकी आवश्यकता नहीं, इसलिए उनके संबंधमें 'बिनु पद चलै।' आदि कहना ठीक नहीं है, अथवा सर्वज्ञके सुनने सुनाने एवं सर्वद्रष्टाके देखने दिखाने आदि क्रियाओंका वर्णन करना असंगत है।' इस शंकाका समाधान तभी हो सकता है जब वेद भगवान् अथवा स्वयं गोस्वामिपाद अपनी कृपाका प्रसार करके इस रहस्यको समझा दें। इस संबंधमें कवितावलीके 'अंतरजामिहु ते बड़े बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें। धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किए तें। आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये तें। पैज परें प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये तें ॥' इस सवैयामें भक्तजनोंके हितार्थ बहुत सुन्दर सिद्धान्त निचोड़कर रख दिया गया है। इसका तात्पर्य्य यह है कि भक्तलोग अपने सगुण सरकारको ही निर्गुण अर्थात् मायाके गुणोंसे अतीत, निराकार अर्थात् मायिक (पाञ्चभौतिक) शरीरसे परे, दिव्य विग्रह, दिव्य वपु, वेदांसिद्धांत आदि मानते हैं। उन्हीं प्रभुको सर्वव्यापक मानकर उनके संबंधमें श्रीगोस्वामिपाद यह कह रहे हैं कि 'अंतर्यामी भगवान्से हमारे बहिर्यामी प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही बड़े हैं; क्योंकि जब कोई प्रेमपूर्वक उनका नाम पुकारता है तब वे उसे सुनकर इस प्रकार दौड़ते हैं, जैसे तत्काल ब्याई हुई गौ अपने बछड़ेकी बोली सुनकर वात्सल्य भावसे उसकी ओर दौड़ती है। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि मैं अपने समझ की बावरी बात कह रहा हूँ, यह बात दूसरेसे कहनेयोग्य नहीं है। बात यह है कि यद्यपि श्रीप्रह्लादजी सर्वव्यापी भगवान्के सच्चे, विश्वासी और एकनिष्ठ भक्त थे, परन्तु जब पैज पड़ गई तब उनकी बात रखने तथा उनकी रक्षा करने के लिये उनके हृदयके अन्तरसे अन्तर्यामी भगवान् नहीं निकले, बल्कि भक्तभयहारी भगवान् बाहरसे अर्थात् खंभसे ही प्रगट हुए।

कितनी सुन्दर युक्ति है! इस प्रकार भगवत्-भागवत-रहस्योंपर विचार करनेपर निराकार एवं सर्वव्यापी प्रभुका सुनना, बोलना, चलना ही नहीं, दौड़ना तथा भक्तरक्षार्थ कर्म (युद्धादि) करना भी सिद्ध होता है। इसमें शंका करनेकी कोई बात नहीं।

नोट—श्रीरामजीकी जो महिमा यहाँ वर्णन की गई है, उसपर महानुभावोंने भिन्न-भिन्न भाव लिखे हैं जो यहाँ लिखे जाते हैं—

(१) प्रोफे० लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि "इन चौपाइयोंसे मैं तो यह मतलब समझता हूँ कि जैसे लौकिक जनोंके लिये इन्द्रियोंका होना जरूरी है, वैसे ही कौसलपति दशरथसुतके लिये जरूरी नहीं। अर्थात् लौकिक जन विना इन्द्रियोंके कोई कार्य नहीं कर सकते, पर कोसलपति श्रीरामजी कर सकते हैं। भावार्थ यह हुआ कि उनकी शक्ति अनंत और अपार है, वे किसी प्रकारसे प्रकृतिके पाबंद नहीं हैं, स्वतंत्र हैं। यह बात 'अलौकिक' शब्दसे प्रत्यक्ष प्रगट है, इसी शब्दपर विचार करनेसे सब रहस्य खुल जाता है।"

(२) इस प्रसंगमें गोस्वामीजी 'बिनु पद चलै' से लेकर 'ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा' तक इन्द्रियरहित होते हुये भी इन्द्रियोंके सब व्यवहार कार्योंका करना कहते हैं, पदादि इन्द्रियरहित होनेमें भाव यह है कि

प्रभुका सर्वांग चिन्मय है जैसा कि वाल्मीकिजीने भी कहा है; यथा 'चिदानंदमय देह तुम्हारी.। बिगत बिकार जान अधिकारी । २।१२७।५ ।'

इस पर यह प्रश्न उठता है कि "प्रभुके नखशिखका वर्णन, कर-पद-नासिका-नेत्रादि इन्द्रियोंका उल्लेख शास्त्रों, पुराणों, रामायणों आदिमें तथा इस ग्रंथमें भी अनेक स्थलोंमें विस्तारसे पाया जाता है, उसके अनुसार यहाँ विरोधसा जान पड़ता है ?" इसका समाधान इस प्रकार है कि जैसे स्वर्णकी मूर्त्तिमें हस्तपादादि सब अवयव रहते हैं, परन्तु विचार दृष्टिसे देखनेसे वहाँ स्वर्णके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है फिर भी जब हम उसका वर्णन करते हैं तब उसके प्रत्येक अंगका पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं। इसी प्रकार प्रभुके सगुण रूपमें विग्रहानुसार सब अवयव देखनेमें आते हैं, उन्हींका वर्णन ऋषि-मुनि-भक्तजन आदि मति अनुसार करते हैं। तात्पर्य कि प्रभुके सर्वांग चिन्मय हैं। अतिरिक्त तत्वान्तरसे बने हुए अस्मदादिकोंके इन्द्रियोंके सदृश उनका तत्तद्विषयक ज्ञान नहीं है, अर्थात् इन्द्रियादिके निरपेक्ष सर्वदा सर्वविषयक भान आदि उनमें विद्यमान हैं। (दार्शनिक सार्वभौमजी) ।

'असि सब भांति अलौकिक करनी' इति। जैसे सर्वसाधारण जीव मन, इन्द्रिय और देह आदिसे अभीष्ट कार्य करते हैं, वैसे ही सब कार्य भगवान् विना इन्द्रियोंके ही करते हैं, अतः उसे 'अलौकिक' कहा। तात्पर्य यह है कि प्रभु सर्वव्यापक हैं। भक्त जहाँ ही उनको पुकारता है, वहाँ ही वे उसकी पुकार सुन लेते हैं और आ भी जाते हैं। वास्तविक यह आना जाना भी लोकव्यवहार दृष्टिसे ही कहा जाता है, नहीं तो वे तो अव्यक्त रूपसे वहाँपर भी विद्यमान हैं। यही बिनु पद चलने, बिना कानोंके सुनने आदि कथनका भाव है। इसी प्रकार और भी इन्द्रियरहित व्यवहारोंको समझिए।

(३) किसीका मत है कि "भगवान्‌का स्वरूप सदैव षोडश-वर्षका और द्विभुज है। यह निरूपण साकार ब्रह्मका है। क्योंकि यदि इसको निराकारका निरूपण मानें तो अनेक शङ्काएँ उठती हैं, यथा जब ब्रह्म सबमें व्याप्त ही है तो ऐसा कौन स्थल है जहाँ उनको चलनेकी आवश्यकता होगी; बोलना और सुनना बिना दो व्यक्तियोंके नहीं हो सकता, यदि कोई और भी है तब तो दो ईश्वर हुए या उसके समान कोई और भी है, ऐसा हुआ तो ईश्वरके अद्वितीय होनेमें संदेह होगा। वह तो अकर्म है; उसका कर्म होना (करना ?) कैसे संभव हो सकता है कि जिसके लिए उसको हाथकी जरूरत है, जब किसी रसमें वह अपूर्ण हो तभी उसको किसी रसका भोक्ता कह सकते हैं, वह ब्रह्म तो वाणीमें और वाणीसे परे है तो उसको वक्ता कैसे कह सकते हैं ? पुनः, जब वह किसीसे अलग हो तब उसका स्पर्श करना कहा जावे वह तो चराचरमें व्याप्त है। इत्यादि, इत्यादि। अतएव यह निश्चय है कि श्रीशिवजी साकारहीका निरूपण कर रहे हैं।"

"त्रिपुटीके अभ्यन्तर सब चराचर ब्रह्माण्ड, विषय, इन्द्रिय, देवता इत्यादि हैं। जैसे कानपर दिशा, पाँवपर यज्ञविष्णु, इत्यादि। जब देवता अपना निवास छोड़ते हैं तब मनुष्य श्रवणादि कर्म नहीं कर सकता। विराट् इत्यादिके इन्द्रियोंपर भी इनका बास रहता है क्योंकि सतोगुणसे सम्पूर्ण देवताओं, रजोगुणसे इन्द्रियों और तमोगुणसे विषयोंकी उत्पत्ति और स्थिति है। परन्तु प्रभु रामचन्द्रजीकी देह सच्चिदानंदमय है, देही देहका यहाँ विभाग नहीं, यज्ञ विष्णु आदि देवताओंका बास इनकी इन्द्रियोंपर नहीं—यही तात्पर्य 'बिनु पद' इत्यादिका है।"

(४) मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि "अलौकिक शब्दको विचारो क्योंकि लौकिक उसे कहते हैं जिसका बीज त्रिपुटी है अर्थात् इन्द्रिय, देवता और बिषय, जिससे लौकिक काम बनता है। और परमात्माका अलौकिक कर्म है अर्थात् चलना, सुनना, कर्म करना, इत्यादि सब हैं परन्तु इन्द्रियरहित हैं। तात्पर्य्य यह कि परमात्माकी इन्द्रियाँ भी अलौकिक हैं जिनसे वह सब कर्म करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि रामका चरण इत्यादि अंग सनातन विराजमान है जिसके बिना लौकिक अर्थात् त्रिपुटी असमर्थ हो छीज जाता है,

यथा 'सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥', 'शब्द अलौकिक ही लखो लौकिक त्रिपुटी बीज। राज राम चरणादि नित तिन बिन लौकिक छीज॥''

(५) वि० त्रि०—एक स्थानसे पैर उठाकर दूसरे स्थानमें रखना ही चलना है। जहाँ पहिले पैर था वहाँ भी वह है। जहाँ रक्खा जायगा वहाँ भी वह है, अतः वह बैठेही बैठे दौड़नेवालेके आगे निकल जाता है (तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्), वह श्रोत्रका भी श्रोत्र है, अतः विना कानके सुनता है। उसके पाणि पाद सर्वत्र हैं, सर्वत्र शिर मुख हैं, इत्यादि। इसी लिये उसे अपाणिपाद कहते हैं।

(६) श्रीबैजनाथजी इसका भावार्थ यों लिखते हैं कि—(क) ''किसीने उसके पैर, कान, हाथ, मुख, आदि देखे नहीं, पर अनुमानसे उसका चलना, सुनना, अनेक कर्म करना, सब रसोंका भोक्ता होना इत्यादि सूचित होता है; क्योंकि उसीके प्रभावसे सब चलते, सुनते इत्यादि हैं जैसे प्रजाके गुण देखकर राजाके गुणोंका अनुमान किया जाता है, वैसे ही श्रीरघुनाथजीको वेद अनुमान करके गाते हैं।''

(ख) ''हरिभक्त ऐसा अर्थ करते हैं कि जैसे सब जीवोंके हाथ, पैर, कान आदि इन्द्रियाँ हैं वैसी इन्द्रियाँ श्रीरामरूपमें नहीं हैं। उनका सर्वांग एकतत्व स्वयंप्रकाशरूप है। यथा 'पदश्रवण करानन वाणी त्वग्नयननासिकादीन्द्रियविषयाधीशैः विवर्जितो रामः साक्षात्परब्रह्मविग्रहः सच्चिदानन्दात्मकःस्वयम्' (शिवस्मृति)। इस प्रकार प्रभुके पदकर्णादि विषय-देवादि त्रिपुटीबद्ध नहीं हैं। अतएव विना पदादि चलना आदि कहा।''

(ग) ''ज्ञानी लोग अर्थ करते हैं कि अन्तरात्मा पदादि अंगहीन है, परन्तु उसीकी शक्तिसे गमनागमन आदि देहका व्यवहार होता है। अतएव विना पदादि गमनादि कहे।''

(घ) ''विदुष ऐसा अर्थ करते हैं कि आदि-प्रकृति विना पदके चलती है, बुद्धि विना कानके सुनती है, त्रिगुणात्मक अहंकार विना हाथके अनेक कर्म करता है। चराचरमात्रकी रचना इस अहंकारसे ही होती है। सात्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके देवताओं, राजससे इन्द्रियों और तामससे इन्द्रियोंके विषयकी रचना होती है। आकाश विना मुखके भक्षण करता है अर्थात् सब उसीमें समा जाते हैं। जल विना जिह्वाके सब रसोंको धारण करता है। पुनः, व्योम विना वाणीहीके वक्ता है क्योंकि उसमें सहज ही शब्द होता रहता है पुनः योगी है, सदा एकरस स्थिर रहता है। पवन तन विना सबका स्पर्श करता है, अग्नि नेत्र बिना देखते हैं अर्थात् उसके प्रकाशमें सब देखते हैं, पृथ्वी नाक बिना वास धारण करती है, इति विराटरूपका यहाँ वर्णन है''।

(ङ) भगवत्-क्रिया-परायण यों अर्थ करते हैं कि ''यहाँ पूजित श्रीस्वरूप वर्णित है। भगवत् प्रतिमामें नरवत् पैर नहीं हैं पर वह चलती है, जैसे साक्षी गोपाल चले आए—(भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका क० २३८—२४१); कान बिना सुनती है, जैसे जगन्नाथजीमें प्रार्थनाका उत्तर मिलता है। इत्यादि। इसी प्रकार श्रीबालाजीने बिना हाथके ही अर्थीका मनोरथ पूर्ण किया, श्रीजनार्दन भगवान्‌के तस्मई (खीर) भोगमें सर्प गिर गया जो अधिकारियोंने अभ्यागतोंको खिला दिया था। भगवान्‌के नरवत् नेत्र नहीं पर उन्होंने देखा, आजतक भगवान्‌का रोष प्रसिद्ध है।'' करके विना ही सातसौ कोसपर अंगद-भक्तकी अर्पण की हुई जलमें डाली हुई मणिको जगन्नाथजीने ग्रहण कर हृदयपर धारण किया। विष्णुपुर बेगूसराय जिला मुँगेरमें श्रीरामदासजी श्यामनायिकाजीके यहाँ भगवान् थालका सब भोग पा (खा) गए, क्योंकि ब्राह्मण साधुओंने हँसीमें कहा था कि हम ठाकुरका जूठा न खायेंगे। धनाकी रोटी खाई, नामदेवजीके हाथका दूध पिया इत्यादि विना नरवत् मुखके रसोंका आनंद लिया।

(च) श्रीरामानुरागी ऐसा भी कहते हैं कि ''यहाँ प्रेमाभक्ति वर्णित है। जब उरमें प्रभुका साक्षात्कार होता है तब ऐसा प्रेम-प्रवाह उमगता है कि वह बिना पदके चलने लगता है, उसे यह सुध नहीं रहती कि मेरे पैर कहाँ पड़ रहे हैं एवम् सर्वाङ्गकी सुध भूल जाती है। यथा नारदसूत्रे—''अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः

सा कस्मै परम प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च यल्लब्ध्वा पुमान्सिद्धो भवत्यमृतो तृप्तो भवति यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साहो भवति ॥" (बैजनाथजी)

(छ) विषयी विमुख जीव ऐसा अर्थ करते हैं कि "यहाँ विषयानंद वर्णित है कि विना पदके चले स्वपद (अपने पैरसे) न चले किंतु वाहनपर चले; विना कानके सुने अर्थात् अर्जी आदि बाँचकर सुने, कर विना अर्थात् हुक्ममात्रसे दण्ड और रक्षा आदि करे; मुखरहित सर्वांग रस भोग करे जैसे कि नेत्रोंसे नृत्यरंगरसका, श्रवणसे गानतानरसका, तनमें अरगजादि पुष्पशय्याका, इत्यादि रीतिसे सर्व रसोंका भोग करे, विना वाणी अर्जीपर हुक्म लिख दे; तन विना दृष्टिमात्र से अनेक रासविलासका मानसी भोग करे; नेत्र विना नायब दीवान आद द्वारा राजकाज देखे; नासिका विना तन वसन मंदिरादि सुगंधित रक्खे। ऐसा सर्वांग सुख जिसको है वही भगवत् रूप यहाँ वर्णित है।" ११८ (५-८) में "प्रथम विभावना" अलंकार है क्योंकि विना कारणके कार्य्यकी सिद्धि वर्णन की गई है।

दोहा—जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ-सुत भगत-हित कोसलपति भगवान ॥ ११८ ॥

शब्दार्थ—इमि = इस प्रकार। 'कोसल' = श्रीअयोध्याजी। हिन्दी शब्दसागरमें लिखा है कि "घाघरा नदीके दोनों तटों परका देश। उत्तर तटवालेको उत्तर कोशल और दक्षिण तटवालेको दक्षिण कोशल कहते हैं। किसी पुराणमें इस देशके ४ खंड और किसीमें ७ खंड बतलाए गए हैं। प्राचीन कालमें इस देशकी राजधानी अयोध्या थी।" और 'कोशलखंड' नामक ग्रंथमें कोसल देशका विवरण इस तरह है कि विन्ध्याचलसे दक्षिणप्रदेशमें एक राजधानी थी जिसका नाम नागपत्तन था (जिसे आजकल नागपूर कहते हैं)। वहाँ कोशल नामक एक प्रतापी राजा हुआ जिससे उस देशका 'कोशल' नाम पड़ा। तबसे वहाँके जो राजा होते थे उनकी एक 'कोसल' संज्ञा भी होती थी, जैसे तिरहुतिके राजाओंकी जनक, काशमीरके राजाओंकी केकय, पंजाबके राजाओंकी पांचाल होती थी, इत्यादि। उसी वंशमें एक भानुमंत राजा हुए जिनकी पुत्री श्रीकौशल्याजी थीं। श्रीकौशल्याजीके विवाहके समयतक उनके कोई भाई न था; इसलिए भानुमंतजीने कोशलदेशकाभी उत्तराधिकारी श्रीदशरथजी महाराजकोही बनाया। उसी समयसे अयोध्या उत्तर कोसल और नागपत्तन दक्षिण कोसल नामसे विख्यात हुआ। महाभारतमें स्पष्ट उल्लेख है कि कौरव-पांडव-युद्धमें कौरवोंकी ओरसे उत्तर कोशलका राजा वृहद्बल और पांडवोंकी ओरसे नग्नजित दक्षिण कौशलका राजा गया था।

अर्थ—जिसका वेद और पंडित इस तरह गान करते हैं और जिसका मुनि लोग ध्यान करते हैं, वही भगवान् भक्तोंके हितार्थ दशरथपुत्र कोसलपति हुए ॥ ११८ ॥

टिप्पणी—१ ऊपर कहा था कि "आदि अंत कोउ जासु न पावा"। वहाँके 'कोउ' से यह स्पष्ट न हुआ कि किसीने आदि अंत कहनेका प्रयत्न किया और न कह सका। अतः उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं—'जेहि इमि गावहिं····' अर्थात् वेद, बुध और मुनि ये सब हार थके, किसीने आदि अंत न पाया।

२ (क) 'गावहिं वेद बुध०'-वेद और बुध वक्ता हैं अतः ये गाते हैं। मुनि मननशील हैं। अतः वे ध्यान धरते हैं। (ख) 'सोइ दसरथ सुत···' इति। यहाँ प्रथम 'दसरथ सुत' कहा तब 'भगत हित' और तब 'कोसलपति' और 'भगवान्'। यह क्रम साभिप्राय है। क्रमका भाव यह है कि श्रीदशरथमहाराजके यहाँ उन्होंने पुत्ररूपसे अवतार लिया तब भक्तोंका हित किया। अर्थात् ताड़का, सुबाहु, खरदूषण, मेघनाद, रावणादि राक्षसोंको मारकर सबको सुखी किया। रावणवधके पश्चात् राज्याभिषेक हुआ तब कोसलपति हुए और राज्य किया। (भक्तोंका हित यह भी है कि प्रभुने ये सब चरित उन्हींके लिये किये, जिसमें इन्हें गा-

गाकर भक्त भवपार हो जायँ, यथा 'किये चरित पावन परम सुनि कलि कलुष नसाइ ।', 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं । १।१२२।१।') । रावणके वधतक ऐश्वर्य छिपा रहा । राज्य ग्रहण करनेपर उनका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य प्रकट हुए। अतः कोसलपति कहकर 'भगवान' कहा । 'भगवान' कहकर जनाया कि अवतारकालमें भी षडैश्वर्ययुक्त थे और अपने ऐश्वर्य प्रकट कर दिखाए हैं जिसमें भक्त उनको भगवान् जानकर उनका भजन करें । क्रमसे उदाहरण सुनिये ।

१ ऐश्वर्य (ईश्वरता)—रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं ।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ।। ७।२१ ।
२ धर्म– चारिउ चरन धरम जग माहीं । पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं । ७।२१।३
३ यश—जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं ।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ।। ७।१३ ।
४ श्री—रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ ।। ७।२९ ।
५ ज्ञान—धरम तड़ाग ज्ञान बिज्ञाना । ए पंकज बिकसे बिधि नाना ।। ७।३१।७ ।
६ वैराग्य—सुख संतोष बिराग बिबेका । बिगत सोक ए कोक अनेका ।। ७।३१।८ ।

अथवा, अर्थ करें कि जैसा पूर्व ऐश्वर्य कह आए कि 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना ।०' इत्यादि, ऐसे ऐश्वर्ययुक्त जो भगवान् हैं वही दशरथकोशलपतिके सुत हुए । पुनः भाव कि भक्तके संबंधसे 'भगवान' कहा । ('भगवान्' शब्दका प्रयोग प्रायः उन सब स्थानोंमें हुआ है जहाँ भक्तोंका हित कहा गया है; यथा "ब्यापक बिश्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।। सो केवल भगतन्ह हित लागी १।१३।४-५ ।', 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना । बिश्वबास प्रगटे भगवाना ।१४६।८।', 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप । ७।७२ ।' तथा यहाँ 'भगत हित कोसलपति भगवान' कहा । अथवा, कोसलामें बड़ा ऐश्वर्य है; आप उसके पति हैं, अतः 'भगवान' कहा ।

नोट—वेदों और पंडितोंका गान करना पूर्व चौपाइयोंकी व्याख्यामें दिखाया गया है । तत्ववेत्ता मुनि उनका ध्यान करते हैं, इसका प्रमाण स्वयं श्रीशुकदेवजी हैं । इन्होंने श्रीमद्भागवतमें 'महापुरुष' कहकर इन्हींकी वंदना की है । यथा "ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिंचिनुतं शरण्यम् । भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।। त्यक्त्वा सुदुस्त्यज सुरेप्सित राज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्य्यवचसा यदगादरण्यम् । माया मृगंदयितेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।।"

वि० त्रि०—'आदि अंत कोउ जासु न पावा ।' से यहाँ तक शिवजीने वेदकी ओरसे कहा ।

कासी मरत जंतु अवलोकी । जासु नाम बल करौं बिसोकी ।। १ ।।
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब† उर अंतरजामी ।। २ ।।

अर्थ—जिनके नामके बलसे मैं काशीके जीवोंको मरते हुए देखकर (अर्थात् उनके प्राणोंके निकलनेका समय जानकर) शोकरहित करता हूँ ।। १ ।। वेही मेरे प्रभु अर्थात् इष्टदेव हैं, चराचरके स्वामी हैं, रघुवर हैं और सबके हृदयकी जाननेवाले हैं ‡ ।। २ ।।

टिप्पणी—१ (क) 'जंतु'=छोटे-बड़े सभी जीव जिन्होंने जन्म लिया ।=जितने भी शरीरधारी हैं । यथा 'जन्तु जन्यु शरीरिणः' इत्यमरः । (ख) 'करौं बिसोकी' अर्थात् गति देता हूँ । यथा 'जासु नाम बल संकर

† बस—१७०४,१७६२ । ‡ अर्थान्तर—वे अन्तर्यामी रघुवर सबके हृदयमें हैं । (वि० त्रि०) ।

कासी । देत सबहि सम गति अबिनासी । ४।१० ।', 'आकर चारि जीव जग अहहीं । कासी मरत परम पद लहहीं । १।४६ ।' [भवसाँसति सहना, बारंबार जन्म-मरण होना, इत्यादि 'शोक' है । इनसे रहित करते हैं । जन्ममरण छुटाना, उनको परमपदकी प्राप्ति करा देना 'विशोकी' करना है । शुकदेवलालजी 'विशोकी' का अर्थ 'विशोक लोक वासी' करते हैं । 'विशोक लोक' अर्थात् जहाँसे फिर संसारमें न आना पड़े । 'लोक बिसोक बनाइ बसाए' १।१६।३ देखिए । ☞ काशीमें मरे हुए जीवोंको किस प्रकारकी मुक्ति प्राप्त होती है अथवा कौन लोक प्राप्त होता है, इसमें मतभेद है । श्रीरामोत्तरतापिनी उपनिषद्में केवल 'मुक्ति' होनेका वरदान है । यथा "स होवाच श्रीरामः ।···मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् । उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ।" अर्थात् श्रीरामजीने कहा—हे शिव ! यहाँपर मरते हुए प्राणियोंके दाहिने कानमें तुम स्वयं या किसी औरके द्वारा हमारे मंत्रका उपदेश कर या करा दोगे तो वह प्राणी मुक्त हो जायगा । विशेष 'कासी मुकुति हेतु उपदेसू' १।१६।३, १।४६।४-५ देखिए । 'जासु नाम बल' का भाव कि काशीमें जीवोंकी मुक्ति होना यह उनके नामका प्रभाव है । जिसके नाममें यह प्रभाव है ।]

२ "सोइ प्रभु मोर···" इति । (क) 'सोइ' अर्थात् जीवोंको जिनके नामका उपदेश मैं किया करता हूँ, वही रघुबर मेरे प्रभु हैं । ['वही मेरे प्रभु हैं' कहकर जनाया कि जीवोंको मुक्त करनेका सामर्थ्य उन्हींने मुझको दिया है, यह प्रभुत्व उन्हींका है] पुनः भाव कि उन्हींका नाम मैं भी जपता हूँ, यथा 'तव नाम जपामि नमामि हरी ।७।१४।', 'महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासी···।१।१९।', केवल दूसरोंको ही उपदेश नहीं देता । (ख) 'चराचरस्वामी' हैं अर्थात् जड़चेतन सभीका पालनपोषण करते हैं । 'सब उर अंतरजामी' अर्थात् सबके हृदयकी जानते हैं, अन्तर्यामीरूपसे सबको चैतन्य किये हुए हैं । (ग) 'रघुबर सब उर अंतरजामी' का भाव कि ये 'रघुबर' हैं, इसीसे सबके हृदयकी जानते हैं । 'रघुबर' शब्दका अर्थ है 'अन्तर्यामी', वही गोस्वामीजी यहाँ लिखते हैं । यथा 'को जिय कै रघुबर बिनु बूझा । २।१८३ ।' तथा यहाँ 'रघुबर सब उर अंतरजामी' कहा ।

३ ☞श्रीपार्वतीजीके संदेह-निवारणार्थ श्रीशिवजी अनेक प्रकारसे ऐश्वर्य निरूपण करके माधुर्यमें उसका पर्यवसान करते हैं और माधुर्यबोधक नाम कहते हैं । (१) प्रथम 'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना ११६.८ ।' से लेकर 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावरनाथ । ११६ ।' तक ऐश्वर्य कहकर उस ऐश्वर्यस्वरूपको उन्होंने 'रघुबर राम' में स्थापित किया ।—'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ । ११६ ।' (२) फिर, "बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ।। सब कर परम प्रकासक जोई" में ऐश्वर्य कहा और तुरत 'राम अनादि अवधपति सोई' कहकर उस ऐश्वर्यको उन्होंने 'अवधपति राम' अर्थात् 'रघुबर राम' में घटाया । (३) तीसरी बार, 'जगत् प्रकास्य प्रकासक रामू । ११७.७ ।' से 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । ११८.३ ।' तक ऐश्वर्य कहकर तब "गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई" माधुर्यमें उस ऐश्वर्यको घटा दिया । फिर, (४) 'आदि अंत कोउ जासु न पावा । ११८.४ ।' से 'जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान । ११८ ।' तक ऐश्वर्य कहकर तब "सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान" से उसका एकीकरण कर दिखाया । इसी तरह यहाँ 'जासु नाम बल करउँ बिसोकी' से ऐश्वर्य कहकर उसीको 'सोइ प्रभु मोर···। रघुबर ···' इस माधुर्यमें घटाया । इत्यादि ।

४ ☞ यहाँतक पार्वतीजीके (ब्रह्म विषयक) प्रश्नोंके उत्तर दिये गए—

प्रश्न		उत्तर
प्रभु जे मुनि परमारथबादी । कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी ॥ सेस सारदा बेद पुराना । सकल	१	"जेहिं इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान । सोइ दसरथसुत···।११८ ।"

करहिं रघुपति गुन गाना ॥ रामु सो अवधनृपति सुत सोई । १०८।५, ६,८”		
‘तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग आराती । १०८।७ ।’	२	‘कासी मरत जंतु अवलोकी । जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥ सोइ प्रभु मोर···रघुबर···’।
‘की अज अगुन अलखगति कोई । १०८।८ ।’	३	“अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई । ११६।२ ।”

तात्पर्य कि जिसको वेद-पुराण गाते हैं, जिसको हम जपते हैं, वही दशरथसुत हैं । ☞पार्वतीजीको विश्वास है कि वेद-पुराण, शिव और मुनि ये तीनों जिसके उपासक हैं वही ब्रह्म हैं [वा, इन तीनोंके सिद्धान्त जहाँ एक हों, जिसे ये तीनों ब्रह्म प्रतिपादित करें वही ब्रह्म है—यह पार्वतीजीने मनमें निश्चय किया है । मा० पी० प्र० सं०] इस विचारसे शिवजीने तीनोंका प्रमाण दिया ।—“जेहि इमि गावहिं बेद, जाहि धरहिं मुनि ध्यान” और “सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी” ।

वि० त्रि०—यह शिवजीने पुराणोंकी ओरसे कहा । आगे अर्धाली ३,४,५ में अपनी ओरसे कहते हैं ।

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं । जनम अनेक रचित* अघ दहहीं ॥३॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं । भव-बारिधि गोपद इव तरहीं ॥४॥

अर्थ—विवश होकर भी जिसका नाम मनुष्य लेते (उच्चारण करते) हैं (तो उनके) अनेक जन्मोंके अच्छी तरह किये हुये पाप भस्म हो जाते हैं ॥ ३ ॥ और, जो मनुष्य आदर-पूर्वक उनका स्मरण करते हैं, वे भवसागरको गौके खुरके समान पार कर जाते हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ ‘बिबसहु’=बेबस होनेपर भी, जैसे कि शत्रुके वशमें पड़कर, गिरते-पड़ते, आलस्यमें जँभाई लेते, दुःख या पीड़ासे व्याकुल होकर, यमदूतोंके भयसे, इत्यादि । जैसे अजामिल आदिके मुखसे निकला था । वा,=लाचारीसे पराधीनतावश, परतंत्रताके कारण, जैसे कि सन्तोंके साथ पड़ जानेसे (जैसा कि रामघाट निवासी साकेतवासी श्रीरामशरणजी मौनीबाबाके पास जानेपर अवश्य रामनाम लेना पड़ता था) । इस तरह ‘बिबसहु’ का भाव ‘अनादरसे भी’ है, अर्थात् आदरपूर्वक प्रेमसे नहीं । यह अर्थ आगेके ‘सादर सुमिरन जे नर करहीं’ से सिद्ध होता है । यहाँ ‘बिबसहु’ से अनादरसहित उच्चारणका और ‘सादर सुमिरन···’ से आदरपूर्वक उच्चारणका फल बताया है । कवितावलीमें ‘बिबस’ और ‘सादर’ का भाव यों दिखाया है—“आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग्ग मैं । गिरो हिय हहरि ‘हराम हो हराम हन्यो’, हाय हाय करत परिगो काल फग्ग मैं ॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो नामके प्रताप बात बिदित है जग्ग मै । सोई रामनाम जो सनेह सो जपत जन ताकी महिमा क्यों कही है जाति अगमै ॥—(क० उ० ७६) ।” इस कवित्तके प्रथम दो चरणोंमें ‘विवश’ होकर ‘राम’ शब्दका उच्चारण होना दिखाया है । शूकरके बच्चेने यवनको धक्का देकर जब ढकेल दिया और वह भड़भड़ाकर गिर पड़ा तब उसके मुखसे ‘हराम’ शब्दका उच्चारण हुआ, जिसमें अंतमें ‘राम’ है । ☞वराहपुराणमें भी कहा है—‘ तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो नाम्नः प्रभावात्पुनः । किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यान्ति रामास्पदम् ॥” अर्थात् श्रीरामनामके प्रभावसे वह गौके खुरके गड्ढेके समान भव-सागरको तर गया तब यदि श्रीरामनामके रसिक श्रीरामजीके परमधामको प्राप्त होते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?’

टिप्पणी—१ (क) ‘बिबसहु···’, यथा ‘राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं ।

* सँचित—बै० ।

२।१६४।५।' रामनाम विवशतासे भी कहे तो भी अनेक जन्मोंके रचे हुए पाप नष्ट हो जाते हैं—यह नामकी महिमा है। दहहीं = भस्म होते वा करते हैं। जलाना, भस्म करना अग्निका धर्म है, अतः 'दहहीं' से सूचित किया कि पाप रूई है, 'अनेकजन्म रचित पाप' रूईका पर्वत है, श्रीरामनाम अग्नि है, यथा 'जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला। २।२४८।२।', 'प्रमादादपि संस्पृष्टो यथानलकणो दहेत्। तथौष्ठपुट-संस्पृष्टं रामनाम दहेदघम्।" (पाद्मे)। (ख) ☞ शिवजीके उपदेशसे जीव विशोक हुए, यह नामके सुननेका माहात्म्य है। 'जासु नाम बल करौं बिसोकी' से सुननेका फल कहकर अब 'बिबसहु जासु नाम···'में अपने मुखसे नामोच्चारण करनेका माहात्म्य कहते हैं। इस तरह जनाया कि रामनामके कहने तथा सुननेका फल एक ही है, नहीं तो शिवजीके उपदेशसे विशोक न हो सकते। अपने मुखसे जपनेसे भी जीव विशोक होते हैं, यथा 'चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका। १।२७।१।'

२ "सादर सुमिरन···" इति। नाम जपसे पापका नाश और मोक्ष दोनों कहे। इसका तात्पर्य यह है कि भक्तिसे कर्म और ज्ञान दोनोंका फल प्राप्त होता है। नाम-जप भक्ति है, उससे पापका नाश होना यह कर्मका फल मिला, और नित्य नैमित्तिक मुक्ति होना यह ज्ञानका फल मिला।—'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' इति श्रुतिः।

वि० त्रि०—विवश उच्चारणका फल बताया कि पापराशि जल जाती है, परन्तु पुण्य बच जाते हैं, जिनके भोगनेमें फिर पाप-पुण्य होते हैं, जिससे जन्म-मरणरूपी संसार बना रहता है। सादर स्मरण करने-वालेके शुभाशुभ कर्ममात्रका दाह हो जाता है जिससे वह अनायास भवपार हो जाता है।

मा० पी० प्र० सं०—इस प्रसंगमें यह बात स्मरण रखनेकी है कि गोस्वामीजी जहाँ जिसका जैसा मत है वहाँ वैसा ही कहते हैं। उन्होंने ज्ञानियों और उपासकोंका मत पृथक्-पृथक् दिखाया है। देखिये, 'जेहि जाने जग जाइ हेराई।···। ११२।२।' में उन्होंने ज्ञानियोंका सिद्धांत कहा कि श्रीरामजीको जाननेसे संसार स्वप्नवत् खो जाता है। और यहाँ "सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव···" में भक्तोंका सिद्धांत बताया कि भक्तके वास्ते सादर स्मरणमात्रसे संसार छूट जाता है। ये दोनों बातें एक ही हैं।—(पं० रामकुमारजीकी टिप्पणीमें यह नहीं है)।

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥५॥
अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥६॥

शब्दार्थ—परमात्मा = परमेश्वर, ब्रह्म। अविहित = अयोग्य, अनुचित।

अर्थ—हे भवानी! वही परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं। 'उनमें भ्रम' यह तुम्हारे वचन (वा, उनके प्रति तुम्हारे भ्रमके वचन) अत्यन्त अयोग्य हैं, वेद-विरुद्ध हैं॥ ५॥ ऐसा संशय (संदेह) हृदयमें लातेही ज्ञान-वैराग्य आदि समस्त सद्गुण चले (अर्थात् नष्ट हो) जाते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ यहाँ तक शिवजीने श्रीरामजीको ब्रह्म कहा, भगवान् कहा और परमात्मा कहा। यथा 'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। ११६।', 'सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान। ११८।', 'राम सो परमातमा भवानी।' (यह भगवान्‌का सूत्ररूपसे वर्णन है, यथा—'ब्रह्मेति परमात्मेति भग-वानिति शब्दते' इति भागवते)। वेदान्ती ब्रह्म, भक्त भगवान् और योगी परमात्मा कहते हैं। तीन दृष्टिसे यहाँ ये तीन शब्द कहे। (ख) 'तहँ भ्रम···'—वह भ्रमकी वाणी यह है-'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। १०८।" (ग) 'अति अविहित' अर्थात् वेदविरुद्ध है। [भाव कि वहाँ यदि भ्रम दिखाई पड़े तो उसे अपना भ्रम समझना चाहिए। जिसे सूर्य

तमोमय दिखाई पड़ें, उसे समझना चाहिए कि यह अपना भ्रम है, कुछ दोष मुझमें ऐसा आ गया है, जिससे ऐसा दिखाई पड़ रहा है। (वि० त्रि०)]

२ "अस संसय आनत···" इति। ज्ञान-वैराग्यादि समस्त गुण पापसे नष्ट होते हैं। अतः 'ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं' कहकर जनाया कि ऐसा संशय हृदयमें लाना बड़ा भारी पाप है। उदाहरण, यथा 'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा। ११५१।' (श्रीसतीजी), 'नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा। ७।५६।' (श्रीगरुड़जी)। [संशय और भ्रम होनेसे दोनोंको ज्ञानका उदय नहीं हो रहा है। अर्थात् ज्ञान नष्ट हो गया है।]

☞श्रीपार्वतीजीने प्रार्थना की थी कि मेरा मोह, संशय और भ्रम नाश कीजिए। अतः शिवजी इन तीनोंकी निवृत्तिके लिये उपदेश कर रहे हैं।

प्रार्थना		उपदेश
"जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू" १०६।२	१	"जासु नाम भ्रमतिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥ राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा। ११६।४-५।', "प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी", "उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।"······ "जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥" ···११७ इत्यादि वाक्यों से मोह दूर किया।
अजहूँ कछु संसउ मन मोरें	२	'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं।' से संशय दूर किया।
"हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी" १०८।४	३	"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा", "निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी" ११७, "जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि। ११७···'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।", "राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी", इत्यादि वाक्योंसे भ्रम दूर किया।

नोट—'अस संसय आनत···' का भाव कि श्रीरामजी-ज्ञानवैराग्यादि गुणोंके मूल कारण हैं। जब कारणहीमें भ्रम हो गया तब कार्य कैसे रह सकते हैं ? भ्रमके साथही वे सब चल देते हैं। ध्वनिसे यह एक प्रकारका शिवजीका शाप दाशरथी राममें संशय करनेवालोंके लिये सिद्ध होता है। (मा० पी० प्र० सं०)।

☞उपर्युक्त तीन प्रार्थनाओंके संबंधमें यहाँ तक उपदेश हुआ।

इति दाशरथी श्रीराम-परात्पर-स्वरूप-वर्णन।

सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना ॥७॥

भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥८॥

शब्दार्थ—कुतरक (कुतर्क) = वेद विरुद्ध तर्क। रचना=गढ़न्त, बनावट, स्थिति। यथा 'जयति बचन रचना अति नागर। २८५।३।', 'देखत रुचिर बेष कै रचना।४।२।' असंभावना=जिसका होना संभव न हो; जैसे पार्वतीजीका यह दृढ़ निश्चय था कि ब्रह्मका नरतन धारण करना असंभव है, कभी ऐसा हो ही नहीं सकता। संभावना=कल्पना, अनुमान। असंभावना = ऐसी कल्पना जिसके होनेका कभी अनुमान ही न हो सके।☞'अ' जिस शब्दके पहले लगता है उसके अर्थका प्रायः अभाव सूचित करता है। संस्कृतके वैयाकरणोंने इस निषेध-सूचक अव्ययका प्रयोग इतने अर्थोंमें माना है—सादृश्य, अभाव, अन्यत्व, अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध। यथा 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वंतदल्पता। अप्राशस्त्यंविरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥१॥' (वै० भूषणसार। नञर्थ निर्णय। ७)। यहाँ अप्रशस्त और विरोधी दोनों अर्थ

ले सकते हैं। पार्वतीजीका अनुमान वा कल्पना अप्रशस्त थी, वेदविरुद्ध थी, अतः दूषित थी। असंभावना=अप्रशस्तकल्पना वा अनुमान।=अविश्वाश (वि० त्रि०)।

अर्थ—श्रीशिवजीके भ्रमनाशक वचन सुनकर श्रीपार्वतीजीकी सब कुतर्ककी रचना मिट गई॥ ७॥ उनको श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम और विश्वास हुआ, कठिन 'असम्भावना' दूर हो गई॥ ८॥

टिप्पणी—१ "सुनि सिवके भ्रमभंजन…" इति। (क) 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम। ११५।' उपक्रम है और 'सुनि सिव के भ्रम भंजन…' उपसंहार है। शिवजीके वचनोंको यहाँ चरितार्थ किया (अर्थात् घटित कर दिखाया, उनका साफल्य दिखाया)। वचन भ्रमभंजन हैं, अतः उनसे भ्रमका नाश हुआ। (ख) अब (आगे) मोह, संशय और भ्रम सबका नाश कहते हैं। यथा—(१) 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥' (चौ० १)—यह मोहका मिटना कहा। (२) 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ' (चौ० २)—यह संशय मिटना कहा। (३) 'सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गै सब कुतरक कै रचना'—यह भ्रमका नष्ट होना कहा। भ्रमसेही कुतर्ककी रचना होती है, अतः भ्रमके नाशसे कुतर्ककी रचना मिट गई। (ग) संशय और कुतर्कका नाश कहनेका भाव कि संशय सर्परूप है और कुतर्क लहरें हैं जो सर्पके काटनेपर विषके चढ़नेसे आती हैं। इस तरह सर्प और सर्पका विष चढ़नेसे जो लहरें उत्पन्न हुईं इन दोनोंका नाश हुआ अर्थात् कारण और कार्य दोनों न रहगए, यह जनाया। यथा 'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता।७।९३।६।' (गरुड़जीने अपने संबंधमें जो 'कुतर्क बहु ब्राता' कहा है वही यहाँ 'कुतर्क की रचना' है)। (घ) 'कुतरक कै रचना', यथा "ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥ ५०॥ विष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥…" इत्यादि, 'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।' इत्यादि। [(ङ) "'भ्रम भंजन बचन' वेही हैं जिनमें श्रीरामजीका माहात्म्य लखाया है तथा जिनमें रामनाम माहात्म्यपर अविश्वासका दोष दिखाया है।" (पं०)। पिछली चौपाईकी व्याख्यामें ये वचन दिये हैं। प्रभुके परात्पर स्वरूपके लखानेवाले जितने वचन हैं वे सभी भ्रमभंजन हैं। वि०त्रि० के मतानुसार 'सुनि' से चतुर्थ विनय 'अग्य जानि रिसि जनि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू।' के उत्तर की (समाप्ति दिखलाई है।)]

२ "भइ रघुपति पद प्रीति…" इति। (क) भाव कि भ्रम और कुतर्क इत्यादि प्रीतिप्रतीतिके बाधक हैं। प्रतीति होनेसे प्रीति हुई और प्रतीति हुई श्रीरामस्वरूप जाननेसे (श्रीरामस्वरूपका जानना वे स्वयं आगे कह रही हैं—'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'); यथा 'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। ७।८९।७।' (ख) 'दारुन असंभावना बीती' इति। 'दारुण असंभावना' से चार वस्तुओंका बोध होता है—एक भावना, दूसरी संभावना, तीसरी असंभावना और चौथी दारुण असंभावना। इन चारोंके उदाहरण सुनिए—'भइ रघुपति पद प्रीति' रघुपतिपदमें प्रीति होना भावना है। 'भइ…प्रीति प्रतीती' श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रीति और प्रतीति दोनों का होना संभावना है, और इन दोनोंका न होना असंभावना है। श्रीरामजीको अज्ञानी मानना दारुण असंभावना है। [(ग) मा० पी० प्र० सं० में इस प्रकार था—प्रतीतिमें भावना, प्रीतिमें संभावना सूचित हुई। ये दोनों एकही हैं। कुतर्ककी रचनामें असंभावना और परब्रह्ममें मनुष्यबुद्धि लाकर उनका अनादर करना इसमें दारुण असंभावना सूचित की। ये दोनों एक से हैं सो दोनों मिट गए।"—दो एक प्रसिद्ध टीकाकारोंने इसे लिया है, अतः इसे भी लिख दिया। (घ) श्रीरघुपतिपदमें प्रीति प्रतीति होना दारुण असंभावनाके नष्ट होनेका कारण है। यहाँ कारण और कार्य दोनों साथ ही हुए अर्थात् प्रीतिप्रतीति हुई और उसके होते ही साथसाथ दारुण असंभावना मिट गई। अतएव यहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति अलंकार' है।]

दोहा—पुनि पुनि प्रभुपद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि ।
बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि ॥११९॥

शब्दार्थ—पंकरुह्=कमल ।

अर्थ—बारंबार प्रभु (श्रीशिवजी) के चरणकमलोंको पकड़कर और अपने करकमलोंको जोड़कर श्रीगिरिजाजी श्रेष्ठ वचन मानों प्रेमरसमें सानकर बोलीं ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'पुनि पुनि''''गहि' पुनः पुनः चरणकमलोंको पकड़कर जनाती हैं कि इन्हींके प्रसादसे मैं सुखी हुई । यथा 'सुखी भएउँ प्रभु चरन प्रसादा'' (आगे स्वयं कहती हैं)। सुखी हुईं, अतः बारंबार चरण पकड़ती हैं; यथा "सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी । नहिं अघात श्रवनामृत जानी ॥ पद अंबुज गहि बारहिं बारा । हृदय समात न प्रेम अपारा । ५।४६ ।", 'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती । बालि बधब इन्ह भइ परतीती । बार बार नावइ पद सीसा । प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा । ४,७ ।' पुनः, [बारंबार चरण पकड़कर अपनी कृतज्ञता सूचित करती हैं । पुनः, श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति-प्रतीति होनेसे सुख हुआ । बारंबार चरण पकड़ना प्रेमकी दशा सूचित करता है। यथा 'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा । ७।१२५।४ ।', 'पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना । परम प्रेम कछु जाइ न बरना । १। १०२।७ ।' (मेनाजी)। (ख) श्रीरघुपति पदमें प्रीति-प्रतीति अचल होनेके संबंधसे कविने 'गिरिजा' नाम दिया (रा० प्र०)] (ग) श्रीशिवजीमें पार्वतीजीकी भक्ति मन, कर्म और वचन तीनोंसे यहाँ दिखाते हैं। चरण पकड़ना और हाथ जोड़ना यह कर्मकी भक्ति है। 'बोलीं गिरिजा बचन बर' यह वचनकी भक्ति है और 'प्रेमरस' से सानना यह मनकी भक्ति है। प्रेम होना मनका धर्म है ।

अलंकार—प्रेमसे आनन्दमें मग्न होकर पार्वतीजीका बोलना उत्प्रेक्षाका विषय है। उनकी वाणी ऐसी मालूम होती है मानों प्रीति आनन्दसे मिश्रित हो। (प्रथम 'वचन बर' कहा, जो उत्प्रेक्षाका विषय है, तब उत्प्रेक्षा की कि मानों प्रेमरसमें साने हैं)। अतः यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। पार्वतीजीके हृदयमें श्रीराम ब्रह्म विषयक रति स्थायीभाव है । रघुनाथजीकी अलौकिक शक्ति, महिमा, गुण, स्वभावादि सुनकर उद्दीपित हो मति हर्षादि संचारी भावोंद्वारा बढ़कर हरिकथा सुननेके लिये बारबार स्वामीके पाँव पड़ना, हाथ जोड़ना, अनुभावों द्वारा व्यक्त हुआ है। (वीर)

नोट—१ श्रीपार्वतीजी, श्रीभरद्वाजजी और श्रीगरुड़जीके संशय एकहीसे हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने श्रीभरद्वाजमुनिके सन्देहनिवारणार्थ श्रीशिव-पार्वतीसंवाद ही सुनाया है। श्रीशिवजी और श्रीकागभुशुण्डिजीकी इस प्रसंगमें एक ही सी शैली जान पड़ती है। इस कैलाश-प्रकरणका भुशुण्डी-गरुड़-संवादसे मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जायगी ।—

उमा-शंभु-संवाद		श्रीगरुड़-भुशुण्डि-संवाद
"गिरिजा सुनहु राम कै लीला । सुरहित दनुज बिमोहन सीला ॥"	१	अस रघुपति लीला उरगारी । दनुज बिमोहनि जन सुखकारी ।
"निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी । प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥"	२	जे मति मंद मलिन मति कामी । प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥
जथा गगन घन पटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥	३	"जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा । सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥"
"चितव जो लोचन अंगुलि लाये । प्रगट जुगल" ससि तेहिके भाये ॥	४	नयन दोष जाकहँ जब होई । पीत बरन ससि कहँ कह सोई ॥

उमा राम विषयक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ।	५	हरि विषयक अस मोह बिहंगा । सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥
अज्ञ अकोविद अंध अभागी । काई बिषय मुकुर मन लागी ॥	६	माया बस मति मंद अभागी । हृदय जवनिका बहु बिधि लागी ॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना । रामरूप देखहिं किमि दीना ॥	७	ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम।कूप ।
जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥	८	यहाँ मोह कर कारन नाहीं । रवि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥
"रघुपति कथा कहहु करि दाया ॥" "बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि । बरनहु रघुबरबिसद जस० (१०६)	९	"अब श्रीरामकथा अति पावनि''' सादर तात सुनावहु मोही । बार बार बिनवउँ प्रभु तोही ।"
"अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद०"	१०	"अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल । भजहु राम रघुबीर०" (उ० ८८-९०)
पुनि पुनि प्रभुपद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि ।	११	"ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि, सीस नाइ कर जोरि"
बोलीं गिरिजा बचन बर मनहु प्रेम०	१२	'बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोले'
ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ॥	१३	तव प्रसाद मम मोह नसावा
"तुम्ह कृपालु सब संसय हरेउ । राम स्वरूप जान मोहिं परेउ ॥" सुखी भइउँ तव चरन प्रसादा	१४	"संसय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥ तव सरूप गारुड़ि रघुनायक । मोहि जियायेउ जन सुखदायक ॥ राम रहस्य अनूपम जाना"

नोट—२ श्रीपार्वतीजी और श्रीभरद्वाजजीका इस संबंधमें मिलान । यथा—

श्रीपार्वतीजी		श्रीभरद्वाज मुनि
पति हिय हेतु अधिक अनुमानी	१	करि पूजा मुनि सुजस बखानी ।
अजहूँ कछु संसय मन मोरे ।	२	नाथ एक संसय बड़ मोरे
बरनहु रघुबर बिसद जस, श्रुति सिद्धांत निचोरि ।	३	कर गत बेद तत्व सब तोरे
'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना'	४	'होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव ।'
जेहि बिधि जाइ मोह भ्रम० ।	५	अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू ।
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना ।	६	हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥
अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू ॥	७	कहत सो मोहि लागत भय लाजा
प्रभु जे मुनि परमारथ बादी । कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी सेष सारदा बेद पुराना । सकल करहिं रघुपति गुन० ॥	८	राम नाम कर अमित प्रभावा । संत पुरान उपनिषद गावा ॥
तुम पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अनंग आराती ॥	९	संतत जपत संभु अबिनासी ।
जौ अनीह ब्यापक बिभु कोऊ । कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ॥	१०	राम कवन प्रभु पूछउँ तोही । कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही ॥
(जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि)	११	(राम एक अवधेस कुमारा)

देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति०	१२	तिन्ह कर चरित बिदित संसारा।
···नारि बिरह मति भोरि।		नारि बिरह दुख लहेउ अपारा॥
राम अवध नृपति सुत सोई।	१३	प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ,
की आज अगुन अलख गति कोई॥		जाहि जपत त्रिपुरारि।
हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।	१४	जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी
प्रथम सो कारन कहहु बिचारी	१५	कहहु सो कथा नाथ बिसतारी

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥१॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥२॥

शब्दार्थ—सरदातप (शरद् आतप)—शरद्ऋतुके आश्विन मासमें जब चित्रा नक्षत्र होता है तब घाम बहुत तीक्ष्ण होता है। इस घाममें हिरन काले पड़ जाते हैं। उन्हीं दिनोंकी तपनको शरदातप कहते हैं

अर्थ—आपकी चन्द्रकिरण समान वाणी सुनकर भारी मोहरूपी शरदातप मिट गया॥१॥ हे कृपाल! आपने मेरे सब संदेह हर लिये। मुझे श्रीरामजीका (यथार्थ) स्वरूप जान पड़ा॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी।०' इति। यहाँ वाणीको चंद्रकिरण कहकर मुखको शशि सूचित किया, यथा 'नाथ तवानन-ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर। ७।५२।', वाणीका सुनना किरण का स्पर्श है। मोह शरद्ऋतुका भारी घाम है। ☞ऊपर शिवजीने अपने वचनको 'रविकर' कहा है,—'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रमतम रबिकर बचन मम', उससे रात्रिके दोष भ्रमतमको नाश किया। और यहाँ उनके वचनको 'शशिकर सम' कहा। ताप दिनका है सो चन्द्रकिरणसे नाश हुआ अर्थात् उसी वचनसे दिनके दोष भारी आतपरूपी मोहको नाश किया। पार्वतीजीने जो कहा था कि 'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू' उसीके संबंधसे यहाँ कहा कि 'मिटा मोह सरदातप०'। [पुनः, पूर्व जो कह आए हैं कि 'आननु सरदचंदछबिहारी। १०६।८।', 'ससि भूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी। १०७।४।' उसीके संबंधसे वचनको शशिकिरण सम कहा। 'मैं जो कीन्ह रघुपति अपमाना' और 'पुनि पतिवचन मृषा करि माना। १।५६।२।' (सती वचन), ये दोनों बातें शरदातप हैं]

नोट—१ प्रोफ़० दीनजी कहते हैं कि श्रीशिवजी अपने वचनोंको 'रविकर' समान कहते हैं और पार्वतीजी उनके वचनोंको शशिकर सम पाती हैं। इसका भाव यह जान पड़ता है कि शिवजी तो अपने वचनोंको भ्रमरूपी तमको दूर करनेवाला ही समझते हैं, पर श्रीपार्वतीजी उन वचनोंको तम दूर करनेवाले और विशेष प्रकारका शान्तिदायक भी पाती हैं। अतः चन्द्रकिरण मानती हैं, क्योंकि चन्द्रकिरणमें दोनों गुण हैं—तमनिवारक और आनन्ददायक भी। क्योंकि पार्वतीजी स्वयं कहती हैं—'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ'। इतना काम सूर्य्यका था सो हो चुका। आगे चंद्रकिरणका काम वे स्वयं स्वीकार करती हैं—'नाथ कृपा अब गयउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभुचरन प्रसादा।' यही आह्लादका पाना है।

वि०त्रि०—१ भगवतीने शीतलताका अनुभव किया, अतः 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी।' कहा। शशिकरमें मृगतृष्णाका भ्रम भी नहीं होता, अंधकार भी मिटता है और शरदके चित्राकी कड़ी धूपका ताप भी मिटता है। २-बिनती थी कि 'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू' सो अब कहती हैं कि 'मोह मिटा'। चौथी विनयके उत्तरमें ही सब संशय मिट गया, अतः पाँचवीं विनय 'अजहूँ कछु संसय मन मोरे' के उत्तरकी आवश्यकता नहीं रह गई।

प० प० प्र०—पार्वतीजी कहती हैं कि भारी मोह मिटा और रामस्वरूपका ज्ञान हुआ। पर यह स्वीकारिता मोहनाशाभास है; श्रीमहेशजीके डरसे दी हुई है, मोहका पूरा पूरा नाश अभी हुआ नहीं। प्रमाण

देखिए। आगे शिवजी कहते हैं—'सती सरीर रहिहु बौरानी ॥ अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी। १४१।४-५।' शिवजीके जिन वचनोंसे डर गईं वे ये हैं—'राम सो परमात्मा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी ॥ अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥' पार्वती-वचन और शिववाक्यका समन्वय इस प्रकार होता है। भारी मोह रूपी शरदातप मिट गया, भारी मोह नहीं है यह पर्वतीजीने कहा है। शिवजी कहते हैं—'अजहुँ न छाया मिटति' अर्थात् तुम्हें अब न तो भारी मोह है और न मोह ही, पर मोह की छाया है। अतः दोनोंमें विरोध नहीं है।

उत्तरकाण्डमें भवानी भी स्वयं ही कहती हैं-'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।५२।' और फिर अन्तमें भी कहा है—'नाथकृपा मम गत संदेहा। १२९।८।' अतएव बालकांडमें यदि संपूर्ण मोहका नाश मान लें, तो फिर उत्तरकांड में 'न मोह', 'गत संदेहा' की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः अर्थ यही करना होगा कि इस समय 'भारी मोह' का मिटना कहकर जनाया कि अभी कुछ मोह है। उस मोहके मिटने पर उत्तरकांडमें 'अब न मोह' कहा। अर्थात् मोह नहीं रह गया। कुछ संदेह रह गया था वह भी जाता रहा यह अन्तमें कहा गया। मोहका प्रभाव ही ऐसा है कि कुछ श्रवणके बाद ऐसा प्रतीत होता है कि वह जाता रहा, पर वह हृदय के कोनेमें कहीं छिपा रहता है और समय पाकर पुनः प्रकट हो जाता है। इसीसे तो शिवजीने गरुड़जीसे कहा है—'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा। ७।६१।४।' [यह भी कह सकते हैं कि श्रीरामविषयक जो मोह रह गया था वह चरित सुनने पर मिट गया। अतः तब कहा 'अब कृतकृत्य न मोह'। आगे जो 'गत संदेहा' कहा गया वह संदेह श्रीगरुड़जी और भुशुण्डीजीके सम्बंधके थे, उसका मिटना अंतमें कहा। उपक्रममें कहा है—'बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह। ५३।' श्रीरामविषक संशय भी रामचरित सुनने पर नहीं रह गया, यह 'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ।' से स्पष्ट है।]

टिप्पणी—२ 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ···' इति। (क) पार्वतीजीने संशय नाश करनेके लिये कृपा करनेकी प्रार्थना की थी। यथा 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें ॥१०९।' अतः जब शिवजीने संशय नाश कर दिया तब उनको 'कृपाल' विशेषण दिया। (ख) 'सबु संसउ' अर्थात् अपार संशय जो हुआ था, यथा 'अस संसय मन भएउ अपारा। ५१।', वह सब हर लिया। संशय दूर होनेसे श्रीरामस्वरूप जान पड़ता है। अतः 'संसउ हरेऊ' कहकर तब 'रामस्वरूप जानि परेऊ' कहा। (जबतक संशय रहता है तब तक न तो स्वरूप ही देख पड़ता है और न दुःख ही दूर होता है। यथा "बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला ॥···मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा। ४.७।" सुग्रीवका संशय दूर हुआ, तब रामस्वरूपकी प्राप्ति हुई और श्रीरामजीमें प्रीतिप्रतीति हुई, जिससे विषाद दूर हुआ)। (ग) रामस्वरूप जानना ज्ञान है। संशय ज्ञानका नाशक है, यथा 'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं।' इसीसे संशयमें रामस्वरूप नहीं जान पड़ा था। (घ) संशयसे कुतर्ककी उत्पत्ति है अर्थात् कुतर्क उसका कार्य है। पूर्व कुतर्कका नाश कह आए,—'मिटि गै सब कुतरक कै रचना।' और अब यहाँ संशयका नाश कहकर कार्य-कारण दोनोंका नाश दिखाया।

वि० त्रि०—शिवजीने कहा था कि 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना।', सो कहती हैं कि 'तुम्ह कृपालु सब संसउ हरेऊ। रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ।'—'राम सच्चिदानंद दिनेसा' से 'राम सो परमातमा भवानी' तक रामजीके स्वरूपका निरूपण शिवजीने किया है।

वि० टी० - श्रीपार्वतीजीने यथार्थ स्वरूप जो समझा उसे यों कह सकते हैं—"वही राम दसरथ घर डोलै। वही राम घटघट में बोलै ॥ उसी राम का सकल पसारा। वही राम सब से न्यारा ॥"

नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। सुखी भएउँ[1] प्रभु[2] चरन प्रसादा॥३॥
अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥४॥

अर्थ—हे नाथ ! आपकी कृपासे अब (सब) दुःख दूर हो गया। हे प्रभो! मैं आपके चरणोंकी कृपासे सुखी हुई ॥ ३ ॥ यद्यपि मैं स्वाभाविक ही जड़ हूँ, फिर स्त्री और अज्ञानी एवं बुद्धिहीन हूँ तो भी मुझे अपनी दासी जानकर अब—॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ "नाथ कृपा अब···" इति। (क) 'अब' अर्थात् जब आपने सब संशय हर लिया और मुझे श्रीरामस्वरूप जान पड़ा तब विषाद गया। तात्पर्य कि रामजीके मिलनेपर, उनका साक्षात्कार होनेपर, विषाद नहीं रह जाता। यथा 'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम्ह समन बिषादा। ४।७।' (ख) 'सुखी भएउँ प्रभु चरन प्रसादा' अर्थात् आपकी कृपासे संशय दूर होते हैं, संशय न रहनेसे श्रीरामस्वरूप जान पड़ता है जिससे फिर विषाद नहीं रह जाते और विषादके जानेसे सुख होता है—यह क्रमका भाव हुआ।

२ 'अब मोहि आपनि किंकरि जानी।···' इति। (क) ☞ ईश्वरको दास अति प्रिय है, इसीसे बारंबार अपनेको दासी कहकर प्रश्न करती हैं। यथा (१) 'जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी। १०८.१।' (२) 'जदपि जोषिता नहिँ अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी। ११०। १।', तथा (३) 'अब मोहि आपनि किंकरि जानी'। [स्वामीको सेवक अति प्रिय होता है; यथा 'सब के प्रिय सेवक यह नीती। ७।१६।', 'सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग। ७।८६।' दूसरा भाव यह कि प्रत्येक बार पहले अपनेको दासी कहकर कथाश्रवणमें अपना अधिकारी होना जनाकर तब प्रश्न किया है। ११०।१ देखिए। या यों कहिए कि श्रीमेनाजीने शिवजीसे जो यह प्रार्थना की थी, वर माँगा था कि "नाथ उमा मम प्रान सम गृह किंकरी करेहु। छमेहु सकल अपराध अब होइ प्रसंन बरु देहु। १०१।' उसीको बारंबार स्मरण कराकर क्षमाप्रार्थना करती हुई प्रश्न करती हैं। (मा० पी० प्र० सं०)] (ख) 'जदपि सहज जड़ नारि अयानी' इति। भाव कि जड़, स्त्री और अज्ञानी, ये तीनों कथाके अधिकारी नहीं हैं और मैं तो 'जड़, नारि और अयानी' तीनों ही हूँ; रही बात यह कि मैं दासी हूँ, दासीको अधिकार है चाहे वह कैसी ही क्यों न हो। [सतीसे शिवजीने कहा था 'सुनहि सती तव नारि सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ', सो सतीका शरीर छूटकर पार्वती देह मिलने पर भी वही संशय उठा, इससे अपना जड़त्व और अज्ञान मान रही हैं। (वि० त्रि०) । पुनः, यहाँ पार्वतीजी अपनेमें नीचानुसंधान करके कहती हैं कि यद्यपि मैं स्त्री हूँ, अयानी अर्थात् चतुराई रहित हूँ, जड़ हूँ; सो यह सब (जो आपने अज्ञ, अंध इत्यादि कहा है) मुझमें होना उचित ही है। क्योंकि पर्वतराजसे उत्पन्न होनेसे मैं सहज ही जड़ हूँ ही, इससे कथाकी अधिकारिणी नहीं हूँ। स्त्री होनेसे अयानी होना भी ठीक है, अज्ञ होनेसे भी मेरा अधिकार नहीं। तथापि अपनी किंकरी जानकर आप अधिकारी मान सकते हैं। (रा० प्र०) । ऊपर 'बोलीं गिरिजा बचन बर···' कहा, 'गिरिजा' के संबंधसे यहाँ 'जड़' कहना योग्य ही है। 'दूसरा सम' अलंकार है।] (ग) यहाँ 'अब मोहि आपनि किंकरि जानी' कहा और पूर्व कहा था—'जानिय सत्य मोहि निज दासी'। इनमेंके 'जानी' और 'जानिय' में भाव यह है कि जिसे स्वामी अपना दास जाने-माने वही दास है। यथा 'राम कहहिं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास।' (दोहावली) । 'किंकरि जानी' अर्थात् अपनी दासी समझकर कहिए, मेरी जड़ता अज्ञतापर दृष्टि न डालिये। (घ) 'अब'—इसका संबंध आगेकी चौपाई—'प्रथम जो मैं···' से है। भाव कि मोह, संशय और भ्रमकी निवृत्ति हो गई, अपनी दासी जानकर अब जो मैंने प्रथम पूछा है वह

१ भइउँ प्रभु—१७२१, १७६२। भइउ अब—छ०। भएउँ—१६६१, १७०४। २—अब—छ०। रा० प्र०।

कहिए। [अयानी=अनजान, अज्ञानी, बुद्धिहीन । यथा 'रानी मैं जानी अयानी महा, पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है ॥ क० २।२० ।' यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है ।]

प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू । जौं मो पर प्रसंन प्रभु अहहू ॥५॥
राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी । सर्बरहित सब उर-पुर बासी ॥६॥
नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू । मोहि समुझाइ कहहु वृषकेतू ॥७॥

अर्थ—हे प्रभो ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो वही कहिए जो मैंने आपसे प्रथम पूछा है ॥ ५ ॥ श्रीरामजी ब्रह्म, ज्ञानमय केवल चैतन्यस्वरूप, अविनाशी, (सबमें रहते हुए भी) सबसे अलग अर्थात् निर्लिप्त और सबके हृदयरूपी नगरमें रहनेवाले हैं ॥ ६ ॥ उन्होंने नर-शरीर किस कारणसे धारण किया ? हे धर्मकी ध्वजा (शंकरजी) ! यह मुझसे समझाकर कहिए ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ "प्रथम जो मैं पूछा···" इति । (क) प्रथम प्रश्न यह है—'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी । ११०।४ ।' (ख) 'जौं मो पर प्रसंन प्रभु अहहू' से अपने ऊपर शिवजीकी प्रसन्नता जनाई । प्रसन्नताका चिह्न यह है—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी । तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी ॥ पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा । सकल लोक जग पावनि गंगा ॥ उमा प्रश्न तव सहज सुहाई । सुखद संत संमत मोहि भाई ।" (११२.६-७।११४.६)—यह तो हुई पूर्वकी प्रसन्नता और आगेकी प्रसन्नता यह है-"हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान । बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान । १२० ।"

पं० श्रीराजबहादुर लमगोड़ा—१ "पार्वतीजीने फिर इसी बातपर जोर दिया है कि रामके मानवी चरित्रों और उनके परमात्मिक व्यक्तित्वका एकीकरण किया जाय, इसीलिए आप रामचरितमानसके हर प्रसंगमें यह एकीकरण पायेंगे ।—कविका कमाल है कि वह इस तरह नाटककला और महाकाव्यकलाका एकीकरण भी बड़ी सुन्दरतासे करता जाता है ।

२ ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे भी तुलसीदासजीके समयमें यह प्रश्न बड़े महत्त्वका था; क्योंकि इसलामी धर्म निर्गुण ही रूपमें ईश्वरको मानता है और तुलसीदासजीके समयमें उसी मतावलंबियोंका शासन था ।– (उस समय श्रीनानकजी और श्रीकबीरजीका पंथ भी जोर पकड़ रहा था । काशीजीमें कबीर साहेबकी शब्दी साखी आदिमें कई ऐसी सुननेमें आती हैं जिनमें श्रीदाशरथीरामको ब्रह्मसे अन्य माना हुआ है । उसीका खंडन यहाँ स्वयं शङ्करजी त्रिभुवनगुरुसे कराया गया है ।)

टिप्पणी—२ "राम ब्रह्म चिनमय···" इति । (क) ब्रह्म सब भूतोंको उत्पन्न करता है । यथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति । तैत्ति-भृगुवल्ली। १।१ ।" अर्थात् ये सब प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोग-से, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं, जीवनोपयोगी क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तवमें जाननेकी इच्छा कर । वेही ब्रह्म हैं । पुनश्च "यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादि युगागमे ।"

ऐसा ब्रह्म नरतन कैसे धरता है ? [पुनः ब्रह्म तो बृहत् है, यथा "अखंडमण्डलाकारं व्याप्तं येन चरा-चरम् ।" तो उसका एक एवं एकदेशीय और वह भी छोटासा शरीर कैसे हो सकता है ? (मा० पी० प्र० सं०)]। जो चिन्मय है वह प्राकृत दृष्टिगोचर कैसे होता है ? [जो "चिन्मय है अर्थात् योगियोंके चित्तमें जिसकी झलक किंचित् आती है, ऐसा चिन्मय ब्रह्म स्थूल (शरीर धारी) कैसे होगा ? (मा० पी० प्र० सं०)] । जो अविनाशी है वह नाशवान् नरतन (मनुष्य) कैसे होता है ? "सर्वरहित सब उर पुर बासी" अर्थात् जो सर्वरहित है उसका सम्बन्ध जब सबके साथ हुआ तो वह सर्वरहित कैसे हुआ ? जो

सबके उरमें बसता है वह जब मनुष्य हुआ तब सबके उरपुरका वासी कैसे हुआ ? [पुनः, जो सर्व रहित है वह मनुष्य हो सबसे मित्रता आदि व्यवहार कैसे करेगा ? वह किसीका मित्र, किसीका शत्रु कैसे होगा ? सब उरवासी अलख एक पुरका वासी लक्षितगति कैसे होगा ? (मा० पी० प्र० सं०)] ☞(ख) श्रीपार्वतीजीने प्रथम प्रश्नमें ब्रह्मको निर्गुण कहा था, यथा 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी। अर्थात् वे ब्रह्मको निर्गुण ही मानती थीं। अब वे यहाँ निर्गुण ब्रह्मके लक्षण कहती हैं कि वह चिन्मय, अविनाशी, सर्वरहित और सर्व-उर-पुरवासी है। पुनः भाव कि पूर्व ब्रह्मको निर्गुण कहा था, अब श्रीरामजीका स्वरूप जान गई हैं, इसीसे अब श्रीरामजीको ही 'ब्रह्म चिन्मय···' कहती हैं। [ऊपर जो कहा था कि 'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ' उसका स्पष्टीकरण करके बताया कि रामस्वरूप किस प्रकार जान पड़ा। अब यह संशय नहीं रह गया कि राम-रघुपति ब्रह्म हैं या नहीं। प० प० प्र०]।

३ "नाथ धरेउ नर तन··" इति। (क) श्रीरामस्वरूपमें जो सन्देह था वह तो निवृत्त हो गया, यथा 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'। रही बात ब्रह्मके अवतारकी, यथा 'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर···। ५०', इसमें अभी सन्देह है, इसीसे ब्रह्मके अवतारका हेतु पूछती हैं। [(ख) "नर शरीर तो अनादिभूत प्रभुका है तो वहाँ नरदेह धरना कैसा ? परन्तु शिवजीको कथाका प्रसंग कहनेमें यह प्रश्न बड़ा उपयोगी हुआ। क्योंकि भगवान् विष्णु भी रघुनाथजीका अवतार धारण करते हैं, अतः इनमें 'नरतन धरना' कहना ठीक है, नारद-शापके कारण द्विभुज हुए। साकेतबिहारीका नित्य नररूप है, उनके प्रति 'नरतन धरेऊ' नहीं कहा जा सकता। वे तो जैसेके तैसे प्रकट हो गए। इनका नित्य नररूप मनुमहाराजके वरदानमें कहेंगे।" (रा० प्र०)। (ग) 'नर तन' से पाञ्चभौतिक तनका तात्पर्य है। यथा 'पृथिव्यादि महाभूतैर्जन्यते प्रादुर्भवतीति पुरुषः नरः इत्यमरविवेके'। भाव यह कि दिव्यरूपसे प्राकृतरूप क्यों हुए ? (वै०)। 'धरेउ केहि हेतू' में भाव यह है कि ब्रह्म, चिन्मय आदि विशेषणयुक्तको तो नरतन धरनेकी कोई आवश्यकता जान नहीं पड़ती और प्रयोजनके बिना कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। नरतन तो भवपार उतरनेके लिये है, राम तो नित्यमुक्त हैं, उन्हें तो भवपार उतरना नहीं है। (वि० त्रि०)। (घ) "यहाँ 'समुझाइ कहहु' कहा। इसीसे श्रीशिवजी श्रीरामावतारके कई हेतु बतावेंगे; क्योंकि साकेतविहारी तो नराकार ही हैं सो वे तो पूर्व रूपसे ही मनुमहाराजके हेतु प्रकट हुए। उसी लीलाको करनेके लिए जब नारायणादि भगवान्‌ने रामरूप धारण किया तब वे, चतुर्भुजसे द्विभुज हुए। इत्यादि सन्धि है। इसी कारण शिवजीने इस प्रश्नको अंगीकार किया।" (वै०)]। (ङ) 'मोहि समुझाइ कहहु' का भाव कि ब्रह्मके अवतारका हेतु मेरी समझमें नहीं आता। मैं जड़ हूँ; स्त्री हूँ, अज्ञानी हूँ। अतएव मुझे समझाकर कहिये जिसमें समझमें आ जाय। (च) "बृषकेतू" इति। सन्देह दूर करना धर्म है, और आप धर्मकी ध्वजा हैं, आपका धर्म पताकामें फहरा रहा है। अथवा, भाव कि मुझे समझाकर कहिए। यद्यपि मैं जड़ हूँ, अज्ञानी हूँ, तथापि आप तो वृषकेतु हैं, वृष (बैल) ऐसे अज्ञानीको ज्ञानी बनाके आप उसे अपने पताका पर बिठाये हुए हैं।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि "पूर्वका प्रश्न और तरहका है और वही प्रश्न यहाँ और तरहसे किया है। प्रथम श्रीपार्वतीजी यह सिद्धान्त निश्चित किए थीं कि ब्रह्म निर्गुण है, वह सगुण होता ही नहीं; अतएव ब्रह्म राम कोई और हैं। यह बात "जौ नृप तनय त ब्रह्म किमि" पार्वतीजीके इन वचनोंसे सिद्ध होती है। यह सुनकर शिवजी नाराज़ हुए। यथा "एक बात नहिं मोहि सुहानी।···कहहिं सुनहिं अस अधम नर···' इत्यादि। और उन्होंने निर्गुण सगुण दोनोंकी एकता कर सब सिद्धान्त दाशरथी राममें ही पुष्ट किये, यथा 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' से 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रकट परावर नाथ' तक कहकर तब यह कहा कि 'सोई' रघुकुलमणि रामचन्द्रजी हैं। जब इस प्रकार शिवजीने समझाया तब उनको निश्चय

हुआ कि येही राम ब्रह्म हैं, यथा 'राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ'। वही अब यहाँ पार्वतीजी कह रही हैं कि 'राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी···' इत्यादि हैं, श्रीरामजीका यह स्वरूप है यह मैं जान गई। अब कथा और देह धारणका कारण सुननेकी इच्छा है।

नोट—प्रश्न तो बहुतसे हैं किन्तु मुख्य उनमें यही है कि 'क्या निर्गुण भी सगुण हो सकता है?' अर्थात् वे निर्गुण और सगुणको ब्रह्मके दो अलग-अलग रूप समझती थीं। इसीसे उन्हें यह सन्देह हुआ था। परन्तु शिवजीके भ्रमभंजन वचनोंसे उनका यह भ्रम कि निर्गुण और सगुण दो हैं मिट गया। वे समझ गईं कि अव्यक्त एवं प्राकृतगुणरहित होनेसे ब्रह्म निर्गुण कहलाता है और व्यक्त दिव्यगुणविशिष्ट होनेसे वही सगुण कहा जाता है। अतएव अब दूसरा मुख्य प्रश्न यह रह जाता है कि "ब्रह्म किस कारण नरतन धारण करता है?" यह अभी समझमें नहीं आता। इसीसे वे कहती हैं कि प्रथम जो मैंने पूछा उसी-को कहिए।☞"प्रथम" शब्दके कई अर्थ होते हैं—"सबसे पहला नंबर १"; 'पूर्व'। 'प्रथम' का अन्वय 'जो' और 'कहहु' दोनोंके साथ हो सकता है। 'जो' के साथ लेनेसे भाव होगा कि जो मैंने पूछा था कि 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी' वही कहिए। यह कहकर फिर उसी प्रश्नको यहाँ दूसरे शब्दोंमें दोहराती हैं—'नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू'। और दूसरा अर्थ यह होगा कि 'जो मैंने पूर्व पूछा है उसीको कहिये' पर उसमेंसे इस प्रश्नका उत्तर समझकर कहिए कि 'राम ब्रह्म चिनमय अबि-नासी। सर्बरहित सब उर पुरबासी॥ नाथ धरेहु नर तन केहि हेतू'। भाव कि अन्य प्रश्नोंके उत्तर विस्तारसे समझाकर कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

'कहहु के साथ 'प्रथम' का अन्वय करनेसे अर्थ होगा कि 'जो मैंने पूछा है उसे प्रथम कहिए' अर्थात् 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी' से 'औरौ रामरहस्य अनेका। 'कहहु नाथ' तकके प्रश्नोंका उत्तर प्रथम कहिए। भाव कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई' उसको चाहे पीछे कहिए चाहे जब कहिए पर जो पूछा है उसको अवश्य पहिले कहिए। और इन पूछे हुओंमेंभी 'नर तन धारण' करनेका हेतु समझाकर अर्थात् विस्तारसे कहिए जिसमें समझमें आ जाय, शेषका उत्तर विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं।

उमा बचन सुनि परम बिनीता। रामकथा पर प्रीति पुनीता॥ ८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीके परम विनम्र वचन सुनकर और श्रीरामकथापर उनका पवित्र प्रेम (देख)॥८॥

टिप्पणी—१ (क) 'बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुं प्रेम रस सानि। ११९।' उपक्रम है और "उमा बचन सुनि···" उपसंहार है। उमाके वचन 'बर (श्रेष्ठ) हैं, 'प्रेमरसमें साने' हुए हैं और 'परम विनीत' एवं "पुनीत" हैं। 'परम विनीत' हैं अर्थात् अत्यन्त नम्र वा नम्रतायुक्त हैं। यथा 'अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी।", "जौं मो पर प्रसंन प्रभु अहहू"। (ख) "प्रीति पुनीता" निश्छल प्रीति, यथा 'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती। १५३.७।', "सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत। २२९।", "सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता॥ प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेषी। २९१।१-२।" यहाँ कथामें उमाजीकी स्वार्थरहित प्रीति है और स्वार्थ ही छल है, यथा 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई। २.३०१.३।' (ग) पुनः उमाजीके वचन बाहरसे विनीत हैं, भीतर (हृदयमें) पुनीत प्रीति है और 'बोलीं गिरिजा बचन बर' यह वचनकी पवित्रता है। इस प्रकार पार्वतीजीके वचनोंमें उनकी मन, वचन और कर्मसे निश्छलता दिखाई।

नोट—१ 'पुनीत' कहकर जनाया कि प्रीति अपुनीत (अपवित्र) भी होती है। स्वार्थ रखकर जो प्रेम किया जाता है वह पवित्र नहीं है किंतु अपवित्र है। कलिमें प्रायः अपुनीत प्रीति देखनेमें आती है। यथा "प्रीति सगाई सकल गुन बनिज उपाय अनेक। कल बल छल कलिमलमलिन डहकत एकहि एक॥

५४७।", "दंभ सहित कलिधरम सब छल समेत व्यवहार। स्वारथ सहित सनेह सब रुचि अनुहरत अचार। ५४८।", "धातु वाद निरूपाधि बर सद्गुरु लाभ सुमीत। देव दरस कलिकाल मैं पोथिन दुरे सभीत। ५५७।" (दोहावली)। इन उद्धरणोंसे पवित्र और अपवित्र प्रेम भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। २ 'उमा' इति। 'उँ=शिवं मातीति उमा' अर्थात्—उ (शिवजी) को जो जाने वह उमा। 'उमा' संबोधनका भाव कि आज मेरा कहा माननेसे तुम्हारा यह नाम सत्य हुआ। (रा० प्र०)। पूर्व 'उमा' शब्दकी व्युत्पत्ति विस्तारसे लिखी गई है। मेना माताने इनको तप करनेसे रोका था इसीसे यह नाम पड़ा था। ७३।७ 'चलीं उमा तप हित हरषाई' में देखिए।

दोहा—हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान।
बहु बिधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान ॥१२०॥ (क)
सोरठा–सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़ ॥१२०॥ (ख)
सो संबाद उदार जेहिं बिधि भा आगे कहब।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ ॥१२०॥ (ग)
हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु ॥१२०॥

अर्थ—तब कामदेवके शत्रु स्वाभाविक ही सुजान श्रीशिवजी हृदयमें प्रसन्न हुए और पुनः उमाजीकी बहुत तरहसे प्रशंसा करके दयासागर शिवजी फिर बोले। हे भवानी! निर्मल रामचरितमानसकी सुंदर मांगलिक कथा सुनो जिसे भुशुण्डीजीने विस्तारपूर्वक कही और पक्षियोंके स्वामी श्रीगरुड़जीने सुनी। वह उदार (भुशुण्डि-गरुड़) संवाद जिस प्रकार हुआ वह मैं आगे कहूँगा। (अभी) श्रीरामचन्द्रजीके परम सुंदर पवित्र अवतार और उनके चरित सुनो। भगवान्‌के गुण, नाम, कथा और रूप (सभी) अपार, अगणित और अमित हैं। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहता हूँ। हे उमा! सादर सुनो ॥१२०॥

टिप्पणी—१ "हिय हरषे कामारि···" इति। (क) पार्वतीजीके वचन प्रेमरससाने हैं, इसीसे शिवजीको हर्ष हुआ। यथा "सबके बचन प्रेम रस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने। ७।४७।" पुनः, कथामें पुनीत प्रेम देखकर हर्ष हुआ। (ख) "कामारि" इति। ☞स्मरण रहे कि कथाके प्रारम्भमें (इस प्रकरणके प्रारंभसे) कवि बारबार 'कामारि' विशेषण देते आ रहे हैं। यथा "बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांतरस जैसे", "तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती।", "हिय हरषे कामारि····" ऐसा करनेका तात्पर्य यह है कि कथाके वक्ताको कामरहित, शान्त, सुजान और रामभक्त होना चाहिए। जो वक्ता ऐसा होता है उसीकी कथासे श्रोताओंका कल्याण होता है। [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'कामारि' कहनेका भाव यह है कि शिवजीने इनकी प्रशंसा कुछ इनके रूप आदि पर रीझकर नहीं की वरंच इनकी प्रीति देखकर। अथवा, कुतर्करूपी कामनाएँ वासनाएँ दूर कर दीं, अतएव 'कामारि' विशेषण दिया।" वैजनाथजीका मत है कि 'शंकरजी अकाम हैं, वे अकाम प्रश्न जानकर प्रसन्न हुए।' अथवा, कामारि हैं, भक्ति देखकर ही हर्षित होते हैं (वि० त्रि०)।] (ग) "संकर सहज सुजान" इति। शंकर अर्थात् कल्याणकर्ता कहा, क्योंकि पार्वतीजीका भ्रम भंजनकर उन्होंने उनका कल्याण किया और कथा कहकर जगत्‌मात्रका कल्याण करनेको हैं। हृदयकी प्रीति देखकर हर्षित हुए, इसीसे 'सुजान' कहा। यथा "अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना। ३।२७।", "करुनानिधान सुजानु सीलु सनेहु जानत

रावरो । १।२३६ ।", "देखि दयाल दसा सब ही की । राम सुजान जानि जन जी की । २।३०४ ।", इत्यादि । (घ) 'सहज सुजान' का भाव कि किसी लक्षणको देखकर अथवा किसी और विद्यासे हृदयकी जानी हो सो बात नहीं है किन्तु आप स्वाभाविक ही जानते हैं (वि० त्रि० का मत है कि सहज सुजान हैं, अतः विनीत वचनसे सुखी होते हैं)। (ङ) 'बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि' इति। 'पुनि' देहलीदीपक है। 'प्रसंसि पुनि' और 'पुनि बोले'। 'प्रसंसि पुनि' से जनाया कि जैसे पूर्व बहुत प्रकारसे प्रशंसा की थी, वैसे ही फिर की। यथा "धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। ११२।६।' से 'कहत सुनत सबकर हित होई। ११३।१।' तक। 'पुनि बोले' कहा क्योंकि एक बार बोलना पूर्व कह आए हैं। यथा 'करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी। ११२।५।' से लेकर 'अस संसय आनत उर माहीं। ११६।६।' तक। बीचमें पार्वतीजी बोली थीं; यथा "बोलीं गिरिजा बचन बर···। ११६।" से "मोहिं समुझाइ कहहु बृषकेतू। उमा बचन···। १२०।८।' तक। अब पुनः शंकरजी बोले। (च) "कृपानिधान" का भाव कि उमाजीपर कृपा करके रामचरित सुनाया चाहते हैं। यथा 'सुनु सुभ कथा भवानि···' और 'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा। ३०।३।' पुनः [प्रशंसा करनेका भाव कि धन्य हो कि इतना कष्ट सहनेपर भी जबतक शंकाकी निवृत्ति न हुई तब तक प्रश्न करना न छोड़ा। 'कृपानिधान' विशेषण दिया क्योंकि उमाजीके बहाने जगत् मात्रपर कृपा कर रहे हैं। (रा० प्र०)]

२ "सुनु सुभ कथा भवानि···" इति। [(क) कथा शुभ अर्थात् मंगलकारिणी है। यह विशेषण श्रीरामकथाके लिये बारंबार आया है। यथा 'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। ७।५२।', 'यह सुभ संभु उमा संबादा। ७।१३०।', 'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। १।१०।'] (ख) 'सुनु सुभ कथा भवानि' उपक्रम है और 'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। ७।५२।' उपसंहार है। 'यह सुभ संभु-उमा-संबादा' पर संवादकी इति है। (ग) 'रामचरितमानस बिमल' इति। 'बिमल' विशेषण अन्तमें देकर 'कथा' और 'रामचरितमानस' दोनोंके साथ सूचित किया। कथा विमल है, यथा 'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।३५।६।', 'बिमल कथा हरिपद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी। ७।५२।' जिस कथामें रामचरितमानसका वर्णन है वही कथा निर्मल है एवं वही ग्रंथ विमल है। ('विमल' में दोनों भाव हैं अर्थात् यह स्वयं अपने स्वरूपसे निर्मल है और दूसरोंके मनको निर्मल करनेवाला है)। (घ) "कहा भुसुंडि बखानि···" उपक्रम है और 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई। ७।५२।६।' उपसंहार है। तात्पर्य कि जहाँसे शिवजी कथा कहने लगे वहींसे श्रीकाकभुशुंडीजीका भी प्रारंभ है और जहाँ शिवजीकी (कथाकी) समाप्ति है वहीं भुशुंडीजीकी (कथाकी) समाप्ति है। काकभुशुंडि-गरुड़-संवाद उमामहेश्वर संवादके पूर्व ही हुआ है, इसीसे शिवजी कहते हैं—"कहा भुसुंडि बखानि···"। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद पीछे हुआ, इसीसे इनको न कहा। "कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभुसंबाद···। ४७।" याज्ञवल्क्यजीके इस वचनसे उमा-शंभु-संवादका इनके संवादके पूर्व होना स्पष्ट है।

३ "सो संबाद उदार जेहि···" इति। (क) ☞जहां से कथा छोड़ी थी वहींसे पुनः प्रारम्भ करते हैं। 'राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥ १।११४।३-५।' पर कथा छोड़कर बीचमें श्रीरामस्वरूपका ज्ञान कराने लगे थे, अब पुनः वहींसे कथा (प्रसंग) उठाते हैं। 'सुनहु राम अवतार' यह जन्म है, शेष "हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित···" यह वही है जो 'राम नाम गुन चरित सुहाए।···' है। (ख) उदार=सुन्दर, यथा 'सुन्दरं प्रोक्तमुत्कृष्टं पूजितं तथा' इति त्रिलोचनः। ['उदार' के अनेक अर्थ हैं- उदार=बड़ा। अर्थात् यह संवाद बड़ा है, कहने लगेंगे तो तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर रहही जायगा। पुनः, उदार=उत्कृष्ट। क्योंकि इससे विहगनायक श्रीगरुड़जीका मोह मिटा। पुनः, उदार=पात्रापात्र और देशकालादिका विचार न करके

याचकमात्रको उसकी इच्छापूर्वक दान देनेवाला। इस संवादमें भुशुण्डीजीके वचनोंमें भक्तिका पक्ष है और भक्ति ऊँचनीच सभीका उद्धार करती है। यथा "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तःप्रणश्यति।" (गीता ९।३१), 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्॥' (गीता)। रा० प्र० कार 'उदार' को 'भुशुण्डी' का विशेषण भी मानते हैं। भाव यह कि अविद्यारूपी दारिद्र्य जिनके आश्रमसे योजनभरकी दूरीपर रहता है ऐसे उदार भुशुण्डीजीका संवाद] [(ग) "जेहि बिधि भा" अर्थात् उस संवादका कारण और जिस तरह गरुड़जी भुशुण्डीजीके पास गए और पूछा, इत्यादि। यथा "तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि-निकर बिहाई॥ कहहु कवन बिधि भा संबादा। दोउ हरिभगत काग उरगादा। ७।५५।'] (घ) "आगे कहब" अर्थात् अभी प्रथम तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ। (आगे उत्तरकांडमें पार्वतीजीके पूछनेपर कहा है। यथा 'अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गयउ काग पहिं खगकुलकेतू॥' ७।५८।२ से)। [भुशुण्डि-गरुड़-संवाद 'आगे कहूँगा', इस कथनमें श्रोताकी प्रीतिकी परीक्षा लेनेका भाव है, यह अभिप्राय उत्तरकांडके 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥ कछुक रामगुन कहेउँ बखानी। अब का कहौं सो कहहुँ भवानी।७।५२। ६-७।' इस शिववाक्यसे स्पष्ट है। यदि वे पूछती हैं तो सिद्ध होगा कि रामकथापर विशेष प्रीति है। अतः आगे उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि 'मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी। तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई।' यह संवाद ही था जो प्रथम गुप्त कर रक्खा था। प० प० प्र०।] (ङ)-"सुनहु राम अवतार चरित···" इति। अर्थात् राम-अवतार सुनो, अवतारके पश्चात् चरित सुनायेंगे सो सुनना। 'परम सुंदर अनघ' का भाव कि जैसे श्रीरामजी परम सुन्दर और अनघ हैं, वैसे ही उनके चरित्र भी हैं। यथा "यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा। कहहु कृपाल काग कहँ पावा। ७।५५।१।' संवादका सुन्दर होना तो पहले ही कह आए हैं।

४ "हरि गुन नाम अपार···" इति। (क) इससे जनाया कि गुण, नाम, कथा, रूप और चरित्र यह सब कहेंगे। (ख) इस सोरठेका तात्पर्य यह है कि ज्ञानी लोग भगवान्‌के गुण नामादिको सुनकर, उनको अनंत समझकर आश्चर्य नहीं करते। यथा "राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार। सुनि आचरज न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार। ३३।" यह आश्चर्य सबको होता है, इसीसे संशय हो जाता है। अतएव अंतमें यह कहकर सबके संशयकी निवृत्ति करते हैं। इसी तरह गोस्वामीजीने 'राम अनंत अनंत गुन···। ३३।' कहकर "एहि बिधि सब संसय करि दूरी" कहा है। (ग) "निज मति अनुसार"—११४।५ 'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी' में देखिए। 'अपार अगनित अमित'—११४।३-४ देखिए। (घ) 'सादर सुनहु' अर्थात् मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनो। कथा सादर (आदरपूर्वक) सुननी चाहिए; इसीसे चारों संवादोंमें आदरसे सुननेको कहा गया। प्रमाण ११४।२ में देखिए। सादर न सुननेसे उसका प्रभाव नहीं पड़ता।

वि० त्रि०—१ 'सुनु' इति। 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरे' इस पाँचवें विषयका उत्तर पाँचवें 'सुनु' शब्दसे सूचित करते हैं। भाव यह कि प्रसंग प्राप्त बचे बचाये संशयके निरसनके लिये गरुड़-भुसुंडि-सम्वाद अन्तमें कहेंगे। २ 'कहहु पुनीत राम गुन गाथा' इस छठे विनयका उत्तर देते हैं, कहते हैं कि वह संवाद उदार है। अर्थात् इस कथाका ऐसा माहात्म्य है कि यदि काक प्रेमसे कथा कहने बैठे, तो विहंगनायक, साक्षात् प्रभुकी विभूति गरुड़ सुननेके लिये आ जावें। ३-'बरनहु रघुबर बिमल जस' इस सातवें विनयका उत्तर देते हैं कि 'हरि गुन नाम अपार···'। हरिके असीम होनेसे उनके नाम और गुण भी अपार हैं। कथा और रूप अगणित हैं, ऐसी अवस्थामें मति अनुसार ही कहा जा सकता है।

कैलास-प्रकरण-समाप्त-हुआ।

अवतार-हेतु-प्रकरण

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए ॥१॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥२॥

शब्दार्थ बिपुल = संख्या या परिमाणमें बहुत अधिक। बिसद (विशद)=उज्ज्वल, निर्मल। इद-मित्थं=इदं (यह) इत्थं (अनेन प्रकारेण इत्थं अर्थात् इसी प्रकार है) = यह इसी प्रकार है (ऐसा)।

अर्थ—हे गिरिजे ! सुनो। श्रीहरिके चरित सुंदर हैं, अगणित हैं, अत्यंत विशद हैं और वेदशास्त्रोंने गाये हैं (एवं वेदशास्त्रोंने ऐसा कहा है) ॥ १ ॥ श्रीहरिका अवतार जिस कारणसे होता है, 'वह (कारण) यह है, ऐसा ही है, यह कहा नहीं जा सकता ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ "सुनु गिरिजा हरिचरित···" इति। (क) ☞ प्रथम शिवजीने कहा कि "सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल", फिर कहा कि "सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ" तत्पश्चात् कहा कि "हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित।···कहौं उमा सादर सुनहु।" और यहाँ पुनः कहते हैं "सुनु गिरिजा हरिचरित···"। बारंबार 'सुनु' क्रिया भी दी है। इसका भाव यह है कि प्रथम जो रामचरितमानसकी कथा सुननेको कहा वह समष्टि-कथन है और उसके बाद व्यष्टिकथन है (अर्थात् उन्होंने प्रथम संपूर्ण मानस सुनानेको कहा, फिर उसके विभाग करके कहा) कि श्रीरामावतार-चरित सुनो, हरिके गुण, नाम, कथा और रूप सुनो, तथा हरिचरित सुनो। बालचरितको आदि देकर ये सब चरित पृथक्-पृथक् कहे हैं, इसीसे 'सुनु' क्रिया सभीके साथ लिखी। [चारों बार सुनना मानसकथाके लिये ही जानो। ये चारों, गुण नाम कथा रूप, रामचरितमानस ही में आ गए, अन्यत्र नहीं हैं। पुनः बार बार कहना ताकीद प्रकट करता है, जो वीप्साअलंकारका लक्षण है। वा, शिवजी बारंबार 'सुनु' कहकर उनको सुननेके लिये सावधान कर रहे हैं। अंतमें यहाँ 'गिरिजा' संबोधन देकर जनाते हैं कि सावधानतामें गिरिके समान अचल रहना। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि "चार कल्पोंके रामावतारके हेतु कहनेका विचार है, इससे चार बार 'सुनु' क्रियाका उपयोग किया।" 'हरि चरित'—यहाँ 'हरि' नाम दिया; क्योंकि विष्णु भगवान् और क्षीरशायी श्रीमन्नारायणका भी (शापवश) श्रीरामावतार धारणकर वह लीला करना कहा जाता है और आगे श्रीरामचरितमानसमें प्रथम इन्हींके अवतारका हेतु कहा गया है। (श्रीरामतापिनी आदि के भाष्य-कार बाबा श्रीहरिदासाचार्यजीके मतानुसार श्रीरामजीको छोड़ और कोई श्रीरामावतार नहीं लेता। शाप चाहे विष्णुको हो, चाहे क्षीरशायीको, पर अवतार सदा श्रीराम ही लेते हैं, विष्णु आदि नहीं)। 'हरि' शब्द श्रीराम, श्रीविष्णु और श्रीमन्नारायण सभीका बोधक है। श्रीपार्वतीजीने तो श्रीरामके अवतारका हेतु पूछा है, परन्तु शिवजी 'हरिअवतार हेतु' कह रहे हैं। 'हरि' शब्दसे ग्रन्थकारकी बड़ी ही सावधानता सूचित हो रही है। वस्तुतः श्रीरामजी तो नित्य नराकार ही हैं; उनके सम्बन्धमें नर-तन धारण करनेका प्रश्न ही व्यर्थ होता; इस बातको शिवजी चार अवतारोंकी कथा कहकर बतावेंगे। श्रीसाकेतविहारी श्रीरामचन्द्रजीका अवतार लेनेके पूर्वही नरतनहीमें श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन देना कहकर यह बात निश्चय करा देंगे। (मा० पी० प्र० सं०)] (ख) "हरिचरित" इति। ☞ नाम, रूप, गुण, कथा और चरित सभीकी प्रधानता दिखानेके लिये सबोंको (एक एक जगह) आदिमें लिखते हैं। "हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित' में गुणको प्रथम कहा। 'रामनाम गुन चरित सुहाए।···" में नामको प्रथम कहा। "सुनु सुभ कथा भवानि···" में कथा को, "जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना।" में रूपको

और "सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए" में चरितको प्रथम कहा। (ग) "बिपुल बिसद निगमागम गाए" अर्थात् इतने अधिक हैं कि अनादि वेद कबसे गाते चले आते हैं पर अन्त नहीं मिलता। यथा "रामचंद्र के चरित सुहाए। कल्प अनेक जाहिं नहिं गाए।"

वि० त्रि०—'रघुपति कथा कहहु करि दाया' इस आठवें बिनयका उत्तर देते हैं। 'सुहाए' बहुवचन देकर जनाया कि एक कल्पकी कथा न कहकर कई कल्पकी कथा कहेंगे, यह दिखलानेके लिये कि लीलायें सामन्यतः एक रूपकी होती हुई भी विस्तारमें प्रत्येककी विशेषता है।

टिप्पणी—२ "हरि अवतार हेतु जेहि···" इति। (क) पूर्वोक्त सब प्रसंगोंके कहनेकी प्रतिज्ञा करके अब पार्वतीजीके प्रश्न-विशेष "नाथ धरेउ नर तन केहि हेतू" जो अवातरका हेतु है, उसका उत्तर देते हैं। 'इदमित्थं' यही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता अर्थात् कहते नहीं बनता; क्योंकि अवतारके हेतु अनेक हैं। यथा "राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका। १२२।२।", अतएव हेतुका निश्चय करते नहीं बनता।

"इदमित्थं कहि जाइ न" इति

१ भाव यह कि निश्चयपूर्वक कोई आचार्य्य यह नहीं कह सकता कि अमुक अवतारका अमुक ही कारण है। एकही अवतारके अनेक कारण कहे जाते हैं, फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि बस यही कारण इस अवतारके हैं अन्य नहीं। श्रीसाकेतविहारीजीका ही अवतार लेलीजिए। इसका हेतु क्या कहेंगे? मनुशतरूपा-तप, या, भानुप्रताप-रावणका उद्धार, या, सुरविप्रसंत की रक्षा? फिर ये सभी कारण हैं या नहीं कौन जानता है? ग्रंथान्तरोंमें इस अवतारके लिए श्रीकिशोरीजीकी प्रार्थना भी पाई जाती है। अतएव यह कोई नहीं कह सकता कि बस यही कारण है। (मा० पी० प्र० सं०)।

२ 'यही और ऐसा ही भगवदवतारका कारण है' यह इसलिये नहीं कहा जा सकता कि सामान्यतः जो कुछ कारण अवतारका देख पड़ता है उससे कुछ विलक्षणही कारण तब मालूम पड़ने लगता है जब अवतार लेकर भगवान् लीला करने लगते हैं। उस समय कहना तथा मानना पड़ता है कि अवतारका जो कारण अवतारसे पहले कहा गया वह गौण था और जो लीला देखनेसे मालूम पड़ा वह अनुमानतः मुख्य है। शंका हो सकती है कि तब "मुख्य कारण ही बतलाकर अवतार क्यों नहीं होता, गौण ही क्यों विख्यात किया जाता है?", इसका उत्तर एक तो इस प्रकार हो सकता है कि "परोक्षवादो ऋषयः परोक्षो हि मम प्रियः" भा० ११। इस अपनी परोक्षप्रियताके कारण भगवान् अपने अवतारके मुख्य प्रयोजनको छिपाते हैं। दूसरे, यह कि अवतारके जिन कारणोंमें तात्कालिक जगत्-हित या किसी एक प्रधान भक्तका हित समाया रहता है उन्हें (इन्हीं कारणोंसे) गौण कह सकते हैं तथा वही विख्यात भी किये जाते हैं। और जिनसे अनंत कालके लिये सर्वसाधारण जगत्का हित होता रहता है, उन्हें मुख्य कह सकते हैं और उन मुख्य कारणोंका गोपन कार्यसमाप्तितक इसलिये रहता है कि जितनी सुविधा और उत्तमता गोपनमें रहती है उतनी सर्वसाधारणमें प्रकट कर देनेसे नहीं होती।—"अवताराह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विज" (भागवत) के अनुसार हरिके अवतारोंका अंत तो लग ही नहीं सकता, अतः परम प्रसिद्ध अवतारोंमेंसे भी कुछका ही भगवत्कृपासे अपनी समझमें आए हुए गौण तथा मुख्य कारणोंको लिखता हूँ।

अवतार	गौण-कारण	मुख्य कारण
१ मत्स्यावतार	मनुको प्रलयका कौतुक दिखाना-मात्र (एक भक्तका कार्य सिद्ध हुआ)।	मनुद्वारा संपूर्ण वनस्पतिबीजोंको संग्रह कराकर रक्षा करनेसे जगत्मात्रका हित हुआ।

अवतार	गौण कारण	मुख्य कारण
२ कूर्म्मावतार	मन्दराचल धारणकर समुद्रमंथनद्वारा अमृत निकालना	१ शंकरजीको कालकूट पिलाकर श्रीरामनाम तथा रामभक्तकी महिमा प्रकट करना। २ भृगु (वा दुर्वासाके) शापसे समुद्रमें गुप्त हुई लक्ष्मी को प्रकट करना। ३ ऋषि यज्ञ करनेमें सामग्रियोंके अभावका दुःख न उठावें, एतदर्थ कामधेनु और कल्पवृक्षका उत्पन्न करना; इत्यादि।
३ वराहावतार	पातालसे पृथ्वीका उद्धार तथा हिरण्याक्ष का वध।	१ यज्ञके श्रुवा-चमसादि कौन पात्र किस आकार और किस प्रमाणके होने चाहिएँ, इस विवादको मिटानेके लिये अपने दिव्य चिन्मय विग्रहसे समस्त यज्ञाङ्गोंको प्रकट करना। २ भू-देवीकी अपने अंग संगकी इच्छा पूरी करके नरकासुर नामक पुत्रोत्पन्न करना जिसके द्वारा पूर्व वरदांतिक सोलह हजार एक कुमारियोंका संग्रह कराया गया और कृष्णावतारमें उन्हें अपनी महिषी बनाया गया। इत्यादि।
४ नृसिंहावतार	प्रह्लादकी रक्षा और हिरण्यकशिपुका वध	जगत्‌हितके लिये अभिचारादि तंत्रोंको प्रकट करना तथा भगवान् शंकरकी इच्छाकी पूर्ति।
५ वामनावतार	बलिका निग्रह जिसमें केवल इन्द्रादिका ही हित था; क्योंकि मनुष्य आदि तो राजा बलिके धार्मिक राज्यसे पीड़ित न थे।	ब्रह्मा द्वारा तिरस्कृत एवं ब्रह्मकटाहमें रुकी हुई हैमवती गंगाका उद्धार करके उन्हें अपने पदरजके द्वारा पापनाशकत्वादि अनेक गुण प्रदान करते हुए ब्रह्माके कमंडलमें स्थापित करना था जिन्हें कि भगीरथ महाराजने अपने तपके प्रभावसे प्रवाहित किया। गंगाजीसे अनंत प्राणियोंका कल्याण होता ही रहता है।
६ श्रीरामावतार	रावण कुंभकर्णादिका अत्याचार	अपने अनेक दिव्य गुण प्रदर्शनार्थ तथा ज्ञान और धर्म्म मार्गोंको सुगम करनेके लिये; यथा 'धर्म-मार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः' अथर्वणे।
७ श्रीकृष्णावतार	शिशुपाल दन्तवक्र आदि अनेक क्षत्रियाधमों, राक्षसों आदिका विनाश करनेके लिये।	उलझनमें पड़ी हुई धर्मकी अनेक ग्रंथियोंको सुलझाने और अपने प्रेम तथा भक्तपरवशत्वादि गुणोंको प्रकट कर दिखानेके लिये।

इसी प्रकार भगवान्‌के प्रत्येक अवतारोंमें कुछ न कुछ गूढ़ रहस्य रहता ही है। (वे० भू०)।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥ ३॥

तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ ४॥

तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही। समुझि परै जस कारन मोही॥५॥

शब्दार्थ—अतर्क्य=तर्कना करने योग्य नहीं; जिसमें तर्ककी गति नहीं; जिसपर तर्क वितर्क न हो सके ।=जिसके विषयमें किसी प्रकारकी विवेचना न हो सके; अचिन्त्य ।=तर्कशास्त्रसे न सिद्ध होने योग्य । यथा "मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी । ३४१।७ ।" तर्क-'अनिष्ट प्रसंजकः तर्कः इति तत्वसंधाने ।' जो युक्ति प्रतिवादीके अनिष्टकी सिद्धि करे । (मा० त० वि०) । 'जब किसी वस्तुके संबंधमें वास्तविक तत्व ज्ञात नहीं होता तब इस तत्वके ज्ञानार्थ (किसी निगमनके पक्षमें) कुछ हेतुपूर्ण युक्ति दी जाती है जिसमें विरुद्ध निगमनकी अनुपपत्ति भी दिखाई जाती है । ऐसी युक्तिको 'तर्क' कहते हैं । तर्कमें शंकाका भी होना आवश्यक है । अनुमान=अटकल, विचार, अंदाज । विशेष दोहा ११८ (४) में देखिए । सुमुखि=सुंदर मुखवाली ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी बुद्धि, मन और वाणी तीनोंसे अतर्क्य हैं । हे सयानी ! सुनो । यह हमारा मत है ॥३॥ तो भी सन्त, मुनि, वेद और पुराण अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा कुछ कहते हैं ॥४॥ और जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है; हे सुमुखि ! मैं तुमको वैसा सुनाता हूँ ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) "राम अतर्क्य···"; यथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ।' (तैत्ति० २।४, २।६) । श्रीरामजी अतर्क्य हैं, अतएव उनके अवतारके हेतु, नाम, गुण, लीला इत्यादि सभी अतर्क्य हुए । (ख) "मत हमार अस सुनहि सयानी" इति । सयाना=चतुर; जो थोड़ेहीसे बहुत अच्छी तरह समझ ले । 'सयानी' का भाव कि तुम चतुर हो, इस बातको समझ सकती हो, अतः समझ जाओ कि जब श्रीरामजी अतर्क्य हैं तब उनके अवतारादि कब तर्कमें आ सकते हैं ? तर्कशास्त्र द्वारा उनको कोई कैसे समझ सकता है ? [(ग) 'बुद्धि मन बानी'—मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निश्चय करती है और वाणी निश्चित सिद्धान्तको कहती है; परन्तु श्रीरामजीके विषयमें किसीकी भी बुद्धि, मन और वाणी कुछ भी नहीं कर सकते, सभी असमर्थ हैं । पुनः, तार्किक बुद्धिसे अनुमान, मुनि मनसे मनन करते हैं, वेद स्वयं वाणी है और सबसे उत्कृष्ट है सो ये तीनों भी तर्क नहीं कर सकते । (द्वि० सं०) । श्रुति भी है-'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः न विद्मः न विजानीमः । केन० १।३ ।' चक्षुसे ज्ञानेन्द्रिय, वाग्से कर्मेन्द्रिय, 'मन विद्मः विजानीमः' से बुद्धि और चित्तका कार्य बताया । इनमेंसे किसीकी पहुँच राममें नहीं है अतः श्रुतिमाताने कहा है कि 'तर्कः अप्रतिष्ठः' । यही 'राम अतर्क्य' से यहाँ कह दिया है । (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—१ 'अतर्क्य···' का भाव कि यदि तर्ककी गति होती तो उनके अवतारके विषयमें 'इदमित्थं' कुछ कहा जा सकता था । बुद्धि, मन और वाणी द्वारा ही तर्ककी प्रक्रिया होती है, सो बुद्धि आदि की गति समीप (परिच्छिन्न) पदार्थोंमें होती है । अनादि, अनन्त पदार्थ बुद्धिमें आ ही नहीं सकता । किं पुनः राम सर्वाश्चर्यमय देवमें (यथा 'सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्') । २—उमाने अपनेको 'जदपि सहज जड़ नारि अयानी' कहा था, अतः शिवजी उनका प्रोत्साहन करते हुये 'सयानी' कहकर सम्बोधन करते हैं ।

टिप्पणी—२ "तदपि संत मुनि बेद पुराना ।···" इति । (क) अर्थात् यद्यपि ये सब जानते हैं कि श्रीरामजी अतर्क्य हैं तथापि मति अनुसार कहते हैं । यथा 'सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान । नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान । १।१२ । सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहें बिनु रहा न कोई ।" (ख) "जस कछु" का भाव कि भगवान्के चरित अनंत हैं, उनमेंसे ये कुछ कहते हैं । 'स्वमति अनुमाना' का भाव कि सब कहनेका सामर्थ्य किसीमें नहीं है, सब अपनी-अपनी बुद्धिके अनुकूल कहते हैं । सब कहनेका सामर्थ्य किसीको नहीं है, इसीसे शिवजी अपने लिये भी ऐसा ही कहते हैं । यथा "मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु । १२० ।"

३ "तस मैं सुमुखि सुनावौं···" इति । (क) 'तस मैं···तोही···' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है । अर्थात् जैसा कुछ संत मुनि आदि कहते हैं वैसा और जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है वैसा; तात्पर्य

कि संत आदिका भी मत कहूँगा और उनसे पृथक् जो मेरा मत है वह भी कहूँगा। इसपर प्रश्न उठता है कि शिवजीका इन सबोंसे पृथक् अपना मत क्या है? उत्तर यह है कि जय-विजय, जलंधर, रुद्रगण और वैवस्वत् मनुका प्रकरण सब वेदपुराणोंमें मिलता है, वेदपुराणोंका कहा हुआ है। भानुप्रतापका प्रसंग शिवजीने अपनी समझसे कहा है। यह प्रसंग वेद पुराण और मुनियोंके ग्रंथोंमें कहीं नहीं मिलता। [यह कथा केवल शिवजी जानते हैं क्योंकि जहाँ कहीं यह कथा मिलेगी वहाँ उमा-शंभु-संवादमें ही मिलेगी, अन्यत्र नहीं; अतएव यह मत शिवजीका है—"रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा। ७।११३।" (लोमशवाक्य)। (मा० पी० प्र० सं०)। धनराज शास्त्री कहते थे कि भानुप्रताप-अरिमर्दन-कल्पवाली कथा अगस्त्यरामायणमें है जो तिब्बतमें लामाके पुस्तकालयमें है। उसमें सप्त सोपान हैं। परन्तु उसमें राजा कुंतल और सिंधुमतिका दशरथ और कौशल्या होना बताया गया है। विशेष ७।५२ (१-४) 'रामचरित सतकोटि अपारा' में देखिए] (ख) 'सुमुखि' इति। श्रीरामकथाका प्रश्न किया है; अतः 'सुमुखि' संबोधन किया। (ग) शिवजीने जैसी प्रतिज्ञा की वैसा ही कहा भी। प्रथम 'संत मुनि ··जस कछु कहहिं' यह है तब 'समुझि परै जस कारन मोही', इसी क्रमसे प्रथम सन्त मुनि वेदादिका कहा हुआ हेतु कहकर तब पीछे अपनी समझमें जो हेतु है वह कहेंगे।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥६॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥७॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥८॥

शब्दार्थ—अनीति=नीतिके विरुद्ध, अन्याय, अत्याचार। सीदहिं-सीदना (सं० सीदति। क्रि० अ०)= दुःख पाना, कष्ट झेलना, पीड़ित होना। यथा 'तुलसिदास सीदत निसि दिन देखत तुम्हारि निठुराई।' (विनय), 'सीदत साधु साधुता सोचति बिलसत खल हुलसति खलई है' (वि०)। पीरा=पीड़ा, दुःख।

अर्थ—जब-जब धर्मकी हानि होती है। नीच अधर्मी अभिमानी असुर बढ़ते हैं ॥६॥ और ऐसा अन्याय करते हैं कि जो वर्णन नहीं किया जा सकता। तथा ब्राह्मण, गौ, देवता और पृथ्वी पीड़ित होते हैं ॥७॥ तब-तब दयासागर प्रभु तरह-तरहके शरीर धरकर सज्जनोंकी पीड़ा हरते हैं। ८॥

नोट—१ "जब-जब होइ···" इति। (क) गीता आदिमें भी यही हेतु कहा है। यथा "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ गीता ४।७।", "इत्थं यदा-यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति ॥ तदा तदाऽवतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥" (सप्तशती ११।५४-५५)। अर्थात् जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है। तब-तब ही, हे अर्जुन! मैं स्वयं ही (अपने संकल्पसे, सम्पूर्ण ईश्वरीय स्वभावका त्याग न करते हुए अपने ही रूपको देवमनुष्यादिके सदृश आकारमें करके उन देवादिके रूपोंमें) प्रकट होता हूँ। (गीता ४।७), जब-जब संसारमें दानवी बाधा उपस्थित होगी, तब-तब अवतार लेकर मैं शत्रुओंका संहार करूँगा। (सप्तशती ११।५४-५५)। (ख) बहुत कालसे धर्मानुष्ठान चलता रहता है, फिर काल पाकर धर्मानुष्ठान करनेवालोंके अन्तःकरणमें कामनाओंका विकास होनेसे अधर्मकी उत्पत्ति होती है। ऐसे अधर्मसे जब धर्म दबने लगता है और अधर्मकी वृद्धि होने लगती है, तब अधम अभिमानी असुर बढ़ने लगते हैं। अधम अभिमानी अर्थात् प्रभुके आश्रितोंको पीड़ा देनेवाले। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—१ "जब जब होइ" से सूचित हुआ कि प्रभुके अवतारके लिये कोई कालका नियम नहीं है, जभी धर्मकी हानि होती है तभी अवतार होता है। इससे जनाया कि प्रभु सदा धर्मकी रक्षा करते हैं। "बाढ़हिं असुर···" यह धर्मकी हानिका हेतु है। अधम अभिमानी असुरोंकी बाढ़, उनकी उन्नति ही इसका कारण है। असुर धर्मकी हानि करते हैं; यथा "जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद

प्रतिकूला । १८३।५ ।'', (''हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति । १८३ ।''—यही अधमता है)। किस प्रकार धर्मकी हानि करते हैं, यह आगे कहते हैं ''करहिं अनीति जाइ···'' ।

२ ''करहिं अनीति···'' इति । (क) 'बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी' यह जो ऊपर कहा था उसके अधम और अभिमानी दोनों विशेषणोंका भाव यहाँ कहते हैं । अधम हैं, इसीसे अनीति करते हैं । बलका अभिमान है, इसीसे 'सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी' । 'करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी' का उदाहरण; यथा ''बरनि न जाइ अनीति घोर-निसाचर जो करहिं ।···१८३।' इत्यादि । ''सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी'' का उदाहरण, यथा ''जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं । नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं ।१८३।६।'', 'सुरपुर नितहि परावन होई ।।१८०।८।'', ''परम सभीत धरा अकुलानी । १८४।४ ।'' (यज्ञ-यागादि ही मुख्य धर्म हैं । उनके मुख्य साधन हैं ब्राह्मण और गाय । ब्राह्मणमें मन्त्र प्रतिष्ठित हैं और गौ-में हवि प्रतिष्ठित है । देवता इनके द्वारा यज्ञ होनेसे बलिष्ठ हैं । यथा 'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा । तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा । १६६।२ ।', 'तेन्ह कर मरन एक बिधि होई । कहौं बुझाइ सुनहु अब सोई ।। द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ।। छुधाछीन बलहीन सुर सहजेहि मिलिहहिं आइ ।१८१।' अतः असुर इन्हींको पीड़ा पहुँचाते हैं । अधम अभिमानीका भार पृथ्वी नहीं सह सकती, अतः वह भी पीड़ित होती है। वि०त्रि०) । (ख) 'धरनी' को अंतमें कहनेका भाव कि अनीति करना, विप्र-धेनु-सुरको पीड़ा देना, यही 'धर्मकी हानि' है । धर्मकी हानिसे धरणीको पीड़ा होती है; यथा 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी । परम सभीत धरा अकुलानी ।। १८४।४ ।'—(''जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला'' १८३।५ से 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी···' १८४।४ तक धर्मकी हानि इत्यादिका वर्णन है । इससे 'धर्मकी हानि' खूब समझमें आजायगी) ।

३ ''तब तब प्रभु···'' इति । (क) अर्थात् शरीर धारणकर धर्मकी रक्षा करते हैं, धर्मकी रक्षा करके सज्जनोंकी पीड़ा हरते हैं । तात्पर्य कि धर्मकी हानिमें सज्जनोंको पीड़ा होती है । यथा ''देखत जज्ञ निसाचर धावहिं । करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ।२०६।४।'' । 'सीदहिं' का अर्थ पीड़ा देते हैं (वा, पीड़ा पाते हैं), यह यहाँ स्पष्ट कर दिया ।(ख) असुरोंके मारनेके संबंधसे 'प्रभु' और बिबिधशरीर धरने तथा सज्जनोंकी पीड़ा हरनेके संबंधसे 'कृपानिधि' कहा । अवतारका हेतु कृपा है ही । [विविधशरीर धारण करनेमें 'प्रभु' और सज्जनोंकी पीड़ा हरनेमें 'कृपानिधि' कहा । 'प्रभु' शब्द सामर्थ्यका द्योतक है । तरह-तरहके शरीर धारण करना यह 'प्रभुत्व' गुण है, प्रभुताका काम है; और पीड़ा हरण करना दया करुणा जनाता है । (ग) '···धरि बिबिध सरीरा'', यथा ''मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी ।। जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ।।६।१०९।', अर्थात् मीन, कमठ, शूकर, नृसिंह, वामन, परशुराम, कृष्ण इत्यादि, जब जैसा कारण आपड़ा वैसा शरीर धारण कर लिया । मा० त० वि० कारका मत है कि विविध रीतिसे शरीर धारण करते हैं । जैसे कि खरदूषण-संग्राममें ''देखत परसपर राम'' और रंगभूमि में ''रहे असुर छल छोनिप बेषा । तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ।। १।२४१'' ।]

नोट—प्रभु किसलिये अवतार लेते हैं ? सज्जनोंकी पीड़ा हरनेकेलिये । यह यहाँ कहा । और, 'किस तरह पीड़ा हरते हैं ?' यह आगे कहते हैं—'असुर मारि०' ।

दोहा—असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु ।। १२१ ।।

शब्दार्थ—थापना=स्थापित करना,जमाना;अभय करके पुनः बसाना । राखना=रक्षा करना । सेतु=पुल;मर्यादा।

अर्थ—असुरोंको मारकर देवताओंको स्थापित करते, अपने वेदोंकी मर्यादा रखते और जगत्में अपने निर्मल उज्ज्वल यशको फैलाते हैं ।—यह श्रीरामजन्मका हेतु है ।। १२१ ।।

नोट—१ ☞ मिलान कीजिए—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।८।" गीता ४)। अर्थात् साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करने तथा धर्मस्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। मानसके दोहेमें 'असुरोंका मारना' प्रथम कहा है क्योंकि इनके नाशसे ही देवताओंकी तथा वेद-मर्यादाकी रक्षा हो जाती है और गीतामें 'परित्राणाय साधूनां' प्रथम कहा है तब दुष्टोंका नाश और धर्मसंस्थापन। हाँ, यदि हम 'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा' जो पूर्व कहा है उसको भी यहाँ ले लें तो गीताका मानससे मिलान हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्ने अपने अवतारोंका उद्देश्य और प्रयोजन बतलाते हुये पहले 'परित्राणाय साधूनां' कहा और तत्पश्चात् 'विनाशाय च दुष्कृताम्' कहा, वैसे ही यहाँ 'हरहिं सज्जन पीरा' कहकर 'असुर मारि' कहा। 'थापहिं' का भाव कि असुर देवताओंके अधिकार छीनकर स्वयं इन्द्र आदि बन बैठते हैं, उनके लोकोंको छीन लेते हैं, इत्यादि। भगवान् अवतार लेकर इनको उनके उनके पदोंपर स्थापित करते हैं। यथा 'आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दिये सरखतु हैं। क० लं० ५८।'

२ 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह....' का भाव यह है कि जैसे रोगीकी सड़ीहुई एक उँगलीके विषको सारे शरीरमें फैलनेसे रोकनेके लिये वैद्य उसे शस्त्रसे काटते हैं, इसी प्रकार दुष्टोंका संहार जगत्की रक्षाके लिये है। राजनीतिक्षेत्रमें इससे शिक्षा मिलती है कि प्रजाका पालन राजाका प्रधान कर्तव्य है।

टिप्पणी—१ (क) इस दोहेमें चार कार्य बताए। असुर पृथ्वीका भार हैं, उनको मारकर पृथ्वीका काम किया अर्थात् उसका भार उतारा। 'थापहिं सुरन्ह' अर्थात् देवताओंको अपने-अपने लोकोंमें बसाया, यह देवकार्य किया। 'राखहिं निज श्रुति सेतु' निजश्रुतिसेतुकी रक्षा करते हैं यह अपना काम करते हैं, और जग 'बिस्तारहिं बिसद जस' संसारमें यश फैलाते हैं, यह संतोंका कार्य करते हैं; क्योंकि "सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।","एक कल्प एहिं हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन-भुवि-भार। १३९।" अवतार लेकर प्रभु ये चार कार्य करते हैं। (ख) 'असुर मारि' का कारण पूर्व कह आए कि "बाढ़हिं असुर", असुर बढ़ गए हैं, अतः उनका नाश करते हैं। 'सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी' के सम्बन्धसे 'थापहिं सुरन्ह' और 'जब जब होइ धरम कै हानी' के सम्बन्धसे 'राखहिं निज श्रुति सेतु' कहा। (ग) "निज श्रुति सेतु" का भाव कि वेदकी मर्यादा भगवान्की बाँधी हुई है। श्रुतिसेतुका प्रमाण, यथा "कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू। छन महुँ मिटे सकल श्रुति सेतू॥ ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना॥ सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सब भागा॥१।८४।', "श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस...। २।१२६।' (घ) 'जग बिस्तारहिं....' भाव कि अपने निर्मल यशसे जगत्को पवित्र करते हैं। यथा 'चरित पवित्र किये संसारा'। (ङ) ☞ यहाँ सब अवतारोंका हेतु संक्षेपसे कह दिया। आगे इसीको विस्तारसे कहेंगे।

नोट—३ "राम जन्म कर हेतु" इति। (क) चौ० ६, ७, ८ में साधारणतः सब अवतारोंका हेतु कहा, अब दोहेमें केवल श्रीरामजन्मका हेतु कहते हैं। (रा० प्र०)। (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "भूभारहरणादि हेतु तो सभी अवतारोंमें हैं, परन्तु उज्ज्वल यश रामावतार ही में है। यथा, मच्छ, कच्छ, वराहमें यश थोड़ा, स्वरूपता सामान्य, निषिद्ध कुल; नृसिंह भयङ्कर ऐसे कि देवगण भी उनके सम्मुख न जा सके; बामन स्वरूपताहीन, छली, बंचक; परशुराम अकारण क्रोधी, कृष्णमें चपलता छलादि, बौद्ध वेदनिंदक, इत्यादि सबके यशमें दाग है। अमल यश राम अवतारहीमें है। यथा वाल्मीकीये—'सत्येन लोकान् जयति दीनान्दानेन राघवः। गुरूञ्छुश्रूषया वीरान् धनुषायुधि शस्त्रवान्॥ सत्यन्दानन्तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्। विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे।' पुनः भागवते—'यस्यामलं नृपसदस्सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेंद्रपट्टम्। तं लोकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥' (भा० ९।११।२१)। पुनः हनुमन्नाटके—

'महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते पयः पारावारं परम पुरुषोऽयं मृगयते । कपर्दी कैलासं कुलिशभृद् भौमं करिवरं कलानाथं राहुः कमलभवनोऽहंसमधुना ।"

[नोट—उपर्युक्त श्लोक हमें वाल्मीकीय और हनुमन्नाटकमें नहीं मिले। हाँ ! वाल्मीकीयमें किष्किंधाकांड सर्ग २४ में ताराके वचन श्रीरामप्रति ये अवश्य हैं—'त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च। अक्षीणकीर्तिश्च विचक्षणश्च क्षितिक्षमावान्क्षतजोपमाक्षः ।। त्वमात्तबाणासनबाणपाणिर्महाबलः संहननोपपन्नः। मनुष्यदेहाभ्युदयं विहाय दिव्येन देहाभ्युदयेनयुक्तः ।।"]—अर्थात् श्रीरामजी सत्यसे लोकोंको, दानसे दीनोंको, सेवासे गुरुजनोंको और शस्त्रयुक्त वे धनुषसे युद्धमें वीरोंको जीत लेते हैं। सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, शौच, सरलता, विद्या और गुरुशुश्रूषा श्रीरामजीमें दृढ़तासे रहते हैं। श्रीरामजीके)जिस यशने सब दिशाओंको व्याप्त कर दिया ऐसे, पापका नाश करनेवाले, निर्मल, जिन (श्रीरामजी) के यशको ऋषिलोग राजदरबारमें अद्यापि गाते हैं उन (श्रीरामजी) के इन्द्रकुबेरादिक जिसको नमन करते हैं ऐसे चरणकमलकी मैं शरण हूँ। हे श्रीमान् महाराज ! आपके यशसे जब (समस्त) जगत् श्वेतवर्ण हो जाता है, तब परमपुरुष भगवान् विष्णु (अपने) क्षीरसागरको खोजते हैं ! तथा शिवजी कैलासको, इन्द्र ऐरावतको, राहु चन्द्रमाको और ब्रह्माजी हंसको खोजते हैं। तात्पर्य कि क्षीरसागर कैलासादि पदार्थ श्वेतवर्ण होनेसे आपके यश (के श्वेतवर्ण) में मिल जाते हैं; अतः उनके स्वामियोंको खोजना पड़ता है। अर्थात् आपका यश सर्वत्र इतना फैला हुआ है। [वालीवध के पश्चात् तारा श्रीरामजीसे कहती है कि—आपको यथार्थ जानना और प्राप्त करना कठिन है, आप जितेन्द्रिय, अत्यन्त धार्मिक, अविनाशी कीर्तिवाले, चतुर पृथ्वीके समान क्षमावान्, आरक्तनेत्र, धनुर्बाण धारण किए हुए, अत्यन्त बलवान्, सुंदर देहवाले (अर्थात्) मनुष्य शरीरमें होनेवाली उन्नतिकी अपेक्षा दिव्य देहमें होनेवाली उन्नति (अर्थात् सौंदर्य, धैर्य, वीर्य, शील आदि संपूर्ण सद्‌गुणों) से युक्त हैं।]

४ कोई कोई कहते हैं कि भारतकी दशा तो ऐसी ही है फिर अवतार क्यों नहीं होता ? 'सीदहिं बिप्रधेनु सुर धरनी' और 'जब जब होइ धरम कै हानी' ये शब्द विचार करने योग्य हैं। आज वह दशा भारत की नहीं है, विप्र और धेनु अधिकसे अधिक इन दोको, नहीं तो केवल 'धेनु' को ही पीड़ित कह सकते हैं। 'सुर' और 'बिप्र' पर अभी हाथ नहीं लगा। जब देव-मंदिर अच्छी तरह उखाड़े जावेंगे तब वे पीड़ित कहे जा सकेंगे जैसे किंचित् औरंगजेब आदिके समयमें हुआ; उसके साथ ही उनका राज्य चलता हुआ। धर्मका, श्रीरामनामसे अभी निर्वाह होता जाता है। (मा०पी०प्र०सं०)। अंग्रेजोंने जब भारतवर्षकी करोड़ों गायों, बैलों आदिकी (इस दूसरी जर्मन लड़ाईमें) हत्या कर डाली तब तुरंत ही उनके हाथोंसे शासन निकल गया और अब संसारमें उनका मान भी बहुत घट गया—यह तो प्रत्यक्ष हम सबोंने देख लिया। आगे भी जिस शासनमें धर्मकी ग्लानि होगी, वह अपने ही पापोंसे नष्ट हो जायगा।

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं ॥१॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका ॥२॥

अर्थ—वही यश गागाकर भक्त भवसागर पार होते हैं। कृपासिन्धु भगवान् भक्तोंके लिये शरीर धारण करते हैं ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजीके जन्मके अनेक कारण हैं जो एकसे एक बड़े ही विचित्र हैं ॥२॥

नोट—'भगत भव तरहीं'।—यहाँ तरनेवालोंमें भक्त प्रधान हैं, अतएव यहाँ केवल उन्हींका नाम दिया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वे ही तरेंगे और नहीं। और लोग भी जो यश गावेंगे तरेंगे। यथा 'करिहौं चरित भगत सुखदाता ।। जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी। १।१५२।', 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६।१०६।'

टिप्पणी—१ (क) 'सोइ जस गाइ भगत०' । भाव कि अपने समयके सज्जनोंकी राक्षसजन्यपीड़ा हरते हैं—'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा', और यश विस्तारकर आगेके भक्तोंकी भवपीड़ा हरण करते हैं, इसीसे 'जनहित तनु धरहीं' कहा । तन धारण करनेके संबंधसे 'कृपासिंधु' कहा—'मुख्यं तस्य हि कारुण्यं ।' पुनः, भक्तोंपर भगवान्‌की भारी कृपा है, अतः कृपासिंधु (सागर) कहा । (ख) पहिले कहा कि 'तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥' और फिर यहाँ कहा कि 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं' । सज्जनोंकी पीड़ा हरनेके संबंधसे वहाँ 'कृपानिधि' और जनके लिए तन धरनेसे यहाँ 'कृपासिंधु' कहा । भाव यह है कि कृपासिंधु जनके लिए तन धरते हैं और तन धरकर पीड़ा हरते हैं । दोनों जगह कृपाका समुद्र उनको कहा । ऐसा करके जनाया कि वर्तमान और भविष्य दोनों पर भगवान्‌की समान कृपा है । (ग) 'राम जनम के हेतु अनेका' अर्थात् जन्म जन्मके हेतु अलग अलग हैं और अनेक हैं । ☞ जन्म, कर्म और कथा सभी विचित्र हैं और सभी अनेक हैं, यथा 'राम जनमके हेतु अनेका ।०' (१), 'एहि बिधि जन्म कर्म हरि केरे । सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे' (२), और 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी ॥ कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी' । ☞ (घ) पूर्व 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह०' इस दोहेमें जन्मका एक हेतु कहा है; इसीसे अब कहते हैं कि (यही एक हेतु नहीं है) 'रामजन्मके हेतु अनेका ।' किसी कल्पमें शाप कारण है, जैसे कि जलंधरकी स्त्रीके शापसे तथा नारदके शापने अवतार हुए और किसी कल्पमें भक्तपर कृपा करके अवतार लेते हैं । जयविजय भक्त थे, उनके लिये अवतार लिया, यथा 'एक बार तिन्ह के हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी' । प्रति अवतारके लिये भिन्न भिन्न कारण होते हैं ।

☞ २ (क) यहाँ केवल भक्तोंका ही यश गाकर तरना लिखा है, इसीसे लंकाकांडमें 'सभीका यश गाकर' भव तरना लिखा है, यथा 'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं । गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं' ॥ (नहीं तो समझा जाता कि जो रामभक्त नहीं हैं वे न तरेंगे) । (ख) भगवान् भक्तोंके लिये शरीर धारण करते हैं, भक्त भगवान्‌का यश गाते हैं, यह दोनोंकी अन्योन्य प्रीति कही ।

जनम एक दुइ कहौं बखानी । सावधान सुनु सुमति भवानी ॥३॥

अर्थ—मैं दो एक जन्म बखानकर कहता हूँ । हे भवानी ! हे सुन्दर बुद्धिवाली ! सावधान होकर सुनो ॥३॥

टिप्पणी—१ 'जनम एक दुइ कहौं' अर्थात् अनेक हेतुओंमेंसे एक-दो जन्मोंका हेतु कहता हूँ । पुनः भाव यह कि सब अवतारोंका मुख्य हेतु कह दिया, इसीसे अब दो-एक ही कहूँगा, बहुतका प्रयोजन नहीं है । 'एक दो' (दो-एक) लोकोक्ति है, 'थोड़े' का सूचक है ।

नोट—१ यहाँ शिवजीने चार कल्पकी कथाएँ कही हैं । इनमेंसे तीन संक्षेपमें और एक (श्रीसाकेत-बिहारीजीका अवतार) विस्तारसे । यहाँ कहते हैं कि 'जनम एक दुइ कहौं बखानी' और चौथी कथाके संबंधमें कहेंगे कि 'कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी' । इस कारण कुछ लोग 'एक दुइ' से (एक + दो) तीनका अर्थ कर लेते हैं । अर्थात् तीन जन्मके हेतु साधारण ही संक्षेपसे कहूँगा और श्रीरामजन्मका कारण विस्तारसे कहूँगा । पुनः, सतीतनमें यह शंका हुई थी कि विष्णु आदि रामावतार लेते हैं, पर ये विष्णु भी नहीं हो सकते; यथा 'बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी । सोउ सर्बग्य'' । खोजइ सो कि अग्य इव नारी । १।५१ ।' इसीसे श्रीशिवजीने श्रीरामावतारके सम्बन्धसे विष्णु और क्षीरसायी भगवान्‌के रामावतारको भी कहा । (मा० पी० प्र० सं०) ।

२ यहाँ तीन जन्मका कारणमात्र बखानकर कहनेकी प्रतिज्ञा है । इनमें कारणमात्र कहा गया है । यथा (१) 'एक बार तिन्हके हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी । १२३।२ ।' यहाँ जय-विजयके लिये

अवतार लेनेका कारणमात्र कहा । (२) 'एक जनम कर कारन एहा । जेहि लगि राम धरी नर देहा । १२४।३ ।' यहाँ जलंधरके लिये भी अवतार लेनेका कारणमात्र कहा गया । (३) 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार । १३९ ।' यहाँ नारद शाप होना अवतारका कारणमात्र कहा गया । और आगे भानुप्रताप-रावणवाले कल्पमें जन्मका कारण और लीला विस्तारपूर्वक स्वमति अनुकूल कहनेकी प्रतिज्ञा है । यथा 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी ।' से 'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा । सो सब कहिहौं मति अनुसारा । १।१४१ ।' तक । 'बखान कर कहने' और 'विस्तारसे कहने' का इस तरह भेद दिखाया । (वे० भू०) ।

वि० त्रि० का मत है कि तीन न कहकर 'एक दुइ' कहनेका भाव यह है कि एक बार तो अपने सेवकोंके हितके लिये शरीर धारण किया और दो बार शापके कारण जन्म ग्रहण किया था ।

३ 'सावधान सुनु' इति । भाव कि—(क) यही तुम्हारी प्रधान शंका है ! (पं० रा० कु०) । (ख) 'सावधान' अर्थात् चित्त लगाकर विवेचन करती हुई, मनमें गुनती-विचारती हुई जिसमें समझमें आ जावे; एकाग्रचित्त होकर । (मा० पी० प्र० सं०) । (ग) यदि सावधानतापूर्वक न सुनोगी तो तुम्हें भी कदाचित् यह भ्रम हो जाय कि इन तीन जन्मोंका कारण जिनके लिये कथन किया गया वे ही श्रीअयोध्याजीमें श्रीरामरूपसे अवतार लेते होंगे । [यह भाव बाबा श्रीहरिदासाचार्यके श्रीरामतापनीयोपनिषद्भाष्यके आधारपर कहा जाता है । उनका मत है कि शाप चाहे विष्णुभगवान्को हो, चाहे श्रीमन्नारायणको, पर श्रीरामावतार सदा साकेतसे ही होता है । इस मतके पोषणमें 'राम जनम के हेतु अनेका', 'तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा ।' 'राम जनम कर हेतु । १२१ ।', 'जेहि लगि राम धरी नर देहा' (जलंधर-रावणके लिये), 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार । १३९ ।' (नारद-शापके लिये), इत्यादि उद्धरण भी दिये जाते हैं] ।

टिप्पणी—२ 'सुमति' का भाव कि—(क) बुद्धिमान्का बोध थोड़े ही कथनसे हो जाता है । पुनः, (ख) हम कथा थोड़ेहीमें संक्षेपसे कहेंगे, अतः सावधान होकर सुमतिसे सुनो, जिसमें इतने ही कथनसे समझमें आ जावे । यथा 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई । सुनहु तात मति मन चित लाई । ३।१५।१ ।' (ग) तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है अतः तुम इतनेमें ही समझ लोगी (सावधानसे मन और चितकी सावधानता कही) ।—'तातें मैं अति अलप बखाने । थोरे महुँ जानिहहिं सयाने । १।१२।६ ।' [पुनः 'सुमति भवानी' कहकर शिवजी भगवतीके 'जदपि सहज जड़ नारि अयानी' इस दैन्यका मार्जन करते हैं । (वि० त्रि०)]

द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ । जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥४॥
बिप्र स्राप तें दूनौ भाई । तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥५॥
कनककसिपु अरु हाटक लोचन । जगत बिदित सुरपति मद मोचन ॥६॥

शब्दार्थ—द्वारपाल=द्वाररक्षक, ड्योढ़ीदार दरबान । स्राप (शाप)-अहितकारकामनासूचक शब्द; बददुआ । तामस=तमोगुणयुक्त; जिसमें प्रकृतिके उस गुणकी प्रधानता हो जिसके अनुसार जीव क्रोधादि नीच वृत्तियोंके वशीभूत होकर आचरण करता है । कनककसिपु (कनक=हिरण्य + कशिपु)-हिरण्यकशिपु । हाटक लोचन (हाटक=हिरण्य + लोचन = अक्ष) = हिरण्याक्ष ।

अर्थ—हरि (विष्णु भगवान्) के दोनों ही प्रिय द्वारपालों जय और विजयको सब कोई जानता है ॥४॥ उन दोनों भाइयोंने विप्र (श्रीसनकादिक ऋषि) के शापसे तामसी असुर शरीर पाया ॥५॥ (जो) हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष (हो) इन्द्रके मद (गर्व) को छुड़ानेवाले जगत्में प्रसिद्ध हुए ॥६॥

टिप्पणी—१ 'द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ ।''''' इति । (क) दोनों ही भगवान्के द्वारपाल हैं और दोनों ही प्रिय हैं । स्वामीका काम करनेमें निपुण तथा स्वामिभक्त होनेसे 'प्रिय' कहा । (भक्तमालमें भी कहा है—

"लक्ष्मीपति प्रीनन प्रवीण महा भजनानंद भक्तनि सुहृद।" (नाभास्वामी), 'पार्षद मुख्य कहे षोडश स्वभाव सिद्ध सेवा ही की रिद्धि हिय राखी बहु जोरि कै। श्रीपति नारायण के प्रीनन प्रबीन महा ध्यान करे जन पालै भाव दृगकोरि कै॥ सनकादि दियो शाप प्रेरिकै दिवायो आप प्रगट ह्वै कह्यो पियो सुधा जिमि घोरि कै। गही प्रतिकूलताई जोपै यही मन भाई या तें रीति हद गाई धरी रंग बोरि कै॥' (प्रियादासजी। टीका कवित्त २५)। ख) 'जान सब कोऊ' अर्थात् सब जानते हैं, इसीसे विस्तारसे नहीं कहते, पुराणोंमें इनकी कथा लिखी है और पुराण जगत्‌में प्रसिद्ध हैं। 'जय' बड़े हैं, इससे उनको पहले कहा। [ग्रंथकारकी रीति है कि दो भाइयोंका नाम जब साथ देते हैं तो प्रथम बड़ेको तब छोटेको क्रमसे कहते हैं। यथा 'नाम राम लछिमन दोउ भाई।४।२।२।', 'नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई ४।६।१।', 'नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। ५।६०।१।' तथा यहाँ 'जय अरु बिजय', 'कनककसिपु अरु हाटक लोचन' में जयको और कनककशिपुको प्रथम रखकर जनाया कि जय बड़ा भाई है वही हिरण्यकशिपु हुआ। विजय और हिरण्याक्ष छोटे हैं। (हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष जुड़वाँ भाई (यमज) हैं। प्रथम हिरण्याक्ष निकला, पीछे हिरण्यकशिपु पर वीर्यकी स्थितिके अनुसार हिरण्यकशिपु बड़ा माना जाता है)। (मा० पी० प्र० सं०)]

२ "बिप्र स्राप तें दूनौं भाई। " इति। (क) ☞इस प्रकरणमें सनकादिको मुनि, ऋषि या ज्ञानी विशेषण नहीं दिया किन्तु 'बिप्र' या 'द्विज' ही कहा है, क्योंकि इन्होंने वैकुण्ठमें भी जाकर मननशीलता न कर क्रोध करके शाप दिया। ['विप्र' क्रोधमें भर जाते हैं और शाप दिया ही करते हैं। जैसे कि बिना सोचे समझे भानुप्रतापको। ऋषियों, ज्ञानियोंको तो मननशील और संतस्वभाव होना चाहिए, पर इन ब्रह्मज्ञानी महर्षियोंने शील, दया, शान्ति और क्षमा आदिको त्यागकर यहाँ कोप किया। अतएव उनको ऋषि आदि न कहकर 'विप्र' कहा। इससे ग्रंथकारकी सावधानता प्रकट हो रही है। श्रीमद्भागवतमें भी शाप देनेके पश्चात् जब भगवान्‌का वहाँ आगमन हुआ तब उन्होंने भी मुनियोंसे ब्राह्मणोंकी महिमा गाई है और अंतमें मुनियोंको 'विप्र' संबोधन किया है। यथा 'शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः। भा० ३।१६।२६।' भा० ७।१ में नारदजीने भी श्रीयुधिष्ठिरजीसे इनको विप्र-शाप होना कहा है। यथा 'मातृष्वस्रेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव। पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ। ३२।' अर्थात् तुम्हारे मौसेरे भाई शिशुपाल और दंतवक्र भगवान् विष्णुके प्रमुख पार्षद थे। ये विप्र शापके कारण ही अपने पदसे च्युत हो गए थे। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सनकादिककी उपमा चारों वेदोंसे दी गई है, यथा 'रूप धरे जनु चारिउ वेदा', इसलिये उन्हें विप्र कहा। विप्रशाप अन्यथा नहीं हो सकता; यथा 'किये अन्यथा होइ नहिं बिप्रसाप अति घोर।'] (ख) 'विप्रशापसे' असुर हुए, इस कथनका भाव यह है कि इन्होंने असुर शरीर पानेका कर्म नहीं किया था, ये शापसे असुर हुए। ब्राह्मणके शापसे असुर देह मिली, इसीसे तमोगुणी शरीर हुआ। ('दूनौं भाई' से स्पष्ट किया कि जय और विजय भाई-भाई थे।)

नोट—'विप्रशाप' इति। श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अ० १५-१६ में श्रीब्रह्माजीने इन्द्रादि देवताओंसे शापकी कथा यों कही है—"हमारे मानस-पुत्र सनकादिक सांसारिक विषय भोगोंको त्यागकर यदृच्छापूर्वक लोकोंमें विचरते हुए अपनी योगमायाके बलसे एक बार वैकुण्ठधामको गए।...इस अपूर्व धामको देखकर अतिशय आनंदित और हरिके दर्शनके लिए एकान्त उत्सुक हुए। छः ड्योढ़ियाँ लाँघकर जब सातवीं कक्षामें पहुँचे तो यहाँ द्वारपर दो द्वारपाल देख पड़े। ऋषियोंने उनसे पूछनेकी कुछ भी आवश्यकता न समझी, क्योंकि उनकी दृष्टि सम है, वे सर्वत्र ब्रह्मही को देखते हैं। ज्योंही मुनि सातवीं कक्षाके द्वारसे भीतर प्रवेश करने लगे दोनों द्वारपालोंने (इन्हें नग्न देख और बालक जान हँसते हुए) बेत अड़ाकर इन्हें रोका। 'सुहृत्तम हरिके दर्शनमें इससे विघ्न हुआ' ऐसा जानकर वे मुनि सर्पके समान क्रोधान्ध हुए।...और उन्होंने शाप दिया कि 'तुम दोनों रजोगुण एवं तमोगुणसे रहित मधुसूदन भगवान्‌के चरणकमलोंके निकट वास

करनेके योग्य नहीं हो। अपनी भेद दृष्टिके कारण तुम इस परम पवित्र धामसे भ्रष्ट होकर जिस पापी योनिमें काम, क्रोध और लोभ ये तीन शत्रु हैं उसी योनिमें जाकर जन्म लो'।''' ये ही दोनों द्वारपाल जय विजय हैं। इस घोर शापको सुनकर उन दोनोंने मुनियोंके चरणोंपर गिर उनसे प्रार्थना की कि '''हम नीचसे नीच योनिमें जन्म लें तथापि यह कृपा हो कि हमको उन योनियोंमें भी मोह न हो जिससे हरिका स्मरण भूल जाता है।' ठीक इसी समय भगवान् लक्ष्मीजी सहित वहीं पहुँच गए। मुनि दर्शन पाकर स्तुति करने लगे। फिर भगवान्ने बड़े गूढ़ वचन कहकर उनका आश्वासन किया कि ये दोनों हमारे पार्षद हैं, तुम मेरे भक्त हो, तुमने जो दण्ड इनको दिया, मैं उसे अंगीकार करता हूँ'''आप ऐसी कृपा करें कि ये फिर शीघ्र मेरे निकट चले आवें'''। भगवान्का क्या तात्पर्य है यह ऋषिगण कुछ न समझ सके और उनकी स्तुति करते हुए बोले कि 'यदि ये दोनों निरपराध हैं और हमने व्यर्थ शाप दिया हो तो हमें दण्ड दीजिए'''। भगवान्ने कहा कि तुमने जो शाप दिया इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं, यह मेरी इच्छासे हुआ है। मुनियोंके चले जानेपर भगवान् अपने प्रिय पार्षदोंसे बोले कि 'तुम डरो मत। मैं ब्राह्मणके शापको मेट सकता हूँ; पर मेरी यह इच्छा नहीं क्योंकि यह शाप मेरी ही इच्छासे तुमको हुआ है। मुझमें वैरभावसे मन लगाकर शापसे मुक्त होकर थोड़े ही कालमें तुम मेरे लोकमें आ जावोगे।'

[जय विजयको यह शाप क्यों हुआ ? इसका वृत्तान्त यह है कि एक बार भगवान्ने योगनिद्रामें तत्पर होते समय इनको आज्ञा दी कि कोई भीतर न आने पावे। श्रीरमाजी आईं तो उनको भी इनने रोका, यह न सोचा कि भला इनके लिये मनाही हो सकनी है ? श्रीलक्ष्मीजीने उस समय ही इनको शाप दिया था। यथा "एतत्पुरैव निर्दिष्टं रमया क्रुद्धया यदा। पुरापवारिता द्वारि विशन्ती मय्युपारते।" (यह भगवान्ने स्वयं जय-विजयको बताया है। भा० ३।१६।३०।)]

ये दोनों कश्यपकी स्त्री दितिके पुत्र हुए। बड़ेका नाम हिरण्यकशिपु और छोटेका नाम हिरण्याक्ष हुआ। हिरण्यकशिपुकी कथा 'रामनाम नरकेसरी''' दो० २७ में देखिए। हिरण्याक्षकी कथा नीचे दी गई है। दूसरे जन्ममें वे विश्रवा मुनिके वीर्य्यद्वारा केशिनीके पुत्र, रावण कुम्भकर्ण नामक हुए। फिर वेही द्वापरमें शिशुपाल और दन्तवक्र हुए जो अर्जुनके मौसीके पुत्र हैं। भगवान् कृष्णके चक्र-प्रहारसे निष्पाप हो शापसे मुक्त हुए।'—(स्कंध ७ अध्याय १)। वराहावतार और हिरण्याक्ष वधकी कथा भा० ३ अ० १३, १८ और १९ में इस प्रकार है कि -सृष्टिके आदिमें जब ब्रह्माजीसे मनु शतरूपाजी उत्पन्न हुए तब उन्होंने ब्रह्माजीसे आज्ञा माँगी कि हम क्या करें। ब्रह्माजीने प्रसन्न हो उन्हें सन्तान उत्पन्न करके धर्म्मसे पृथ्वी-पालन करनेकी आज्ञा की। मनुजीने उनसे कहा कि बहुत अच्छा। पर हमारे और प्रजाके रहनेका स्थान हमें बतलाइए क्योंकि पृथ्वी तो महाजलमें डूबी हुई है। ब्रह्माजी चिन्तित हो विचार करने लगे। इतनेमें उनकी नासिकासे सहसा एक अँगूठेभरका शूकर निकल पड़ा जो उनके देखते-देखते पलमात्रमें पर्वताकार हो गर्जा। ब्रह्माजी और उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषि चकित हुए। अन्ततोगत्वा उन्होंने यह निश्चय किया कि यज्ञपुरुषने हमारी चिन्ता मिटानेके लिए अवतार लिया है और उनकी स्तुति की। तब वाराह भगवान् प्रलयके महाजलमें प्रवेश कर डूबी हुई पृथ्वीको अपने दाँत पर उठाये हुए रसातलसे निकले।

इतनेमें समाचार पा हिरण्याक्षने गदा उठाये हुए सामने आ राह रोकी और परिहास करते हुए अनेक कटु वचन—(ओहो ! जलचारी शूकर तो हमने आज ही देखा। पृथ्वी छोड़ दे''')-कहे। परन्तु भगवान्ने उसके वचनोंपर कान न दे उसके देखते-देखते पृथ्वीको जलपर स्थितकर उसमें अपनी आधार-शक्ति देकर तब दैत्यसे व्यंग्य वचन कहते हुए उसका तिरस्कार किया। गदा त्रिशूलादिसे दैत्यने घोर युद्ध किया। फिर अपने माया-बलसे छिपकर लड़ता रहा। भगवान्भी गदा और गदा छूट जानेपर चक्रसुदर्शनसे प्रहार करते रहे। अन्तमें उन्होंने लीलापूर्व्वक उसे एक तमाचा ऐसा मारा कि उसका प्राणान्त हो गया।

टिप्पणी ३ 'कनककसिपु अरु हाटकलोचन···' इति । (क) कनककशिपु ज्येष्ठ भ्राता है, इसीसे उसे प्रथम कहा । यथा 'हिरण्यकशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः । भा० ७।१।३६" । (ख) 'सुरपति मद मोचन' । अर्थात् उन्होंने इन्द्रको जीत लिया । ☞ भक्तिके कारण जय विजयकी प्रसिद्धि कही—'जान सब कोऊ' । भगवान्‌के प्रिय द्वारपाल हैं, सब पार्षदोंमें अपनी भक्तिके कारण मुख्य हैं । राक्षसोंकी प्रसिद्धि उपद्रवसे होती है, अतः राक्षस होनेपर 'जगत बिदित सुरपति मद मोचन' कहकर उनकी प्रसिद्धि कही । सुरपतिको गर्व था कि मेरे समान ऐश्वर्य और बल-पराक्रममें कोई नहीं है । यथा "मोहि रहा अति अभिमान । नहिं कोउ मोहि समान । ६।११२ ।'—इस मदको उन्होंने चूर्ण कर डाला । (इन्द्र वीररसके अधिष्ठाता हैं । वि० त्रि०) ।

बिजई समर बीर बिख्याता । धरि बराह बपु एक निपाता ॥ ७ ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा । जन प्रहलाद सुजस बिस्तारा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—बिजई (विजयी) = सबको जीतनेवाले; जय पाने वाले । बपु = शरीर । बिख्यात = प्रसिद्ध, मशहूर । निपाता = नाश वा वध किया । नरहरि (नृहरि = नृसिंह । बराह = शूकर, सुअर ।

अर्थ—संग्राममें विजयी और वीरोंमें विख्यात हुए । भगवान्‌ने एकको (हिरण्याक्षको) बराहका शरीर धरकर मारा । ७ । फिर नृसिंह हो दूसरेको मारा और भक्त प्रह्लादका सुन्दर यश फैलाया । ८ ।

टिप्पणी—"बिजई समर···" इति । (क) समरमें विजयी कहनेका भाव कि छल-कपट करके विजय नहीं प्राप्त की किन्तु सामने लड़कर जीता है । इन्द्रके गर्वको तोड़ा और कभी किसीसे हारे नहीं, अतः विजयी और विख्यात वीर कहा । (ख) 'धरि बराह बपु एक निपाता' यहां छोटे भाई हिरण्याक्षको प्रथम कहा, बड़े को पीछे कहते हैं, कारण कि छोटा भाई पहले मारा गया और बड़ा पीछे । अतएव क्रमभंग करके कहा ।

२ 'होइ नरहरि दूसर···' इति । (क) पूर्व कहा था कि "तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा" अतः विविध शरीरोंमेंसे यहाँ कुछ (दो) कहे—एक बराह, दूसरा नृसिंह । [मिलान कीजिए—'हतो हिरण्यकशिपुर्हरिणा सिंहरूपिणा । हिरण्याक्षो धरोद्धारे बिभ्रता सौकरं वपुः । भा० ७।१।४०।' में ज्येष्ठका नाम पहले दिया और छोटेका पीछे । गोस्वामीजीने बात वही कही पर क्रम पलटकर । यह विशेषता है । जिसका वध पहले हुआ उसे पहले कहा । 'नरहरि' शब्दसे हिरण्यकश्यपका ब्रह्मसृष्ट प्राणीसे अवध्य होना सूचित किया । (ख) 'जन प्रह्लाद सुजस बिस्तारा' इति । अर्थात् प्रह्लादजीकी रक्षाके लिये नृसिंहरूप धारण करके राक्षसको मारा । पूर्व कहा था कि—"जग बिस्तारहिं बिसद जस··· ॥ सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं ।" अर्थात् भगवान् अपना यश फैलाते हैं जिससे भक्तजन भवपार हो जायँ । और, यहाँ कहते हैं कि "जन प्रह्लाद सुजस बिस्तारा" अर्थात् अपने भक्तका यश फैलाया । भाव यह है कि जैसे अपना यश फैलाते हैं, वैसे ही साथ ही साथ अपने भक्तका भी यश फैलाते हैं, भक्तसुयश विस्तृत करनेका भी तात्पर्य यही है कि उनका सुयश-गान भी भवपार करता है । दोनोंके यशगानका एक ही फल वा माहात्म्य जनाया—'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं' (श्रीगोस्वामी नाभाजीभी लिखते हैं—'अग्रदेव आज्ञा दई भगतन्ह को जसु गाउ । भवसागर के तरन कहँ नाहिंन आन उपाउ ।')

नोट—१ "जन प्रहलाद··" इति । (क) 'जन' अर्थात् दास वा भक्त प्रह्लादजी ब्रह्मण्य, शील संपन्न, सत्यसंध, जितेन्द्रिय, सबके प्रिय, अति सुहृद, भद्रपुरुषोंके चरणोंमें दासवत् विनीत, दीनोंपर पिताके समान दया करनेवाले, बराबरवालोंसे भाई समान स्नेह करनेवाले, गुरुजनोंमें ईश्वरभाव रखने वाले, मान और गर्वसे रहित, विषयोंसे निःस्पृही, आसुरभावरहित इत्यादि भक्तोंके गुणोंसे सम्पन्न थे । वे भगवत् प्रेममें कभी रोते, कभी हँसते, कभी गुण गान करते, लज्जा छोड़कर नाचने लगते । वे सर्वत्र उस प्रभुको ही देखते

थे, भगवद्भक्तिको ही पुरुषका एकमात्र सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ मानते थे और यही सहपाठियों तथा पिताको उपदेश करते थे। वे निष्काम भक्त थे, वर मांगना वे मजूरोंका काम समझते थे। भगवान् सर्वव्यापक हैं, वे जड़ और चेतन सभीमें एक समान व्याप्त हैं, यह तो प्रह्लाद हीने प्रत्यक्ष कर दिखाया। यथा 'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ भा० ७।८।१८।' अर्थात् अपने सेवकके वचन सत्य करने तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी व्यापकता दिखानेकेलिये सभाके भीतर उसी स्तंभसे श्रीहरि बड़ाही विचित्र रूप धारण कर प्रकट हुए।

(ख) 'सुजस बिस्तारा' इति। यथा "यस्मिन्महद्गुणा राजन्गृह्यन्ते कविभिर्मुहुः। न तेऽधुनापि धीयन्ते यथा भगवतीश्वरे। ३४। यं साधुगाथासदसि रिपवोऽपि सुरा नृप। प्रतिमानं प्रकुर्वन्ति किमुतान्ये भवादृशाः। ३५।" (भा० ७।४), अर्थात् पंडितजन उनके महान् गुणों को बारंबार ग्रहण करते हैं तथा भगवान्के समान उनके गुण अभीतक तिरोहित (अप्रसिद्ध) नहीं हुए हैं। देवगण उनके प्रतिपक्षी होनेपर भी सभामें साधुपुरुषोंकी चर्चा चलनेपर भगवद्भक्त प्रह्लादका दृष्टान्त दिया करते हैं।

(ग) श्रीप्रह्लादजीका सुयश किस प्रकार विस्तार किया और उनको क्या सुयश मिला? उत्तर—उनकी भक्ति प्रकट करनेके लिये यह किया कि जब हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीको मार डालनेके लिये नाना उपाय किये; जैसे कि एक साथ ही अनेक विकराल असुरोंसे उनके संपूर्ण मर्मस्थानोंमें त्रिशूलोंसे प्रहार कराया, दिग्गजोंसे रौंदवाया, विषधर सर्पोंसे डसवाया, अभिचार कराया, पर्वतोंपरसे ढकेलवाया, अनेकों मायाओंका प्रयोग कराया, विष पिलाया, उपवास कराया, अग्निमें जलनेको डाला, पर्वतोंके नीचे दबवाया, जलमें डुबाया, इत्यादि अनेक यातनाएँ दीं;—तब भी उसको मारा नहीं, किन्तु उसके सब उद्यम व्यर्थ कर दिये; जिससे संसारको उनकी भक्ति प्रकट हो जाय कि इतनी यातनाएँ दी जानेपर भी वे भक्तिसे न डगे और किंचित् भय न माना। उनको यह सुयश मिला कि वे भक्तिशिरोमणि माने जाते हैं, भगवान्ने स्वयं उनको भक्तोंमें आदर्शस्वरूप माना है और वर दिया है कि जो तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायंगे; यथा 'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः। भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्। भा० ७।१०।२१।' चराचरमें भगवान् व्याप्त हैं, यह परिचय एवं विश्वास सबको इन्हींके चरित्रसे हुआ, यह यश इन्हींको मिला। यथा "प्रेम बदौं प्रहलादहि को जिन्ह पाहन ते परमेस्वर काढ़े। क० ७।१२७।" भगवान्ने अपना परम वात्सल्य अपने 'क्षन्तव्यमंग यदि चागमने विलम्बम्। भा० ७।१०।' (अर्थात् दैत्यके किये हुए विषम कांडको, उसकी की हुई दारुण यातनाओंको देखते हुए भी मुझे जो आनेमें विलंब हुआ उसे क्षमा करो।) इन शब्दोंसे दिखाया है। नृसिंह भगवान्के क्रोधको शान्त करने का सामर्थ्य किसीमें न था, लक्ष्मीजी भी देखकर भाग गईं, भक्तशिरोमणि प्रह्लादने ही जाकर उनको शान्त किया। इत्यादि सब यश प्रह्लादका ही है। (पद्मपुराणकी कथामें किंचित् भेद है वहां लक्ष्मीजीकी प्रार्थना पर क्रोध शान्त हो गया।)

दोहा—भए निसाचर जाइ तेइ महा बीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट सुर बिजई जग जान॥१२२॥

अर्थ—वेही जाकर महा वीर बलवान् कुंभकर्ण और रावण (नामक) राक्षस हुए, जो बड़े ही योद्धा और देवताओंको पराजय करनेवाले हुए। उन्हें जगत् जानता है॥१२२॥

टिप्पणी—१ (क) हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष 'सुरपतिमदमोचन' थे और रावण-कुंभकर्ण 'सुरविजई' हुए, इससे (एकमें 'सुरपति' और दूसरेमें 'सुर' कहकर) सूचित किया कि रावण-कुंभकर्ण हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षकी अपेक्षा कम बली थे।☞ यहाँ दिखाते हैं कि काल पाकर उत्तरोत्तर बल कम होता गया। यहाँ तक जयविजयके तीनों रूपोंका उत्कर्ष गाया है। जब वे जय विजय थे तब उनको सब

कोई जानता था, यथा 'जय अरु बिजय जान सब कोऊ'। जब वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए तब भी वे जगत्‌में विदित हुए, यथा 'जगत बिदित सुरपति मद मोचन'। और जब रावण कुंभकर्ण हुए तब भी उनको जगत्‌भर जानता था, यथा 'सुर बिजई जग जान'।

नोट—१ दोहेके पूर्वार्धका अर्थ उत्तरार्ध में है। "भए निसाचर" के 'निशाचर' शब्दसे त्रेतायुग में रावण-कुंभकर्णका होना जनाया। सत्ययुगमें दैत्य हुए, त्रेतामें निशाचर हुए और द्वापरमें क्षत्रिय हुए। पूर्वार्ध में 'महाबीर बलवान' कहा; इसीसे उत्तरार्धमें सुभट सुरबिजई' कहा। महावीर हैं, अतः सुभट हैं। अतएव सुरविजयी हैं। बलवान् हैं, सुरविजयी होनेसे जगत्‌भर जानता है। (मा० पी० प्र० सं०)।

२ यहांतक शिवजीने इनके दोही जन्म, जो आसुर-योनिमें हुए, कहे। यद्यपि आगे चौपाईमें तीन जन्मतक आसुरी शरीर पाना कहते हैं, तथापि उन्होंने तीसरे जन्मके नाम नहीं कहे। कारण कि तीसरा जन्म द्वापरमें हुआ। भगवान् कृष्णके हाथोंसे मरकर वे मुक्त हुए। परंतु श्रीपार्वतीजीने 'राम-अवतार' का प्रश्न किया है और शिवजीका संकल्प भी 'रामजन्म' ही है, यथा 'राम जनमके हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका॥ जनम एक दुइ कहौं बखानी।' श्रीरामजन्महेतुकी प्रतिज्ञा है; अतएव 'राम-अवतार' तक कहकर छोड़ दिया, आगेकी कथाकी आवश्यकता नहीं। श्रीराम-अवतारका हेतु यहीं समाप्त हो गया। (मा० पी० प्र० सं०)।

मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रबाना† ॥१॥
एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥२॥

शब्दार्थ—मुकुत (मुक्त) = मोक्षको प्राप्त, जन्ममरणादिसे रहित। हते = मारे जाने पर। प्रबाना (प्रमाण) = प्रमाण, मर्यादा; मान। (श०सा०)। यथा 'सुनहि सूद्र मम बचन प्रबाना।७-१०६।' लागी=लिये।

अर्थ—भगवान्‌के (हाथोंसे) मारे जानेपर (भी वे) मुक्त न हुए (क्योंकि) ब्राह्मण (श्रीसनकादिक-जी) के वचनका प्रमाण तीन जन्मका था॥ १॥ भक्तानुरागी प्रभुने एक बार उनके हितार्थ (नर) देह धारण किया॥ २॥

टिप्पणी—१ 'मुकुत न भए हते भगवाना' इति। (क) भाव कि भगवान्‌के हाथसे वध होनेसे मुक्ति होती है, (यथा "रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।५।३", "निर्वानदायक क्रोध जाकर ''। निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी। ३।२६।"); पर इनकी मुक्ति न हुई; इसका कारण दूसरे चरणमें बताते हैं कि 'तीनि जनम द्विज बचन प्रबाना'। द्विजके वचनका प्रमाण तीन जन्म राक्षस होनेका था। भगवान् ब्रह्मण्यदेव हैं, यथा 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना। २०६।४।', इसीसे उन्होंने ब्राह्मण वचनको प्रमाण रक्खा, अपना प्रमाण न रक्खा। (देखिए, भगवान् चाहते तो ब्रह्मशापको मिटा देते, शापको अंगीकार न करते तो शाप उनके पार्षदोंका बाल भी बाँका न कर सकता, पर उन्होंने ब्राह्मणोंके वचनोंको प्रमाण करनेके लिये 'अपनी रीति छोड़ दी'। यथा 'भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम्। ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे। भा० ३।१६।२६।" अर्थात् भगवान्‌ने जय विजयसे कहा, 'तुम लोग यहाँसे जाओ। मनमें किसी प्रकारका भय न करो। तुम्हारा कल्याण होगा। मैं सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी ब्रह्मतेजको मिटाना नहीं चाहता, क्योंकि वह मेरा मान्य है।—इसी तरह भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा रखनेकेलिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दी थी जिसमें ब्राह्मण और भक्तका अनादर न हो। मुक्ति न होनेका कारण हरिइच्छा है। उन्होंने श्रीसनकादिक ऋषियोंको प्रेरितकर तीन जन्मका शाप दिलाया था। यथा "एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्यः'''। '''शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः। भा० ३।१६

† प्रमाना—१७२१, छ०, को० रा०। प्रबाना—१६६१, १७०४, १७६२।

२६" । भगवान्‌ने कहा, 'हे ब्राह्मणो ! इन्हें जो शाप तुमने दिया उसे मेरी ही प्रेरणासे हुआ समझो । अब ये शीघ्र ही दैत्ययोनिको प्राप्त होंगे) । (ख) 'भगवाना' का भाव कि यद्यपि गतिदाता हैं तथापि ब्राह्मणके वचनको सत्य करनेके लिये गति न दी । जीवको गति वा अगति देनेवाले भगवान् ही हैं, यथा 'काल करम गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे ।' (विनय) । (ग) 'तीनि जनम द्विज बचन' का भाव कि एक तो इन्होंने ब्राह्मणोंको न माना, दूसरे भगवान्‌को न माना कि वे ब्रह्मण्य हैं और तीसरे अपनी ओर भी दृष्टि न की कि हम कौन हैं । न सोचा कि हम भगवान्‌के पार्षद हैं, हमको ऐसा करना योग्य नहीं । इन तीन अपराधोंसे तीन जन्मतक असुर शरीर होनेका शाप दिया । [शापका प्रमाण यथा "रजस्तमोभ्यां रहिते पादमूले मधुद्विषः । पापिष्ठामासुरीं योनिं बालिशौ यातमाश्वतः ॥ ३७ ॥ एवं शप्तौ स्वभवनात्पतन्तौ तैः कृपालुभिः । प्रोक्तौ पुनर्जन्मभिर्वां त्रिभिर्लोकाय कल्पताम् । भा० ७।१।३८।' अर्थात् तुम दोनों भगवान् मधुसूदनके रजो-तमोगुणहीन चरणकमलोंमें रहने योग्य नहीं हो, अतः तुम शीघ्र ही अत्यंत पापमयी असुरयोनिको प्राप्त हो जाओ । जब जयविजय अपने स्थानसे भ्रष्ट होने लगे तब उन कृपालु मुनियोंने कहा—"तुम्हारे तीन जन्मोंके द्वारा यह शाप समाप्त होकर पुनः बैकुंठलोककी प्राप्तिमें सहायक हो ।"

यहाँ यह शंका प्रायः की जाती है कि 'जय विजय तो बड़े प्रिय भक्त थे, इनकी तो शापसे रक्षा करनी चाहिए थी ?' इसका समाधान ऊपर आ चुका कि यह सब तो भगवान्‌ने स्वयं लीला करनेकी इच्छासे किया कराया । भक्तमालमें भी प्रियादासजीने ऐसा ही कहा है, यथा "सनकादि दिया शाप प्रेरिकै दिवायो आप प्रगट ह्वै कह्यो पियो सुधा जिमि घोरिकै । गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई याते रीति हद गाई धरी रंग बोरिकै" । दूसरा समाधान यह है कि इनके उद्धारके लिए भगवान्‌ने स्वयं अवतार लिए, यही नहीं वरंच ये हरिको इतने प्रिय हैं कि इन्होंने तो तीन ही बार जन्म लिया और भगवान् चार बार अवतीर्ण हुए । एक बार हिरण्याक्षके लिए, दूसरी बार हिरण्यकशिपुके लिए, तीसरी बार रावण कुम्भकर्णके लिए और चौथी बार शिशुपाल और दन्तवक्रके निमित्त । तीसरा समाधान यह है कि भगवान्‌ने अपने भक्तोंको तीनों जन्मोंमें बड़ाई दी है । इससे स्पष्ट है कि वे बराबर भक्तोंका प्रतिपालन करते रहे ।

टिप्पणी २—"एक बार तिन्हके···" इति । (क) भगवान्‌ने तो जयविजयके हितार्थ बराह, नृसिंह राम और कृष्ण चार शरीर धरे, तब 'एक बार' शरीर धरना कैसे कहा; 'चारि बार तिन्ह के हित लागी' कहना चाहिए था ? इस शंकाका समाधान यह है कि (पार्वतीजीने श्रीरामजीके अवतारका प्रश्न किया है अतः) शिवजी श्रीरामजन्मका हेतु कहते हैं, यथा 'रामजन्म के हेतु अनेका ।···जनम एक दुइ कहौं बखानी' । जय-विजय शापसे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए, फिर वे ही रावण और कुंभकर्ण हुए जो श्रीरामावतारके कारण हुए । रामजन्मके हेतु तक कहनेका प्रयोजन है, इसीसे आगेके जन्मका हाल न कहा (श्रीरामजन्म इनके तीन जन्मोंमेंसे दूसरे जन्मके लिये एक ही बार हुआ । अतः 'एक बार' कहना ठीक है । श्रीरामजीका अवतार 'एक बार' हुआ और केवल रावणकुंभकर्णके वधके लिये हुआ । 'एक बार' यहाँ इसी अवतारके लिए आया है;) । (ख) शंका—अवतार जय विजयके हितार्थ कहते हैं पर उनका हित तो नहीं हुआ अर्थात् वे मुक्त न हुए, तब 'हित लागी' कैसे कहा ? समाधान—'तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना' से कविने शंकाका समाधान कर दिया है । वध करके प्रमाणतक पहुँचा देना यही हित है । वराह और नृसिंहरूपसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुको मारकर कुंभकर्ण-रावण तक पहुँचाया, फिर श्रीरामजीने कुंभकर्ण-रावण-वध करके (उनके वह शरीर छुड़ाकर) दन्तवक्र-शिशुपाल तक पहुँचाया (अर्थात् रावणकुंभकर्णका शरीर छुड़ाकर उनको तीसरा शरीर लेनेका उपाय कर दिया, जिससे उनकी शीघ्र मुक्ति हो जाय) । तब श्रीकृष्णजीने उनको मारकर मुक्त किया । (ग) "धरेउ सरीर भगत अनुरागी"—शरीर धारण करनेका कारण 'भगत अनुरागी'

बताया। जय विजय भक्त थे और प्रिय थे ही। यथा 'तेहि धरि देह चरित कृत नाना। सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी। १।१३।'

वि० त्रि०—'भगत अनुरागी' इति। भगवान्‌ने भक्तानुरागी शरीर धारण किया अर्थात् रामावतार हुआ। रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। यथा 'ध्वज कुलिस अंकुस कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।' भगवान्‌के इन चार चिह्नोंसे युक्त चरणोंके वनमें फिरते हुए कण्टकविद्ध होनेका योग किसे हुआ? अर्थात् सिवा रामावतारके और किसी अवतारमें ऐसा योग नहीं हुआ। क्योंकि रामावतार भक्तानुरागी अवतार है। ये भक्तपर इतना अनुराग करते हैं कि उनके लिये वन-वनमें फिरे चरणोंमें काँटे गड़े। यह देखकर ज्योतिषी चकित हुए। यथा 'राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे॥ मारग चलहु पयादेहि पाएँ। ज्योतिष झूठ हमारेहि भाएँ॥'

कस्यप अदिति तहां पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता॥३॥

एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित्र पवित्र किए संसारा॥४॥

शब्दार्थ—'कस्यप अदिति'—कश्यपजी वैदिक कालके ऋषि हैं। एक मन्वंतरमें सारी सृष्टि इन्हीं की रची हुई थी। ये सप्तर्षियोंमेंसे भी एक हैं। अदिति और दिति आदि इनकी बहुतसी स्त्रियाँ थीं जिनसे इन्होंने सृष्टिकी वृद्धि की। अदिति इन्द्र सूर्य आदि देवताओंकी माता हैं और दिति दैत्योंकी। किसी किसी कल्पमें कश्यप-अदिति ही मनु-शतरूपा एवं दशरथ-कौशल्या हुआ करते हैं।

अर्थ-वहाँ (उस अवतारमें) कश्यप और अदिति पिता-माता हुए जो श्रीदशरथ और श्रीकौशल्याजी (के नामसे) प्रसिद्ध हुए।३। एक कल्पमें इस प्रकार अवतार लेकर प्रभुने अपने चरित्रोंसे संसारको पवित्र किया।४।

टिप्पणी—१ (क) 'तहाँ' अर्थात् उस कल्पमें। खास कश्यप और अदिति पिता-माता नहीं हैं वरंच वे दशरथ-कौशल्यारूप हुए तब पिता माता विख्यात हुए। यथा 'कश्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरुब बर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा। १।१८७।' (ख) 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता' कहनेका भाव कि सब कल्पोंमें वा सदा 'कश्यप अदिति' ही दशरथ कौशल्या नहीं होते, इस कल्पमें वे ही दशरथ-कौशल्या हुए, अन्य कल्पोंमें और पिता माता होते हैं; जैसे स्वायंभुव मनु और शतरूपा हुए। यदि सब कल्पोंमें कश्यप अदिति ही पिता माता होते तो सर्वत्र कश्यप-अदितिको पिता माता कहनेका प्रयोजन ही कौन था? कश्यप-अदितिने श्रीरामजीके लिये बड़ा तप किया तब पिता माता हुए, यथा 'कस्यप अदिति महा तप कीन्हा।...। १।१८७।' पुनः भाव कि 'कस्यप अदिति तहां पितु माता' कहकर इसे भी श्रीरामावतारका हेतु बताया, श्रीरामजी पुत्र हों, इसलिए उन्होंने तप किया था; इसी हेतु श्रीरामजीने अवतार लिया।

२ "एक कलप एहि बिधि...." इति। (क) ☞ अब इस कल्पकी कथा समाप्त की। (हिरण्यकशिपु आदि सब एक ही कल्पमें हुए। वराह, नृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण ये चारों अवतार एक ही कल्पमें हुए)। (ख) 'चरित्र पवित्र किए...' इति। 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु। १२१।' इस दोहेको यहाँ चरितार्थ करते हैं।—कुंभकर्ण और रावण इन असुरोंको मारा जो सुरविजयी थे। इन्होंने देवताओंके लोकोंको छीन लिया था, अतः इनको मारकर देवताओंको अपने-अपने लोकोंमें बसा दिया; यह 'थापहिं सुरन्ह' को घटित किया। इनके मरनेसे श्रुतिसेतुकी रक्षा हुई, यह 'पालहिं श्रुति सेतु' हुआ। रहा 'जग बिस्तारहिं...' वह यहाँ चरितार्थ हुआ—'चरित्र पवित्र किए संसारा'।

इति वैकुण्ठाधीशपार्षद जयविजयार्थ अवतार समाप्तः।

* जलंधरके लिये अवतार *

एक कलप सुर देखि दुखारे । समर जलंधर सन सब हारे ॥५॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा । दनुज महाबल मरै न मारा ॥६॥
परम सती असुराधिप नारी । तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥७॥

अर्थ—एक कल्पमें सब देवता जलंधरसे हार गए। (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि तब) देवताओंको दुःखी देखकर ॥५॥ शिवजीने बहुत भारी घोर युद्ध किया, पर वह दैत्य महाबलवान् था, मारे न मरता था ॥६॥ उस दानवराजकी स्त्री पतिव्रता थी। उसीके बल (प्रभाव) से त्रिपुरासुरके नाशक महादेवजी भी उस दानवको न जीतते थे ॥७॥

टिप्पणी—१ "एक कलप सुर देखि दुखारे।…" इति। (क) प्रथम भक्तोंके हेतु अवतार होना कहा, यथा 'एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी॥' अब देवताओंके लिये अवतार होना कहते हैं। जलंधरने देवताओंको जीतकर उनके सब लोक छीन लिये थे, इसीसे देवता दुःखी हुए। यथा 'तेहिं सब लोक लोकपति जीते। भए देव सुख संपति रीते॥ १।८२।६।' (ख) 'सब हारे' अर्थात् तेंतीस कोटि देवता हार गए। (ग) 'सुर देखि दुखारे' का भाव कि भगवान् देवताओंका दुःख नहीं देख सकते; यथा 'जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥ ६।१०६।' (घ) जलंधरकी कथा आगे है।

२ "संभु कीन्ह संग्राम…" इति। (क) भाव कि जब सब देवता हार गए तब शिवजीने संग्राम किया। (ख) 'अपारा' कहकर जनाया कि देवता लोग शीघ्र हार गये थे और शिवजी बहुत दिनों तक लड़ते रहे। संग्राम वर्षों जारी रहा। कोई पार न पाता था। (ग) 'महाबल मरै न मारा' अर्थात् महाबलवान् है, इससे मारे नहीं मरता। पुनः भाव कि शिवजी उसके बधके लिये उसे भारी शस्त्रास्त्र मारते हैं पर सब शस्त्रास्त्र व्यर्थ जाते हैं, दानव मरता नहीं।

३ "परम सती असुराधिप नारी।…" इति। (क) अर्थात् इसीसे असुर महाबली है। (ख) 'तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी' उसी बलसे असुरको पुरारी नहीं जीतते। अर्थात् धर्मकी मर्यादाका नाश नहीं कर सकते। भाव यह कि वह असुर अपने शरीरके बलसे नहीं लड़ रहा है किंतु अपनी स्त्रीके पातिव्रत्य धर्मके बलसे लड़ता है। [सती स्त्रियोंके पातिव्रत्य धर्मका बल बड़ा भारी होता है। जलंधरकी कथामें प्रमाण देखिए]। पुनः 'तेहि बल' से जनाया कि वह दानव शंकरजीके सदृश बलवान् नहीं है, वह केवल सतीत्व-धर्मकी रक्षासे बचता है, नहीं तो शिवजी उसे जीत लेते। यहाँ 'प्रथम उल्लास अलंकार' है—"और वस्तुके गुणन ते और होत बलवान"। [(ग) 'परम सती' तो गिरिजाजी भी हैं। जलंधरकी स्त्री वृन्दाकी जोड़में गिरिजाजीको क्यों न कहा ? कारण कि उनका सामर्थ्य श्रीपार्वतीजीके सतीत्वसे नहीं है, वे तो स्वयं सहज समर्थ भगवान् हैं और जलंधरको केवल उसकी स्त्रीके पातिव्रत्यका बल और सामर्थ्य है, उसमें स्वयं यह सामर्थ्य न था कि त्रिपुरासुरके मारनेवालेका सामना कर सकता। अतएव जलंधरके साथ उसकी स्त्रीके पातिव्रत्यका बल भी कहा और शिवजीके साथ श्रीगिरिजाजीके पातिव्रत्यको न कहा। (मा० पी० प्र० सं०)] (घ) 'पुरारी' का भाव कि यह असुर त्रिपुरासुरसे भी अधिक बलवान् है। त्रिपुरको तो शिवजीने एकही बाणसे मार गिराया था, यथा 'मारयो त्रिपुर एकही बान' (विनय), पर इसे नहीं जीतने पाते। [अथवा, त्रिपुरनाशकको जलंधरका मारना क्या कठिन था ? परंतु उसका बध करनेसे पातिव्रत्यधर्मकी मर्यादा न रह जाती, इस धर्मसंकटमें पड़कर शिवजी उसे न मार सके। यहाँ एक ओर तो पातिव्रत्यका प्रभाव दिखाया और दूसरी ओर मर्यादाकी रक्षा दिखाई। (मा० पी० प्र० सं०)]

"जलंधर"—यह शिवजीकी कोपाग्निसे समुद्रमें उत्पन्न हुआ था। जन्मतेही यह इतने जोरसे रोने लगा कि सब देवता व्याकुल हो गए। ब्रह्माजीके पूछनेपर समुद्रने उसे अपना पुत्र बता उनको दे दिया। ब्रह्माजीने ज्योंही उसे गोदमें लिया उसने उनकी दाढ़ी (ठुड्ढी) इतने जोरसे खींची कि उनके आँसू निकल पड़े। इसीसे ब्रह्माने उसका नाम जलंधर रखा। इसने अमरावतीपर क़ब्जा कर लिया। इन्द्रादिक सभी देवता इससे हार गए। अन्ततोगत्वा श्रीशिवजीने इन्द्रका पक्ष ले उससे बड़ा घोर युद्ध किया। उसको न जीत पाते थे क्योंकि उसकी स्त्री वृन्दा, जो कालनेमिकी कन्या थी, परम सती थी। सतीत्वका बल ऐसा ही है; यथा "यस्य पत्नी भवेत्साध्वी पतिव्रतपरायणा, स जयी सर्वलोकेषु सुमुखी सधनी पुमान्। कंपते सर्वं तेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः, भर्त्ता सदा सुखं भुंक्ते रममाणो पतिव्रताम्। धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः। धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता॥" (मा० त० वि०)

यह जानकर कि शिवजी उसके पतिसे लड़ रहे हैं वृन्दाने पतिके प्राण बचानेके लिए ब्रह्माकी पूजा प्रारंभ की। जब शिवजीने देखा कि जलंधर नहीं मर सकता तब उन्होंने भगवान्‌का स्मरण किया। भगवान्‌ने सहायता की। वे वृन्दाके पास पहुँचे [किस रूपसे? इसमें मतभेद है। कहते हैं कि वृन्दाने पूर्व जन्ममें पति-रूपसे भगवान्‌को वरण करनेके लिए तपस्या की थी और उन्होंने उसे वैसा वर भी दिया था। सो इस प्रकार सिद्ध हुआ]।—वृन्दाने उन्हें देखते ही पूजन छोड़ दिया। पूजन छोड़ते ही जलंधरके प्राण निकल गए।

सतीत्वभंगके प्रसंगकी कथाएँ पुराणोंमें कई तरहकी हैं।

भगवान्‌ने यह छल किया कि वे तपस्वी यती बनकर उसके घरके पास विचरने लगे। वृन्दाने उनसे पूछा कि हमारा पति कब जय पावेगा? यती बोले कि वह तो मार डाला गया। तब वृन्दाने कहा कि तुम झूठ कहते हो। हमारा पातिव्रत्य रहते हुए उसे कौन मार सकता है? यतीने आकाशकी ओर दृष्टि की तो दो बानर जलंधरके शरीरको विदीर्ण करते हुए देख पड़े। थोड़ीही देरमें शरीरके टुकड़े वृन्दाके समीप आ गिरे। यह देख वह विलाप करने लगी''तब यतीने कहा कि इसके अंगोंको तू जोड़ दे तेरे पातिव्रत्यधर्मसे वह जी उठेगा। उसने वैसा ही किया। अंगोंके स्पर्श करते ही भगवान्‌ने उसमें प्रवेशकर जलंधर रूप हो उसका व्रत भंग किया; तभी इधर जलंधरको शिवजीने मारा। वृन्दाको यह बात तुरत मालूम हुई। जब उसने शाप दिया तब भगवान्‌ने अपने लिए पूर्व जन्मकी तपस्याकी कथा कहकर उसका सन्तोष किया। शाप यह था कि जलंधर रावण होकर तुम्हारी पत्नी हरेगा, इत्यादि। अरण्यकांड 'अजहु तुलसिका हरिहि प्रिय। दोहा ५।' में कथा दी गई है। १२४ (५) में भी देखिए।

दोहा—छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥ १२३॥

अर्थ—प्रभुने उसका पातिव्रत्य छलसे भंगकर देवताओंका काम किया। जब उसने यह मर्म जाना तब कोप करके शाप दिया॥१२३॥

टिप्पणी—१ (क) 'छल करि' का भाव कि परम सती है, उसका पातिव्रत्य भंग करना प्रभुके लिये भी साध्य न था, इसीसे साक्षात् (प्रत्यक्ष रूपसे) उसके व्रतको न टाल सके, छल करना पड़ा। भगवान्‌ने भोगकी इच्छासे नहीं किन्तु सुरकार्यके लिये असुराधिप नारिसे भोग किया। (ख) छल करना दोष है। अतएव 'प्रभु' शब्द देकर उन्हें दोषसे निवृत्त किया। वे समर्थ हैं, अतः छल करनेका अधर्म उनको नहीं हो सकता। यथा 'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं'। रबि पावक सुरसरि की नाईं।१।६६।' (पुनः परोपकारमें दोष नहीं लगता, प्रभुने देवताओंकी आर्त्त देख उनका संकट दूर किया, अतएव 'सुर कारज कीन्ह' भी कहा।)।

(ग) 'सुर कारज कीन्ह' अर्थात् इधर व्रत छूटा, उधर शिवजीने असुरको मारा जिससे देवताओंका दुःख मिटा। (घ) 'जब तेहि जानेउ' इति। ☞ कैसे जाना? भगवान्‌ने मर्म जनाया जिसमें वह उन्हें शाप दे और वे लीला करें; नहीं तो जिस मर्मको भगवान् छिपावें उसे जाननेको कौन समर्थ हो सकता है? यथा "मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ। १९५।', 'निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा।२४४।८।', 'लछिमनहू यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना।३।२४।५।', 'छन महिं सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना। ७।६।७।', 'तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहूँ।७।७९।५।', इत्यादि। जिसको प्रभु कृपा करके स्वयं जना दें वही जान सकता है। यथा "जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।…तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन। २।१२७।" तब जलंधरकी स्त्री बिना जनाये कैसे जान सकती थी? [प्रभुको तो लीला करनी थी, यह सब उनकी इच्छासे हुआ; यथा 'मम इच्छा कह दीनदयाला। १।१३८।' (यह नारदजीसे भगवान्‌ने कहा है, वैसेही यहाँ समझना चाहिए)। प्रभुने अपनी इच्छासे यह बात वृन्दाको जनाइ; इसीसे अगली चौपाईमें आपको 'कौतुकनिधि' कृपाल कहा है। (मा० पी० प्र० सं०)] (ङ) 'मरम'—यह कि ये विष्णु हैं, इन्होंने छलसे हमारा पातिव्रत्य छुड़ाया और यह कि व्रतभंग होतेही मेरा पति मारा गया। (च) 'श्राप'–शाप यह दिया कि तुमने हमसे छल किया, हमारा पति तुम्हारी स्त्रीको छलकर हरेगा, तुमने हमें पतिवियोगसे व्याकुल किया वैसेही तुम स्त्रीवियोगसे दुःखी होगे; तुमने हमें मनुष्यतन धरकर छला, अतः तुमको मनुष्य होना पड़ेगा। (छ) 'श्राप कोप करि दीन्ह' इति। ☞ बिना क्रोध-के शाप नहीं होता, जब होता है तब क्रोधसे होता है। यथा 'बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा। १३५।८।' (नारदजी), 'बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार। जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार।१७३।' (भानुप्रतापको विप्रोंका शाप), 'जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा।७।१०९।३।' (शिवजी), "पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा॥… लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। ७।११२।' (लोमशशाप) तथा यहाँ भी कहा 'शाप कोप करि दीन्ह'।

तासु श्राप हरि दीन्ह[1] प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥ १॥
तहाँ जलंधर रावन भएऊ। रन हति राम परम पद दएऊ॥ २॥

शब्दार्थ—प्रमान (प्रमाण)=आदर। मान। हति=मारकर।

अर्थ—हरिने उसके शापको आदर दिया, क्योंकि वे कौतुकके निधान (भंडार, खज़ाना), कृपाल और षडैश्वर्य सम्पन्न हैं॥ १॥ वहाँ (उस कल्पमें) जलंधर रावण हुआ। श्रीरामजीने उसे संग्राममें मारकर परम पद (अपना धाम, मोक्ष) दिया॥ २॥

नोट १—"तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना" इति। भगवान्‌के स्मरणसे तो लोगोंके शाप मिट जाते हैं, यथा "सुमिरत हरिहि साप गति बाधी", फिर भला उन्हें शाप क्योंकर लग सकता है? जय-विजयसे भी भगवान्‌ने यही कहा था कि हम शाप मेट सकते हैं पर यह हमारी ही इच्छा है; इसलिए शाप अंगीकार करो, तुम्हारा कल्याण होगा।

किसीका भी सामर्थ्य नहीं कि जबरदस्ती उनको शाप अङ्गीकार करा सके। देखिए भृगुजीका शाप उन्होंने न स्वीकार किया, तब भृगुजीने यह विचारकर कि शापके अङ्गीकार न किए जानेसे हमारा ऋषित्व

१—कीन्ह प्रवाना—१७२१, छ०, को० रा०। दीन्ह—१६६१, (कीन्ह का दीन्ह बनाया है), १७०४।

नष्ट हो जायगा, उग्र तप किया और भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर उन्होंने यही वर माँगा कि हमारा शाप आप अंगीकार करें।

यही बात नारद-मोह प्रकरणमें झलकती है। नारद मुनिने जब यह चाहा कि हमारा शाप असत्य हो जाय तब भगवान्‌ने कहा कि नहीं, हमारी इच्छा है, हम उसको सत्य करेंगे। यथा "मृषा होउ मम शाप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥ १।१३८।' अतएव यहाँ भी सतीत्वकी मर्यादा-प्रतिष्ठाकी रक्षा एवं लीलाके लिये शाप अंगीकार किया गया।

टिप्पणी—१ 'हरि दीन्ह प्रमाना···' इति। (क) 'हरि' का भाव कि जिनके स्मरणसे शाप दूर हो जाता है, जो शापके हरनेवाले हैं, यथा 'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। १२५।४।', उन्होंने शापको आदर-मान दिया। भगवान् अपनी इच्छासे शाप ग्रहण करते हैं, वे न चाहें तो उन्हें शाप नहीं लग सकता। यही बात आगे कहते हैं—'कौतुकनिधि कृपाल भगवाना।' (ख) [रा० प्र० कार कहते हैं कि दोहेमें 'प्रभु' शब्द देकर यहाँ शापको प्रमाण देना कहनेका भाव यह है कि वे उसे अन्यथा करनेको समर्थ हैं तथापि उन्होंने शाप ले लिया, क्योंकि वे कौतुकनिधि हैं, उनको कौतुक बहुत प्रिय है और कौतुक प्रिय होनेका हेतु कृपालुता है; वे असुरोंको सद्‌गति देते और भक्तोंके गानेके लिये कल्याणकारक चरित करते हैं] (ग) 'कौतुकनिधि' का भाव कि लीला किया चाहते हैं, इसीसे शापको अंगीकार किया। 'कृपाल' हैं अतएव देवताओंपर कृपा करके अवतार लेना चाहते हैं। कृपा अवतारका हेतु है। पुनः, 'कृपाल' का भाव कि जलंधरकी स्त्रीपर कृपा करके शाप अंगीकार किया। शापको अंगीकार करनेसे उसको संतोष हुआ। 'भगवाना' अर्थात् षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। जलंधर रावण होकर धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य-का नाश करेगा तब 'भगवान्' अवतार लेकर रक्षा करेंगे। (घ) भगवान् होकर शापको मान लिया क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम हैं। धर्मका नाश करनेवालेको दंड चाहिए। यदि आप शाप अंगीकार न करते तो धर्मकी मर्यादा कैसे रहती? दंडका काम किया, अतः दंड अंगीकार किया। अपराधीको जो दंड दिया जाता है उसको आनन्दसे भोगना अपराधीका कर्तव्य है। यदि भगवान् स्वयं ही धर्मविधान कर देंगे तो दूसरे उनका अनुकरण करेंगे। यथा 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते। गीता ३।२१। न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।२२। यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। २३।' (अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरा पुरुष भी वह-वह ही आचरण करता है। वह जितने प्रमाणमें करता है, संसार उसीके पीछे चलता है। यद्यपि मेरे लिये तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, और न किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त ही करना है, तथापि मैं कर्ममें वर्तता हूँ। यदि मैं सजग होकर कदाचित् कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ तो, अर्जुन! सब मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं (अतः वे भी कर्मों को छोड़ देंगे)। इसी हेतुसे शापको स्वीकार किया।

मा० पी० प्र० सं०—'कौतुकनिधि···'। अपने ऊपर शाप लेलेनेका यहाँ कारण बता रहे हैं। कौतुक खेल, तमाशा, मनबहलावको कहते हैं। 'कौतुकनिधि' विशेषण देकर यह भी सूचित करते हैं कि इस शापसे आपको किंचित् दुःख न हो सकता था और न हुआ, जैसे दिलबहलाव (मनोरंजन) के खेल-तमाशेसे नहीं होता। पुनः कृपाल हैं; शाप अंगीकार कर वृन्दापर कृपा की, उसका मन रख लिया, उसको इतनेमें सन्तोष हो गया। पुनः, भगवान् हैं, इसलियेभी शाप कुछ बाधा नहीं कर सकता था, इनकेलिये यह कोई बड़ी बात नहीं। जो उत्पत्ति, पालन, संहार करता है, उसे सभी कुछ फबता है।

टिप्पणी—२ 'तहाँ जलंधर रावन भयऊ' इति। (क) जहाँ जैसा प्रसंग होता है वहाँ ग्रन्थकार वैसाही लिखते हैं। यहाँ केवल जलंधरका रावण होना कहा गया, क्योंकि यहाँ जलंधरकी स्त्रीने केवल

जलंधरके लिये कहा कि हमारा पति तुम्हारी स्त्रीको छल करके हरेगा। इसके वर्णनका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं था कि उसका भाई कुम्भकर्ण हुआ या कौन, और परिवार राक्षस हुआ या नहीं। जहाँ दोको शाप हुआ, जैसे जय-विजय-प्रकरणमें, वहाँ कुम्भकर्ण और रावण दो कहे और जहाँ कुटुम्बभरको शाप हुआ जैसे भानुप्रतापको वहाँ कुटुम्बभरका हाल कहा गया। यथा 'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयउ निसाचर सहित समाजा॥ दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा॥ भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भयउ सो कुंभकरन बलधामा॥ सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयउ बिमात्र बंधु लघु तासू।...रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भए निसाचर घोर घनेरे॥ १।१७६।' [जय विजय दो भाई थे और दोनोंको शाप हुआ था उनके साथ और कोई न था। इसी तरह रुद्रगण दो थे और दोनोंको एक ही साथ शाप हुआ। अतएव उनके सम्बन्धमें रावण कुम्भकर्ण होना लिखा गया। भानुप्रतापने ब्राह्मणोंको परिवारसहित निमंत्रण दिया था जैसा कि "नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार। १६८।" तथा "छत्रबंधु तैं बिप्र बोलाई। घालै लिए सहित समुदाई।१।१७४।१।" से स्पष्ट है इसीसे ब्राह्मणोंने परिवारसहित सबको शाप दिया था। यहाँ जलंधर अकेला था, विष्णुभी अकेले ही छलने गए थे, अतः केवल जलंधरका रावण होना कहा और उसीका वध करना लिखा गया। वैजनाथजीका मत है कि जलंधरके जो प्रिय सखा थे वेही कुम्भकर्णादि हुए। परन्तु पंजाबीजी, रा० प्र०, आदिका मत है कि उस कल्पमें केवल रावण ही हुआ— 'कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। १।३३।'—(मा० पी० प्र० सं०)]

(ख) 'परम पद दएऊ' अर्थात् मुक्त कर दिया। जय विजय रावण कुम्भकर्ण हुए तब विप्रशापके कारण मुक्ति न हुई थी और यहाँ जलंधर-रावणकी मुक्तिमें कोई बाधा नहीं है।

नोट—२ जलंधरकी स्त्री वृन्दाकी कथासे हमें शिक्षा मिलती है कि—(क) पातिव्रत्य एक महान् धर्म है। यह एक महान् तपके बराबर है। (ख) सती स्त्रीका पति बड़ेसे बड़े संग्रामको जीत सकता है। (ग) धोखा देनेवालेको दंड मिलता है। (यह भी कथा है कि वृन्दाके शापसे भगवान्‌को शालग्राम होना पड़ा और वृन्दा तुलसी हुई जो उनके मस्तक पर चढ़ती है। इसके अनुसार शिक्षा यह है कि सतीके साथ छल करनेवालेकी दशा ऐसी होती है, उसे जड़-पत्थर बनना पड़ता है। वा, जब भगवान्‌को पाषाण बनना पड़ा तब साधारण मनुष्यको न जाने क्या होना पड़े !)। (घ) छल और कपटका परिणाम बहुत बुरा होता है। (ङ) सज्जन वही हैं जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। (श्रीरामहर्षणलालजी)।

एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नर देहा॥ ३॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥ ४॥

अर्थ—एक जन्मका कारण यह है कि जिसके लिये श्रीरामजीने मनुष्य शरीर धारण किया॥३॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं) हे मुनि ! सुनो। प्रभुके प्रत्येक अवतारकी अनेकों कथाएँ कवियोंने वर्णन की हैं॥४॥

टिप्पणी—१ "एक जनम...राम धरी..." इति। जय विजय भक्त थे। जब उनके उद्धारके लिये जन्म लिया तब शिवजीने श्रीरामजीको 'भगत अनुरागी' विशेषण दिया, यथा 'धरेउ सरीर भगत अनुरागी।' जलंधर भक्त न था, इसीसे यहाँ 'भक्तानुरागी' नहीं कहते, इतनाही भर कह दिया कि श्रीरामजीने नर देह धारण की।☞इस कल्पकी कथा यहाँ समाप्त की।

२ 'प्रति अवतार...' इति। यथा 'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं। १।१४०।२।' (ख) 'सुनु मुनि' से यह वाक्य याज्ञवल्क्यजीका भरद्वाज प्रति जनाया। (ग) "बरनी कबिन्ह घनेरी" अर्थात् एक एक कल्पकी कथा अनेक मुनियोंने वर्णन की है, इसीसे कथाएँ बहुतसी हो गईं। (घ)☞"असुर मारि थापहिं सुरन्ह..." यह दोहा इस कल्पमें भी चरितार्थ हुआ है। यथा 'तहाँ जलंधर

रावन भएऊ। रन हति राम परम पद दएऊ।' यह असुरोंका मारना हुआ। 'एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे ॥...' इत्यादिमें सुरोंकी रक्षा कही। 'प्रभु सुर कारज कीन्ह' अर्थात् असुर-बधसे श्रुतिसेतुकी रक्षा हुई। और, 'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी।' यह 'जग बिस्तारहिं बिसद जस' अर्थात् जगत्में यशका विस्तार कहा गया।

नोट—यहाँ तक तीनों बार 'एक' 'एक' कहा—यथा 'एक बार तिन्हके हित लागी', 'एक कलप एहि बिधि अवतारा। १२३।४', 'एक जनम कर कारन एहा। १२४।३।', 'एक कलप सुर देखि दुखारे। १२३।५।' इत्यादि। क्योंकि यदि ऐसा कहते कि एकमें यह कारण था, दूसरेमें यह, तीसरेमें यह, तो सम्भव है कि यह समझा जाता कि ये अवतार इसी क्रमसे एकके पीछे एक होते गये हैं। यहाँ केवल हेतु बताया है न कि क्रम। पूर्व कह आए हैं कि 'रामजनम कर हेतु अनेका', इनमेंसे दो एक कहता हूँ। इसी कथनानुसार तीन कल्पोंकी कथा कही, कौन किस कल्पकी है, वा, कौन पहले है, कौन पीछे, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं रखा। पुनः, एक, दो, तीन गिनती न देकर अगणित सूचित किया। इसीसे अन्तमें 'सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी' कहा। (मा० पी० प्र० सं०)।

"वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुको वृन्दाका शाप होनेसे रामावतार" यह प्रकरण समाप्त हुआ।

"क्षीरशायी श्रीमन्नारायणको शाप होनेसे श्रीरामावतार"

(तदन्तर्गत)

नारद-मोह-प्रसंग

नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा ॥५॥
गिरिजा चकित भईं सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत पुनि[१] ग्यानी ॥६॥

अर्थ—एक बार नारदजीने शाप दिया। एक कल्पमें इस कारणसे अवतार हुआ ॥ ५ ॥ ये वचन सुनकर पार्वतीजी चकित हुईं कि नारदजी तो भगवान् विष्णुके भक्त और फिर ज्ञानी हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ "नारद श्राप दीन्ह एक बारा।...." इति। (क) भाव कि एक कल्पमें जलंधरकी स्त्रीने शाप दिया और एक कल्पमें देवर्षि नारदने शाप दिया। ☞ कल्पोंकी गिनती नहीं की, कहीं 'एक' कहा, कहीं 'अपर' कहा। यथा 'एक कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा। १२३।४।', 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा' (यहाँ), 'अपर हेतु सुनु सैल कुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी ॥ १४१।१।', 'भरद्वाज सुनु अपर पुनि राम जनम कर हेतु। १५२।' श्रीरामजन्मके हेतु अनेक हैं, इसीसे यह कहते नहीं बनता कि यह प्रथम कल्प है, यह दूसरा कल्प है, यह तीसरा है; अतएव इतना मात्र कहा कि एक कल्पमें यह अवतार हुआ। (ख) 'तेहि लगि' अर्थात् नारदशापके निमित्त।

[वृन्दाने जो शाप दिया वह नारदशापके समान ही है। भेद इतना है कि (वृन्दाने) सर्पराज शेषको भी शाप दिया है। यथा 'त्वं चापि भार्या दुःखार्तो वने कपि सहायवान्। भ्रम सर्पेश्वरेणाय यत्ते शिष्यत्वमागतः। प० पु० उ० खं० १०५।३०।' प० पु० उ० खं० अ० ३ से १७ तक जलंधरकी कथा बहुत विस्तारसे है और अध्याय ६।१०६ तक 'जलंधर' नाम है। कथा एक ही है। कल्पभेदसे कुछ अन्य बातोंमें भी भेद है। इसमें एक महत्वकी बात यह है कि जलंधरने भवानीका पातिव्रत्य भ्रष्ट करनेका जब प्रयत्न किया तभी भगवान् क्षीराब्धिनिवासी नारायणने कपटसे सर्पेश्वर शेषको अपना शिष्य बनाकर वृन्दासे छल किया। अपने भक्तके पातिव्रत्यका रक्षण करनेके लिये ही भगवान्को छल करना पड़ा।]

---

१ मुनि—१७०४। पुनि—१६६१, १७२१, १७६२। पुनि जानी—को० रा०।

टिप्पणी—२ "गिरिजा चकित भई'''" इति। (क) (सनकादिक ऋषि भी तो ज्ञानी थे, उनके जय-विजयको शाप देने पर आश्चर्य क्यों न हुआ? इस शंकाका समाधान यह है कि) जय-विजयकी कथा प्रसिद्ध है,—'जय अरु बिजय जान सब कोऊ' इससे उसमें आश्चर्य नहीं हुआ। [दूसरे, वहाँ सनकादिक मुनियोंका नाम न देकर 'बिप्र स्राप तें दूनौं भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई॥ १२२।५।', ऐसा कहा था। केवल 'विप्रशाप' कहा था और विप्र तो शाप दिया ही करते हैं। अतएव आश्चर्य न हुआ था और यहाँ देवर्षि नारदका नाम लिया है, अतः आश्चर्य हुआ। तीसरे, चकित होनेका कारण यह भी हो सकता है कि नारदजी आपके गुरु हैं, यथा 'गुर के बचन प्रतीति न जेही। ८०।८।' गुरुकी निंदा न सही गई। उनमें दोष बतानेपर चकित हुईं। इसलिये प्रश्न करती हैं। चौथे, ऐसा भी कहा जाता है कि जयविजयके शापकी कथा पहलेसे जानती थीं और नारद शापका प्रसंग न जानती थीं, इसीसे पहले आश्चर्य न हुआ, अबकी हुआ। (मा० पी० प्र० सं०)] यहाँ बड़ा आश्चर्य माना। आश्चर्यका कारण अगले चरणोंमें वे स्वयं प्रकट करती हैं—'मुनि मन मोह आचरज भारी।' (ख) 'नारद बिष्नु भगत पुनि ग्यानी' का भाव कि विष्णुभक्त हैं, भक्त होकर अपने स्वामीको शाप कैसे दिया? 'पुनि ज्ञानी'—ज्ञानी हैं तब उनको क्रोध कैसा? क्रोध तो द्वैतबुद्धिसे होता है, ज्ञानीको तो क्रोध होता नहीं, यथा 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान। ७। १११।' भक्त और ज्ञानी दोनोंमें मोह होना सम्भव नहीं; यथा 'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। ७।१२०।', 'भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू। २।१६६।' [भक्त अपने स्वामीको शाप दे, यह असम्भव है, अनुचित है। ज्ञानीको रागद्वेष नहीं होता तब वह शाप क्यों देगा? (पं०)]

नोट—१ नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि "इस चौपाईमें किसीका नाम नहीं है कि नारदने किसको शाप दिया। परन्तु कथामें नारदने दो व्यक्तियोंको शाप दिया है, प्रथम हरगणोंको पीछे विष्णुभगवान्‌को। जब दोनोंमेंसे किसीका नाम नहीं है तब जिसको प्रथम शाप नारदने दिया है उसीके नामसे अर्थ होगा, यह नीति है। हरगणोंके कल्पमें विष्णु भगवान्‌को शापवश अवतार लेना अर्थ करना कैसी भारी भूल है क्योंकि एक शापसे दो बार भगवान्‌को दुःख उठाना सिद्ध हो जायगा?"

हमारी समझमें पूर्व और पश्चात्‌के वाक्योंद्वारा हम पता लगा सकते हैं कि शिवजीका इशारा किसकी ओर है। पूर्व प्रसंगमें अभी कहे आ रहे हैं कि 'छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुरकारज कीन्ह। जब तेहि जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥ १२३॥ तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना।'''एक जनम कर कारन एहा॥' उसके बाद ही यह कहते हैं कि 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा'।—इस उद्धरणसे स्पष्ट भाव यही निकलता है कि एकमें जलंधरकी स्त्रीने शाप भगवान्‌को दिया था जिससे श्रीरामजीको नरदेह धरना पड़ा था और एक कल्पमें नारदने भगवान्‌को शाप दिया था जिससे श्रीरामजीको अवतार लेना पड़ा। पार्वतीजीने भी यही समझा है, इसीसे वे तुरत कहती हैं—'कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा।' यदि इनकी समझमें भूल होती तो तुरत शिवजी कह देते।

स्मरण रहे कि यहाँसे लेकर 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। १३९।' तक एक ही प्रसंग है—'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी' का उत्तर १३९ पर समाप्त हुआ है। दो पृथक् कल्पोंकी कथायें यदि इसमें होतीं तो दो बार 'एक कलप एहि हेतु०' यह या इनके पर्य्याय शब्द कहे गए होते—एक बार विष्णुको शाप होनेके साथ ही कहना था जैसे जलंधरवाले प्रसंगमें कहा गया और एक बार हरगणोंके शाप वा शापानुग्रहके बाद कहना था कि 'एहि लगि राम धरी०' या इसके समानार्थी शब्द जैसे कि जय विजयके प्रसंगके प्रसंगको कहकर कहा था, यथा 'एक बार तिन्हके हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी'। पर यहाँ ऐसा नहीं कहा गया, वरंच हरगण और भगवान् दोनोंको शाप देनेके, एवं भगवान्‌के शाप स्वीकार करनेपर हरगणोंके शापानुग्रहके पश्चात् शिवजी कहते हैं कि 'एक कलप एहि हेतु प्रभु०'। भगवान्‌के शाप

स्वीकार करनेपर ही हरगणोंका शापानुग्रह होकर प्रसंग समाप्त होता है, क्योंकि अब अवतारका पूरा ठाट ठठ गया, सब सामग्री एकत्र हो गई—रावण, कुंभकर्ण, रामावतार, सीताहरण सबका मसाला मिल गया। यह कथा यहीं समाप्त हो गई; आगेसे इसका संबंध नहीं। इसके आगे 'अपर हेतु' से दूसरी कथाका प्रारंभ होता है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान्को जो नारदका शाप हुआ उसीसे हरगणोंका उद्धार हुआ है। एक कल्पका शाप दूसरे कल्पके रावणादिके लिये होना एक अनोखी और अविश्वसनीय बात होगी।

यह इस दासका अपना और बहुतसे साहित्यज्ञोंका मत है और पाठकोंको जो ठीक जान पड़े वही उनके लिए ठीक है।

अब दूसरी बात जो यह कही गई है कि 'एक शापसे दो बार भगवान्को दुःख उठाना सिद्ध हो जायगा', उसके विषयमें यह कहना अयोग्य न होगा कि—(१) एक तो यह बात ठीक नहीं जँचती कि एक कल्पकी बात दूसरे कल्पमें जाय। प्रत्येक कल्पमें एक रावण होता है और उसके वधके लिये श्रीरामजीका अवतार होता है, यथा 'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं'। यदि यह मानें कि हरगण-रावणके लिये नारदशापसे भगवान्का अवतार नहीं हुआ, तब यह स्पष्ट है कि एक ही कल्पमें दो बार रावण हुए और दो बार भगवान्का अवतार हुआ, नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि एक कल्पमें शाप हुआ दूसरे कल्पके लिये, जो ठीक नहीं।-'हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ।'''१७८।' से स्पष्ट है कि कल्पमें एक ही रावण होता है।

(२) भगवान्को एक शापसे दो बार क्या अनेक बार दुःख उठाना पड़ता है। भक्तके लिये वे क्या नहीं करते? अम्बरीष महाराजके लिये 'जनमेउ दस बार'। जय विजयके लिये चार बार अवतरे। इत्यादि।

(३) एक ही कल्पमें अवतारके अनेकों कारण उपस्थित हो सकते हैं और होते ही हैं। कोई जरूरी नहीं कि एक ही हो—'राम जनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका', 'हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई'। हरगणवाले कल्पमें भी कई हेतु उपस्थित हो गए—नारदमोहनिवारण, हरगणोद्धार, भगवान्को शाप इत्यादि।

यह भी स्मरण रहे कि यहाँ जो 'विष्णु' 'रमापति' 'हरि' शब्द आए हैं वे सब एक उन्हीं क्षीरशायी भगवान्के लिये आए हैं जिनका नारदमोहप्रसंगसे तअल्लुक (संबंध) है, यथा 'नारद बिष्नुभगत पुनि ज्ञानी' कहकर कहा है 'का अपराध रमापति कीन्हा', 'बड़ रखवार रमापति जासू', 'जिमि यह कथा सुनायहु मोही॥ तिमि जनि हरिहिं सुनावहु कबहूँ', 'छीरसिंधु गवने मुनिनाथा', 'हरि सन माँगौं सुंदरताई', 'दुलहिनि लै गे लच्छि-निवासा', 'सपदि चले कमलापति पाहीं॥ देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।', 'धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ॥ समर मरन हरि हाथ तुम्हारा।'

श्रीपरमहंसजी लिखते हैं कि नारदशापसे अवतार लेनेका "अनुमान करना ग़लत है क्योंकि दूसरे कल्पमें भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं'। दूसरा प्रमाण स्वयं नारदजीका वचन है कि 'मोर शाप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा'।"

इसके संबंधमें उसी प्रसंगमें लिखा गया है। यहाँ केवल पाठकोंसे यह कहना है कि "कौन रामावतार ऐसा है जिसमें नारद-वचन सत्य न किया गया हो?" सभीमें तो नरतन धारण करना पड़ा, सभीमें तो सीताहरण और विलाप हुआ और सभीमें वानरोंने सहायता की। ये ही तीन शाप तो थे? उपर्युक्त वचन प्रत्येक कल्पमें सत्य होते ही हैं तब तो आकाशवाणी यथार्थ ही है। उसमें शंका उठती ही नहीं।

कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥७॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोह आचरज भारी॥८॥

अर्थ—मुनि (देवर्षि नारद) ने किस कारण शाप दिया? लक्ष्मीपति भगवान्‌ने क्या अपराध किया? ॥७॥ हे त्रिपुरारि! यह प्रसंग मुझसे कहिए। मुनिके मनमें मोह होना बड़े आश्चर्यकी बात है ॥८॥

टिप्पणी—१ 'कारन कवन…' इति। (क) भाव कि मुनि मननशील होते हैं (शान्त होते हैं), उनका शाप देना असंभव सा है (क्योंकि शाप तो क्रोधसे होता है और क्रोध इष्टहानि रूपी अपराधसे होता है)। भगवान् भक्तवत्सल हैं, वे किसीका अपराध नहीं करते। करेंगे क्यों? वे तो श्रीपति हैं, उनको तो किसी बातकी कमी नहीं जो वे किसीका अपराध करते। अपने यहाँ कमी होनेसे ही दूसरेका अपराध होता है। अतः यह बात भी असंभव है। क्या कमी थी जिससे उन्होंने अपराध किया? [पंजाबीजी भी लिखते हैं कि 'रमापति' कहनेका भाव यह है कि सब उपाधियाँ लक्ष्मीसे होती हैं सो वह तो उनकी दासी है। तब भला उनको उपाधि कौन कर सकता है। पुनः शांतको क्रोध नहीं होता, अतः मुनिको क्रोध क्यों होने लगा। (वै०)]

२ "यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी।…" इति। (क) श्रीशिवजीने यहाँ तक दो कल्पोंकी कथा संक्षेपसे कही थी और यह प्रसंग एक ही चौपाई अर्थात् दो ही चरणोंमें इतना ही मात्र कहकर कि 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा' समाप्त कर दिया था। इसीसे श्रीपार्वतीजी कहती हैं कि यह प्रसंग मुझसे विस्तारपूर्वक कहिए। अर्थात् शापका संपूर्ण प्रसंग वर्णन कीजिए, 'किस कारणसे शाप दिया? क्या अपराध भगवान् रमापतिने किया था जो मुनिने शाप दिया? मुनिके मनमें मोह कैसे उत्पन्न हो गया?' इत्यादि सब प्रसंग कहिए; क्योंकि मुझे बहुत ही आश्चर्य और उत्कण्ठा है। (ख) 'पुरारी' का भाव कि आप त्रिपुर ऐसे भारी दैत्यके नाशक हैं, मेरा संदेह भी उसीके समान बड़ा भारी है, इसे भी निवृत्त कीजिए। (ग) 'मुनि मन मोह'—[भाव कि मोहके बिना अज्ञान नहीं और अज्ञान-बिना इष्टको शाप नहीं दे सकते। (वै०)] 'आचरज भारी' का भाव कि विष्णुभक्त और उसपर भी जो ज्ञानी भक्त हो, उसको ही मोह नहीं होता; यथा "सुनहु भगतिमनि कै प्रभुताई॥ रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥ परम प्रकास रूप दिन राती।…मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।७।१२०।", "सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें। १।१२९।" (अर्थात् जिसके ज्ञान वैराग्य नहीं होते, उसीके मनमें मोह होता है, ज्ञानी एवं विरक्तोंको मोह नहीं होता।)

दोहा—बोले बिहँसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥
सोरठा—कहौं राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु।
भव भंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद॥१२४॥

अर्थ—तब महादेवजी हँसकर बोले कि न कोई ज्ञानी है, न मूढ़। श्रीरघुनाथजी जब जिसको जैसा कर देते हैं तब वह उसी क्षण वैसाही हो जाता है।* (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाजजी! मैं श्रीरामजीके गुणोंकी कथा कहता हूँ, तुम आदरपूर्वक सुनो। तुलसीदासजी कहते हैं (रे मन!) मद और मानको छोड़कर भवके नाशक श्रीरघुनाथजीका भजन कर॥ १२४॥

टिप्पणी—१ "बोले बिहँसि…" इति। (क) पार्वतीजीने नारदको ज्ञानी कहा, ज्ञान और ज्ञानीपर

* विनायकीटीकाकार एक अर्थ यह लिखते हैं कि-"ज्ञानी पुरुष बहुधा मूर्खता नहीं करते (परन्तु उनके सुधार आदिके निमित्त) ईश्वर जब जिसको जैसा चाहें उसे वैसा बना सकते हैं। भाव यह कि वे यदि चाहें तो ज्ञानीसे मूर्खताका और मूर्खसे ज्ञानीका काम करा सकते हैं।"

उनकी इतनी आस्था देख शिवजी हँसे। [पुनः भाव कि अभी तो तुमने शापकी ही बात सुनी है, उनके साथ तो बड़े-बड़े कौतुक हुये हैं, जो हम आगे कहेंगे, तब तो तुम और भी चकित होगी। अथवा, इस समय तुम अपने उपदेष्टाकी बात सुनकर चकित हुई हो और अपनी बात भूल गई कि तुमको कैसा भारी मोह हुआ था, तुम भी तो ज्ञानवान् रही हो पर मोह पिशाचने तुम्हें ऐसा ग्रसा कि इस जन्ममें भी साथ लगा रहा। (पं०)। अथवा, मायाका प्राबल्य विचारकर हँसे कि तुम तो नारदकी कहती हो, नारदके बाप ब्रह्मा और मैं भी तो मोहके वश हो अनेक नाच नाच चुके हैं। भगवान्की इच्छा प्रबल है—'हरि इच्छा भावी बलवाना'। (ख) 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ' इति। भाव कि ज्ञानी अथवा मूढ़ कोई नहीं है। ज्ञान और मोह दोनोंके प्रेरक वे ही हैं। यह सब श्रीरघुनाथजीका खेल है; जब जिसको जैसा चाहें बना दें। यथा "मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥ ७।१२२", "बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव। ३।१५"। उदाहरणार्थ ध्रुवजीको लीजिए। ये बिलकुल (निरे) अबोध बालक थे। श्रीहरिने अपने वेदमयशङ्खसे उनके कपोलको छू कर उनको तत्कालही दिव्य वाणीकी प्राप्ति करदी तथा सब विद्याओंका ज्ञाता बना दिया—'ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले। भा० ४।९।४')। ☞ जीवको ज्ञानकी सीमा बना देनेपर जब उसे अपने ज्ञानका अभिमान हो जाता है तब भक्तवत्सल प्रभु तुरत ही उस अभिमानको तोड़नेका उपाय रच देते हैं, जिससे वह सुधर जाय, शुद्ध हो जाय, फिर भुलावेमें न पड़े। यथा "सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृतमूल सूल प्रद नाना। सकल सोक-दायक अभिमाना॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ ७।७४।"—यही 'गुणगाथा' है जो शिवजी पार्वतीजीसे और याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कह रहे हैं। इसीको गोस्वामीजी उपदेश मानकर अपने व्याजसे सबको उपदेश कर रहे हैं। (मा० पी० प्र० सं०)] (ग) 'जेहि जस रघुपति करहिं जब ' अर्थात् उनकी इच्छासे ज्ञानी मूढ़ हो जाता है और मूढ़ ज्ञानी हो जाता है। (घ) 'सो तस तेहि छन होइ' का भाव कि (यों तो) ज्ञानी-का मूढ़ और मूढ़का ज्ञानी हो जाना जल्दी नहीं होता (यह परिवर्तन होनेमें समय लगता है) परन्तु रघुनाथजीके करनेसे तत्काल हो जाता है; जिसे वे जिस क्षणमें चाहें ज्ञानीसे मूर्ख और मूर्खसे ज्ञानी बना दे सकते हैं। ज्ञानी नारदको क्षण भरमें मूढ़ बना दिया, यथा 'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा।' और फिर क्षणभरमें ही पुनः ज्ञानी बना दिया; यथा 'जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥ १३८।१।'

वैजनाथजी—'ज्ञानी मूढ़ न कोइ' अर्थात् चराचर जीव जड़ चेतन मिले हुए हैं इसीसे कोई न तो शुद्ध ज्ञानी है और न कोई शुद्ध मूढ़ ही है, क्योंकि शुद्ध ज्ञान तो ईश्वरहीमें है और मूढ़ता मायामें है और ईश्वरांश जीव मायाके वश है, इससे न ज्ञानी ही है न मूढ़। यथा 'ज्ञान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर।' रघुपतिका भाव कि भगवान् रघु (=जीव) के पति (स्वामी) हैं अतः जीवका धर्म है कि प्रभुके सम्मुख रहे जिसमें प्रभु मायाको रोके रहें जिससे वह (जीव) सज्ञान बना रहे। जब जीव अपना धर्म छोड़ श्रीरामविमुख होता है तब प्रभुकी कृपा रुक जाती है और जीव मूढ़ हो जाता है।

श्रीपोद्दारजी—इस प्रसंगपर यह शंका उठायी जाती है कि 'जब श्रीरघुनाथजीके बनाए ही प्राणी ज्ञानी या मूढ़ बनता है, तब प्रयत्नपूर्वक साधन करनेकी क्या आवश्यकता है? वह तो व्यर्थ ही हो जाते हैं।' इस पर कुछ विचार किया जाता है। यह सिद्धान्त है और इसमें कोई संदेह नहीं कि एकमात्र श्रीभगवान् ही सर्वेश्वर एवं सर्वशक्तिमान् हैं। उनकी इच्छाके विना, उनके सहारेके विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तब विना उनकी इच्छाके ज्ञानी-मूढ़ तो बन ही कैसे सकता है। वे ही चेतनको जड़ और जड़को चेतन

बनानेवाले हैं। इसलिए संसारके सब योगक्षेमोंको उन्हीं पर छोड़कर केवल भजन ही भजन करना चाहिए। एकमात्र उन्हीं की कृपा एवं सन्निधिका अनुभव करते हुये निरंतर उन्हींमें स्थित रहना चाहिये।

यह तो हुई सिद्धांतकी बात, अब व्यवहारकी बात लिखी जाती है। भगवान् जो किसीको ज्ञानी या मूढ़, जड़ अथवा चेतन बनाते हैं सो क्या केवल अपनी स्वतंत्र इच्छासे ही बनाते हैं अथवा कुछ और कारण होता है? क्या उनकी इच्छा विषम होती है? क्या उनकी कृपा सबपर समान नहीं है? परन्तु यह कैसे संभव है? वे सबपर समान कृपा रखते हैं, सबका हित चाहते हैं और वैसी ही प्रार्थना पूर्ण करते हैं जिससे परिणाममें उसका कल्याण हो। जीवोंके शुभाशुभ कर्म और अधिकारके अनुसार ही उनकी विधि-व्यवस्था होती है। कहा है—'सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फलु हृदयँ बिचारी।।"

जिन्हें अपने कर्तृत्वका अभिमान है, उन्हें कर्मके बंधनमें रहना ही पड़ेगा। परन्तु जिन्होंने कर्म-बंधनका परित्याग करके भगवान्‌की शरण ली है उनका भार तो भक्तवत्सल भगवान्‌पर है ही। उनकी अभयवाणी है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्'। नारदके जीवनमें भी भगवान्‌की शरणागति है। जबजब उनके मनमें शरणागतिके विपरीत कोई भाव आया तबतब भगवान्‌ने उसे दूर किया। मूलमें ही यह कथा आयी है कि कामपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् क्रोध न आनेके कारण नारदके मनमें कुछ अभिमान आ गया था, जो कि शरणागतिका विरोधी है। भगवान्‌ने देखा कि 'उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी।' अब भगवान् क्या करेंगे! उन्होंने निश्चय कर लिया। 'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी'।''' फिर जो उनकी दशा हुई वह मूलग्रन्थमें ही वर्णित है। शंकरजीके मनमें वे सभी बातें आ रही थीं और उन्होंने हँसते हुए कह दिया कि शाप देनेमें ऋषिका कोई दोष नहीं था, भगवान्‌की इच्छा ही वैसी थी। वास्तवमें भगवान्‌को अवतार लेकर लीला करनी थी, उसके साथ यदि एक सेवकके मूढ़तासे कहे हुए वचन भी सफल हो जायँ तो मनोरंजनकी एक और सामग्री बन जाय।

भगवान् ही सब कुछ करते-कराते हैं, यह केवल वाणीसे कहकर जो लोग अपने पापोंका समर्थन करते हैं, वे नारकीय जीव हैं। उन्हें अभी बहुत दिनों तक संसारमें भटकना अवशेष है। क्योंकि भगवान्‌की इच्छासे कोई अच्छा कर्म बन जाता है उसे तो वे अपना किया हुआ कहते हैं और बुरे कर्मोंको भगवान्‌पर थोप देते हैं। उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि तत्त्वज्ञानी ऊँचे भक्तोंके जो सिद्धांत हैं उनको पापी हृदय समझ ही नहीं सकता। पहले वे प्रयत्न करके 'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा' के अनुसार आचरण करेंगे तब उनका हृदय शुद्ध होगा और वे उस बातको समझ सकेंगे। ऊँचे अधिकारियोंके लिए जो बात कही गई उसे अपने पापी जीवनमें घटाकर पापको प्रश्रय देना सर्वथा पतनका कारण है। यदि अपने जीवनको सुधारना है तो पाप कर्मोंसे बचकर पूरी शक्तिसे भगवान्‌के भजन साधनमें और कर्त्तव्य कर्ममें लग जाना चाहिए। (कल्याण १३-३)।

प० प० प्र०—इस दोहेमें 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ' इत्यादि जो सिद्धान्त कहा है वह साधारण विषयी जीवोंके लिये नहीं है। सतीजी, पार्वतीजी, नारदजी, गरुड़जी, लोमशजी इत्यादि महान् भगवद्भक्तोंके लिये ही यह वचन है। अन्य पामर जीव तो 'मायावश परिछिन्न जड़' हैं ही। वे अविद्यामें पड़े हैं। अतः यह ध्यानमें रखना चाहिए कि अन्य जीव तो अपने कर्मानुसार ज्ञानी या मूढ़ हैं कोई यह (न) मान ले कि भगवान्‌ने मुझको मूढ़ बनाया। ज्ञानी या भक्त भी यह न मान लें कि हम अब मुक्त हो गए, हमको कुछ डर नहीं है।—'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही। ३।४३।६।', 'जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ', जबतक भगवान्‌की कृपा बरसती है तभी तक कोई ज्ञानी या भक्त रह सकता है। पर जब किसी ज्ञानी या ज्ञानी

भक्तसे कोई अनुचित कार्य, दोष, या पाप इत्यादि होता है, तब उनको दोष देना उचित नहीं है। सतीमोह प्रसंगमें यही उपदेश दिया है।

नोट—१ ज्ञानी और मूढ़ उपमानोंका एक ही धर्म ठहराना कि जब जिसको रघुपति जैसा कर दें वह वैसा हो जाता है 'द्वितीय तुल्ययोगिता अलंकार' है। (वीर)।

२ "भरद्वाज सादर सुनहु" इति। (क) इस ग्रंथमें जहाँ भक्ति और ज्ञानकांडका मेल होता है वहाँ श्रीशिव-पार्वतीका और जहाँ भक्ति और कर्मका मेल होता है वहाँ भुशुण्डि-गरुड़-संवादका प्रसंग लगाया गया है। यहाँ कर्मकी प्रधानता दिखानी है। अतएव याज्ञवल्क्य-भरद्वाजका प्रसंग लगाया गया। (प्रोफ० दीनजी)। (ख) भरद्वाज मुनिको सावधान करनेका एक कारण यह कहा जाता है कि 'नारदजीके शिष्य वाल्मीकिजी हैं और वाल्मीकिजीके भरद्वाज। तात्पर्य कि याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि तुम्हारे दादा गुरुकी कथा कहता हूँ, उन्हें भी मोह हुआ था, सो सावधान होकर सुनो।'

टिप्पणी—२ "कहौं राम गुन गाथ···" इति। ☞ याज्ञवल्क्यजी भरद्वाज मुनिसे कहते हैं कि 'राम गुण गाथा' सुनो और 'श्रीरामजीको भजो'—यह उपदेश दे रहे हैं। इस उपदेशमें गोस्वामीजी स्वयं भी सम्मिलित हो जाते हैं—'भजु तुलसी तजि मान मद।' अर्थात् यह उपदेश वे अपने ऊपर अपने लिये भी मान लेते हैं (मानों) याज्ञवल्क्यजी यह उपदेश उन्हें भी कर रहे हैं कि 'हे तुलसी! मान मद छोड़कर श्रीरघुनाथजीका भजन कर जिसमें तेरा भी भव भंजन हो, भव छूटे, क्योंकि श्रीरघुनाथजी भवभंजन हैं।'

३ "भजु तुलसी तजि मान मद" इति। ☞ मोह, मान और मद ये सब भजनके बाधक हैं। मान-मदमें भजन नहीं बनता, इसीसे इनको त्यागकर भजन करनेको कहते हैं। यथा 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना। ४.१५।' तात्पर्य कि मोह मद मान नारद ऐसे महात्माओंको भी दूषित कर देते हैं (जैसा आगे कथामें दिखायेंगे); अतएव इनसे सदा डरते तथा दूर रहना चाहिए।

वि० त्रि०—गोसाईंजी अपने मनको सावधान करते हैं कि तू मान मद छोड़कर भजन कर। भाव कि भजन करनेमें भी तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं है, उसकी कृपासे ही तुम भजन करते हो, अतः भजनका श्रेय तुम्हें कुछ नहीं, इसलिये मान मद छोड़नेको कहते हैं।

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि ॥१॥

आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा ॥२॥

शब्दार्थ—गुहा = गुफा। वह अँधेरा गड्ढा जो पर्वतके नीचे बहुत दूर तक चला गया हो। कन्दरा। यथा 'कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरि गुहा गंभीरा।१५७.७।' देवरिषि (देवर्षि) = नारदमुनि।

अर्थ—हिमालयपर्वतमें एक अत्यंत पवित्र गुफा है जिसके समीप सुन्दर गंगाजी बह रही हैं ॥१॥ परम पवित्र सुन्दर आश्रम देखकर देवर्षि नारदजीके मनको वह अत्यंत भाया ॥२॥

☞ नारदमोह प्रसंगकी कथा शिवपुराण द्वितीय रुद्रसंहिता अध्याय २ से २० में जो दी है उससे मानसमें दी हुई कथा बहुत मिलती-जुलती है। अतः मिलानके श्लोक बराबर यहाँसे हम देते जा रहे हैं। यथा "हिमशैलगुहा काचिदेका परमशोभना। यत्समीपे सुरनदी सदा वहति वेगतः ॥ २ ॥ तत्राश्रमो महादिव्यो नाना शोभा समन्वितः। तपोर्थं स ययौ नारदो दिव्यदर्शनः ॥ ३ ॥" मानसके 'अति पावनि', 'सुहावनि', 'परम पुनीत सुहावा' के स्थानपर उसमें क्रमशः 'परम शोभना', 'वेगतः' और 'महा दिव्यो नाना शोभा समन्वितः' हैं।

टिप्पणी—१ "हिमगिरि गुहा···" इति। (क) 'अति पावनि' का कारण आगे कहते हैं कि 'बह समीप सुरसरी सुहावनि'। (ख) 'अति पावनि' का भाव कि हिमाचलकी सभी गुफायें स्वयं पवित्र हैं, उसपर भी यहाँ परम सुहावनी गंगाजी समीप बह रही हैं। इनके संबंधसे वह 'अति पावनी' हो गई है। ('सुहावनी' से जनाया कि धारा खूब वेगसे बह रही है)।

२ 'आश्रम परम पुनीत सुहावा।'''' इति। (क) सुहावन पावन स्थानमें संत भजन करते ही हैं—यथा 'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन। १.४४।', 'सुचि सुंदर आश्रमु निरखि हरषे राजिवनैन। २।१२४।', 'पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन। १.२९०।', 'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ। ३।१३।', तथा यहाँ 'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा'। (ख) आश्रममें गंगा और गुहा दोनों हैं, इसीसे आश्रममें इन दोनोंके गुण कहे, 'परम पुनीत' भी है और 'सुहावना' भी। ['सुहावा' से नाना शोभा समन्वित और 'परम पुनीत' से महा दिव्य जनाया] (ग) 'देवरिषि मन अति भावा' इति। आश्रम परम पावन और परम सुहावन है, अतएव 'अति' भाया। पुनः भाव कि सुरसरिकी समीपता देखकर मनको भाया क्योंकि ये देवर्षि हैं और गंगाजी सुर (देव) सरि हैं। इसीसे मनको भानेमें 'देवरिषि' नाम दिया। ['देवरिषि' नाम यहाँ दिया है। क्योंकि पहले गंगाका 'सुरसरी' देवनदी नाम दिया है। यहाँ देवसरि हैं अतएव देवसंबंधसे 'देवर्षि' को भाया ही चाहे। पुनः 'अति भावा' का भाव कि परम पुनीत होनेसे भाया (अच्छा लगा) और 'परम सुहावन' भी होनेसे 'अति भावा'। आश्रम पवित्र होनेका लक्षण यह है कि वहाँ पहुँचते ही स्वतः आनंद उत्पन्न हो जाता है। (मा० पी० प्र० सं०)]

निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भएउ रमापति पद अनुरागा ॥३॥

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी ॥४॥

शब्दार्थ - निरखि = देखकर। विभाग = पृथक्-पृथक् भाग वा अंश।१.१११.२ में देखिए। बाधना = बाधा या रुकावट डालना=रोकना। गति = चाल, राह, दशा, अवस्था। श्राप गति बाधी = शापकी राह वा चाल रुक गई; शापके प्रमाणित होनेमें रुकावट पड़ गई।

अर्थ—शैल, नदी और वनके भाग (अलग-अलग) देख उनको रमापतिके चरणोंमें अनुराग हुआ ॥ ३ ॥ भगवान्‌का स्मरण करते ही शापकी गति नष्ट हो गई। मनके स्वाभाविक ही निर्मल होनेसे समाधि लग गई ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'निरखि सैल रमापति''''' इति। नारायणावतारके (वा, जिस कल्पमें क्षीरशायी श्रीनारायणको शाप हुआ उस) कल्पकी कथा कहना चाहते हैं, इसीसे 'रमापति पद' में अनुराग होना कहा। पुनः गंगाजीको देखकर गंगाजनककी सुध आ गई कि ये भगवान् रमापतिके चरणसे उत्पन्न हुई हैं। यह स्मरण होते ही श्रीरमापतिपदमें अनुराग हुआ। (प्रकृतिकी शान्त शोभा देखकर मन भी शान्त हो जाता है, वनकी श्री देखकर उसके रचयिता श्रीपतिके चरणोंमें अनुराग होता है। वि० त्रि०)।

नोट—१ यहाँ उपासकोंकी रीति और उनका स्वभाव भी दिखा रहे हैं। पादोदक देख भगवान्‌के पदकमलका स्मरण हुआ, भक्तिरसका उद्दीपन हुआ। वे अनुरागमें मग्न होगए। यथा "रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज। होत मगन बारिधि बिरह'''। २।२२०।' भरतजी और सभी समाज यमुनाजीका केवल श्यामरंग देख मग्न हो गए थे। पुनः, यथा 'देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे। २।२०४।' त्रिवेणीजीमें यमुनाजलका रंग देख श्रीरामचन्द्रजीका और गंगाजीका जल देख श्रीसीता-जी और लक्ष्मणजीका स्मरण हो उठा जिससे विरहाग्नि बहुत भड़क उठी।

टिप्पणी—२ एक बार देखना प्रथम कह चुके हैं, यथा 'देखि देवरिषि मन अति भावा'। अब यहाँ पुनः देखना लिखते हैं—'निरखि सैल'''''। इससे यह पाया जाता है कि यह 'सरि' गंगाजीसे पृथक् और दूसरी सरि है। 'शैल सरि' से पर्वतकी उस नदीसे तात्पर्य है जो झरनोंसे पैदा होती है।

नोट—२ तपके लिये घोर वन, भोजनके लिये फल फूल वाले वृक्ष भी जिसमें बहुतायतसे मिल

सकते हों और स्नान-पानके लिये नदीका जल इन सब बातोंका यहाँ सुपास था जो भजनकेलिये आवश्यक हैं। एकान्त रमणीय स्थान देख भक्तोंको भजन सूझता है और विषयी लोगोंमें उससे कामोद्दीपन होता है। 'विभाग' पद देकर सूचित किया कि शैल, सरि, बन सबकी शोभा पृथक्-पृथक् देखी। 'शैल सरि बिपिन बिभाग' पर वाल्मीकि आश्रमका वर्णन देखिए। यथा "राम दीख मुनि बासु सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन॥ सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥ खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥ सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिव नयन।..."

३—श्रीवैजनाथजी यह शंका उठाकर कि "क्या नारदजी पहले स्मरण न करते थे? क्या उनको पहले अनुराग न था?" उसका समाधान यह करते हैं कि "पहले स्मरणमें सदा देह-व्यवहारकी सुध बनी रहती थी, इस समय देहकी सुधबुध न रहगई, आत्मदृष्टि तदाकार होगई, निर्विकल्प समाधि लग गई।"

☞ उपदेश—भगवद्भजन एकान्त सुंदर और पवित्र आश्रममें करना चाहिए। भगवद्भजनसे बड़ी-बड़ी बाधाएँ नष्ट होजाती हैं। अतएव भगवद्भजनका नियम प्रारंभ कर दीजिए।

टिप्पणी—३ "सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी" इति। (क) दक्ष प्रजापतिके शापकी गति बाधित हुई। [अर्थात् दक्षने जो शाप दिया था कि तुम एक जगह स्थिर न रह सकोगे, घूमते ही तुम्हारा समय बीतेगा, हरिस्मरणसे वह शाप या यों कहिये कि शापका प्रभाव नष्ट हो गया, उनकी गति रुक गई। (☞ यहाँ यह बताते हैं कि प्रेमसे जो हरिका स्मरण करता है, शाप उसका कुछ नहीं कर सकता)]। उनका तन स्थिर हो गया और मन भी स्थिर हो गया।

नोट—४ विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि पहिले 'काल' की एक कन्या दुर्भगा नामकी पतिकी खोजमें सर्वत्र फिरी; पर उसे किसीने न स्वीकार किया। निदान एक समय नारदमुनिको पृथ्वीपर देख उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी जानकर भी उसने उनसे कहा कि तुम मेरे पति बनो। नारदमुनिने इसे स्वीकार न किया। तब उसने उन्हें यह शाप दिया कि तुम किसी स्थानमें बहुत देर न रह सकोगे'।

यह कथा कहाँकी है, इसका प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। दक्षप्रजापतिके शापकी कथा भा० ६।५ में है। उनके पुत्रोंको बहकाया इसीपर उन्होंने शाप दे दिया; यथा "चुक्रोध नारदायासौ पुत्रशोकविमूर्च्छितः। देवर्षिमुपलभ्याह रोषाद्विस्फुरिताधरः॥ ३५॥ अहो असाधो साधूनां साधुलिङ्गेन नस्त्वया। असाध्वकार्यर्भकाणां भिक्षोर्मार्गः प्रदर्शितः॥ ३६॥...कृतवानसि दुर्मर्षं विप्रियं तव मर्षितम्॥ ४२॥ तन्तुकृन्तन यन्नस्त्वमभद्रमचरः पुनः। तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्॥ ४३॥" अर्थात् दक्ष पुत्रशोकसे मूर्छित होकर नारदजी पर अत्यन्त कुपित हुआ, क्रोधमें उसके होंठ फड़कने लगे॥ ३५॥ रे दुष्ट! ऊपरसे साधु-वेष धारण करने वाले तूने मेरे साथ बहुत बुरा बर्ताव किया जो मेरे स्वधर्मपरायण पुत्रोंको भिक्षुकोंके मार्गका उपदेश दिया॥ ३६॥...तूने जो पहले असह्य अप्रिय किया था उसे मैंने सह लिया॥ ४२॥ हे सन्तानविनाशक! तूने फिर मेरा अप्रिय किया। इसलिये मैं शाप देता हूँ कि सम्पूर्णलोकोंमें विचरते हुये तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा॥४३॥

टिप्पणी—४ (क) "सहज बिमल मन" अर्थात् मन विषयासक्त नहीं है। विषयही मल है। यथा 'काई बिषय मुकुर मन लागी', 'मन मलिन बिषय संग लागे' (वि० ८२)। (ख) 'सहज बिमल मन लागि समाधी' का भाव कि समाधि निर्मल मनके अधीन है। यथा "मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतयास्थितिः। असंप्रज्ञात नामासौ समाधिरभिधीयते॥" (सहज=स्वाभाविक अर्थात् तप आदि उपायोंसे निर्मल बनाया हुआ नहीं, किन्तु जन्मसे ही स्वच्छ है)।

वि० त्रि०—'सुमिरत हरिहि...' इति। अर्थात् भगवन्नामजप और उसके अर्थकी भावना आरंभ हुई। इससे प्रत्यक् चेतनका अधिगम हुआ और अन्तरायका अभाव हुआ।—'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च। यो० सू०।'

मुनि गति देखि सुरेस डेराना। कामहि बोलि कीन्ह सनमाना ॥५॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू ॥६॥

अर्थ—नारदमुनिकी यह दशा एवं सामर्थ्य देख इन्द्र डर गया। उसने कामदेवको बुलवाकर उसका बड़ा आदर-सत्कार किया॥५॥ (फिर कहा कि) हमारे लिये तुम अपने सहायकों सहित जाओ। (यह सुन) मीनध्वज कामदेव मनमें हर्षित होकर चला॥६॥

टिप्पणी—१ 'मुनि गति देखि सुरेस डेराना।…' इति। (क) दक्षके शापकी गति बाधित हुई। यह मुनिकी गति, यह मुनिका सामर्थ्य देख इन्द्र डरा कि इन्होंने अपने भजनके प्रतापसे दक्षप्रजापतिका शाप दूर कर दिया तब हमारा लोक ले लेना इनको कौन मुशकिल (कठिन) है, (यह इनके लिये कौन बड़ी बात है? यह तो इनके बाएँ हाथका खेल है)। (ख) 'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना' इति। [राजा यदि किसी सेवकको अपनी ओरसे बुलाकर उसका सम्मान करे तो समझ लेना चाहिये कि बड़ा कठिन कार्य आ उपस्थित हुआ है, हमारे प्राणों ही पर आ बनने की सम्भावना है। (प्रोफ़० लाला भगवानदीन जी)। जब किसीसे कोई काम निकालना होता है तब आदर-सत्कार करनेकी रीतिही है, विशेषतः शत्रु पर लड़ाई करनेके लिये सुभटोंकी प्रशंसा और उनका सम्मान करनेकी चाल है)। वीरोंका आदर-सम्मान करके उनको युद्धमें भेजा जाता है। यथा "देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने॥ भाइहु लावहु धोख जनि आजु काज बड़ मोहि। सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहिं॥ २।१६१॥" पुनश्च यथा कुमारसम्भवे—"अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये। व्यादिश्यते भूधर तामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनायशेषः। ३।१३।" अर्थात् जैसे भगवान्‌ने शेषमें पृथिवी धारण करनेकी शक्ति देख अपने शरीरको धारण करनेकी आज्ञा दी, वैसे ही तुम्हारा पराक्रम जानकर अपना भारी काम देकर तुम्हारा सम्मान करता हूँ। स्मरण रहे कि शिवजीकी समाधि छुड़ानेमें उसके प्राण पर आ बीतेगी, यह जानकर उस प्रसंगमें बड़ी स्तुति उसकी की थी और यहाँ तो उसे बुला भेजा है और आज्ञा दी है।

२—[(क) 'सहित सहाय जाहु' का भाव कि मुनिका भारी महत्व देखकर कामदेवको अकेले भेजनेका साहस न हुआ, उसे विश्वास नहीं है कि वह हमारे काममें अकेले सफल हो सकेगा। इसीसे 'सहाय सहित' जानेकी आज्ञा दी] (ख) 'मम हेतू' अर्थात् हमारे लिये, हमारे हितार्थ। भाव कि नारदभजन भंग करनेसे हमारा हित होगा, हमारा लोक बचेगा, हमारा इन्द्र-पद रक्षित रहेगा। (ग) "चलेउ हरषि हिय" इति। 'हरषि' एक तो इसलिये कि यह स्वामीकी आज्ञा है कि हमारे कार्यके लिये जाओ, उनका यह खास काम है। स्वामीका कार्य करनेमें हर्ष होना ही चाहिए। दूसरे, हर्ष यह सोच-कर भी हुआ कि (देवर्षि नारदकी समाधि छुड़ानेसे मेरा और भी अधिक यश और सम्मान होगा, मेरेलिये उनकी समाधि छुड़ाना कौन बड़ी बात है) मैं जाते ही समाधि छुड़ा दूँगा। (उसे सहजही सफलता प्राप्त करनेका अभिमान है, विश्वास है। अतः हर्षित होकर चला)। तीसरे, वह चलते समय सेना लेकर चला है (यह आगे चलकर वक्ता स्पष्ट कह रहे हैं), अपनी वह सेना देखकर हर्षित हुआ। यथा "देखि सहाय मदन हरषाना।१२६।६।', "सेन बिलोकि राउ हरषाना।१।१५४।" (पुनः मुनियोंके भजनमें बाधा डालनेसे इसे हर्ष होता ही है, यह इसका स्वभाव है। अतः 'चलेउ हरषि' कहा)। (घ) ["हिय"—हृदयमें प्रसन्नता है। ऊपरसे अपना हर्ष प्रकट नहीं करता, क्योंकि उससे अभिमान जान पड़ता, काममें सफलता न होनेपर लज्जित होना पड़ा] (ङ) "जलचर केतू" इति। अर्थात् जिसकी पताकापर 'जलचर' (मीनका चिह्न) है। पताका रथके ऊपर होता है। अतः 'जलचर केतू' कहकर सूचित किया कि रथपर चढ़कर चला। यदि रथपर चढ़कर न चला होता तो पताकाके वर्णन करनेका कोई प्रयोजन न था। (पताका रथका एक अंग है, यथा "सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका। ६।७६।", "रथ सारथिन्ह बिचित्र

बनाए। ध्वज पताक मनि भूषन लाए। १।२६६।", 'रथ बिभंजि हति केतु पताका। ७।६१।" विशेष भाव "कोपेउ जबहिं बारिचर केतू" १।८४।६ में देखिए।

सुनासीर मन महुँ असि[1] त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥ ७॥

जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—'सुनासीर' (शुनासीर)=इन्द्रका एक नाम। लोलुप=लोभवश चंचल; लोभी।

अर्थ—इन्द्रके मनमें ऐसा। (अर्थात् यह) डर हुआ कि देवर्षि नारद हमारे नगर (अमरावती पुरी) में निवास (अर्थात् अपना दखल अधिकार जमाना) चाहते हैं॥ ७॥ संसारमें जो लोग कामी और लोभी हैं, वे कुटिल कौएकी तरह सबसे डरते (शंकित रहते) हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ "सुनासीर मन महुँ असि त्रासा' इति। (क) कामदेवके चले जानेपर ऐसा कहकर जनाते हैं कि कामको भेजनेपर भी इन्द्रको शान्ति नहीं प्राप्त हुई। देवर्षिका भारी सामर्थ्य देखकर उन्हें विश्वास नहीं होता कि कामदेव नारदजीके मनमें विकार उत्पन्न कर सकेगा। अतएव वह चिन्ताग्रस्त है। इसीसे पुनः सोचने लगा। (अथवा, यह कह सकते हैं कि पहले केवल डर कहकर उसे कामदेवके बुलानेका कारण बताया और अब बताते हैं कि इन्द्रको क्या डर था। यह भाव 'असि' से सूचित होता है)। (कुचालके कारण यहाँ सीधा-सीधा नाम न देकर शुनासीर रूढ़ी नाम दिया। अत्यन्त डर एवं देवर्षिका बड़ा भारी सामर्थ्य दिखानेके लिये पहले 'सुरेश' कहा था। रुद्रसंहितामें भी 'शुनासीर' ही नाम आया है)। (ख) 'मन महुँ' का भाव कि वह अपना त्रास वचन और कर्मसे किसी पर प्रकट नहीं होने देता। मनही मन संतप्त हो रहा है। बचनसे किसीसे कहता नहीं और उपाय कुछ चलता (या सूझता भी) नहीं; इस तरह मन, वचन और कर्म तीनोंसे त्रास दिखाया।

प० प० प्र०—'सुनासीर' नाम सहेतुक है। 'सुष्ठुनासीरं सेनामुखं यस्य सः सुनासीरः' (अमर व्याख्या सुधा)। भाव कि सुरेशके पास देवोंकी (३३ करोड़) अच्छी सेना है तो भी वह एक निष्काम ब्रह्मलोकनिवासी निर्मोह हरिभक्तको डर गया। भला ब्रह्मलोकवासी स्वर्गकी इच्छा क्यों करेगा! पर सुरेशके मनमें ऐसा विचार आया कि यदि वे मेरी अमरावती आदि लेनेका विचार रेंगे तो मेरे पास देवोंकी बड़ी अच्छी सेना है (इनके बलपर मैं उन्हें सफल मनोरथ न होने दूँगा)। इसीसे सुरपतिको कुटिल काक समान कहा और आगे कुत्तेके समान कादर, निर्लज्ज आदि कहते हैं।

टिप्पणी—२ "चहत देवरिषि···" इति। [क्या त्रास है वह इस चरणमें बताया। 'देवरिषि' शब्द देकर सूचित करते हैं कि यह विचार उसके मनमें कैसे उठा कि नारदजी सुरलोक (का आधिपत्य) चाहते हैं। 'चहत देवरिषि' में भाव यह है कि अभी तो देवर्षिही हैं] तप करके देवर्षि हुये, अब देवराज होना चाहते हैं, (इसीसे इन्होंने समाधि लगाई है, नहीं तो अब इन्हें और क्या चाहिये था। (पुनः, मम पुरबासा' का भाव कि उनका बसना ही मेरे प्रभुत्वके लोपका कारण होगा। वे देवर्षि हैं, अतः उनका वैसा ही सम्मान करना पड़ेगा, उनकी आज्ञाके वशवर्ती होना पड़ेगा। दूसरेके आज्ञावशवर्त्ती हुए तब इन्द्र किस बातके रह जायँगे। वि० त्रि०)। 'नारदजी इन्द्रलोककी प्राप्तिकी वासनासे भजन नहीं कर रहे हैं तब इन्द्रको ऐसा भय क्यों प्राप्त हुआ इस सम्भावित शंकाका समाधान आगे करते हैं कि 'जे कामी···'।

---

१ 'असि' पाठ १६६१ में है अतः इस संस्करणमें हमने यही पाठ रक्खा है। रा० प० काशिराजकी प्रतिकाभी यही पाठ है। अति—भा० दा०, कोदो राम, मा० पी० प्र० सं०। 'अति त्रासा' का भाव कि इन्द्र तो सभी तपस्वियोंसे भयभीत रहता है, सभीका तप देखकर वह शंकित हृदय हो जाता है और नारद एक तो देवर्षि, दूसरे उनका प्रताप प्रत्यक्षही देखा जा रहा है कि 'शाप गति बाधी', अतः 'अति त्रास' हुआ।

३ "जे कामी लोलुप···" इति । (क) यहाँ 'कामी' को काककी उपमा दी । मानस मुखबंदमें भी कामीको काक कहा है । यथा 'कामी काक बलाक बिचारे' । ३८।५ । 'इन्द्रकी रीति कौएकीसी है, यथा 'काक समान पाकरिपु रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती । ७।३०२ ।' इसीसे उसके लिये काककी उपमा दी । विशेष आगे दोहा १२५ में देखिए । [इन्द्रपद वैषयिक सुखकी पराकाष्ठा है । इसलिये कामी, लोलुप और कुटिल कहा । काककी उपमा देकर छली आदि जनाया । छली, यथा 'सहित सहाय जाहु मम हेतू' । मलीन, यथा 'चहत देवरिषि मम पुर बासा' । 'कतहुँ न प्रतीती', यथा 'मुनि गति देखि सुरेस डेराना । (वि० त्रि०)]

नोट—१ 'मुनि गति देखि··', से यहाँ तकके मिलते हुये श्लोक दूसरी रुद्रसंहितामें ये हैं—'चकंपेऽथ शुनासीरो मनस्सन्तापविह्वलः ।६। मनसातिविचिन्त्यासौ मुनिर्मे राज्यमिच्छति । तद्विघ्नकरणार्थं हि हरिर्यत्न-मियेष सः । ७ । सस्मार स स्मरं शक्रश्चेतसा देवनायकः । आजगाम द्रुतं कामस्समधोर्महिषी सुतः । ८ ।' मानसके 'सुनासीर', 'मन अति त्रासा', 'चहत देवरिषि मम पुर बासा' की जगह श्लोकमें क्रमशः 'शुनासीर', मनस्संतापविह्वलः', 'मुनिर्मे राज्यमिच्छति' पद आए हैं । चौ० ८ और दोहा २५ वक्ता (शिवजी) की आलो-चना है । मानसके 'कामहि बोलि कीन्ह सनमाना' की जगह 'सस्मार स स्मरं शक्रश्चेतसा देवनायकः ··' है ।

दोहा—सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज ।
छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज ॥ १२५ ॥

शब्दार्थ - हाड़ = हड्डी । स्वान (श्वान)=कुत्ता । मृगराज=पशुओंका राजा; सिंह ।

अर्थ - जैसे मूर्ख और दुष्ट कुत्ता सिंहको देखकर सूखी हड्डी लेकर भागे और जैसे वह मूर्ख यह समझता है कि कहीं सिंह उसे छीन न ले, वैसेही देवराज इन्द्रको (यह सोचते हुए कि देवर्षि मेरा राज्य छीन न लें) लज्जा नहीं लगी ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—१ यहाँ इन्द्रपुरीका राज्य एवं भोग सूखा 'हाड़' है, इन्द्र श्वान है, नारद मृगराज हैं । देवर्षि एक तो भगवान्‌के निष्काम भक्त हैं, फिर वे ब्रह्मलोकके निवासी हैं जहाँका सुख और ऐश्वर्य इन्द्रलोक-से अनन्तगुण अधिक है, तब वे भला इन्द्रपुरीके सुखकी इच्छा क्यों करने लगे ? यह इन्द्रको न समझ पड़ा । इसीसे उसे 'जड़' कहा—'छीनि लेइ जनि जान जड़' । इन्द्र सूखी हड्डीके समान भोगको लेकर भागा, इसीसे उसे निर्लज्ज कहा - 'तिमि सुरपतिहि न लाज' । और, महात्मासे अविश्वास और प्रतिकूल कर्म करनेसे 'सठ' कहा—'लै भाग सठ'। भगवान्‌के भजनके आगे इन्द्रपुरीका सुख सूखी हड्डीके समान है ।

२ इस प्रसंगमें इन्द्रको दो उपमायें दी गईं—'कुटिल काक इव' और 'सठ स्वान' । डरनेमें (एवं कुटिलतामें) काककी और (सूखा हाड़ लेकर) भागनेमें श्वानकी । भक्त लक्ष्मीके विलासको भी निषिद्ध समझते हैं । यथा 'रमा बिलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी । २।३२४ ।' इसीसे इन्द्रके ऐश्वर्यको 'सूख हाड़' की उपमा दी । श्वान सिंहके गुण और आहारको नहीं जानता और अपने 'सूखे हाड़' को बहुत (बड़ी न्यामत, भगवान्‌की अपूर्व देन) मानता है, इसीसे उसे 'जड़' कहा ।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'नारदजी समस्त संसार सुखको त्यागे हुये केवल एक मनरूपी मतवाले हाथीके मारनेवाले भगवद्दास हैं । उनको इन्द्रका राज्य क्या है ? अर्थात् संसार सुख सूखा 'हाड़' है, मन मतंग है और नारद सिंह हैं ।

पं० शुकदेवलालजी लिखते हैं कि जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको बहुत बड़ा पदार्थ समझता है; वैसे ही इन्द्र नारदकी (देवर्षि, भगवद्भक्त) पदवीके आगे अपने एक मन्वन्तरके राज्यको बड़ा पदार्थ मानता है ।

लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि देवेन्द्र किसीकी उत्कृष्टता नहीं सह सकते, इसी तरह नरेन्द्र भी । यह रजोगुणका स्वभाव है, खासियत है ।

नोट—२ इन्द्रको काक और श्वान दोनोंकी उपमायें अयोध्याकांडमें भी उसके शंकित हृदय, छली, कुटिल, मलिन, अविश्वासी और कपट-कुचालकी सीमा तथा पर-अकाज-प्रिय और स्वार्थी स्वभाव होनेमें दी गई हैं। यथा "कपट कुचालि सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥ काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥" "लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुवानू। २.३०२.१-८।" यही सब बातें दिखानेके लिये यहाँ ये दोनों उपमाएँ दी गईं। छल और कुमार्गकी वह सीमा है। अपना कार्य साधना, पराया काज बिगाड़ना यही उसको प्रिय है। यही दिखलाना था।

इस दोहेसे मिलते जुलते एवं उसपर प्रकाश डालनेवाले दो दोहे दोहावलीमें ये हैं—(१) "लखि गयंद लै चलत भजि स्वान सुखानो हाड़। गज गुन मोल अहार बल महिमा जान कि राड़॥ ३८०।" अर्थात् हाथीको देखकर कुत्ता सूखी हड्डी लेकर भाग चलता है कि कहीं वह उसके आहारको छीन न ले। क्या वह मूर्ख हाथीके गुण, मूल्य, आहार, बल और महिमाको जान सकता है? कदापि नहीं। (२) "कै निदरहु कै आदरहु सिंहहिं स्वान सियार। हरष बिषाद न केसरिहि कुंजर-गंजनिहार॥ ३८१।" अर्थात् सिंह तो हाथीका मस्तक विदीर्ण करके खानेवाला है, वह दूसरेका मारा हुआ (शिकार) तो छूता ही नहीं; तब भला वह सूखी हड्डीकी तरफ़ दृष्टि ही क्यों डालेगा?—ये सब भाव एवं और भी भाव दोहावलीके दोहोंसे मिलान करनेसे भली भाँति स्पष्ट हो जाते हैं। जैसे कि कुत्तेके आदर वा निरादरसे सिंहको हर्ष वा विषाद नहीं होता, उसी तरह इन्द्र एवं कामदेवके आदर अथवा निरादरसे नारदजीके मनमें हर्ष या विषादसूचक कोई भी विकार न उठा। यथा 'भएउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥' यहाँ उदाहरण अलंकार है।

महर्षि पाणिनीजीने श्वान, मघवान् (इन्द्र) और जवान इन तीनोंका (तद्धित प्रकरणसे भिन्न प्रकरणोंमें) एक सरीखा रूप प्रदर्शित करनेके लिये अपने प्रसिद्ध व्याकरण अष्टाध्यायीमें एक ही सूत्रमें तीनोंको लिखा है। यथा "श्व युवमघोनामतद्धिते। ६.४.१३३।"—यह सूत्र इस प्रकरणमें देनेका भाव ही यह है कि इन्द्र और युवानपुरुष दोनों प्रत्येक दशामें कुत्तेके समान ही हैं। [कामपरवशता एवं लोलुपतामें इनकी उपमा कुत्तेसे देना उचित ही है परन्तु अन्य अवस्थामें नहीं। इसी लिये महर्षि पाणिनिजीने "अतद्धिते" शब्द दिया है। पाणिनिके 'अतद्धिते' कहनेका भाव तद्धितप्रकरणके अतिरिक्त यह है कि जो जवान मनुष्य तत्-हिते अर्थात् तत् (ब्रह्म) की प्राप्तिके साधनमें लगा है उसकी गणना श्वान और इन्द्रकी समान कोटिमें नहीं करनी चाहिए। (वे० भू०)। लट्टायन संहितामें भी तीनोंको समान कहा है; यथा "समाः श्वयुववासवाः।" भर्तृहरिजीके "कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितम् निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्। सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥" (नीति शतक ६) अर्थात् कीड़ोंसे व्याप्त, लारसे भीगे, दुर्गन्ध, निन्दित, नीरस और मांस रहित मनुष्यकी हड्डीको निर्लज्ज कुत्ता प्रेमसे चबाता है तब अपने पास इन्द्रको भी खड़े देखकर शंका नहीं करता, वैसे ही नीच पुरुष जिस पदार्थको ग्रहण करता है उसकी निस्सारतापर ध्यान नहीं देता।—इस श्लोकके अनुसार दोहेका भाव यह निकलता है कि निर्लज्ज इन्द्र सूखी हड्डीके समान अपने राज्यको निस्सार नहीं समझता।

तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसंत निरमएऊ॥१॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहु रंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहि भृंगा॥२॥

शब्दार्थ—मदन = कामदेव। माया=संकल्प, शक्ति। निरमएउ=निर्माण किया; रचा; उत्पन्न किया। कुसुमित=पुष्पित; फूले हुये। कूजना (सं० कूजन) = बोलना; मधुर शब्द करना; कुहू कुहू करना। यथा 'कूजत पिक मानहु गज माते' ३.३८.५, "कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं।

२०

३.४०।', 'कूजहिं खग मृग नाना बृंदा । ७.२३।', 'बिमल सलिल सरसिज बहु रंगा । जल खग कूजत गुंजत भृंगा ।' 'गुंजना, गुंजरना' (सं० गुंज)=भौंरोंका भनभनाना; मधुर ध्वनि निकालना; गुनगुनाना, यथा 'मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा । ३.४०.१ ।'

अर्थ—जब कामदेव उस आश्रममें गया तब उसने अपनी मायासे वसन्तऋतुका निर्माण किया ॥१॥ नाना प्रकारके वृक्ष रंग बिरंगके फूलोंसे खिल उठे (लद गए)। कोयलें कुहू-कुहू कर रही हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥२।

नोट—१ कामदेवका प्रसंग 'चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू' १२५.६ पर छोड़ा था। बीचमें इन्द्रकी काक-श्वान-इव रीति वा स्वभावका वर्णन करने लगे थे। अब पुनः कामका वृत्तान्त कहते हैं।

२ यहाँ विघ्न करनेको जाते समय 'मदन' नाम दिया और अंतमें लौटते समय भी, अर्थात् प्रसंगके उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें यही नाम दिया गया है। यहाँ 'मदन जब गएऊ' और अंतमें 'गएउ मदन तब सहित सहाई ।१२७.२।' इस शब्दके प्रयोगमें गूढ़ भाव, आशय और चमत्कार है; वह यह कि यह जाता तो बड़े मदके साथ है—"चलेउ हरषि···", पर वहाँ इसकी दाल न गलेगी, इसका 'मद' 'न' रह जायगा। इसी प्रकार श्रीशिवजीकी समाधि छुटानेके प्रसंगमें कहा गया है। यथा 'रुद्रहि देखि मदन भय माना।··· मदन अनल लखा सही ॥ ८६ । देखि रसाल बिटप बर साखा । तेहि पर चढ़ेउ मदनु मन माखा ॥ ··· सौरव पल्लव मदन बिलोका ।'

टिप्पणी—१ "···जब गएऊ।···" इति। (क) जब आश्रममें गया तब वसन्त का निर्माण किया, इस कथनसे जनाया कि जब नारदजी उस आश्रममें गये थे तब वसन्त ऋतु न थी; क्योंकि यदि होती तो उसका वर्णन पूर्व ही किया गया होता। जब वे गए थे तब इतना ही कहा था कि 'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा' और जब कामदेव वहाँ पहुँचा तब भी वसन्त न था, इसने जाकर अपनी मायासे वसन्तऋतुका निर्माण किया। आगे वसन्तका रूप दिखाते हैं। [(ख) इन्द्रने कहा था कि 'सहित सहाय जाहु मम हेतू'। वह सहाय कौन है, यह यहाँ बताया। पाँच अर्धालियोंमें इसका वर्णन करके तब छठी अर्धालीमें कहा है कि 'देखि सहाय मदन हरषाना' अर्थात् यही इसके सहायक हैं] (ग) "कुसुमित बिबिध बिटप बहु रंगा"—विविध प्रकारके वृक्ष फूले हुए हैं, इसीसे बहुत रंगके हैं। (घ) 'कूजहिं कोकिल'—यह कोयलोंका कूजना कुहू-कुहू करना मुनिका ध्यान छुड़ानेके लिये है। कोकिलोंकी कूजसे ध्यानमें विक्षेप होता ही है; यथा 'कुहू-कुहू कोकिल···' (उपर्युक्त)। ये सब उद्दीपन हैं।

चली सुहावनि त्रिबिध बयारी । काम कृसानु बढ़ावनिहारी† ॥३॥
रंभादिक सुरनारि नबीना । सकल असमसर कला प्रबीना ॥४॥

शब्दार्थ—बयारी=पवन, वायु, हवा। रंभा—एक अप्सरा जो क्षीरसमुद्रसे मथकर प्रकट किये हुये चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न है। सुरनारि=देववधूटियाँ, अप्सरायें। नवीना=नवयौवना, नई उभरती हुई जवानीवाली। असम=विषम=पांच, तीण। असमसर=पंचबाण। विषमबाण=कामदेव। 'कला'—नृत्य, गान, हाव भाव कटाक्ष आदि शृङ्गारके जितने अंग हैं वेही 'कला' हैं। यथा "भावः कटाक्षहेतुश्च शृङ्गारे वीजमादिमम्। प्रेममानः प्रणेयश्च स्नेहो रागश्च संस्मृतः॥ अनुरागः स एव स्यादंकुरः पल्लवस्तथा। कलिका कुसुमानीति फलं

---

† जगावनिहारी—१७२१, १७६२। बढ़ावनिहारी-१६६१, छ०, को० राम, १७०४। शरीरमें काम यदि अल्पभी हो तो त्रिविध बयारि उसे बहुत कर देती है। 'जगावनिहारी'में भाव यह है कि जिनके मन कामकी ओरसे मर गए हैं उनको फिर जिला देती है। मुनियोंके मनमें काम पड़ा सो रहा था उसको जगा देती है।

भोगः स एव च ॥ ...' (सत्योपाख्यान । वै०) । विशेष "सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत । १।८६" में देखिये । प्रबीना (प्रवीण)=कुशल, निपुण, पूरी होशियार ।

अर्थ—कामाग्निको उकसाने उभाड़ने उत्तेजित करनेवाली सुहावनी, शीतल, मंद, सुगंधित) तीनों प्रकारकी वायु चलने लगी ॥ ३ ॥ रम्भा आदि नवयौवना (उठती जवानी वाली) अप्सराएँ जो समस्त कामकलाओंमें निपुण हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) "चली सुहावनि त्रिबिध बयारी" इति । पवन शीतल, मंद और सुगंधयुक्त त्रिविध प्रकारका है । यहाँ हवामें तीनों गुण हैं । गंगाजलके स्पर्शसे वह शीतल है, वनके वृक्षोंकी आड़से होकर आनेसे मन्द है और फूलोंके स्पर्शसे सुगंधित है । अथवा, स्वाभाविक ही शीतल, मंद और सुगंधित है । यह सब कामदेवकी माया से निर्मित हुए हैं, अतः बिना कारण स्वाभाविक ही त्रिविधगुणयुक्त होसकती है । (ख) "काम कृसानु बढ़ावनिहारी" इति । अर्थात् कामको प्रज्वलित कर देनेवाली है । कामदेवकी इच्छा है कि नारदमुनि कामासक्त हो जायँ, इसीसे कामदेवने कामाग्निको प्रज्वलित करनेवाली त्रिविध 'बयारि' चलाई । ('बयारि' कामकी दूतिनी भी कही गई है, यथा 'त्रिबिध बयारि बसीठी आई ।३।३८ ।') (ग) यहाँ तक नारदजीके मनमें क्षोभ उत्पन्न करनेके लिये उनको वनकी शोभा दिखाई । यथा 'लछिमनु देखु बिपिन कै सोभा । देखत केहि कर मन नहि छोभा ३।३७।३।', "जागइ मनोभव मुएँहुँ मन बन सुभगता न परै कही । १।८६ ।"

नोट—१ वनमें सब वृक्षोंमें सुगंधित पुष्प खिले हुए हैं । फूलोंकी सुगंधसे रक्तमें गर्मी पैदा होती है जिससे कामकी जागृति होती है, काम उत्पन्न हो जाता है । कोकिलकी कूज और भ्रमरोंकी गूँज इत्यादि शृङ्गाररसके उद्दीपन विभाव हैं जिनसे काम जाग उठता है । "त्रिबिध बयारि" को "काम कृसानु बढ़ावनि-हारी' विशेषण देकर जनाया कि यह कामकी सच्ची सहायक है । शीतल-मंद-सुगंधित पवन कामाग्निको विशेष प्रज्वलित करता है, इसीसे उसको कामका एक खास एवं सच्चा सखा अन्यत्र कहा गया है । यथा "सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही । १।८६ ।" ☞ कामकी मायाका विस्तार क्रमसे हुआ है । प्रथम वनको शोभायुक्त बनाया गया । रंग-रंग-के नाना प्रकारके पुष्पोंसे लदे हुये अनेक प्रकारके वृक्ष, कोयलोंकी कूज और भ्रमरोंकी गूँज यह सब वनकी सुभगता है जिससे काम जागृत हो । तत्पश्चात् 'त्रिबिध बयारि' का निर्माण कहा गया जो जागे हुए कामको प्रज्वलित करदे । कामाग्निके प्रज्वलित होनेपर फिर उसे कामासक्त कर देती है । इसीसे आगे अप्सराओंका वर्णन है ।

२—यहाँ पवन, समीर, मारुत आदि शब्द न देकर 'बयारि' स्त्रीलिंग वाचक शब्दका देना भी साभिप्राय है । पवनादि पुल्लिंग हैं । पुरुषको देखकर पुरुष नहीं मोहित होता, स्त्रीको देखकर मोहित हो जाता है । अतएव स्त्रीलिंग शब्द देकर जनाया कि इसका (बयारिका) देहमें लगना ऐसाही है जैसे कोई स्त्री आलिंगन कर रही हो । स्त्रीका स्पर्श कामाग्निको बढ़ाता ही है । पवनसे अग्नि प्रज्वलित होता है अतः काममें अग्निका आरोप करनेसे 'सम अभेद रूपक अलंकार' है ।

३—भगवान् शंकरकी समाधि छुड़ानेको जब कामदेव गया था तब प्रथमसे ही उसके मनमें शंका थी । यथा "संभु बिरोध न कुसल मोहि ·· । ८३ । तदपि करब मैं काज तुम्हारा ।····चलत मार अस हृदय बिचारा । शिव बिरोध ध्रुव मरनु हमारा ।" इसीसे उसने वहाँ जानपर खेलकर अपना सारा प्रभाव दिखाया जिससे 'जागइ मनोभव मुएहुँ मन' । और यहाँ तो उसको विश्वास था कि मुनिकी समाधि मैं सहज ही छुड़ा दूँगा, इसलिये यहाँ पूर्ण प्रभाव नहीं दिखाया । दूसरे भगवान् शंकर ईश-कोटिमें हैं और नारदजी 'देवर्षि' ही हैं । इसलिये यहाँ 'बढ़ावनिहारी' ही कहा गया । अथवा, 'बयारी' हीके साथ 'बढ़ावनिहारी'

कहकर जनाया कि इसके पूर्व जिन सहायकोंका वर्णन किया गया है वे कामको जगानेवाले थे और यह उसे प्रज्वलित करनेवाली है।

टिप्पणी—२ 'रंभादिक सुरनारि···' इति। (क) यहाँ 'निज माया बसंत निरमएऊ' से लेकर 'काम कृसानु···' तक कामका बल कहा; अब उसका परम बल कहते हैं; यथा 'एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी। ३।३८।' (ख) [रंभाको आदि (आरंभ) में दिया क्योंकि यह चौदह रत्नोंमेंसे एक है। और 'आदि' शब्दसे उर्वशी, मेनका प्रभृति अप्सराओंका भी वहाँ होना जनाया] 'सुरनारि' से दिव्य और 'नबीना' से सुंदर एवं षोडशवर्षकी युवा अवस्थावाली सूचित किया। नवयौवना होनेमें सब कामकला लगती है; इसीसे 'नवीना' कहा। (पुनः भाव कि बच्चा पैदा होनेसे शरीरकी कान्ति जाती रहती है, यथा 'जननी जोबन बिटप कुठारी'; पर ये सदा नवयौवना ही बनी रहती हैं। अप्सराओंके सुंदर नृत्य, गान और हावभावसे तो कामको बड़ी सहायता मिलती है ही, यह तो नित्यही देखनेमें आता है, उसपर फिर देवाङ्गनाओंके रूप और गानका कहना ही क्या? इसीसे आगे इन्हें 'सहाय' और 'बल' कहते हैं)। (ग) 'असमसर-कला प्रबीना' कहकर जनाया कि इन्होंने नारदजीके समीप जाकर अपना सब कामकला-कौशल कर दिखाया, सब कलायें एक-एक करके उनके सामने कीं।

"असमसर-कला" इति।

प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्रकी पत्नी परम विदुषी श्रीशारदाने कामशास्त्र संबंधी प्रश्नोंसेही श्रीशंकराचार्यजीको निरुत्तर कर दिया, तब श्रीशंकराचार्यजीने समय लेकर अमरुक राजाके मृत शरीरमें प्रविष्ट हो उनकी रानियोंसे काम कलाओंका ज्ञान प्राप्त करके उत्तर दिया था। विदुषी भारतीके वे प्रश्न ये हैं—"कलाः कियत्यो वद पुष्पधन्वनः किमात्मिकाः किंच पदं समाश्रिताः। पूर्वे च पक्षे कथमन्यथास्थितिः कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे॥" अतः ज्ञात हुआ कि स्त्री और पुरुषके लिये भिन्न भिन्न रूपेण काम अपनी कलाओंका प्रयोग करता है। संभवतः कामने शिवजीके ऊपर पुरुष संबंधी कलाओंका ही प्रयोग किया होगा और उनमें भी जिनका संबंध श्रवणेन्द्रियसे ही रहा होगा। और 'रंभादिक सुर नारि नवीना। सकल असमसर-कला प्रबीना॥' अनेक सुर-नारियोंके साथ सम्पूर्ण कलाओंको प्रयोगरूपसे नारदको दिखलाया था। यहाँपर उनकी व्याख्या न करके केवल कुछ कलाओंका नाम मात्र दे दिया जाता है:

बाभ्रव्य ऋषिका मत है कि "आलिंगन, चुम्बन, नखच्छेद, दशनच्छेद, संवेशन, सीत्कृत, पुरुषायित, औपरिष्टानां, अष्टानामष्टधा विकल्पभेदादष्टावष्टकाः चतुःषष्टिरिति बाभ्रवीयाः॥" (कामसूत्र० २।४।४) आलिंगनादि आठों कलाओंमें प्रत्येकके आठ आठ भेद होनेसे कुल चौंसठ कलायें हुईं। परन्तु वात्स्यायन ऋषिका कहना है कि चौंसठ उपभेदमें देशभेदसे विभिन्नता भी है। जैसे 'पांचालिकी च चतुः षष्टिरपरा' 'मागधीरपरा च।' (वात्स्यायन सूत्र १।३।१७) तथा उपर्युक्त आलिंगनादिके अतिरिक्त चार मुख्य भेद और हैं तथा सबके बराबर उपभेद नहीं होते, जैसे सप्तपर्ण वृक्षके प्रत्येक पल्लवोंमें सात सातही पत्ते नहीं होते न्यूनाधिक भी होते हैं और पंचवर्णी बलिके सभी कोष्ठक पाँच रंगवालेही नहीं होते। न्यूनाधिक भी रंगोंका संमिश्रण होता है। यथा "विकल्प वर्गाणामष्टानां न्यूनाधिकत्वदर्शनात्–प्रहरणान, विरुत, पुरुषोपसृत, चित्ररतादीनामन्येषामपि वर्गाणामिह प्रवेशनात् प्रायोवादोऽयम्। यथा सप्तपर्णो वृक्षः पंचवर्णो बलिरिति वात्स्यायनः॥" (वा०सू० २।४।५)

मुख्यतः कामकलायें आलिंगनादि आठ ही हैं, यही बाभ्रव्य और वात्स्यायनादिके मतका निष्कर्ष है। वैसे तो 'सकल कला करि कोटि बिधि०।' के अनुसार एक एकके कोटियों (अनेकों) उपभेद हैं पर महर्षि वात्स्यायनके मतानुसार कुछ मोटे मोटे उपभेद ये हैं—

१—आलिंगनके आठ भेद-स्पृष्टकं१, विद्धकं२, उद्घृष्टकं३, पीड़ितकं४-इति–(वा० सू० २।४।६) लतावेष्टितकं५, वृक्षाधिरूढकं६; तिलतण्डुलकं७, क्षीरनीरकं ८–इति च॥" (वा० सू० २।४।१४)

२—चुम्बनके सोलह भेद—१ निमित्तक, २ स्फुरितक, ३ घट्टिक, ४ सम, ५ तिर्यक्, ६ उद्भ्रान्त, ७ द्यूत, ८ अवपीड़ितक, ६ अंचित, १० मृदु, ११ उत्तर, १२ प्रतिरोध, १३ चलित, १४ रागसंदीपक, १५ प्रतिबोधित और १६ समौष्ट। (वा० सू० ३।४। १-३२)

३—आठ प्रकारके नखच्छेद—आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल, रेखा, व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक और उत्पलपत्रक। (३।६।१-३२)

४—आठ प्रकारके दशनच्छेद-गूढ़क, उच्छूनक, बिन्दु, बिन्दुमाला, प्रवासमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक और बाराह चर्वित (३।५। १-१६)

५—संवेशनके ग्यारह भेद—उत्फुल्लक, जिम्भृत, उज्जिम्भृत, इन्द्राणिक, सपुटक, पीड़ितक, उत्पीड़ितक, प्रपीड़ितक, वेष्टितक, वाड़विक और भृगनक। (३।६।१-१६)

६—सीत्कृत के मन्द, चण्ड, उरुवेग और कल कूजित ये चार भेद हैं। (३।६।२०-२७)

७—पुरुषायित के श्रमित और प्रतियोगित दो भेद हैं। (३।८।१,२)

८—औपरिष्टक के निन्द, कष्टायित और विनिन्द ये तीन भेद हैं। (३।६।१-६)

६—प्रहरणनके सात भेद हैं—तिर्यक, पैष्टिक, चण्डित, स्वल्पित, अपहस्तक, प्रसृतक और मौष्ठक। (३।७।१-४)

१०—विरुतके आठ भेद हैं—हिंकार, स्तनित, कूजित, रुदित, सीत्कृत, दूत्कृत, फूत्कृत और प्रविरुत। ३।७।५—१७)

११—पुरुषोपसृप्त (पुरुषोपसृत ?) के मन्द, चाटु और अधिकृत तीन भेद हैं।

१२—चित्ररतके चालीस भेद हैं—वेणुदारित १, शूलाचितक २, कार्कटक ३, परावृतक ४, चित्रक ५, अवालम्बितक ६, धेनुक ७, पद्मक ८, शौन ६, ऐणेय १०, छागल ११, खराक्रान्त १२, मार्जारक १३, ललितक १४, व्याघ्रास्कन्दन १५, गजोपमर्दित १६, वाराहाघृष्टक १७, तुरगाधिरूढ़क १८, संघाटक १६, गोयूथिक २०, प्रेंखा २१, सरित ३२, उद्भुंग्नक २३, उरुस्फुटनक २४, फणिपाशक २५, स्थितक २६, हिण्डोलक २७, कौर्म २८, ऊर्ध्वंगतोरुयुग २६, पारिवर्तित ३०, समुद्र ३१, परिवर्तनक ३२, पत्रयुग्मक ३३, वैपरीतक ३४, हुलक ३५, चटकविलसित ३६, भ्रमरक ३७, प्रेंखोलित ३८, अवमर्दनक ३६, और उपसृप ४०।

अश्लीलता एवं अनुभव हीनता के कारण उपर्युक्त कला-भेदों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। वात्स्यायन महर्षिका तो कहना है कि-'न शास्त्रमस्तीत्यनेन प्रयोगो हि समीक्ष्यते। शास्त्रार्थान् व्यापिनि विद्यात् प्रयोगांस्त्वेकदेशिकान्॥'(७।६।१५)। समस्त विषय लिखना शास्त्रका महत्व है; परन्तु उसका करनेवाला प्रत्येक नहीं होना चाहिये। (वे० भू० जीसे खोज कराकर लिख दिया है)।

करहिं गान बहु तान तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिँ पानि पतंगा॥५॥

शब्दार्थ—तान तरंग=अलापचारी; लयकी लहर। तान="गानेका एक अंग। अनुलोम विलोम गतिसे गमन। अनेक विभाग करके सुरका खींचना; आलाप। संगीत दामोदरके मतसे स्वरोंसे उत्पन्न तान उनचास (४६) हैं। इन ४६ से आठहजार तीन सौ कूट तान निकलते हैं।" (श० सा०)। तरंग=स्वरोंका चढ़ाव उतार—"बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधर्व-किन्नर लाजहीं।", 'करहिं···तान तरंगा' अर्थात् राग आलापको रुक-रुककर बढ़ाती हैं जिससे उसमें लहर उठे जिसे 'उपज' कहते हैं। क्रीड़ा-केलि, आमोदप्रमोद, कल्लोल, खेल कूद। पतंग=गेंद, कंदुक। यथा "योऽसौ त्वया करसरोजहत: पतङ्गोदिक्षु भ्रमन्भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे। भा० ५।२।१४।" अर्थात् तुम जो अपने करकमलोंसे थपकी मारकर इस कंदुकको उछाल रही हो सो यह दिशा-विदिशाओंमें जाता हुआ मेरे नेत्रोंको चंचल कर रहा है। विशेष भावार्थ नोटमें देखिए।

अर्थ—(वे नवयौवना अप्सराएँ बहुत आलापकारीके साथ) गान कर रही हैं, बहुत तानके तरंग

(उपज मूर्छना आदि) लेती हैं। हाथोंमें गेंद लिये हुये बहुत प्रकारसे उससे क्रीड़ा कर रही हैं (उसे थपकी देती और उछालती हैं)॥ ५॥

※ "बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा" ※

'पतंग'—इस शब्दके अनेक अर्थ हैं। किसीने इसका अर्थ 'गुड्डी', 'कनकौआ', किसीने 'चिनगारी' किसीने 'अरुण' और किसीने 'गेंद' किया है और उसी अर्थके योगसे "बहु बिधि क्रीड़हिं पानि पतंगा।" के भाव यों कहे हैं—(१) हाव भाव सहित मदनानंद-वर्द्धक क्रीड़ाएँ करती हैं। भाव बतानेमें हाथ ऐसे चंचल चलते हैं जैसे पवनके वश पतंग आकाशमें उड़ता है। हाथोंको पतंगकी तरह अनेक प्रकारसे (हाव-भाव दर्शानेके निमित्त) चलाती थीं—(रा० प्र०)। विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि "तानोंकी उपजके साथ मनमें जो तरंगें उठती थीं उसीके अनुसार हावभावको हाथोंके द्वारा दर्शाती थीं; [जैसा सत्योपाख्यानमें कहा है—"यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः। यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥ १॥ अंगेनालंब यद् गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्। चक्षुर्भ्याम्भावमित्याहुः पादाभ्यां तालनिर्णयः॥२॥" अर्थात् (नाचनेगानेके समय जो शरीरकी व्यवस्था हो जाती है सो यों है; जिस ओर हाथ रहे उसी ओर दृष्टि रहती है और जहाँपर दृष्टि रहे वहींपर मन लगा रहे। जहाँ मन हो वहीं भाव दर्शाया जावे और जहाँ भाव दर्शाया गया हो वहीं रस उत्पन्न होता है॥ १॥ जिस गीतको मुखसे अलापे उसका अर्थ हाथोंके इशारेसे जतावे, नेत्रोंसे भाव प्रगट करे और पावोंसे ताल सूचित करता जावे॥ २॥" (वैजनाथजी)] वे 'पतंग' का अर्थ 'गुड्डी' करते हैं।

२—अलापचारीके साथ भाव दर्शानेमें इतनी फुर्तीसे हाथ चलते हैं, जैसे अग्निसे चिनगारी शीघ्र निकलती है।—(रा० प्र०), वा, जैसे हाथमें चिनगारी होनेसे हाथ शीघ्र चलते हैं, बदलते रहते हैं वैसे ये पैंतरे बदलती हैं।

३—गुलाबी, जैसे अरुणोदयका रंग वैसे, हाथों से क्रीड़ा करती हैं—(रा० प० प०, बाबू श्यामसुन्दरदास)।

४—हाथों से थपकी देकर गेंद उछालती हैं—(पंजाबीजी, श्रीगुरुसहायलाल, प्रोफे० दीनजी, शुकदेवलालजी)।

५—पतंग का अर्थ सूर्य्य करके यह अर्थ करते हैं कि 'सूर्य्य की ओर हाथ उठाकर क्रीड़ा करती हैं। ऐसा करके अपने अंगों को दिखाती हैं जिससे मनमें विक्षेप हो।

☞ श्रीमद्भागवत में राजा अग्नीध्रजीके पास पूर्वचित्ति अप्सराका जाकर क्रीड़ा करना जहाँ (स्कंध ५ अ० २ में) वर्णित है वहाँ अप्सराकी एक क्रीड़ा यह भी वर्णन की गई है। राजा ने अप्सरासे कहा कि "तुम अपने करकंज से गेंद को थपकी दे देकर उछालती हो, जहाँ जहाँ वह जाता है वहीं वहीं मेरी दृष्टि जाती है, जिससे मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं"। यहभी कामकी एक कला है। पुनः, स्कंध ३ अ० २० श्लोक ३६ में भी यह शब्द ऐसे ही प्रसंग पर गेंद के अर्थ में आया है, यथा "नैकत्रते जयति शालिनि पादपद्मं घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम्। मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखा समूहः।" अर्थात् हे प्रशंसा करने योग्य रूपवाली! तुम्हारे चरण-कमल एक जगह नहीं रहते, क्योंकि तुम गेंद उछालती हो और जब वह पृथ्वी पर गिरता है तब फिर दौड़कर थपकी मारती हो…।

नवयौवना सुन्दर स्त्रियों का गेंद क्रीड़ा करना बहुत ठौर पाया जाता है, यथा भागवते स्कंध ३ अ० २२ श्लोक १७—"यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रि शोभां विक्रीडतीं कन्दुक विह्वलाक्षीम्। विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमानाद्विलोक्य संमोहविमूढचेताः॥" अर्थात् हे महाराज! आपकी यह सुन्दरी कन्या एक बार महल के ऊपर कंदुक क्रीड़ा कर रही थी, विश्वावसु इसकी अपूर्व शोभा देख मोहित हुआ…।

अस्तु। यहाँ यही अर्थ और यही भावार्थ जो उपर्युक्त श्लोकों में पाया जाता है, पूर्ण संगत और ठीक प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवतके उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि 'पाणि पतङ्ग क्रीड़ा' से भी देवता एवं ऋषियोंके मन मोहित हो गए। और यहाँ श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अप्सराएँ देवाङ्गनाएँ तान तरङ्गके साथ गान भी कर रही हैं और गेंदकी क्रीड़ा भी कर रही हैं। यह सब मुनिकी समाधि छुड़ानेके लिये ही किया गया। यथा 'सुर सुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना।१।६१।','बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधर्व किन्नर लाजहीं (गी० ७।१६)

देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना॥ ६॥
काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥ ७॥
सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥ ८॥

शब्दार्थ—प्रपंच = माया, रचना। जैसे कि भीनी-भीनी बूँदोंकी जलवर्षा, पुष्पबाणोंकी वर्षा, इत्यादि कामवर्द्धक क्रियायें, छल, आडंबर। कामकला = मोहन, आकर्षण, उच्चाटन और वशीकरण आदिके उपाय। ऊपर चौ० ४ में देखिये। व्यापना = असर करना; लगना; प्रभाव डालना; आकर्षित करना। मनोभव = कामदेव। सीम (सीमा)=हद; सरहद; मर्यादा। यथा "हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै" (वि० १३७)। चाँपना = दबा लेना, यथा "तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह। गी० २।४६।६।" बड़ = सबल, सबसे बड़ा, समर्थ, श्रेष्ठ।

टिप्पणी—१ "देखि सहाय···" इति। (क) इन्द्रकी आज्ञा थी कि 'सहित सहाय जाहु मम हेतू'; अब यहाँ आकर बताते हैं कि वे 'सहाय' कौन हैं। पाँच अर्धालियोंमें जिनका वर्णन किया गया यही वे सहायक हैं जिन्हें वह साथ लाया। (इनको सहायक इस विचारसे कहा कि वे सब कामोद्दीपन करते हैं)। ऊपर चौ० १-४ देखिये। कामकी सेनाका वर्णन अरण्यकांडमें "सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल। ३७।" से लेकर "एहि कें एक परम बल नारी। तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी। ३८।१२।" तक है। (ख) 'हरषाना'। हर्षित हुआ कि अब कार्य सफल हुआ, देर नहीं, सब ठाटबाट ठीक बन गया, अब नारद बच नहीं सकते, शीघ्रही हमारे जालमें फँसते हैं, कामासक्त होने ही चाहते हैं। अथवा सहायकोंकी सुन्दरता देखकर प्रसन्न हुआ। (ग) यहाँ तक सहायकोंकी कलाका वर्णन हुआ। आगे अब उसने स्वयं अपना अनेक प्रकारका प्रपंच रचा। जैसे कि सुमनसर अर्थात् कामबाणका चलाना, इत्यादि। यथा "सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत। चली न अचल समाधि सिव कोपेउ हृदय निकेत। १।८६। देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदनु मन माखा॥ सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि श्रवन लगि ताने॥ छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥" नाना विधिके प्रपंच शृङ्गाररसके ग्रन्थोंमें लिखे हैं। (घ) 'कीन्हेसि पुनि' का भाव कि एक बार प्रपंच कर चुका है, यथा "तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ। निज माया बसंत निरमएऊ॥', अब पुनः करने लगा। (अथवा, प्रथम सहायक सेनाको देखकर हर्ष हुआ, पर यह देखकर कि सहायकोंकी एक भी कलाने अभीतक कुछ भी असर नहीं किया, उसने फिर स्वयं प्रपंच रचे। वि०त्रि० का मत है कि वायुके झोंकेसे अप्सराओंके अंचल आदिका हट जाना इत्यादि प्रकारके प्रपंच किये।)

२—"काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी···" इति। (क) 'सकल असमसर कला प्रबीना' रम्भादि अप्सराओंने अपनी समस्त कलाएँ कीं और फिर कामदेवने स्वयं भी अनेक प्रपंच रचे, फिर भी 'कामकला' न व्यापी, यह कहकर "प्रपंच" का अर्थ यहाँ कामकला स्पष्ट कर दिया। (ख) "निज भय डरेउ" का

भाव कि नारदजीकी ओरसे भय नहीं है। (भाव यह कि मुनिने तो किंचित् भी प्रतिकारात्मक क्रूरदृष्टि उसकी ओर नहीं की, परन्तु इसने उनसे द्रोह किया है, इसीसे वह स्वयं भयभीत हो रहा है। यथा 'परद्रोही की होहिं निसंका ।७।११२।२।' इसीसे 'डरेउ' के साथ 'पापी' और 'निज भय' शब्द दिये। पापी सदा अपने पापके कारण डरता ही रहता है। रावण ऐसा महाप्रतापी भी श्रीसीताहरण करके "चला उताइल त्रास न थोरी' ३।२६, तब कामदेवका डरना तो स्वाभाविक ही है कि मैंने उनके देखते-देखते अपराध किया है, कहीं शाप न देदें; यद्यपि उसका भय निर्मूल साबित हुआ)। (ग) 'मनोभव' का भाव कि काम मनसे उत्पन्न होता है और नारदजीका मन सहजही विमल है, इसीसे कामकी कलाएँ उनको न व्यापीं। (घ) "पापी" इति। जब कामने शिवजीपर चढ़ाई की और सब लोकोंको व्याकुल कर दिया तब उसको 'पापी' न कहा था और यहाँ 'पापी' विशेषण देते हैं। कारण कि इन्द्रने दुष्टभावसे कामको देवर्षि नारदपर चढ़ाई करनेको भेजा था, यथा "सुनासीर मन महुँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा।"; इसीसे वक्ताओंने इन्द्रको 'शठ', 'श्वान' 'जड़', 'काक' और निर्लज्ज आदि कहकर उसकी निंदा की और उसके सहायक कामदेवकीभी निंदा की। दुष्टके संगसे तथा दुष्ट कर्म करनेसे निंदा होती है। जब श्रीशिवजीपर इसने चढ़ाई की थी तब उसमें सबका उपकार था और उसमें ब्रह्मा आदि सभीका सम्मत था; इसीसे तब निंदा न की थी। पुनः, इतनाही नहीं वरंच भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसेभी स्वयं शंकरजीने हामी भर ली थी कि पार्वतीजीको जाकर व्याह लावेंगे फिर भी अखण्ड समाधि लगा बैठे थे। यथा 'जाइ बिवाहहु सैलजहि यह मोहि माँगे देहु ।७६। कह शिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं।। सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परमु धरमु यह नाथ हमारा ।।....अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी ।।", "मनु थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना।। १.८२।", "सिव समाधि बैठे सबु त्यागी। ८३.३।" अतएव वहाँ कामदेवका कार्य भगवत्‌इच्छाके अनुकूल था और 'राम रजाइ सीस सब हीं के' है; इसीसे ब्रह्मादि देवताओंने लोक हितार्थ वहाँ कामको भेजा था। वहाँपर परोपकार था, यह बात उसने स्वयं स्वीकार की है, यथा "पर हित लागि तजै जो देही। संतन संत प्रसंसहिं तेही। ८४.२"। ऐसे उच्च एवं शुद्ध विचारसे वह शंकरजीकी समाधि छुड़ाने गया था। वहाँ प्रशंसाहीका काम था और यहाँ उसने किंचित् भी न सोचा बिचारा। इन्द्रकी बातोंमें आकर घमंडमें हर्षसे फूला न समाया, भगवद्भक्तके भजनमें बाधा डालनेको तत्पर हो गया। अतएव यहाँ उसे 'पापी' कहा और वहाँ न कहा। पुनः, वहाँ तो उसने शिवजीको भी उनके परम धर्म 'अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी' के पालनमें सहायता की। अतः 'पापी' कैसे कह सकते थे ?]

३ "सीम कि चाँपि सकै कोउ...." इति। (क) मुनिके मनमें कामका प्रपंच न व्यापा, इससे पाया गया कि उनके मनकी वृत्ति 'सीमा' है। [यहाँ मनको सीमाकी उपमा दी। 'सीमा' का अर्थ है 'मर्याद; हद; मेंड़'। मनहीमें कामकी जागृति होती है, वहींसे कामकी प्रवृत्ति होती है, वहीं काम अपना बल प्रकट करता है। अतएव मनको वशमें कर लेना ही यहाँ पराई सीमाका दबा लेना कहा गया। जैसे कोई राजा, जमींदार या किसान दूसरेकी जमीन दाब लेते हैं वैसे ही काम दूसरेके मनपर पलमात्रमें दखल-अधिकार जमा लेता है। यथा "मुनिहिं मोह मन हाथ पराएँ। १.१३४।", "तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ। ३.३८।" विनयके पद १३७ के "जौं पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहां सरै। होइ न बाँको बार भगत को जौ कोउ कोटि उपाय करै ।।...हैं काकें द्वै सीस ईस के जो हठि जनकी सीम चरै। तुलसिदास रघुबीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै।।" इस उद्धरणसे इस चौपाईका भाव मिलता जुलता है। दोनोंहीमें 'सीमा' का दबाना कहा गया है। "सीम कि चांपि सकै" में काकोक्ति द्वारा उलटा अर्थ होना कि 'कोई नहीं दबा सकता' 'वक्रोक्ति अलंकार' है।] (ख) 'बड़ रखवार रमापति जासू' इति। ऊपर कह आए हैं कि 'निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भएउ रमापति

पद अनुरागा । १२५.३ ।' अर्थात् नारदजीके मनमें श्रीरमापतिपदमें अनुराग उत्पन्न होना कहा है। इसीसे यहाँ रक्षा करनेमें भी 'रमापति' को 'रखवार' कहा। (ग) रमापतिको रक्षक कहनेका भाव यह है कि जैसे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु रमाजीकी रखवाली (रक्षा) करते हैं, वैसे ही वे दासोंकी भी रक्षा करते हैं। ("कामने भगवान् शंकरकी समाधि तो छुड़ा दी और नारदजीकी समाधि न छुड़ा सका, यह कैसे माना जा सकता है ?" इस संभावित शंकाका समाधान यह अर्धाली करती है कि यहाँ नारदजीके साथ उनके रक्षक रमापति मौजूद हैं और वहाँ तो शिवजी भगवान्की आज्ञाका उल्लंघन ही कर बैठे थे, इससे वहाँ भगवान उनकी रक्षा क्यों करने लगे ? समाधि तुड़वाना और विवाह कराना तो भगवान्को स्वयं ही मंजूर था)।

नोट—शिवपुराण दूसरी रुद्रसंहिता अ० २ में मिलानके श्लोक ये हैं—"न बभूव मुनेश्चेतो विकृतं मुनिसत्तमाः । भ्रष्टो बभूव तद्गर्वो ""। १६। ईश्वरानुग्रहेणात्र न प्रभावः स्मरस्य हि । १७।"

दोहा—सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन१ ।
गहेसि जाइ मुनि चरन तब कहि सुठि आरत बैन२ ॥१२६॥

शब्दार्थ—हारि (सं०)=हार, पराजय, पराभव, शिकस्त। शत्रुके सम्मुख असफलता होना 'हारि' है। मैन (मयन)=मदन, कामदेव।

अर्थ—तब सहायकों सहित मनमें हार मान अत्यन्त भयभीत हो कामदेवने जाकर अत्यन्त आर्त्त वचन कहते हुये मुनिके चरण पकड़ लिये ॥१२६॥

टिप्पणी-१ पहले कामदेवका भयभीत होना कहा-'निज भय डरेउ मनोभव पापी'। अब सहायकोंका भी सभीत होना कहते हैं। उसने सहायकों सहित मुनिका अपराध किया है, इसीसे 'सहाय सहित' भयभीत है। (कामदेवको आदि और अन्त दोनोंमें कहा, क्योंकि प्रारंभमें इसीने 'निज माया बसंत निरमएऊ' और अन्तमें इसीने 'कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना')।

२ 'मानि हारि मन मैन' अर्थात् मनसे हार गया, 'कहि सुठि आरत बैन' अर्थात् अत्यन्त आर्त वचन बोला, जैसे कि 'त्राहि त्राहि दयाल मुनि नारद' इत्यादि और 'गहेसि जाइ मुनिचरन' अर्थात् हाथोंसे चरण पकड़े। इस प्रकार जनाया कि कामदेव मन-कर्म-वचन तीनोंसे नम्र हो गया है तभी तो वह तीनोंसे मुनिकी शरण हुआ।

३ (क) 'मानि हारि'-हार यहाँ तक मानी कि इन्द्रकी सभामें जाकर उसने अपनी हार कही। यथा 'मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभा जाइ सब बरनी।' (ख) 'गहेसि चरन'। सहायकों सहित चरण पकड़े। चरण पकड़ना, आर्त वचन बोलना, यह क्षमाप्रार्थनाकी मुद्रा है। सबका अपराध क्षमा कराना चाहता है, इससे सबको साथ लेकर गया।

भएउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा ॥१॥
नाइ चरन सिरु आयसु पाई। गएउ मदन तब सहित सहाई ॥२॥
मुनि सुसीलता आपनि करनी। सुरपति सभाँ जाइ सब बरनी ॥३॥
सुनि सबके मन अचरजु आवा। मुनिहि प्रसंसि हरिहि सिरु नावा ॥४॥

शब्दार्थ—परितोषा=समाधान संतुष्ट प्रसन्न वा खुश किया। 'सुशीलता'=सुन्दर स्वभाव; कोई कैसा ही अपराध करे उसपर रुष्ट न हो उसको क्षमा ही करना 'सुशीलता' है, यथा 'प्रभु तरुतर कपि डारपर ते

१ मयन २ बयन-१६६१। तब कहि सुठि आरत बयन-१६६१। कहि सुठि आरत मृदु बैन-१७०४, १७२१, १७६७, छ०।

किय आपु समान । तुलसी कहूँ न रामसे साहब सील निधान' । विशेष ७६ (५-६), १०५ (१) में देखिए ।

अर्थ—नारदजीके मनमें कुछ भी क्रोध न हुआ उन्होंने प्रिय वचन कहकर कामदेवको संतुष्ट किया ॥१॥ तब मुनिके चरणोंमें माथा नवा, उनकी आज्ञा पा, कामदेव सहायकों सहित चला गया ॥२॥ देवराज इन्द्रकी सभामें जाकर उसने मुनिकी सुशीलता और अपनी करतूत सब वर्णन की ॥३॥ यह सुनकर सबके मनमें आश्चर्य हुआ, (उन्होंने) मुनिकी बड़ाई करके भगवान्को मस्तक नवाया ॥४॥

टिप्पणी—१ 'भएउ न नारद मन कछु रोषा ।०' इति । (क) कामको जीते हैं इसीसे मनमें कुछ रोष न हुआ । क्रोधकी उत्पत्ति कामसे है, यथा 'संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता) । जहाँ काम ही नहीं है वहाँ क्रोध कैसे हो सके ? इसीसे दोनों जगह 'कछु' शब्द दिया । 'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी' पूर्व कहा, अतः यहाँ भी 'भएउ न नारद मन कछु रोषा' कहा । काम, 'कुछ' न व्यापा, अतः रोष भी 'कुछ' न हुआ । (ख) पुनः भाव कि कामकी उपस्थितिमें, उसकी प्राप्तिमें (अर्थात् जब कामासक्त हो जानेका पूरा सामान प्राप्त था तब भी) काम उत्पन्न न हुआ और क्रोधकी प्राप्तिमें (अर्थात् अपराध करनेपर क्रोध हो जाता है उसके होते हुए) भी क्रोध न हुआ, इसका कारण ऊपर कह आए 'सीम कि चाँपि सकै···।' अर्थात् भगवान्के रक्षक होनेसे ही न काम हुआ न क्रोध । (ग) 'कहि प्रिय बचन०' । भाव कि प्रियवचन कहे विना कामदेवको संतोष न होता इसीसे प्रिय वचन कहकर उसे अभय किया । 'परितोष' इस तरह कि तुम्हारा दोष क्या, तुम तो सुरपतिकी आज्ञासे आए, स्वामीकी आज्ञा पालन करना धर्म है । (ब्रह्माने इसीलिये तुम्हारी सृष्टि की है, सनातन सृष्टि तुम्हारे आधारसे चल रही है, तुमने अपना कर्तव्य पालन किया । मैं अप्रसन्न नहीं हूँ । इस तरह उसका संतोष किया । वि० त्रि०) । प्रिय=जो कामदेवको अच्छे लगे एवं कोमल मीठे । (घ) ☞जैसे काम मनवचनकर्मसे नम्र हुआ, वैसेही नारदजी मन कर्म वचनसे शीतल रहे । 'भएउ न नारद मन कछु रोषा' यह मन है, 'कहि प्रिय बचन' यह वचन है और 'काम परितोषा' यह कर्म है । (दिलासा देनेमें शिर वा पीठपर हाथ प्रायः रखते हैं, यह कर्म है)

२ (क) पूर्व कह आए हैं कि 'सहज बिमल मन लागि समाधी' और यहाँ लिखते हैं कि 'कामकला कछु मुनिहिं न ब्यापी' । जब कामकला कुछ व्यापी नहीं तब समाधि कैसे छूटी ? यदि समाधिका उपराम नहीं हुआ तो परितोष कैसे किया ? समाधि छूटनेपर ही तो कामको समझाया ? इन संभावित शंकाओंका समाधान यह है कि समाधि दो प्रकारकी है, एक संप्रज्ञात दूसरी असंप्रज्ञात । यहाँ संप्रज्ञात समाधि है (जिसमें चैतन्य रहकर सब कौतुक देखते हुये भी मन भगवान्के अनुरागमें परिपूर्ण रहता है, ध्येयहीका रूप प्रत्यक्ष रहता है, यथा 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही ॥ बिनु मन तन दुखसुख सुधि केही । अ० २७५।') ।‡ जब कामदेव चरणोंपर आकर गिरा तब परितोष करने लगे । (ख) भगवान्को अभिमान नहीं भाता । देखिए जब कामदेवको अभिमान हुआ कि नारद हमारे सामने क्या हैं तब भगवान्ने उसे हरा दिया और जब नारदको अभिमान हुआ तब नारदको हरा दिया ।

३ (क) "नाइ चरन सिर आयसु पाई ।"—जब कामदेव आया था तब उसने मुनिको प्रणाम न किया था—'तेहि आश्रमहि मदन जब गएऊ । निज माया बसंत निरमएऊ ॥' (यहाँ प्रणाम करना नहीं लिखा) । जब अपराध किया तब (एवं वह 'सब तरहसे समाधि छुड़ाने का प्रयत्न करके हार गया है, अतएव उनका

‡ असंप्रज्ञात समाधि वह है जिसमें प्राणवायुको ब्रह्मांडमें चढ़ा लेते हैं । इस समाधिमें शरीर जड़वत् हो जाता है । केवल बाहरी विषयोंकी कौन कहे, इसमें ज्ञाता ज्ञेयकी भी भावना लुप्त हो जाती है । इसीको 'जड़ समाधि' भी कहते हैं । "जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं । ४।१० ।' में जो कहा है यह भी इसका उदाहरण है ।

प्रभाव समझकर भयके मारे, अपराध क्षमा कराने तथा उनके क्रोधसे) बचनेके लिए 'गहेसि जाइ मुनि चरन' उनके चरण पकड़े। और, अब (जब पास जाने पर भी किंचित् क्रोध मुनिको न हुआ तब यह समझकर कि त्रैलोक्यमें इनके समान दूसरा नहीं है) इनको भारी महात्मा जानकर (एवं अपनी कृतज्ञता जनानेके लिए) चलते समय चरणोंमें शिर नवाकर और आज्ञा पाकर चला। (नोट—☞ यह शिष्टाचार है कि महात्माओं गुरुजनोंके समीप जाने और वहाँसे बिदा होनेपर उनको सादर प्रणाम किया जाता है।) भारी महात्मा समझा (यों भी कह सकते हैं कि कामदेवके हृदयमें मुनिके प्रिय वचनों इत्यादिका प्रभाव यहाँ दिखा रहे हैं। उनका सुशील स्वभाव इसके हृदयमें बिध गया है) इसीसे मुनिका माहात्म्य (महत्व) आगे इन्द्रकी सभामें कहेगा। कामक्रोध लोभको जीतनेवाला ईश्वरके समान है, यथा 'नारिनयनसर जाहि न लागा। घोरक्रोध-तम-निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥' (४।२१ सुग्रीवोक्ति)। अतः इनको ईश्वर समान समझा। (ख) 'गएउ मदन तब सहित सहाई' इति। इन्द्रलोकसे 'सहाय सहित' चला था, अतः 'सहित सहाई' जाना भी कहा। ☞ आदिसे अंततक सब कार्य्य 'सहाय सहित' किए हैं। (१) इन्द्रलोकसे साथ चला,—"सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू"; (२) 'सहाय सहित' विघ्न किया,—"देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना"; (३) 'सहाय सहित मुनिके चरण पकड़े—'सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन। गहेसि जाइ मुनिचरन कहि०।' और (४) सहायकों सहित इंद्रलोकको गया। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि कामदेवकी स्वामिभक्ति दिखाना है। स्वामिभक्त है इसीसे स्वामीकी आज्ञाका स्वरूप प्रत्येक जगह दिखाई दे रहा है। आज्ञा थी कि 'सहित सहाय जाहु' अतः सब काम 'सहित सहाय' किये। 'सहित सहाय जाहु' उपक्रम है और 'गएउ''सहित सहाई' उपसंहार है। [नोट—कामको तो शिवजी भस्म कर चुके थे, वह अनंग है, तब यहाँ उसका जाना, चरण पकड़ना इत्यादि कैसे कहा गया ? इसका उत्तर 'कल्पभेद हरि चरित सुहाये' जान पड़ता है]

४ 'मुनि सुसीलता आपनि करनी।०' इति। (क) 'कहि प्रिय बचन काम परितोषा' यह सुशीलता कही। अपराध करनेपर भी क्रोध न करना 'शील' है और उसपर भी प्रसन्न होकर प्रिय वचन कहकर अपराधीका परितोष करना 'सुशीलता' है। (ख) (वसंतका निर्माण करना तथा) 'कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना' इत्यादि 'अपनी करनी' कही। (ग) 'सुरपति सभा जाइ सब बरनी'। अर्थात् सभाके बीचमें जहाँ सब देवता बैठे थे वहाँ जाकर सबके सामने कहा। 'सब बरनी' अर्थात् अपनी हार, चरणोंपर गिरना इत्यादि भी सब कहा, किंचित् संकोच कहनेमें न किया। निस्संकोच सब कह दिया क्योंकि देवता यथार्थ भाषण करते हैं (सत्यभाषी होते हैं, अतएव सब सत्यसत्य कह दिया)। (घ) अपनी करनी तो प्रथम है तब मुनिकी सुशीलता, पर यहाँ कही पहिले मुनिकी सुशीलता तब अपनी करनी ? कारण कि कामदेव मुनिकी सुशीलतासे संतुष्ट हुआ है। (नोट—कामदेवके हृदयपर सुशीलस्वभावका बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, इसीसे आते ही उसने प्रथम सुशीलता ही कही। प्रभावसे ऐसा विस्मित हो गया है कि अपनी न्यूनता भी कह डाली, उसे भी न छिपा सका।)

५ 'सुनि सबकें मन अचरजु आवा।०' इति। (क) कामक्रोधको जीतना आश्चर्य्य है, इसीसे 'अचरज आवा' कि जो 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें' सो भी मुनिका कुछ न कर सका। (ख) 'मुनिहि प्रसंसि'। प्रशंसा कि तीनों लोकोंमें जो कोई नहीं कर सका वह नारदने किया अर्थात् इन्होंने त्रैलोक्यको जीत लिया, यथा 'कान्ता कटाक्षविशिखा न खिदंति यस्य, चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः। कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशैर्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥ १०८॥' इति भर्तृहरिनीतिशतके। (अर्थात् वह धीर पुरुष तीनों लोकोंको जीतता है जिसके हृदयको स्त्रियोंके कटाक्षरूपी

बाण नहीं छेदते, जिसके चित्तको कोपरूपी अग्निकी आँच नहीं जलाती और न नाना प्रकारके विषयही लोभके फंदेमें फँसाकर खींचते हैं ।), क्यों न हो, ये भगवान्के बड़ेही प्रिय भक्त हैं, इत्यादि ।—[रुद्र-संहिता २।२ में केवल इंद्रका विस्मित होना और प्रशंसा करना कहा है । यथा 'विस्मितोभूत्सुराधीशः प्रशशंसाथ नारदम् । २४ ।'] (ग) 'हरिहि सिरु नावा'-प्रणाम करनेमें भाव कि यह सब आपकी कृपासे हुआ,—'यह गुन साधन ते नहिं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई' । धन्य हैं भक्तवत्सल भगवान् ! और धन्य हैं उनके ऐसे प्रिय भक्त!

नारद मुनि और शिवजी दोनोंके प्रसंगोंका मिलान ।

श्रीशिवजी ।	श्रीनारद मुनि ।
'सुरन्ह कही निज बिपति सब' ।	१ सुनासीर मन महँ अति त्रासा
'पठवहु काम जाइ शिव पाहीं' ।	२ सहित सहाय जाहु मम हेतू
'अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई' ।	३ चलेउ हरषि हिय जलचरकेतू
'अस्तुति सुरन्ह कीन्ह अति हेतू' ।	४ कामहि बोलि कीन्ह सनमाना
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा ।	५ निज माया बसंत निरमयऊ
कुसुमित नव तरुराजि बिराजा ।	६ कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंग
सीतल सुगंध सुमंद मारुत ।	७ चली सुहावनि त्रिबिध बयारी
मदन अनल सखा सही ।	८ काम कृसानु बढ़ावनि हारी
देखि रसाल बिटप बर साखा ।	९ देखि सहाय मदन हरषाना
रुद्रहिं देखि मदन भय माना ।	१० सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन
सकल कलाकरि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत ।	११ काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी

तब नारद गवने सिव पाहीं । जिता काम अहमिति मन माहीं ॥५॥
मार चरित संकरहि सुनाए । अति प्रिय जानि महेस सिखाए ॥६॥

शब्दार्थ—गवने=गए । अहमिति=अहं इति । 'मैं' (अर्थात् मैंने कामको जीत लिया, मेरे समान दूसरा नहीं, इत्यादि) ऐसा (अभिमान, अहंकार) ।=अहंकार ।

अर्थ—(जब कामदेव सहायकों सहित चला गया) तब नारदजी शिवजीके पास गए । कामको जीता है 'मैं' ने ऐसा (अहंकार) उनके मनमें है ।।५।। उन्होंने श्रीशंकरजीको 'मार'-चरित सुनाये । अपने परम प्रिय जानकर महादेवजीने उन्हें शिक्षा दी ।।६।।

टिप्पणी १—'तब नारद गवने सिव पाहीं ।०' इति । (क) कामदेवने इन्द्रकी सभामें कहा ही है । इन्द्रादि देवता सब नारदकी प्रशंसा कर रहे हैं । अतएव देवताओंके यहाँ विदित हो चुका, वहाँ जाकर कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं रहगया । ब्रह्मा विष्णु महेशको विदित नहीं है, उनसे प्रकट करना चाहते हैं । प्रथम शिवजीके पास गए क्योंकि शिव 'अहंकार' का स्वरूप वा अहंकार ही हैं—'अहंकार सिव' (लं०); और नारदको अहंकार है । अतः अहंकार पहले इनको अपने स्वरूपके पास ले गया । [अहंकार नारद जैसे देवर्षिको शिवजीके पास इसलिए लिये जा रहा है कि मानों शिवजीको एक दूसरे कामारि प्रतिद्वन्द्वीका दर्शन करा दे । (लमगोड़ाजी)] (ख) 'जिता काम अहमिति मन माहीं' अर्थात् कामको जीतनेका अहंकार है; इसीसे कामको जीतनेका समाचार कहने गये । [☞१ अहंकार है । इसका प्रमाण प्रत्यक्ष है कि कहाँ तो रमापतिपदानुरागमें मग्न बैठे थे और कहाँ अब सहसा उठकर चल दिये । बैठे न रहा गया तो

औरोंको जनाने चले। पुनः, पहुँचनेपर प्रणामादि कुछ नहीं किये, क्योंकि अब अपनेको उनसे भी अधिक समझते हैं—"कामको जीता है"। शत्रु को मरण स्वीकार होता है, प्रणत होना नहीं। काम तपस्वी लोगोंका शत्रु है, सो वह हार भी गया और मेरे सामने प्रणत भी हुआ। शिवजीने कामको भस्म कर दिया पर उसे प्रणत न कर सके। मेरा प्रभाव उनसे अधिक हो गया। (ग) अभीतक कामको जीतनेवाले केवल शंकरजी थे; अहंकारके कारण उनके ही पास प्रथम गए—यह जतानेको कि कुछ आपने ही नहीं जीता है, हमने भी जीता है। आपको तो क्रोध भी हुआ था, आपकी समाधि भी छूटी थी, हमें ये कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुए। इत्यादि।❀ (घ) 'गवने' (=गए) कहकर मुनिके मनमें अपनी जय प्रकट करनेकी अत्यंत उत्सुकता दिखाई। चले न कहा, पहुँचना कहा। इस तरह अहंकारका प्रभाव चालपर भी संकेत रूपमें दिखा दिया गया है जिसका आनन्द सिनेमा (Cinema) देखनेवाले ले सकते हैं] ☞नारदजीके द्वारा यह उपदेश भगवान् दे रहे हैं कि हमारी रक्षासे कामक्रोधादि जीते जाते हैं और बिना हमारी रक्षाके कामक्रोधके वशीभूत होना होता है।

२ 'मारचरित संकरहि सुनाए।०' इति। (क) महादेवजी कुशल न पूछने पाए (न और कोई शिष्टाचार हुआ) दृष्टि पड़ते ही कामचरित कहने लगे। जाते ही कामचरित न कहने लगे होते तो महादेवजी कुशल पूछते, बैठाते (जैसा क्षीरसागरमें जानेपर भगवान्‌ने किया है, यथा 'हरषि मिलेउ उठि कृपा निकेता। बैठे आसन रिषिहि समेता॥ बोले बिहँसि चराचरराया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया'। पुनः यथा 'करत दंडवत लिए उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ स्वागत पूँछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥ ३.४१।') (ख) 'संकरहिं सुनाए', यहाँ शंकर अर्थात् कल्याणकर्त्ताको सुनाना कहा। इसीसे शंकरजी इनके कल्याणकी बातें इनसे कहते हैं। (ग) 'अति प्रिय जानि महेस सिखाए' इति। सिखाया जिसमें इनकी दुर्दशा न हो। अति प्रियमें दोष देखे तो उसे उपदेश देना उचित है, यथा 'कुपथ निवारि सुपंथ चलावा'। ('अति प्रिय' होनेके ये कारण हैं कि आप परम भागवतोंमेंसे एक हैं। शंकरजीको भगवद्भक्त अति प्रिय हैं, उसपर भी ये तो नामजापक हैं इससे इनके अतिप्रिय होनेमें क्या सन्देह हो सकता है?—'नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि हरिहर प्रिय आपू'।)

☞नोट—१ गोस्वामीजीका काव्य कौशल, उनके शब्दोंकी आयोजना देखिए। कामदेवके अनेक नामोंमेंसे यहाँ 'मार' को ही चुनकर रक्खा है। क्यों न हो! नारदजी सदा 'राम' चरित गाया और सुनाया करते थे, यथा 'बारबार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत 'राम' के गावहिं॥''सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुनगानहिं॥ सनकादिक नारदहिं सराहहिं।'''७.४२।'; पुनश्च 'यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना॥ गावत 'राम' चरित मृदु बानी। प्रेमसहित बहु भाँति बखानी॥ ३.४१।' इत्यादि। शंकरजी भी 'राम' चरितके रसिक हैं; अगस्त्यजीके पास इसी सत्सङ्गके लिये जाया करते हैं—'रामकथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी'; भुशुण्डीके यहाँ मराल तन धर

❀ १ अहंकार यह भी हो सकता है कि श्रीशिवजी 'मोहिनी' स्वरूप देख कामको न रोक सके थे ब्रह्मा विष्णु भी कामजित नहीं कहे जा सकते, त्रिलोकमें हमारे समान कोई नहीं।' ब्रह्मा सरस्वतीके पीछे दौड़े थे, विष्णु लक्ष्मीको छोड़ नहीं सकते। क्रोध अवश्य जीता है। 'अहमिति मन माहीं' शब्दोंसे मुख्य भाव यही जान पड़ता है। इन वचनोंमें व्यंजनामूलक गूढ़ व्यंग्य है। प० प० प्र० इससे सहमत हैं।

२—श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि "किसीको अपूर्व वस्तु मिले तो उचित है कि वह उसे अपने मित्रको दिखावे। अथवा, जो विद्या किसीके पास होती है वह उस विद्याके आचार्यके पास जाकर अपने गुणोंको प्रकट करता है। श्रीशिवजी कामके जीतनेमें मुख्य हैं अतः उनके पास प्रथम गये।

कर सुनी, इत्यादि । सो उनको आज नारदमुनि 'राम' चरित न सुनाकर 'मार'-चरित सुनाते हैं । अहंकारने बुद्धि ऐसी पलट दी कि 'राम' का ठीक उलटा 'मार' आज उनके मुखसे गाया जा रहा है ।

२☞शिवपु० रु० सं० २.२ में मिलानके श्लोक ये हैं—"कामाज्जयं निजं मत्वा गर्वितोऽभून्मुनीश्वरः । २७ ।···तया संमोहितोऽतीव नारदो मुनिसत्तमः । कैलासं प्रययौ शीघ्रं स्ववृत्तं गदितुं मदी । २९ । रुद्रन्नत्वाब्रवीत्सर्वं स्ववृत्तङ्गर्ववान् मुनिः । मत्वात्मानं महात्मानं स्वप्रभुंचर स्मरञ्जयम् ।। ३० ।। तच्छ्रुत्वा शङ्करः प्राह नारदं भक्तवत्सलः ।···३१ ।" इसमेंके 'कामाज्जयं', 'निजं मत्वा गर्वितो', 'कैलासं प्रययौ शीघ्रं', 'ब्रवीत्सर्वं' । 'शंकरः प्राह नारदं भक्त वत्सलः', ये अंश मानसमें क्रमशः 'जिता काम', 'अहमिति मन माहीं', 'तब नारद गवने सिव पाहीं', 'सुनाए', और 'अतिप्रिय जानि महेस सिखाए' हैं । पर मानसका 'मारचरित' शिव पुराणके 'सर्वं स्ववृत्तंगर्ववान्' आदिसे कहीं अधिक उत्कृष्ट और भावगर्भित है । 'अतिप्रिय जानि महेस सिखाये' की जोड़में शि० पु० में शिवजीके वचन हैं "शास्म्यहं त्वां विशेषेण मम प्रियतमो भवान् । विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुगः । ३४ ।" अति प्रियमें यह भी भाव आ गया कि विष्णुभक्त होनेसे तुम मुझे अति प्रिय हो ।

बार बार बिनवौं मुनि तोही । जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।।७।।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु१ कबहूँ । चलेहु प्रसंग दुराएहु तबहूँ ।।८।।
दोहा—संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान ।
भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान ।।१२७।।

शब्दार्थ—प्रसंग = विषयका लगाव या संबंध, वार्ता; बात; प्रकरण । दुराना = छिपाना; गुप्त रखना; सुनी-अनसुनी कर जाना; टाल जाना ।

अर्थ—हे मुनि ! मैं आपसे बारंबार विनती करता हूँ कि जैसे आपने यह कथा मुझसे सुनाई है । । ७ ।। वैसे भगवान्‌को कदापि न सुनाइयेगा । (किन्तु उसका) प्रसंग चले भी तब भी छिपाइयेगा (प्रकट न कीजियेगा) ।। ८ ।। (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शंकरजीने तो हितोपदेश किया अर्थात् उनके हितकी शिक्षा दी, पर वह नारदजीको अच्छी न लगी । हे भरद्वाज ! हरिकी इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो ।। १२७ ।।

नोट—१ रुद्रसंहिता २.२. में मिलानके श्लोक ये हैं—"वाच्यमेवं न कुत्रापि हरेरग्रे विशेषतः । ३२ । पृच्छमानोऽपि न ब्रूयाः स्ववृत्तं मे यदुक्तवान् । गोप्यं गोप्यं सर्वथा हि नैव वाच्यं कदाचन । ३३ । शास्म्यहं त्वां विशेषेण मम प्रियतमो भवान् । विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोऽतीव मेऽनुगः । ३४ । नारदो न हितं मेने (शिव) मायाविमोहितः । ३५ ।" अर्थात्—(श्रीशिवजी कहते हैं—हे नारदजी !) 'जैसा यह समाचार आपने मुझसे कहा इस प्रकार अब कहीं भी न कहियेगा । विष्णु भगवान्‌के आगे तो पूछनेपर भी बिलकुल ही न कहियेगा, इसको गुप्त ही रखना, कभी भी न कहना । ३२,३३ । आप मुझको अत्यन्त प्रिय हैं इसलिये विशेषरूपसे आपको शिक्षण दे रहा हूँ, क्योंकि आप विष्णुभक्त हैं, जो उनका भक्त होता है वह विशेषरूपसे मेरे संमतिके अनुसार चलता है । ३४ ।' परन्तु भगवान्‌के मायासे मोहित होनेसे शिवजीका यह उपदेश नारदजीको अच्छा नहीं लगा । ३५ । ये सभी भाव प्रायः उपर्युक्त चौपाई और दोहेमें आ जाते हैं ।

टिप्पणी—१ 'बारबार बिनवौं मुनि तोही ।०' इति । (क) बड़े लोग प्रार्थना करके उपदेश देते हैं, यथा "बिनती करउँ जोरि कर रावन । सुनहु मान तजि मोर सिखावन ।५।२२।" इति हनुमन्तः (१); 'तात

१ सुनायहु—१७२१, को० राम० । सुनाएहु—छ० । सुनावहु—१६६१, १७०४, १७६२ ।

चरन गहि माँगउँ राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ अहित न होइ तुम्हार। ५।४०।" इति विभीषणः (२); 'औरौ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ कर जोरि। संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।' इति श्रीरामचन्द्रः (३); तथा यहाँ 'बारबार बिनवौं' (४)। (नोट—यद्यपि शिवजी बड़े हैं तो भी विनय करते हैं; क्योंकि यह बड़ोंका स्वभाव है कि वे छोटोंके कल्याणार्थ अपनी मानमर्यादा छोड़ विनय करके उनको समझाते हैं जिसमें वह उसे मान ले, धारण कर ले। (ख) 'बार बार' विनय करते हैं क्योंकि यह कथा भगवान्‌से अत्यन्त गुप्त रखने योग्य है। (ग) "तोही" भाषामें यह प्रेम और प्यारसूचक बोली है।)

२—'तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ' इति। तात्पर्य्य कि हमें सुनानेसे कुछ चिन्ता वा हर्ज नहीं है पर हरिको सुनानेसे तुम्हें दुःख होगा। शिवजी जानते हैं कि भगवान् जनका अभिमान नहीं रखते (अर्थात् नहीं रहने देते)। यथा 'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना। ७।६२।' (ख) 'चलेहु प्रसंग०' अर्थात् हमसे बिना प्रसंग चलेही यह कथा तुमने प्रकट की; पर वहाँ भगवान् अवश्य प्रसंग चलायेंगे तब भी इसे गुप्त रखना, उनसे कदापि इसकी चर्चा न चलाना।

वि० त्रि०—'जिमि' 'तिमि' का भाव कि सत्य कथा सुनानेमें कोई रोक नहीं, परन्तु सुनानेका ढंग ठीक नहीं है, इससे अभिमान टपकता है। अतः सिखाते हैं कि इस ढंगसे यह कथा हरिको कभी न सुनाना।

टिप्पणी—३ (क) 'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सोहान' इति। हित उपदेश है, तो भी उनको न अच्छा लगा, यह क्यों? इसलिए कि नारदजी यह समझे कि हमारी बड़ाई इनको नहीं सुहाई, इनके हृदयमें मत्सर है। ये नहीं चाहते कि दूसरा कोई कामविजयी प्रसिद्ध हो, ये हमारा उत्कर्ष नहीं सह सकते, (ख) 'भरद्वाज कौतुक सुनहु०' इति। यहाँ याज्ञवल्क्यजीकी उक्ति कही गई, क्योंकि 'तब नारद गवने सिव पाहीं' से लेकर 'संभुबचन मुनिमन नहिं भाए" तक शिवजीकी उक्ति नहीं कहते बनती। शंभुके वचन नारदको प्रिय न लगे, इसका कारण याज्ञवल्क्यजी 'हरि इच्छा' बताते हैं। अर्थात् शिवजीने हरिइच्छाके प्रतिकूल उपदेश दिया, इसीसे उनको अच्छा न लगा। हरिइच्छा परम बलवती है, यदि हरिइच्छा होती तो वचन सुहाते। (ग) 'बलवान'—शिवजीका भी उपदेश न लगने पाया इससे 'बलवान' कहा। बलवान् कहकर जनाया कि सबके ऊपर है। 'हरि इच्छा' का प्रमाण, यथा 'मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला। १३८।३।' पुनः भाव कि जब भक्तका कहा न माना तब हरिइच्छा हुई कि अब इनकी दुर्दशा करनी चाहिए।

☞ नोट—२ हितकी बात बुरी लगे तो जानना चाहिए कि उसे बिधाता वाम हैं, यथा 'हित पर बढ़े बिरोध जब अनहितपर अनुराग। राम बिमुख बिधि बाम गति सगुन अघाय अभाग'।

३—शंकरजीकी नम्रता और कल्याणकारक उपदेश विचारणीय हैं। परन्तु नारदजीमें अहंकारके कारण 'अपने मुख आपनि करनी' वाली प्रशंसाका दोष भी उत्पन्न हो चुका था। वे भला क्यों मानते? वे 'घमंड' और 'बक्की हास्यचरित्र' बन चुके थे। (श्रीलमगोड़ाजी)।

नोट—४ इस प्रसंगके आदिमें ही शिवजीने 'हरि इच्छा' का बीज बो दिया था। वहाँ जो कहा था कि "जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १२४।" उसीको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया है—"हरि इच्छा बलवान" और "राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।'''"। प्रथम तो अपनी कृपासे भगवान्‌ने नारदजीको ज्ञानियोंकी सीमा (ज्ञानिशिरोमणि) बनाया और अब उन्हें मूर्खों (कामियों क्रोधियों) की सीमा बनावेंगे (मा॰ पी॰ प्र॰ सं॰)।

"हरि-इच्छा" से यहाँ 'हरि-इच्छा-रूपी भावी' अभिप्रेत है। इसीको आगे चौपाईमें "राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई" कहा है। यह 'हरि इच्छारूपी भावी' अमिट है, यथा 'हरि इच्छा भावी बलवाना ।१।५६।६।' इसीको आगे "करै अन्यथा अस नहिं कोई" कहा है। 'कौतुक' शब्दसे वक्ता स्पष्ट करते हैं कि

भगवान् कुछ लीला करना चाहते हैं; यह 'कौतुक' (लीलाकी इच्छा) ही हरि इच्छा है। "कौतुक' शब्दसे हास्यका स्पष्ट संकेत है और 'हरि-इच्छा' शब्दसे प्रकट है कि "हास्यरस किसी नैतिक उद्देश्यसे ही प्रयुक्त किया जा रहा है जिसमें इच्छा सम्मिलित है"। 'हरि इच्छा भावी' और कर्मानुसार प्रारब्ध भोगवाली भावीका भेद १।५६।६ में लिखा जा चुका है।

४ जी० पी० श्रीवास्तवजीने ठीक कहा है कि यदि बहुतसे और सूत्र हास्यकलाकारोंने ढूँढ़ निकाले हैं फिर भी अरस्तू (Aristotle) के समयसे अबतक पतन (Degradation) ही हास्यका मुख्य कारण माना जाता है।—यहाँ नारदजीका पतन अहंकारके कारण है। लमगोड़ाजी अपनी पुस्तकके पृष्ठ २६ पर लिखते हैं कि श्रीवास्तव्यजीका यह कथन भी सत्य है कि हास्यरसका कुशल कलाकार हास्यको ठीक उस होशियार डाक्टरकी तरह प्रयुक्त करता है जो दोषको तनिक उभारकर उसे औषधि तथा किसी प्रयोग द्वारा बाहर निकाल देता है। इसीसे हास्यरस नैतिक सुधारका सहायक माना गया है। हां, तुलसीदासजीका कमाल यह है कि महाकाव्यकलामेंभी इसका सुन्दर प्रयोग कर दिया, नहीं तो मानों संसारमें यह धारणासी हो रही थी कि बिना लम्बा मुँह बनाए महाकाव्य लिखा ही नहीं जा सकता। इसीसे मिल्टन इत्यादिकी कला रूखीसूखी हैं।

गान्धीजीने ठीक कहा है कि ईश्वरीय शक्तियाँ हमारे द्वारा कला उसी समय प्रारंभ करती हैं जब हम अपने वैयक्तिक अहंकारको शून्य-गणनामें पहुँचा दें। सच है यह अहंकार ही है जो वैयक्तिक दोषोंको सुलाए रहता है।—नारदने जो तनिक कामपर विजय पाई तो अहंकार आ धमका। नारदने पहिले इन्द्र सभामें अपनी विजयका वर्णन किया (कामदेव द्वारा) वहाँ जो तारीफ हुई तो अहंकार और भड़क उठा। अब सीधे 'कामारि' महादेवजीके पास पहुँचे—'जिता काम अहमिति मन माहीं। (श्रीलमगोड़ाजी)

☞५—काम, क्रोध, लोभ और अहंकार इत्यादि भाई हैं। एक हार जाता है तो दूसरा लड़नेको पहुँचता है, इत्यादि। कामका पराजय हुआ तो अहंकारने आ दबाया। अब इनकी भली प्रकार दुर्दशा करायेगा।

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहि कोई ॥१॥
संभु बचन मुनि मन नहि भाए। तब बिरंचि के लोक सिधाए ॥२॥
एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन गान प्रबीना ॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुति-माथा ॥४॥

शब्दार्थ—अन्यथा=विरुद्ध, जैसा है उसका उलटा, औरका और, विपरीत। श्रीनिवास-लक्ष्मीजीमें रमण करनेवाले, श्रीके स्थान, जिनमें श्रीका निवास है, श्रीयुक्त, लक्ष्मीपति। वैजनाथजी इसका अर्थ 'लक्ष्मीजीका धाम (पितापक्षमें) क्षीर-सागरमें' ऐसा करते हैं। 'बर बीना'—"वीणावादन तत्त्वज्ञः श्रुतिजाति विशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥ इति याज्ञवल्क्यीये।" यह प्राचीनकालका एक प्रसिद्ध बाजा है जिसका प्रचार अबतक भारतके पुराने ढंगके गवैयोंमें है। इसमें बीचमें एक लंबा पोला दंड होता है, जिसके दोनों सिरोंपर दो बड़े बड़े तूँबे लगे होते हैं, और एक तूँबे से दूसरे तूँबे तक बीचके दंड परसे होते हुए, लोहेके तीन और पीतलके चार तार लगे रहते हैं। लोहेके तार पक्के और पीतलके कच्चे कहलाते हैं। इन सातों तारोंको कसने या ढीला करनेके लिए सात खूँटियाँ रहती हैं। इन्हीं तारोंको झनकार कर स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। भिन्न भिन्न देवताओं आदिके हाथमें रहनेवाली वीणाओंके नाम अलग अलग हैं। जैसे, महादेवके हाथकी वीणा लंबी, सरस्वतीके हाथकी कच्छपी, नारदके हाथकी महती इत्यादि।—(श० सा०)। श्रुतिमाथ=समस्त श्रुतियोंके मस्तक, पुरुषसूक्त। शिरोभाग अर्थात् जिसको श्रुतियोंने मुख्य

प्रतिपाद्य विषय माना है। यथा 'वेदानां प्रबला मंत्रास्तस्मादध्यात्मवादिनः। तस्माच्च पौरुषं सूक्तं न तस्माद्विद्यते परम्' ॥१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी जो करना चाहते हैं वही होगा। ऐसा कोई नहीं जो उसके विरुद्ध कर सके (वा, उनकी इच्छाको व्यर्थ कर सके) ॥१॥ श्रीशिवजीके वचन मुनिके मनको न अच्छे लगे तब वे ब्रह्मलोकको चल दिए ॥२॥ एक बार हाथमें श्रेष्ठ वीणा लिए हुए गानविद्यामें निपुण मुनिनाथ नारदजी हरिगुण गाते हुए क्षीरसागरको गए जहाँ वेदोंके मुख्यप्रतिपाद्य पूज्य श्रीनिवास भगवान् रहते हैं ॥३,४॥

टिप्पणी—१ (क) 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।०' अर्थात् श्रीरामजी कौतुक (लीला) करना चाहते हैं, शिवजी उनकी इस इच्छाको (नारदको उपदेश देकर) अन्यथा करना चाहते थे सो न कर सके, भगवान्‌की इच्छा ही हुई। ☞'हरि इच्छा बलवान' की इन दोनों चरणोंमें व्याख्या की है। 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई' यह हरिकी इच्छा कही और 'करै अन्यथा अस नहिं कोई' यह हरि इच्छाका बल कहा; यथा 'हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना ॥ १.५६.६।' (ख) 'संभु बचन मुनि मन नहिं भाए०' इति। हरि इच्छा बलवान् है इसीसे वचन न भाए। अतएव वहाँसे चल दिये। यह भी न पूछा कि आप मुझे चरचा करनेसे क्यों रोकते हैं? 'तब बिरंचिके लोक सिधाए' से जनाया कि बैठे नहीं, यदि शिवजी प्रशंसा करते तो बैठते। (ग) 'संभु दीन्ह उपदेश हित नहिं नारदहि सोहान' पर प्रसंग छोड़ा था (बीचमें वचन प्रिय न लगनेका कारण कहने लगे। अब पुनः वहींसे कहते हैं—'संभु बचन०।' (घ) 'तब बिरंचि के लोक सिधाए' इति। शिवजीसे कहकर अब ब्रह्माको अपना विजय विदित करनेको चले। [अथवा, ब्रह्मलोकमें रहते ही हैं, अतएव बात अच्छी न लगी तो अपने घर चल दिये। ब्रह्माजीको सुनाना न कहा, क्योंकि पितासे (कामचरित) कहना उचित न समझा, अयोग्य समझा। (मा० पी० प्र० सं०)] 'बिरंचि के लोक' कहनेका भाव कि ब्रह्मलोकमें सबसे कहा, ब्रह्माजीसे यह बात स्वयं न कह सकते थे क्योंकि वे पिता हैं, लोकमें सबको मालूम हो जानेसे उनके द्वारा वहाँ भी खबर पहुँच जायगी। यह उपाय रचकर अब क्षीरशायी भगवान्‌पर अपना पुरुषार्थ प्रगट करने जायेंगे।

२—'एक बार करतल बर बीना।०' इति। (क) 'एक बार' से जनाया कि कुछ दिनों बाद, कुछ काल बीतनेपर गए' तुरत नहीं गए। ब्रह्मलोक नारदका घर है अतः कुछ दिन घर रह गए। (ख) 'बर बीना' का भाव कि आप गानमें तथा वीणा बजानेमें प्रवीण हैं। ☞'गावत हरि गुनगान प्रबीना' अर्थात् हरिगुण ही गाते हैं अन्यथा (इसके अतिरिक्त और) कुछ नहीं गाते, यथा "यह बिचारि नारद कर बीना। गए जहाँ प्रभु सुख आसीना ॥ गावत रामचरित…। ३.४१।", 'गगनोपरि हरिगुनगन गाए। रुचिर बीर रस प्रभुमन भाए। ६.७०।', 'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन। गावन लागे राम कल कीरति सदा नवीन।७.५०।" तथा यहाँ 'गावत हरिगुन०'। (ग) जब शिवजीके यहाँ गए तब वीणा बजाना, हरिगुण गाना नहीं कहा और जब भगवान्‌के यहाँ चले तब गाते बजाते चले क्योंकि ये अपने इष्ट हैं, इष्टके मिलनेमें प्रेम है। (वा, ब्रह्मलोकमें कुछ दिन रह जानेसे अहंकार कुछ शान्त हो गया है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि इस समय जगत्‌में कोई ऐसा गायक नहीं है जो वीणापर गान कर सके। तानपूरापर ही गानेवाले कम हैं। पर नारद गानमें ऐसे प्रवीण हैं कि वीणापर गान करते हैं।)

३—'छीर सिंधु गवने मुनिनाथा।०' इति। 'छीरसिंधु गवने' का भाव कि जयविजय और जलंधर इन दो कल्पोंमें वैकुण्ठवासी विष्णुका अवतार कहा, अब नारायणके अवतारकी कथा कहते हैं। [या यों कहें कि जय-विजय रावण-कुंभकर्णवाले कल्पमें जय-विजयको शाप श्रीरामावतारका हेतु था, जलंधरवाले कल्पमें वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णुको वृन्दाका शाप श्रीरामावतारका हेतु था और नारद मोहवाले कल्पमें क्षीरसागरशायी भगवान् नारायणको शाप अवतारका हेतु होना था। जहाँ जिसके हेतुसे अवतार होता है, वहाँ उसकी कथा कही जाती है। इसीसे यहाँ नारदजीका क्षीरसागरमें श्रीमन्नारायण भगवान्‌के पास जाना

कहा गया । (यह भाव उनके मतानुसार होगा जो भगवान् विष्णु और श्रीमन्नारायणका 'रामावतार' लेना नहीं मानते)]

(ख) भगवान्के पास चले इसीसे 'मुनिनाथ' विशेषण दिया । क्योंकि जो भगवान्के पास पहुँचे (उनको प्राप्त हो) वही सबसे बड़ा है । (ग) 'जहँ बस श्रीनिवास' इति । श्रीनिवास = जिनमें लक्ष्मीजीका निवास है । तात्पर्य्य कि लक्ष्मीसहित जहाँ भगवान् निवास करते हैं । इसी अभिप्रायसे 'श्रीनिवास' कहा । (घ) 'श्रुतिमाथा' अर्थात् सब श्रुतियाँ जिनका कथन करती हैं । तात्पर्य्य कि जो सब वेदोंके तत्व हैं जिनको वेद निर्गुण सगुण वर्णन करते हैं, वही चतुर्भुज स्वरूप धारण करके क्षीरसिंधुमें बसते हैं. यह श्रुतिमाथका अभिप्राय है । [प्रमाण यथा 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः । संभूत षोडश कलमादौ लोकसिसृक्षया'—भा० १.३.१]

बाबा हरिदासजी—'श्रुतिमाथ' का भाव—'वेद जिसका माथा है । अर्थात् जो कोई श्रुतिमें विरोध करता है तो भगवान्का सिर दुखता है । नारदजी जगद्गुरु शिवजीकी शिक्षा त्यागकर यहाँ आए हैं (सो ये उनका) मानमर्दन करेंगे ।"

वि० त्रि०—उस सहस्रशीर्षा पुरुषका शिर वेद है, यथा भागवते 'छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति' । इस लिये उसे 'श्रुतिमाथ' कहा ।

हरषि मिलेउ[1] उठि रमानिकेता[2] । बैठे आसन रिषिहि समेता ॥५॥
बोले बिहसि चराचर राया । बहुते दिनन्ह[3] कीन्हि मुनि दाया ॥६॥

अर्थ—रमानिवास (लक्ष्मीपति) भगवान् श्रीमन्नारायण प्रसन्नतापूर्वक उठकर (उनसे) मिले और देवर्षि नारद सहित आसनपर बैठे ॥ ५ ॥ चराचरके स्वामी भगवान् हँसकर बोले—'हे मुनि ! (इस बार आपने) बहुत दिनोंमें कृपा की' ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ "हरषि मिलेउ···" इति । (क) हर्षपूर्वक मिलनेका भाव कि जैसे भगवान्के दर्शनसे, उनके मिलनेसे दास (भक्त) को हर्ष होता है, वैसे ही दासके दर्शनसे, उसके मिलनेसे भगवान्को हर्ष होता है । [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'इन्होंने काम-क्रोधको जीता है, इससे इनका आदर किया । अथवा, हर्षपूर्वक उठकर मिलनेमें गूढ़ भाव यह है कि इससे इनका अभिमान और बढ़ेगा, तब ये शंकरजीका उपदेश भूल जायेंगे और हमें कौतुक देखनेको मिलेगा ।" बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'भवसागर तरनेकी उपयोगिनी जो हमारी लीला है उसके प्रारंभमें सहायक हुये, यह जानकर हर्ष है ।' (रा० प्र०) । वस्तुतः प्रसन्नता पूर्वक उठकर मिलना शिष्टाचार है । ऐसा करना भारी आदर-सत्कारका द्योतक है] (ख) 'मिलेउ उठि' क्योंकि श्रीमन्नारायण क्षीरसागरशयन हैं, यहाँ वे सदा शयन ही किये रहते हैं । यथा 'करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन' (मं० सो० ३), 'भुजगशयनं', 'नमस्ते जलशायिने ।' अतः उठकर मिलना कहा । (ग) 'रमानिकेता' कहकर 'श्रीनिवास' जो पूर्व कह आए हैं उसका अर्थ स्पष्ट किया । जैसे, कृपानिकेत = कृपाके स्थान; वैसे ही, 'रमानिकेत' = श्रीजीके निवासस्थान । 'रमानिकेत' का भाव कि जैसे आप रमाजीको हृदयमें बसाये हैं वैसे ही आपने नारदजीको हृदयसे लगा लिया । अथवा भाव यह कि यद्यपि आप रमानिकेत हैं तथापि धर्ममें प्रमाद नहीं है, साधुओं, विप्रोंसे मिलनेमें एवं उनका मान करनेमें सावधान हैं । अथवा, रमानिकेत हैं इससे महात्माओंका आदर करके सदा रमाकी रक्षा करते रहते हैं । साधुके अनादरसे, उनका अपमान करनेसे लक्ष्मीका नाश है, यथा "आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकाना-

१ मिले—१७२१, १७६२, को० राम । मिलेउ—१६६१, १७०४ । १-२ उठे प्रभुकृपा निकेता—छ०, ३—सं० १६६१ में मूलमें 'दिन' है । छूटा हुआ एक 'न' हाशियेपर दूसरी स्याहीसे बनाया गया है ।

शिष एव च । हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ।" (भा०) । अर्थात् बड़ोंका आदर न करनेसे अथवा उनका अपमान करनेसे छोटोंकी आयु, श्री, यश, धर्म, परलोक, आशीर्वाद एवं सब प्रकारके कल्याण नष्ट होते हैं । ब्राह्मणोंका मान करते हैं इसीसे रमानिकेत हैं, रमा सदा यहीं बसती हैं, कभी इन्हें छोड़ती नहीं । (घ)—'बैठे आसन···' इति । अर्थात् अपने बराबर अपने ही आसन पर बैठाया, दूसरा आसन न दिया । (यह अत्यन्त आदरका तथा प्रसन्नताका स्वरूप है । दूसरे, इस कथनसे मुनिके अहंकारकी वृद्धि भी दिखा रहे हैं । स्वामीके बराबर या उनके आसन पर बैठना दासके लिये अयोग्य है । नारदजीने प्रणामतक न किया और आसनपर बराबर बैठ गए, संभवतः यह विचारकर कि भगवान् भी हमको बराबरका मानते हैं तभी तो साथ बैठाते हैं । अथवा, अपनेको त्रिदेवसे श्रेष्ठ मानकर बराबर बैठे, यह समझकर कि इन्होंने भी तो केवल क्रोधको जीता है, स्त्री साथ रखते हैं अतः ये भी कामजित् नहीं कहे जा सकते और मैंने दोनोंको जीता है) । विशेष आगे चौ० ८ में देखिये ।

प० प० प्र० —नारदजीको मोहित करनेकी प्रक्रिया क्षीरसागरमेंही शुरू हो गई । इसका सच्चा कारण तो अहंकारवश होकर शिवजीके उपदेशका मनमें तिरस्कार और बाह्यतः उनका अपमान करना ही है । शिव-समान प्रियतम भक्तका अपमान भगवान् सह नहीं सकते; इसीसे तो अन्तमें जो प्रायश्चित्त कहा वह शिव-शतनामका जप ही कहा, यथा 'जपहु जाइ संकर सत नामा ।'

नोट—१ "बोले बिहसि ···" इति । यहाँसे इतने सुन्दर प्रहसनका मुख्य भाग प्रारंभ होता है कि जिसका जवाब साहित्यजगत्में मिलना अवश्य ही कठिन है । इस प्रहसन प्रसंगमें तो हास्यरस कूटकूटकर भरा है । हाँ ! शिवविवाहमें वह अवश्य है, पर आंशिक ही है । (लमगोड़ाजी)

टिप्पणी—२ "बोले बिहसि चराचर राया···" इति । भाव यह कि- (क) जिस प्रसन्नतासे उठकर भमिले थे उसी प्रसन्नतासे 'हँसकर' बोले । अथवा, (ख) 'हास' भगवान्‌की माया है । यथा 'हासो जनोन्मादकरी च माया ।', 'माया हास बाहु दिगपाला । ६।१५.५ ।' हँसे नहीं कि माया फैलाई; यथा 'भ्रम तें चकित राम मोहि देखा । बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा ।७।७६।४।' जब-जब मायाका कौतुक दिखाना अभिप्रेत हुआ है तब-तब प्रभु हँसे हैं । हँसते ही कौसल्या अंबा, महामुनि विश्वामित्र, वाल्मीकिजी तथा भुशुण्डिजी आदि मायासे मोहित हो गए । देखिए, कौसल्याजीने जब स्तुति करते हुये कहा कि "ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै । मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ।" तब प्रभु मुसकरा दिये क्योंकि उनको तो चरित करना था । 'प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै ।' बस वहीं से माताकी बुद्धि पलट गई, यथा "माता पुनि बोली सो मति डोली··· । १।१९२ ।" विश्वामित्रजी प्रभुका ऐश्वर्य खोले देते थे, यथा "कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका । बचन तुम्हार न होइ अलीका ।। ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी ।१।२१६।" इसपर ☞ "मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी ।"; प्रभुके मुसकराते ही वे मोहित हो माधुर्य कहने लगे— "रघुकुलमनि दसरथ के जाये ।" वाल्मीकिजीने जब कहा—"पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ । जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ । २।१२७ ।", तब "सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने । सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने ।", बस वहींसे माधुर्यमें आगए । वैसे ही यहाँ देवर्षिजी तो इस 'बिहसि' बोलनेको अपने ऊपर भगवान्‌की बड़ी भारी प्रसन्नता समझ रहे हैं और पड़ गए हैं मायाके जालमें ।]—प्रभुने हँसकर मायाको विस्तार किया अर्थात् माया फैलाई जिससे नारदजी मोहित हो कामचरित कह चले । [अथवा, (ग) अपनी मायाकी प्रबलतापर हँसे । यथा "निज माया बलु हृदय बखानी । बोले बिहसि राम मृदु बानी । १।५३ ।" (सती मोह प्रसंगमें), वैसे ही यहाँ 'बोले बिहसि' । अथवा, (घ) यह प्रभुका सहज स्वभाव है । सदा प्रसन्नवदन रहते हैं और हँसकर बोलते हैं-'स्मितपूर्वाभिभाषी' । वैसे ही यहाँ प्रसन्नता-पूर्वक मिले और बोले । (ङ) इससे भगवान्‌का सौशील्य दरसाया । (च) हँसनेका भाव कि हमारी रक्षाको

भूल गए; शरणागति त्याग अहंकारसे फूले नहीं समाते। (वै०, रा० प्र०)। वा, (छ) 'नरं ज्ञानं ददातीति नारदः' जो दूसरोंको ज्ञानोपदेश करते थे वही इस समय ऐसे अभिमानयुक्त हो गए कि शिवजीका हितोपदेश भी उनको बुरा लगा, यह सोचकर हँसे। (पां०, रा० प्र०)। वा, (ज) मुनिकी मूढ़तापर हँसे, इनके अभिमानपर हँसे। (पं०)]

नोट—२ 'बिहसि' की मुसकान गजब की है। वह साफ़ बता रही है कि भगवान् सारे रहस्यको समझ गए। नारद तो अहंकारमें भरे थे ही, तनिकसे प्रश्नपर ही उन्होंने सारा प्रसंग कह सुनाया। परम कौतुकी भगवान्‌की लीला आगे देखिए।

टिप्पणी ३ (क) 'चराचरराया' का भाव कि जो चराचरमात्रपर दया करते हैं, वे ही अपने ऊपर मुनिकी दया बताते हैं—"कीन्हि मुनि दाया"। इससे सूचित करते हैं कि हमारे भक्त हमसे अधिक हैं। यथा "सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा। ३।३६।३", "मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।७।१२०।" अथवा, भाव कि चराचरके हितार्थ लीला किया चाहते हैं। (ख) "बहुते दिनन्ह ···" इति। ☞यह कहा जिसमें नारदजी इतने दिन न आनेका हेतु "कामप्रसंग" कहें। ऐसा ही हुआ भी।

नोट—३ नारदजीने अभीतक अपनेसे कामके प्रसंगको नहीं कहा। भगवान् उस प्रसंगको इस चतुरतासे छेड़ रहे हैं। शंकरजीने जो कहा था कि "चलेहु प्रसंग दुरावहु तबहूँ।", भगवान्‌का "बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया" यह कथन ही 'प्रसंगका चलना' है, यही उस 'चलेहु प्रसंग' का अभिप्राय था। भगवान् शंकर भगवान्‌का स्वभाव जानते हैं, यथा "जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।" वे ये भी जानते हैं कि प्रभु 'जन अभिमान न राखहिं काऊ', वे समझते थे कि भगवान् इनका अहंकार मिटानेके लिये अवश्य छेड़ेंगे। इसीसे उन्होंने छिपानेकी ताकीद कर दी थी। वही प्रसंग छिड़ा। ध्वनिसे भाव यह है कि इतने दिनोंपर अबकी दर्शन हुए, क्या कहीं चले गए थे? पहले तो शीघ्र-शीघ्र दया करते थे, अबकी बहुत दिन पर दर्शन दिये। हमसे कोई अपराध तो नहीं हो गया जो दया कम कर दी? इसके उत्तरमें अवश्य कहेंगे कि और कोई बात नहीं है। हमने समाधि लगाई थी, इन्द्रने कामदेवको भेजा इत्यादि।

नोट—रुद्र सं० २.२ में प्रसंगके श्लोक ये हैं—"आगच्छन्तं मुनिन्दृष्ट्वा नारदं विष्णुरादरात्। उत्थित्वाग्रे गतोऽरंतं शिश्लेष ज्ञातहेतुकः। ४२। स्वासने समुपावेश्य··· । ४३। कुत आगम्यते तात किमर्थमिह चागतः। धन्यस्त्वं मुनिशार्दूल तीर्थोऽहं तु तवागमात्। ४४।" अर्थात् मुनिको आए हुए देखकर भगवान्‌ने आदरपूर्वक उठकर आगे जाकर उनका सत्कार किया क्योंकि वे कारणोंको जानते थे। अपने आसनपर उनको बिठाकर बोले—हे तात! इस समय आप कहाँसे आ रहे हैं और किस कारणसे आपका आगमन हुआ है। हे मुनिश्रेष्ठ! आप धन्य हैं। आपके आगमनसे मैं पवित्र हो गया। मानसके 'बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया' में शि० पु० से कितनी अधिक सरलता, रोचकता और साथ ही व्यंग है। पाठक स्वयं देख लें।

काम-चरित नारद सब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥८॥
दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान ॥१२८॥

शब्दार्थ—बरजना = मना करना। प्रचंड = प्रबल, कठिन। जाया = जन्म लिया, पैदा हुआ। रूख (रुक्ष) = रूखा-सूखा, मुसकराहट रहित। उदासीन।

अर्थ—यद्यपि शिवजीने उन्हें प्रथम ही मना कर रक्खा था (तथापि) नारदजीने कामदेवका सारा चरित कह सुनाया ॥ ७ ॥ श्रीरघुनाथजीकी माया अत्यंत प्रचंड है। जगत्‌में ऐसा कौन पैदा हुआ जिसे वह मोहित न कर सके ? (अर्थात् ऐसा कोई नहीं है) ॥ ८ ॥ रूखा मुख करके श्रीभगवान् कोमल वचन बोले कि आपका स्मरण करनेसे (दूसरोंके) मोह, काम, मद और अभिमान मिट जाते हैं (तब भला ये आपको कब व्याप सकते हैं ?) ॥ १२८ ॥

टिप्पणी १ (क) "कामचरित नारद सब भाषे" अर्थात् उन्होंने पूरा-पूरा वृत्तांत आदिसे अंततक विस्तारपूर्वक कहा। शंकरजीका उपदेश भूल गये वा न माना। इसीपर आगे कहते हैं। (ख) 'अति प्रचंड रघुपति कै माया' इति। ☞ 'अति प्रचंड' से चंड, प्रचंड और अति प्रचंड तीन प्रकारकी मायाका बोध कराया। देवताओंकी माया 'चंड' है, ब्रह्मा शिवादिकी माया 'प्रचंड' है और रघुपतिकी माया 'अति प्रचंड' है। ☞ देखिये कि जब मायाने सतीजीसे झूठ कहलवाया तब याज्ञवल्क्यजीने मायाकी बड़ाई की, यथा 'बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा' और यहाँ भी जब उसने नारदसे कामचरित कहलवाया तब भी मायाकी बड़ाई की कि 'अति···जेहि न मोह'। भाव यह है कि इस समय मायाके वश होनेसे शिवजीका कहना न माना। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है जिसे श्रीरामजीकी माया न मोहित कर सके। यथा 'मन महुँ करइ बिचार बिधाता। माया बस कबि कोबिद ज्ञाता ॥ हरि माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा ॥ अगजगमय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा। ७।६०।',"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी। मोह न अंध कीन्ह केहि केही ॥"····'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा ॥ सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं। ७।७०–७१।' बा० ५१ भी देखिए। पुनः यथा "को न क्रोध निर्दह्यो काम बस केहि नहिं कीन्हों। को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो ? कवन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि-नयन-सर ? लोचन-जुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कौन नर ? सुर-नाग-लोक महि मंडलहु को जु मोह कीन्हों जयन? कह तुलसिदास सो उबरै जेहि राख राम राजिवनयन।" (क० उ० ११७)। "जद्यपि बरजि···", यथा "बार बार बिनवौं मुनि तोही" से "संभु दीन्ह उपदेस हित" तक।

टिप्पणी—२ (क) यहाँ राम, विष्णु और नारायणमें स्वरूपतः अभेद दिखानेके लिये 'विष्णु' (श्रीभगवान्) को कहा और पूर्व 'राम' कहा था, यथा 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई। १२८।१।' (बाबा हरिदासाचार्यके मतानुसार भाव यह होगा कि अवतार तो श्रीरामजीकी ही इच्छासे होता है, उन्हींको अवतार लेना है। इस बातको सूचित करनेके लिये ही यहाँ प्रारंभमें उनकी इच्छा कही और फिर आगे तो लीलामात्र है।)। (ख) नारदजीने शिवजी, ब्रह्माजी और श्रीमन्नारायणजी तीनोंसे कामचरित प्रगट किया। त्रिदेवसे कहकर यह जनाया कि हम तीनोंसे बड़े हैं। ब्रह्माजी कन्याके पीछे दौड़े, शिवजी मोहिनीरूप देखकर अपनेको न सँभाल सके और विष्णुने जलंधरकी स्त्रीको ग्रहण किया। कोई कामको न जीत सका। हमने कामको जीता।

३ "रूख बदन करि··" इति। भाव कि अभिमानकी बात भगवान्‌को अच्छी न लगी। ('करि' में भाव यह है कि उनका मुखारविन्द कभी रूक्ष नहीं रहता, वे तो सदा प्रसन्नवदन ही रहते हैं, पर मुनिके हितार्थ उन्हें रूखी चेष्टा करनी पड़ी) जैसे बच्चेको फोड़ा होजानेपर माता उसके हितार्थ कठोर बन जाती है। यथा "जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥··· ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवकपर ममता अति भूरी ॥ जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं ॥ ७।७४ ॥"

नोट—१ "रूख बदन करि···" इति। जब किसी वस्तुमें चिकनाहट (घी, तेल इत्यादि की) लग जाती है तब उसे रूखी सूखी वस्तुसे (जैसे राख, मट्टी, बेसन, आटा) मलते हैं तो चिकनाहट दूर हो

जाती है। यहाँ नारद मुनिका हृदय अहंकाररूपी चिकनाईसे स्निग्ध हो गया है, इसी चिकनाहटको मिटानेके लिये रूखी वस्तु चाहिए। (रा० प्र०) । भगवान्‌के मुखकी इस समयकी चेष्टा रूखी वस्तु है। मुख रूख करनेका यही भाव है कि यह बात हमको अच्छी नहीं लगी, हम इस अहंकारको मिटावेंगे।

प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि "और बार तो रामचरित सत्संगवार्ता होती थी, अबकी काम-चरित। क्योंकि इनका हृदय कामसे स्निग्ध है। चिकना है तो उसको मिटानेको रूखी वस्तु चाहिए ही।"

कोई ऐसा कहते हैं कि 'भगवान्‌ने (जो) स्नेहका बर्ताव किया जिससे मुनिका अहंकार बढ़ता गया (वही) स्नेह तैलवत् स्निग्ध (चिकनी) वस्तु है। भगवान् उस स्नेहको हटाकर रूखे बन रहे हैं।'

टिप्पणी—४ 'बचन मृदु बोले' इति। मृदु वचन बोलनेमें भाव यह है कि रूखा मुँह करके रूखो वचन बोलने थे, पर वे रूखे वचन न बोलकर 'मृदु बचन' ही बोले; क्योंकि भगवान् तो सदा मृदुभाषी ही हैं, वे तो अहित करनेवालेसे भी कठोर नहीं बोलते। (रूखे वदनसे प्रायः कोमल वचन नहीं ही निकलते, इसीसे यहाँ ऐसा कहा)।

नोट—२ मृदु वचन बोलनेके और भाव ये हैं कि (१) जिसमें नारदको दुःख न हो। अथवा (२) भगवान् सत्वगुणके स्वरूप हैं, वे कठोर शब्द कभी बोलते ही नहीं, यह उनका सहज शील स्वभाव है। वा, (३) "यद्यपि मुनिको अहंकारने दबा लिया है तो भी वे प्रभुके लाड़ले ही हैं, इनके हृदयमें चोट न लगे, यह समझकर 'कोमल' वचन बोले।" (रा० प्र०) । अथवा, (४) 'क्रोधादिक भगवान्‌के अधीन हैं, इससे। अथवा, (५) रूखा मुँह करनेपर पुनः विचार किया कि अभी-अभी हमने इनका सम्मान किया था अब तुरत अपमान करना योग्य नहीं। अथवा, (६) गर्व दूर करनेके निमित्त रूखा बदन कर लिया था और इस विचारसे मृदु वाणी बोले कि अभी इनका कौतुक देखना है; इन्होंने हमारे परमप्रिय शंकरजीका उपदेश न माना अब हम इन्हीं कामक्रोधादिकसे इनको लज्जित करायेंगे। (पं०) ।

टिप्पणी—५ "श्रीभगवान" इति। (क) 'श्रीभगवान' का भाव कि षडैश्वर्य्यसंपन्न हैं, उससे शोभित हैं। 'अति प्रचंड माया' के प्रेरक होनेसे यहाँ 'भगवान' कहा। यथा 'वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति।' [अथवा, (ख) भाव कि देवर्षि नारदका मन कामादिसे डिगनेवाला न था; परन्तु भगवान् जैसा चाहें वैसा कर दें। (रा० प्र०)]

नोट—३ भगवान्‌के इस वाक्यमें, कि 'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं···', व्यंग्य भी भरा हुआ है। तुम्हारे लिये कामका जीत लेना कौन बड़ी बात है जब कि तुम्हारा स्मरणमात्र करनेसे दूसरे उसपर जय पाते हैं ? इसमें अभिप्राय यह भरा है कि अभी कामादि तुम्हारे नहीं मिटे हैं। हाँ, अब हम मिटानेका उपाय किये देते हैं, तुम्हारा मोह 'सुमिरे' ही मिटेगा, यथा 'जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा। १.१३८।'—(रा० प्र०) ।

वैजनाथजी लिखते हैं कि "तुम भगवत्‌शरणागति भूले हो, जब उसे पुनः स्मरण करोगे तब शुद्ध होगे"। पुनः, तुम्हारा ज्ञान दूर हो गया अतएव तुम्हें मोहादिक अब व्यापेंगे, यह व्यंग्यसे जनाया। अब तुम्हें शीघ्र ही मनोभव-पीड़ा होगी।

टिप्पणी—६ ☞मोह महिपालके तीन सुभट हैं—'मार, मद और मान। 'मिटहिं मार···' का भाव कि आपके स्मरणमात्रसे सेनासहित राजाका नाश हो जाता है। (भाव कि आपका दर्जा बहुत ऊँचा है। वीतरागमें चित्तकी धारणा करनेसे समाधि सिद्ध होती है। वि० त्रि०) ।

नोट—मिलानके श्लोक, यथा "विष्णुवाक्यमिति श्रुत्वा नारदो गर्वितो मुनिः। स्ववृत्तं सर्वमाचष्ट समदं मदमोहितः। रुद्र सं० २.२.४५।···धन्यस्त्वं मुनिशार्दूल तपोनिधिरुदारधीः। भक्ति त्रिकं न यस्यास्ति काममोहादयो मुने।

५१ ।" अर्थात् भगवान्‌के वाक्य सुनकर गर्वित हुये मुनि अपना सब वृत्तान्त मदसहित कह गए। तब भगवान् बोले—'मुनिश्रेष्ठ ! तपोनिधि, उदारबुद्धिवाले आप धन्य हैं ! जिसके हृदयमें त्रिदेवकी भक्ति नहीं है, उसीको काम और मोहादि सताते हैं।—पाठक देखें 'तुम्हरे सुमिरन तें मिटहिं मोह मार मद मान' कितने उच्च, कितने उत्कृष्ट हैं।

सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें । ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें ॥१॥
ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा । तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा ॥२॥
नारद कहेउ सहित अभिमाना । कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥३॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी । उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी ॥४॥

शब्दार्थ—अंकुर = अँखुआ, गाभ, अँगुसा, कल्ला, नवोद्भिद। अंकुरेउ = अंकुर निकला है।

अर्थ—हे मुनि ! सुनिये। मोह तो उसीके मनमें होता है कि जिसके हृदयमें ज्ञान-वैराग्य नहीं हैं ॥१॥ और आप तो ब्रह्मचर्य्य व्रतमें तत्पर हैं, धीर-बुद्धि हैं, (भला) आपको कामदेव कैसे पीड़ित कर सकता है ? ॥२॥ नारदजीने अभिमान सहित कहा 'भगवन् ! यह सब आपकी कृपा है ॥३॥ दयासागर भगवान्‌ने मनमें विचारकर देखा कि इनके हृदयमें गर्वरूपी भारी वृक्षका अंकुर जमा (फूटा) है ॥४॥

नोट १ मिलान कीजिए। "विकारास्तस्य सद्यो वै भवन्त्यखिलदुःखदाः। नैष्ठिको ब्रह्मचारी त्वं ज्ञानवैराग्यवान्सदा। ५२। कथं कामविकारो स्याज्जन्मनाविकृतस्सुधीः। इत्याद्युक्तवचो भूरि श्रुत्वा स मुनिसत्तमः। ५३। विजहास हृदा नत्वा प्रत्युवाच वचो हरिम्। किं प्रभावः स्मरः स्वामिन्कृपा यद्यस्ति ते मयि। ५४।" (रुद्र सं० २.२)। अर्थात् उसीको (जो त्रिदेवका भक्त नहीं है) ये सब दुःखद विकार होते हैं। आप तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी और सदा ज्ञान वैराग्यवाले हैं। आपको कामविकार कैसे हो सकता है ? आप तो जन्मसे ही विकाररहित और सुन्दर बुद्धिवाले हैं। मुनिने यह सुनकर हृदयसे नमस्कारकर हँसते हुए कहा—स्वामिन् ! मुझपर आपकी यदि कृपा है तो काम मेरा क्या कर सकता है ?

टिप्पणी—१ नारदने 'कामचरित सब भाषा'। क्रमसे सब कहे, वैसे ही क्रमसे भगवान्‌ने उनकी प्रशंसा की। (१) नारदजीने प्रथम रम्भादिकी कला कही। उसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा 'सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें।' (२) फिर कामका प्रपंच कहा, उसके उत्तरमें 'ब्रह्मचरज-ब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहिं कि करै मनोभव पीरा' कहा गया।

नोट—२ 'सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान०' इस एक ही पंक्तिमें मोह और ज्ञान दोनोंको रखा, क्योंकि ये दोनों राजा हैं। आसुरी संपत्तिका राजा मोह है और काम मद मान उसके सुभट हैं। और, दैवी-संपत्तिका राजा ज्ञान है और वैराग्य, ब्रह्मचर्य्य, धैर्य्य उसके मंत्री और सुभट हैं। यथा "मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम०" इति विनये (पद ५८), एवं 'सचिव बिराग बिबेक नरेसू।...भट जम नियम सैल रजधानी...॥ जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआलु। अ० २३५।' दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते। अतएव जहाँ ज्ञान रहेगा वहाँ मोह नहीं रह सकता। व्यंग्यार्थ यह है कि आपके हृदयसे अब विवेक भाग गया, इसीसे वहाँ अब मोहने दखल अधिकार जमाकर निवास कर लिया है। दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते, यह शब्दोंकी स्थितिसे कवि दिखा रहे हैं। एक चरणमें मोहको रक्खा और दूसरेमें ज्ञानको।

टिप्पणी—२ (क) भगवान्‌ने जो पूर्व कहा था कि तुम्हारे स्मरणसे मोहादि मिटते हैं, उसी मोह-मार-मदको अब विस्तारसे कहते हैं। (ख) "हृदय नहिं जाकें" का भाव कि ज्ञान और वैराग्य जिसके वचन-

मात्रमें हैं (हृदयमें नहीं हैं) उसको मोह होता है और जिसके हृदयमें इनका निवास रहता है उसको ये नहीं व्यापते । तात्पर्य कि ज्ञान मोहको जीत लेता है । यथा "जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआलु। करत अकंटक राज पुर सुख संपदा सुकालु । २।२३५ ।" (ग) "ब्रह्मचरज ब्रत रत···" इति । ज्ञानको कहकर तब वैराग्य, ब्रह्मचर्य और धैर्यको कहा; क्योंकि ये ज्ञानके सुभट हैं ।

वि० त्रि०—भाव कि हम लोग तो गृहस्थ हैं, मुझे रमा हैं, शिवजीको उमा हैं, ब्रह्मदेवको शारदा हैं, अतएव हम लोग राग और अज्ञानकी सीमाके भीतर हैं । आप परिव्राजक हैं, ब्रह्मचर्य्यव्रतमें रत हैं, मतिधीर हैं । आप मुनि हैं । दुःखमें जिसका मन उद्विग्न न हो, सुखकी जिसे इच्छा न हो, जिसे राग भय और क्रोध न हों, ऐसे स्थितप्रज्ञको मुनि कहते हैं—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते । गीता २ । ५६ ।'

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—१ मज़ाक़का लुत्फ़ ही यह है कि मज़ाक़ करनेवालेकी किसी बातसे पता न लगे कि वह मज़ाक़ कर रहा है, नहीं तो हास्यपात्र चौंक जायगा और हास्यका वार पूरा न पड़ेगा । इसीलिए तो भगवान्‌ने रूखा मुँह करके नारदके तारीफ़के पुल बाँध दिए । नारदका अहंकार और भी उभर आया और वे नम्र भावसे (जो यहाँ अहंकारका रूपान्तर ही है) कहने लगे 'कृपा तुम्हारि···' २ नाटकीय दृष्टिकोणसे यह अभिनयताके लिए बड़ी सुन्दर हिदायत है । और फ़िल्मकलाकी बड़ी सूक्ष्म प्रगति । [मानसका नारदमोह बड़ा मनोहर एकाकी प्रहसन काव्य है, अनुपम है (प० प० प्र०)]

टिप्पणी ३—(क) 'ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा' इति । ऊपर ('सुनु मुनि मोह होइ···'में) मोह की व्याख्या की थी, अब 'मार' की व्याख्या करते हैं । ब्रह्मचर्य्य-व्रत-रत और मतिधीर ये दोनों कामको जीतते हैं । आप ब्रह्मचर्य्यरत और मतिधीर दोनों हैं—इस कथनका तात्पर्य्य यह हुआ कि जिसके ज्ञान, वैराग्य, ब्रह्मचर्य्य और धीरबुद्धि हो वह स्मरणके योग्य है, उसके स्मरणसे सब विकार दूर होते हैं, यथा 'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं० ।' (ख) 'नारद कहेउ सहित अभिमाना ।०' इति । तात्पर्य्य कि यदि वे अभिमान सहित न कहते तो 'कृपा तुम्हारि सकल भगवाना' इस बातमें 'सब कुछ बन जाता' । 'अभिमान सहित कहेउ' का भाव कि कामको जीतनेका अहंकार अपना है कि हमने जीता है और ऊपरसे भगवान्‌की कृपा कहते हैं । (ग) 'कृपा तुम्हारि सकल' का भाव कि रंभादि अप्सराओंको देखकर मोह न हुआ, कामका विकार न व्यापा, ज्ञान वैराग्य, ब्रह्मचर्य्य और मतिमें धैर्य्य हैं, सो सब आपकी कृपा है । नारदको अभिमान है इसीसे यह न कहा कि 'यह सब आपकी कृपासे है, हममें कुछ भी नहीं है' जैसा कि हनुमान्‌जीने कहा है—'सो सब तव प्रताप रघुराई । नाथ न कछू मोरि प्रभुताई ।। ५।६३।६ ।' अभिमानके साथ न कहते तो उत्तर बिल्कुल ठीक था । अभिमानके कारण बात विनयप्रदर्शनमात्र हो गई ।

४—'करुनानिधि मन दीख बिचारी ।०' इति । (क) 'करुणानिधि' कहनेका भाव कि लोग अभिमानीका अभिमान सुनकर क्रोध करते हैं, पर भगवान्‌को इनपर करुणा हुई, क्योंकि जानते हैं कि वे अपने दास हैं । (ख) 'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी' इति । 'नारद कहेउ सहित अभिमाना' इसी अभिमानको भगवान् 'गर्व' कहते हैं । भक्तोंको जैसे ही गर्व हुआ वैसे ही प्रभु उसका नाश करते हैं, जिसमें आगे क्लेश न भोगना पड़े; इसीसे 'करुनानिधि' कहा । और, दुष्टोंको जब गर्व होता है तब उन्हें मारते हैं, यथा "जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ।। करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।। तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।। १।१२१ ।"

नोट—१ यहाँ 'करुनानिधि' विशेषण दिया क्योंकि दया करके भक्तोंका अहित नहीं होने देते, सदा उनका हित ही सोचते और करते हैं । 'अहंकार' भवसागरमें डालनेवाला है ।

"उर अंकुरेउ गर्व-तरु भारी ।। बेगि···" इति—अहंकार संसारका मूल है, इसीसे बारंबार चौरासी

भोगना पड़ता है। अहंकार भारी दुःखदाता है, इसीसे 'गर्वतरु' को 'भारी' कहा। भगवान् करुणानिधान हैं, वे अपने भक्तोंको भव-प्रवाहमें नहीं पड़ने देते। इन चौपाइयोंका भाव भुशुण्डिजीके वचनोंसे खूब स्पष्ट समझमें आ जावेगा। यथा "सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृत मूल सूल-प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ जिमि सिसु तन व्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर। ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥ तिमि रघुपति निज दासकर हरहिं मान हित लागि।" (उ० ७४)।

ये समस्त दुःख आगे आवेंगे, अभी अंकुर ही फूटा है, शीघ्र जड़से उखड़ सकता है; नहीं तो यदि यह पूरा बढ़ गया, भारी वृक्ष हो गया, तो इसका उखाड़ना कठिन हो जावेगा। इसीसे यहाँ 'अंकुरेउ', 'तरु भारी' और आगे 'बेगि' कहा है। 'भारी' क्योंकि सब शोकोंकी जड़ है।

बेगि सो मैं डारिहौं उखारी१। पन हमार सेवक हितकारी॥५॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥६॥

अर्थ—मैं उसे शीघ्रही उखाड़ डालूँगा, क्योंकि सेवकका हित करना यह हमारी प्रतिज्ञा है (वा, हमारी प्रतिज्ञा सेवकके लिए हितकर है)॥ ५॥ अवश्य मैं वही उपाय करूँगा जिससे मुनिका भला और मेरा खेल होगा (मेरी लीला होगी)॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी।०' इति। (क) 'बेगि' क्योंकि अभी गर्व-तरु जमा है, उसके उखाड़नेमें कुछ भी परिश्रम नहीं है और नारदके हृदयमें बहुत दुःख अभी उखाड़नेसे न होगा। बड़ा वृक्ष उखाड़नेमें पृथ्वी विदीर्ण हो जाती है। तात्पर्य्य कि बहुत दिन रह जानेसे उसका अभ्यास हो जाता है फिर वह हृदयसे नहीं जाता। अभी गर्व हृदयमें अंकुरित हुआ है, अभी उसका अभ्यास नहीं पड़ा है। (ख) 'पन हमार सेवक हितकारी' कहनेका भाव कि गर्व अहितकारी है। पुनः, भाव कि 'भगवान् परायी विभूति नहीं देख सके, अपनी बड़ाईकी ईर्ष्यावश होकर अथवा अवगुण देखकर क्रोधसे गर्व दूर करनेपर उद्यत हैं', ऐसा नहीं है किन्तु वे सेवकका हित करनेके लिए उसके गर्वका नाश किया करते हैं, यथा 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥', 'जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहु।१।१३।६।', "अपने देखे दोष राम न कबहूँ उर धरे" (दोहावली)। [भगवान् पराई विभूति, पराई बाढ़ देख नहीं सकते, इत्यादि संदेहोंके निवारणार्थ 'करुनानिधि', 'सेवक हितकारी', 'मुनिकर हित मम कौतुक' आदि पद दिये हैं। 'पन हमार०' में स्वभावोक्ति अलंकार है।]

२—'मुनि कर हित मम कौतुक होई०'। इति। (क) कौतुक = लीला। हमारा कौतुक होगा अर्थात् हम अवतार धारण करके लीला करेंगे। पूर्व जो कहा था कि 'भरद्वाज कौतुक सुनहु' उस 'कौतुक' का अर्थ यहाँ खोलते हैं कि 'भगवान्‌का कौतुक सुनो।' यह बात भगवान् यहाँ अपने मुखसे ही कह रहे हैं। "मम कौतुक होई"। (ख) प्रथम मुनिका हित होगा अर्थात् गर्व दूर होगा; वे क्रोध करके शाप देंगे तब भगवान्‌की लीला होगी, उसी क्रमसे यहाँ भगवान्‌के वचन हैं—'मुनि कर हित' तब 'मम कौतुक'। कौतुक = लीला, यथा 'बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसु कौतुक तेई। ७।८८।' इत्यादि। (ग) 'अवसि उपाय करबि मैं सोई' इति। यहाँ भगवान् उपाय करनेको कहते हैं। भक्तका हित तो कृपादृष्टिसे ही कर सकते हैं तब उपाय करनेमें क्या भाव है? इस कथनमें तात्पर्य यह है कि कृपाकोरसे अभिमान दूर कर सकते हैं इसमें संदेह नहीं, पर उसमें अवतारका हेतु न उत्पन्न होता (और प्रभुकी इच्छा लीलाकी है)

१ पाठान्तर—'उपारी'

अतः 'उपाय करबि' कहा। उपायमें अवतारका हेतु होगा। लीला हेतु उपाय करना कहा गया। (घ) 'करुनानिधि मन दीख बिचारी' से यहाँ तक मनका विचार है।

श्रीमान् लमगोड़ाजी—१ अभिमानका यह नम्रतारूप रूपान्तर कितना विचित्र है।

२ कविने किस सुन्दरतासे भगवान्‌के विचारोंको व्यक्त किया है जिसे वे लोग विशेषतः समझ सकेंगे जिन्होंने शैक्सपियरके चरित्रोंकी स्वगत वार्ताओंका आनंद उठाया है। मजा यह है कि प्रहसनके द्रष्टाओंपर सारा रहस्य खुल जाता है परन्तु हास्यपात्रको पता नहीं चलता। भगवान् वस्तुतः बड़े ही कुशल नैतिक चिकित्सकके रूपमें दिखाई पड़ते हैं और अहंकारको जड़से उखाड़नेकी प्रतिज्ञा करते हैं, हास्यप्रयोग प्रारंभ करते हैं। वाक़ई हास्यरसका उचित प्रयोग यही है कि हास्यपात्रका हित हो और साथ ही हम सबका 'कौतुक' भी हो जाय, पर घृणाकी मात्रा न बढ़ने पावे।

तब नारद हरिपद सिर नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई ॥७॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी ॥८॥
दोहा—बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि सतजोजन बिस्तार।
श्रीनिवास-पुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार ॥१२९॥

अर्थ—तब नारदजी भगवान्‌के चरणोंमें सिर नवाकर चले। उनके हृदयमें घमंड और भी अधिक हो गया ॥ ७ ॥ लक्ष्मीपति भगवान्‌ने अपनी मायाको प्रेरित किया। उसकी कठिन करनी सुनो ॥ ८ ॥ उस मायाने मार्गमें चारसौ कोसके लंबे चौड़े नगरकी विशेष रचना की। जिसकी अनेक प्रकारकी रचना वैकुण्ठपुरसे भी बढ़चढ़कर थी ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—१ 'तब नारद हरिपद सिर नाई।०' इति। (क) 'तब' अर्थात् जब नारदके कामचरित कह चुकनेपर भगवान् उनकी प्रशंसा कर चुके, तब नारद वहाँसे चल दिए। तात्पर्य्य कि बस इतनेसे ही तो प्रयोजन था कि कामचरित सुनावें और अपनी बड़ाई सुनें। (ख) 'अहमिति अधिकाई'। भाव कि जब शिवजीके पास गए तब अहंकार अधिक न हुआ, शिवजीने प्रशंसा न की। और यहाँ भगवान्‌ने प्रशंसा की—'तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं मोह मार मद मान'; इसीसे वहाँ कहा था कि 'जिता काम अहमिति मन माहीं' और यहाँ कहते हैं कि 'चले हृदय अहमिति अधिकाई'।

नोट-१ शिवजीने इनका आदर सत्कार न किया। प्रत्युत इन्हें उपदेश देने लगे थे। और भगवान्‌ने इनका आदर-सत्कार किया। उठकर मिलना आदर जनाता है, यथा 'आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई'; ऐसाही भगवान्‌ने किया। यही कारण है कि शिवजीको चलते समय भी उन्होंने प्रणाम न किया पर भगवान्‌को जाते समय प्रणाम किया। यह भी अहंकारहीका सूचक है। [जो अहंकारी-की प्रशंसा करता है, वह उसको प्रिय लगता है और जो प्रशंसा न करके उलटी सुनाता है, विरुद्ध कहता है वह उसको मत्सरी और द्वेषी लगता है। (प० प० प्र०)]

पहले कहा था कि "जिता काम अहमिति मन माहीं" और अब बताते हैं कि "चले हृदय अहमिति अधिकाई" अर्थात् पहले अहंकारका बीज पड़ा था और अब अंकुर हो वह बढ़ चला। प्रथम शिवजीने रोका था, इससे ज्योंका त्यों रह गया था, अब प्रशंसारूपी जल पाकर बढ़ा। अब वे सोचते हैं कि शिवजीने सत्यही ईर्षावश रोका था, भगवान् तो सुनकर प्रसन्न हुए हैं, न कि रुष्ट।

टिप्पणी—२ 'श्रीपति निज माया तब प्रेरी।…' इति। (क) यहाँ 'श्रीपति' और 'निज माया' दोनोंको एक साथ लिखने तथा निज मायाको प्रेरित करना कहनेसे स्पष्ट किया कि 'श्रीजी' से "माया" पृथक वस्तु है कि जिसको प्रेरित किया। यथा 'नहिं तहँ रमा न राजकुमारी'। (ख) आगे माया बहुत

चमत्कार करेगी, इसीसे उसे 'श्रीपति' की माया कहा। (ग) 'प्रेरी' का भाव कि यहाँ उसने नारदको मोहकर कामचरित कहलाए, अब आगे मोहनेकेलिए उसे भेजा। पुनः भाव कि माया अपनी ओरसे नहीं गई। पुनः, "निज माया" का भाव यह कि भगवत् दासोंको औरोंकी माया वशमें नहीं कर सकती, जैसे इन्द्रकी माया नारदको न व्यापी। भक्त भगवान्कीही मायाके वशमें होते हैं अतएव 'निज माया' कहा। "जहाँ-जहाँ मायाकी प्रेरणाका वर्णन है तहाँ-तहाँ मायाकी प्रशंसा है", यथा 'बहुरि राम-मायहिं सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा"। इत्यादि। पुनः भाव कि कामकी मायासे मोहित न हुये अतः निज मायाको भेजा। (घ) 'कठिन करनी' कहा क्योंकि जो दुर्दशा की उसमें नारदजीको प्राणान्तसमयकासा क्लेश हुआ—'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू' और इसको किंचित् दया न आई।

३—बिरचेउ मग महुँ नगर तेहिं···" इति। (क) 'रचना' काम विद्यामायाका है। यथा 'एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके। ३।१५।' हरि सेवकको अविद्या माया नहीं व्यापती, उसे विद्या ही व्यापती है। यथा 'हरि सेवकहिं न ब्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥ ७।७६।' यहाँभी माया प्रभु-प्रेरित है, यथा 'श्रीपति निज माया तब प्रेरी'। अपनी ओरसे नहीं व्यापती। (इससे जनाया कि यह 'विद्या माया' है)। [(ख) 'मग महुँ' कहकर जनाया कि वह नारदसे पहले ही आगे पहुँच गई। मार्गमें नगर बनानेका भाव कि जिसमें वह इनके देखनेमें अवश्य आवे और वे नगरमें होते हुये जायँ। (ग) "नगर"—मुनि को वन, काम, कोकिल आदि की शोभा मोहित न कर सकी थी; इस लिये अब की नगर रचा जिसकी शोभा श्रीनिवासपुरसे अधिक थी जिसमें वे मोहित हो जायँ। जैसे श्रीअयोध्याजीकी शोभा देखकर वैराग्य भूल जाता था, यथा "नारदादि सनकादि मुनीसा।···देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥ ७।२७।" वैसे ही इसे देखकर इनका वैराग्य जाता रहे। (मा० पी० प्र० सं०)]

(घ) "सत जोजन बिस्तार" इति। मार्गमें इतने विस्तारका नगर बनानेमें भाव यह है कि एक तो वैकुण्ठ सौ योजनका है। दूसरे, नारदजी विरक्त महात्मा हैं। विरक्त सन्त (जब प्रसाद पाये हुये होते हैं तब) प्रायः बस्तीके बाहर ही बिचरते हैं। अतएव मायाने इतना बड़ा नगर बनाया कि नगरके भीतरही होकर जाना पड़े, इधर-उधर कहींसे न निकल जा सकें, और कहींसे उनको रास्ता ही न मिले। कहाँ तक बचायेंगे।

वि० त्रि०—चित्के (ब्रह्मके) अति दुर्घटस्वातन्त्र्यको माया कहते हैं। लोकमें योगी, मन्त्रशास्त्री और ऐन्द्रजालिक थोड़ासा आच्छादित स्वातन्त्र्य पाकर युक्तिसे दुर्घट घटना घटा देते हैं, तब श्रीपतिकी मायाके लिये क्या कहना है! भासनकालमें भी स्वरूपसे अतिवर्तन उसकी दुर्घटना है।

नोट—२ यह नगर कहाँ रचा गया? इसमें मतभेद है। पं० रामकुमारजीका मत है कि यह नगर जम्बूद्वीपमें रचा गया। नारदजी क्षीरसागरसे अपने घर ब्रह्मलोक नहीं गए। जैसे कि पूर्व लिखा गया है कि 'तब बिरंचि के लोक सिधाए। १२८।२।' अर्थात् वहाँ काम-चरित कहने गए थे। वहाँसे भगवान्को सुनाने आये। अब यहाँसे ब्रह्मलोक शीघ्र जानेका कोई प्रयोजन रहही न गया। अतएव विचरनेके लिये जंबूद्वीप गए। और किसीका मत है कि काशमीरान्तर्गत जो उसकी राजधानी 'श्रीनगर' है वही यह माया-नगरी है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि टेहरी राज्यमें जो प्राचीन श्रीनगर था उसे तो गंगाजी बहा ले गईं, वहाँ अब रमापति मंदिर ही रह गया है। उसीके सन्निकट अब दूसरा श्रीनगर बसा है।

टिप्पणी—४ "श्रीनिवासपुर तें अधिक···" इति। (क) लक्ष्मीपति भगवान्के पुरसे अधिक विविध प्रकारकी रचना है क्योंकि (१) श्रीनिवासपुर असल है और यह नक़ल है, असलसे नक़लमें चमत्कार अधकि होता है। (२) क्षीरसागर वैकुण्ठ तो मुनि जब तब जाया ही करते थे। वहाँका वैभवविलास अनेक बारका देखा है, यदि उससे बढ़कर न बनाती तो नारदका मन उधर आकर्षित न होता। (३) नारदका

वैराग्य कुछ साधारण वैराग्य नहीं है जो डिग जाय अतएव अधिक रचना की। [श्रीनिवासपुर कहकर जनाया कि यह इतना सुन्दर है कि भगवान् लक्ष्मीजीके संबन्धसे यहीं अपनी ससुरालमेंही रहने लगे। लक्ष्मीजीकी उत्पत्ति क्षीरसागरसे है अतः वह आपकी ससुराल है।—(वै०)] (४) नारद सात्विकी हैं, अतएव इनको मोहित करनेकेलिये सात्विक पुरीकी नक़ल बनाई। (ख) 'श्रीनिवास-पुर' कहकर वैकुण्ठपुरी सूचित की, क्योंकि श्रीनिवास जहाँ (क्षीरसागरमें) बसते हैं वहाँ 'पुर' नहीं है। वैकुण्ठका वैभव सबसे अधिक है, यथा 'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना'।

नोट—३ पंजाबीजी यहाँ अतिशयोक्ति और वीरकविजी व्यतिरेक अलंकार मानते हैं। श्रीनिवासपुर उपमानसे 'नगर' उपमेयमें उत्कृष्टता वर्णन की गई है।

४—मिलान कीजिये—"इत्युक्त्वा हरिमानम्य ययौ यादृच्छिको मुनिः। ५५। (रुद्र सं० २।२)"।··· "···चकाराशु मायां मायाविशारदः। ४। मुनिमार्गस्य मध्ये तु विरेचे नगरं महत्। शतयोजनविस्तारमद्भुतं सुमनोहरम्। ५। स्वलोकादधिकं रम्यं नानावस्तुविराजितम्।" अर्थात् ऐसा कहकर भगवान्को प्रणाम करके मुनि यथेच्छ स्थानको चल दिये। भगवान्ने मायाको प्रेरित किया जिसने मुनिके मार्गमें बड़े नगरकी रचना की जो सौ योजनके विस्तारका और अद्भुत तथा मनोहर था। अपने लोकसेभी अधिक सुन्दर अनेक वस्तुओंसे सुशोभित था। शिव पु० में शिवजीकी इच्छासे भगवान्का मायाको प्रेरित करना कहा है, जिससे शिवजीके चरितमें लांछनसा लगता देख पड़ता है। इस तरह मानसका मत उत्कृष्ट है।

बसहिं नगर सुंदर नर नारी। जनु बहु मनसिज रति तनु धारी॥ १॥
तेहि पुर बसै सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा॥ २॥
सत सुरेस सम बिभव बिलासा। रूप तेज बल नीति निवासा॥ ३॥
बिस्वमोहनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जिसु[1] रूपु निहारी॥ ४॥
सोइ हरिमाया सब गुन खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी॥ ५॥

शब्दार्थ—मनसिज=मनसे उत्पन्न, कामदेव। हय=घोड़ा, अश्व। गय=गज, हाथी। बिभव=ऐश्वर्य। बिलास=सुखभोग। जिसु=जिसका। यथा 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।'

अर्थ—उस सुन्दर नगरमें सुन्दर स्त्रीपुरुष बसते थे, मानों बहुतसे कामदेव और रति (कामदेव की स्त्री) ही शरीर धारण किये हुए हों॥१॥ उस पुरमें शीलनिधि नामक राजा रहता था, जिसके अगणित (बेशुमार, जिसकी गणना न होसके) घोड़े, हाथी, सेना और समाज था॥ २॥ उसका वैभव विलास सौ इन्द्रोंके समान था। वह रूप, तेज, बल और नीतिका (मानों) निवास-स्थान ही था॥ ३॥ उसकी लड़कीका नाम विश्वमोहिनी था; जिसके रूपको देखकर लक्ष्मीजीभी मोहित हो जायँ॥ ४॥ यह वही सब गुणोंकी खानि हरिकी माया है। (तब भला) उसकी शोभा कब (एवं क्या) वर्णन की जा सकती है? (कदापि नहीं)॥ ५॥

टिप्पणी—१ 'बसहिं नगर सुंदर नर नारी' इति। (क) यहाँ 'सुंदर' दीपदेहरीन्यायसे नगर और नर नारी दोनोंका विशेषण है। नगर ही इतना सुन्दर है कि काम अपनी स्त्री सहित वहाँ आकर बस जाय तो आश्चर्य नहीं। उनके निवासके योग्य है इसीसे स्त्रीपुरुषोंको रति और कामके समान कहा। पुनः भाव कि नारदको कामके वश करना है इसीसे मायाने वहाँके स्त्रीपुरुषोंको रति और कामके समान सुन्दर बनाया है। (ख) 'जनु बहु मनसिज रति०।' इति। 'बहु' कहकर जनाया कि प्रत्येक नरनारी एक एक काम और

१ जेहि—ना० प्र०

रतिके समान हैं, इसीसे जान पड़ता है कि बहुतसे काम और रति ही हैं। ☞कामदेवने नारदको मोहनेके लिए बन बनाया, बसंत बनाया, अप्सराएँ बनाईं तब भी नारदको न मोह सका था; इसीसे मायाने नगर बनाया। वहाँ एक ही काम था, यहाँ रति सहित अनंत काम मोहित करनेके लिये विराजमान हैं। अर्थात् कामदेव ही कामदेव रतियों सहित बसाए गए हैं कि अब तो मोहित होंगे, पर इनका वैराग्य ऐसा तीव्र है कि इतनेपर भी वे मोहित न होंगे। कामने वनकी श्री दिखाई थी, मायाने नगरकी 'श्री' दिखाई। वहाँ नारद रंभादिको देखकर न मोहे थे, इसीसे माया स्वयं विश्वमोहिनी बनी। कामके बनाए हुए प्रपंच नारदजीके देखे हुए थे और मायाकृत प्रपंच अपूर्व हैं।

नोट १—यहाँ अतिशय सौन्दर्य्य उत्प्रेक्षाका विषय है। उसे न कहकर यह उत्प्रेक्षा की गई कि मानों अनेक कामदेव और रति ही हैं। अतएव यहाँ 'अनुक्त-विषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है। "रूप तेज बल नीति निवासा" में सहोक्ति अलंकार है। (वीरकवि)।

२—व्याकरण—'बसइ' एक वचन, 'बसहिं' बहु वचन। यथा—रहइ रहहिं, कहइ कहहिं, सेवइ सेवहिं, बरइ बरहिं, पावइ पावहिं, लगावइ लगावहिं, मुसुकाइ मुसुकाहिं, उकसहिं, अकुलाहीं। इत्यादि। निहारी, निहारि = देखकर। पूर्व कालिक क्रिया। यथा—आनी, आनि, जानि, फूली, बिलोकी, बिरचि, सुनि, बिचारि, (कर) जोरी, बखानी, धरि, कहि, इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी—२ (क) "तेहि पुर बसै सीलनिधि राजा" अर्थात् यह मायानगर राजा शीलनिधिकी राजधानी हैं। [मोहका कारण शील है, यह गुण अधिक मोहक होता है। अतएव जो शीलका ख़ज़ाना, शीलका समुद्र है उसीको इसने राजा बनाया। वा, मूर्तिमान् शीलसमुद्र ही राजा है]। (ख) "अगनित हय···" इति। नगर, प्रजा और राजाको कहकर अब राजाका ऐश्वर्य्य कहते हैं, फिर गुण कहेंगे। समाज=रथ आदि सामग्री; सब सामान। हाथी, घोड़े, सेना और समाज कहकर चतुरंगिनी सेनाका होना जनाया। (ग) प्रजाको प्रथम वर्णन करके तब राजाको कहनेका भाव यह है कि नारदजीने जैसे-जैसे नगरमें प्रवेश किया वैसे ही वैसे वक्ता भी वर्णन करते जाते हैं। प्रथम उन्होंने प्रजाको देखा, तब राजाके स्थानमें पहुँचे। ['बसै' का भाव कि नगर तो अभी बना है, परन्तु शीलनिधि राजा उसमें कई पीढ़ीसे बसते थे। घोड़ा हाथी सेना सब अनेक देशके भिन्न भिन्न कालोंमें आये हैं तथा भर्ती हुए हैं। (वि० त्रि०)]

३ "सत सुरेस सम बिभव बिलासा।····" इति। (क) नगरकी रचनाको भगवान्‌की पुरीसे अधिक कहा था, यथा "श्रीनिवासपुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार।" तो ऐश्वर्य्य भी भगवान्‌के ऐश्वर्य्यसे अधिक कहना चाहिए था; सो न कहकर 'सत सुरेस सम' कहा, क्योंकि भगवान्‌के ऐश्वर्य्यसे अधिककी कौन कहे उसके समान भी ऐश्वर्य्य किसीका हो नहीं सकता, तब कहते कैसे? इसीसे शत इंद्रोंके ऐश्वर्य्यसे अधिक कहा। (ख) नगर सौ योजनके विस्तारका रचा, इसीसे सौ इन्द्रोंका वैभव-विलास बनाया। पुनः, 'सत सुरेश सम' कहकर राजाको सौ इन्द्रोंके समान सुकृती जनाया। सौ अश्वमेधयज्ञ करनेसे इन्द्रपद प्राप्त होता है। पुनः भाव कि एक इन्द्रका वैभव-विलास इनको न मोहित कर सका, इसलिये यहाँ सौ इन्द्रोंका वैभव रचा। [इन्द्रका वैभव-विलास सबसे अधिक है, इसीसे जहाँ वैभवका उत्कर्ष दिखाना होता है वहाँ इसीकी उपमा दी जाती है। यथा 'भूपति भवन सुभाय सुहावा। सुरपति-सदनु न पटतर पावा॥ २।९०।', 'अमरावति जसि सक्रनिवासा। १।१७८।', 'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास। ६।१०।' 'श्रुति-पथपालक धरमधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर। ७।२४।', 'मघवासे महीप विषय-सुखसाने' (क० ७।४३), 'राज सुरेस पचासक को···। क० ७।४५।', 'भोगेन मघवानिव' (मूल रामायण)। 'सत' = सैकड़ों।] (ग) 'रूप तेज बल नीति निवासा' यह राजाके गुण हैं। अर्थात् परम रूपवान्, परम तेजस्वी, परम बलवान् और परम नीतिज्ञ हैं।

४ "बिश्वमोहनी तासु कुमारी ।···" इति । (क) शीलनिधिकी कन्या 'विश्वमोहनी' हुई, तात्पर्य कि विश्वको मोहित करनेका हेतु शील है । (ख) 'श्री बिमोह···' का भाव कि जिन श्रीजीको देखकर विश्व मोहित हो जाता है वे 'श्रीजी' भी विश्वमोहनीको देखकर मोहित हो जाती हैं । स्त्रीको देखकर स्त्री नहीं मोहित होती, यथा 'मोह न नारि नारिके रूपा ।', पर विश्वमोहनीका सौन्दर्य ऐसा है कि उसे देखकर 'श्रीजी' भी मोहित हो जाती हैं तब औरोंकी क्या चली ? नारद क्योंकर न मोहित होंगे । इस कथनसे जनाया कि यह कन्या शोभाकी अवधि है । यहाँ 'संबंधातिशयोक्ति अलंकार' है ।

नोट—३ (शिवपुराणमें कन्याका नाम 'श्रीमती' है । यथा 'अथ राजा स्वतनयां नामतःश्रीमतीं वराम् । २।३।११ ।' नारदजीने भगवान्‌से कहा है कि शीलनिधिकी कन्या श्रीमती स्वयंवरकी इच्छा कर रही है । वह जगत् मोहिनी विख्यात है—'जगन्मोहिन्यभिख्याता । २।३।२६ ।' इस तरह विश्वमोहिनीका अर्थ विश्वको मोहित करनेवाली भी है । अद्‌भुतरामायणमें भी एक अवतारका नारदशापसे होना वर्णित है । उसमें भी कन्याका नाम श्रीमती है । कन्याके बापका नाम अंबरीष है । (आगे प्रसंग आनेपर संक्षिप्त कथा इसकी भी दी जायगी ।)

४ मिलानके श्लोक, यथा "नरनारीविहाराढ्यं चतुर्वर्णाकुलं परम् । ६ । तत्र राजा शीलनिधिर्नामैश्वर्यसमन्वितः । (रुद्र सं० २।३)' । अर्थात् वह नगर स्त्री पुरुषोंके विहार करने योग्य था, जिसमें चारों वर्ण निवास करते थे । संपूर्ण ऐश्वर्यसे युक्त शीलनिधिराजा राज्य करता था ।

टिप्पणी—५ "सोइ हरिमाया··" इति । (क) यहाँ बताया कि वह कन्या कौन है । वह हरिमाया ही है । (नगर, राजा, प्रजा इत्यादिकी रचना कर चुकनेपर भी संदेह ही रह गया कि कदाचित् नारदजी इतनेसे भी मोहित न हों, इस विचारसे वह हरिमाया स्वयं विश्वमोहिनीरूप धारणकर राजकुमारी बनकर उपस्थित हुई । जगत् भरको मोहित करनेका सामर्थ्य रखती है, एक नारद किस गिनतीमें हैं) । (ख) 'सब गुनखानी' इति । अर्थात् सब गुणोंकी खानि है, यह आगे स्वयं कविने स्पष्ट लिखा है, यथा 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने ।···जो एहि बरै अमर सोइ होई ।' इत्यादि । अर्थात् जो इसको बरे वह अमर समर विजयी, चराचरसेव्य हो । यह तो माधुर्य्यमें गुणकी खानि कहा और ऐश्वर्य्यमें तो तीनों गुणों (सत्व, रज, तम) की खानि है अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया है । यथा 'एक रचइ जग गुन बस जाके । ३।१५ ।' (बनमें रम्भादिके गुणोंसे मोहित न हुये थे, अतः सब गुणोंकी खानि राजकुमारी बनी) । (ग) "सोभा तासु कि जाइ बखानी ।" अर्थात् उसकी शोभा अनिर्वचनीय है, बखानी नहीं जा सकती । यह हरिकी माया है, इसीसे इसका रूप न वर्णन किया । इसकी ओर देखनेसे अनहित होता है, यह समझकर वर्णन न किया । यथा 'होइ बुद्धि जो परम सयानी । तिन तन चितव न अनहित जानी । ७।११८ ।' [यह तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली विद्यामाया है । भगवान् दासोंपर अविद्या मायाको प्रेरित नहीं करते क्योंकि वह तो अहित करनेवाली है । यथा 'हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या । प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापहि बिद्या । ७।७६ ।' एक तो शोभा 'अतुलित' है, यह सौन्दर्यकी खानि ही है, दूसरे यह भगवान्‌को ही ब्याहेगी, इससे बखानी कैसे जा सके ? (मा० पी० प्र० सं०)] (घ) 'सोइ हरिमाया···' कहकर जनाया कि अन्तमें यह हरि ही को बरेगी ।

वि० त्रि०—नगर तो अभी बना पर राजाका ब्याह हुए बहुत दिन हो गए, ब्याहसे बेटी भी थी जो ब्याह योग्य हो गई थी, उसके स्वयम्वरका समाचार सुनकर देश देशके राजा कई दिनोंसे आकर ठहरे थे । यह हरिमायाकी कठिन करणी है, किसी भाँति बुद्धि काम नहीं करती । देशकालका कोई नियम ही न रह गया ।

करै स्वयंबर सो नृपबाला । आए तहं अगनित महिपाला ॥६॥

मुनि कौतुकी नगर तेहि गएऊ । पुर-बासिन्ह सब पूछत भएऊ ॥७॥
सुनि सब चरित भूपगृह आए । करि पूजा नृप मुनि बैठाए ॥८॥
दोहा—आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि ।
कहहु नाथ गुन दोष सब एहि के हृदय बिचारि ॥१३०॥

शब्दार्थ—'बाला'=बालिका, कन्या । कौतुकी = कौतुक (कुतूहल) जिनको प्रिय है ।

अर्थ—वही राजकुमारी (अपना) स्वयम्वर कर रही है । (अतएव) अगणित राजा वहाँ आये ॥६॥ कौतुकी मुनि उस (कौतुकी) नगरमें गए और पुरवासियोंसे सब हाल पूछने लगे ॥७॥ सब समाचार सुनकर वे राजमहलमें आए । राजाने मुनिकी पूजा करके उनको बिठाया ॥ ८ ॥ राजाने राजकुमारीको लाकर नारदजीको दिखाया (और बोले कि) हे नाथ ! इसके सम्पूर्ण गुणदोषोंको हृदयमें विचारकर कहिये ॥१३०॥

नोट—१ शिव पु० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—"प्रदानसमयं प्राप्ता वरमन्वेषती शुभम् । सा स्वयंवरसंप्राप्ता सर्वलक्षणलक्षिता । १४ ।" "चतुर्दिग्भ्यः समायातैस्संयुतं नृपनन्दनैः ।''' ८ । एतादृशं पुरं दृष्ट्वा मोहम्प्राप्तोऽथ नारदः । कौतुकी तन्नृपद्वारं जगाम मदनैधितः । ६ । आगतं मुनिवर्यं तं दृष्ट्वा शीलनिधिर्नृपः । उपवेश्यार्चयांचक्रे रत्नसिंहासने वरे । १० ।''' दुहितेयं मम मुने''' । १३ । अस्या भाग्यं वद मुने सर्वं जातकमादरात् । कीदृशं तनयेयं मे वरमाप्स्यति तद्वद । १५ " (रुद्र २।३) । अर्थात् इसके विवाहका समय आ गया । श्रेष्ठ वरकी खोजमें यह स्वयंवरमें प्राप्त हुई है । चारों ओरसे राजा लोग बड़े सजधजसे आए हुए थे । ऐसे नगरको देखकर नारद मोहको प्राप्त हुए और कामदेवसे बढ़ेचढ़े हुए कौतुकी नारद राजाके द्वारपर पहुँचे । उनको आया हुआ देखकर राजाने उनको श्रेष्ठ रत्नसिंहासनपर बिठाया और पूजा की । राजाने श्रीमती नामकी अपनी कन्याको लाकर नारदजीके चरणोंपर डाल दिया । (यथा 'अथ राजा स्वतनयां नामतश्श्रीमतीं वराम् । समानीय नारदस्य पादयोस्समपातयत् । ११ ।') नारदके पूछनेपर कि यह देवतुल्य कन्या कौन है राजाने बताया कि यह मेरी कन्या है। और कहा कि आप इसका भाग्य कहिए, यह कैसा वर पावेगी। —मानसके नारद विशेष वैराग्यवान् हैं । इनको न तो नगर ही मोहित कर सका और न नृपका ऐश्वर्य ।

टिप्पणी—१ (क) 'करै स्वयंबर सो नृपबाला ।०' इति । ☞क्षीरसागरसे नारद चले, इतनी ही देरमें यह सब तैयारी मायाने कर ली । जयमाल डालने, स्वयंवर करनेके योग्य अवस्था बनाकर स्वयं वहाँ उपस्थित हुई । स्वयंवर करती है अर्थात् अपने आप ही वरको अंगीकार करती है इसीसे अगणित राजा आए हैं । (ख) 'आए तहँ अगनित महिपाला' ।—राजा पुरके बाहर उतरे हैं, यथा 'पुरबाहेर सर सरित समीपा । उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा । १।२१४ ।' (ग) हरिकी माया है, सब गुणोंकी खानि है; और स्वयंवर कर रही है, इससे जनाया कि वह हरि ही को 'वर' करेगी, उन्हींको व्याहेगी । (घ) ☞मायाने स्वयंवर रचा जिसमें धर्मसे कन्याकी प्राप्ति समझकर नारद इच्छा करें। अधर्मसे इच्छा और उद्योग न करेंगे जैसे रंभादिको देखकर इच्छा न की । - ('स्वयंवर' धर्म-रीतिका विवाह है, अतएव स्वयंवर रचा । यदि किसीके साथ विवाहकी सगाई होगई होती तो नारदको मोहित होना अयोग्य होता, वे उसको देखते ही क्यों ? उसपर उनका वश ही नहीं, यह समझ वे चुप रहजाते । अतएव स्वयंवर किया । अपनी इच्छासे वर करेगी; इसीसे मुनि भगवान्से सुन्दर रूप माँगेंगे जिसमें वह इन्हींसे विवाह कर ले) ।

२ 'मुनि कौतुकी नगर तेहि गएऊ ।०' इति । (क) कौतुकीका भाव कि कुतूहल देखनेका उनका स्वभाव है, यही इनका दिल बहलाव है, अतः कुतूहल देखने गये । कौतुकी स्वभाव न होता तो नगरके भीतर जानेका कौन प्रयोजन था । नगरमें बड़ा भारी वैभव देख पड़ा, पुर अति सुन्दर बना है, चारों ओर राजा लोग उतरे हुए हैं, इसीसे देखनेकी इच्छा हुई । ☞यहाँ मुनि कौतुकी हैं और नगर भी 'कौतुकी'

अर्थात् मायाका रचा हुआ कौतुक है । मुनिको कौतुकी जानकर यह कौतुक दिखाया । (ख) 'पुरबासिन्ह सब पूछत भएऊ' । पुरवासियोंसे सब वृत्तान्त पूछा । उन्होंने सब बताया, यह बात आगेके 'सुनि सब चरित' से जानी गई, और यह भी बताया कि आज शीलनिधिराजाकी कन्याका स्वयंवर है, उसके समान सुन्दर कन्या त्रैलोक्यमें नहीं है । ('सब' पूछा अर्थात् पूछा कि यह भीड़ कैसी है, किसका राज्य है, इत्यादि ।)

३ (क) 'सुनि सब चरित भूपगृह आए ।०' इति । पुरवासियोंसे 'सब' पूछा, अतः उन्होंने 'सब' बताया, इसीसे कहते हैं कि 'सुनि सब चरित' । 'भूपगृह आए'; किस लिए ? कन्याके लक्षण देखनेके लिये, (यह इनका स्वभाव है), यथा 'नारद समाचार सब पाए । कौतुक ही गिरिगेह सिधाए । १।६६ ।' (ख) "करि पूजा नृप मुनि बैठाए" अर्थात् पाद्य अर्घ्य करके आसन दिया, यथा 'सैलराज बड़ आदर कीन्हा । पद पखारि बर आसनु दीन्हा ॥ नारि सहित मुनिपद सिरु नावा । चरन सलिल सबु भवन सिंचावा' इत्यादि । १।६६ ।'

४ (क) 'आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि । कहहु नाथ०' इति । ☞ हिमाचलने पार्वतीजीको बुलाकर प्रणाम कराया, पीछे दोषगुण पूछे, यथा 'निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना । सुता बोलि मेली मुनि चरना ॥ १।६६ ।' और यहाँ शीलनिधिने राजकुमारीको लाकर दिखाया पर प्रणाम न कराया । और न स्वयं कन्याने किया, यह कर्त्तव्य साभिप्राय है । इसमें तात्पर्य्य यह है कि प्रणाम करना भक्ति है, जिसकी भक्ति की जाय, जिसको प्रणाम किया जाय, उसकी फिर दुर्दशा करते नहीं बनती, ऐसा करना अयोग्य होगा । (और कन्याके हाथों वा उसके द्वारा मुनिकी दुर्दशा होनी है) इसीसे माया नारदके चरणोंपर नहीं पड़ी । शीलनिधि राजा भी तो मायाका ही बनाया हुआ है, अतः उसने प्रणाम न कराया । (ख) ☞ हिमाचलने प्रथम दोष पूछा तब गुण—'कहहु सुता के दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि । ६६ ।' और शीलनिधिने प्रथम गुण पूछे तब दोष;—'कहहु नाथ गुन दोष सब०' । इस भेदका तात्पर्य्य यह है कि पार्वतीजीके दोष गुण ही हैं (अर्थात् जिनको प्रथम दोष बताया गया था, वे अन्तमें गुण ही सिद्ध हुए), यथा 'दोषौ गुन सम कह सबु कोई । १।६९ ।' और मायाके गुण सब दोष ही हैं जो नारदके ठगनेके लिए ही धारण किए गए हैं (मायाके गुण अन्तमें दोषरूप ही सिद्ध होते हैं । उसमें सार वस्तु कुछ भी नहीं है । नारदजी जो गुण कन्यामें देखेंगे वे दोष ही है) यथा 'सुनहु तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक । गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक । ७।४१ ।'

प० प० प्र०—शैलराजने 'दोष गुन' पूछे तथापि नारदने पहले गुण ही देखे और पश्चात् 'दुइ चारी' दोष कहने लगे, पर कहे ग्यारह । जितने गुण कहे उतने ही दोष कहे । इससे सिद्ध हुआ कि पार्वतीजी (महेशकी माया) मुनिवरको गुणदोषसाम्यमयी जान पड़ी । पर 'हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस' ऐसी है और वह 'अजा दोषगृभीत गुणा' है, आनन्दादिको ढकनेके लिये उसने गुणोंका स्वाँग लिया है, गुणोंमें दोषोंको छिपाये है । अतः नारदजी दोषोंकी तरफ देखनेमें इस समय असमर्थ हैं, क्योंकि माया मोहित हैं । वेदोंने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है 'जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणाम् । भा० १० । ८७ । १४ ।' अर्थात् हे अजित ! आपकी जय हो, जय हो । जैसे व्यभिचारिणी दूसरे लोगोंको ठगनेके लिये गुण धारण करती है, वैसे ही आनन्द आदिका आवरण करनेके लिये गुण धारण करनेवाली चराचरकी अविद्याका नाश कीजिए । पार्वतीजीने शिवजीके गुणोंको दोषरूपमें धारण किये थे, इसलिये दोष-गुण क्रम वहाँ रक्खा है ।

नोट—हिमाचलने 'मुनिवर' संबोधन किया और शीलनिधिने 'नाथ' कहकर पूछा । कारण कि नारद राजासे कपट करेंगे, हृदयमें कुछ होगा बाहर मुँहसे कुछ कहेंगे । इससे यहाँ मायाने 'मुनिबर' नहीं कहलवाया ।

☞पूर्व मायाने जितना कुछ बनाया है वह सब क्रमसे चरितार्थ किया है।

	चरितार्थ—
बिरचेउ मग महँ नगर तेहि सत जोजन बिस्तार	१ मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ
बसहिं नगर सुंदर नर नारी	२ पुरबासिन्ह सब पूछत भयऊ
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा	३ मुनि सब चरित भूपगृह आए
बिश्वमोहनी तासु कुमारी	४ आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि
करइ स्वयंबर सो नृपबाला	५ हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला

व्याकरण "नारदहिं = नारदको। कर्म कारकका चिह्न 'को' के बदलेमें 'हि'। यथा रामहि, नृपहि, मुनिहि, रुद्रहि, मोहि, तुम्हहिं, हमहि, पतिहि, कालहि इत्यादि।—(श्रीरूपकलाजी)।

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥ १॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलानें। हृदय हरष नहिं प्रगट बखानें॥ २॥

शब्दार्थ—बार = देर, समय। भुलाना = भुलावेमें आना; चकरा जाना; धोखा खाना; भ्रममें पड़ना।

अर्थ—रूपको देखकर मुनिने अपना वैराग्य भुला दिया। बड़ी देरतक देखतेही रह गए॥ १॥ उसके लक्षण देखकर चकरा गए, धोखेमें आगए अर्थात् ज्ञान जाता रहा। हृदयमें हर्ष हुआ। (लक्षणोंको) प्रकट न कहा। (मनमें सोचने लगे कि)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी' अर्थात् 'बिरति' की इच्छा न रह गई। वैराग्यको भुलाकर बड़ी देरतक देखते रहगए अर्थात् मोहको प्राप्त हो गए। पूर्व कह आए हैं कि 'श्री बिमोह जिसु रूप निहारी', अर्थात् रूप ऐसा है कि जो देखे वही मोहित हो जाय, 'श्रीजी' तक मोहित हो जायँ। तब नारद कैसे न मोहको प्राप्त होते? (ख) नारदजीका वैराग्य देखिये। मायाने सौ योजनका सुन्दर नगर बनाया, वह उनको न मोहित कर सका। रति समान सुन्दर स्त्रियाँ बनाईं, उन्हेंभी देखकर वे न मोहे। सैकड़ों इन्द्रोंके समान वैभव-बिलास रचा, उसेभी देखकर उनका मन न डिगा।—ऐसा परम वैराग्य था। पर विश्वमोहिनीका सौंदर्य ऐसा था कि वे मुग्ध होगए, वैराग्यकी इच्छा न रह गई, वैराग्य जाता रहा। कभी उन्हें वैराग्य था यह भी स्मरण न रहा।

नोट—१ 'बड़ी बार लगि रहे निहारी' इति। (क) मुनि हाथ पकड़कर लक्षण देखने लगे तो हाथ हाथमें ही रह गया, दृष्टि कन्याके मुखपर ही डट गई। राजा समझे कि मुनि हृदयमें लक्षण विचार रहे हैं पर इनका मन रूपमें आसक्त हो गया है। इसीसे ये कुछका कुछ समझे। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि "बड़ी देरतक रूप निहारते रह गए, यह थिर सात्विक है। यहाँ नैनवारी रति मुनिमें अनुचित इति अभाव है जो हास्यरसका अङ्ग है। अतएव यहाँ 'उर्जस्व अलंकार' है"। (ग) टकटकी लगाये देखते रहे अर्थात् वैराग्य चलता हुआ। (पं० शुकदेवलाल)।

टिप्पणी—२ "लच्छन तासु बिलोकि भुलानें…" इति। (क) 'भुलाने' अर्थात् ज्ञान जाता रहा। यह भी स्मरण न रहा कि मैं ब्रह्मचर्य्यरत मुनि हूँ। रूप देखकर वैराग्य पहलेही चलता हुआ था। इस तरह ज्ञान और वैराग्य दोनोंही न रह गए, तब मोह हुआ। (ख) यहाँ "सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाकें॥" भगवान्‌का यह वाक्य जो उन्होंने नारदसे कहा था सिद्ध हुआ। (ग) यहाँ प्रथम वैराग्यका नाश कहकर तब ज्ञानका नाश कहा; कारण कि वैराग्यसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। यथा "जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा।२।९३।", "धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ३।१६।", "ज्ञान कि होइ बिराग बिनु। ७।८९।" अतएव पहले कारण गया तब कार्य। कारणही न रह गया तब कार्य कैसे रहे? (घ) 'भुलाना' ज्ञानका नाश होना है। ज्ञान गया,

अतः 'हृदय हरष'। हर्ष हुआ कि उपाय करनेसे यह कन्या हमको मिलेगी। [लक्षण देख हृदयमें आनंदके मारे विपरीत अर्थ समझ लिया। विपरीत अर्थ समझना यही ज्ञानका जाना है। (पं० शुकदेव लाल)] (ङ) "नहिं प्रगट बखाने" इति। प्रकट न वर्णन करनेमें हृदयका भाव यह था कि लक्षण सुनकर देवता, मनुष्य, राक्षसादि सभी उसे पानेका प्रयत्न करेंगे। और राजा शीलनिधि इन लक्षणोंको जान जायँगे तो वे त्रिदेवमेंसे ही किसीको देंगे। अतः गुण प्रकट न किये। ☞नीति है कि जब तक कार्य न हो जाय तब तक वह बात प्रकट न की जाय। यथा "जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ।१।१६८।", "जिमि मन माँह मनोरथ गोई। २।३१६।" (च) इसी चौपाईका आगे विस्तार करते हैं। लक्षण देखकर भुला गए हैं। वे लक्षण कौन हैं यह आगे कहते हैं।

वैजनाथजी—'भुलानें।...' अर्थात् कार्यमायाने आत्मदृष्टि खींच मुनिको प्राकृत जीवोंकी तरह इन्द्रियविषयमें आसक्त कर दिया। रूप-विषय पा नेत्रद्वारा हर्ष हृदयमें भर गया, उसकी प्राप्तिके लिए वे सकाम हुए जिससे सत्यका नाश हुआ। इसीसे लक्षण प्रगट न किये, झूठ बोले।

नोट—२ श्रीलमगोड़ाजी इस प्रसंगकी आलोचना करते हुए लिखते हैं कि कन्याको देखतेही मायाने ऐसा घेरा कि वे कामवश हो लड़कीके सौंदर्यपर आसक्त हो गए। पतनका यह हाल हुआ कि कामके विजय वाले मार्के को भूल गए, आगपर रक्खे हुए बालकी तरह नैतिक महत्ताकी कड़ियाँ खटाखट टूट गईं और एक दोषके बाद दूसरा दोष पैदा हो चला। जब हाथ दिखाया गया तब मन गढ़न्त गुण दोष बता गए पर दिलमें यही सोचते रहे कि इसे किस प्रकार प्राप्त किया जाय। कामके साथ कपट और मिथ्यावादवाले दोष आ धमके। आह! नारद यह समझ न सके कि यह मायारूपिणी बाला है, इसको 'अमर और चराचर-सेव्य' भगवान् ही बर सकेंगे।

३—शिव पु० में कहा है कि राजाके पूछनेपर नारदजी कामसे विह्वल होकर उसको पानेकी इच्छा करके बोले। "तामिच्छुः कामविह्वलः।"

जो एहि बरै अमर सोइ होई। समर-भूमि तेहि जीत न कोई॥ ३॥

सेवहिं सकल चराचर ताही। बरै सीलनिधि कन्या जाही॥ ४॥

लच्छन† सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥ ५॥

अर्थ—जो इसे व्याहेगा वह अमर हो जायगा, उसे रणभूमिमें कोई न जीत सकेगा॥ ३॥ सब चर और अचर जीव उसकी सेवा करेंगे जिसे शीलनिधिकी कन्या व्याहेगी॥ ४॥ उन्होंने सब लक्षण विचारकर हृदयमें रख लिये और कुछ औरके औरही बनाकर राजासे कहे॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'जो एहि बरै अमर सोइ होई।०' अर्थात् वह मृत्युको जीत लेगा। (ख) 'समर-भूमि तेहि जीत न कोई' अर्थात् वह त्रैलोक्यविजयी होगा, तीनों लोकोंमें उसको कोई न जीत सकेगा, वह सबको जीत लेगा। (ग) 'सेवहिं सकल चराचर ताही' अर्थात् वह समस्त ब्रह्माण्डका राजा होगा और 'अमर' है ही अतएव यह सिद्ध हुआ कि वह अनन्त कल्पों तक राज्य करेगा, यथा "जरा मरन दुखरहित तनु समर जितै नहिं कोउ। एक छत्र रिपुहीन महि राज कलपसत होउ॥ १।१६४।" (घ) ☞यहाँ दो बातें कहीं; एक तो यह कि 'जो एहि बरै', दूसरी 'बरै सीलनिधि कन्या जाही।' भाव कि इन्हीं दोमेंसे एकके साथ विवाह होगा, जो या तो परम बलवान् हो या परम सुन्दर हो। परम बली होगा तो सबको जीतकर इसे व्याह लेगा और परम सुन्दर होगा तो कन्या उसपर रीझकर जयमाल डालकर उसे स्वयं वरण करेगी। (ङ) ☞प्रथम ही कह आये कि 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने', 'भुलाने' का लक्षण यही है कि उलटी

† १६६१ में 'लछन' है। प्रायः 'च्छ' की जगह सर्वत्र 'छ' रहता है।

समझ हो गई। समझे कि जो इसको व्याहेगा वह मृत्यु और शत्रुको जीतकर ब्रह्मांडका राजा होजायगा; यह न जाना कि जो कोई अमर, ब्रह्मांडोंका पति, इत्यादि लक्षणसंपन्न होगा वही कन्याको व्याहेगा, उसीको कन्या वरण करेगी। ☞ 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने' उपक्रम है और 'लच्छन सब बिचारि उर राखे०' उपसंहार है।

२ (क) 'लच्छन सब बिचारि उर राखे।'। इति राजाकी प्रार्थना है कि 'कहहु नाथ गुन दोष सब यहिके हृदय बिचारि', सो हृदयमें विचारना यहाँ तक कहा। हृदयमें विचारकर हृदयमें ही रख लिए, राजासे न कहे। (यहाँ मुख्य तीन लक्षण इन्होंने विचारे—अमरत्व, अजित्व और ब्रह्मांडका आधिपत्य। इन तीनोंको छिपा रक्खे)। (ख) 'कछुक बनाइ भूप सन भाखे' का भाव कि विशेषगुण हृदयमें रक्खे, सामान्य गुण प्रकट किये। 'सब उर राखे' और यहाँ 'कछुक भाषे' कहकर जनाया कि उत्तम गुण सब हृदयमें गुप्त कर रक्खे, उनमेंसे एक भी न प्रकट किया और जो कहे वह एक तो बहुत थोड़े कहे और वह भी गढ़े हुए, जिसमें कन्याका माहात्म्य (महत्व) न खुले। यह मायाविवशता दिखाई कि मुनि होकर कपट किया, पेटमें कुछ, मुँहमें कुछ। स्त्रीसंग्रहकी इच्छा होते ही प्रपंचमें फँसे।

व्याकरण बनाइ=बनाकर। पूर्वकालिक क्रिया। यथा—सुनाइ=सुनाकर, देखाइ=दिखाकर। लेइ, देइ, मुसुकाइ, जाइ, आइ, खाइ, रिसाइ इत्यादि। [श्री रूपकलाजी]।

नोट—शिव पु० में नारदने राजासे ये लक्षण भी कहे हैं। यथा "सर्वेश्वरोऽजितो वीरो गिरीशसदृशो विभुः। अस्याः पति ध्रुवं भावी कामजित्सुरसत्तमः। १८।" अर्थात् इसका पति सर्वेश्वर, अजित, शिवसमान विभु, कामजित् और देवताओंमें श्रेष्ठ होगा।

सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं ॥६॥
करौं जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी ॥७॥
जप तप कछु न होइ तेहि† काला। हैं‡ बिधि मिलै कवन बिधि बाला ॥८॥
दोहा—एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब†† मेलइ जयमाल ॥१३१॥

शब्दार्थ—सुलच्छन=सुलक्षणा; सुन्दर उत्तम लक्षणोंसे युक्त। पाहीं=से। हैं=हे। यह कानपुर आदिमें अब भी घरोंमें बोला जाता है। प्रायः आश्चर्य और दुःखयुक्त हृदयसे यह शब्द 'हे' संबोधनकी जगह प्रयुक्त होता है। विनयपत्रिकाकी प्राचीनतम (सं० १६६६ की) पोथीमें तो अनेक पद्योंमें इसका प्रयोग हुआ है और अरण्यकाण्डमें श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें भी यह आया है। यथा "हैं बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया। ३।१०।' रीझना=मोहित होना; लट्टू हो जाना।

अर्थ—राजासे कहकर कि तुम्हारी कन्या सुलक्षणा है, नारदजी चल दिये। उनके मनमें (कन्याकी प्राप्तिकी) चिन्ता है॥ ६॥ जिस प्रकार वह कन्या मुझे व्याहे मैं जाकर वही यत्न विचारकर करूँ॥७॥ उस समय जप तप कुछ भी न हो सकता था*। (वे मनमें कह रहे हैं) हे विधाता! किस प्रकार कन्या

---

† एहि—छ०। इहि—रा० प०। तेहि—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, को० रा०।

‡ हे—छ०, को० रा०, रा० प्र०। हैं—१६६१। है—१७२१, १७६२, १७०४। 'हैं' पाठ विनय और मानसमें कई जगह 'हे' के अर्थमें आया है। संभवतः, यह बोली रही हो। †† अरु-बंदनपाठकजी।

* अर्थान्तर—१ जप तपसे इस समय कुछ नहीं हो सकता। २—उस समयतक जप तप कुछ हो नहीं सकता।—(इसके आगे पाद-टिप्पणी पृष्ठ ६८० में पढ़ लीजिये)।

मिले ? ॥ ८ ॥ इस समय (तो) परम शोभा और विशाल रूप चाहिये जिसे देखकर राजकुमारी लट्टू हो जाय, तभी वह जयमाल डालेगी ॥ १३१ ॥

टिप्पणी—१ 'सुता सुलच्छन···' इति । (क) राजाने गुण और दोष दोनों पूछे, पर नारदजीने सुताके 'सुलच्छन' कहे । इसमें भाव यह है कि नारदजी इस समय मायाके वश होगए हैं, इसीसे उन्हें माया (विश्वमोहिनी) में दोष दिखाई ही नहीं पड़ते, गुण ही गुण दीखते हैं; इसीसे उन्होंने गुण ही कहे । यदि दोष देख पड़ते तो फिर प्राप्तिकी इच्छा ही क्यों करते ? पुनः, 'सुता सुलच्छन' का भाव कि इसमें गुण हैं, दोष नहीं हैं; यथा 'सोइ हरि माया सब गुन खानी । १।१३०।५ ।" इस से दोष नहीं कहे । (ख) पूर्व कहा है कि, 'लच्छन सब बिचारि उर राखे' अर्थात् हृदयमें रखनेमें तो 'लच्छन' का रखना कहा और राजासे कहनेमें 'सुलच्छन' शब्द दिया । लक्षण हृदयमें रक्खे और सुलक्षण कहे, यह कैसा ? इस शंकाका समाधान वक्ताने पहले ही 'कछुक बनाइ भूप सन भाषे' में 'बनाइ' शब्द देकर कर दिया है । अर्थात् जो सुलक्षण कहे वे बनाये हुए हैं । जो बात असलको छिपानेके लिए बनाई जाती है, वह असलसे अधिक सुन्दर देखने-सुननेमें होती है; यही दिखानेके अभिप्रायसे यहाँ बनावटमें 'सुलच्छन' शब्द दिया । (सुलक्षण कहे अर्थात् कहा कि बड़ी भाग्यवान् हैं, परम सती और सौभाग्यवती होगी, पति बड़ा भारी यशस्वी पराक्रमी होगा, इसका सुहाग अचल रहेगा । इत्यादि) । (ग) 'सोच मन माहीं' का भाव कि कोई उपाय मनमें नहीं सूझ पड़ता । (क्या यत्न करें जिससे वह हमें व्याहे, यह निश्चित नहीं कर पाते, अतः सोच है; यथा "एकउ जुगुति न मन ठहरानी । सोचत भरतहि रैनि बिहानी । २।२५३ ।") । (घ) 'चले' का भाव कि यत्न करनेके लिए चले, सोचे कि यहाँ बैठे रहनेसे काम नहीं चलेगा; यह आगे स्पष्ट है ।

२ "करौं जाइ सोइ जतन बिचारी ।···" इति । प्रथम दो बातोंका विचार करना कह आए । एक 'जो एहि बरै' (अर्थात जो महाबलवान् हो कि सब राजाओंको जीतकर इसे व्याह ले जाय) । दूसरा 'बरै सील-निधि कन्या जाही' (अर्थात् जो परम रूपवान् हो जिसमें कन्या स्वयं रीझकर जयमाल पहना दे)। अब सोचते हैं कि हम अपने पुरुषार्थसे तो कन्याको बर नहीं सकते, इससे उपाय वह करना चाहिये जिससे कन्या स्वयं हमपर रीझकर हमें व्याह ले । (दो बातोंमेंसे अपनेमें एक भी नहीं पाते, न तो बल और न परम सौंदर्य । इसीसे यत्नका विचार किया । स्वयंवर है, इसमें बलका प्रयत्न करके हर ले जाना अयोग्य है, इससे दूसरी बातके लिए प्रयत्न करना उचित समझा) । यत्नका विचार आगे लिखते हैं ।

३ "जप तप कछु न होइ तेहि काला ।···" इति । नारदजी विचारते हैं कि कुछ जप तप करें । (अर्थात् जप-तपसे कार्य सिद्ध हो सकता है, परम सौन्दर्य मिल सकता है) पर उस कालमें जप-तप कुछ हो नहीं सकता । अर्थात् उसके लिये समय चाहिये और यहाँ अवकाश है नहीं, स्वयंवर होने जा रहा है, थोड़ा ही समय रह गया है (दूसरे जप-तपमें मनकी आवश्यकता है और मन इस समय पराये हाथमें है) अतएव विधिसे प्रार्थना करते हैं । 'विधि' से प्रार्थना करनेका भाव कि आप कर्मका फल देनेवाले हैं और मुझसे जपतपादि कोई भी कर्म हो नहीं सकते, तब किस तरह 'बाला' मिले । अर्थात् बालाके मिलनेकी कुछ 'विधि' नहीं है, आप कोई 'विधि' सुझावें, क्योंकि आप 'विधि' हैं, आप अपना नाम सत्य कीजिए । (जैसे श्रीसीताजीने अशोकसे कहा था-'सुनहि बिनय मम बिटप असोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका । ५।१२ ।') । ब्रह्माकी प्रार्थनासे विधि सूझी जो आगे कहते हैं ।

'एहि' पाठसे अर्थ बहुत सरल हो जाता है । इससे ये वचन नारदके ही बिचार सिद्ध होते है । 'तेहि' का अर्थ 'उस' होता है और इसी अर्थमें प्रायः इसका प्रयोग सर्वत्र हुआ है । इससे अर्थमें कठिनता हो रही है । इससे यह वचन वक्ताका ले सकते हैं और उसके आगेसे श्रीनारदजीके विचार समझ लें ।

नोट—१ कुछ लोग यह शंका करते हैं कि "पूर्व किए हुए जप तपादिके बलसे क्यों न ब्याह कर लिया?' इसका समाधान यों किया जाता है कि-(१) भक्तोंका जप-तप निष्काम होता है। जो इन्होंने पहले किया था वह तो भगवदर्पण हो चुका, वह लौट नहीं सकता। पुनः, (२) भ्रममें ज्ञान वैराग्यके साथ ही पूर्वकृत जप-तपका स्मरण भी न रहा। भक्तिके प्रभावसे इतना तो अवश्य सूझा कि हरि ही हमारे हितू हैं, उन्हींसे रूप माँगू।

टिप्पणी ४—"एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल।···" इति। (क) यहाँ परम शोभा और विशाल रूप दो बातें चाहते हैं। अंगकी सुन्दरता 'शोभा' है और अंगकी रचना 'रूप' है। (शरीरका चढ़ाव-उतार, सब अंग यथायोग्य जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा ही होना 'रूप' कहलाता है। शोभा=सौंदर्य; सुंदरता)। इस अवसरमें जप-तप नहीं हो सकता, रूप हो सकता है (यह 'बिधि' ने सुझाया), इसीसे रूपकी प्राप्तिका विचार करते हैं। (परम शोभा और विशाल रूपका भाव यह भी है कि स्वयंवरमें अनेक राजा आए हैं जो शोभा सौंदर्य और रूपसे युक्त हैं; जब उन सबोंसे बढ़कर रूप और सौंदर्य होगा तभी कन्या उन सबोंको छोड़कर इन्हींको ब्याहेगी, अन्यथा नहीं। 'कन्या वरयते रूपम्' प्रसिद्ध ही है। अतः 'परम' शोभा और 'विशाल' रूप चाहते हैं)। पूर्व कह आए कि बल हो अथवा सौंदर्य। संत किसीसे वैर नहीं करते, इसीसे इन्होंने बलकी चाह न की किंतु शोभाकी चाह की। (ख) 'मेलइ जयमाल'—इन शब्दोंसे 'करै स्वयंबर सो नृपबाला' के 'स्वयंबर' शब्दका अर्थ खोला कि 'जयमाल गलेमें डालना' स्वयंबर है। (वा, यह जयमाल-स्वयंबर है यह जनाया)। यहाँ 'संभावना अलंकार' है। (ग) ☞यहाँसे इनके हृदयकी आतुरता देखते चलिये। विशेष आगे लिखा जायगा।

नोट—२ समानार्थी श्लोक, यथा—"सुतेयं तव भूपाल सर्वलक्षणलक्षिता। महाभाग्यवती धन्यालक्ष्मीरिव गुणालया ॥ १७ ॥···इत्युक्त्वा नृपमामंत्र्य ययौ याद्दच्छिको मुनिः ॥··· १९ ॥ चित्ते विचिन्त्य स मुनिराप्नुयां कथमेनकाम्। स्वयंवरे नृपालानामेकं मां वृणुयात्कथम् ॥ २० ॥ सौन्दर्यं सर्वनारीणां प्रियं भवति सर्वथा। तद्दृष्ट्वैव प्रसन्ना सा स्ववशा नात्र संशयः। २१ ॥ (रुद्र सं० २।३)।" अर्थात् राजन्! सर्वलक्षणसंपन्ना बड़े भाग्यवाली आपकी यह कन्या धन्य है। यह लक्ष्मीके समान गुणोंकी धाम है।···ऐसा कहकर मुनि चले गए। अब नारदजी मनमें विचार करने लगे कि इसको किस तरह प्राप्त करूं। स्वयंवरमें आए हुए राजाओंमें मेरा ही वरण कैसे करे? स्त्रियोंको सौन्दर्य अत्यंत प्रिय होता है; उसे देखकर स्त्रियाँ प्रसन्न हो अपने वश हो जाती हैं।—(ये सब भाव मानसकी इन चौपाइयों और दोहेमें हैं)।

हरि सन मागौं सुंदरताई। होइहि जात गहरु अति† भाई ॥१॥
मोरें हित हरि सम नहि कोऊ। एहि औसर सहाय सोइ होऊ ॥२॥
बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ॥३॥
प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ाने। होइहि काजु हिएंहृ‡ हरषाने ॥४॥

शब्दार्थ—गहरु=देर। औसर (अवसर)—समय, मौका।

अर्थ—(एक काम करूँ-) भगवान् हरिसे सुंदरता माँगू (परंतु) भाई रे भाई! वहाँ जानेमें तो बहुत देर हो जायगी ॥ १ ॥ हरिसरीखा मेरा कोई भी हितू नहीं है, वे ही इस समय सहाय हों ॥ २ ॥ उस समय नारदने बहुत भाँतिसे विनती की तब कौतुकी कृपाल प्रभु प्रगट हो गए ॥ ३ ॥ प्रभुको देखकर मुनिके नेत्र ठंडे हुए। वे हृदयमें हर्षित हुए कि काम अवश्य होगा ॥ ४ ॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—सच है, 'जादू वह जो सिर पे चढ़के बोले'। ये देवर्षि नारद हैं या

† मोहि—भा० दा०। ‡ १६६१ में 'हिंएंह' है।

कामपीड़ित मजनूँ जो अपने ख़याली पुलावमें मग्न है। जिन विष्णुभगवान्‌से अपने कामविजयकी बड़ी डींग मारी थी उन्हींसे अपने कामवासनाकी पूर्त्तिके निमित्त आज अपने लिये सौंदर्य्य माँगने जा रहे हैं। फिर व्याकुलता और उतावलीका यह हाल है कि सोच रहे हैं कि यदि क्षीरसागर या वैकुंठतक जाना पड़ा तो 'होइहि जात गहरु अति भाई'। 'भाई' शब्द बड़ा मार्मिक है। वह हमारी सहानुभूतिको उत्तेजित करना चाहते हैं परन्तु हमें हँसी आ जाती है क्योंकि व्याकुलता और उतावलीपन प्रगट हो जाता है।

टिप्पणी—१ (क) 'हरि सन मागौं सुंदरताई' इति। 'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप बिसाल' इस विचारके साथ यह भी विचार मनमें आया कि हरिमें परमा शोभा और विशाल रूप दोनों हैं। और उन्हें रूप देनेका सामर्थ्य भी है अतः उन्हींसे क्यों न सुन्दरता माँग लूँ यह विचार आया, इसीको निश्चय किया; पर वे क्षीरसागरमें रहते हैं, वहाँतक जानेमें बिलंब होगा,—'होइहि जात गहरु अति भाई', तबतक सब काम ही बिगड़ जायगा। (ख)☞देखिए, माया नारदको ठगने आई है और नारद मायाको ठगना चाहते हैं, दूसरेका रूप माँगकर मायाको अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं। मायाने अपना रूप दिखाकर नारदको मोहा और नारद मँगनीका रूप दिखाकर मायाको मोहना चाहते हैं। (ग) 'होइहि जात गहरु अति'। भाव कि हमें क्षीरसिंधुतक जानेमें देर होगी, हरिको यहाँ आनेमें देर न लगेगी, इसीसे सोचते हैं कि वेही आकर सहाय हों। 'गहरु अति' से जनाया कि क्षीरसिंधु वहाँसे बहुत दूर है। भगवान्‌के स्थानसे बहुत दूर तक माया का गम्य नहीं है। (भुशुण्डीजीके आश्रमसे चार चार कोशतक चारों ओर अविद्या न व्यापती थी,—'व्यापिहि तहँ न अविद्या जोजन एक प्रजंत'। तब जहाँ भगवान् स्वयं हैं वहाँ से न जाने कहाँतक मायाका गुज़र न होगा। यह नगर बहुत दूरीपर रचा गया होगा। ☞(घ) यहाँ शंका होती है कि 'ये योगिराज हैं, योगबलसे आँख बंद करके क्यों नहीं जाते ? [जैसे स्वयंप्रभाने योगबलसे वानरोंको समुद्रतटपर पहुँचा दिया और स्वयं उसी तरह रामचन्द्रजीके समीप पहुँची और फिर वहाँसे बदरीवनको चली गई। (कि० दोहा २५)। और नारदजी अव्याहतगति हैं, यथा '...गति सर्वत्र तुम्हारि।१।६६।'"] इसका समाधान यह है कि मुनि इस समय मायाके वशमें होनेसे योगकी सुध (अपना मनोवेग एवं अपना कर्त्तव्य) भूलगए हैं, यथा 'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा।१३३।३।' (और योगसे भी पहुँचनेमें कुछ बिलंब ही होगा)। (ङ) 'भाई' शब्द यहाँ मनसे संबोधन है। ऐसा प्रायः बोलनेकी रीति है, यथा 'जग बहु नर सर सरि सम भाई', 'करइ बिचार करउँ का भाई' इत्यादि। विशेष १।८।१३ 'जग बहु नर...' में देखिए।

२ (क) 'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ' इति। जो अपना हितैषी होता है उसीसे वस्तु माँगे मिलती है, सहायता ली जाती है, वही अवसर पड़नेपर सहाय होता है। यथा 'तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कै भइसि अधारा।२।२३।२।' 'हरि' का भाव कि 'क्लेशं हरितीति हरिः' आप क्लेशके हरनेवाले हैं, आप हमारे शोचको दूर करें। इसीसे 'हरि' शब्द दिया। (ख) 'एहि अवसर सहाय सोइ होऊ'।—सहाय हो अर्थात् हमारा उपकार करो, हमारा क्लेश हरो। 'एहि अवसर'—अवसर निकल जानेपर कार्य्यकी हानि है इसीसे नारदजी बारंबार अवसरका विचार कर रहे हैं, यथा 'जपतप कछु न होइ तेहि काला', 'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा०', तथा यहाँ 'एहि अवसर सहाय सोइ होऊ'। [☞ यहाँ यह दिखाते हैं कि भगवद्भक्तको यदि कोई कामना होती है तो वह उसे अपने ही प्रभुसे माँगता है, दूसरेसे कदापि नहीं। कष्ट पड़नेपर उन्हींको पुकारता है। धन्य हैं कृपालु भगवान्‌भी कि मोहमें लिप्त होनेपरभी वह शरणमें आए हुएके ऊपर अपना हाथ रखेही रहते हैं। वे ही सच्चे हितैषी हैं—'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु' (वि० १९१), 'तुलसी प्रभु साँचो हितू...' (वि० १९०)]।

प० प० प्र० - इतने विषयलोलुप, कामी, मायाविमूढ़ हो गए हैं, फिर भी किसी अन्यका भरोसा नहीं है। यह विशेषता भक्तिका प्रभाव है। इस अनन्यगतिकताने ही मुनिको आखिर बचाया है। माया-

निर्मित नगरीके राजकुमारीपर मुनिवर मोहित हुए, इससे हम लोग उनपर हँसते हैं। पर हम रात-दिन कल्पों-कल्पोंतक क्या करते हैं ! यह जग मायानिर्मित मायामय, असत्य, मिथ्या ही तो है और हम बड़े-बड़े पंडित शूरवीरादि भी मायाजनित अगणित विषयोंसे ही तो सुख चाहते हैं। हम तो मायाजनित अनित्य नश्वर प्राणी मनुष्यादिका ही भरोसा रखते हैं, अपनी निज करणीके भरोसेपर ही चलते हैं। 'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ' यह तो स्वप्नमें भी कभी हमारे चित्तमें नहीं आता। तब तो हम ही अधिक विमूढ़ और उपहासास्पद हैं। ऐसे विमूढ़ होते हुए भी हम लोग विद्यामायाविमूढ़ देवर्षिका मोह देखकर उनकी हँसी उड़ाते हैं, पर हम यह नहीं सोचते कि स्वयं क्या करते आए हैं। मानस, भागवत, वेदान्त शास्त्रादि मुखसे गाते कहते हुए भी हम तो अविद्या मोहमें ही आनन्द मान रहे हैं, इसकी हम लोगोंको लज्जा नहीं।

टिप्पणी—३ (क) 'बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला' जैसे कि, आपने अमुक-अमुक भक्तोंकी सहायता की, आप कृपाल हैं, सन्तके हितैषी हैं, हमारे ऊपर कृपा करके प्रकट होकर सहायता कीजिये। (ख) 'तेहि काला' देहलीदीपक है अर्थात् जिस समय विनय की उसी समय भगवान् भी प्रकट होगए। नारदजीने प्रार्थना की कि 'एहि अवसर' सहाय हूजिये, अतः भगवान् उसी 'काल' प्रकट होगए।—(विना यत्नके चितचाही बात होनेसे 'प्रथम प्रहर्षण अलंकार' हुआ)। (ग) 'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला'।—('प्रगटेउ' के संबंधसे 'प्रभु' शब्द दिया। इन दोनों शब्दोंसे जनाया कि वे तो सर्वत्र हैं, उनका कहीं आना जाना थोड़ेही है, प्रेमसे तुरत जहाँ भक्त चाहे कृपा करके प्रकट हो जाते हैं; यथा 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।'''प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी'। समर्थ हैं जहाँ जब चाहें प्रत्यक्ष हो जायँ। प्रगट होनेके संबंधसे कृपाल भी कहा)। 'कौतुकी' का भाव कि भगवान् कौतुक करना चाहते हैं, यथा 'मुनि कर हित मम कौतुक होई'। कृपालका भाव कि मुनिपर कृपा करके हित करनेके लिए प्रगट हुए। [☞स्मरण रहे कि मोह प्रसंगका प्रारंभ ही 'कौतुक' बीजसे हुआ है। 'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान। १२७।' अतएव प्रसंगके अन्त तक कौतुकका प्रसंग चला जा रहा है। मुनि कौतुकी, नगर कौतुकी, भगवान्‌भी कौतुकी, सारा खेल मायाका कौतुक, रुद्रगण कौतुकी, इत्यादि।]

४ (क) 'प्रभु बिलोकि मुनि नयन जुड़ाने'।—अत्यन्त सुन्दर स्वरूप देखकर नेत्र शीतल हुए कि ऐसा स्वरूप मिलनेसे कार्य्य अवश्य सिद्ध होगा क्योंकि कार्य्य रूपहीके अधीन है। (ख) 'होइहि काजु हृदय हरषाने।' हर्ष होनेके कई कारण हैं, एक तो यही कि कार्य्य सिद्ध होनेकी प्रतीति हुई —'होइहि काज।' दूसरे यह सोचकर कि जब यह रूप देखकर हमारे नेत्र शीतल हुए हैं तब उसके नेत्र क्यों न शीतल होंगे। तीसरे कि यदि सुन्दर रूप न देना होता तो प्रकट न होते, भगवान् भक्तको 'नहीं' नहीं करते, (यथा 'मोरे कछु अदेय नहि तोरे', 'कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मांगी। ३।४२।') 'होइहि' अर्थात् अवश्य होगा, इसमें संदेह नहीं। विश्वास इससे है कि कार्य्य न करना होता तो प्रकट न होते।—[व्याकरण—'होइहि=होगा। भविष्य क्रिया अन्य पुरुष। यथा 'मिटिहि, मिलिहि, जाइहि, रीझिहि, बरिहि, देखिहि चलिहि।' (श्रीरूपकलाजी)]

नोट—शिवपु० के नारद विष्णुके लोकहीको चले गए और एकान्तमें उनसे सब वृत्तांत कहा है। मानसके नारदको यह ज्ञान है कि विष्णु सर्वत्र प्रकट हो सकते हैं इससे मार्गमेंही प्रार्थना करते हैं, इनको बहुत उतावली है।

अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि[१] होहु सहाई॥ ५॥

---

१ हरि—पं० रा० व० श०, वै०, रा० प्र०। प्रभु—शुकदेवलाल। करि—१६६१, रा० बा० दा०, को० रा०, श्रीनंगे परमहंसजी। "करि" पाठ लेनेसे इस चरणकी वाक्यरचना अवश्य शिथिल होजाती है,

आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही ॥ ६ ॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा ॥ ७ ॥
निज-माया-बल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला ॥ ८ ॥
दोहा—जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार ॥ १३२ ॥

अर्थ—बहुत आर्त्त (दीन) होकर एवं बहुत आतुरतासे उन्होंने (सब) कथा कह सुनाई (और प्रार्थना की कि) कृपा कीजिए, कृपा करके सहाय हूजिये ॥ ५ ॥ हे प्रभो! मुझे अपना रूप दीजिए, (क्योंकि) और किसी तरह मैं उसे नहीं पा सकता ॥ ६ ॥ हे नाथ! जिस तरह मेरा हित हो वह (उपाय) शीघ्र कीजिए, मैं आपका दास हूँ ॥ ७ ॥ अपनी मायाका विशाल बल देख मनही मन हँसकर दीनदयाल भगवान् बोले ॥ ८ ॥ 'हे नारद! सुनो, जिस प्रकार तुम्हारा परम हित होगा हम वही करेंगे और कुछ नहीं, हमारा वचन असत्य नहीं ॥ १३२ ॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—१ कौतुक कितना सुन्दर है, इसका पता तो अभी लग जायगा पर कृपाके स्पष्टीकरण तक तनिक रहना पड़ेगा यद्यपि उसका आरंभ भी यहींसे है। मुनिकी व्याकुलता और देर होनेका खटका इसी कृपालुतासे तो दूर करके शीघ्र ही भगवान् प्रकट हो गये। 'नयन जुड़ाने' 'हिय हरषाने' से यह बात साफ़ हो जाती है।

२ - प्रार्थनाका अंतिम अंश बड़ा मज़ेदार है और ऐसे रूपमें रक्खा गया है कि श्लेष पैदा हो जाय। बस लीलामय भगवान्‌को कौतुक एवं परम हित दोनोंके दिखानेका मौक़ा मिल गया।

३—'हिय हसि' से भगवान्‌की उदारता तथा उपहास दोनों भाव प्रकट होते हैं। हँसी प्रकट न हो इसका कारण यह भी है कि मज़ाक़का पता नारदको न लगे।

४—भगवान्‌का उत्तर स्पष्ट है परन्तु कामपीड़ित मोहांध नारदको आज कुछ समझमें नहीं आता—पतन यहाँतक पहुँच गया। ये वही नारद मुनि हैं जिनके लिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि देवर्षियोंमें नारद मैं हूँ।

टिप्पणी—१ (क) 'अति आरति कहि कथा सुनाई' इति। भगवान् आर्तहरण हैं, अतः 'अति आर्त्त' होकर कहा। 'अति आरति०' अर्थात् कहा कि हमने आपको बड़े दुःखमें बुलाया है, हमको बड़ा संकट है, उसीकी कथा फिर कही। 'कथा सुनाई' अर्थात् बताया कि 'आपके यहाँसे चलनेपर बीचमें एक सुन्दर नगर मिला। वहाँके राजा प्रजा सब बड़े सुन्दर हैं। राजाके वैभवविलासके आगे सैकड़ों इन्द्रोंका वैभव कुछ नहीं है। उसकी परम सुन्दरी एक कन्या विश्वमोहिनी है जो अद्भुत-रूप-लक्षणयुक्त है। वह इस समय अपना स्वयंवर कर रही है। उसीकी प्राप्तिमें कृपा करके सहाय हूजिए। उसके पानेके लिए हम आतुर हो रहे हैं, हमारी यह आर्ति हरण कीजिए।' क्या सहायता करें सो आगे कहते हैं कि 'आपन रूप देहु प्रभु मोही'। ☞जिनसे प्रथम कहा था कि हमने काम-क्रोधको जीत लिया उन्हींसे अब कामी होकर स्त्रीप्राप्तिके लिए दीनतापूर्वक प्रार्थना करते हैं, यह कैसी लज्जाकी बात है? उनसे किस मुखसे कहा गया? उन्हें लज्जा न लगी? इस संभावित शंकाकी निवृत्तिके लिये 'अति आरति'—पद प्रथम ही दिया गया है। अति आर्त्त हैं, इसीसे होशहवास ठिकाने

परन्तु कविने मुनिकी अधीरताको द्योतित करनेके लिये जान बूझकर उनसे ऐसी भाषाका प्रयोग कराया है।" (गीताप्रेस संस्करण)। नोट—पृष्ठ ६८३ की पाद-टिप्पणीके आगे सिलसिलेमें इसे पढ़िये)।

नहीं, चेत नहीं है। आर्त्तके चेत एवं विचार नहीं रह जाता, यथा 'कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरतके चित चेतू।२।२६६।४।' और नारद तो 'अति आर्त्त' हैं, 'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इन्ह को बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी' (विनय ३४)।

२ (क) आपन रूप देहु प्रभु मोही' इति। प्रथम विचारमें कह आए कि इस अवसर परम शोभा और विशाल रूप चाहिए (दो० १३१)। फिर विचारे कि 'हरि सन मांगौं सुंदरताई' (इस चरणमें केवल सुन्दरता माँगनेका विचार लिखा गया) और यहाँ माँगते हैं 'रूप'—'आपन रूप देहु'। इससे जनाया कि 'हरि सन०' में रूपका अध्याहार और यहाँ 'परम सोभा' का अध्याहार है, दोनों जगह एक एक लिखकर दोनोंमें दोनोंका होना दोहेके अनुसार जनाया। (ख) "आन भाँति नहिं पावौं" इति। भाव यह कि इसीसे मैं आपका रूप माँगता हूँ, नहीं तो न माँगता। 'आन भाँति' कथनमें भाव यह है कि अन्य सब उपायोंको मैं पूर्व ही विचार चुका हूँ। (वे विचार पूर्व कह आए हैं; यथा 'जप तप कछु न होइ तेहि काला')। (ग) 'ओही' इति। इसका सामान्य भाव तो हो ही चुका कि 'उसको' नहीं पा सकता। दूसरा भाव यह ध्वनित हो रहा है कि जबसे कार्य-सिद्धिका निश्चय हुआ, यथा 'होइहि काजु हिएँह हरषाने', तबसे उन्होंने विश्व-मोहिनीमें स्त्रीभाव मान लिया है, इसीसे उसका नाम नहीं लेते, 'ओही' कहते हैं।—[जबतक भगवान् प्रकट न हुए थे, तबतक नारदजी विश्वमोहिनीके लिये 'कन्या', 'कुमारी', 'बाला' और 'कुअँरि' शब्दोंका प्रयोग करते आए। यथा 'बरै सीलनिधि कन्या जाही', 'जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी', 'हैं बिधि मिलै कवन बिधि बाला' तथा 'जो बिलोकि रीझै कुअँरि।' भगवान्के प्रकट हो जानेसे इनको विश्वमोहिनीकी प्राप्तिका निश्चय हो गया। उन्होंने उसे अपनी स्त्री मान लिया। स्त्रीका नाम नहीं लिया जाता। यथा "आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। न ग्राह्यं पित्रोर्नाम ज्येष्ठपुत्रकलत्रयोः।" (मं० श्लो० ७ पृष्ठ ४६ में इस श्लोकका उत्तरार्द्ध इससे भिन्न है)]

३ "जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा।…" इति। (क तात्पर्य कि विधि कोईभी हो, हित होना चाहिए। मैंने जो विधि अपने हितके लिये निश्चित की वही मैंने सुना दी किन्तु यदि आप अन्य कोई विधि उत्तम समझते हों तो आप वही विधि काममें लावें। इस कथनसे इनके ही वचनोंसे स्त्री प्राप्तिकी प्रार्थनाका खंडन हुआ। 'हित' करनेकी विनती भगवान्की प्रेरणासे की गई, क्योंकि स्त्री न मिलनेसे ही हित है, यही भगवान् करेंगे। स्त्री माँगते हैं, यह भगवान्की इच्छाके प्रतिकूल है। [नोट—'हित' नारदमोहहरण प्रसंगका बीज ही है। वहींसे यह प्रसंग उठा है; यथा "उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥ पन हमार सेवक हितकारी॥ मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥ १२९।४-६।" अतएव उन्हींकी प्रेरणासे नारदजीके मुखसे ऐसा वचन निकला।] (ख) 'करहु सो बेगि' अर्थात् तनिक भी विलंब होनेसे काम बिगड़ जायगा, उसे और कोई ले जायगा। 'दास मैं तोरा' भाव कि आपका प्रण है दासका हित करना; यथा 'पन हमार सेवक हितकारी।' ☞नारदजीको बड़ी उतावली है। उनकी परम आतुरता, उनके हृदयकी शीघ्रता चौपाइयोंसे स्पष्ट झलक रही है। यथा 'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हैं बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।', 'एहि अवसर चाहिअ परम सोभा रूप', 'होइहि जात गहरु अति भाई', एहि अवसर सहाय सोइ होऊ, 'बहु बिधि बिनय कीन्ह तेहि काला', तथा यहाँ 'करहु सो बेगि दास मैं तोरा' और आगे "गवने तुरत तहां रिषिराई।' इस प्रकार प्रसंगभरमें चौपाइयाँ उनकी शीघ्रता अपने शब्दोंसे दिखा रही हैं। यहाँसे 'बेगि' का सिलसिला चला।

प० प० प्र०—यदि यह वचन नारदजीके मुखसे न निकलता तो भगवान्को अपना रूप देना ही पड़ता। ऐसे वचन मुखसे निकलवानेवाली हरिकी विद्यामाया ही है। विद्यामाया जीवका विनाश नहीं होने देती। यथा 'हरिसेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या। ताते नास न होइ दास कर।

७।७६।२-३।' नारदजी समझते हैं कि विश्वमोहिनीसे विवाह करनेमें हित है। हम भी ऐसा ही मानकर अगणित विषयरूपी भानुकरबारिके पीछे पुच्छविषाणवाले मृगोंके समान ही दौड़ते हैं, तथापि क्या हमारे मुखसे कभी 'करहु सो बेगि दास मैं तोरा' यह शब्द निकलते हैं? कदाचित् ऐसा मुँहसे निकलता भी हो तथापि हमारे चित्तमें तो मैं समाया हुआ है, मैं ज्ञानी इत्यादि भरा ही तो रहता है।

टिप्पणी—४ "निज माया बल देखि बिसाला।" इति। (क) मायाका बल यह कि अभी-अभी इन्होंने हमसे कामक्रोधके जीतनेकी बात की थी सो मायाने तुरत उनको पकड़ लाकर हमारे सामने ही, हमसे ही स्त्रीप्राप्तिकी विनती कराई। [(ख) नारदजीने काम-क्रोधपर विजय अहंकारपूर्वक कही थी, सो यहाँ 'अति आरत कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई॥' इत्यादिसे नारदका कामसे पराजय दिखाया। स्त्रीप्राप्तिके लिये आतुर होना कामवशसे ही होता है। 'आन भाँति नहिं पावौं ओही' से उनपर लोभकी जय दिखाई। आगे क्रोधसे भी पराजित होना दिखावेंगे। (ग) जब जब मायाने बड़ोंको जीता तब तब उसकी बड़ाई की गई है। १।५२।६, १।५६।५, १।१२८।८ देखिये] (घ) नारदजीने कामको जीता और उन्हीं नारदको मायाने जीता। अतः उसके बलको 'विशाल' कहा। पूर्व जो कहा था—"सुनहु कठिन करनी तेहि केरी', उसी 'कठिन करनी' को यहाँ 'बल बिसाला' कहा है। (ङ) 'हिय हसि'—हृदयमें हँसे क्योंकि प्रकट हँसनेसे नारदजीको संदेह होता, वे समझते कि हमारा अनादर (अपमान) कर रहे हैं, हमें अपना रूप न देंगे। अन्य कोई कारण हँसीका यहाँ नहीं जान पड़ता। मायाका बल समझकर हँसे, सो यह हँसी गुप्त रखने योग्य ही है अतः हृदयमें हँसे।

नोट—१ महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि "नारद भगवान्‌के मन हैं। मनके रहनेका स्थान हृदय है। अतएव हृदयमें हँसे कि अब कामके जीतनेका अभिमान कहाँ गया? पुनः, इससे आनन्द हुआ कि दासका हित करनेका समय आ गया।" (रा० प्र०)।

२ (क) यहाँ भगवान्‌में कठोरता पाई जाती है कि अपने भक्तकी दुर्दशा स्वयं ही कराते हैं। यह बात यथार्थ ऐसी नहीं है, जैसे बालकके फोड़ेके चिरानेमें माँको हृदय कठोर कर लेना पड़ता है जिसमें बच्चा आरोग्य हो जाय, यथा 'तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि'। इस शंकाके निवारणार्थ बारंबार कृपानिधि, कृपाल आदि विशेषण देते आये हैं। (ख) 'दीनदयाला'। भाव कि नारद मायावश होनेसे दीन हैं; उनपर दया करके बोले।

टिप्पणी—५ "जेहि बिधि होइहि परम हित ···" इति। (क) नारदजीने प्रार्थना की थी कि 'जेहि बिधि होइ नाथ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा।', भगवान्‌ने इसी वचनको ग्रहण किया और इसीपर कहा 'जेहि बिधि होइहि···'। (भाव यह कि मुनि तो हित ही चाहते हैं, पर भगवान् वचन देते हैं कि निश्चिन्त रहो, तुम तो हित ही की कहते हो, हम वह करेंगे जिसमें तुम्हारा परम हित होगा। 'होइहि' निश्चय वाचक भविष्य क्रिया है। भगवान् भक्तका परम हित ही चाहते हैं। 'सुनहु' अर्थात् हमारे वचनोंपर ध्यान दो।) (ख) 'न आन कछु' का भाव कि तुम जो हमारा रूप माँगते हो, सो यह तुम्हारा कहा हुआ हम न करेंगे, हमारा वचन मिथ्या नहीं हो सकता, हम तुमसे सत्य-सत्य कहते हैं। इससे जनाया कि रूप देनेसे तुम्हारा हित न होगा वरंच अहित होगा। (यह बात आ० ४३-४४ में नारदजीके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने विस्तारपूर्वक मुनिको समझाकर कही है। 'राम जबहि प्रेरेउ निज माया' ।३।४३ २।' से 'ताते कीन्ह निवारन···। ४४।' तक यह प्रसंग है।)

व्याकरण—करब = करूँगा। भविष्य क्रिया उत्तम पुरुष। यथा 'घटब, आउब, जाब, जितब, इत्यादि। (श्रीरूपकलाजी)।

नोट—३ मिलानके श्लोक, यथा "यदि दास्यसि रूपं मे तदा तां प्राप्नुयां ध्रुवम्। त्वद्रूपं सा विना कंठे

जयमालां न धास्यति । २८ । स्वरूपं देहि मे नाथ सेवकोऽहं प्रियस्तव । वृणुयान्मां यथा सा वै श्रीमती क्षितिपात्मजा । २९ ।''' स्वेष्टदेशं मुने गच्छ करिष्यामि हितं तव ।" (रुद्र सं० २।३)। अर्थात् यदि आप अपना रूप मुझे दे दें तो वह अवश्य ही मुझको प्राप्त हो सकती है। आपके रूपके बिना वह मेरे कंठमें जयमाल कदापि न डालेगी। हे नाथ! आप मुझे अपना स्वरूप दीजिए। मैं आपका प्यारा सेवक हूँ जिससे वह राजपुत्री मुझे वरण कर ले।'''भगवान्‌ने कहा—हे मुनि! आप अपने इच्छित स्थानपर जाएँ। मैं आपका 'हित' करूँगा।

कुपथ मांग रुज-ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥१॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भएऊ ॥२॥
माया बिबस भए मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरि गिरा निगूढ़ा ॥३॥

शब्दार्थ—कुपथ (कुपथ्य)=वह आहार विहार जो स्वास्थ्यके लिये हानिकारक हो। रुज=रोग। ठएऊ=ठाना है, निश्चय किया है। अंतरहित (अंतर्हित)=अन्तर्द्धान; गुप्त। निगूढ़ा (नि+गूढ़)=जो गूढ़ नहीं है; स्पष्ट।

अर्थ—हे योगी मुनि! सुनिये। (जैसे) रोगसे व्याकुल (पीड़ित) रोगी कुपथ्य माँगे (तो) वैद्य उसे (वह कुपथ्य) नहीं देते ॥ १ ॥ इसी प्रकार मैंने तुम्हारा हित ठाना है। ऐसा कहकर प्रभु अन्तर्द्धान हो गए ॥ २ ॥ मायाके विशेष वश होनेसे मुनि मूढ़ हो गए। (इससे) वे भगवान्‌की स्पष्ट वाणीको (भी) न समझे ॥ ३ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—'सुनहु मुनि जोगी' तथा दोहेके 'नारद सुनहु तुम्हार' का 'सुनहु' शब्द बताता है कि भगवान् साफ़ ध्यान दिला रहे हैं। फिर 'मुनि' 'जोगी' का व्यंग्य इतना सूक्ष्म है कि अनुभव किया जा सकता है, पर बताया नहीं जा सकता। आह, पतन तो देखिये 'मुनि जोगी' आज 'मुनि मूढ़' हो गए।

टिप्पणी—१ "कुपथ मांग''" इति। (क) 'कुपथ मांग'—भाव यह कि रोगीको कुपथ्य नहीं जान पड़ता, इसीसे वह उसे माँगता है। वैद्य जानता है कि क्या कुपथ्य है, क्या पथ्य, इसीसे वह नहीं देता। (ख) 'रुज ब्याकुल रोगी' इति। यहाँ नारद रोगी हैं, जो मायारूपी (वा, मायाका कार्य कामवासनारूपी) रोगसे पीड़ित हैं, और स्त्रीरूपी कुपथ्य माँगते हैं। (ग) 'सुनहु' कथनमें भाव यह है कि पीछे नारदजी यह न कह सकें कि 'मैंने आपका उत्तर नहीं सुना था। यदि मैंने सुना होता कि आपने ऐसा कहा है तो मैं स्वयंवरसमाजमें अपमान कराने क्यों जाता?' अतएव सावधान होकर सुननेको कहते हैं। (घ) 'मुनि जोगी'—भाव कि योगीके लिये स्त्रीकी प्राप्ति बड़ा कुपथ्य है। उसके लिये विषयसेवन कुपथ्य है। यथा 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे। ७।१२२।४।' ['मुनि जोगी' में व्यंग्य है। भाव यह है कि "हमारी परतंत्रताका अभिमान त्यागकर समाधिसे कामको हटाया था सो योग कहाँ है?" (अर्थात् जो आपको यह अभिमान था कि आपने अपने योगबलसे अपने पुरुषार्थसे कामपर विजय पाई, वह योग आज कहाँ गया?) अथवा "भाव कि योगियोंका जिसमें हित होता है वही हम करेंगे"। (रा० प्र०)।

प० प० प्र०—'रुज ब्याकुल रोगी।'''' इति। नारदजीको वातज सन्निपात ज्वर चढ़ा है। ऐश्वर्य-लोभ प्रबल है, पर मुख्य है काम।—'काम बात कफ लोभ अपारा।' पित्त भी कुपित हुआ है, पर अभी स्पष्ट देखनेमें नहीं आता। आगे पित्तका प्रकोप स्पष्ट प्रगट होगा।—'क्रोध पित्त नित छाती जारा'। वात रोगी पथ्य कुपथ्यका विचार ही नहीं कर सकता, पर वातके कारण 'सन्यपात जलपसि दुर्बादा' के समान कुपथ्य कोही पथ्य मानता है और उसीको माँगता है। सद्वैद्य जानता है कि वातज सन्निपातमें स्त्रीविषयसेवन कुपथ्य है। योग, ज्ञान और भक्तिमें स्त्रीलालसा विनाशकारक है। कुपथ्य न देनेपर रोगी वैद्यको भी दो-चार खोटी

खरी सुनाता है, वही नारद करनेवाले हैं, तथापि रोगीके परम हितके लिये वैद्य सब कुछ शान्तिसे सुन लेता है और उसके वातविकारको हटाता है, ऐसा ही भगवान् करते हैं।

वि० त्रि० शरीर-रोग और मानसिक रोगकी एक सी गति है। जैसे सभी शूल वातप्रधान हैं वैसे ही विषय मनोरथ सभी कामप्रधान हैं। यथा 'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।'

नोट—१ (क) भगवान् सीधे-सीधे न कहकर कि विवाह न होने दूँगा, उसे कार्यद्वारा जनाया कि वैद्य कुपथ्य नहीं देता। कारण कहकर कार्य सूचित करना 'कारज निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है। (वीर-कवि)। (ख) व्याकरण—देइ=देता है। वर्तमान क्रिया। यथा करइ, जरइ, लेइ, सेइ। (श्रीरूपकलाजी)।

नोट—२ मिलानके श्लोक, यथा "भिषग्वरो यथार्त्तस्य यतः प्रियतरोऽसि मे।३१।" अर्थात् जैसे वैद्य रोगीका हित करता है, क्योंकि तुम मेरे प्यारे हो। "मेने कृतार्थमात्मानं तद्यत्नं न बुबोध सः। २।३।३३ रुद्र सं०।" अर्थात् अपनेको कृतार्थ मानते हुए उनके यत्नको नहीं पहिचाना।

३ "एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ।..." इति। (क) 'एहि बिधि' अर्थात् जैसे वैद्य रोगीका हित करता है वैसे ही। (अर्थात् वैद्य माँगनेपर भी कुपथ्य नहीं देता, वैसेही माँगनेपर भी, मैं रूप न दूँगा, विवाह न होने दूँगा)। (ख) 'ठएऊ'=किया। यथा 'धूप धूम नभ मेचक भएऊ। सावन घन घमंड जनु ठयऊ।' अर्थात् मानों सावनके घनने घमंड किया; 'जब तें कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न भयऊ।२।१६१।', 'सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ।५।२।' (पर यहाँ 'ठाना है, निश्चय किया है', यह अर्थ विशेष उत्तम है)। (ग) "कहि अस अंतरहित..." इति। [चटपट यह कहकर चल दिये जिसमें मुनि आगे और कुछ न कहने पावें। अथवा, भाव कि बात समाप्त हुई और चल दिये, क्योंकि इस समय मुनि शीघ्रतामें हैं, सब कार्य 'बेगि' (शीघ्र) ही चाहते हैं, बात समाप्त होतेही चले जानेसे मुनिको संतोष होगा। जैसे प्रकट होनेमें 'प्रभु' कहा था, वैसे ही यहाँ अन्तर्हित होनेमें भी 'प्रभु' शब्द दिया। 'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला'।१३२।३।' उपक्रम है और 'अंतरहित प्रभु भएऊ' उपसंहार है]।

३ "माया बिबस भए मुनि मूढ़ा..." इति। (क) 'विवश' का भाव कि मायाके वशमें तो सभी चराचर मात्र है, यथा 'यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं' मं० श्लो० ६, 'को जग जाहि न ब्यापी माया'; पर मुनि उसके विशेष वशमें हैं। (ख) वाणी निगूढ़ है निगूढ़=निर्गत है गूढ़ता जिसमें; अर्थात् स्पष्ट। वाणी स्पष्ट है तब क्यों न समझ पड़ी, इसका कारण प्रथम चरणमें बताया कि वे 'माया विवश' हैं। माया मनुष्यको मूढ़ बना देती है, यथा 'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई। ७।५६।५।' (ग) 'समुझी नहिं' भाव यह कि यदि वे समझते तो स्वयंवरमें न जाते, इसीसे मायाने उनको मूढ़ बना दिया जिसमें वे समझ न पावें। माया जानती है कि भगवान् सत्य बोलते हैं, वे अपने भक्तोंसे छिपाव न करेंगे, यथार्थ ही कहेंगे। मुनि समझ जायेंगे तो मेरा सारा परिश्रम ही व्यर्थ हो जायगा, यह सोचकर उसने उन्हें विशेष मूढ़ कर दिया। (वे समझे कि हमारा परम हित विवाहसे है, वही भगवान् करनेको कहते हैं)। [(घ) 'हरि गिरा' का भाव कि यह वाणी उनका क्लेश हरनेके लिये है। पंजाबीजी 'निगूढ़' का अर्थ 'अति गूढ़' लिखते हैं पर यह अर्थ संगत नहीं है]

गवनें तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबर भूमि बनाई ॥४॥
निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा ॥५॥
मुनि मन हरष रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें ॥६॥

शब्दार्थ गवने=गए। भूतकालिक क्रिया। (श्रीरूपकलाजी)। भूमि=स्थान; रंगभूमि। बनाव = सजावट, शृंगार। आसन=बैठनेके स्थान, जो स्थान जिसके योग्य था।

अर्थ—ऋषिराज नारदजी तुरत वहाँ गए जहाँ स्वयंवरकी रंगभूमि बनाई गई थी ।। ४ ।। राजा लोग बहुत बनाव-शृङ्गार किये हुए समाज सहित अपने-अपने आसनोंपर बैठे हुए थे ।। ५ ।। मुनि मनमें प्रसन्न हो रहे हैं कि रूप तो मेरे ही बहुत अधिक है, कन्या मुझे छोड़कर दूसरेको भूलकर भी न ब्याहेगी ।।६।।

टिप्पणी—१ "गवनें तुरत···" इति । (क) 'तुरत' गए कि स्वयंवर कहीं हो न जाय । नारदके मनमें बड़ी शीघ्रता (उतावली) है, यह बात ग्रन्थकार अपने अक्षरोंसे दिखा रहे हैं । [जान पड़ता है कि नारदजीको अपना रूप विष्णुरूप देख या समझ पड़ा, इसीसे वे तुरत रंगभूमिमें जा पहुँचे । 'रिषिराई' का भाव कि ये वाल्मीकि और व्यास आदिके आचार्य हैं। जब मायाने इनकी यह दशा कर डाली तब अस्मदादिक किस गिनतीमें हैं ? पुनः भाव कि नारदजी इस समय स्वयंवरमें जा रहे हैं, राजकुमारीके साथ व्याह करना चाहते हैं, स्वयंवरमें सब राजा ही राजा हैं अतएव 'देवर्षि' न कहकर यहाँ उनको 'ऋषिराज' कहा । (ख) 'माया बिबस भए मुनि मूढ़ा' से 'रिषिराई' तक यह वाक्य तीनों वक्ताओंमें लगाया जा सकता है । याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजीसे कह रहे हैं कि देखो ये ऋषिराज हैं, तुम्हारे दादागुरु हैं (क्योंकि भरद्वाजजी वाल्मीकिजीके शिष्य हैं) सो उनकी भी अभिमानसे क्या दुर्गति हुई । शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि अपने गुरुकी दशा देखो और भुशुण्डीजी गरुड़जीसे कहते हैं कि जिनके उपदेशसे तुम यहाँतक आए उनकी क्या दशा मायाने कर डाली । (मा० पी० प्र० सं०)] (ग) 'भूमि बनाई' इति । जैसी श्रीजानकीजीके स्वयंवरमें रंग-भूमि बनी थी, मचान बने थे, वैसे ही यहाँ बने हैं । यथा "जहँ धनु मख हित भूमि बनाई ।। अति बिस्तार चारु गच ढारी । बिमल बेदिका रुचिर सँवारी ।। चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला । रचे जहाँ बैठहिं महिपाला ।। तेहि पाछे समीप चहुँ पासा । अपर मंच मंडली बिलासा ।। कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई । बैठहिं नगरलोग जहँ जाई ।।···१।२२४।'

२ (क) "निज निज आसन बैठे राजा", इससे जनाया कि यथायोग्य आसन सबको दिए गए हैं। (ख) 'बहु बनाव करि सहित समाजा' इति । बहुत शृङ्गार किए हैं जिसमें कन्या उन्हीं को प्राप्त हो । मंत्री, कामदार इत्यादि समाज प्रत्येक राजाके साथ है, क्योंकि समाजसे राजाकी शोभा और उसका ऐश्वर्य्य प्रकट होता है । इससे जनाया कि जब नारद पहुँचे तब सब राजा रंगभूमिमें पहुँचकर बैठ चुके थे, कन्या भी आ चुकी थी। कार्य आरम्भ हो चुका था । इसीसे बराबर बहुत जल्दी करते रहे थे कि विलंब होनेसे हम समयपर न पहुँचेंगे । इतने सावधान रहे तब समयपर पहुँच पाए । मायाने समयका संकोच इसीसे किया कि जिसमें नारद अल्प समय समझकर प्राप्तिके लिये व्याकुल हों । (ग) 'मुनि मन हरष रूप अति मोरें' । 'रूप अति' का भाव कि रूप तो इनके भी है पर मेरे 'अति' है अर्थात् मेरे रूपके आगे इनका बनावशृंगार 'कुछ नहीं' के बराबर है । 'अतिरूप' अर्थात् 'परम शोभा रूप विशाल' जिसकी चाह हमें थी वही भगवान्‌ने हमें दिया है । 'हर्ष' के कारण दोनों हैं, एक कि हमारे 'अति रूप' है, दूसरे कि हमें छोड़ दूसरेको भूलकर भी न व्याहेगी । 'अतिरूप' है इसीसे विश्वास है कि 'मोहि तजि आनहिं०।' ["रूप अति मोरें" इस कथनसे जान पड़ता है कि नारदजीने और राजाओंका शृङ्गार देखा तो पहले चकित हुए, पर जब अपने रूपको समझा तब हर्ष हुआ कि इन सबोंके तो 'रूप' ही है और हमारे तो 'अतिरूप' है । (मा० पी० प्र० सं०) । शिवपु० से अनुमान होता है कि नारदको अपना रूप हरिकासा देख पड़ा अथवा उनको विश्वास है कि उनका रूप विष्णुरूप है, इसीसे वे कृतार्थ मनसे वहाँसे चले । मिलानके श्लोक, यथा "अथ तत्र गतः शीघ्रं नारदो मुनिसत्तमः । चक्रे स्वयंवरं यत्र राजपुत्रैस्समाकुलम् ।।३४।। तस्यां नृपसभायां वै नारदः समुपाविशत् । स्थित्वा तत्र विचिन्त्येति प्रीतियुक्तेन चेतसा ।। ३६ ।। मां वरिष्यति नान्यं सा विष्णुरूपधरन्ध्रुवम् ।" अर्थात् मुनिश्रेष्ठ तुरत वहाँ गए जहाँ स्वयंवर हो रहा था । वह स्थान राजपुत्रोंसे व्याप्त था । मुनि राजसभामें जाकर प्रविष्ट हुए और बैठकर प्रीतियुक्त चित्तसे विचारने लगे कि विष्णुरूपधारी मुझको ही वह वरेगी, दूसरेको नहीं ।

मुनि हित कारन कृपानिधाना । दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥७॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा । नारद जानि सबहि सिर नावा ॥८॥
दोहा—रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ ।
बिप्र-बेष देखत फिरहिं परम कौतुकी तेउ ॥ १३३॥

शब्दार्थ - कुरूप=बुरा रूप । भेउ=भेद ।

अर्थ—कृपासागर भगवान्‌ने मुनिके कल्याणके लिये उन्हें ऐसा बुरा रूप दिया कि वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ७ ॥ इस चरित्रको कोई भी न भाँप सका । सभीने उनको नारद जानकर मस्तक नवाया (प्रणाम किया) ॥ ८ ॥ वहाँ दो रुद्रगण (भी) थे । वे सब भेद जानते थे । ब्राह्मणवेष धारण किये हुए वे, देखते फिरते थे । वे भी परम कौतुकी थे ॥ १३३ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—अब यहाँसे क्रियात्मक प्रहसन प्रारंभ होता है । भगवान् नारदजीको बंदरका रूप देते हैं, परन्तु कविकी कलाका सूक्ष्म अंग देखिए । भगवान् नारदकी हँसी अवश्य कराते हैं, पर यह नहीं कि सभीको उनका वानररूप देख पड़े और सभी हंसें । परन्तु यदि कोई देखता ही नहीं तो लुत्फ़ ही क्या था, इससे रुद्रगण उनकी चुटकियाँ लेनेको मौजूद हैं और वे देख रहे हैं ।

टिप्पणी—१ "मुनि हित कारन कृपानिधाना ।···" इति । (क) मुनिने माँगा था कि 'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा ।···', अतः मुनिके हितके लिये कुरूप दिया । कुरूपसे मुनिका हित है । (ख) यहाँतक कई (छः) जगह 'हित' शब्द लिखा गया, पर सबका निचोड़ यहाँ लिखा । यथा "बेगि सो मैं डारिहौं उखारी । पन हमार सेवक हितकारी ।१२९।५।', 'मुनिकर हित मम कौतुक होई । अवसि उपाय करबि मैं सोई ।१२९।६।', 'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा । करहु सो बेगि दास मैं तोरा ।१३२।७।', 'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार । सोइ हम करब···।' १३२।' और 'एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठएऊ ।१३३।२।' इन सब जगहोंमें केवल 'हित' करनेकी बात कही गई, पर किस प्रकार हित करेंगे यह न खोला था, उसे यहाँ स्पष्ट किया । कुरूपसे सब प्रकारका हित हुआ, अतः उसे अंतमें यहाँ आकर खोला । (पूर्व स्पष्ट कहनेका मौक़ा न था, अतः उसे पूर्व न लिखा था) । 'कृपानिधाना' का भाव आगे टि० २ (घ) में देखिये । (ग) 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना' अर्थात् ऐसा भयंकर रूप दिया कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, तब भला राजकुमारीसे देखा कैसे जायगा ? [(घ) व्याकरण—'दीन्ह' भूतकालिक क्रिया, आदरवाचक ।=दिया । यथा 'लीन्ह, कीन्ह' । जाइ=जाता है । वर्तमान क्रिया । यथा—होइ, लखइ, फिरइ, इत्यादि] ।

२—"सो चरित्र लखि काहु न पावा । " इति । (क) (दूसरा न लख सके, यह भगवान्‌की कृपा है) यदि सब देख सके होते तो सभी हँसते, नारदजीकी बड़ी अप्रतिष्ठा होती, सारी लीला ही बिगड़ जाती । (ख) 'नारद जानि सबहि सिरु नावा'—इस कथनसे सूचित करते हैं कि यहाँ नारदजीके तीन रूप हैं । एक तो विष्णुरूप । नारदजीको अपना स्वरूप भगवान्‌कारूप देख पड़ता है, इसीसे उनको हर्ष है कि "रूप अति मोरें। मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें।१३३।६।" दूसरा उनका निज रूप; इसीसे वे सभा-समाजभरको नारद देख पड़े और सबने उनको प्रणाम किया । और, तीसरा 'हरि' अर्थात् वानररूप । दोनों हरगणों और राजकुमारीको नारदका रूप भयंकर बंदरकासा देख पड़ा । यथा 'मर्कट बदन भयंकर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही । चौ० ८ ।', "रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ ।···। १३३ ।···करहिं कूटि नारदहि सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥···इन्हहिं बरिहि हरि जानि बिसेषी ।", 'निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई । १३५।६ ।'—(इसीसे इसको 'चरित्र' कहा) । इस चरित्रको, इस भेदको, इस गुप्त रहस्यको कोई न

भाँप सका। जिसे जैसा रूप देख पड़ा उसने उनको वैसाही समझा और नारदजीने समझा कि हमको भगवान् जानकर सबोंने प्रणाम किया है, इसीसे उनको रूपका अहंकार अधिक होगया। यथा 'हृदय रूप अहमिति अधिकाई।' [(ग)-'काहु' से तात्पर्य केवल उनसे है जिनका वर्णन यहाँ कर चुके, जो इस समाजमें उपस्थित थे। यथा 'निज निज आसन बैठे राजा। बहु बनाव करि सहित समाजा।' तथा राजा, रानी आदि] (घ) 'कृपानिधाना' का भाव यहाँ स्पष्ट किया कि मायासे बचानेके लिये कुरूप दिया, पर वह भी ऐसा कि लोक-मर्यादा भी न बिगड़ी और काम भी हो गया। लीलामें जो-जो सम्मिलित होनेको हैं, केवल उन्हींको यह चरित्र लखाया, दूसरोंको नहीं।

३ 'रहे तहाँ दुइ रुद्रगन ते जानहिं सब भेउ' इति। (क) 'सो चरित्र लखि काहु न पावा', किसीने न लख पाया यह बता चुके। जिन्होंने यह चरित्र लख पाया अब उन्हें कहते हैं—'रहे तहां०'। भगवान्‌की इच्छासे ये रुद्रगण भेद जानते हैं क्योंकि इन्हें कुम्भकर्ण रावण होना है। (ख) 'सब भेउ' यह कि शिवजीसे इन्होंने अभिमानकी बात कही, शिवजीका उपदेश न माना, भगवान्‌सेभी अभिमानकी बात बोले तब भगवान्‌ने मायाको प्रेरित किया, विश्वमोहिनीको देखकर ये मोहित हुए, भगवान्‌से रूप माँगा, भगवान्‌ने इनको कुरूप दिया। (ग) 'परम कौतुकी तेउ' का भाव कि नारदमुनि 'कौतुकी' हैं,—'मुनि कौतुकी नगर तेहिं गएऊ', ये उन कौतुकी नारदका कौतुक देख रहे हैं अतएव ये 'परम कौतुकी' जान पड़े। 'परम कौतुकी' पदसे सूचित किया कि रुद्रगण शिवजीके भेजे हुए नहीं हैं, इनका कौतुक देखनेका स्वभाव है, इसीसे ये अपनी इच्छासे आए हैं।※ (घ) 'बिप्र बेष देखत फिरहिं' से जनाया कि (जब नारदजी कैलाशसे चले तबसे) ये उनके साथसाथ सब जगह गए (क्योंकि जानते हैं कि शिवजीका उपदेश नहीं माना है, अवश्य भगवान् कुछ लीला करेंगे। देखें यह कहाँ कहाँ जाते हैं, क्या क्या करते हैं) विप्रवेषमें थे जिसमें कहीं रोक न हो, लोग मुनिका शिष्य समझें।

नोट—१ मिलानके श्लोक, यथा "इत्युक्त्वा मुनये तस्मै ददौ विष्णुर्मुखं हरेः।···३३। आननस्य कुरूपत्वं न वेद मुनिसत्तमः। ३७। पूर्वरूपं मुनिं सर्वे ददृशुस्तत्र मानवाः। तद्भेदं बुबुधुस्ते न राजपुत्रादयो द्विजाः। ३८।" अर्थात् (मैं तुम्हारा हित करूँगा) यह कहकर विष्णुने मुनिका मुख बंदरका कर दिया। मुनि अपने मुखकी कुरूपताको नहीं जानते। सब मनुष्योंने मुनिके पूर्व (नारद) रूपकोही देखा। राजपुत्रोंने भी इस भेदको नहीं जाना। पुनः, यथा "तत्र रुद्रगणौ द्वौ तद्रक्षणार्थं समागतौ। विप्ररूपधरौ गूढौ तद्भेदं जज्ञतुः परम्। ३९।" अर्थात् वहाँ उनकी रक्षाके लिये दो रुद्रगण विप्रवेष धारण किये हुए उस भेदको जानते थे।—मानसमें रुद्रगणका परमकौतुकी होनेके कारण साथ होना विशेष उपयुक्त है।

जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप अहमिति अधिकाई॥ १॥
तहँ बैठे महेसगन दोऊ। बिप्रबेष गति लखै न कोऊ॥ २॥
करहिं कूटि† नारदहि सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई॥ ३॥
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी। इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी॥ ४॥
मुनिहि मोह मन हाथ पराएं। हंसहिं संभुगन अति सचु पाएं॥ ५॥

शब्दार्थ—गति = करनी, लीला, माया। कूटि (कूट) = वह हास्य या व्यंग्य जिसका समझना कठिन हो, जिसका अर्थ गूढ़ हो।

※ पांडेजी और पंजाबीजीका मत है कि 'महादेवजीने गुप्त रीतिसे इन दोनों गणोंको मुनिके साथ कर दिया था'। [यह बात आगे नोटमें के ३९ वें श्लोकसे झलकती है]

† कूट—को० रा०, बं० पा०, रा० बा० दा०। कूटि—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०।

अर्थ—जिस समाजमें मुनि अपने हृदयमें रूपका अभिमान बढ़ाये हुए जा बैठे थे ॥ १ ॥ वहीं शिव जीके दोनों गण ब्राह्मण वेषमें बैठे थे । इनकी गतिको कोई जान न सकता था ॥ २ ॥ वे नारदको सुना-सुना कर कूट वचन कहते थे—'हरिने बहुत अच्छी सुन्दरता दी है ॥ ३ ॥ इनकी छबि देखकर राजकुमारी अवश्य रीझ ही तो जायगी, इन्हें विशेषकर 'हरि' जानकर बरेगी' ॥ ४ ॥ मुनिको मोह है, उनका मन दूसरेके हाथमें है । शिवजीके गण बहुतही सुख पाकर प्रसन्न हो हँसते हैं ॥ ५ ॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—मज़ाक़ कितना अच्छा है ? नारद स्वयं समझते हैं कि मैं बड़ा सुन्दर हूँ और फूले नहीं समाते । जितनाही वे फूलते हैं उतनी ही उनकी बंदरवाली सूरत और बिगड़ती है ।

टिप्पणी १ (क) 'जेहि समाज बैठे' इसका संबंध आगे की 'तहँ बैठे महेसगन दोऊ०' इस अर्धालीसे है, पीछेकी 'निज निज आसन बैठे राजा०' इस चौपाईसे नहीं है, क्योंकि यदि उससे संबंध होता तो यहाँ कहते कि 'तेहि समाज बैठे मुनि जाई' । जिस समाजमें मुनि बैठे उसीमें महेशगण बैठे, यत्-तत्‌का संबंध यहाँ है । (ख) 'हृदय रूप अहमिति अधिकाई' अर्थात् जैसे अहंकारी लोग फूलकर बैठते हैं, वैसेही ये बैठे, यथा 'जेहि दिसि नारद बैठे फूली' । (ग) 'तहँ बैठे महेसगन दोऊ' इति । इससे जनाया कि लोगोंने इन ब्राह्मणोंको नारदजीके संगी जानकर इनके पासही बैठनेको जगह दी थी । (घ) 'गति लखै न कोई' अर्थात् कोई यह नहीं जानता कि ये रुद्रगण हैं, नारदजीने भी नहीं जाना, जब उन्होंने, शाप मिलनेपर, स्वयं बताया तब नारदजीने जाना, यथा 'हरगन हम न बिप्र मुनिराया' । सबोंने ब्राह्मण ही जाना । नारदके समीप बैठनेका भाव कि जिसमें हमारी बातें मुनिको सुन पड़ें ।—(नोट—इससे जान पड़ता है कि रुद्रगण भी नारदके साथ साथ उनके शिष्य ब्रह्मचारी बने हुए रंगभूमिमें गए । विप्रवेष धारण करनेका तात्पर्य्य यही था कि लोग इन्हें नारदके शिष्य ब्रह्मचारी समझकर उनके पास बैठने दें,—रंगभूमिमें जानेकी रोक न हो । नारदजीने समझा होगा कि दर्शक हैं ।)

२ (क) 'करहिं कूटि नारदहिं सुनाई' इति । बुरेको भला कहना, यह कूट है । सुनाकर कूट करते हैं जिसमें नारदको समझ पड़े, पर उन्हें समझ नहीं पड़ता, यथा 'समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी' । भगवान्‌ने तो 'कुरूप दिया—'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना' और ये कहते हैं 'नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई'; कुरूपको सुन्दर कहना यह कूट है । (ख) 'रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी' भाव कि यह छबि राजकुँवरिके योग्य है । 'रीझिहि राजकुँअरि०' तथा 'बरिहि हरि जानि बिसेषी' यही मुनिने भी निश्चय किया है । यथा 'मुनि मन हरष रूप अति मोरें । मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरें' । इसीसे नारद कूट नहीं समझते, इनके वचनोंको यथार्थ समझते हैं कि सत्य ही कह रहे हैं । (ग) ☞ यहाँ दो रुद्रगण हैं । प्रथम एक बोला कि 'रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी', तब दूसरेने उसपर कहा कि (हाँ !) 'इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी' । इसमें साधारण अर्थके अतिरिक्त दूसरा अर्थ यह है कि इन्हहिं 'हरि' अर्थात् बन्दर जानकर विशेष 'बरिहि' अर्थात् जल भुन जायगी अर्थात् बहुत क्रोध करेगी । इस प्रकार दोनों हँसी कर रहे हैं । यह अर्थ आगेकी 'मर्कटबदन भयंकर देही । देखत हृदय क्रोध भा तेही' इस अर्धालीसे स्पष्ट झलक रहा है । ['हरि' और 'बरिहि' कूटके शब्द हैं, इनके दो दो अर्थ हैं । हरि = भगवान् । = बंदर । बरिहि = पति बनावेगी, व्याहेगी । = बर (जल) उठेगी, कुढ़ेगी । यहाँ गूढ़ व्यंग्य है । मुख्यार्थ बाध होकर कुरूपता व्यंजित होती है । मुनि इस व्यंग्यको न समझे । यहाँ 'नीकि' व्यंग्य है खराब न कहकर 'नीकि' कहना ही गूढ़ता है ।]

३ (क)—'मुनिहि मोह मन हाथ पराएँ' अर्थात् मन कन्यामें लगा है और अज्ञान है । 'हाथ पराएँ' अर्थात् अब मन नारदके पास नहीं आता, कन्याके पास रहता है । इसीसे कूट समझ नहीं पड़ती । (ख) 'हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ' इति । 'नीकि दीन्हि···बिसेषी' यह कूट करके (देखा कि उनके हृदयमें अज्ञान छाया है, मन पराधीन हो गया इसीसे ये कुछ समझते नहीं, यह जानकर) हँसने

लगे। [(ग) यह सोचकर हँसते हैं कि कामको जीतनेका अभिमान था अब कैसे कामातुर हैं। (पंजाबीजी)। महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि "नारदको हँसनेका अवसर आज ही मिला है, क्योंकि चाहके बस हुए हैं। यहाँ व्यंग्यसे जनाते हैं कि चाह वश जितने हैं सभी हँसने योग्य हैं।"]

नोट—१ शिवपुराणवाली कथामें लिखा है कि नारदको मूढ़ समझकर दोनों हरगण उनके पास जा बैठे और आपसमें संभाषण करते हुए नारदकी हँसी करने लगे (इस तरह कि) देखो तो नारदका रूप तो साक्षात् विष्णुका सा है पर मुख बानरका सा बड़ा भयंकर है। कामसे मोहित हुआ यह व्यर्थ ही राजकुमारीकी इच्छा करता है। इस तरह छलयुक्त वाक्योंसे परिहास करने लगे। यथा "पश्य नारदरूपं हि विष्णोरिव महोत्तमम्‌ मुखं तु वानरस्येव विकटं च भयङ्करम्‌ ॥ ४१ ॥ इच्छत्ययं नृपसुतां वृथैव स्मरमोहितः। इत्युक्त्वा सच्छलं वाक्यमुपहासं प्रचक्रतः ॥४२॥"—देखिए, मानसमें कैसी मर्यादाके साथ कूट है। पुनश्च यथा "न शुश्राव यथार्थं तु तद्वाक्यं स्मरविह्वलः। पर्यैक्षच्छ्रीमतीं तां वै तल्लिप्सुर्मोहितो मुनिः ॥ ४३ ॥" अर्थात् कामसे व्याकुल मुनिने उनके वाक्यको यथार्थ रूपसे नहीं सुना। वे श्रीमतीको प्राप्त करनेकी इच्छासे उसीको देखते हुए मोहित हो गए।

जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी ॥६॥
काहु न लखा सो चरित बिसेषा। सो सरूप नृपकन्या देखा ॥७॥
मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥८॥
दोहा—सखी संग लै कुअँरि तब चलि जनु राज मराल।
देखत फिरै महीप सब कर-सरोज-जयमाल ॥ १३४ ॥

शब्दार्थ—अटपटि = ऊटपटाँग, उलटा सीधा, टेढ़ी, कूट।

अर्थ—यद्यपि मुनि ऊटपटाँग वचन सुन रहे हैं तो भी वे उन्हें समझ नहीं पड़ते क्योंकि उनकी बुद्धि भ्रममें सनी हुई है ॥ ६ ॥ उस विशेष चरित्रको (वा, उस चरित्रको विशेष रूपसे, खास तौरपर) और किसीने न लख पाया, राजकन्याहीने वह रूप देखा ॥ ७ ॥ बंदरका सा मुख और भयंकर शरीर देखकर उसके हृदयमें क्रोध हो आया ॥ ८ ॥ तब राजकुमारी सखियोंको साथ लिये राजहंसिनीके समान चलती हुई। कमल समान हाथोंमें कमलका जयमाल लिये हुए सब राजाओंको देखती फिरने लगी ॥ १३४ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—१ कितनी सुंदरतासे कविने 'मजनूनियत' (मोह मन हाथ पराए) और 'बुद्धि भ्रम' वाले हास्यप्रद दोषोंको उभार दिया है।

२—कविकी कलाकी सूक्ष्मता विचारिये कि जब कन्याने 'मर्कट' वाला भयानक रूप देखा तबही हम दर्शकोंको भी बताया है, नहीं तो 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना' का संकेत था और शिवगणोंके व्यंग्यसे हमारी भी उत्कण्ठा बढ़ती थी। अब अवश्य उनका व्यंग्य भी साफ है और हमें हँसनेका मसाला भी।

नोट १ शिवपु० वाले नारदका रूप विष्णुका सा और मुँह बंदरका देख-पड़ा था; और राजकुमारीके हाथमें सोनेका जयमाल था। यथा "मालां हिरण्मयीं रम्यामादाय शुभलक्षणा। तत्र स्वयंवरे रेजे स्थिता मध्ये रमेव सा ॥४५॥ बभ्राम सा सभां सर्वां मालामादाय सुव्रता। वरमन्वेषती तत्र स्वात्माभीष्टं नृपात्मजा ॥ ४६ ॥ वानरास्यं विष्णुतनुं मुनिन्दृष्ट्वा चुकोप सा। दृष्टिं निवार्य च ततः प्रस्थिता प्रीतमानसा ॥४७॥"

टिप्पणी १—(क) 'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी।' वे वाणी सुनाकर कहते हैं, यथा 'करहिं कूट नारदहि सुनाई', और ये सुनते हैं तब भी कूट समझ नहीं पड़ता; इसका कारण बताते हैं कि 'बुद्धि भ्रम सानी' अर्थात् बुद्धिमें भ्रम मिल गया है। मन पराए हाथमें है यह कहही चुके। इसतरह मन और

बुद्धि दोनोंका भ्रष्ट होना दिखाया; इसीसे कुछ समझ नहीं पड़ता। [मन संकल्प विकल्प करता है तब बुद्धि उस पर विचार करती है, सो यहाँ दोनों भ्रष्ट होगए हैं। 'मन कामना के वश हो जाता है तब बुद्धिमें भ्रम होता है। यहाँ नेत्र अपना विषय (रूप) पाकर उसी में लुब्ध हैं, उन्हींके कारण मन कामना के वश हो गया।' (वै०)। 'मुनि' शब्दसे जनाया कि उनकी मननशीलतामें त्रुटि नहीं है, पर बुद्धिमें भ्रम हो गया है, वह विषयासक्ति और अभिमानसे दूषित हो गई है, अतः ध्वनि व्यंजना समझ नहीं रहे हैं, समझ रहे हैं कि ये कोई जानकार हैं, प्रशंसा कर रहे हैं। (वि० त्रि०)] (ख) 'काहु न लखा सो चरित बिसेषा' इति। ☞ 'सो चरित्र लखि काहु न पावा' १३३ (८) पर प्रसंग छोड़ा था, अब पुनः वहींसे प्रसंग उठाते हैं। पूर्वके 'सो चरित्र लखि काहु न पावा' का संबंध राजाओंके साथ था कि कुरूप देने (वा, प्राप्ति) का चरित्र कोई नृप न लख पाया। शंभुगणोंने लखा सो उनका हाल यहाँ तक कहा। अब उसी चरणका संबंध कन्याके साथ लगाते हैं कि कुरूप दिए जानेका चरित किसीने न जाना, नृपकी कन्याने वह स्वरूप देखा। (ग) ['बिसेषा' का भाव कि रुद्रगणोंको भी इस प्रकार पूर्णरीत्या न देख पड़ा जैसा इसको]

२ 'मर्कट बदन भयंकर देही' इति। (क) पूर्व इतना मात्र कहा था कि 'दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना।' कुरूपका वर्णन वहाँ न किया था, यहाँ करते हैं। 'मर्कटबदन' बनानेका भाव कि रावणने अपनी मृत्यु नर वानरके हाथ माँगी है, यथा 'हम काहूके मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे।' बंदरका सा मुख बनानेसे नारद शाप देंगे कि 'कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥' यह लीलाका कार्य्य होगा। (ख) 'भयंकर देही' बनानेका भाव कि सब वानर भयंकर होंगे (क्योंकि राक्षसोंको इनसे भय दिलाना है), यह बात अभिप्रायके भीतर (छिपी) है। स्पष्ट देखनेमें भाव यह है कि 'मर्कट बदन०' इसलिए बनाया कि कन्या जयमाल न डाले, हमारे भक्तका हित हो। संस्कृतभाषामें देही जीवको कहते हैं सो अर्थ यहाँ नहीं है। देही=देह। यथा 'परहित लागि तजइ जो देही', 'दच्छ सुक संभव यह देही', 'चोंचन मारि बिदारेसि देही।' (ग) 'देखत हृदय क्रोध भा तेही' इति। भयंकर देह देखकर भय होना चाहिए था सो न होकर क्रोध हुआ, यह क्यों? इसका समाधान यह है कि—आशयसे जान पड़ता है कि नारद उसकी ओर घूरघूर कर एकटक दृष्टि लगाए हुए देख रहे हैं, जो दशा उनकी प्रथम दर्शन पर हुई थी, यथा 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी', वही दशा पुनः हो गई है। बेक़ायदे देख रहे हैं, इसीसे क्रोध हुआ। अथवा, ऐसा कुरूप मनुष्य हमारा पति बनने आया है यह समझकर क्रोध हुआ। अथवा, भगवान्‌ने ऐसा रूपही दिया है कि जो देखे उसीको क्रोध उत्पन्न हो। यह कुरूप दो को देख पड़ा एक तो कन्याको दूसरे नारदको। कन्याको क्रोध आया और नारदने जब देखा तब 'बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा'। (क्रोध हृदयमें रहा, बाहर न निकाला क्योंकि उसका समय न था। क्रोधसे रसभंग हो जाता, मुनि कहीं शाप ही न दे देते। इत्यादि)।

नोट २—मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि "विश्वमोहिनी जो शृङ्गाररसका रस है शृङ्गाररसवत् श्रीमन्नारायणको चाहती है और नारद वीभत्स और भयानक रसका मानों रूप धारण किए हैं। अर्थात् शिरसे नीचे सुन्दर स्वरूप मानों वीभत्स रस है और मुख बन्दरका है सो भयानक है। ये दोनों शृङ्गार रसके शत्रु हैं। अतएव राजकुमारी इनको देखते ही क्रोधित हुई।" और भी भाव इसके ये कहे जाते हैं कि—(२) माया भी भगवान्‌के इस चरित्र को न समझी, उसने न जाना कि ये नारद हैं। उसे क्रोध आ गया क्योंकि वह सोचने लगी कि हमने तो नारदको मोहनेकेलिये यह सब रचना की, उसमें यह बंदर कहाँ से आ गया। (३) भगवान्‌ने लीलाकी सब सामग्री एकत्रित की उसमेंसे एक यह भी है। उन्हीं की इच्छासे क्रोध हुआ। (४) साथ में सखियाँ सहेलियाँ हैं अतः भयभीत न हुई। (५) मायाने क्रोध भी मुनिको

विशेष मोहमें डालनेके लिये किया। (६) बंदरका देखना अशुभ है अतएव स्वयंवरमें अमंगल जान क्रोध किया। इत्यादि)

नोट—३ अद्भुत रामायणवाले कल्पके रामावतारकी कथामें अवतारका कारण नारद शाप ही बताया गया है। वहाँ शीलनिधि और विश्वमोहिनीके स्थानपर श्रीअंबरीषजी महाराज और उनकी कन्या श्रीमती बताए गए हैं। कथा यह है कि एक समय श्रीनारदजी और श्रीपर्वतऋषि दोनों मित्र साथ-साथ महाराज अंबरीषजीके यहाँ गए। दोनों श्रीमतीके रूपपर मुग्ध होकर उसको पृथक्-पृथक् राजासे माँगने लगे। राजाका उत्तर मिलनेपर कि जिसको कन्या जयमाल पहिना दे वही ले जाय, दोनों पृथक्-पृथक् भगवान्‌के यहाँ गए और दोनों ही ने उनसे सब वृत्तांत कहकर अपना-अपना मनोरथ प्रकट किया। नारदने पर्वतऋषिका मुँह बंदरका-सा और पर्वतने नारद मुनिका मुँह लंगूरका-सा कर देनेके लिये पृथक्-पृथक् प्रार्थना की और साथ ही यह भी प्रार्थना की कि राजकुमारीको ही वह रूप देख पड़े, दूसरेको नहीं। भगवान्‌ने दोनोंसे 'एवमस्तु' कहा। तत्पश्चात् दोनों ही राजाके यहाँ गए। राजाने कन्याको बुलाकर कहा कि दोनों ऋषियोंमेंसे जिसे चाहो उसे जयमाल पहिना दो। कन्या जयमाल लिये खड़ी है। उसे वहाँ एक बंदर एक लंगूर और एक सुन्दर धनुषबाणधारी मनुष्य देख पड़े। ऋषि कोई न देख वह ठिठककर रह गई। संकोचका कारण पूछे जानेपर उसे जो देख पड़ा, वह उसने कह दिया। थोड़ी देर बाद कन्या भी गायब हो गई। इस रहस्यको न समझकर दोनों ऋषि हरिके पास गए। उन्होंने कहा कि हम भक्तपराधीन हैं, तुम दोनों हमारे भक्त हो। हमने दोनोंका कहा किया।···पीछे रहस्य समझनेपर कि येही द्विभुजरूपसे कन्याको ले गए थे, दोनोंने उनको शाप दिया कि अंबरीष दशरथ हों और तुम उनके पुत्र होगे। शेष शाप मानसके अनुसार है।

टिप्पणी—२ "सखी संग लै कुँअरि तब···" इति। [(क) "वैजनाथजी लिखते हैं कि बंदीजनोंकी सी एक जातिकी स्त्री होती है जो सब राजाओंका वृत्तान्त जाने रहती है वही स्वयम्वरा सखी साथमें है। जिस राजाके सामने कन्या जाती है, उसका देश, गोत्र, कुल, बल, वीरता, प्रताप, नाम इत्यादि समग्र वृत्तान्त वह वर्णन कर देती है]। (ख) 'चलि जनु राजमराल' का भाव कि जब कुरूप देखकर क्रोध हुआ तब वहांसे चल दी। (यहाँ चाल उत्प्रेक्षाका विषय है। मानों राजहंसिनी चल रही हो, यह कहकर कवि-राजकुमारीकी उत्कृष्ट चालका अनुमान करा रहा है। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है)। कन्याका रूप सुन्दर है, यथा 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी'। उसके लक्षण सुन्दर हैं, यथा 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने'। और यहाँ 'चलि जनु राजमराल' कहकर जनाया कि चाल भी सुन्दर है। रूप, गुण, और गति तीनोंको सुन्दर कहकर जनाया कि इन तीनोंसे उसने नारदजीके मनको हर लिया है। (रूप देख उनका वैराग्य और लक्षण देख उनका ज्ञान तो प्रथम ही चला गया था; अब चाल देख मन भी हर लिया गया। ये सब उपाय केवल नारदको मोहनेके लिये किए गए)। (ग) 'देखत फिरै', देखती फिरती है, कथनका भाव कि कोई इसके मनमें नहीं जँचता। [ऐसा जान पड़ता है कि नारदजी रंगभूमिके द्वारके निकट ही बैठे, जहाँसे राजकुमारी स्वयंवरभूमिमें प्रवेश करेगी। इसीसे उसकी दृष्टि प्रथम नारदपर ही पड़ी। इसके बाद रंगभूमिमें उपस्थित अन्य सब राजाओंको देखती फिर रही है कि कोई अपने पसंदका दूलह मिल जाय, पर अभी कोई मनका वर देख नहीं पड़ता; अतः फिर रही है। (घ) 'कर सरोज जयमाल'। यहाँ सरोज देहलीदीपक है। लक्ष्मीजी जब क्षीरसागरसे निकली थीं तब उनके हाथोंमें भी कमलका जयमाल था, वैसे ही यहाँ भी कमलका है।]

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥१॥

पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥२॥

धरि नृप-तनु तहँ गएउ कृपाला । कुअँरि हरषि मेलेउ जयमाला ॥३॥

शब्दार्थ—उकसना = उचकना, ऊपरको उठना, उनरना । अकुलाना = छटपटाना, व्याकुल होना मेलना = डालना ।

अर्थ—जिस दिशामें नारदजी (रूपके अभिमानमें हर्षसे) फूले बैठे थे उस ओर उस (कन्या) ने भूलकर भी न देखा ॥ १ ॥ मुनि बारंबार उचकते और छटपटाते हैं । (उनकी) दशा देखकर हरगण मुसकराते हैं ॥ २ ॥ कृपाल भगवान् राजाका शरीर धारणकर वहाँ गये । राजकुमारीने हर्षपूर्वक उनको जयमाल पहना दिया ॥ ३ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—नारदका बारंबार उचकना, जगह बदल-बदलकर बैठना, कन्याका उतना ही क्रोधित होना और हरगणोंका मुसकाना, ऐसी प्रगतियाँ हैं जो हास्य तथा फ़िल्मकलाकी जान हैं ।

टिप्पणी—१ (क) 'सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली' । अर्थात् उसको इनका रूप देखकर इतना क्रोध हुआ कि जिस दिशामें ये बैठे हैं वह दिशा ही छोड़ दी और सर्वत्र राजाओंको देखती फिरती है । (ख) 'उकसहिं अकुलाहीं' इति । आकुलता यह समझकर होती है कि उसने अभी हमें देखा नहीं है; देखती तो जयमाल अवश्य डाल देती, इस ओरसे चली गई है, इधर आती नहीं है कहीं ऐसा न हो कि विना हमें देखे दूसरेके गलेमें जयमाल डाल दे, इसीसे अपनेको दिखलानेकी इच्छासे उचक उचक पड़ते हैं । (ग) 'देखि दसा हरगन मुसुकाहीं' इति । पहिले कूट कर करके हँसते थे, अब दशा देखकर मुस्कुराते हैं । भाव यह है कि जबतक कन्या सभामें नहीं आई थी, तबतक कूट करते और हँसते रहे पर जब वह सभामें आई तब कूट करना और हँसना बंद कर दिया क्योंकि तब ऐसा करना शिष्टाचारके विरुद्ध है, मर्यादाके प्रतिकूल है, इसीसे अब मुस्कुराते हैं ।

☞(गोस्वामीजीने मर्यादाकी रक्षा सर्वत्र की है, मर्यादा-पुरुषोत्तमके उपासक ही तो ठहरे । राजकुमारी स्वयंवर भूमिमें आ गई है; वह एक बड़े प्रतिष्ठित राजाकी कन्या है, उसके सामने हँसी मसखरी-ठट्ठा अनुचित है । अतः वह सब रुक गया; सब काम मर्यादासे होने लगा । यह रीति कविने अन्यत्र भी दर्शाई है । जैसे, सीतास्वयंवरमें) ।

२ "धरि नृप तनु तहँ गएउ कृपाला···" इति । (क)–(राजाका रूप धरकर क्यों गए ? अपने रूपसे क्यों न गए ? इसके कारण ये हैं कि—) वहाँ नृपसमाज है, इसीसे नृपतन धरकर गए । (स्वयंवर राजाकी कन्याका है, उसमें राजाओंको ही जाना उचित है और वहाँ समाज भी राजाओंका ही है, यथा—'निज निज आसन बैठे राजा । बहु बनाव करि सहित समाजा ।' अतएव समाजके योग्य राजा बनना आवश्यक समझकर राजा बने । देखिये श्रीसीतास्वयंवरमें भी देवता, दैत्य जब आये तो मनुष्य रूप धारण करके ही आये थे—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा । बिपुल बीर आए रनधीरा । १।२५१ ।' पुनः देखिए कि शिवजी भुशुण्डीजीके आश्रम पर जब श्रीरामचरित सुनने गए, तब उस समाजकी योग्यताके विचारसे समाजके अनुकूल मराल तन धारण कर उन्होंने वहाँ कथा सुनी । यथा—'तब कछु काल मराल तन धरि तहँ कीन्ह निवास । सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास । ७।५७ ।' वैसे ही यहाँ नृप कन्याके स्वयंवरमें नृपतन धरकर जाना योग्य ही था) । इसमें आभ्यन्तरिक (भीतरका गुप्त) अभिप्राय यह है कि रावणकी मृत्यु नर-वानरके हाथ है, (भगवान्‌को लीला करना है, नरतन धरनेका शाप लेना है) नरतन धरकर जानेसे नारद नरतन धरनेका शाप देंगे, जैसा आगे स्पष्ट है–'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा । सोइ तन धरहु श्राप मम एहा । १३७।६।' (और भी एक कारण स्पष्ट ही है कि यदि भगवान् अपने चतुर्भुजरूपसे जाते तो नारदजी उनको पहचान लेते, जिसका परिणाम यह होता कि भरी समाजमें वे लड़ने लगते, थुक्का-फ़ज़ीहत होने लग जाती । अतएव उस तनसे न जा सकते थे) ।

(ख) 'कृपाला' इति । भगवान्‌ने नारदका अभिमान कृपा करके दूर किया, यथा 'संसृति मूल सूलप्रद नाना । सकल सोकदायक अभिमाना ।। ताते करहिं कृपानिधि दूरी । सेवक पर ममता अतिभूरी ।। जिमि सिसुतन व्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाईं ।। जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर । ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ।। तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि । ७।७४ ।", इसीसे इस प्रसंगमें सर्वत्र उनको 'कृपाल' विशेषण दिया है । यथा 'करुनानिधि मन दीख बिचारी । उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी ।। १२९।४।', 'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला । १३२।३।', 'हिय हँसि बोले दीनदयाला । १३२।८।', 'मुनि हित कारन कृपानिधाना । दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ।। १३३।७।', 'धरि नृपतनु तहँ गयउ कृपाला ।' तथा आगे 'मृषा होउ मम श्राप कृपाला । मम इच्छा कह दीनदयाला ।।१३८।३।', [पुनः भाव कि नारदजीका दुःख शीघ्र मिटाना चाहते हैं इसीलिये नृपतन धर कर भगवान् वहाँ गए । (वै०) ।] (ग) 'हरषि मेलेउ जयमाला'—भाव कि इच्छानुकूल पतिकी प्राप्ति हो गई ।

नोट—१ शिव पु० में लिखा है कि भगवान् राजाके वेषमें आए । किंतु उनको राजकुमारीके अतिरिक्त किसी औरने नहीं देखा ।—'न दृष्टः कैश्चिदपरैः केवलं सा ददर्श हि ।४६।' 'हरषि मेलेउ' से यह भी जनाया कि अनुकूल वर सभामें न दिखाई पड़नेसे दुःखी हो गई थी । यथा "न दृष्ट्वा स्ववरं तत्र त्रस्तासीन्मनसेप्सितम् ।४८। रुद्र सं० २।३।" भगवान्‌को देखतेही उसका मुख कमल खिल उठा । यथा 'अथ सा तं समालोक्य प्रसन्न वदनाम्बुजा । अर्पयामास तत्कंठे तां मालां वरवर्णिनी । ५० ।'

दुलहिनि लैगे१ लच्छिनिवासा । नृप समाज सब भएउ निरासा ।। ४ ।।
मुनि अति बिकल मोह मति नाठी । मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ।। ५ ।।

शब्दार्थ—लच्छिनिवास = श्रीनिवास = श्रीपति । = जिनमें लक्ष्मीका निवास है । नाठी (नष्ट) = नष्ट कर दिया; नष्ट हो गई ।

अर्थ—लक्ष्मीपति भगवान् दुलहिनको ले गए । सब राजमंडली निराश हो गई ।। ४ ।। मोहने मुनिकी बुद्धिको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, इससे मुनि अत्यन्त व्याकुल हो गए, मानों गाँठसे मणि छूटकर कहीं गिर गई हो ।। ५ ।।

टिप्पणी—१ "दुलहिनि लै गे···" इति । (क) जयमाल स्वयंवर था, इससे जयमाल-पड़ते ही श्रीनिवास पति हुए और कन्या दुलहिन हुई । इसीसे यहाँ उसे 'दुलहिनि' कहते हैं । (विवाहके पूर्व कुमारी, बाला, राजकुमारि, कन्या, कुअँरि आदि शब्द उसके लिये प्रयुक्त किये गए थे । विवाह होनेपर 'दुलहिनि' कहा । इससे ग्रन्थकारकी उपयोगी शब्दोंकी आयोजनामें, सावधानता सराहनीय है) । (ख) "लच्छिनिवासा" शब्द देकर जनाया कि विश्वमोहिनी भी भगवान्‌की एक तरहकी लक्ष्मी ही है, इसीसे भगवान् उसे ले गए । [भगवान्‌में ही लक्ष्मीका निवास है, अतएव वह दूसरेकी न दुलहिन ही हो सकती थी और न दूसरेके साथ वह जा ही सकती थी । (मा० पी० प्र० सं०) । (ग) 'नृपसमाज सब भएउ निरासा'—भाव कि कोई यह भी न जान पाया कि वह कौन था जो एकाएक आया और कुमारीको वर ले गया । राजा तो सब पहले-से बैठे थे । इसके लिये कोई आसन भी नहीं था । खड़े खड़े आया और काम करके चला गया । कोई कुछ कर न सका, अतः पूरी निराशा हुई । (वि० त्रि०)]

२—"मुनि अति बिकल···" इति । (क) 'अति बिकल' का भाव कि भारी वस्तुकी हानिमें भारी व्याकुलता होती है । यही बात आगे कहते हैं कि 'मनि गिरि गई' । (जितना ही अधिक अमूल्य पदार्थ

१ लै गये-१७२१ । लै गै-छ० । ले गये-१७६२ । ले गे-१७०४, रा० प० । लै गे-१६६१, को० रा० ।

हाथसे निकल जाता है, उतनी ही अधिक व्याकुलता होती है। इनका 'अति' गया, अतएव ये 'अति' विकल हैं)। पुनः भाव कि मुनिको अपने रूपपर बड़ा हर्ष और अभिमान था, पर जब कन्या सामनेसे जयमाल लिये हुये निकल गई तब वे 'बिकल' हुये, ('पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं' में यह भाव गर्भित है कि कन्याके एक बार चले जानेपर भी उनको आशा बनी रही कि वह फिर आवेगी तब मुझको ही जयमाल पहनावेगी)। और, जब भगवान् उसे ले गए तब 'अति बिकल' हुए। [पुनः भाव कि राजाओं-को कुमारीके मिलनेकी आशा लगी हुई थी, उसके न मिलनेसे उनका केवल 'निराश' होना कहा; यथा 'नृपसमाज सब भयउ निरासा' और मुनि तो उसे मिली हुई ही माने बैठे थे, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वह दूसरेको न ब्याहेगी, जैसा 'आन भांति नहिं पावौं ओही।१३२।६।', 'मोहि तजि आनहिँ बरिहि न भोरे। १३३।६।' से स्पष्ट है; अतएव वे 'अति बिकल' हुए। (मा० पी० प्र० सं०)]। (ख) 'मोह मति नाठी' इति। मोहसे बुद्धि नष्ट हो जाती है। यथा "मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की।२।२८६।", "करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी।...भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा।७।८२।', 'प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा।। तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा।७।११८।' तथा यहाँ 'मोह मति नाठी।' (ग) 'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी' इति। विश्वमोहिनी मणि है, उसके लिए मुनिने यत्न किया, भगवान्से रूप माँग लाए, यह निश्चय हो गया कि वह हमको ही मिलेगी,-'मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे', यही मणिका गाँठमें बाँधना है। वह गाँठसे छूटकर गिर गई, दूसरा ले गया। ☞इस प्रसंगसे दिखाया कि विवाहके आदिमें दुःख है (यथा 'सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं।' अर्थात् चिन्ता उत्पन्न कर दी), विवाहका प्रयत्न करे और न सिद्ध हो (सफलता न प्राप्त हो) तो भी दुःख है, (यथा 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।०' और अरण्यकांडमें दिखायेंगे कि विवाह करनेपर भी दुःख है, यथा 'अवगुन मूल सूल प्रद प्रमदा सब दुख खानि।' इस तरह दिखाया कि आदि, मध्य, अवसान तीनोंमें विवाह दुःखद है। (घ) राजाओंका निराश होना कहा और नारदका 'अति बिकल' होना कहा। भेदमें अभिप्राय यह है कि दूसरेकी चीज़ न मिलनेपर निराशा होती है और अपने गांठकी वस्तु नष्ट होने (निकल जाने) से व्याकुलता होती है। नारदजी विश्वमोहिनीको अपनी स्त्री मान चुके थे,—'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी', इसीसे उसके न मिलनेसे अति व्याकुल हो गए।

नोट—१ विश्वमोहिनीको मणि कहा। क्योंकि इसमें अगणित अमूल्य गुण वा लक्षण देखे थे, सर्व सुलक्षण सम्पन्ना थी, यथा 'जो एहि बरै अमर सोइ होई' इत्यादि।

२—यहाँ नृप समाजका जाना नहीं कहा गया। क्योंकि यहाँ केवल नारदजीसे प्रयोजन है। पुनः, इस कारण भी राजसमाजका जाना न कहा गया कि यह नगर और सब समाज तो मायामय ही था, इनका जाना कहाँ कहें। वा मायावीके जानेके साथ मायाका खेल समाज भी सब चला जाता ही है वैसे ही उसका जाना कहकर इसका भी लुप्त होना जना दिया।

मिलानके श्लोक, यथा "तामादाय ततो विष्णू राजरूपधरः प्रभुः। अंतर्धानमगात्सद्यस्स्वस्थानं प्रययौ किल।५१। सर्वे राजकुमाराश्च निराशाः श्रीमतीं प्रति। मुनिस्तु विह्वलोऽतीव बभूव मदनातुरः।५२।" अर्थात् विष्णु भगवान् तुरत उसको लेकर अन्तर्धान हो गए। सब राजकुमार निराश हो गये। मुनि कामातुर होनेसे अत्यंत विह्वल हो गए।

प० प० प्र०—गाँठमें बाँधी हुई मणि जब गाँठके खुल जानेसे कहीं गिर जाती है, तब वह मनुष्य व्याकुल होकर सोचता है कि मणि कहाँ गिरी, कौन ले गया इत्यादि। इस उत्प्रेक्षासे शिव पु० का कथन ही सूचित किया है कि मुनिने यह जाना ही नहीं कि विश्वमोहिनीको कौन ले गया, नहीं तो मुनिराज सीधे

उनका पीछा करते। इसीसे तो भगवान् मुनिराजको मार्गमें ही मिलते हैं और उनके क्रोधाग्निमें घृताहुति डालकर अवतार नाटककी तैयारी कर रखते हैं।

तब हरगन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई॥ ६॥
अस कहि दोउ भागे भय भारी। बदन दीख मुनि बारि निहारी॥ ७॥
बेषु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥ ८॥

दोहा—होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहिं सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥ १३५॥

शब्दार्थ—गाढ़ा=भारी, अतिशय। घोर।

अर्थ—तब हरगण मुस्कुराकर बोले कि अपना मुँह तो जाकर दर्पणमें देखिए॥६॥ ऐसा कहकर दोनों भारी डरसे भगे। मुनिने अपना मुँह जलमें झाँककर देखा॥ ७॥ भेस देखकर मुनिका क्रोध बहुत अधिक बढ़ा, उन्होंने उनको बहुत ही घोर शाप दिया॥८॥ तुम दोनों कपटी पापी हो (अतः) तुम दोनों जाकर कपटी पापी निशाचर हो। हमको तुमने हँसा (सो) उसका फल लो। (इतने पर भी संतोष न हुआ हो तो) फिर किसी मुनिको हँसना !॥ १३५॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—१ भगवान्का आना और नृपबालाको स्वयंवरमें जीत लेना, सबका निराश होना और उस समय शिवगणोंका मज़ाक़को खोलते हुए कहना कि ज़रा शीशेमें मुँह तो देखिए, यह सब प्रसंग परिहास नाटक कलाके अमूल्य रत्न हैं और बड़े ग़ज़बके हैं। २ नारदके क्रोधसे श्रीवास्तव्यजी-का यह हास्यसिद्धान्त कि घमंडी चरितनायक चिड़चिड़ा होता है अक्षरशः सत्य निकलता है।

नोट—१ "तब हरगन बोले" इस अर्द्धालीके विना कोई हर्ज न था और न उसका कोई प्रयोजन था हरगणोंके मुखसे ये वचन भगवत् प्रेरणासे निकले। कारण यह कि भेस (रूप) विना देखे क्रोध न होता जिससे न तो शाप ही उनको होता न लीला ही पूरी-पूरी बन सकती। यदि ये वचन न कहे गये होते तो कौतुक यहीं समाप्त हो जाता, नारदको क्रोधपर जय पानेका उत्तर क्योंकर मिलता ? यह सब 'कौतुक' का अर्थ होता जाता है जो भगवान्ने कहा है।

२ शिव पु० के हरगणोंके वाक्य ये हैं—"नारदजी! आप तो वृथा ही कामसे मोहित हो रहे हैं, अपने मुखको तो देखिए कि बहुत बुरा है। यथा 'हे नारद मुने त्वं हि वृथा मदनमोहितः। तल्लिप्सुस्त्वमुखं पश्य वानरस्येव गर्हितम्। २।३।५४।' शिव पु० के हरगणोंका मुस्कुराना यहाँ नहीं कहा गया किंतु उनको बोलते समय 'ज्ञान विशारद' विशेषण दिया गया है।

टिप्पणी—१ (क) 'तब हरगन बोले मुसुकाई०' इति। भगवत्की इच्छासे हरगण ऐसा बोले। यदि ऐसा न कहते तो नारद उनको और भगवान्को शाप कैसे देते ? लीला कैसे होती ? साधारणतः छिद्र बता देना अपराध नहीं है। मुस्कुराकर कहनेसे अपराध हुआ। (ख) 'बिलोकहु जाई' का भाव कि यहाँ तो दर्पण है नहीं, जहाँ मिले वहाँ जाकर देखो तो! [(ग) 'निज मुख मुकुर बिलोकहु' अर्थात् ज़रा देखो तो, तुम्हारा मुँह उसे ब्याहने योग्य था ? यह मुहावरा है, लोकोक्ति है। अयोग्यता जनानेके लिए ऐसा कहा ही जाता है। पंजाबीजी लिखते हैं कि दर्पणमें देखनेको इससे कहा कि वहाँ दर्पण तो है नहीं, जबतक ये कहीं दर्पणके लिये जायेंगे तबतक हम भाग जायेंगे।]

२ (क) 'अस कहि दोउ भागे भय भारी' इति। प्रथम कूट करके हँसते रहे तब नारद न समझे, इससे तब भय न हुआ। जब मुँह देखनेको कहा तब पीछेका किया हुआ अपराध प्रकट हुआ, इसीसे भारी

भय हुआ। 'भागे' इससे कि सामने रहनेपर वे चट शाप देंगे, भाग जानेपर चाहे न दें। (ख) बदन दीख मुनि बारि निहारी।" इति। जलमें मुँह देखना मना है—'अप्सु नात्मानं नो वेक्षेत्', सो इन्होंने किया क्योंकि मोहसे बुद्धि नष्ट हो गई है। [नाईके घरपर बाल बनवाने, पत्थरपरसे चन्दन लगाने और जलमें अपना रूप देखनेसे इन्द्रकी भी श्री नष्ट हो जाती है। यथा 'नापितस्य गृहे क्षौरं शिलायां गन्धलेपनम्। आत्मरूपे जले पश्यन् शक्रस्यापि श्रियं हरेत्।' (बाबा सरयूदासकी गुटका)। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि तिलक प्रकरणमें जलमें मुँह देखकर तिलक करनेका निषेध नहीं है। यथा 'दर्पणस्य क्षते विद्वान् मुखं वारौ निरीक्ष्य च। कुर्यान् मंगलमाकांक्षन्नूर्ध्वपुण्ड्रं मनोहरम्।' (पाद्मे तिलक प्रकरणे)। अर्थात् मंगल चाहनेवाले विद्वानोंको चाहिए कि दर्पणके अभावमें अपने मुखको पानीमें देखकर ललाटपर सुन्दर ऊर्ध्वपुंड्रतिलक करे। रुद्रगणोंको भागते हुए देखकर मुनिको संदेह हुआ कि कुछ बात अवश्य है, पास ही जलपात्र (कमंडल) में जल था, अतः शीघ्रताके कारण उन्होंने उसीमें मुँह देख लिया जिसमें वे भाग न जावें। (श्रीबाबा रामदासजी) रुद्र सं० २।३ में दर्पणमें मुख देखना लिखा है—'मुखं ददर्श मुकुरे'''। ५५।'

३ "बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा" इति। अत्यन्त बढ़ा कि हमने सुन्दर रूप माँगा सो हमको ऐसा कुरूप देकर सभामें हमारी हँसी कराई। क्रोध अत्यंत बढ़ा है इसीसे जिन्होंने हँसी की थी उनको 'अतिगाढ़ा' शाप दिया। ☞प्रथम भगवान्की कृपासे नारदको काम क्रोध कुछ न व्यापे थे, यथा 'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी' और 'भयो न नारद मन कछु रोषा'। अब भगवत् इच्छासे दोनों अत्यन्त व्यापे दोनोंने इनको जीता,—'मम इच्छा कह दीनदयाला'। क्रोधने जीता, यथा 'बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा'। काम व्यापनेका उदाहरण, यथा 'अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई', 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी।' ☞इसी तरह जो अर्जुन भगवान्की कृपासे महाभारतमें विजयी हुए, उन्हीं अर्जुनको कोल-किरातोंने लूट लिया। तात्पर्य कि भगवत्-इच्छा बलवती है। किसीने कहा है कि "द्रोण करण भीषम हने भारत के मैदान। भिल्लन्ह छीनी गोपिका वेइ पारथ वेइ बान।" काम ही क्रोध और लोभ बनकर दिखाई देता है। काम बना तब लोभ हुआ और बिगड़ा तो क्रोध हुआ। यथा "कामै क्रोध लोभ बनि दरसै" इति देवतीर्थस्वामिग्रन्थे।

नोट—३ शिव पु० में शाप इस प्रकार है "तुमने मुझ ब्राह्मणकी हँसी की है, इस लिये उसी आकृति-वाले ब्राह्मणवीर्यसे उत्पन्न होकर भी राक्षस होगे।" यथा "युवां ममोपहासं वै चक्रतुर्ब्राह्मणस्य हि। भवेतां राक्षसौ विप्रवीर्यजौ वै तदाकृती। २।३।५७।"

टिप्पणी-३ (क) 'होहु निसाचर जाइ तुम्ह', जाकर निशाचर होनेका भाव कि तत्क्षण निशाचर होने-को न कहा जैसे लोमशजीने कहा था 'सपदि होहि पच्छी चंडाला।७।११२।' वरंच राक्षसके यहाँ अवतार होनेका शाप दिया। राक्षस होनेके शापका कारण दिया 'कपटी पापी दोउ' अर्थात् तुम दोनों कपटी और पापी हो। कपट और पाप दोनों राक्षसधर्म हैं, यथा 'देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी। १७१।६।', "चला महा कपटी अति रोषी।१।१८३।३।", 'नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक करहीं।२ ६३।१।', 'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी।३।२५।', 'तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा।५।४।', 'मरती बार कपटु सब त्यागा।६।७५।', 'राक्षस कपट बेष तहँ सोहा।६।५६।' (ख) 'कपटी' इससे कहा कि वे 'कुरूप' को सुन्दर कहते रहे, यथा 'नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई', 'रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी'। यही कपट है। (पुनः दोनों जानते थे कि हरिने इनको कुरूप दिया है तो भी इन्होंने न बताया, यह कपट है) और हँसे इससे पापी कहा, हँसी करना पाप है, यथा 'हँसत देखि नख सिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी १।२७७।' (ग) 'हँसेहु हमहिं सो लेहु फल', इससे जनाया कि साधु, ब्राह्मणके साथ हँसी करनेसे राक्षस शरीर मिलता है। (घ) 'बहुरि हँसेउ मुनि कोइ' अर्थात् इतनेसे तृप्ति न हो तो फिर किसी मुनिको हँसना।

भाव कि संतोंका उपहास करना हँसी खेल नहीं है, उनको हँसनेका फल ऐसा ही होता है। (ख) व्याकरण—'बिलोकहु' विधिक्रिया 'सुनहु' 'जाहु', धरहु होहु' ' 'आज्ञाके अर्थमें आता है। 'हसेहु'=(हँसा मध्यम पुरुष भूतकाल क्रिया। यथा करायेहु कहेहु गयेहु, बौरायेहु परचेहु''' । हँसेहु (हँसना) आज्ञाके अर्थमें, विधिक्रिया मध्यमपुरुष, यथा तजहु जनि। (श्रीरूपकलाजी)।

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा ॥१॥
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं ॥ २ ॥
देहौं श्राप कि मरिहौं[1] जाई। जगत मोरि उपहास कराई ॥ ३ ॥
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सपदि = शीघ्र, तुरत। यथा 'सपदि होहु पच्छी चंडाला। ७।११२।'

अर्थ—फिर जलमें मुँह देखा तो अपना (नारद) रूप मिला पाया, तब भी उनके हृदयको संतोष न हुआ ॥ १ ॥ होंठ फड़कते हैं, मनमें क्रोध है। तुरत ही वे कमलापति भगवान्‌के पास चले ॥ २ ॥ (सोचते जाते हैं कि) शाप दूँगा, वा मर जाऊँगा, उन्होंने संसार भरमें मेरी हँसी कराई है ॥ ३ ॥ दैत्यों-राक्षसोंके शत्रु भगवान् बीच राह हीमें उनको मिल गए। साथमें लक्ष्मीजी और वही राजकुमारी थी ॥ ४ ॥

श्रीमान् लमगोड़ाजी—सारी प्रगतियाँ फ़िल्मकलाकी जान हैं। क्रोधका ठिकाना नहीं, आज भगवान्‌को शाप देने और मारनेपर तैयार हैं।—'हँसीसे निरहस' 'रारका घर हँसी'—ये कितने साफ़ साबित हैं।

व्याकरण—मरिहौं, देहौं—भविष्यकाल उत्तमपुरुष। (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी १—'पुनि जल दीख रूप निज पावा।०' इति। (क) शापके बाद फिर मुँह जलमें देखनेसे पाया जाता है कि पहले अच्छी तरह देख न पाए थे। रुद्रगण भागे जा रहे थे, यह जानकर उनको शाप देनेकेलिए (जैसे-तैसे देखकर) जल्दीसे देखना बंदकर उनको शाप देने लगे। शाप देकर अब उनसे छुट्टी मिली तब सावधान होकर अच्छी तरह देखना चाहा। [हरिने मेरा रूप बंदरका कर दिया। अब मुझे इस रूपमें जीना होगा, यह समझ क्रोध बहुत बढ़ा और उन्होंने रुद्रगणको शाप दे डाला। मनमें चिन्ता उठी 'क्या मेरा सदाके लिये यह रूप हो गया? जो बात बिगाड़नी थी वह तो हरिने बिगाड़ ही दी, अब तो हमारा रूप वापस दे देना था।' अतः फिर जलमें देखा (वि० त्रि०)] (ख) 'रूप निज पावा' का भाव कि कुरूपका इतना ही मात्र प्रयोजन था कि कन्या प्राप्त न हो, और ये रूप देखकर क्रोध करें, शाप दें। सो दोनों काम बने। (ग) 'तदपि हृदय संतोष न आवा' इति। अर्थात् क्रोध शान्त न हुआ। क्योंकि अभी लीलाका कारण पूर्ण नहीं हुआ। रुद्रगणोंको राक्षस होनेका शाप मिला पर भगवान्‌को मनुष्य होनेका शाप जब हो तब लीलाका हेतु पूर्ण होवे [भाव कि राक्षस तो बन गए, उनके मारनेका, उनकी मुक्तिका तथा भूमिभार हरनेका उपाय अभी नहीं हुआ जो भगवान्‌के अवतारके प्रधान हेतु हैं। नरतन और बानरोंकी सहायताका शाप बाक़ी है। २—संतोष न हुआ क्योंकि जब काम बनाना था, [विश्वमोहिनीकी प्राप्ति करानी थी) तब तो बंदरकासा मुख बनाया था, अब काम बिगाड़नेपर पूर्ववत् हुआ तो क्या?—(पं०)। ☞ राजकुमारीके हाथसे निकल जानेकी चोट कितनी भारी थी यह दिखा रहे हैं]

२—'फरकत अधर कोप मन माहीं।०' इति। (क) होंठ फड़कते हैं, मनमें कोप है अर्थात् भीतर बाहर कोपसे आक्रान्त हैं। [मुनिको बड़ा क्रोध है,—"बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा"। क्रोधमें ओष्ठ फड़कने लगते हैं, यथा 'माषे लषन कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें'] (ख) 'सपदि चले' का भाव कि रुद्रगण हँसी करके भागे जाते थे उन्हें जल्दीसे शाप दिया। भगवान् कुरूप करके चले जा रहे

[1] १—१६६१ में 'मरीहौं जाई' है। इसका अर्थ किसी किसीने 'मारूँगा' किया है।

हैं ऐसा न हो कि कहीं चले जायँ अतः उनको शाप देनेके लिए जल्दी चले। 'सपदि' हीके सम्बन्धसे 'कमलापति' नाम दिया। कमला चंचल है, उसके ये पति ठहरे। (ग) 'देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई।०' इति। शाप दूँगा और यदि वे शाप न अंगीकार करेंगे तो उनके ऊपर प्राण दे दूँगा, अर्थात् ब्रह्महत्या उनको दूँगा। मरनेका हेतु दूसरे चरणमें कहते हैं—'जगत मोरि उपहास कराई।' ☞ भले मनुष्यका मान भंग होता है तो वह या तो प्राण दे देता है, आत्महत्या कर लेता है, या मारे शर्मके कहीं दूर चला जाता है, यथा 'सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरि शरणं।' यहाँ नारदजीको अभी यह नहीं मालूम है कि भगवान् स्वयंही राजाका रूप धरकर राजकुमारीको ब्याह ले गए, वे समझते हैं कि कोई दूसरा राजा ले गया है. नहीं तो स्त्री ले जानेका दुःख यहाँ कहते। इसीसे उनको उपहासका दुःख है, जगत्‌में हमारी हँसी कराई यह दुःख है। [मान्य-प्रतिष्ठित महानुभावोंके लिए अपयश की प्राप्ति मरणसेभी अधिक भयंकर दुःख है, यथा 'संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥अ० ६५।', 'सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते' (गीता २।३४)। (घ) 'देहौं श्राप कि मरिहौं' यह संदिग्ध वचन है। यहाँ संदिग्ध वचनोंका प्रयोजन था, क्योंकि भगवान् समर्थ हैं, वे अपनी इच्छासे भले ही शाप अंगीकार कर लें नहीं तो उनको शाप लग नहीं सकता। —१२४ (१) देखिये। इसीसे मुनि सोचते हैं कि यदि वे शाप न लेंगे तो मेरे लिए अपकीर्त्ति मिटानेका दूसरा कोई और उपाय है ही नहीं, मैं प्राण दे दूँगा। यहाँ विकल्प अलंकार है]

३ 'बीचहि पंथ मिले दनुजारी।०' इति। (क) 'बीचहि' का भाव कि न तो मायानगरमें ही रहे और न अभी क्षीरसागर ही पहुँचे हैं, मार्गमें दोनोंके बीचमें ही हैं। (ख) बीचमें ही क्यों मिल गए? इसका एक कारण तो 'दनुजारी' विशेषणसे ही जना दिया है। वह यह कि रुद्रगणोंको राक्षस होनेका शाप हो चुका है, वे राक्षस होंगे। रुद्रगण जब राक्षस होंगे तब भला उनको मार ही कौन सकेगा? उनका नाश करना ही होगा। भगवान् 'दनुजारी' हैं, उनके नाशके लिए नरतन धारी होना जरूरी होगा। अतएव नरतन धारण करनेका शाप लेनेके लिए मार्गमें ही मिले। अभी क्रोध भरा हुआ है, शाप क्रोधसे होता है— दोहा १२३ देखिए। मुनिका क्रोध शान्त न होने पावे, वे क्रोधसे शाप देदें, इसलिए बीच ही में मिले। पुनः, (बीचमें ही मिल जानेका दूसरा भाव यह है कि एक तो क्षीरसागर दूर है,—'होइहि जात गहरु अति भाई' यह स्वयं मुनिके वचन हैं—दूसरे वह स्थान निर्विकार है, सात्विक है, वहाँ पहुँचते-पहुँचते मुनिका क्रोध ठंढा पड़ जाय अथवा उसका वेग बहुत कम हो जाय यह संभव है। तब तो बनावनाया कौतुक ही बिगड़ जायगा)।

(वैजनाथजी लिखते हैं कि नारदजीने मारनेका संकल्प किया है, इसलिये भगवान् तुरत वीरोंकी तरह सामने आगए, क्योंकि वे दनुजारी हैं। नारदजीकी इस समयकी आसुरी बुद्धि ही दैत्य है। पंजाबी-जीके मतानुसार नारदका अहंकार ही निशाचर है, उसका अभी नाश करना है और भविष्यमें रावण-कुंभकर्णादिको। अतः 'दनुजारी' विशेषण दिया गया)।

(ग) 'संग रमा सोइ राजकुमारी' इति। संगमें राजकुमारी इसलिये लिए हुए हैं कि नारदजी समझ जायँ कि ये (भगवान् ही) राजाका रूप धरकर उसे ले आए हैं, नहीं तो नारदजी तो यही समझते रहे कि कोई और राजा ले गया। 'सोइ' यदि न कहते तो समझा जाता कि कोई दूसरी राजकुमारी होगी। 'रमा सोइ राजकुमारी' का भाव कि जिसमें क्रोध उत्पन्न हो कि रमा ऐसी स्त्रीके रहते हुए भी इन्होंने हमारा भारी अपकार किया।—ये सब क्रोध उपजाने (और उत्तेजित करने) के कारण हैं। ['संग रमा' क्योंकि रमाजीको वे पहिचानते हैं, साथ देखकर समझ जायँगे कि (राजारूपमें) ये भगवान् ही हैं (रा० प्र०, पं०)। पुनः भाव कि नारद 'कमलापति' के पास चले हैं अतएव कमलाजीको भी साथ लेकर भगवान् सामने आए (वै०)]।

नोट—शिव पु० में शाप देनेके पश्चात् जलमें मुँह देखना कहा है और मानसमें दोनों बार जलमें ही देखा है। इससे जान पड़ता है कि शिव पु० के हरगणोंने रंगभूमिमें ही संभवतः कहा हो और वहाँ दर्पण होनेसे वहीं पहली बार देखा हो और शाप वहाँसे बाहर निकल जानेपर दिया हो इसीसे वहाँ दूसरी बार जलमें मुँह देखना कहा गया। मानसमें मर्यादाके साथ चरित हुआ है। यथा "जले मुखं निरीक्ष्याथस्वरूपं··· । २।४।३ ।" शिव पु० के नारदने विष्णुलोकमें जाकर शाप दिया है। 'देहौं श्राप···' से 'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।' तकके मानसवाक्य उसमें नहीं हैं।

बोले मधुर बचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं ॥५॥
सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा ॥६॥
पर संपदा सकहु नहिँ देखी। तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी ॥७॥
मथत सिंधु रुद्रहि बौराएहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु ॥८॥

दोहा—असुर[1] सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु।
स्वारथसाधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु ॥१३६॥

शब्दार्थ—बोध = ज्ञान, चेत, समझ। संपदा = धन दौलत, ऐश्वर्य्य। इरिषा = ईर्ष्या, डाह, हसद। बौरायेहु = बावला बना दिया, बेवकूफ बनाया, विक्षिप्त बुद्धि कर दी, ठगा, पागल बनाया।

अर्थ—देवताओंके स्वामी भगवान् मीठे वचन बोले—"हे मुनि! आप व्याकुल सरीखे कहाँ चले जा रहे हैं?" ॥ ५ ॥ वचन सुनते ही अत्यंत क्रोध उत्पन्न हुआ। मायाके वश होनेसे मनमें चेत (ज्ञान) न रह गया ॥ ६ ॥ (वे बोले कि) तुम पराई संपदा (ऐश्वर्य्य) नहीं देख सकते, तुम्हारे ईर्ष्या और कपट बहुत है ॥ ७ ॥ समुद्र मथते समय तुमने शिवको बौरा दिया, देवताओंको प्रेरित करके (तुमने उनको) विष पिलाया ॥ ८ ॥ दैत्योंको सुरा (मदिरा), शंकरजीको विष (दिया) और स्वयं सुन्दर लक्ष्मी और कौस्तुभमणि (लिया), तुम स्वार्थके साधक हो, कुटिल हो तुम्हारा सदासे ही कपटका व्यवहार है ॥१३६॥

नोट—१ 'बोले मधुर बचन०' यह मधुर व्यंग्य क्रोधाग्निके लिए घृतका काम करनेवाला है। २-व्याकरण—"बौराएहु, करायेहु, मध्यम पुरुष भूतकालिक क्रिया" (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'बोले मधुर बचन०'। भगवान् सदा मधुर वचन बोलते हैं पर इस समय मधुर वचन क्रोधका कारण है। (वैजनाथजीका मत है कि शापका संकल्प है इसलिए मर्म जानकर 'सुरस्वामी' मधुर वचन बोले। और 'मारने' का संकल्प है अतएव ईर्ष्यावर्द्धक वचन बोले जिसमें प्रतिज्ञाका पालन करें।")। (ख) 'सुरसाईं' का भाव कि देवताओंके स्वामी हैं अतः उनकी रक्षाके लिये राक्षसोंको मारेंगे, 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह०'। [देवताओंके हितके लिए अपने ऊपर शाप लेना चाहते हैं, इसीसे मधुर वचन बोलकर उनके क्रोधको प्रज्वलित करते हैं। अतः 'सुरसाईं' कहा]

नोट—३ मार्गमें ही आकर मिलना, साथमें उसी राजकुमारीको भी लिए होना और ईर्ष्याजनक मधुर वचन बोलना ये ही सब बातें क्रोधको अत्यन्त प्रज्वलित करनेका कारण हुईं।

४—मधुर वचनसे तो क्रोध शान्त होता है, यहाँ उसका उलटा हुआ? यह बात ठीक है कि मीठे वचनोंसे शान्ति होती है। परन्तु यह भी स्वयंसिद्ध है कि यदि कोई किसीका सर्वस्व छीन ले और फिर उससे मीठे वचन बोले तो शान्ति कदापि नहीं हो सकती, वे ही शीतल वचन क्रोधाग्निको अधिक भड़काने-

१ पाठान्तर—सुरासुरहिं—(रा० प०)।

वाले हो जाते हैं, यथा 'सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के।''सीतल सिख दाहक भइ कैसें। चकइहि सरदचंद निसि जैसें। अ० ६४।'

५ 'कहँ चले बिकल की नाईं' इति। मुनि बहुत विकल हैं, यह प्रथम ही कह आए। यथा 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।…' [वे अपनी धुनमें चले जा रहे हैं, इससे भगवान् स्वयं छेड़कर बोले। 'बिकल की नाईं' का भाव कि आप मुनि हैं, विकल तो हो नहीं सकते, यथा 'ब्रह्मचरजब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहिं कि करै मनोभव पीरा।', यह विकलताका आभास होगा। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) 'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा', इससे स्पष्ट पाया जाता है कि क्रोध उत्पन्न करनेके लिए ही मधुर वचन कहे गये थे। यहाँ कहते हैं कि क्रोध 'उपजा' परन्तु क्रोध तो पूर्वहीसे चला आता है, यथा 'बेष बिलोकि क्रोध अतिबाढ़ा' तब 'उपजा अति क्रोधा' कैसे कहा? इस संभावित शंकाका समाधान यह है कि अपना वेष जलमें देखनेपर क्रोध अवश्य बहुत बढ़ा था पर वह क्रोध रुद्र-गणोंको शाप देनेपर कुछ शान्त हो गया, शाप देनेमें वह 'अति' क्रोध खर्च होगया। अब भगवान्‌के वचन सुननेपर उनको शाप देनेके लिए वही क्रोध फिर उत्पन्न हो गया। (ख) 'मायाबस न रहा मन बोधा' इति। तात्पर्य कि यदि बोध रहता तो अपने स्वामीको शाप न देते। न अति क्रोध होता, न कटु वचन निकलते। (ग) ☞पंचपर्वा अविद्याके पाँचों विकार नारदको व्यापे। (१) तमसे अविवेक होता है सो यहाँ 'माया बस न रहा मन बोधा'। (२) मोहसे अन्तःकरणमें विभ्रम होता है, सो यहाँ 'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी'। (३) महामोहसे स्त्रीगमनकी इच्छा होती है सो यहाँ 'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला'। (४) अंधतामिस्रसे मरणकी इच्छा होती है, सो यहाँ 'देहौं श्राप कि मरिहौं जाई'। (५) तामिस्रसे क्रोध होता है, सो यहाँ 'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा'।

नोट—६ अंधतामिस्र, तामिस्र, महामोह, मोह और तम ये पाँच अज्ञानकी वृत्तियाँ ब्रह्माने सृष्टिके आदिमें उत्पन्न की थीं। यथा भागवते तृतीय स्कन्धे द्वादशाध्याये—"ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्। महामोहं च मोहं च तमश्चाज्ञानवृत्तयः। २।' इन्हींको पंचपर्वा अविद्या कहते हैं और पंचक्लेश भी, यथा "तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा॥ मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥" (विष्णु पु०)।

टिप्पणी—३ 'पर संपदा सकहु नहिं देखी' इति। (क) 'परसंपदा' कहा क्योंकि मुनि कन्याको अपनी स्त्री मान चुके थे और ले गए उसको भगवान्। (राजकुमारीको अपनी जानते थे इसीसे वह 'अपनी संपदा' हुई और भगवान्‌के लिये वह 'पर संपदा' हुई)। 'सकहु नहिं देखी' कहकर उनमें खलता दिखाई, यथा 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।' (ख) ☞जबतक कन्याका लेजाना न जाना था तबतक उपहास करानेका दुःख हृदयमें रहा,—'जगत मोरि उपहास कराई।' अब जान गए कि कन्या येही ले आए हैं तब कन्याके ले जानेका दुःख हुआ। (ग) पर-संपदा नहीं देख सकते हो इसका तात्पर्य्य यह कि तुम स्वयं ही ले लेते हो। [पुनः भाव कि तुम्हारे सुन्दर स्त्री भी है, तुम अमर और अजेय भी हो, चराचर तुम्हारी सेवा भी करता है। यह सब संपदा तुम्हें प्राप्त है, पर ऐसी संपदा हमें भी प्राप्त हो जाय, यह तुम नहीं देख सकते। आगे परसंपदाहरणके उदाहरण देते हैं। (घ) 'तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी' अर्थात् इसीसे परसंपदा नहीं देख सकते। ईर्षाका अर्थ ही है, 'परसंपदा न देख सकना'। तुम्हारे कपट है अर्थात् कपटी हो, कपट छलसे पराई संपदा ले लेते हो। 'बिसेषी' का भाव कि और भी अनेकों अवगुण तुममें भरे हैं पर ईर्ष्या और कपट ये दो अवगुण विशेष हैं। (और सब सामान्य हैं। अथवा, ईर्ष्या आदि अन्य देवताओंमें भी होते हैं पर तुममें सबसे विशेष हैं।)

४—'मथत सिंधु रुद्रहिं बौराएहु ।०' इति । (क) विष देना भारी दुष्कर्म है इसीसे इसे प्रथम कहा। इससे जनाते हैं कि तुम आततायी हो। (ख) 'सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु' अर्थात् देवताओंसे कहा कि शिवजी विष पान कर सकते हैं, जाकर उनसे प्रार्थना करो। उन्होंने जाकर प्रार्थना की तब शिवजीने विष पी लिया। (ग) 'सुरन्ह प्रेरि' का भाव कि तुम ऐसे कपटी हो कि देवताओंको अपयशी बनाया और अपना साफ़ रहे; वस्तुतः ज़हर तुमहीने पिलाया।

नोट—७ 'बौराएहु' 'कराएहु' शब्दोंसे सूचित करते हैं कि देवताओंमें यह बुद्धि कहाँ थी ? तुम्हारे ही सुझानेसे यह बुद्धि उनमें हुई। 'बौराएहु' का भाव कि शिवजी तो भोलेभाले थे, इससे उनको बातोंमें लाकर विष पिलवाया, वे अपने भाग्यसे जीवित बचे।—(शुकदेवलाल)। यथा "दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम्। २३। तत्त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत्। अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो। २४।" अर्थात् (भगवान् विष्णुने मुस्कुराते हुए शूलधारी रुद्रसे कहा) देवताओंके समुद्र मंथन करनेसे जो पहले प्राप्त हुआ है, हे देवश्रेष्ठ ! वह आपका है, क्योंकि आप देवताओंके अग्रगामी हैं। महाराज ! यहाँ स्थित होकर आप इस अग्रपूजाको ग्रहण करें। (वाल्मी० १.४५)। पुनः, बौराया इसलिये कि जिसमें बेखटके होकर, रमा और कौस्तुभमणि स्वयं ले जा सकें। (वै०)।

टिप्पणी—५ 'असुर सुरा बिष संकरहि०' इति। (क) यहाँ असुर, शंकर और 'आपु' (भगवान्) तीन नाम लिये। सुरोंका नाम न लिया क्योंकि देवताओंने उत्तम उत्तम पदार्थ पाए। शिव और असुर दोके नाम लिए। तात्पर्य यह कि इन दोनोंमेंसे एक (शिव) प्रिय है और दूसरा (अप्रिय) है। इस प्रकार दिखाया कि प्रिय और अप्रिय, मित्र और शत्रु, दोनोंका ही अहित करते हैं, किसीको नहीं छोड़ते। हम तुम्हारे दास हैं सो हमारे साथ भी तुमने अहित किया, हमें भी न छोड़ा। शिवजी प्रिय भक्त हैं सो उनको विष पिलाया। राक्षस शत्रु हैं सो उनको मदिरा पिलाई। (ख) 'स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहार' इति। 'सदा' का भाव कि कुछ आज ही कपट और कुटिलतासे कुमारीको तुम ले गए हो वा आज ही स्वार्थ साधा हो, यह बात नहीं है; सदासे तुम्हारा यह कपटव्यवहार चला आ रहा है। (ग) ☞यहाँ शिवजीको विष पान करानेकी बात दो बार लिखी गई, एक तो 'सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु' और दूसरे 'असुर सुरा बिष संकरहि'। इसका कारण क्रोध है, क्रोधमें निकम्मी (बुरी) बात बारंबार निकलती है। (अथवा, पुराणोंके भेदसे ऐसा कहा। वाल्मीकिजीके अनुसार विष्णुभगवान्ने ही शिवजीसे कहा कि प्रथम वस्तु आपका भाग है आप इसे ग्रहण करें)। (घ) 'आपु रमा मनि चारु' स्वयं सुन्दर मणि और सुन्दर लक्ष्मी ली, इसीसे 'स्वारथ-साधक' कहा। दूसरेको ठगकर अपना स्वार्थ साधा; इसीसे 'कुटिल' कहा और मोहिनीरूप धरकर सबको ठगा, इसीसे 'कपटी' कहा। शिवजीको 'बौराया' (बावला बनाया) राक्षसोंको उन्मत्त किया, देवताओं और दैत्योंको आपसमें लड़ाकर उनमें संग्राम कराया, यह सब 'कुटिलता' है। (ङ) पुनः, भाव कि पूर्व जो तीन बातें कही थीं—'परसंपदा सकहु नहिं देखी', 'तुम्हरे इरिषा' और 'कपट बिसेषी', उन्हींके संबंधसे यहाँ 'स्वारथसाधक', 'कुटिल' और 'सदा कपट ब्यवहारु' यह तीन बातें कही गईं। परसंपदा देख नहीं सकते इसीसे स्वार्थसाधक हो, ईर्ष्या है इसीसे कुटिल हो, और कपट विशेष है इसीसे तुम्हारा व्यवहार सदा कपटका रहता है। पुनः, (च) पूर्वार्द्धमें जो कहा 'असुर सुरा०' उसीके संबंधसे उत्तरार्द्धमें तीन उसके कारण बताए। स्वार्थसाधक हैं इसका प्रमाण 'आपु रमा मनि चारु' है इसीलिए मणि और रमाको स्वयं ले लिया। कुटिल हैं इसका उदाहरण है कि शंकरजीको विष दिया। कपटव्यवहार है इसका प्रमाण कि असुरोंको मदिरा पान करायी, मोहिनीरूप धरकर सबको ठगा। [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि कुटिलका भाव यह है कि स्नेही बनकर हमसे कहा कुछ और किया कुछ।]

नोट—८ शिव पु० में शापवाले मिलानके श्लोक ये हैं—"हे हरे त्वं महादुष्टः कपटी विश्वमोहनः।

परोत्साहं न सहसे मायावी मलिनाशयः । ६ । मोहिनीरूपमादाय कपटं कृतवान्पुरा । असुरेभ्योऽपाययस्त्वं वारुणीममृतं न हि । ७ । चेत्पिबेन्न विषं रुद्रो दयां कृत्वा महेश्वरः । भवेन्नष्टाऽखिला माया तव व्याजरते हरे । ८ । गतिस्सकपटातेऽतिप्रिया विष्णो विशेषतः । साधुस्वभावो न भवान् स्वतंत्रः प्रभुणाकृतः । ६ ।··· तज्ज्ञात्वाहं हरे त्वाद्य शिक्षयिष्यामि तद्बलात् । यथा न कुर्याः कुत्रापीदृशं कर्म कदाचन । १२ ।" अर्थात् हे हरि ! तुम महादुष्ट, कपटी, संसारको मोहित करनेवाले, मायावी, मलिनचित्त हो, किसीका उत्साह नहीं सह सकते हो । मोहिनी-रूप धरकर असुरोंको अमृत न पिलाकर मदिरा पिलाई यह कपट किया । यदि दयालु शंकरजी विष न पी लेते तो आपकी सब माया नष्ट हो जाती । तुमको कपटीकी चालें अति प्रिय हैं । तुम्हारा स्वभाव सज्जनोंका सा नहीं है । तुम स्वतंत्र हो···यह जानकर अब मैं ब्रह्मणत्वके बलसे तुमको अभी शिक्षा देता हूँ जिसमें फिर तुम कभी ऐसा कर्म न करो । (रुद्र सं० २.४)

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई । भावै मनहि करहु तुम्ह सोई ॥ १ ॥
भलेहि मंद मंदेहि भल करहू । बिसमय हरष न हिअँ कछु धरहू ॥ २ ॥
डहकि डहकि परिचेहु सब काहू । अति असंक मन सदा उछाहू ॥ ३ ॥
कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा । अब लगि तुम्हहि न काहू साधा ॥ ४ ॥
भले भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—'स्वतंत्र' = आजाद । 'डहकि' = डाका डालकर, धोखा देकर, छलकर, ठगकर, यथा 'ज्ञान बिराग भक्ति साधन कहि बहु बिधि डहकत लोक फिरौं' (विनय), 'जूझेते भल जूझिबो भली जीत ते हार । डहकेते डहकिबो भलो जो करिय बिचार' (दो०) । 'साधा' = सीधा या ठीक किया । परिचेहु = परक गए । परचना (सं० परिचयन) = चसका लगना, टेव पड़ना । जो बात दो एक बार अपने अनुकूल हो गई हो या जिसको दो एक बार बेरोक-टोक मनमाना करने पाए हों उसकी ओर प्रवृत्त होना ।

व्याकरण—'परिचेहु'—मध्यमपुरुष भूतकाल क्रिया । बंचेहु, खायेहु, मारेहु इत्यादि । 'डहकि' पूर्वकालिक क्रिया । भावै—वर्तमान क्रिया, अन्यपुरुष, यथा खावै, सोवइ । (श्रीरूपकलाजी) ।

अर्थ—तुम परम स्वतंत्र हो, तुम्हारे सिरपर कोई नहीं है, तुम्हारे मनको भाता (जो) है वही तुम करते हो । भलेको बुरा और बुरेको भला करते हो, भय या हर्ष कुछभी मनमें नहीं धरते ॥ २ ॥ सब किसीको ठग ठग कर परक गए हो, अत्यन्त निडर हो, मनमें सदा उत्साह रहता है ॥ ३ ॥ शुभ अशुभ कर्म तुम्हें बाधक नहीं होते, अबतक तुम्हें किसीने ठीक न किया ॥ ४ ॥ अब अच्छे घर तुमने बायन दिया है, अपने किये का फल पावोगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी १—(क) 'परम स्वतंत्र न सिरपर कोई' अर्थात् तुम देवता, मनुष्य, राक्षस, चर और अचर सबके ऊपर हो, तुम्हारे ऊपर कोई नहीं है । 'परम स्वतंत्र' और 'भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई' से भगवान्‌में 'निरंकुश' होना यह दोष दिखाया । 'परम स्वतंत्र' कहकर "न सिरपर कोई । भावै मनहिं करहु०" यह उसका अर्थ करदिया । (ख) 'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू' अर्थात् धर्मात्माओंको पापी बनाकर नरकमें भेजते हो और पापीको सुकृती बनाकर वैकुण्ठमें भेजदेते हो । जैसे कि धर्मात्मा नृगको गिरगट बनाया और पापी अजामिलको अपना धाम दिया । हम तुम्हारे भक्त हैं, तुम्हारा भजन करते हैं, सो हमारा भी उपहास हजारों में कराया । उचित अनुचितका विचार ही नहीं करते, जो मनमें आया वह कर डालते हो । (ग) 'बिसमय हरष न हिअ कछु धरहू' अर्थात् भलेको मंद करनेमें कुछ भय नहीं करते और मंदको भला बनानेमें कुछ हर्ष भी तुम्हारे हृदयमें नहीं होता ऐसे निठुर हो । इससे निष्ठुरता दोष भगवान्‌में दिखाया । तुम्हारे दया नहीं है । (घ) 'डहकि डहकि परिचेहु सब काहू' सबको ठगठगकर परच गए हो अर्थात् ढीठ

हो गए हो इसीसे 'अति असंक हो' और मनमें डहकनेका उत्साह सदा बना रहता है। यहाँ 'निःशंकता' का दोष दिखाया। ☞ग्रामवासियोंने ब्रह्मामें तीन दोष गिनाए हैं। 'निपट निरंकुश, निठुर और निशंक'। यथा 'बिधि करतब उलटे सब अहहीं ॥ निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सहज सकलंकू ॥ रूख कलपतरु सागरु खारा। अ० ११९ (२-४)।' वही दोष क्रमसे नारदजी भगवान्‌में कहते हैं। तात्पर्य्य कि ग्रामवासियोंने समझकर ब्रह्मामें दोष कहा और नारद बिना समझे भगवान्‌में दोष कहते हैं। इससे पाया गया कि इस समय नारदजी ग्रामीण पुरुषोंसे भी अधिक बुद्धिहीन हो गए हैं,—'माया बस न रहा मन बोधा'। ☞जान पड़ता है कि यह सब कहते जाते हैं तब भी भगवान् मुसकुराते ही रहे; इसीसे 'मन सदा उछाहू' कहा] ग्रामवासियों और नारदके वचनोंका मिलान—

ग्रामवासिनी	नारदजी
निपट निरंकुस	परम स्वतंत्र
निठुर	भलेको बुरा करनेमें दयारहित होना
निसंकू	अति असंक

वहाँकी चौपाईके एक चरणमें यहाँकी तीनों चौपाइयाँ गतार्थ हैं। वहाँ स्त्रियाँ ब्रह्माको दोष लगाती हैं, यहाँ नारद उनसे भी बड़े अर्थात् भगवान्‌को दोष लगा रहे हैं। इसका कारण क्रोध है, महाअंधकार है जिसमें कुछ नहीं सूझता—न स्वामी न पिता इत्यादि। यथा 'नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥ ४।२१।४।'

२ (क) 'करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा' इति। 'करम कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें। ७।११२।३।' भगवान्‌को जानलेनेसे जानलेनेवालेके कर्मोंका नाश होता है तब भगवान्‌को शुभाशुभ कर्म कैसे बाधक हो सकता है ? 'बाधा नहीं करता' अर्थात् ब्रह्मा तुम्हें फल नहीं दे सकते। शुभाशुभकर्मके फलदाता विधाता हैं, यथा 'कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता ।२।२८२।४।' (गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि कर्म मुझे लिप्त नहीं कर सकते। 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति···। ४।१४।' अतः कहा कि 'कर्म··· बाधा')। (ख) 'न काहू साधा' अर्थात् शुभाशुभकर्मोंका फल किसीने न दिया, अब हम देंगे।

नोट—१ 'कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा' इति। भाव यह है कि कर्मका फल ब्रह्मा देते हैं, सो वे भी आपको कर्मका फल दे नहीं सकते, रहे शिवजी सो उनको तुमने विष ही पिलाया था, वे भी तुम्हारा कुछ न कर सके। ये दोनों मुखिया थे सो उनकी यह दशा हुई; और जितने देवता दैत्य हैं उनमें परस्पर विरोध कराते हो सो वे भी तुम्हारा कुछ नहीं कर सकते। अब इनसे अधिक और रह ही कौन गया जो तुम्हें साधने योग्य हो ?

टिप्पणी—३ 'भले भवन अब बायन दीन्हा' इति। 'भले भवन' का भाव कि टूटे घरसे अर्थात् गरीबके घरसे बायन नहीं लौटता, (क्योंकि उसको बदला देनेका सामर्थ्य नहीं है तब बदलेमें बायन क्या देसके ?), अच्छे घरसे लौटता है (अर्थात् अमीर घरके यहाँ जो बायन दिया जाता है उसका बदला भी मिलता है, अपना दिया हुआ (कभी न कभी) वापस मिलता है। (ख) 'अब' का भाव कि इतने दिन अच्छे घर बायन न दिया था (अर्थात् जिन जिनको बायन दिया था वे गरीब थे, बदलेमें बायन देनेको असमर्थ थे) इसीसे न लौटा था। भाव कि शिवके घर बायन दिया। उनको विष पिलाया यह बायन दिया। असुरोंके घर बायन दिया। उनको ठगकर मदिरा पिलायी, यह बायन उनको दिया। इनमेंसे किसीके यहाँसे बायन न लौटा। वे गरीब थे। (अब अच्छे घर बायन दिया है अर्थात् हम अमीर हैं जैसा बायन दिया वैसाही लौटानेको समर्थ हैं। पलटे का बायन देते हैं, लो ! जो बायन दिया और जो

मिला दोनों आगे कहते हैं)। (ग) 'पावहुगे फल आपन कीन्हा'। बायन विवाहादि उत्सवोंमें फेरा जाता है। यहाँ तुम दुलहिन ब्याह लाए हो, उसी उत्साह (उत्सव) में हमारे यहाँ तुमने बायन भेजा है अर्थात् हमसे वैर किया है सो उसका फल पाओगे। ☞यहाँ तक दुर्वचन कहे; आगे शाप देते हैं। 'आपन कीन्ह' क्या है और फल क्या है यह आगे कहते हैं।

नोट—२ मिलानके श्लोक, यथा "अद्यापि निर्भयस्त्वं हि संगं नापस्तरस्विना। इदानीं लप्स्यसे विष्णो फलं स्वकृतकर्मणः। १३।" अर्थात् अबतक तुम निर्भय रहे। कभी वेगवालोंसे पाला नहीं पड़ा। इस किये हुए अपने कर्मका फल अब तुम पाओगे।

३—पंजाबीजीका मत है कि नारदजी परम भक्त हैं, उनके मुखसे प्रभुके प्रति दुर्वचन कथन ठीक नहीं जँचता; अतएव सर्वज्ञा सरस्वतीने इन वचनोंके अर्थ स्तुतिपक्षमें लगाए हैं—

नारद वाक्य	स्तुति पक्षका अर्थ
१ पर संपदा सकहु नहि देखी	१ पर=शत्रु। परसंपदा=शत्रुकी संपदा=आसुरी संपदा। अर्थमें 'संतों भक्तोंमें' शब्दोंका अध्याहार कर लेना होगा। इस तरह अर्थ हुआ कि 'अपने भक्तोंमें आसुरी संपदा नहीं देख सकते'। 'पन हमार सेवक हितकारी' इसका कारण है।
२ तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी	२ तुम्हारे (तुममें) ईर्ष्या और कपटसे विशेषता है अर्थात् आप मत्सर और दंभसे परे हैं। अथवा, विशेष=विगत शेष। अर्थात् ईर्ष्या और कपट लेशमात्र नहीं है। ['कपट बिसेषी' अर्थात् विशेष प्रकारकी मायासे आप ईर्ष्या आदि करके भी सेवक हित करा लेते हैं। सब कुछ कर कराकर भी आप अलिप्त रहते हैं—'गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू'। प० प० प्र०]
३ मथत सिंधु रुद्रहि बौराएहु। सुरन्ह प्रेरि बिष पान कराएहु।	३ इस वाक्यसे प्रभुको सर्वशक्तिमान् जनाया। भाव कि आपके लिये कोई कार्य दुःसाध्य नहीं है। [विषके रूपमें उनको अमृत ही तो दिया,—'कालकूट फल दीन्ह अमी को'। और उनको संसाररोग भगानेवाला बना दिया। 'संसाररुजं द्रावयति इति रुद्रः।' आप महादेवजीको नचानेवाले हैं,—'बिधि हरि-संभु नचावनिहारे'। प० प० प्र०]
४ असुर सुरा…चारु	४ इससे प्रभुको यथोचित व्यवहारमें कुशल वा निपुण जनाया। [जो विष सुरासुरोंको भस्म करनेवाला था उसे शिवजीको देकर उन सबोंकी रक्षा की। यह सब 'शं-कर' अर्थात् कल्याण करनेके लिये ही किया। आपने रमा और मणि ले लीं यह 'चारु' अर्थात् बहुत अच्छा किया, अन्यथा उनके लिये सुरों और असुरोंमें झगड़ा हो जाता। प० प० प्र०]
५ स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु	५ जो स्वार्थसाधक कपटी हैं उनके लिए आप सदा कुटिल अर्थात् दुःखदायक हैं। अथवा, जो कुटिल और कपटी हैं उनके भी स्वार्थके साधक हैं। [कुटिल=प्रणत, नम्र। स्वारथ (=अपनेको जो अर्थ है उसको) आप साधते हैं जब वे नम्र वा प्रणत होते हैं। प० प० प्र०]
६ परम स्वतंत्र…	६ इससे प्रभुको परम समर्थ सूचित किया। (स्वतंत्र=आत्मतंत्र। यथा 'भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १।५१ छंद।' प० प० प्र०।)
७ न सिर पर कोई	७ आपकी ही आज्ञामें सबको चलना पड़ता है, आपसे बड़ा कोई है ही नहीं। यथा 'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला। अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई। करि बिचार जिअँ देखहु नीके, राम रजाइ सीस सब ही के।२।२५४।'

८ भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई

८ राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं। २।२६८।', 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होइ। करै अन्यथा अस नहिं कोई।', 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा' के भाव स्तुति-पक्ष में हैं।

९ भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिस्मय हरष न हिअ कछु धरहू।

९ इससे भी सामर्थ्य सूचित हुआ। पुनः, भलेहि अर्थात् जिनको उत्तम कार्य करनेका अहंकार हो जाता है उनको नीचा करते हो और जो दुष्कर्म करनेवाले हैं (वे आपकी शरणमें आते हैं तो) आप उनको संत बना देते हैं, इसमें आपको हर्ष शोक कुछ नहीं होता क्योंकि उन्होंने अपनी करनीका फल पाया है। यथा 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। ७।१२२।', 'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायक ···। ७।११९।', 'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १।२२४।', 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना', 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ। जीव करम बस सुख दुख भागी। २।१२।३-४।'

१० डहकि डहकि परिचेहु सब काहू।

१० अर्थात् जब प्रेमी लोग नियम व्रतादि करके अधिक खेदको प्राप्त होते हैं तब आप उनको अपने भजनमें लगा लेते हैं। (आपको ठगनेवाला कोई नहीं है। किसी-किसी बड़भागीको शुभाशुभदायक कर्मसे ठगठगकर धीर बनाते हैं। प० प० प्र०)।

११ अति असंक··· साधा

११ यह सब चरण स्तुतिपक्ष में ही हैं। [भाव कि आपही सर्वरूप हैं और सबमें हैं, इसीसे निर्भय हैं। यथा 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (श्रुति), 'भय द्वितीयाभिनिवेषतः स्यात्'। 'कर्म सुभासुभ न बाधा' अर्थात् आप कर्मातीत हैं, कर्मबंधनसे परे हैं। यथा 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा', 'न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन। नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।' (गीता)। 'तुम्हहि न काहू साधा'—अर्थात् आपकी प्राप्ति साधनसाध्य नहीं है, आपकी कृपासे ही आपकी प्राप्ति होती है। यथा 'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन। २। १२७।४।' (प० प० प्र०)]

१२ भले भवन अब बायन दीन्हा

१२ भले भवन अर्थात् संतोंके यहाँ आपने नेवता (बायन) दिया अर्थात् उनको पापसे बचाया। इसका फल आप पायेंगे अर्थात् रावणको मारकर यश प्राप्त करेंगे। (पं० का पाठ 'पायन' है जिसका अर्थ नेवता किया है)। [कर्मातीत होते हुए भी आप जो कुछ भी करना चाहते हैं उसमें मैं सहायक बन जाऊँ। आपकी इच्छा सफल होगी ही। प० प० प्र०।]

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥ ६॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥ ७॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारिबिरह तुम्ह होब दुखारी॥८॥
दोहा—श्राप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्हि।
निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि॥१३७॥

शब्दार्थ—'जवनि' = जौन, जो। 'आकृति' = रूप, मुख। 'अपकार' = अहित, हानि, द्वेष, अनिष्ट साधन, अनभल, अपमान। करषि लीन्हि = खींच लिया।

अर्थ—जो देह धरकर तुमने मुझे ठगा, वही देह धरो, यह मेरा शाप है ॥ ६ ॥ तुमने हमारा रूप बन्दरका सा बना दिया; तुम्हारी सहायता बन्दर ही करेंगे ॥ ७ ॥ तुमने हमारा भारी अपमान और अहित किया, तुम भी स्त्रीवियोगमें दुखी होगे ॥ ८ ॥ मनमें प्रसन्न होते हुए प्रभुने शापको शिरोधार्य्य कर नारदसे बहुत बिनती की (और उसके बाद) कृपानिधान भगवान्ने अपनी मायाकी प्रबलताको खींच लिया ॥ १३७ ॥

नोट—१ मुनिके क्रोधका क्या ठिकाना ? वह बातें कह डालीं जो शायद कोई नास्तिक भी मुँहसे न निकालेगा। परन्तु वाह रे कौतुकी भगवान्! पूरे खिलाड़ी आप ही हैं! साथके खिलाड़ीके सारे शाप भी अंगीकार कर लेते हैं। मानवी आकृति भी ग्रहण की, वानर सेनासे सहायता भी ली और सीतावियोग में विलाप भी किया। महर्षि वाल्मीकिजीने ठीक ही कहा है कि आप जैसा काँछते हैं वैसा ही नाचते हैं। मजाक करनेसे मजाकका नतीजा बरदाश्त करना अधिक कठिन है। भगवान्की विनतीका यही रहस्य है।—(लमगोड़ाजी)।

२ (क) इन अर्धालियोंके पूर्वार्द्ध (प्रथम चरण) में 'बायन' और उत्तरार्द्धमें उसका 'बदला' बताया गया है। (ख) यहाँ जो शाप नारदने दिया है उसमें साधारणतः कोई बुराई नहीं दे पड़ती, वरंच सब अच्छी ही बातें जान पड़ती हैं। जैसे नृपतन धरकर राज्य करना, निशाचरोंकी लड़ाईमें सहायक भी मिल गए। परन्तु तनक ध्यानसे स्पष्ट हो जाता है कि इस अर्थमें जो आशीर्वाद सा जान पड़ता है वह आशीर्वाद नहीं है। (विशेष टि० १ देखिए)।

३ व्याकरण—'करिहहिं'-अन्य पुरुष, बहुवचन, भविष्य क्रिया। यथा धरिहहिं, होइहहिं, हंसिहहिं, इत्यादि। होब=होंगे, भविष्य क्रिया मध्यम पुरुष। (श्रीरूपकलाजी)।

टिप्पणी—१ 'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा।...' इति। (क) भगवान्ने नृपतन धरकर नारदको ठगा था, यथा 'नृपतन धरि तहँ गयउ कृपाला'। इस तरह 'जवनि धरि देहा सोइ तनु' से नृपतन धरनेका शाप दिया। (ख) 'तनु धरहु श्राप मम एहा' का भाव कि तन धारण करना कर्मका फल है, कर्मके आधीन है, पर तुमको शुभाशुभ कर्म बाधा नहीं करते,—(जैसा भगवान्ने स्वयं गीता २।१४ 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।' में कहा है। अर्थात् कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये कर्म मुझको लिपायमान नहीं करते),—इसीसे तुम्हें मनुष्य नहीं होना पड़ता; अतएव हम शाप देते हैं, हमारे शापसे तुम्हें तन धरना पड़ेगा (अर्थात् ईश्वरसे मनुष्य होना पड़ेगा। हमारे शापसे तुम्हें कर्मका फल भोगना होगा)। (ग) ईश्वरके लिये नरतन धारण करना बड़ी हीनताकी बात है, यथा 'राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी। १।२४।१।' इसीसे मुनिने नरतन धरनेका शाप दिया। (घ) भगवान्के किये हुए कर्म और उनके फल जो शाप द्वारा मिले, इन दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है, चौपाइयोंके भाव भी साथ ही साथ दिखाये जायँगे।

भगवान्का किया हुआ कर्म		कर्मका फल जो शापद्वारा मिला
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा	१	सोइ तनु धरहु

☞ (नारदजी कन्याको अपनी स्त्री मान चुके थे, इसीसे वे कहते हैं कि तुमने मुझे ठगा। जो शरीर तुमने धारण किया था, वही हो। नर बने थे, अतः अब नर बनो)।

कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।	२	करिहहि कीस सहाय तुम्हारी ॥

(☞ कोई ईश्वरकी सहायता करे! और फिर वह भी बंदर! दोनोंमें ईश्वरकी बड़ी हीनता है। यथा "सुनत बचन बिहँसा दससीसा ॥ जौं असि मति सहाय कृत कीसा। ५।५६।४।" 'सठ साखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई। ६।२८।१"।)

मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । ३ नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी ।

[पुनः भाव कि तुम्हारी ऐसी असहायावस्था हो जायगी कि बन्दरोंके पास जाकर सहायता माँगोगे। वे तुम्हारी सहायता करेंगे तब तुम्हारा संकट दूर होगा। किष्किन्धाकाण्डमें (वाल्मी० रा० में) श्रीलक्ष्मणजीने हनुमान्‌जीसे यही कहा है। यथा 'लोकनाथः पुरा भूत्वा सुग्रीवं नाथमिच्छति ।४।१८। पिता यस्य पुरा ह्यासीच्छरण्यो धर्मवत्सलः । तस्य पुत्रः शरण्यश्च सुग्रीवं शरणं गतः । १९ । सर्वलोकस्य धर्मात्मा शरण्यः शरणं पुरा । गुरुर्मे राघवः सोऽयं सुग्रीवं शरणं गतः । २० ।···शोकाभिभूते रामे तु शोकार्त्ते शरणं गते । कर्तुमर्हति सुग्रीवः प्रसादं हरियूथपः । २४ ।' अर्थात् जो पहिले लोकनाथ रह चुके हैं वे सुग्रीवको नाथ बनाना चाहते हैं। जिनके पिता सब लोकोंके शरण्य और धर्मवत्सल थे, वे सुग्रीवकी शरणमें आये हैं। जो सर्वलोकोंके शरण्य थे वे राघव सुग्रीवकी शरणमें आये हैं। ऐसे शोकाभिभूत और शोकार्त्त रामके शरण आनेपर सुग्रीवको चाहिये कि सेनापतियोंके साथ उनपर कृपा करे।-इस भाँति शापका साफल्य दिखाया (वि०त्रि०)। पुनः भाव कि तुमने हमारा स्त्रीहरणरूपी अपकार किया। तुम्हारी स्त्रीको राक्षस हरेंगे जिनको हमने राक्षस होनेका शाप दिया है। तुम्हारी स्त्रीको हरण करनेके लिये हमने पहिले ही राक्षस बना दिये हैं। स्त्रीके हरण से हमें दुःख हुआ, हमारी छाती जलती है। वैसे ही तुम दुःखित होगे। स्त्रीका हरण भारी अपकार है। आततायी छः प्रकारके माने गए हैं; उनमेंसे परदारापहरण भारी आततायी कर्म है]।

२—पूर्व तीन बातें कहीं। इन तीनोंको यहाँ चरितार्थ करते हैं—

(१) 'डहकि डहकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू।' अतः 'बंचेहु मोहि' कहा।

(२) 'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू।' इसीसे 'कपि आकृति तुम्ह०'

(३) 'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई।' इसीसे 'मम अपकार कीन्ह तुम्ह'

३ भगवान्‌ने नारदकी प्रथम 'कपि आकृति' की, उनको बंदरका रूप दिया, तब राजा बनकर उनको 'बंचेउ' (ठगा), परन्तु यहाँ शाप देनेमें क्रम आगे-पीछे हो गया। अर्थात् पहले नरतन धरनेका शाप दिया तब बन्दरोंका सहायक होना कहा। इसी तरह अवतारके क्रममें प्रथम 'नारिबिरह' है तब वानरोंकी सहायता पर यहाँ शापमें क्रम उलटा है। कारण यह है कि इस समय मुनिको 'अत्यंत क्रोध' है इसीसे शाप क्रमसे नहीं है, व्यतिक्रम है। [शापका क्रम अवतारके अनुसार सरस्वती कहला रही है। जब तक नरतन न धरते, युद्ध ही कौन करता और बंदर सहायक ही कैसे होते? अतएव प्रथम नरतन धरना कहा तब कपिका सहायक होना। (मा० पी० प्र० सं०)]

४ (क) 'श्राप सीस धरि' इति। भगवान् संतको अपनेसे अधिक मानते हैं। बड़ोंके वचन सिरपर धारण किये जाते हैं; यथा 'अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी। १। ७७। ४।', 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। १। ७७। २।', 'चले सीस धरि राम रजाई'। इसीसे भगवान्‌ने मुनिके शापको शिरोधार्य किया। अर्थात् आदरपूर्वक अंगीकार किया। यदि शापको शिरोधार्य न करते तो नारदजी प्राण दे देते, ब्रह्म-हत्या लगती, वे प्रतिज्ञा कर ही चुके हैं—'देहौं श्राप कि मरिहौं जाई'। (ख) 'हरषि हिय' इति। हृदयमें हर्षित हैं, क्योंकि शाप अपनी इच्छाके अनुकूल है। [पुनः भाव कि यह आपका सहज स्वभाव है, आप सदा प्रसन्न वदन रहते हैं; यथा "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः। मुखाम्बुज-श्री रघुनन्दनस्य···। २ मं० श्लो० २।' दूसरे, लीलाका साज अब पूरा-पूरा बन गया; अतएव 'हरषि हिय श्राप सीस धरि' लिया। (मा० पी० प्र० सं०)। तीसरे, आज्ञा शिरोधार्य करनेमें हर्ष होना ही चाहिए। पंजाबीजीका मत है कि हर्ष यह समझकर है कि—(१) किसीके वर या शापसे हमारा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। अथवा, (२) इनको काम और क्रोधको जीतनेका अभिमान था सो अब काम और क्रोधसे उनकी क्या दशा हो रही है; इसीपर ये इतने भूले थे। अथवा, (३) हमने इनकी जितनी हँसी कराई उससे

अधिक इन्होंने हमें शाप दे डाला अतः हम अब इनके ऋणी नहीं रह गये। अथवा, (४) यह हमारे परम भक्त हैं। इन्हें अहंकाररूपी पिशाचने ग्रस लिया था, बहुत अच्छा हुआ कि थोड़ेहीमें वह निवृत्त हो गया। इससे यह भी दिखा दिया कि वस्तुतः प्रभु विस्मय और हर्ष रहित हैं।] (ग) 'प्रभु बहु बिनती कीन्हि' इति। भाव कि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तो भी दासकी विनती करते हैं। ऐसा करना समर्थ एवं सामर्थ्यकी शोभा है। बहुत बिनती यह कि आप ब्रह्मर्षि हैं; मैंने अपने कर्मका फल पाया; जो आपने कहा था कि 'पावहुगे फल आपन कीन्हा' सो सत्य है, आपका इसमें कुछ भी दोष नहीं है। [भगवान एक अपने भक्तका ही मान करते हैं। देखिए, इतने कठोर वचनोंपर भी उन्होंने नारदका तिरस्कार न किया। (रा० प्र०)]। नारदजीको बहुत क्रोध है, इसीसे उनको शान्त करनेके लिये बहुत विनती करनी पड़ी तब वे शान्त हुए। (घ) 'निज माया कै प्रबलता…' इति। मायाकी प्रबलताको खींच लेनेमें 'कृपानिधि' विशेषण दिया क्योंकि भगवान्‌की कृपासे ही माया छूटती है। यथा "अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया। ४.२१।", "सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥ ७.७१।" (पुनः, 'कृपानिधि' कहा, क्योंकि प्रभुने मायाको खींच लिया, इसने मुनिको बहुत सता रक्खा था, बहुत दुःख दिया था)। (ङ) "निज माया बल देखि बिसाला।१.३२.८।" उपक्रम है और "निज माया कै प्रबलता…" उपसंहार है। (च) यद्यपि मुनि मायाके वश मूढ़ हैं तथा भगवान्‌की इच्छाके वश हैं तथापि उनकी भक्ति ऐसी दृढ़ है कि 'तू' 'तेरा' इत्यादि निरादरके शब्द उनके मुखसे नहीं निकले। [(छ) मुनिके हृदयसे मायाबल खींचकर उन्हें शुद्ध ज्ञान करानेमें 'परिवृत्ति अलंकार' की ध्वनि है। (वीरकवि)। मायाकी प्रबलता खींच ली, माया नहीं खींची। पूरी माया खींच लेनेसे मोक्ष हो जाता, लीला ही समाप्त हो जाती। (वि० त्रि०)]

नोट—४ मिलानके श्लोक, यथा "स्त्रीकृते व्याकुलं विष्णो मामकार्षीर्विमोहकः। अन्वकार्षीस्स्वरूपेण येन कापट्यकार्यकृत्। १५। तद्रूपेण मनुष्यस्त्वं भव तद्दुःख भुग्घरे। यन्मुखं कृतवान्मे त्वं ते भवन्तु सहायिनः। १६। त्वं स्त्रीवियोगजं दुःखं लभस्व परदुःखदः।…। १७।…विष्णुर्जग्राह तं शापं…। १८।" (अर्थ सरल है। शिवपुराणमें शिवजीकी मायासे नारदका मोहित होना और शिवजीका अपनी उस मायाका खींच लेना कहा है)।

जब हरि माया दूरि निवारी। नहि तहं रमा न राजकुमारी॥१॥
तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारतिहरना॥२॥
मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥३॥
मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिँ किमि मेरे॥४॥

शब्दार्थ—'निवारी'=हटादी। 'पाहि' (सं०)=रक्षा करो।

अर्थ—जब भगवान्‌ने मायाको दूर कर दिया (तब) वहाँ न रमा ही रह गई और न राजकुमारी ही॥१॥ तब अत्यन्त सभीत हो मुनिने भगवान्‌के चरण पकड़ लिए (और बोले) हे शरणागतके दुःखोंको हरनेवाले! मेरी रक्षा कीजिए॥२॥ हे कृपालु! मेरा शाप झूठा (व्यर्थ) हो जाय। दीनदयाल भगवान् बोले कि हमारी ऐसी ही इच्छा है॥३॥ मुनि (फिर) बोले कि मैंने बहुत दुर्वचन कहे, मेरे पाप कैसे मिटेंगे?॥४॥

व्याकरण—'होहु, होउ'=होवे, विधिक्रिया, यथा 'जाहु जाउ'=जावे; 'जरउ, जरहु'=जले। इत्यादि।—(श्रीरूपकलाजी)।

श्रीलमगोड़ाजी—प्रहसनमें हास्यचरितसे कुकड़ूँ-कूँ बुला ली गई, मानों जी० पी० श्रीवास्तव्यजीका हास्यसूत्र चरितार्थ हो गया। मगर मजा यह कि हमारी सहानुभूति नारदसे पूर्णतया चली नहीं गई और जीत भी बिलकुल एकाङ्गी नहीं है।

टिप्पणी—१ 'जब हरि माया दूरि निवारी' इति । निवारण किया मायाको पर वहाँ साक्षात् लक्ष्मीजी भी न रह गईं । रमा और राजकुमारी दोनोंके न रहनेका भाव यह है कि यदि दोनों वहाँ रहतीं तो माया न कहलाती क्योंकि मायाको तो भगवान्‌ने दूर ही कर दिया । तात्पर्य्य कि भगवान् जब (भक्तके हृदयसे) मायाको दूर कर देते हैं तब लक्ष्मी और स्त्री (कंचन, कामनी) दोनों दृष्टिमें नहीं रह जातीं । पुनः भाव कि जब माया दूर की तब नारदके हृदयसे माया निकल गई, बाहर रमा और राजकुमारी देख पड़ती थीं सो भी न रहीं । (पंडितजीका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि ये लक्ष्मी भी असली लक्ष्मी न थीं, केवल नारदजीका क्रोध भड़कानेके लिये राजकुमारीकी तरह वे भी मायाकी ही थीं ।)

नोट—१ यहाँ लोग यह प्रश्न करते हैं कि "मायाके साथ रमाजीको क्यों हटा दिया ?" इसका समाधान यों करते हैं कि "दोनों बनी रहतीं तो समझा जाता कि जिस मायाको निवारण किया वह और कोई माया है । सो नहीं । ये दोनों ही मायाके विशेष रूप हैं (पंजाबीजी) । लक्ष्मीके दो स्वरूप हैं । १—चेतन, स्त्रीरूप । २—जड़, मणि मुक्ता संपत्ति आदि । नारदको चेतन और जड़ दोनों मायाओंसे निवृत्त किया । रामभक्त श्रीरामजीकी कृपासे दोनोंका त्याग करते हैं । त्याग कैसे करते हैं और उसका चिह्न क्या है सो दिखाते हैं । यथा "काम क्रोध मद लोभ कै जब लगि मन में खानि । तब लगि मूरख पंडितहु दोनों एक समान ॥", "जननी सम जानहिं पर नारी । धन पराय बिष ते बिष भारी ॥" जब वृत्ति ऐसी हो जाय तब जानो कि राम-कृपा हुई । चिह्न यह है कि धन आदि आया तो उसे परमार्थमें लगा दिया, पास नहीं रखा (प्र० सं०) । त्रिपाठीजी लिखते हैं कि वहाँ रमा और राजकुमारी पहिले भी न थीं पर मायाके बलसे मुनि उनको प्रभुके साथ देखते थे।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'जब भगवान् कृपा करके अज्ञान दूर करते हैं, जीव रमाजीको भगवान्‌से अभिन्न तत्त्वरूपमें और विद्यामायाको उनकी कृपात्मक इच्छारूपमें पाता है। अतः ये दोनों उनसे भिन्न नहीं रह जातीं ।'

टिप्पणी—२ 'तब मुनि अति सभीत हरि चरना ।...' इति । (क) यहाँ नारदजीके मन, तन और वचन तीनोंका हाल कहते हैं । मनसे सभीत हुए, तनसे चरण पकड़े और वचनसे 'पाहि प्रनतारति हरना' कहा । इस तरह मन, कर्म और वचन तीनोंसे शरणागति दिखाई । (ख) 'तब' अर्थात् मायाके दूर करनेपर। जब माया दूर हुई तब क्रोध और वैर भी चित्तसे निकल गए (क्योंकि ये सब मायाके परिवार हैं । मायाके दूर होनेपर जीवको अपने कर्मोंका भय उत्पन्न होता है, उसे अपना अपराध समझ पड़ता है), नारदमुनिको अपना अपराध समझ पड़ा, तब वे प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े । (ग) मन, कर्म और वचन तीनोंकी दशा कहकर साष्टाङ्ग प्रणाम सूचित किया । [आठों अंगोंसे जो प्रणाम किया जाता है उसे साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं । वे आठ अंग ये हैं—जानु, पद, हाथ, उर, शिर, वचन, दृष्टि (कर्म) और मन (बुद्धि) । कोई-कोई नासिकाको एक अंग मानते हैं ।]

३—'मृषा होउ मम श्राप कृपाला ।०' इति । (क) अपने शापके व्यर्थ होनेकी प्रार्थना करते हैं, इससे जनाया कि अपनी वाणी व्यर्थ कर देनेका सामर्थ्य नारदमें नहीं है, यथा 'झूठि न होइ देवरिषि बानी ।', 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा ।' (६८.७,४) । भगवान्‌को सामर्थ्य है । वे शापको न स्वीकार करके उसे व्यर्थ कर सकते हैं, जैसे दुर्वासा और भृगुजीके शापको व्यर्थ कर दिया था। इसी लिये नारदजी भगवान्‌से विनय करते हैं । (ख) 'कृपाला' का भाव कि हमपर यही कृपा कीजिए कि मेरा शाप मिथ्या हो जाय । पुनः, भाव कि हमने शाप दिया, दुर्वचन कहे तब भी आपके मनमें क्रोध न आया, आप विनय ही करते रहे, ऐसे कृपाल हैं । (ग) 'मम इच्छा कह दीनदयाला' । भाव कि तुम भय न करो । नारदजी अपनी करनी समझ कर दीन हो रहे हैं उनपर आपने कृपा की, 'मम इच्छा' कहकर उनका संतोष किया ।

नोट—२ (क) यहाँ भगवान्‌की कृपाको सर्वोपरि दिखा रहे हैं । यथा 'तात बात फुरि रामकृपा हीं । राम बिमुख सिधि सपनेहु नाहीं । २।२५६ ।' (वसिष्ठवाक्य) । (ख) 'मम इच्छा' का भाव यह है कि 'हम शाप न मिटने देंगे । यह सब हमारी इच्छासे हुआ, इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं है' । हम सत्यसंकल्प हैं, हमारी इच्छा व्यर्थ नहीं हो सकती । पुनः इस कथनमें यह भी आशय है कि शाप न स्वीकार करनेसे नारद मुनिका वचन असत्य हो जाता, उनके शाप एवं आशीर्वादको फिर कोई प्रमाण नहीं मानता, उनका ऋषित्व ही मिट जाता । प्रभु भक्तवत्सल हैं, कृपाल हैं, अतः वे मुनिका वचन व्यर्थ करके उनका अहित नहीं करेंगे । इसीसे 'मम इच्छा' कहकर उनको सन्तुष्ट कर रहे हैं । (ग) 'दीनदयाला' का भाव कि रुद्रगणोंको निशाचर होनेका शाप हो चुका है । वे शापसे दीन हैं । नारदशापको स्वीकार न करनेसे रुद्रगणका उद्धार न हो सकेगा । अतः नारदके उस शापको भी सत्य तथा रुद्रगणोंका उद्धार करनेके विचारसे वक्ताओंने 'दीन-दयाल' विशेषण दिया । (पं०) । (घ) 'मृषा न होइ देवरिषि भाषा । ६८।४ ।' को प्रभुने अपने ऊपर भी चरितार्थ कर दिखा दिया ।—(मा० पी० प्र०सं०) । (ङ) 'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान ।१२७।' उपक्रम है और 'मम इच्छा···' उपसंहार है ।

टिप्पणी—४ 'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे ।०' इति । (क) भाव कि शाप तो आपकी इच्छासे हुआ तो हुआ, पर मैंने जो दुर्वचन बहुतसे कहे यह तो मेरा पाप है, यह कैसे मिटेगा ? ☞ नारदके ऊपर काम और क्रोधका बल हो चुका । 'कामके केवल नारि' सो 'नारी' न रह गई, - 'नहिं तहँ रमा न राजकुमारी' और 'क्रोधके परुष बचन बल' वह भी अब न रह गया । इसीसे कठोर वचन कहनेका पश्चात्ताप हो रहा है । शाप मिथ्या होनेकी प्रार्थना की, भगवान्‌ने उसमें अपनी इच्छा कहकर उनका बोध कर दिया । दुर्वचन कहे सो इस पापके मिटनेकी प्रार्थना की तब उसके लिए प्रायश्चित्त बताते हैं, यह क्यों ? इसमें भाव यह है कि भगवान् भक्तके वचनोंको नहीं मेटते, उसके पापको अवश्य मेट देते हैं । इसीसे शापको न मिटाया, दुर्वचनोंके पापका प्रायश्चित्त बताया । ☞ शापके विषयमें जब 'मम इच्छा' यह भगवान्‌ने कहा तब नारदने कहा कि 'पाप मिटिहि किमि मेरे' । इससे पाया गया कि दासके पाप करनेमें भगवानकी इच्छा नहीं है, पाप प्रारब्धवश होते हैं । [जीव अपनी प्रवृत्तिसे ही पापकर्म करता है । यथा 'तुलसी सुखी जो राम सों दुखी सो निज करतूति ।' (दोहावली ८८) । इसीसे उसका प्रायश्चित बताते हैं, उसमें अपनी इच्छा नहीं कहते ।]

नोट—३ दुर्बचन = कुवचन, गालियाँ, बुरे वचन । 'बहुतेरे'—एक पूरे दोहेमें इनके दुर्वचन हैं । 'पर संपदा सकहु नहिं देखी' १३६ (७) से 'पावहुगे फल आपन कीन्हा' १३७ (५) अथवा 'मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी । ८ ।' तक ।

४ मिलानके श्लोक, यथा "अपतत्पादयोर्विष्णोर्नारदो वैष्णवोत्तमः ।। २२ ।। इत्युत्थापितः प्राह वचन नष्टदुर्मतिः । मया दुरुक्तयः प्रोक्ता मोहितेन कुबुद्धिना ।। २३ ।। दत्तश्शापोऽपि ते नाथ वितथं कुरु तं प्रभो ।···२४ ।। कमुपायं हरे कुर्यां दासोऽहं ते तमादिश । येन पापकुलं नश्येन्निरयो न भवेन्मम ।। २५ ।। (रुद्र सं० २।४) ।" अर्थात् तब नारदजी भगवान्‌के चरणोंपर गिर पड़े । उन्होंने उठाकर मुनिको बिठाया । नारदजी बोले—मैं बड़ा ही कुबुद्धि हूँ, मैंने बहुत खोटे वचन कहे हैं । मेरे दिए हुए शापको आप मिथ्या कर दीजिए । मैं आपका दास हूँ । मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं क्या उपाय करूँ जिससे मेरे पापसमूह नष्ट हो जायँ, मुझे नरक न हो ।

जपहु जाइ संकर सत नामा । होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ।।५।।
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें । असि परतीति तजहु जनि भोरें ।।६।।

अर्थ—(भगवान्ने कहा कि) शंकर-शतनाम (शंकरशतक) जाकर जपो। (उससे) हृदय तुरत शान्त हो जायगा ॥ ५ ॥ शिवजीके समान मुझे कोई प्रिय नहीं है, यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ना ॥६॥

श्रीलमगोड़ाजी—नारदजीकी नैतिक चिकित्सा पूर्ण हो गई। पश्चात्तापके होते ही अहंकार मिट गया। भगवान्ने एक सरल उपायसे उनका उद्धार करा दिया। इलाज कितना अच्छा और पक्का है। टैगोरजी सत्य कहते हैं कि भगवान् हमें कभी-कभी बड़े इनकारसे सीख देते हैं, नहीं तो कुपथ्य पाकर हमारे रोग बढ़ते ही जायँ। शंकरजीके नामजपका रहस्य यह है कि वे ही 'कामारि' हैं।

नोट—१ 'जपहु जाइ संकर सत नामा' इति। (क) शंकर शतनामसे शंकरशतक अभिप्रेत है। जैसे 'विष्णुसहस्रनाम', 'गोपालसहस्रनाम', 'श्रीसीतासहस्रनाम' और 'रामसहस्रनाम' इत्यादि हैं, वैसे ही 'शंकर-शतनाम' (शंकरशतक) है। शिवपुराणमें ब्रह्माजीने नारदजीको इस शतनामका उपदेश दिया है और लिङ्गार्चनतंत्रमें स्वयं शिवजीने अपने शतनाम पार्वतीजीसे कहे हैं। और अंतमें उसका फल भी कहा है। (पूर्वसंस्करणमें, जो सन् १९२४ सम्वत् १९८२ में प्रकाशित हुआ, शंकरजीके शतनाम न देकर मैंने केवल ग्रंथोंके नाम दे दिये थे। उनको देखकर कतिपय प्रेमियोंने मुझे पत्र लिखकर पूछा। अतएव इस संस्करणमें वे शतनाम यहाँ उद्धृत किये जाते हैं)। (शिवलिङ्गार्चनतंत्रे शिवपार्वतीसंवादे)—

श्रीपार्वत्युवाच'…"इदानीं श्रोतुमिच्छामि शिवस्य शतनामकम्। २।'

श्रीसदाशिवउवाच—"…मम नाम पराराध्यं तथैव कथितं मया ॥ ५ ॥ तेषां मध्ये सहस्रं तु सारात्सारं परात्परम्। तत्सारं तु समुद्धृत्य शृणु मत्प्राणवल्लभे ॥ ६ ॥ मम नामशतं चैव कलौ पूर्ण-फलप्रदम्। केवलं स्तवपाठेन मम तुल्यो न संशयः ॥ ७ ॥ पीठादि न्याससंयुक्तं ऋष्यादि न्यासपूर्वकम्। देवताबीजसंयुक्तं शृणुयात्परमाद्भुतम् ॥ ८ ॥ नारदश्च ऋषिः प्रोक्तोऽनुष्टुप् छन्दः प्रकीर्त्तितः। सदा-शिवो महेशानो देवता परिकीर्तिता ॥ ९ ॥ षडक्षरं महाबीजं चतुर्वर्गप्रदायकम्। सर्वाभीष्टप्रसिद्ध्यर्थं विनियोगः प्रकीर्तितम् ॥१०॥ ॐ महाशून्यो महाकालो महाकाल युतः सदा। देह मध्ये महेशानि लिङ्गाकारेण वैस्थितः ॥ ११ ॥ मूलाधारे स्वयंभूश्च कुण्डली शक्तिसंयुतः। स्वाधिष्ठाने महाविष्णुस्त्रैलोक्यं पालयेत् सदा ॥ १२ ॥ मनिपूरे महारुद्रः सर्वसंहारकारकः। अनाहदे ईश्वरोऽहं सर्वदेवैर्निषेवितः ॥ १३ ॥ विशुद्धाख्ये षोड-शोरे सदाशिव इति स्मृतः। आज्ञाचक्रे शिवः साक्षात्चिद्रूपेणहिसंस्थितः ॥१४॥ सहस्रारे महापद्मे त्रिकोण-निलयान्तरे। बिन्दुरूपे महेशानि परमेश्वर ईरितः ॥१५॥ बास्वरूपे महेशानि नानारूपधरोप्यहम्। कल्पान्त-ज्योतिरूपोऽहं कैलासेश्वरसंज्ञकः ॥१६॥ हिमालये महेशानि पार्वतीप्राणवल्लभः। काश्यां विश्वेश्वरश्चैव वानेश्वर-स्तथैव च ॥१७॥ शम्भुनाथश्चन्द्रनाथश्चन्द्रशेखर पार्वति। आदिनाथः सिंधुतीरे कामरूपे वृषध्वजः ॥१८॥ नेपाले पशुपतिश्चैव केदारे परसीश्वरः। हिंगुलायां कृपानाथो रूपनाथस्तदोद्धकः ॥ १९ ॥ द्वारकायां हरश्चैव पुष्कर प्रमथेश्वरः। हरिद्वारे महेशानि गंगाधर इति स्मृतः ॥ २० ॥ कुरुक्षेत्रे पांडवेशो वृन्दारण्येच केशवः। गोकुले गोपनीपूज्यो गोपेश्वर इति स्मृतः ॥ २१ ॥ मथुरायां कंसनाथो मिथिलायां धनुर्धरः। अयोध्यायां कृती वामः काश्मीरे कपिलेश्वरः ॥ २२ ॥ काञ्चीनगरमध्येतु मन्नाम त्रिपुरेश्वरः। चित्रकूटे चन्द्रचूडःयोगीन्द्रो विंध्यपर्वते ॥ २३ ॥ बाणलिंगो नर्मदायां प्रभासे शूलभृत्सदा। भोजपुरे भोजनाथो गयायांच गदाधरः ॥ २४ ॥ झारखंडे वैद्यनाथो वल्केश्वरस्तथैव च। वीरभूमौ सिद्धिनाथो राढे च तारकेश्वरः ॥ २५ ॥ घण्टेश्वरश्च देवेशि रत्नाकर-नदीतटे। गंगाभागीरथीतीरे कपिलेश्वर इतीरितः ॥ २६ ॥ भद्रेश्वरश्च देवेशि कल्याणेश्वर एव हि। नकुलेशः कालिघाटे श्रीहट्टे हाटकेश्वर ॥ २७ ॥ अहंकोचवधूपूरे जयेश्वर इतीरितः। उत्कले विमलाक्षेत्रे जग-न्नाथो ह्यहं कलौ ॥ २८ ॥ नीलाचलारण्यमध्ये भुवनेश्वर इतीरितः। रामेश्वरः सेतुबंधे लंकायां रावणेश्वरः ॥ २९ ॥ रजताचलमध्ये तु कुबेरेश्वर इतीरितः। लक्ष्मीकान्तो महेशानि सदा श्रीशैलपर्वते ॥ ३० ॥ अम्बको गोमतीतीरे गोकर्णे च त्रिलोचनः। बद्रिकाश्रममध्ये तु कपिनाथेश्वरोह्यहम् ॥३१॥ स्वर्गलोके देवदेवो मर्त्यलोके

सदाशिवः । पाताले वासुकीनाथो यमराट् कालमन्दिरे ॥ ३२ ॥ नारायणश्च, वैकुण्ठे गोलोके हरिहरस्तथा । गंधर्वलोके देवेशि पुष्पगन्धेश्वरोह्यहम् ॥ ३३ ॥ श्मशाने भूतनाथश्च गृहेचैव जगद्गुरुः । अवतारः शंकरोहं विरूपाक्षस्तथैव च ॥३४॥ कामिनीजनमध्येतु कामेश्वर इतिस्मृतः । चक्रमध्ये कुलश्चैव सलिले वरुणेश्वरः ॥३५॥ आशुतोषो भक्तमध्ये शत्रूणां त्रिपुरान्तकः । शिष्यमध्ये गुरुश्चाहं तथैव परमो गुरुः ॥३६॥ चन्द्रलोके सोमनाथो स्वर्भानुर्भानुमण्डले । त्रैलोक्ये लोकनाथोऽहं रुद्रलोके महेश्वरः ॥ ३७ ॥ समुद्रमथने काले नीलकण्ठस्त्रिलोकजित् । जम्बुद्वीपे जगत्कर्त्ता शाकद्वीपे चतुर्भुजः ॥ ३८ ॥ कुशद्वीपे कपर्दीशः क्रौञ्चद्वीपे कपालभृत् । मणिद्वीपे मीननाथः प्लक्षद्वीपे शशीधरः ॥ ३९ ॥ अहं च पुष्करद्वीपे पुरुषोत्तम इतीरितः । वेदमध्ये वासुदेवो गुरुमध्ये निरञ्जनः ॥ ४० ॥ पुराणे परमेशानि व्यासेश्वर इतीरितः । आगमे नागमश्चेहं निगमे नागरूपधृक् ॥ ४१ ॥ सर्वज्ञो ज्योतिषां मध्ये योगीशो योगशास्त्रके । दीनमध्ये दीननाथो नाथनाथस्तथैवच ॥४२॥ राजराजेश्वरश्चैव नृपानां नगनंदिनि । परं ब्रह्म सत्यलोके ह्यनन्तश्च रसातले ॥ ४३ ॥ आब्रह्मस्तंभमध्ये तु लिंगरूपोह्यहं प्रिये । इति ते कथितं देवि मम नामशतोत्तमम् ।"

यहाँ तक शंकरशतनाम हैं । आगे १९ उन्नीस श्लोकोंमें इसके पाठका माहात्म्य कहा है -

पठनाच्छ्रवणाच्चैव महापातककोटयः । नश्यन्ति तत्क्षणात् देवि सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ४५ । अज्ञानिनां ज्ञानसिद्धिर्ज्ञानिनां परमं धनम् । अतिदीनदरिद्राणां चिन्तामणिस्वरूपकम् ॥ ४६ ॥ रोगिणां पापिनांचैव महौषधि इतिस्मृतः । योगिनां योगसारंच भोगिनां भोगमोक्षदः ॥ ४७ ॥ इत्यादि । (मा० त० वि० से उद्धृत) ।

नारद उवाच-काशीनाथशिवस्वामी कन्दर्पघ्नस्तुशंकरः । भूपतिर्भूतनाथश्च भूसुरप्रतिपालकः ॥ १ ॥
भगवान् भूतसंगी च भालज्योतिर्निरंजनः । अन्धकासुरहा शंभुर्दक्षयज्ञविनाशनः ॥ २ ॥
देवादिर्देव योगीशो नाग भूषण दुःखहा । भस्मापेतो भवानीशो भावनो भक्तिभाजनः ॥ ३ ॥
विश्वरूपी चिदानन्द अनादिः पुरुषोत्तमः । जगन्नाथो निराकारः पुरध्वंसन ईश्वरः ॥ ४ ॥
नागचर्माम्बरं धृत्वा जटाधारी जगत्पतिः । जानकीनाथमित्रं च शृङ्गी शंख सदाप्रियः ॥ ५ ॥
पद्मासनः शिवार्द्धाङ्गी डमरूमुखरप्रियः । वृषध्वजो दयाधीशो भूतकर्त्ता करामलः ॥ ६ ॥
नीलकंठो निजानंदो निश्चलो निर्मलशिवः । वामदेवो महादेवो भस्मकर्त्ता तमोगुणः ॥ ७ ॥
भृङ्गीशो वीरभद्रादिः सूर्य्य कोटिप्रभायुतः । तारकप्राणहंता च पिनाकी परमेश्वरः ॥ ८ ॥
पद्माद्योऽपि परब्रह्म रुद्रोदाता जगत्रयः । रावणाश्रयकर्त्ता च रावणारिवरप्रदः ॥ ९ ॥
मस्तके बालचन्द्रोऽस्य शीर्षे गंगोदकं शुचि । पंचात्मा सुप्रकाशी च पंचबाणैकनाशनः ॥१०॥
मृगचर्मसुखासीनो मृगमदो गंधगाहुकः । रुक्मकंचन दाता च रुक्मभूधरमालयं ॥ ११ ॥
वैज्यनाथश्च नंदीशः कालकूटस्य भक्षकः । वाराणसी विलासी च पंचवक्त्रेश्वरो हरः ॥ १२ ॥
हंससोमाग्निनेत्रश्च भस्मकर्त्ता तमोगुणः । सुगुरुः सुखदो नित्यं निरुपाक्षो दिगंबरः ॥ १३ ॥
चन्द्रशेखर सिद्धान्तः शान्तभूतः सनातनः । सर्वगः सर्व साक्षी च सर्वात्मा च सदाशिवः ॥ १४॥
योगेश्वरो जगत्राता जगज्जीवाधिपालकः । जानकीवल्लभापूज्यो रामेश्वरो जलाश्रयः ॥ १५ ॥
श्मशानसदाक्रीडा कपाली करपन्नगः । विघ्नविध्वंसनो नाम बलिपुत्रवरप्रदः ॥ १६ ॥
हृषीकार्थप्रदस्सिद्धिर्ज्योतीरूपो महेश्वरः । शंकरे शतनामानि प्रणीतान्यादियामले ॥ १७ ॥
सर्वकामप्रदानित्यं प्रातरुत्थाय यः पठेत् । तस्य सर्व फलप्राप्तिः शिवश्चण्डः प्रसीदति ॥ १८ ॥
इति श्री ब्रह्मयामले शंकरशतनामस्तोत्रंसमाप्तम् (रा० बा० दा० रामायणीजीसे प्राप्त)

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीने शङ्कर शतनाम स्तोत्र यह दिया है—"अथ श्रीशिवाष्टोत्तरशतनाममहामन्त्रस्य आदिनारायणऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीसदाशिवो देवता श्रीसदाशिवप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः । वज्रदंष्ट्रं त्रिनयनं

कालकण्ठमरिन्दमम् । सहस्रकरमत्युग्रं वन्दे देवमुमापतिम् ।। ॐ शिवो महेश्वरः शम्भुः पिनाकी शशिशेखरः । वामदेवो विरूपाक्षः कपर्दी नीललोहितः । शङ्करः शूलपाणिश्च खट्वाङ्गी विष्णुवल्लभः । शिपिविष्टोऽम्बिकानाथः श्रीकण्ठो भक्तवत्सलः । भवः शर्वस्त्रिलोकेशः शितिकण्ठः शिवाप्रियः । उग्रः कपाली कामारिरन्धकासुरसूदनः । गङ्गाधरो ललाटाक्षः कालकालः कृपानिधिः । भीमः परशुहस्तश्च मृगपाणिर्जटाधरः कैलासवासी कवची कठोरस्त्रिपुरान्तकः । वृषाङ्को वृषभारूढो भस्मोद्धूलितविग्रहः१५सामप्रियः स्वरमयस्त्रयीमूर्तिरनीश्वरः । सर्वज्ञः परमात्मा च सोमसूर्याग्निलोचनः १६ हविर्यज्ञमयः सोमः पंचवक्त्रः सदाशिव । विश्वेश्वरो वीरभद्रो गणनाथः प्रजापतिः १७ हिरण्यरेता दुर्धर्षो गिरीशो गिरिशोऽनघः । भुजङ्गभूषणो भर्गो गिरिधन्वा गिरिप्रियः१८अष्टमूर्तिरनेकात्मा सात्विकः शुद्धविग्रहः । शाश्वतः खण्डपरशुरजः पाशविमोचकः ११ कृत्तिवासा पुरारातिर्भगवान् प्रमथाधिपः । मृत्युञ्जयः सूक्ष्मतनुर्जगद्व्यापी जगद्गुरुः १९ व्योमकेशो महासेनो जनकश्चारुविक्रमः । रुद्रो भूतपतिः स्थाणुरहिर्बुध्न्यो दिगम्बरः १० मृडः पशुपतिर्देवो महादेवोऽव्ययः प्रभुः । पूषदन्तभिदव्यग्रो दक्षाध्वरहरो हरः १२ भगनेत्रभिदव्यक्तः सहस्राक्षः सहस्रपात् । अपवर्गप्रदोऽनन्तस्तारकः परमेश्वरः । तारकः परमेश्वरः । इमानि दिव्यनामानि जप्यन्ते सर्वदा मया । नाम कल्पलतेयं मे सर्वाभीष्टप्रदायिनी, नामान्येतानि सुभगे शिवदानि न संशयः । वेद सर्वस्वभूतानि नामान्येतानि वस्तुतः । १५ । एतानि यानि नामानि तानि सर्वार्थदान्यतः । जप्यन्ते सादरं नित्यं मया नियमपूर्वकम् । १६ । वेदेषु शिवनामानि श्रेष्ठान्यघहराणि च । सन्त्यनन्तानि सुभगे वेदेषु विविधेष्वपि । १७ । तेभ्यो नामानि संगृह्य कुमाराय महेश्वरः । अष्टोत्तरसहस्रन्तु नाम्नामुपदिशत्पुरा । इति श्रीगौरीनारायणसम्वादे शिवाष्टोत्तरशतनाम सम्पूर्णम् ।"—(कहाँ से यह लिया इसका पता उन्होंने नहीं दिया है)।

मा० त० वि० में 'संकर सत नामा' के और अर्थ ये दिये हैं—'शतरुद्री', वा 'शंकरने जिस नामको सत माना है उसे', वा सत अर्थात् प्रशंसा जो शिवजीका नाम है 'ॐ नम शिवाय' इत्यादि ।

टिप्पणी—१ 'जपहु जाइ संकर सत नामा ।...' इति । (क) शङ्करशतनाम जपवानेमें भाव यह है कि जब कोई भागवतापराध हो जाता है तो उसका प्रायश्चित भगवन्नामजपसे नहीं होता, किन्तु भागवतभजनसे, भक्तके शरण होनेसे ही वह पाप नष्ट होता है । इसके उदाहरण दुर्वासा ऋषि हैं (उन्होंने अंबरीष महाराज परमभागवतका अपराध किया, तब चक्रने महर्षिका पीछा किया, ब्रह्मा, शंकर एवं चक्रपाणि भगवान्की शरण जानेपर भी उनकी रक्षा न हुई । भगवान्ने स्पष्ट कह दिया कि अम्बरीषकी ही शरण जानेसे तुम्हारा दुःख छूट सकता है, अन्यथा नहीं । दुर्वासाजीको भक्तराज अम्बरीषकी शरण जाना पड़ा । भागवत और भक्तमालमें कथा प्रसिद्ध है) । देवर्षि नारदने भागवतापराध किया है । शंकरजी परम भागवत हैं—"वैष्णवानां यथा शम्भुः । भा० १२।१३।१६ ।" नारदजीने उनका उपदेश नहीं माना (किंतु उनमें ईर्ष्या और स्पर्धाकी भावना रखकर उनको प्रणाम भी न किया), इसीसे उन्हींका नाम जपनेको कहा । अपनेको दुर्वचन कहे इसका भी प्रायश्चित शंकरशतनाम बताया । [भगवान्का स्वभाव है कि 'निज अपराध रिसाहिं न काऊ ।२।२१८।४।','जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन ।' (वि० २०६), 'अपराध अगाध भए जन तें अपने उर आनत नाहिंन जू' (क० ७।७) । अतएव अपनेको कहे हुये दुर्वचनों को तो वे दृष्टिमें लाते ही नहीं । परन्तु 'जो अपराध भगत कर करई । राम रोष पावक सो जरई । २।२१८।५।' इन्होंने परम भक्त श्रीशंकरजीका अपराध किया है, इसलिये मुनिके "मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे । ... पाप मिटिहि किमि मेरे" इन वचनोंके उत्तरमें भी वे "जपहु जाइ संकर सत नामा" यही प्रायश्चित कह रहे हैं । यह कहकर वे नारदजीको संकेतसे बता रहे हैं कि वस्तुतः तुमने शंकरजीका अपराध किया है, जो अक्षम्य है अतः तुम यह प्रायश्चित करो। (शिव पु० में भगवान्ने यही कहा है । यथा 'यदकार्षीश्शिववचो वितथं मदमोहितः । स दत्तवानीदृशं ते फलं कर्मफलप्रदः ।रुद्र स० २।४।२६।' अर्थात् मदसे मोहित होकर तुमने जो शिवजीके वचनोंको

नहीं माना उसीका फल कर्मफलदाताने तुमको दिया। 'जपहु जाइ शंकर सत नामा', यथा "शतनामशिवस्तोत्रं सदानन्यमतिर्जप । २।४।३७ ।'), अपने प्रति किये हुए अपराधको तो मैं अपराध गिनता ही नहीं, यदि तुम उसे अपराध मानते हो तो वह भी इसीसे छूट जायगा]

(ख) 'होइहि तुरत हृदय बिश्रामा' इति । 'तुरत०' से शंकरशतनामका माहात्म्य कहा। अर्थात् इससे जनाया कि भागवतभजनका प्रभाव सद्य होता है, उसका फल शीघ्र ही मिलता है। भगवान्को दुर्वचन कहनेसे नारदजीके हृदयमें संताप है, इसीसे हृदयको विश्राम होना कहा। पापसे विश्रामकी हानि होती है, पापोंके नष्ट होनेसे विश्राम मिलता है।

२ (क) "कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरें ।" इति । भाव कि सभी जीव हमें प्रिय हैं, यथा "सब मम प्रिय सब मम उपजाये । ७।८६।४', पर शिवजी अपनी रामभक्तिसे मुझे सबसे अधिक प्रिय हैं। यथा 'पनु करि रघुपति भगति देखाई। को शिव सम रामहि प्रिय भाई । १।१०४ ।' (ख) 'असि परतीति तजहु जनि भोरें ।' इति । भाव यह कि तुमने ऐसी प्रतीतिका त्याग दिया था। इसीसे तुमने शंकरजीके वचनोंका प्रमाण न माना, किन्तु उनका अनादर किया। प्रतीतिके त्यागसे ये शिवभक्ति न करेंगे, क्योंकि 'बिनु बिश्वास भगति नहिं', और शिवभक्ति बिना ये हमको प्रिय न होंगे, ऐसा विचारकर भगवान्ने ये वचन कहे कि कदापि ऐसा विश्वास न छोड़ना।

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ।।७।।
अस उर धरि महि बिचरहु जाई । अब न तुम्हहि माया नियराई ।।८।।
दोहा—बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु तब भये अंतरधान ।
सत्यलोक नारद चले करत राम गुन गान ।।१३८।।

अर्थ—हे मुनि ! जिस पर त्रिपुरारि (शिवजी) कृपा नहीं करते, वह हमारी भक्ति नहीं पाता ।।७।। हृदयमें ऐसी धारणा करके पृथ्वीपर जाकर बिचरते रहो। अब माया तुम्हारे निकट नहीं आवेगी ॥ ८ ॥ बहुत तरहसे मुनिको समझा-बुझा ढारस देकर तब प्रभु अन्तर्धान हो गए। नारदजी श्रीरामजीका गुण गान करते हुये ब्रह्मलोकको चलते हुए ।।१३८ ॥

टिप्पणी—१ 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी ।०' इति । (क) कृपा न करनेमें 'त्रिपुरारी' नाम दिया। क्योंकि त्रिपुरपर कृपा न की थी। 'जेहि पर' एकवचन देनेका भाव कि भक्ति पानेवाले कोई एक ही होते हैं, बहुत नहीं हैं, इसीसे बहुवचन 'जिन्ह' न कहा, यथा 'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ।४।१६।' (ख) मिलान कीजिए—'औरौ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि । संकरभजन बिना नर भगति न पावइ मोरि । ७।४५ ।' (ग) ☞ इन चौपाइयोंके क्रमका भाव यह है कि शंकरनाम जपे तब शंकर कृपा करें, तब हमारी भक्ति मिले, फिर हमारी भक्तिकी प्राप्ति होनेपर माया पास नहीं आती। अतः 'अब न तुम्हहिं माया नियराई' यह अन्तमें सबके पीछे कहा। (घ) 'अस उर धरि महि बिचरहु जाई' इस कथनका भाव यह है कि दक्षशापके कारण नारदजी एक जगह नहीं ठहर सकते, अतः 'बिचरहु जाई' कहा। (इससे यह भी जनाया कि भगवान् देवताओंके आशीर्वाद एवं शापको व्यर्थ नहीं करते। अतः कहा कि पूर्ववत् सर्वत्र विचरते रहना, क्योंकि इससे परोपकार होता रहेगा)। और, सन्त अपने सुखसे पृथ्वीपर विचरते रहते हैं,—'फिरत सनेह मगन सुख अपने। नामप्रसाद सोच नहिं सपने । १.२५।', 'सब संत सुखी बिचरंति मही । ७।१४।' (ङ) 'अस' अर्थात् ऐसी धारणा रखकर कि शिवसमान कोई भगवान्को प्रिय नहीं है और बिना उनकी कृपाके श्रीरामजीकी भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। (च) 'महि बिचरहु जाई' अर्थात् विचर-विचरकर पृथ्वीपर भी लोगोंको इसका उपदेश करना। [सन्त परोपकारार्थ विचरा करते ही हैं, यथा 'जड़

जीवन्ह को करै सचेता । जग माहीं बिचरत एहि हेता । वै० सं० ६ ।' तुम भी यह उपदेश देकर जगत्का उपकार करना ।] (छ) 'अब न तुम्हहिं माया नियराई' । भाव कि तुमने शंकरजीकी भक्ति न की (उनके वचनोंको न माना, यही भक्ति न करना है, यथा 'अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी') इसीसे माया तुम्हारे पास आई, अब शंकरनामजपसे हमारी भक्ति दृढ़ बनी रहेगी, इससे माया पास न फटक सकेगी। क्योंकि माया भक्तिको डरती है, यथा 'भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया । ७.११६.५ ।' (ज) 'मायाका नियराना' क्या है ? मायाका व्यापना क्लेश है, यथा 'बारबार कौसल्या बिनय करै कर जोरि । अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि । २०२।' पुनः यथा 'माया संभव भ्रम सकल अब न व्यापिहहिं तोहि । ७.८५ ।' इत्यादि । भगवान् जिसकी माया दूर कर देते हैं, उसे फिर माया नहीं व्यापती, इसीसे वे कहते हैं कि 'अब न तुम्हहिं माया नियराई' । 'नियराई' से जनाया कि हमने माया दूर कर दी है, अब आगे कभी न पास फटकेगी । नियराना=पास जाना । [इसमें यह भी ध्वनि है कि जभी हृदयसे यह बात निकाल दोगे, तभी माया आ दबावेगी । भाव यह कि शंकरविमुख होनेसे भगवान् भी विमुख हो जाते हैं, तब माया अच्छी तरह लथेड़ती है । इसी लिये भगवान् सावधान कर रहे हैं । (मा० पी० प्र० सं०)]

नोट—१ यह भगवान्का आशीर्वाद है ।—'तुलसी जेहि के रघुबीर से नाथ समर्थ सुसेवत रीझत थोरे । कहा भवभीर परी तेहि धौं, बिचरै धरनी तिनसों तिन तोरे'—(क० उ० ४६) ।

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'नारदको तीन कारणोंसे मोह हुआ । १—विप्र (दक्ष) शाप मिथ्या करना, २—शिव अपमान, ३—शेषशय्या पर बैठना । प्रथम दोनोंका प्रतिफल पा गये, तीसरा अपराध जो स्वयं भगवान्का किया उसको उन्होंने क्षमा किया वरन् स्वयं हाथ जोड़कर प्रबोध किया अर्थात् अपना ही दोष स्वीकार किया, पुनः बार बार हृदयमें लगाकर बिदा किया।'

टिप्पणी—२ (क) 'बहु बिधि मुनिहि प्रबोधि प्रभु' इति ।—(१) शाप हमारी इच्छा से हुआ, (२) पाप मिटनेका प्रायश्चित्त बताया, (३) अपनी भक्ति का मूल जो शिवभक्ति है उसका उपदेश किया और, (४) यह कहा कि अब माया तुम्हारे पास न आवेगी, यही 'बहु बिधि' का समझाना है । (ख) 'तब भए अंतरधान' अर्थात् जब प्रबोध हो गया तब । अब सब काम पूरा हो गया, कुछ करनेको न रह गया; अतएव अब अंतर्धान होनेका योग्य समय था ।☞मायाको प्रेरित करने से सब कार्य्य हुआ । ['श्रीपति निज माया तब प्रेरी । सुनहु कठिन करनी तेहि केरी' १२८ (८) उपक्रम है, वहां से मायाका प्रसंग चला और 'श्राप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्हि' तक उसकी कठिन करनीका वर्णन हुआ । सब कार्य्य मायाके द्वारा यहाँ तक संपन्न हो गया तब "निज माया कै प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्हि । १३७ ।"; यह उपसंहार है । मायाकी प्रबलताको खींच लिया, यहां मायाका नाट्य समाप्त हुआ, यही मानों 'ड्राप सीन' परदेका गिराना है । जब मायाको खींच लिया तभी आपको भी अंतर्धान हो जाना था । पर आपके उस समय अंतर्धान हो जानेसे नारदके हृदयमें संताप बना रह जाता । स्वामीको शाप दिया, अनेक दुर्वचन कहे, यह उनके हृदयको सदा संतप्त रखता, वे शान्ति न पाते, इसीसे नारदको उद्धारका उपाय बताकर, प्रबोध देकर उनका संताप दूर करके 'तब' अंतर्धान हुए ।

३—'सत्य लोक नारद चले०' इति । (क) भगवान्ने तो आज्ञा दी थी कि 'महि बिचरहु जाई' और नारद चले 'सत्यलोक' को । इसका तात्पर्य यह है कि 'महि' (पृथ्वी) सब लोकोंमें है, सब लोक बसे हुए हैं । ये प्रथम सत्यलोकवासियोंको उपदेश करके तब (रजोगुणी) मर्त्यलोक और (फिर तमोगुणी) पातालादि लोकोंके निवासियोंको क्रमशः उपदेश करेंगे । पुनः भाव कि अपूर्व बात सुनकर उसे ब्रह्मलोकमें कहनेकी उत्कंठा हुई, यथा 'नित नव चरित देखि मुनि जाहीं । ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं ॥ सुनि बिरंचि

अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं ॥ सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं। ७४२।' शिवजीकी भक्तिसे रामभक्ति प्राप्त होती है, यह बात नारदकी जानी हुई न थी; इसीसे उन्होंने शिवजीमें प्रेम न किया था। यह समझकर कि यह बात किसीकी जानी हुई नहीं है यदि जानी होती तो भगवान् यह कैसे कहते कि 'औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ०'। अतएव उसे बतानेके लिए ब्रह्मलोकको गए। [अथवा, नारदको 'संकर सत नाम' रूपी गुप्त पदार्थ मिला है, उसे जपनेके लिये 'सत्य' लोकको चले। अथवा, इनका स्वभाव है कि जब कोई अपूर्व पदार्थ पाते हैं तो पहले ब्रह्मलोकमें ही जाकर उसे प्रकट करते हैं, अतः वहीं प्रथम गए। पुनः, रुद्र सं० में भगवान्ने उनसे ब्रह्मलोकमें जाने और उनसे शिवजीकी महिमा पूछनेको कहा है और यह भी कहा है कि वे तुम्हें शंकरजीके शतनामस्तोत्र बताएँगे, यथा "ब्रह्मलोके स्वकामार्थं शासनान्मम भक्तितः ॥ ७२ ॥ ... स शैवप्रवरो ब्रह्मा माहात्म्यं शंकरस्य ते। श्रावयिष्यति सुप्रीत्या शतनामस्तवं च हि ॥ ७४ ॥ (२।४)।" अतः वहां गए।] (ख) 'चले करत राम गुनगान' यह उपसंहार है, 'एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन गान प्रबीना' १२८ (३) उपक्रम है। बीचमें मोहवश होजानेसे हरिगुणगान छूट गया था। अब मोह-निवृत्त होगया तब भगवान्में अनुराग उत्पन्न हुआ। अतएव पुनः गुणगान करते चले, यथा—'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग'।

नोट—२ यहाँ उपदेश है कि मायाके आवरणसे अपना स्वरूप भूल जाता है, भजन पाठ सब छूट जाता है, महात्माओंका अनादर किया जाने लगता है, मायाकी प्राप्तिके लिए अनेक यत्न किए जाते हैं। इन सबका फल केवल दुःखकी प्राप्ति है और कुछ हाथ नहीं लगता।—'राम दूरि माया प्रबल घटति जानि मन माहिं'—(दोहावली ६६)।

* नारदमोहप्रसंगका अभिप्राय *

नारदको कामके जीतनेका अभिमान हुआ-'जिता काम अहमिति मन माहीं', तब शंभु ऐसे उपदेष्टाका उपदेश न अच्छा लगा।-'संभु दीन्ह उपदेस हित नहिं नारदहि सुहान'। उपदेश न लगनेसे उनको मायाकृत प्रपंच देख पड़ा—'बिरचेउ मग महुँ नगर तेहि०' इत्यादि। तदनंतर माया देख पड़ी—'आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि' और वे उसे देखकर मोहित हो गए—'बड़ी बार लगि रहे निहारी', ज्ञान वैराग्यको तिलांजलि दे दी—'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी' और 'लच्छन तासु बिलोकि भुलाने'। मोहित हो जानेसे उनको मायाकी प्राप्तिकी चिन्ता हुई—'नारद चले सोच मनमाहीं', और वे उसकी प्राप्तिका यत्न करने लगे 'करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहिं प्रकार मोहि बरइ कुमारी'। मायाके लिए यत्न करनेमें स्वरूप बदल गया, यत्न करनेमें हँसी और दुर्दशा हुई, ऐसा जान पड़ा कि विश्वमोहिनी मिलने ही चाहती है, यत्न न सिद्ध होनेसे व्याकुल हुए—'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी'। मायाके लिए ही भगवान्को शाप दिया, दुर्वचन कहे, उनसे विरोध किया। भगवान्की कृपासे मायाकी प्राप्ति न हुई। जब भगवान्ने कृपा की तब यह बात समझ पड़ी। ☞ इस प्रसंगसे यह उपदेश दे रहे हैं कि अभिमानियों और मायासेवियोंकी ऐसी ही दुर्दशा होती है, यही उनकी दशा है।

हरगन मुनिहि जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेषी ॥१॥
अति सभीत नारद पहिं आए। गहि पद आरत बचन सुनाए ॥२॥
हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फल पाया ॥३॥
श्राप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला ॥४॥
निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ ॥५॥

शब्दार्थ—'अनुग्रह'=अनिष्ट निवारण, दुःख दूर करनेकी कृपा। साप-अनुग्रह=शापसे उत्पन्न

अनिष्टका निवारण, यथा "संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल । साप अनुग्रह होइ जेहि नाथ थोरेही काल ॥ ७.१०८ ।"

अर्थ—शिवजीके गणोंने मुनिको मोहरहित और मनमें बहुत प्रसन्न रास्तेमें जाते देख ॥१॥ बहुत ही डरे हुए वे नारदजीके पास आए और उनके चरण पकड़कर दीन वचन बोले ॥२॥ हे मुनिराज ! हम शिवजीके गण हैं, ब्राह्मण नहीं, हमने बड़ा भारी अपराध किया सो उसका फल पाया ॥३॥ हे कृपालु ! शाप निवारणकी कृपा कीजिए । यह सुनकर दीनदयाल नारदजी बोले । तुम दोनों जाकर निशिचर हो । तुम्हारा तेज, बल और ऐश्वर्य बहुत भारी होवे ॥५॥

नोट—१ मिलानके श्लोक, यथा "अथ तं विचरंतं कौ नारदं दिव्यदर्शनम् । ज्ञात्वा शंभुगणौ तौ तु सुचित्तमुपजग्मतुः । ३ । शिरसा सुप्रणम्याशु गणावूचतुरादरात् । गृहीत्वा चरणौ तस्य शापोद्धारेच्छया च तौ । ४ । ब्रह्मपुत्र सुरर्षे हि शृणु प्रीत्यावयोर्वचः । तवापराधकर्तारावावां विप्रौ न वस्तुतः ।५। आवां हरगणौ विप्र तवागस्कारिणौ मुने ।···६ । स्वकर्मणः फलं प्राप्तं कस्यापि नहि दूषणम् । सुप्रसन्नो भव विभो कुर्वनुग्रहमद्यनौ । ८ ।···वीर्या मुनिवरस्याप्त्वा राक्षसेशत्वमादशत् । स्यातां विभवसंयुक्तौ बलिनौ सुप्रतापिनौ । १३ ॥' (रुद्र सं० २।५) ।

टिप्पणी—१ (क) 'हरगन मुनिहि जात पथ देखी' इति । नारद शाप देकर जलमें पुनः मुँह देखने चले गए थे, वहाँसे चले तो बीचमें भगवान्‌से भेंट हुई । रुद्रगण इनकी राह ताकते रहे कि कब इधर आवें और हम शापानुग्रहकी प्रार्थना करें । (ख) 'बिगत मोह मन हरष बिसेषी' इति । भाव कि पूर्व जब नारदको देखा था तो मोहयुक्त और मनमें विषाद देखा था । वह समय शापानुग्रह करानेके योग्य न था । अब मनमें विशेष हर्ष है, मोह जाता रहा; अतः यह शापानुग्रहके लिए सुन्दर अवसर है । (ग) मनका हर्ष और मोह-विगत होना कैसे मालूम हुआ ? इससे कि अब रामगुणगान करते देख रहे हैं—'सत्यलोक नारद चले करत रामगुन गान' । जबतक मोह और विषादयुक्त रहे तबतक रामगुणगान नहीं किया ।

२ (क) 'अति सभीत नारद पहिं आए' इति । पूर्व 'भारी भय' पर ही रुद्रगणोंका प्रसंग छोड़ा था—'अस कहि दोउ भागे भयभारी' । 'भारी भय' से भागे थे, उसी भारीभयसे युक्त अब सामने आए । 'अति सभीत' का भाव कि बड़ा भारी अपराध किया है इससे भारी भय है, सामान्य अपराध होता तो साधारण भय होता, 'बड़ अपराध कीन्ह फल पाया' । [अथवा, पहिले इन्होंने हँसी मसखरी की थी, 'निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई', इससे भारी भय हुआ था कि मुँह देखनेपर शाप न दे दें, अतः 'भागे भय भारी' । जब शाप दे दिया गया कि 'राक्षस हो' तब 'अति सभीत' हो गए । (प्र० सं०) । (ख) 'गहि पद आरतबचन सुनाए', यथा 'आतुर सभय गहेसि पद जाई । त्राहित्राहि दयाल रघुराई ॥ निज कृत कर्म जनित फल पाएउँ । अब प्रभु पाहि सरन तकि आएउँ । सुनि कृपाल अति आरत बानी । ३.२ ।' पुनः यथा लं० २०—'आरतगिरा सुनत प्रभु अभय करहिंगे तोहि'; इस प्रकार आर्त्त होकर बोले जिसमें वे कृपा करें । [मन, कर्म और वचन तीनोंसे मुनिकी शरण आ साष्टाङ्ग पड़ गए, यह बात 'आर्त बचन' में झलक रही है । 'अति सभीत' यह मनकी दशा, 'गहि पद' यह कर्म है और 'आरत बचन सुनाए' यह वचन है ।]

३ (क) 'हरगन हम न बिप्र मुनिराया' इति । भाव कि महात्मा लोग निष्कपट निश्छल वचन कहनेसे प्रसन्न होते हैं, इसीसे इन्होंने अपना छल कपट खोल दिया कि हम विप्र नहीं हैं । और, भगवान्‌ने महादेवजीको अति प्रिय बताकर शिवजीमें नारदजीकी निष्ठा कराई है, अतएव यह भी कहा कि हम हरगण हैं जिसमें शिवजीके नातेसे अवश्य हमपर कृपा करें । पुनः, कदाचित् मुनिके मनमें ग्लानि हो कि हमने क्रोधवश हो ब्राह्मणोंको शाप दे दिया जैसे भगवान्‌को शाप देनेपर पश्चात्ताप हुआ था, अतः उस ग्लानिको मिटानेके लिये कहते हैं कि हम हरगण हैं, विप्र नहीं हैं, इत्यादि । (ख) 'बड़ अपराध कीन्ह फल पावा' इति । बड़ा अपराध जो किया और उसका फल पूर्व कह आए हैं, यथा 'होहु निसाचर जाइ तुम्ह कपटी

पापी दोउ । हँसेहु हमहिं सो लेहु फल बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ।' (ब्राह्मणोंका अपमान करना बड़ा अपराध है, उसका फल राक्षस होना है); इसीसे यहाँ न कहा । [पुनः 'बड़ अपराध' का भाव कि किसीपर कूट-मसखरी करना 'अपराध' है और संतोंसे भागवतोंसे ऐसा करना 'बड़ा अपराध' है । 'फल पाया' अर्थात् हरगणकी पदवी पाकर उससे च्युत होकर राक्षस होने जा रहे हैं]

४—'श्राप अनुग्रह करहु कृपाला' इति । (क) शाप क्रोधसे होता है, यथा 'बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा । तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा ।' और, कृपासे वही शाप अनुग्रह हो जाता है, इसीसे 'कृपाल' संबोधन दिया । [मिलान कीजिए—'जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा । मैं पुनि दीन्ह कोप करि श्रापा ॥ तदपि तुम्हारि साधुता देखी । करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी । ७।१०६ ।' 'कृपाला' का भाव यह भी है कि आप अपनी कृपासे शापको अनुग्रहरूप कर दीजिए, हमारी करनी ऐसी नहीं है कि वह अनुग्रह रूप हो जाय, अपनी कृपालुताकी ओर देखकर कृपा करें । यथा 'स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः ।' क्रोधका शाप दुःखरूप होता है, उसे आप अपनी कृपासे सुखरूप बना दीजिए । हरगण जानते हैं कि देवर्षिके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते, इसीसे वे केवल शापानुग्रहकी प्रार्थना करते हैं । और, नारदजीने किया भी ऐसा ही । शाप क़ायम रक्खा पर उनको विश्वविजयी बनाकर भगवानके हाथ उनकी मृत्यु दी] (ख) 'बोले नारद दीनदयाला' इति । दया करना संतस्वभाव है, संतोंका धर्म है, यथा 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया । ७।३८ ।' नारदजी दीनोंपर दया किया करते हैं, यथा 'नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता । ३।२ ।' इसीसे रुद्रगणोंको दीन देखकर उन्होंने दया की । 'बड़ा अपराध किया उसका फल यह मिला कि देवतासे राक्षस हुए । अब राक्षसयोनिसे उद्धार आपकी कृपासे होगा'—ये दीन वचन हैं । (दीनदयालुता उनके शापानुग्रहसे आगे दिखाते हैं । प्रणाममात्रसे, 'गहि पद आरत बचन सुनावा' इतने मात्रसे, उनको विश्वभरका राज्य और बिपुल वैभवादि सब कुछ दे दिया । 'दीनदयाला' शब्द साभिप्राय है । दीन वचन सुनकर दीनोंपर दया करनेवाला ही पिघल जाता है और आर्त्तके दुःखको दूर करता है । यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है ।)

५ (क) 'निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ' इति । भाव कि हमने जो शाप दिया था कि 'जाइ निसाचर होहु तुम्ह कपटी पापी दोउ' वह अन्यथा न होगा । 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा' इसे प्रमाण करके आगे अनुग्रह करते हैं । 'जाइ होहु' अर्थात् शरीर छूटनेपर निशाचर हो, यह बात 'भए निसाचर कालहि पाई' से सिद्ध होती है जो आगे कहेंगे । (ख) 'बैभव बिपुल तेज बल होऊ' अर्थात् राजाओंका वैभव, तेज और बल दिया । जो राजाको होना चाहिए वह देकर आगे राजा होनेका वरदान देते हैं । 'बिपुल' शब्द देहलीदीपक है । बिपुलका अर्थ आगे 'भुजबल बिस्व जितब' देते हैं । ☞ (यह अनुग्रह है) ☞ वैभव, रूप, तेज, बल और नीति ये पाँच अंग राजाओंके अन्यत्र कहे हैं, यथा 'सत सुरेस सम बिभव बिलासा । रूप तेज बल नीति निवासा । १३०।३ ।' इनमेंसे नारदने इनको तीनही दिए । रूप और नीति इन दो का देना यहाँ नहीं कहा । क्योंकि राक्षसोंमें ये दोनों नहीं होते । राक्षस कुरूप और अन्यायी होते हैं, यथा 'देखत भीमरूप सब पापी । १८३।३ ।', 'बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं । १८३ ।', 'करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी ।' यदि वे नीतिसे चलें तो राक्षस ही क्यों कहलावें और तब भगवान्‌का अवतार क्यों होने लगा ?

भुजबल बिस्व जितब† तुम्ह जहिआ । धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ ॥६॥
समर मरन हरि हाथ तुम्हारा । होइहहु मुकुत न पुनि संसारा ॥७॥

† १६६१ में 'जीतब' है ।

चले जुगल मुनिपद सिर नाई । भए निसाचर कालहि पाई ॥८॥
दोहा—एक कलप एहिं हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार ।
सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुवि भार ॥१३९॥

शब्दार्थ—जहिआ = ज्योंही, जब । तहिआ = तब । संसारा=आवागमन ।

अर्थ—जब तुम अपनी भुजाओंके बलसे ब्रह्माण्ड भरको जीत लोगे, तब विष्णु भगवान् मनुष्य शरीर धारण करेंगे ॥ ६ ॥ तुम्हारी मृत्यु संग्राममें हरिके हाथोंसे होगी, तुम मुक्त हो जाओगे फिर तुमको संसार न होगा अर्थात् जन्म मरणसे छूट जाओगे ॥ ७ ॥ दोनों गण मुनिको मस्तक नवाकर चले गए और काल पाकर निशाचर हुए ॥ ८ ॥ देवताओंको आनन्द और सज्जनोंको सुख देनेवाले, पृथ्वीका भार भंजन करनेवाले हरि भगवान्ने एक कल्पमें इस कारण मनुष्य तन धारण किया ॥ १३९ ॥

टिप्पणी १ (क)—'भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिआ' अर्थात् तुम विश्वभरके राजा होगे। यथा 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र । मंडलीकमनि रावन राज करै निज मंत्र । १८२ ।' वैभव तेज बल और विश्वका राज्य यह सब देकर उनका यह लोक बनाया। जब विश्वभरसे बल अधिक दिया तब यह भी निश्चय पाया जाता है कि उससे वैभव और तेज भी अधिक दिया है। ☞यहाँ बिपुल बल को चरितार्थ करते हैं कि जब तुम विपुल बलसे विश्वको जीतोगे तब तुम्हारे पास विश्वभरका वैभव हो जायगा। (ख) 'धरिहहिं बिष्नु मनुज तनु तहिआ' इति। भगवान्की इच्छाके अनुकूल शाप हुआ है इसीसे कहते हैं कि 'धरिहहिं मनुजतनु'। ['जहिआ' और 'तहिआ' से जनाया कि जिस दिन तुम विश्वको जीत लोगे उसी दिन विष्णु नररूपमें अवतीर्ण होंगे। इससे सिद्ध हुआ कि इस कल्पमें रावणने बहुत दिनतक राज्य नहीं किया। (वि० त्रि०)] (ग) 'समर मरन हरि हाथ तुम्हारा' यह मरणकी उत्तमता कही। [संग्राममें मरना यह वीरोंकी शोभा है, यथा 'समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। रामकाजु छनभंगु सरीरा। २।१९०।' और फिर भगवान्के हाथसे तब उस मरणकी प्रशंसा क्या की जाय ?] पुनः, 'हरिहाथ' मरणका भाव कि जब तुम विष्णुका अपराध करोगे तब वे मारेंगे। हरिहाथ मरण होनेसे 'होइहहु मुकुत' कहा, यथा—'रघुबीरसर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।' (घ) 'न पुनि संसारा' का भाव कि एक ही शरीरके बाद मुक्ति हो जायगी, जय विजयकी तरह पुनर्जन्म न होगा। ☞ 'भुजबल बिस्व०' से इहलोक बनाया और यहाँ 'होइहहु मुकुत०' यह परलोक बनाया। (ङ) लोक और परलोक दोनों साधुकी कृपासे बनते हैं।

२—'चले जुगल मुनिपद सिर नाई।' तात्पर्य्य कि मुनिने अच्छी तरहसे शापानुग्रह करदिया, अतः प्रणामसे कृतज्ञता एवं शिष्टाचार सदाचार सूचित किया। (ख) यहाँ मुनिका चलना न कहा क्योंकि पूर्व लिख चुके हैं 'सत्यलोक नारद चले करत रामगुन गान।' (मार्ग चलते ही में शापानुग्रह किया)। (ग) 'कालहि-पाई'। काल=समय।—मृत्यु। जैसे नारदने भगवान्से विनय की थी, वैसे ही रुद्रगणोंने नारदसे की। दोनोंके शापोद्धार-प्रसंगका मिलान यथा—

नारदजी		हरगण
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी	१	हरगन मुनिहि जात पथ देखी
तब मुनि अति सभीत हरिचरना	२	अति सभीत नारद पहिं आए
गहे पाहि प्रनतारतिहरना	३	गहि पद आरत बचन सुनाए
मृषा होउ मम श्राप कृपाला	४	श्राप अनुग्रह करहु कृपाला
मम इच्छा कह दीनदयाला	५	बोले नारद दीनदयाला

☞ दोनों मन, कर्म और वचनसे शरण हुए और दोनोंने प्रणाम किया।

कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे	६	बड़ अपराध कीन्ह फल पाया

☞भगवान्‌ने कृपा करके नारदको संतोष दिया वैसे ही नारदजीने हरगणोंको—

जपहु जाइ संकरसतनामा	७	बैभव बिपुल तेज बल होऊ
होइहि हृदय तुरत बिश्रामा	८	होइहहु मुकुत न पुनि संसारा
सत्यलोक नारद चले	९	चले जुगल मुनिपद सिर नाई

३ (क)—'एक कलप एहि हेतु प्रभु०' इति। एक दो तीन ऐसी गणना नहीं की, इसीसे सब जगह 'एक' 'एक' पद दिया है, यथा 'एक-कलप एहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किए संसारा।', 'एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे।', 'एक कलप एहि हेतु०'। तात्पर्य्य कि अनंत कल्पोंमें भगवान्‌के अवतार हुए हैं इसीसे निश्चय नहीं है कि यह कल्प प्रथम है, यह दूसरा है, यह तीसरा है या क्या? इत्यादि। (ख) 'लीन्ह मनुज अवतार' का भाव कि अन्य कल्पोंमें अन्य अन्य (वराह, नृहरि, मत्स्य आदि) अवतार हुए हैं, परन्तु इनमें मनुष्य अवतार ही हुआ है क्योंकि 'रावन मरन मनुज कर जांचा।' (ग) 'सुररंजन सज्जनसुखद हरि भंजन-भुविभार' अर्थात् इसीसे मनुज-अवतार लिया। (घ) ☞नारदकल्पमें मातापिताका नाम नहीं कहा गया। आगे आकाशवाणीद्वारा कहेंगे, यथा 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥''' नारद बचन सत्य सब करिहौं। इत्यादि १८७ (३-६)।'

☞नोट—१ श्रावणकुंजकी संवत् १६६१ की प्रतिमें इस प्रसंगमें 'कुँअरि' शब्द चार बार आया है पर दो बार 'अ' पर अनुस्वार है - 'जो बिलोकि रीझै कुअँरि तब मेलइ जयमाल। १३१।', 'सखी संग लै कुअँरि तब चलि जनु राजमराला। १३४।') और दो बार 'अ' पर अनुस्वार नहीं है—'रीझिहि राजकुअरि छबि देखी। १३४। ४।', 'कुअरि हरषि मेलेउ जयमाल। १३५। ३।'] दोहोंमें अनुस्वार है, चौपाइयोंमें नहीं। और भी जो भाव इस भेदमें हों पाठक उसे विचारें।

नोट—२ किसी-किसीका यह मत है कि ये गण (जो नारदशापसे निशाचर हुए) विश्वविजयी हुए जैसे प्रतापभानु रावण होनेपर विजयी हुआ। क्योंकि नारदवचन असत्य नहीं होता। और कल्पोंमें जो रावण हुए वे कहीं-कहीं हारे भी हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—१ तुलसीदासजीकी प्रहसनकला बड़ी स्वाभाविक है, वहाँ कृत्रिम हास्यपात्रका पता नहीं जो हमेशा सरसे पैरतक हँसी ही उत्पन्न कराए। ऐसे हास्यपात्रसे उपदेश ही क्या मिलेगा?

२—तुलसीदासजीकी हास्यकलामें हास्यपात्रका हित होता है क्योंकि उसकी नैतिक चिकित्सा हो जाती है और साथ ही हमारा कौतुक हो जाता है।

३—इस प्रहसनका अन्तिम परदा बड़ी दूरपर जाकर खुला है। सीताहरणमें दुःखसे पीड़ित भगवान् जब पंपासरोवरपर तनिक विश्राम करते हैं तब नारदजी पहुँचकर प्रश्न करते हैं कि हे भगवन्! आखिर आपने मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया? उत्तर बड़ा मार्मिक है; इससे हम यहाँ उसकी आलोचना करनेके निमित्त उसे लिखे देते हैं जिसमें सब प्रसंग साफ़ हो जायँ।

भगवान् कहते हैं—"सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥ प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहि पाछिल बाता॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहं काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥ दो०॥ कामक्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥ ४३॥ सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन

कहुँ नारि बसंता ।। जप तप नेम जलाश्रय भारी । होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी ।। काम क्रोध मद मत्सर भेका । इन्हहि हरषप्रद बर्षा एका ।। दुर्बासना कुमुद समुदाई । तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ।। धर्म सकल सरसीरुह बृंदा । होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा ।। पुनि ममता जवास बहुताई । पलुहहि नारि सिसिर रितु पाई ।। पाप उलूक निकर सुखकारी । नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ।। बुधि बल सील सत्य सब मीना । बंसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ।। दो०—अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि । ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि ।। ४४ ।।'

आलोचना—(१) ज्ञान और भक्तिका मार्मिक अंतर महात्माओंके शब्दोंमें आपको अपने स्थानपर मिलेगा ही । मैं उसके स्पष्टीकरणका अधिकारी भी नहीं । मुझे तो यह दिखाना है कि कौतुकी भगवान्‌की प्रहसन-लीला तथा तुलसीदासकी प्रहसनकलाका मूल स्रोत 'प्रेम' है, केवल 'मखौल' नहीं । (२) जो लोग देश काल और पात्रका विचार नहीं रखते, जो नाटक कलाकी व्याख्याके लिये आवश्यक है, वे बहुधा इन वाक्योंको तुलसीदासजीके स्त्री-जगत्‌के प्रति अन्यायरूपमें पेश किया करते हैं । इस प्रसंगकी विस्तृत व्याख्या मैं 'तुलसीदासजीके स्त्रीसंबंधी कटु वाक्योंकी व्याख्या' 'माधुरी' के एक लेखमें कर चुका हूँ । यहाँ संक्षेपमें इतना कहना काफ़ी है कि नारद एक योगी और मुनि थे, जो त्यागमार्गपर आरूढ़ थे । अतः भगवान्‌ने उन्हें श्री (स्त्री) का रूप और मायाका रूप एक ही बताया । परन्तु उन्हीं रामने विश्वहितके लिये शिवविवाह पार्वतीसे रचाया । स्वयं एक-नारी-व्रत रक्खा । और यही अपने रामराज्यका आदर्श स्थापित किया, इसी प्रसंगसे थोड़ी दूर आगे चलकर बालिको डाँटते हुए श्रीरामने कहा है—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि-सिखावन करेसि न काना ।' क्या यहाँ और रावण-मंदोदरी-प्रसंगमें नारी उपदेशिका रूपमें नहीं है ? तुलसीदासजी नारीकी उस रूपमें ही बुराई करते हैं जिसमें वह "गुल खिलाती" चले और "गुलछर्रे उड़ाते" आये और हमारे पतनका कारण बने, नहीं तो पतिव्रता स्त्री तथा मातारूपमें तो उन्होंने स्त्रीकी सदा प्रशंसा ही की है । खैर, अब नारदजीकी आखिरी अवस्थाका वर्णन देखिये "सुनि रघुपतिके बचन सुहाये । मुनि तन पुलकि नयन भरि आये ।। कहहु कवन प्रभु कै यह रीती । सेवक पर ममता अरु प्रीती ।। जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी । ज्ञान रंक नर मंद अभागी ।।" आपने देखा, इस अंतिम दृश्यमें हास्य-रस शान्त-रसके ऊँची चोटीपर पहुँच गया । फिर मज़ाक़का लुत्फ़ यह है कि हास्यपात्र हास्यकर्त्ताका अनुगृहीत हो जाय । वही दशा नारदकी अंतिम पदोंमें वर्णित है जो भगवान्‌के कृतज्ञ होकर औरोंको भी भगवत्-भजनका उपदेश करते हैं ।

इस क्रियात्मक हास्यका आनन्द आपको तब मिलेगा जब आप उन साधारण हास्य प्रसंगोंपर विचार करेंगे जिनमें सालियाँ, सरहजें या भावजें अपने 'ललाजी' की सोते समय सेंदूर, टिकुली आदिसे सजावट कर देती हैं । 'ललाजी' जागते हैं पर अपनी दशासे अनभिज्ञ जिधर जाते हैं उधर ही कहकहा पड़ता है । जब किसी इशारेसे समझकर अपना मुँह शीशेमें देखते हैं तो झुँझलाहटकी हद नहीं रहती । नारदकी गति कुछ वैसी ही बनी और खूब बनी कि फिर उम्रभर न भूले और मायाको पास न फटकने दिया ।

एहि बिधि जनम करम हरि केरे । सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे ।।१।।
कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना बिधि करहीं ।।२।।
तब तब कथा मुनीसन्ह† गाई । परम पुनीत‡ प्रबंध बनाई ।।३।।

† तब-तब कथा बिचित्र सुहाई । परम पुनीत मुनीसन्ह गाई ।' को० रा० ।
‡ बिचित्र-छ० । पुनीत-१६६१, १७२१, १७६२, १७०४ ।

बिबिध प्रसंग अनूप बखाने । करहिं न सुनि आचरजु सयानें ॥४॥
हरि अनंत हरिकथा अनंता । कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता ॥५॥

शब्दार्थ—बिचित्र = रंगबिरंगके, बहुत तरहके, अनूठे, आश्चर्य्यजनक । घनेरे = बहुत । प्रबंध बनाई—१३२ (२,७,८) देखिये ।

अर्थ—इस प्रकार हरिके जन्म और कर्म्म सुन्दर, सुखदायक, विचित्र और अगणित हैं ॥ १ ॥ कल्प कल्प (प्रत्येक कल्प) में (जब जब) प्रभु अवतार लेते हैं और अनेक प्रकारके सुन्दर चरित्र करते हैं ॥२॥ तब तब परम पवित्र काव्य रचना (छंदोबद्ध) करके मुनीश्वर कथाएँ गाया करते हैं ॥३॥ और तरह तरहके अनेक अनुपम प्रसंग वर्णन किया करते हैं । बुद्धिमान् लोग उन्हें सुनकर आश्चर्य्य नहीं करते ॥४॥ भगवान अनन्त हैं और उनकी कथाका भी अन्त नहीं, सब संत बहुत प्रकारसे कहते सुनते हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी १—'एहि बिधि जनम करम हरि केरे ।०' इति । (क) यहाँ तीन कल्पोंके अवतारोंको कहा,—जयविजय, जलंधर और नारद । यह कहकर 'एहि बिधि' कहा अर्थात् इसी प्रकार और भी बहुतसे हैं । ☞पुनः यह अर्धाली ऊपरके 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार' इस दोहेकी व्याख्या है । दोहेमें जो 'लीन्ह मनुज अवतार', 'सुररंजन सज्जनसुखद हरि भंजन भुविभार' कहा वही यहाँ क्रमसे 'जनम' और 'करम' हैं । यह 'एहि बिधि' का भाव हुआ । (ख) 'सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे' । भाव कि अपने रूपसे सुंदर हैं, दूसरोंको सुखदाता हैं और विचित्र अर्थात् रंगबिरंगके, अनेक प्रकारके हैं । 'घनेरे' हैं अर्थात् जो हमने तीन कहे, इतने ही न समझो । आगे इन सब पदों (विशेषणों) की व्याख्या करते हैं । (ग) प्रथम (पूर्व) कहा कि जन्मके 'हेतु' अनेक हैं और विचित्र हैं, यथा 'राम जन्म के हेतु अनेका । परम बिचित्र एक तें एका ।' अब कहते हैं कि जन्म और कर्म (स्वयं भी) अनेक (और) विचित्र हैं । (घ) ['विचित्र' का भाव यह भी कहते हैं कि वात्सल्य, सख्य, वीर आदि सभी रसोंके चरित्र किये हैं; यही रंगबिरंगके चरित्र हैं]

२—'कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं ।०' इति । (क) भाव कि इसीसे उनके जन्म कर्म घनेरे हैं । 'अवतरहीं' यह जन्म हुआ, 'चरित करहीं' यह कर्म हुआ । 'कलप कलप प्रति' का भाव कि अंतर नहीं पड़ता, प्रत्येक कल्पमें अवतार होता है । (ख) ऊपरकी अर्धाली 'एहि बिधि जनम करम०'-की ही व्याख्या इस अर्धालीमें है ।—'चारु चरित' करते हैं अतएव सुंदर हैं, यथा 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' । चरित सुंदर हैं और अपने भक्तोंके हितार्थ किये जाते हैं, यथा 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं', अतः सुखद हैं । प्रभु कल्पकल्पमें अवतरित होते हैं और प्रत्येक कल्पमें चरित करते हैं तथा नाना विधिके करते हैं; अतएव 'घनेरे' हैं । 'घनेरे' का भाव कि अगणित हैं, यथा 'जल सीकर महि रज गनि जाहीं । रघुपति चरित न बरनि सिराहीं । ७।५२ ।' [दोहा २५ भी देखिए । और ३६ (६) भी ।]

प० प० प्र०—'कलप कलप प्रति'''' से गीता ४।८ के 'संभवामि युगे युगे' इस वाक्यका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया है । इसी प्रकार अनेक स्थलोंमें गीताके अनेक वचनोंका अर्थ स्पष्ट किया गया है । गीता और मानस क्रमका एक तुलनात्मक छोटासा ग्रन्थ लिखनेकी आवश्यकता है । पंडित लोग इस ओर ध्यान देंगे यह आशा है ।

वि० त्रि०—कालिकापुराणमें कहा है 'प्रत्येक कल्पमें राम और रावण होते हैं । इस भाँति असंख्यों राम और रावण हो गए और होनेवाले हैं । उसी भाँति देवी भी प्रवृत्त होती हैं' । यथा 'प्रतिकल्पं भवेद्रामो रावणश्चापि राक्षसः । एवं राम सहस्राणि रावणानां सहस्रशः । भवितव्यानि भूतानि तथा देवी प्रवर्तते । अ० ६१।३९-४१।' दूसरे अवतार तो कल्पमें कई बार होते हैं पर रामावतार एक कल्पमें एक ही बार होता है । प्रत्येक कल्पके चरितोंमें विधिभेद रहता है, पर चरित्रका ढाँचा प्रायः एक सा रहता है ।

टिप्पणी—३ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई ।०' इति । (क) 'तब तब' का भाव कि प्रत्येक अवतारकी कथा मुनीश्वरोंने गाई है, यथा 'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी । सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी । १२४।४ ।' मुनि प्रत्येक अवतारकी कथा बनाते (छंदोबद्ध करते) और गाते हैं, इसका कारण पूर्व ग्रंथकार कह आये हैं कि 'करहिं पुनीत सुफल निज बानी ।१३ । ८ ।' इसीसे यहाँ नहीं कहा । [पूर्व कहा था कि 'बरनी कबिन्ह घनेरी' और यहाँ कहते हैं कि 'मुनीसन्ह गाई' 'प्रबंध बनाई' । इस तरह यहाँ 'कबिन्ह' का अर्थ खोला कि तब तब मुनीश्वर ही कवि हुए और उन्हींने वर्णन किया] (ख) 'परम पुनीत प्रबंध बनाई' । यह 'कथा' का अर्थ किया । प्रबंध का बनाना ही कथा है,–'प्रबंधकल्पना कथा' । प्रबंधकी कल्पना अर्थात् रचना करते हैं, और वही कथा गाते हैं । 'परम पुनीत' का भाव कि जो इन प्रबंधों को सुनता या गाता है वह भी पवित्र हो जाता है ।

४—☞ प्रारंभमें जो शिवजीने अवतारका हेतु कहा था कि 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु । जग बिस्तारहिं बिमल जस रामजनम कर हेतु । १२१ ।', उसको इस कल्पकी कथामें भी चरितार्थ किया है ।–(१) 'भंजन भुवि भार' से 'असुरोंका मारना और श्रुति सेतुकी रक्षा' कही (असुर भुविभार और श्रुतिसेतुनाशक हैं ही) । (२) 'सुररंजन' से 'सुरोंका थापना' कहा और, (३) 'कलपकलप प्रति प्रभु अवतरहीं । चारु चरित नाना बिधि करहीं' से 'जग बिस्तारहिं बिसद जस०' कहा ।

५—'बिबिध प्रसंग अनूप बखाने ।०' इति । (क)–पूर्व कविजीने ३३ (४) में कहा था कि 'कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी । नहिं आचरज करहिं अस जानी' अर्थात् ज्ञानी लोग अलौकिक 'कथा' सुनकर आश्चर्य्य नहीं करते और अब उपदेश देते हैं कि 'कथाके प्रसंगोंमें भी' आश्चर्य्य न करना चाहिए । (ख) 'सयाने' अर्थात् ज्ञानी लोग, चतुर । आश्चर्य्य न करनेका कारण ऊपरके सात चरणोंमें कहकर तब 'करहिं न सुनि, आचरजु' कहा । भाव कि कल्पभेद समझकर आश्चर्य नहीं करते (कथायें विचित्र विचित्र और आश्चर्य्य-जनक होती ही हैं, इसीसे सावधान करते जाते हैं कि धोखेमें पड़कर कुतर्क न करने लगें) । यथा 'नाना भाँति राम अवतारा । रामायन सतकोटि अपारा ।। कलपभेद हरिचरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥ करिय न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी । ३३ (६-८) ।' तथा यहाँ 'कलप कलप प्रभु...करहिं न सुनि आचरजु सयाने' ।

६ (क) 'हरि अनंत हरिकथा अनंता' । भाव कि हरि और हरिकथा दोनों एक सदृश हैं, जैसे हरि हैं वैसी ही उनकी कथा है, यथा 'जथा अनंत राम भगवाना । तथा कथा कीरति बिधि नाना । (ख) कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता' का भाव कि अन्त नहीं पाते चाहे करोड़ों कल्पोंतक क्यों न गावें, यही बात आगे स्वयं कहते हैं,–"रामचंद्र के चरित सुहाए । कल्प कोटि लगि जाहिं न गाए' । मिलान कीजिए–'महिमा नाम-रूप-गुन-गाथा । सकल अमित अनंत रघुनाथा ।। निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं ।।७.९१ ।' तात्पर्य कि 'कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता ।' सो ये कुछ अन्त पानेकी भावनासे नहीं कहते सुनते हैं, गा-सुनकर वे सब अपनी भक्ति जनाते हैं, प्रेमके कारण गाते हैं, भगवान् उनका प्रबंध सुन उनकी भक्ति देख सुख मानते हैं,—यथा 'प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं । ७ ९१।' अतः सब गाते सुनते हैं । यथा 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहे बिनु रहा न कोई' ।

रामचंद्र के चरित सुहाए । कलप कोटि लगि जाहिं न गाए ॥ ६ ॥
यह प्रसंग मैं कहा भवानी । हरिमाया मोहहि१ मुनि ज्ञानी ॥ ७ ॥

---

१ मोहहिं—पाठान्तर है । अर्थ होगा—'ज्ञानी मुनि हरि मायासे मोहित होते हैं ।' १६६१, १७०४ में 'मोहहि' ही है और ठीक है ।

प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी॥ ८॥
सोरठा—सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामायापतिहि॥१४०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर चरित करोड़ों कल्पोंतक गाए नहीं चुक सकते॥६॥ हे भवानी! मैंने यह प्रसङ्ग कहा। ज्ञानी मुनियोंको भी भगवान्‌की माया मोहित कर लेती है।७। भगवान् कौतुकी और शरणागतका हित करनेवाले हैं। सेवा करनेमें सुलभ और समस्त दुःखोंके हरनेवाले हैं॥८॥ देवता, मनुष्य, मुनि कोई भी ऐसा नहीं है जिसे परम बलवती माया न मोह ले। मनमें ऐसा सोच विचारकर महामायाके अधिष्ठाता श्रीरामचन्द्रजीका भजन करना चाहिए॥ १४०॥

टिप्पणी—१ 'रामचंद्र के चरित सुहाए।०' इति। (क) ☞'कहउँ राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु। १२४।' उपक्रम है। अब उसका उपसंहार कहते हैं। 'रामचंद्र के चरित सुहाए०' पर यह प्रसङ्ग समाप्त किया। (ख) 'रामचंद्र के चरित सुहाए' का भाव कि जैसे रामजी चन्द्रमाके समान आह्लादकारी, तापहारी और सुन्दर हैं वैसे ही रामचन्द्रजीके चरित भी हैं। पुनः, 'रामचन्द्र के' कहनेका भाव कि अवतार लेकर चरित्र रामचन्द्रजी हीने किए, ये चरित विष्णुके नहीं हैं। (ग) 'कलप कोटि लगि जाहिं न गाए' का भाव कि भगवान् कल्पकल्पमें अवतरते हैं, कल्पकल्पमें चरित करते हैं, सो उनके एक एक कल्पके ही चरित करोड़ों कल्पोंतक गाए चुक नहीं सकते। पुनः भाव कि रामचन्द्रजीके चरित सुन्दर हैं, आह्लादकारक और तापहारक होनेसे इतने सुखद हैं कि उनको गानेसे कभी मन तृप्त नहीं होता, और अनंत होनेसे गाए चुकते नहीं।

२ (क) 'यह प्रसंग मैं कहा भवानी' इति। भाव कि मुनि लोगोंने विविध अनुपम प्रसंग बखान किये हैं उनमेंसे हमने यह प्रसंग विस्तारसे कहा। पार्वतीजीकी प्रार्थना थी कि 'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी', उसीपर कहते हैं कि 'यह प्रसंग मैं कहा भवानी'। और जो पार्वतीजीने कहा था कि 'मुनि मन मोह आचरज भारी' उसपर कहते हैं कि 'हरिमाया मोहहि मुनि ज्ञानी'। (ख) 'प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी' यह उपसंहार है। 'मुनिकर हित मम कौतुक होई। १२६ (६)।' यह जिसका उपक्रम है वह प्रसंग मैंने कहा। तथा 'हरिमाया मोहहि मुनिज्ञानी' यह प्रसंग [जिसका उपक्रम 'यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनिमन मोह आचरज भारी। १२४।८।' यह अर्धाली है] मैंने कहा। ☞इस प्रसंगमें हरिमायासे ज्ञानी मुनि नारदको मोह होना वर्णन किया गया है। 'प्रभु कौतुकी प्रनतहितकारी। सेवत सुलभ सकल दुख हारी', प्रभुका कौतुक और प्रणत जो नारद उनका हित करना कथन किया गया है। 'सेवत सुलभ' कहा क्योंकि नारदजी चरणोंपर गिरे इतनी मात्र सेवासे उनका सब दुःख हर लिया।—यह 'यह प्रसंग मैं कहा भवानी' से 'सकल दुखहारी' तक चरणोंके क्रमका भाव कहा गया।

नोट-१ "सेवत सुलभ"-अर्थात् सेवा कठिन नहीं है, यथा "सकृत प्रनाम किहें अपनाये।२. २६६।' "भलो मानि हैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै" (वि० १३५), 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।' केवल शरणमें आने हीसे, केवल इतना कहने हीसे कि मैं प्रपन्न हूँ तुम्हारा हूँ, सब काम बन जाता है, यथा "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (गीता)।

टिप्पणी—'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया' इति। (क) 'सुर, नर, मुनि' कहनेका भाव कि ये ज्ञानयुक्त हैं, इन्हें माया मोह लेती है तब और सब जीव किस गिनतीमें हैं वे तो अज्ञान (ज्ञान रहित) हैं ही। यथा 'सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन। अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान।' (ख) 'अस बिचारि, भजिअ महामायापतिहि' अर्थात् मायापतिके भजनसे माया नहीं व्यापती, यथा 'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न

सकइ कछु निज प्रभुताई । ७. ११६ ।', 'भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृतिमूल अविद्या नासा ।७.११६।', 'दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते ।' (गीता)।
(ग) इस प्रसंगके आदि अंतमें भजनका उपदेश दिया है, यथा 'भवभंजन रघुनाथ भजु तुलसी तजि मान मद । १२४ ।' यह आदि है और 'भजिअ महामायापतिहि' यह अंत है । इसका तात्पर्य्य यह है कि नारद मान मदके कारण मायाके वश हुए, उनकी दुर्दशा हुई, तब और जीव किस गिनतीमें हैं ?

नोट—२ 'महामायापतिहि' । भाव कि जो उसके पतिकी सेवा करके पतिको अनुकूल बनाये रहेगा उसे तो वह (महामाया) स्वयं डरेगी । अथवा, हमारे पतिकी सेवा यह करता है यह विचारकर प्रसन्न रहेगी और अनर्थ कभी भी न विचारेगी वरन् उसे सब तरह प्रसन्न और सुखी रक्खेगी । दोनों हालतोंमें भला ही होगा ।

नोट—३ श्रीशिवजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी और श्रीगोस्वामीजी तीनों वक्ताओंने इस प्रसंगको यहाँ समाप्त किया ।

	उपक्रम, प्रारम्भ वा संकल्प	पूर्त्ति वा उपसंहार
श्रीशिवजी	"यह प्रसंग मोहि कहहु १२४।८ ।" "मुनिमन मोह आचरज ।१२४।८ ।"	"यह प्रसंग मैं कहा । १४०।७ ।" "हरि माया मोहहि मुनि ज्ञानी । १४०।७ ।"
याज्ञवल्क्यजी	"कहउँ राम-गुन-गाथ । १२४ ।" "भरद्वाज कौतुक सुनहु । १२४ ।"	"रामचंद्रके चरित सुहाये । १४०।६ ।" "प्रभु कौतुकी । १४०।८ ।"
गोस्वामीजी	"भजु तुलसी तजि मानमद ।१२४।"	"भजिय महामाया-पतिहि । १४० ।"

"क्षीरशायी भगवान्‌के शापके हेतुसे श्रीरामावतार और तदन्तर्गत नारदमोह"—
प्रकरण समाप्त हुआ ।

श्रीमनु-शतरूपा-प्रकरण

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी । कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी ॥१॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा । ब्रह्म भएउ कोसलपुरभूपा ॥२॥
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा । बंधु समेत धरें मुनि[1] बेषा ॥३॥
जासु चरित अवलोकि भवानी । सती-सरीर रहिहु बौरानी ॥४॥
अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी । तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी ॥५॥

शब्दार्थ—बिपिन = वन, जंगल, दंडकारण्य । बौरानी रहिहु=बुद्धि फिर गई थी, विक्षिप्त हो गई, थी, सनक सवार हो गई थी । छाया = असर । भूत प्रेतका प्रभाव । आसेबका खलल ।

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी (पार्वतीजी) ! अब और कारण सुनो । मैं विस्तारपूर्वक (यह) विचित्र कथा कहता हूँ ॥१॥ जिस कारण अज, अगुण, अरूप, ब्रह्म अवधपुरीके राजा हुए ॥२॥ जिन प्रभु श्रीरामचन्द्र-जीको भ्रातासहित मुनिवेष धरे वनमें फिरते हुए तुमने देखा था ॥३॥ और हे भवानी ! सतीतनमें जिनके चरित्र देखकर तुम बावली हो गई थीं ॥४॥ अब भी तुम्हारी (उस बावलेपन की) छाया नहीं मिटती है, उन्हींके भ्रमरूपी रोगको हरनेवाले चरितको सुनो ॥५॥

१ पाठान्तर—नरवेषा-(रा० प०)

टिप्पणी—१ (क) 'अपर हेतु सुनु'। भाव कि रामजन्मके हेतु अनेक हैं और विचित्र हैं, यथा 'रामजन्मके हेतु अनेका। परम बिचित्र एक तें एका'। उन अनेकोंमेंसे तीन हेतु कहे। जयविजय, जलंधर और नारद। तीनको कहकर उनका उपसंहार दिया। 'एहि बिधि जनम करम हरि केरे, सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे' उनका उपसंहार है। अब अन्य हेतु कहते हैं, इसीसे पुनः 'बिचित्र' विशेषण दिया। (ख) 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म०' अर्थात् और जो कारण कहे वे विष्णु अवतारके हैं, क्षीरशायी नारायण अवतार के हैं। शैलकुमारीका भाव कि तुम्हारे इस प्रश्नसे जगत्‌का उपकार होगा। (शैल परोपकारी होते हैं। तुम शैलकी कन्या हो अतः तुमने परोपकारके लिये ही प्रश्न किया है।) (ग) 'अज अगुन अरूप' विशेषणोंके देनेका भाव कि पार्वतीजीने तीन विशेषण देकर ब्रह्मको पूछा था, यथा 'रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।१०८.८।' अतएव वही तीन विशेषण देकर शिवजी ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं। (घ) 'कोसल-पुरभूपा' का भाव कि राजा मनुको ब्रह्मने वर दिया था कि 'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।१५१।' वही ब्रह्म कोसलपुरभूप हुआ। यह बात शिवजीने उपसंहारमें कही है, यथा 'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप। ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप।७.४७।'

नोट—१ पंडित रामकुमारजीके मतानुसार इससे पूर्व तीन अवतारोंके हेतु कहे। १—वैकुण्ठसे भगवान् विष्णुका जय विजयके निमित्त। २—वैकुण्ठसे महाविष्णुका जलंधरकी स्त्रीके शापवश, और ३ क्षीरशायी श्रीमन्नारायणका नारद-शापवश, राम-अवतार हुआ। परन्तु ये सब अवतार रूपान्तर हैं, चतुर्भुज स्वरूपसे द्विभुज हुए और जो अज अगुण अरूप परात्पर परब्रह्म मनुशतरूपाजीके प्रेमसे प्रगट हुए वे अखण्डैकरस, नित्य, द्विभुज शार्ङ्गधर सीतापति हैं।—महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'अज अगुण' आदि चार विशेषण देकर त्रिगुणसे परे तुरीय होना सूचित किया (प्र० सं०)।

२—पं० रामकुमारजी एक पुराने खर्रेमें लिखते हैं कि "पार्वतीजीके प्रश्नके समय शिवजीने तीन कल्पकी कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की, सो वे कह चुके। अब चौथा कल्प है अतः 'अपर हेतु' शब्द दिए इसे; 'विचित्र' कहा और 'विस्तार' से कहा। रामायणादिसे विलक्षण है।—'की तुम्ह तीन देव महँ कोऊ।' यह तो दो कल्पका अनुमान है जो रमा वैकुंठसे हुए। 'नर नारायन की तुम्ह दोऊ' यह क्षीरशायी कल्पका अनुमान है। 'जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार' यह मनुके प्रसंगका अनुमान है।" पुनः, "ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद" यह जो सतीजीका अनुमान है वह स्वायंभू मनुशतरूपाके तपके कल्पकी कथाका अनुमान है। बिष्नु जो सुर हित नरतनुधारी। सोउ सर्वज्ञ जथा त्रिपुरारी' यह रमावैकुंठनिवासीके कल्पके अवतारका अनुमान है। और खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी' नारदशापकल्पका अनुमान है। गोस्वामीजीकी 'कहनी' रामायणमें चारों कल्पोंकी कथा बराबरसे गुथी है।

वि० त्रि०—इस अवतारको वल्लभमतमें भी षोडसकल अर्थात् पूर्णावताररूपेण स्वीकार किया है। तीन कल्पोंके अवतारोंका कारण संक्षेपसे कह आये। ब्रह्मके अवतारकी कथा विस्तारसे कहनेका संकल्प है। शेष तीन कल्पोंकी कथाएँ भी वैसी ही हुई थीं, जहाँ कोई विशेषता आ पड़ी है, उसका भी विस्तृत कथामें समावेश कर दिया गया है, वह स्पष्ट मालूम पड़ता है। इस ब्रह्मावतारकी विशेषता यह है कि इसमें श्रीरघुवीरने सब चरित्रोंको अतिशय रूपमें किया है।

टिप्पणी—२ (क) "जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा' इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि पार्वतीजीके मनमें संदेह न रह जाय कि "हमने जिनको वनमें फिरते देखा वह राम विष्णुके अवतार हैं या ब्रह्मके। ['प्रभुका भाव कि कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। (रा० प्र०)] (ख) 'बंधु समेत' कहनेका भाव कि उस समय सीताहरण हो चुका था, केवल लक्ष्मणजी साथ थे। 'बिपिन फिरत' से जनाया कि श्रीसीताजीको

खोज रहे थे। 'धरें मुनि बेषा' अर्थात् राज्य त्यागकर विशेष उदासी वेषमें थे (ग) 'जासु चरित अवलोकि०' इति। 'जासु चरित' अर्थात् नारिविरहमें व्याकुल। 'रहिहु बौरानी' का भाव कि मोहपिशाचने तुम्हें ग्रस लिया था क्योंकि जिसे भूत लगता है वह बावला हो जाता है।

३—'अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी।०' इति। (क) 'छाया' का भाव कि अब परिपूर्ण मोह नहीं है, छायामात्र है। प्रमाण यथा 'तव कर अस बिमोह अब नाहीं। १०६।७।' पुनः, 'तब कर अस बिमोह अब नाहीं' एवं 'अजहूँ कछु संसय मन मोरे' जो कहा था उसीके संबंधसे 'अजहुँ न छाया मिटति' कहा। (अभी मोह-पिशाचका प्रभाव गया नहीं है।) ☞ यहाँ यह शंका होती है कि अब भी छाया नहीं मिटी तो तीन कल्पोंके अवतार जो कह आए वे व्यर्थ ही हुए! तीन कल्पोंकी कथासे शंका निवृत्त न हुई! इसका समाधान यह है कि तीन कल्पोंमें विष्णु अवतारकी कथा शिवजीने कही, सो उनकी विष्णु-अवतारमें तो शंका है ही नहीं। उनका स्वयं यह सिद्धान्त है कि विष्णु भगवान् अवतार लेते हैं, यथा 'बिष्नु जो सुरहित नरतनु धारी। ५१.१।' शंका है ब्रह्मके अवतार लेनेमें, यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।५०।' अतः अब ब्रह्मके अवतारका हेतु कहते हैं। इससे ब्रह्मके अवतारका भ्रम अब दूर होगा। (ख) 'जासु चरित अवलोकि०'। चरित देखकर भ्रम हुआ था, यथा 'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि। १०८।' इसीको लक्ष्य करके कहते हैं कि 'तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी' जिनके चरित देखकर भ्रम हुआ उन्हींके चरित श्रवण करनेसे भ्रमरोगका नाश होगा। तात्पर्य्य कि ईश्वरके चरित देखकर भ्रम होता है और चरितको साङ्गोपाङ्ग सुननेसे भ्रम दूर होता है, जैसे सतीजीको एवं गरुड़जीको देखनेसे भ्रम हुआ और सुननेसे उनका भ्रम दूर हुआ। भ्रमरुज कहकर चरित को औषधि सूचित किया। औषधिसे रोग दूर होता है।

लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥ ६॥
भरद्वाज सुनि संकर बानी। सकुचि† सप्रेम उमा मुसुकानी‡॥ ७॥
लगे बहुरि बरनै बृषकेतू। सो अवतार भएउ जेहि हेतू॥ ८॥
दोहा—सो मैं तुम्ह सन कहौं सबु सुनु मुनीस मन* लाइ।
रामकथा कलिमलहरनि मंगलकरनि सुहाइ॥ १४१॥

शब्दार्थ—लाइ = लगाकर। लाना = लगाना।

अर्थ—उस अवतारमें जो लीला की वह सब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहूँगा॥ ६॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं-) हे भरद्वाज! शंकरजीके वचन सुनकर उमाजी सकुचाकर प्रेमसहित मुस्कुराईं॥ ७॥ फिर धर्मकी ध्वजा शिवजी वह अवतार जिस कारण हुआ उसका वर्णन करने लगे॥ ८॥ 'हे मुनीश्वर! वह सब मैं तुमसे कहता हूँ, मन लगाकर सुनो। रामकथा कलिके पापोंको हरनेवाली, मंगल करनेवाली और सुन्दर है॥ १४१॥

टिप्पणी—१ (क) 'सो सब कहिहौं' का भाव कि तीन कल्पोंकी लीला कुछ भी नहीं कही, केवल अवतारका हेतुमात्र कहा था, इसीसे इस कल्पकी सब लीला कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। (ख) 'मति अनुसारा' का भाव कि भगवान्की लीला अनंत है, हम अपनी बुद्धिके अनुसार कहेंगे। अथवा, इस अवतारकी लीला सब कहेंगे, और अन्य अवतारोंकी संक्षेपसे (प्रसङ्गात् कहीं कहीं) कहेंगे। इति भावः। (ग) 'सुनि संकर बानी सँकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी' इति। ('शंकर' नाम दिया क्योंकि सर्वप्रकार कल्याण करनेवाले हैं। पार्वतीजीका कल्याण करनेके लियेही यह चरित कहने जा रहे हैं)। शिवजीने जो

† १६६१ में 'संकुचि' है। 'सँकुचि' पढ़ा जायगा। ‡ शिवा हरषानी-(वै०) * उर; चित।-पाठान्तर

कहा था कि 'अजहु न छाया मिटति तुम्हारी' और 'सती सरीर रहिहु बौरानी', यह सुनकर सँकुची, मुस्कुराकर शिवजीके वचनोंको अंगीकार किया अर्थात् सूचित किया कि आप जो कहते हैं सो सत्य है और 'तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी' यह सुनकर प्रेम हुआ। (पां०)। [(घ) पुनः सकुचानेका भाव कि प्रभुकी परीक्षा लेनेमें मैंने बड़ी अनीति की। अथवा, अपने ओरकी अनीति और प्रभुकी कृपालुता समुझकर सकुचीं। अथवा, 'बौरानी' कहनेसे संकोच हुआ। (रा० प्र०)। साँवली सूरत मोहिनी मूर्तिका स्मरण हो आया, इससे प्रेम हुआ। (पं०, रा० प्र०)। अब तक छाया नहीं मिटती, यह उपालंभ सुनकर मुसुकाई (पं०)। अथवा, भ्रमके भागनेसे अपनेको धन्य मानकर हर्षित हुईं। (रा० प्र०)। (ङ) 'सकुच, प्रेम और मुस्कान तीनों भाव एक साथ उत्पन्न होनेसे यहाँ 'समुच्चय अलंकार' हुआ।]

वि० त्रि० – एक जन्मके कर्मफलभोग पूरा हो जानेपर भी कर्मलेश रह जाता है जो दूसरे जन्मका कारण होता है। यह कर्मघाटकी बात है, अतः इसे कर्मघाटके वक्ताके मुखसे ही कहलाया।

टिप्पणी–२ (क) "लगे बहुरि बरनै···" इति। पार्वतीजीका प्रश्न है कि 'राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू।१२०.६-७।' उसीका उत्तर यहाँ 'लगे बहुरि बरनै बृषकेतू।···' से दे चले हैं। 'जो' का संबंध 'सो' से है। अर्थात् 'जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा' 'सो अवतार भएउ जेहि हेतू।' (ख) प्रथम हेतु वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की, यथा 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा॥' इसीसे प्रथम हेतु कहते हैं, यथा—'सो अवतार भएउ जेहि हेतू।' तत्पश्चात् चरित बर्णन करनेकी प्रतिज्ञा की, यथा 'तासु चरित सुनु भ्रमरुजहारी।' अतएव इसे पीछे वर्णन करेंगे। (ग) ['वृषकेतू' विशेषणका भाव कि धर्मके पालक हैं, सदा उनकी दृष्टि धर्मपर रहती है, धर्मकी वृद्धिके निमित्त ही वे प्रभुका गुणानुवाद करते हैं। (पं०)। अथवा, धर्मकी ध्वजा धारण किये हुए हैं, अधर्मरूप मिथ्या बोलनेवाले नहीं हैं। इस विशेषणसे कथाकी सत्यता सूचित करते हैं। (रा० प्र०)]

३ (क)—"सो मैं तुम्ह सन कहौं सबु ···" इति। अर्थात् जो शिवजी पार्वतीजीसे वर्णन करने लगे थे वह सब मैं तुमसे कहता हूँ। 'सबु' का भाव कि शिवजीकी प्रतिज्ञा 'सब' कहनेकी है, यथा 'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा॥' इसीसे याज्ञवल्क्यजी भी 'सब' कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं; क्योंकि शिवजीके कथनमें याज्ञवल्क्यजीकी 'कहनी' (कथन) मिली हुई है, यथा "कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद। ४७।'

(ख) 'सुनु मुनीस मन लाइ' इति। 'मन लगाकर सुनो' इस कथनका तात्पर्य है कि सुनने योग्य है। (पुनः भाव कि यह परम गुह्य है, गूढ़ है, मन लगाकर न सुननेसे धारण न होगा)। (ग) 'मंगलकरनि सुहाइ' यथा 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। १।१०।', (घ) ☞ 'कथा उपासना है, कर्म और ज्ञान दोनोंका फल देती है। 'मंगलकरनि' मोक्ष है जो ज्ञानका फल है। 'कलिमलहरनि यह कर्मका फल है। ['मंगल' शब्द मोक्षवाचक है और 'ज्ञान मोक्षप्रद बेद बषाना', इस तरह 'मंगल करनि' से ज्ञानका फल देनेवाली कहा। 'कलिमल' अर्थात् नित्य नैमित्तिक पाप। ये कर्मसे नाश होते हैं। अतः 'कलिमल हरनि' से कर्मफलदातृत्व कहा, यथा 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई', 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की' (दोहा १० छंद, देखिए)। यहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष होनेसे 'सार' अलंकार हुआ]

व्याकरण—अवधीभाषामें शब्दके अंतमें उकार प्रायः बोला जाता रहा है। गोस्वामीजीने इसका प्रयोग बहुत किया है जैसे 'सुनु' = सुन, सुनो। गोस्वामीजी 'सूकरखेत' में गुरुजीके साथ बहुत दिन रहे। शूकरक्षेत्रके आसपास इस पार अब तक उकारयुक्त शब्द बोले जाते हैं।

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ॥१॥
दंपति धरम आचरन नीका । अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका ॥२॥
नृप उत्तानपाद सुत तासू । ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ॥३॥
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही । बेद पुरान प्रसंसहिँ जाही ॥४॥

शब्दार्थ—स्वायंभू=स्वयंभू (ब्रह्माजी) से उत्पन्न सबसे पहले 'मनु' स्वायंभुव। सृष्टि=उत्पन्न जगत्। जगत्का आविर्भाव, उत्पत्ति, बनने वा पैदा होनेकी क्रिया या भाव। दंपति=स्त्रीपुरुष। लीका (लीक)=रेखा, लकीर, गणना; यथा 'भट महँ प्रथम लीक जग जासू', 'लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका'। आचरन (आचरण)=व्यवहार, (धर्म) करनेकी रीति भाँति।

अर्थ—श्रीस्वायंभुव मनु और श्रीशतरूपाजी जिनसे सुंदर उपमारहित मानवी अर्थात् मनुष्यसृष्टि हुई॥ १॥ स्त्रीपुरुष दोनोंका धर्माचरण बहुत अच्छा था। जिनके धर्मकी लीकको वेद (आज दिन) अब भी गाते हैं। (अर्थात् स्वायंभुव मनु और शतरूपाजीकी कथा वेदोंमें लिखी है, सब धर्मात्माओंमें इनकी प्रथम रेखा अर्थात् गणना है)॥२॥ उनके पुत्र राजा उत्तानपाद हुए जिसके पुत्र भगवद्भक्त श्रीध्रुवजी हुए॥३॥ जो छोटा पुत्र था उसका नाम प्रियव्रत है, जिसकी प्रशंसा वेद और पुराण कर रहे हैं॥४॥

नोट—१ 'स्वायंभू मनु अरु सतरूपा' इति।—श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अ० १२ में सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है। ब्रह्माजीने अविद्या माया, सनकादि ऋषि, रुद्र, मरीचि आदि दश मानसपुत्र क्रमशः उत्पन्न किए। इनसे सृष्टिकी वृद्धिका कार्य्य न होता देख मनुशतरूपाको उत्पन्न किया। (ब्रह्मा सृष्टि-वृद्धि न देख चिन्तित हो दैवकी शरण गए; त्योंही उनके शरीरके दो भाग हो गए। उन दोनों खंडोंसे एक स्त्रीपुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ। उनमें जो पुरुष था वह सार्वभौम सम्राट् स्वायंभुव मनु हुए और जो स्त्री थी वह महारानी शतरूपा हुईं)। मनुजी ब्रह्मावर्तमें रहते हुये सात समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वीका शासन करते थे। यथा—'ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन् शास्ति सप्तार्णवां महीम्। भा० ३।२१।२५।' मैथुनद्वारा सृष्टिकी वृद्धि इन्हीं मनुशतरूपा द्वारा हुई। और इनकी तीनों कन्याओंके वंशसे जगत् प्रजासे परिपूर्ण हो गया। (भा० ३, १२, ५२-५६)।

ब्रह्माके एक दिनमें १४ मनु भोग करते हैं। एक-एक मनु अपने-अपने कालमें कुछ अधिक ७१ चतुर्युगी भोग करते हैं। प्रति मन्वन्तरमें भगवान् अपनी सत्त्व मूर्त्ति द्वारा मनु आदिके रूपमें प्रकट होकर उनके द्वारा अपने पौरुषको प्रकाशित करते हुए विश्वकी रक्षा करते हैं। [मनु और मन्वन्तरोंका विस्तारसे वर्णन 'भक्ति सुधास्वाद' तिलक (भक्तमालमें) श्रीरूपकलाजीने भाषामें किया है। प्रेमी उसमें भी देख सकते हैं]।

मनु भगवद्भक्त थे। वे धर्मपूर्वक अनेक विषय भोग एवं प्रजा पालन करने लगे। निद्राभंग होनेपर वे एकाग्र चित्त हो प्रेमसे हरिचरित सुना करते थे। विषय भोग करते हुए भी सकल विषय उनके चित्तपर अपना अधिकार न जमा सके। भगवान् हीमें सदा अनुरक्त रहते, लवमात्र समय भी व्यर्थ न जाने देते थे। इस प्रकार भगवत्प्रसंगसे जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको जीते हुए तुरीयावस्थामें स्थित होकर उन्होंने लगभग ७२ चतुग परिमिति समय राज्य कर बिताया। गन्धर्व उनकी कीर्त्तिको नित्य प्रति गान करते थे।

मुनिगणने उनसे धर्मकी जिज्ञासा की तब उन्होंने अनेक प्रकारके कल्याणकारी धर्म, साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म वर्णन किए। इनकी स्मृतियाँ धर्म्मशास्त्र अबतक प्रमाण स्वरूप हैं। (भा० ३।२२।३२-३८)।

इनके दो पुत्र (प्रियव्रत, उत्तानपाद) और तीन कन्याएँ (आकूति, देवहूति, प्रसूति) हुईं। आकूति-

१ ध्रुव—१७२१, छ०। ध्रुव—१६६१,१७०४,१७६२। २—भक्त—को० रा०।

का विवाह रुचि प्रजापतिसे, देवहूतिका विवाह महर्षि कर्दम प्रजापतिसे और प्रसूतिका दक्षप्रजापतिसे हुआ। श्रीअनुसूया, अरुन्धती आदि महासती कन्यायें इन्हीं देवहूतिजीकी हुईं। (भा० ३।२४।२२,२३)।

टिप्पणी—१ (क) 'स्वायंभू मनु'। मनु चौदह हो गए हैं। उनमेंसे यह कौन हैं यह भ्रम निवृत्त करनेके लिए 'स्वायंभू मनु' कहा। प्रथम ही भ्रम निवारण करके अब आगे सर्वत्र केवल 'मनु' शब्दका प्रयोग करेंगे, यथा 'तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला', 'तहँ हिय हरषि चले मनु राजा', 'मनु समीप आए बहु बारा', 'बोले मनु करि दंडवत०' इत्यादि। (ख) 'स्वायंभू मनु' कहकर इन मनुकी उत्पत्ति 'स्वयंभू' से जनाई। आगे इनसे मनुष्यकी उत्पत्ति कहते हैं—'जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा'। (ग) 'नर सृष्टि अनूपा' का भाव कि प्रथम मानसी सृष्टि थी और इनसे मैथुनी सृष्टि हुई। जैसी नर सृष्टि है ऐसी और सृष्टियाँ नहीं हैं, यह जनानेके लिए 'अनूप' कहा। [भगवान्‌का श्रीमुख वचन है कि "मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा। सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहि भाए। ७.८६।" अतः 'अनूप' कहा। पुनः चराचर जीव इसके लिये याचना करते हैं, यही मोक्षको दिलाता है, यथा 'नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही। ७.१२१।', 'नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। ७.४४।' अतः 'अनूपा' कहा।] (घ) 'धरम आचरन नीका' का भाव कि चौदहों मनुओंका मुख्य काम यही है कि धर्मका प्रतिपालन करें और करावें। धर्मका आचरण अच्छा कहकर आगे वंशका वर्णन करनेका तात्पर्य कि भारी पुण्यसे ऐसे वंशकी प्राप्ति होती है, यथा "तुम्ह तें अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम-सरिस सुत जाके ॥ बीर बिनीत धरम ब्रतधारी। गुनसागर बर बालक चारी'।❀

प० प० प्र०—स्वयंभू विशेषण साभिप्राय है। इस नामसे जनाया कि स्वायम्भुव (प्रथम) मन्वन्तरमें ब्रह्मने पुत्र होने और अवतार लेनेका निश्चय किया और अवतार हुआ वैवस्वत मन्वन्तर चौबीसवें या उन्नी-सवें त्रेतामें। कमसे कम पाँच मन्वन्तर और चौबीस त्रेतायुग इतने प्रदीर्घकालके पश्चात् वरका फल मिला। अवतार-कारण और अवतारकार्यमें इतना प्रदीर्घ काल बीता। इस कालको भगवान्‌ने 'कछु काल' कहा है, यथा 'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि। १।१५१।' जिस दोहेमें यह वचन दिया वह १५१ वाँ है। इस संख्यासे यह बात जना रहे हैं कि पहले ('१') मन्वन्तरमें वचन दिया फिर बीचमें '५' से जनाया कि ५ मन्वन्तर बीचमें बीत गए तब उनके बादके प्रथम ('१') वैवस्वत मन्वन्तरमें अवतार हुआ।

अवतार-विषयक प्रश्न 'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा' दूसरा है और ग्रन्थकर्त्ताकी दूसरी प्रतिज्ञा है-'बरनउँ रामचरित भवमोचन। १।२।२।' 'बालचरित पुनि कहहु उदारा' यह तीसरा प्रश्न रामजन्म और बालचरित विषयक है और कविकी तीसरी प्रतिज्ञा है—'कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ। १।१२।६।' इन दोनोंमें अन्तर १५१ पंक्तियोंका ही है। यह भी दो घटनाओंके बीचके कालका संकेत करनेके लिये है। इस प्रकार २२ प्रतिज्ञाओंका सम्बन्ध २२ प्रश्नोंसे है। प्रतिज्ञा, प्रश्न और उनके उत्तरके शब्दोंमें भी ऐसा साम्य रक्खा है कि बुद्धि आश्चर्यचकित होती है। दो प्रतिज्ञाओंमें जो अन्तर है वह कालसूचक है यह गूढ़चन्द्रिकामें स्पष्टतया मिलान करके बताया। हिन्दी मानसप्रेमी विद्वान् इस इशारे पर स्वयं मिलान करके देख लें।

❀ 'धरम आचरन नीका', 'अजहुँ गाव श्रुति'। भाव कि नीक (उत्तम) धर्माचरणमें प्रथम और मुख्य हैं। ब्रह्माजीसे वेद हुए और मनु भी। वेदोंके धर्म मनु करते हैं, अतएव कहा कि मनुका आचरण वेद कहते हैं (क्योंकि ये जो आचरण करते हैं वे वेदोंमें हैं) (मा० पी० प्र० सं०)। 'गाव श्रुति…', यथा 'यन्मनुरवदत् तद्भेषजम्' अर्थात् जो मनु कहते हैं वही (भवरोगके लिये) भेषज है। वेद अपौरुषेय है। उसमें व्यक्तिविशेषका नाम नहीं है। उसमें जो व्यक्तिविशेषके नाम आते भी हैं, वे पदोंके नाम हैं। प्रत्येक कल्पमें जो पहिले मनु होते हैं, वे स्वायम्भू कहलाते हैं और ऐसे ही ज्ञानी महात्मा होते हैं। (वि. त्रि.)।

टिप्पणी—२ (क) 'नृप उत्तानपाद सुत', ये बड़े पुत्र हैं जैसा आगेके 'लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही' से स्पष्ट है, इसीसे इनको प्रथम लिखा। भागवतके मनुके पुत्र जो उत्तानपाद हुए हैं वह छोटे पुत्र हैं। यह उत्तानपाद और मनु और किसी कल्पके हैं। 'कल्पभेद हरि चरित सुहाए' के अनुसार यहाँ भी कल्पभेद है। (ख) 'ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू' इति। जासू=जिस उत्तानपाद के। जैसी बड़ाई पिता माताकी लिखी,—'दंपति धरम आचरन नीका। अजहु गाव श्रुति जिन्ह कै लीका' और जैसी बड़ाई छोटे भाई प्रियब्रतकी लिखते हैं,—'बेद पुरान प्रसंसहिं जाही', वैसी बड़ाई उत्तानपादकी नहीं लिखते, इसमें आशय यह है कि पुत्रका हरिभक्त होना यह सब बड़ाईकी अवधि (सीमा) है, इसीसे 'ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू' इतना ही लिखकर छोड़ दिया और सब बड़ाई इसके सामने कुछ नहीं है। यथा "सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत। ७.१२७।" (ग) 'नृप उत्तानपाद'। उत्तानपाद जेठे भाई हैं, राज्यके अधिकारी हैं, इसीसे इनको नृप कहा; प्रियब्रतको नृप न कहा। यह राजनीति है कि ज्येष्ठ पुत्र राज्य पावे, यथा 'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति'। [पं० रामकुमारजी यह भी लिखते हैं कि "जिसका पुत्र हरिभक्त हो वह सब प्रकार बड़ा है, यह विचारकर भागवतका मत न लिखा किन्तु जिस ग्रन्थमें उत्तानपाद ज्येष्ठ पुत्र लिखा है उसीका मत यहाँ दिया।" (नोट—परन्तु मेरी समझमें इस भावसे मानसके शिवकथित-चरित होनेमें त्रुटि आवेगी। कल्पभेद ही ठीक समाधान है। जिस कल्पमें ऐसा हुआ है उसी कल्पके मनुको द्विभुज ब्रह्मका दर्शन और वरदान है।)] (घ) 'बेद पुरान प्रसंसहि जाहीं' से जनाया कि पिताके सदृश यह भी धर्मात्मा हैं। पिताके धर्मकी प्रशंसा वेद करते हैं, वैसे ही इनकी भी प्रशंसा करते हैं। पुनः भाव कि वेदपुराणोंमें कथा है, हम उनकी कथा विस्तारसे नहीं कहते।

नोट—१ 'उत्तानपाद और ध्रुवजीकी कथा भा० स्कं० ४ अ० ८, ९, १०, ११, १२, में देखिए। ध्रुवजीने ५ वर्षकी अवस्थामें तप करके छः मास हीमें प्रभुको रिझा लिया। ऐसे हरिभक्त !—'पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ। १.२६.५।' (मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४४५-४४६) कथा देखिए।

२ – 'प्रियब्रत'—इन्हींके वंशमें ऋषभ भगवान्ने अवतार लिया। वे स्वयं बड़े ही भगवद्भक्त, वैराग्यवान् और विज्ञानी हुए। नारदजीके चरणोंकी सेवाके प्रभावसे उनको सहज ही परमार्थ तत्त्वका ज्ञान हो गया था। ब्रह्मा, मनु, आदि बड़ोंकी आज्ञा मानकर भगवत् इच्छासे उन्हें निवृत्ति मार्ग छोड़ प्रवृत्ति मार्गमें प्रवृत्त होना पड़ा था। इन्होंने विश्वकर्मा प्रजापतिकी बर्हिष्मती नामकी कन्यासे विवाह किया। उससे आग्नीध्रादि दशपुत्र और ऊर्ज्वसी नामकी कन्या हुई जो शुक्राचार्यको व्याही गई। तीन पुत्र तो बाल्यावस्थामें ही परमहंस हो गए। शेष सात सातों द्वीपोंके राजा हुए। श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ५ अ० १) में लिखा है कि इन्होंने ११ अर्बुद वर्ष राज्य किया। आपने अपने योगबलसे सात तेजोमय रथ (प्रतिदिन एक) निर्माण किए। इन ज्योतिर्मय रथों पर चढ़कर इन्होंने दूसरे सूर्यके समान सूर्य्य भगवान्के साथ ही साथ सात बार पृथ्वीकी परिक्रमा की। इनके रथके तेजसे रातमें भी सूर्य्यका सा प्रकाश राज्य भरमें रहता था। आपने सात समुद्र और द्वीपोंकी रचना करके पृथ्वीका विभाग कर दिया, एवं नदी पर्वत और वन आदिसे द्वीपों और खंडोंकी सीमा बना दी। यह करके फिर स्वर्ग आदिके विभवको नरक तुल्य मान तिनकाके सदृश त्याग दिया।

देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ॥५॥
आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला ॥६॥
सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्वबिचार निपुन भगवाना ॥७॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब† बिधि प्रतिपाला ॥८॥

† बहु—१७२१, छ०। सब—१६६१, १७०४, १७६२।

सोरठा—होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन ।
हृदय बहुत दुख लाग जनम गएउ हरिभगति बिनु ॥१४२॥

शब्दार्थ—आदि-देव=सम्पूर्ण सृष्टिके कर्त्ता, जिनसे पहले और कोई नहीं हुआ। जठर=गर्भ, कोख, कुक्षि। सांख्यशास्त्र—छः दर्शनोंमेंसे एक यह भी है। इसमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम दिया है। इसमें प्रकृति हीको जगत्‌का मूल माना है और कहा गया है कि सत्व, रज, तम गुणोंके योगसे सृष्टिका और उसके सब पदार्थों आदिका विकास हुआ है। इसमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानी गई है। आत्माको पुरुष, अकर्ता, साक्षी और प्रकृतिसे भिन्न कहा गया है। प्रतिपाला=पालन किया, तामील की, बजा लाए। पन (सं० पर्वन=विशेष अवस्था)=आयुके चार भागोंमेंसे एक। चौथपन=चौथी अर्थात् वृद्धावस्था।

अर्थ—पुनः, देवहूतिजी उनकी कन्या हुईं जो कर्दमऋषिकी प्रिय पत्नी हुईं ॥५॥ जिनने अपने गर्भमें आदिदेव, समर्थ, दीनदयाल, कृपाल कपिल भगवान्‌को धारण किया ॥६॥ जिन्होंने सांख्यशास्त्रका प्रकट बखान किया। वे (कपिल) भगवान् तत्त्वविचारमें बड़े निपुण (प्रवीण, कुशल) थे ॥७॥ उन स्वायम्भुव मनुने बहुत कालतक राज किया और सब तरहसे प्रभुकी आज्ञाका पालन किया ॥८॥ घरमें रहते हुए चौथापन हो गया, विषयोंसे वैराग्य न हुआ, जीमें बहुत दुःख हुआ कि जन्म हरिभक्ति बिना व्यर्थ बीत गया ॥१४२॥

टिप्पणी—१ (क) 'देवहूति पुनि तासु कुमारी'—'पुनि' का भाव कि उत्तानपाद और प्रियव्रतके पीछे ये पैदा हुईं, दोनों भाइयोंसे ये छोटी हैं। (ख) 'कर्दम की प्रिय नारी'। भाव कि स्त्रीका पतिप्रिय होना परम धर्म है, यथा 'होइहि संतत पियहि पियारी। ६७.३।', 'पारबती सम अति प्रिय होहू' इत्यादि। इसीसे 'प्रिय' कहा। (वि० त्रि० कहते हैं कि कर्दम प्रजापतिने बहुत बड़ी तपस्या करके भगवान्‌से अपने अनुरूप पत्नी माँगी, तब उन्हें देवहूति तपश्चर्य्याके फलरूपमें प्राप्त हुईं, अतः 'प्रिय नारी' कहा)। (ग) 'आदिदेव प्रभु दीनदयाला', इन तीन विशेषणोंसे तीन बातें कहीं। 'आदिदेव' से सृष्टिके कर्त्ता, सबके उत्पन्न करनेवाले, 'प्रभु' से समर्थ अर्थात् सबका संहार करनेवाले और 'दीनदयाल' से सबके पालनकर्त्ता जनाया। अथवा; भाव कि सबके पालन करनेमें प्रभु (समर्थ) हैं, दीनदयाल हैं प्रलयकालमें सबको अपने उदरमें रखते हैं। (घ) 'जठर धरेहु जेहिं' अर्थात् गर्भाशय वा उदरमें धारण किया। भाव कि जो सृष्टिमात्रको अपने उदरमें रखते हैं उनको इन्होंने अपने उदरमें रक्खा अर्थात् वे इनके पुत्र हुए। (ङ) 'कृपाला' का भाव कि कृपा करके इनके जठर (गर्भ) में आए। अवतारका कारण कृपा है।

२ (क) 'सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना' इति। 'प्रगट बखाना' का भाव कि बखानना दो प्रकारका होता है। एक लिखकर दूसरा कहकर। कपिलदेवजीने मातासे कहकर बखान किया, इसीसे 'प्रगट' पद दिया [वा, वेद भी भगवान्‌की ही वाणी है। वेदोंमें सब कुछ है। अब भगवान्‌ने स्वयं प्रगट होकर आचार्यरूपसे उसको प्रत्यक्ष वर्णन किया। असुर (आसुरि) नामक अपने शिष्यको सांख्यशास्त्रका ज्ञान कराकर उसके द्वारा जगत्‌में पुनः प्रचार कराया। 'प्रगट' में भाव यह कि वेदोंमें पूर्वपक्षरूपसे आए हुए सांख्यसिद्धान्तका प्रचार किसी कारण वश बंद हो जानेसे प्रकृतिवादका सिद्धान्त लुप्तप्राय हो गया था, इसीसे भगवान्‌ने कपिलरूपसे उसका पुनः प्रचार कराया।] अथवा, 'प्रगट बखाना'=साक्षात्कार करके बखान किया। यह कहकर दूसरे चरणमें सांख्यशास्त्रका विषय कहते हैं। (ख) 'तत्वबिचार निपुन भगवाना' अर्थात् सांख्यशास्त्रमें तत्त्वका विचार है। तत्त्व ऐश्वर्य्य हैं, उन्हींके विचारमें निपुण हैं; इसीसे 'भगवान्' कहा। इस तरह भगवान्‌का कपिलदेवरूपमें अवतार कहा और 'सांख्यशास्त्र बखाना' यह उनके अवतारका हेतु कहा। (ग) ☞ मनुमहाराजके तीन कन्याएँ हुईं। उनमेंसे देवहूतिको यहाँ कहा, क्योंकि इनके उदरसे कपिल भगवान्‌का अवतार हुआ।

नोट—१ "सांख्य शास्त्र" इति। इसमें त्रिविध दुःखोंकी अतिशय निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है। यह

छः अध्यायोंमें कहा गया है। प्रथम अध्यायमें विषयोंका निरूपण है। दूसरेमें प्रधान कार्योंका वर्णन है। तीसरेमें विषय वैराग्य है। चौथेमें पिंगलकुमारादि विरक्तोंकी आख्यायिका है। पाँचवेंमें परपक्षका निर्जय है। और, छठेमें समस्त अर्थोंका संक्षेप है। प्रकृति-पुरुषका ज्ञान ही सांख्यशास्त्रका मुख्य प्रयोजन है।—इस पर सांख्यसूत्र, गौड़पादाचार्यका भाष्य, तथा वाचस्पतिमिश्रकी 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।

श०सा०—कपिल भगवान्ने सांख्य शास्त्रमें दो ही तत्त्व प्रधान कहे। एक प्रकृति दूसरा पुरुष। प्रकृति दो प्रकारकी कहीं—प्रकृति और विकृति। मूल प्रकृति अविकृति है और महदादि सप्त प्रकृति विकृति दोनों हैं; पुरुष न प्रकृति है न विकृति। प्रकृतिके २४ तत्त्व हैं—महत्तत्त्व, अहंकार, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, वाक्, पाणि, पायु, पाद, उपस्थ, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। मूल प्रकृतिसे शेष तत्वों की उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है।—प्रकृतिसे महत्तत्त्व (बुद्धि), महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे १६ पदार्थ—दशो ज्ञान और कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), पंच तन्मात्राओंसे पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल इत्यादि)। प्रलयकालमें ये सब तत्व फिर प्रकृतिमें क्रमशः विलीन हो जाते हैं।

टिप्पणी—३ (क) 'तेहि मनु' इति। 'तेहि' का संबंध 'जेहि' से है। 'जिन्ह तें भै नर सृष्टि अनूपा', 'अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका', 'तेहि मनु'। 'तेहि' अर्थात् जिनके ऐसे ऐसे पुत्र और कन्यायें हुईं, जिनकी संतानसे भक्त और भगवान दोनोंके अवतार हुए उन स्वायंभुव मनुने। (ख) 'राज कीन्ह बहु काला' अर्थात् बहुत काल पर्यन्त राज्य सुख भोग किया। उसके बादका हाल आगे कहते हैं। बहुत काल राज्य करनेका कारण दूसरे चरणमें कहते हैं कि 'प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला'। 'प्रभु' से यहाँ ब्रह्माको समझना चाहिए (जैसा श्रीमद्भागवतसे स्पष्ट है। अथवा, वह भी भगवान्की ही आज्ञा थी,—'ईस रजाइ सीस सब ही के')। मैथुन द्वारा मनुष्य सृष्टि करके प्रजाकी वृद्धि की, प्रजाका पालन किया, धर्मका आचरण किया जैसा ऊपर कह आए। यह सब प्रभुकी आज्ञा थी। उन्हींकी आज्ञासे बहुत दिन राज किया, नहीं तो उनको कुछ भोगकी इच्छा न थी—यह भाव 'प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला' का है। [(ग) वेदमें जो वाक्य आज्ञारूपसे कहे गये हैं। जैसे—सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, इत्यादि—सत्य बोलो, धर्माचरण करो, माँको देवता मानो, इत्यादि), ये ही धर्म हैं। वेद ईश्वरके वाक्य हैं। अतः उसकी आज्ञा प्रभुकी आज्ञा है। (वि० त्रि०)। 'बहु काला' अर्थात् ७१ चतुर्युग राज्य करनेपर जब फिर सत्ययुग आया तब उसके भी लगभग १८५१४२ वर्ष और कुछ दिन राज्य किया। तब तपस्या करने गए।—(वै०)]

नोट—२ "प्रभु आयसु बहु बिधि प्रतिपाला" इति। भा० स्कं० ३ अ० १३ में यह कथा यों है कि—"मनुशतरूपाजीके उत्पन्न होनेपर इन दोनोंने ब्रह्माजीसे प्रार्थना की कि हमें जो आज्ञा दीजिए वह हम करें। ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि 'तुम अपने सदृश संतान उत्पन्न करके धर्मसे प्रजाका पालन करो और यज्ञ करके यज्ञ-पुरुषका भजन करो। इससे मेरी परम शुश्रूषा होगी और परमेश्वर प्रजापालनसे तुम पर प्रसन्न होंगे।" प्रभुकी प्रसन्नता तथा ब्रह्मा (पिता) की आज्ञाको अपना धर्म समझकर इतने कालतक राज्यकर प्रजाका पालन किया, राज्यभोगकी इच्छासे नहीं। (अ० १३ श्लोक ६-१४)। पुनः,

३—'सब बिधि' अर्थात् "प्रभुकी आज्ञा जिस बिधिकी थी उसी सब विधिसे उसका पालन किया। यहाँ प्रभुकी आज्ञा धर्मपालन है। अतएव आज्ञा पालनहीको धर्म ठहराकर इस प्रसंगको धर्म ही पर संपुट किया। (प्र० सं०)। अथवा, ४-प्रभुकी आज्ञा वेद है। वेदके अनुसार राज्य धर्म प्रजापालन आदि और आश्रमधर्मानुरूप धर्म किये। (रा० प्र०)। अथवा, ५-वेदमें जितने विधि कर्म हैं वे सब किये। इत्यादि। इससे मनुजीका श्रद्धातिरेक दिखाया।

टिप्पणी—४ 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन' इति। (क) चौथापन वैराग्यका समय

है। चौथेपनमें राजाओंके लिए वन जानेकी आज्ञा नीतिमें है, यथा 'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन' (६.७), 'अंतहु उचित नृपहि बनवासू। २।५६।' अतः जब चौथापन आया तब वैराग्य उत्पन्न हुआ। पुनः भली प्रकार धर्मका सेवन करनेसे वैराग्य उदय होता है। धर्म सेवन ऊपर लिख आए,—'दंपति धरम आचरन नीका'। अतः अब वैराग्य हुआ। इसीसे प्रथम धर्म कहकर तब यहाँ वैराग्य होना और तब भक्ति क्रमसे कही। (ख) 'जनम गयउ हरि भगति बिनु' इति। वैराग्यसे भगवत् धर्मकी प्राप्ति होती है, वही यहाँ कहते हैं कि वैराग्य न हुआ, जन्म हरिभक्ति बिना व्यर्थ बीता जा रहा है। धर्मसे वैराग्य और वैराग्यसे भक्ति होती है, यथा "प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निजनिज धरम निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा। ३।१६।' (ग) 'बहुत दुख लाग' के कारण दो कहे, एक तो यह कि विषय भोग करते युगके युग बीत गए, दूसरे यह कि घरमें बसते हुए चौथापन हो गया, जन्म भगवद्भक्तिरहित बीता जा रहा है। ☞ विषयभोग तथा भवनमें बने रहने इन दोनोंकी ओरसे ग्लानि हुई। तात्पर्य्य कि अब दोनोंको त्याग देना चाहते हैं; क्योंकि विषयभोगसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती, यथा 'राम प्रेम पथ पेखिए दिये बिषय तन पीठि। तुलसी केंचुलि परिहरे होति साँपहू डीठि।' [☞ देखिए मनुमहाराजको 'बिषय और भवन' दो की ग्लानि हुई और छोटे-बड़े सभी जीवोंका आजकल प्रायः इन दोनोंकी ही चाहमें सारा जन्म बीत जाता है और मरते समय भी इनकी तृष्णा नहीं जाती।] बिना हरिभक्तिके जन्म व्यर्थ गया, इस कथनमें 'प्रथम विनोक्ति अलंकार' है।

नोट—४ 'भवन बसत भा चौथपन' कहकर सूचित किया कि चौथेपनके आ जानेतक इन्होंने राज्य किया। (पंजाबीजी लिखते हैं कि मनुजीका विषयोंमें आसक्त होना नहीं कहा जा सकता। अतएव 'बिराग' का अर्थ 'त्यागका अवकाश' लेना चाहिये। अर्थ है कि गृहस्थीमें विषयोंसे वैराग्यका अवकाश नहीं मिलता, यह चिन्ता हुई। वैराग्यका उदय यहाँ लोकशिक्षार्थ है।)

☞ ५—जिन मनुमहाराजके कुलमें ध्रुव प्रियव्रत आदि ऐसे-ऐसे परमभक्त हुए उनका यह सिद्धान्त है कि घरमें विषयोंसे वैराग्य होना कठिन है। यथा "सुरराज सों राज-समाज, समृद्धि बिरंचि, धनाधिप सों धनु भो। पवमान सो, पावक सो, जम सोम सो पूषन सो, भवभूषन भो॥ करि जोग समाधि समीरन साधिकै, धीर बड़ो बसहू मन भो। सब जाइ सुभाय कहै तुलसी जो न जानकि जीवनको जन भो॥" (क० उ० ४२), "झूमत द्वार अनेक मतंग जँजीर जरे मद अंबु चुचाते। तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौनके गौनहु ते बढ़ि जाते॥ भीतर चंद्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खड़े न समाते। ऐसे भए तो कहा तुलसी जो पै जानकी-नाथके रंग न राते॥ (क० उ० ४४)।"

प्रियव्रतके मनमें जब वैराग्य उत्पन्न हुआ, उनके उस समयके विचार श्रीमद्भागवतमें यों दिए हैं कि "वह ऐसा विचार करके पश्चात्ताप करने लगे कि अहो! राज्य-भोगमें पड़कर मैं मंगल मार्गसे भ्रष्ट हो गया! अहो! मैंने बहुत ही बुरा किया। इन्द्रियोंने मुझे अविद्या रचित विषम विषयोंके गढ़ेमें गिरा दिया। मेरा जन्म ही वृथा बीता जाता है। बस अब विषय भोगको त्याग करना चाहिए···"—(स्कंध ५ अ० १)। यथा 'अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे। तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार। ३७।'

६—मनुजीने आयु भर धर्म्म हीका पालन किया उनको तो पश्चात्ताप न होना चाहिए था। गोस्वामीजीकी उपदेश-शैली बड़ी अद्भुत है। धर्म्मोंसे सुख भोग प्राप्त होता है, भक्ति की प्राप्ति नहीं होती और बिना भक्तिके मुक्ति नहीं—'बिनु हरि-भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल'। इसीको यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। अन्य धर्म्म करना सूदपर रुपया लगाना है—(स्नेहलताजी)

बरबस राज सुतहि तब* दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥१॥
तीरथ बर नैमिष बिख्याता । अति पुनीत साधक सिधि दाता ॥२॥
बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा । तहँ हिअ हरषि चलेउ मनु राजा ॥३॥
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा । ज्ञान भगति जनु धरें सरीरा ॥४॥
पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा । हरषि नहाने निरमल नीरा ॥५॥

शब्दार्थ—बरबस = (बल + वश) = हठात्, जबरदस्ती । धेनुमति=गोमती । तीरथ (तीर्थ)=पवित्र स्थान जहाँ धर्मभावसे लोग यात्रा, पूजा, स्नान, दर्शनादिके लिये जाते हों । साधुओंका दर्शन भी तीर्थ है ।

अर्थ— तब (उन्होंने) हठात् (विवश होकर) पुत्रको राज्य दिया और स्त्री सहित वनको चलते हुए ॥ १ ॥ तीर्थ में श्रेष्ठ, अत्यन्त पवित्र और साधकोंको सिद्ध कर देनेवाला नैमिषारण्य (नीमसार तीर्थ) प्रसिद्ध है ॥ २ ॥ वहाँ मुनियों "और सिद्धों" के समाजके समाज बसते हैं । मनु महाराज मनमें प्रसन्न होकर वहाँ को चले ॥ ३ ॥ धीरबुद्धि (राजा और रानी) मार्गमें चलते हुए (ऐसे) शोभित हो रहे हैं मानों ज्ञान और भक्ति ही शरीर धारण किये हुए (जा रहे) हैं ॥ ४ ॥ वे जाकर गोमती नदीके तटपर पहुँचे और निर्मल जलमें प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने स्नान किया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'बरबस' शब्द से पुत्र की पितृभक्ति दिखाई । और, 'नारि समेत' कहकर रानी का पातिव्रत्यधर्म दिखाया और सूचित किया कि वानप्रस्थ धर्म्म धारण किया है । यहाँ 'सुत' से जनाया कि राज्य ज्येष्ठ पुत्रको दिया । बड़ा ही पुत्र राज्याधिकारी होता है इसीसे उसके साथ प्रथम ही नृपपद दे आए हैं । यथा 'नृप उत्तानपाद सुत जासू' ।

नोट—१ पं० रामकुमारजी के मतानुसार उत्तानपादको राज्य हुआ क्योंकि वह बड़ा लड़का था कल्पान्तर भेदसे ऐसा हो सकता है ।

इस प्रसंगके विषयमें श्रीमद्भागवत आदिमें जो इतिहास मिलता है उससे ऐसा जान पड़ता है कि उत्तानपाद और फिर उनकी सन्तान राज्य भोग करते रहे । साथ ही यह भी इतिहास है कि मनु महाराजने प्रियव्रतको बरबस राज्य देकर वन-गमन किया । उत्तानपादके विषयमें बरबस राज्य दिया जाना नहीं पाया जाता । इन दो परस्पर विरोधी बातोंका मेल यों हो सकता है कि मनुको मन्वन्तर भोग करना होता है पर उनकी सन्तानको तो वह आयु मिलती नहीं पृथ्वीका राज्य उन्होंने उत्तानपादको दिया, उनके बाद ध्रुवजी आदि राजा हुए । प्रियव्रतजी तपस्या करते रहे । नारदजीसे ज्ञान पाकर वे निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होगए थे । मन्वन्तर समाप्त होने के पूर्व ही राजा उत्तानपादके वंशमें कोई न रह गया तब प्रियव्रतको जबरदस्ती राज्य दिया । मनुजीके कहनेपर भी उन्होंने राज्य करना स्वीकार न किया । तब ब्रह्माजीने आकर समझाया । यह कथा स्कं० ५ अ० १ में है ।

इस प्रकार कहीं विरोध नहीं रह जाता । अथवा, यही कह सकते हैं कि 'कल्प भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥ करिय न संसय अस जिय जानी" इस भावकी पुष्टि श्रीसन्तसिंह पंजाबीजी-की टीकासे होती है । और स्वामी श्री पं० रामवल्लभाशरणजीकी भी सम्मति इसमें पाई जाती है ।

२ "नैमिष' 'नैमिषारण्य' (नीमखार)—यह स्थान अवधके सीतापुर जिलेमें है । इसके सम्बन्ध में दो प्रकार की कथाएँ हैं । (१) वराहपुराण में लिखा है कि इस स्थानपर गौरमुख नामक मुनिने निमिष मात्रमें असुरोंकी बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी इसीसे इसका नाम नैमिषारण्य पड़ा । (२)देवीभागवतमें लिखा है कि ऋषि लोग जब कलिकालके भयसे बहुत घबराये तब ब्रह्मा ने उन्हें एक मनोमय चक्र देकर कहा कि तुम

* नृप—भा० दा०, १७२१, को० रा० । पुनि-छ० । तब-१६६१, १७०४, १७६२;

लोग इस चक्रके पीछे चलो, जहाँ इसकी नेमि (घेरा, चक्कर) विशीर्ण हो जाय उसे अत्यन्त पवित्र स्थान समझना। वहाँ रहनेसे तुम्हें कलिका कोई भय न रहेगा। कहते हैं कि सूतजी (सौति मुनि) ने इस स्थान पर ऋषियोंको एकत्र करके महाभारतकी कथा कही थी। (३) विष्णु पुराणमें लिखा है कि इस क्षेत्रमें गोमती में स्नान करनेसे सब पापों का क्षय होता है।

नोट—३ ऊपरके 'होइ न बिषय···' इस दोहेमें तीन बातें कही थीं। उन्हींको अब चरितार्थ करते हैं। 'होइ न विषय बिराग' अतएव 'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा'। 'भवन बसत भा चौथपन हृदय बहुत दुख लाग', अतएव राज्य त्यागकर 'गवन बन कीन्हा'। और, जो पूर्व कहा कि 'जनम गएउ हरिभगति बिनु' इसके संबंधमें आगे कहेंगे कि 'बासुदेव-पद-पंकरुह दंपति मन अति लाग'।

४ (क) "साधक सिधि दाता। बसहिं तहाँ मुनि सिद्धि···" इति।—साधक लोग सिद्धि पाकर सिद्ध हो जाते हैं और साधनरहित होकर वहाँ बसते हैं। विषयी, साधक और सिद्ध तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं, यथा—'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने। २।२७७।' इनमेंसे यहाँ केवल साधक और सिद्ध बसते हैं, विषयी नहीं; अतएव दोहीका बसना कहा। (ख) 'हिय हरषि'—मनका हर्षित होना कार्य्य-सिद्धिका शकुन है, यथा 'होइहि काज मन हरष बिसेषी', 'हरषि चले मुनि भय हरन'।

५—नैमिषारण्य ही क्यों गए अन्यत्र क्यों नहीं? इसके विषयमें बाबा सरयूदासजी लिखते हैं कि "तपके लिए सत्ययुगमें नैमिषारण्य, त्रेतायुगमें पुष्कर, द्वापरमें कुरुक्षेत्र और कलियुगमें गंगातट विशेषरूसे शीघ्र फलदायक कहे गए हैं, यथा कूर्मपुराणे—"कृते तु नैमिषं तीर्थं त्रेतायां पुष्करं वरम्। द्वापरे तु कुरुक्षेत्रं कलौ गङ्गा विशिष्यते" (बाबा सरयूदासकी गुटकासे)।

टिप्पणी—२ 'पंथ जात सोहहिं···ज्ञान भगति···' इति।—पृथ्वीभरका राज्य छोड़ पैदल, नंगे पैर पंथमें चलना, भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शोभा है। ज्ञानी वैरागी भक्त कहलाकर सवारी विशेष संग लेना शोभा नहीं है। [(ख) धीर = जिनके मनमें कामक्रोधादिके वेगसे उद्वेग न हो। यथा 'वेगेनावध्य-मानेत्वममिते कामक्रोधयोः। गदिते धीमतां धैर्यंबले भूपसि तेजसि।' (भ० गु० द०। वै०)। धीर मति = स्थिर बुद्धि वाले। (ग) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि दंपति भगवान्‌की प्राप्तिके लिए जा रहे हैं। भक्ति और ज्ञान भी भगवत्-प्राप्ति करते हैं, अतएव दंपति राहमें जाते ऐसे जान पड़ते हैं मानों भक्ति और ज्ञान ही प्रभुसे मिलने जा रहे हैं। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। (घ) 'हरषि नहाने निर्मल नीरा' इति।—उत्साहपूर्वक स्नान करनेका माहात्म्य बहुत है; उत्साह भंग होनेसे धन धर्म्म नष्ट होता है। 'निर्मल नीरा' से जनाया कि वर्षा ऋतु नहीं है। ३६. ६, ४४. ४, ४४. ८ देखिए। तीर्थमें जाय तो प्रथम उसका माहात्म्य सुने। माहात्म्य सुननेसे स्नानमें उत्साह होता है और तब हर्षपूर्वक स्नान किया जाता है। उसी नियमसे यहाँ स्नान जनाया। यथा 'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। २१२.२-३।', 'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाए सरित बर सिय समेत दोउ भाइ। २.१३२।' 'कहि सिय लषनहिं सखहिं सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥ करि प्रनाम···।···मुदित नहाइ···। २.१०६।', 'देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरिलोक निसेनी॥···पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह। ६. ११६।' इत्यादि]

आए मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥ ६॥
जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए। मुनिन्ह सकल सादर करवाए॥ ७॥

कृस सरीर मुनिपट परिधाना । सतां समाज नित सुनहिं पुराना ॥ ८ ॥
दोहा—द्वादश अच्छर मंत्र पुनि‡ जपहिं सहित अनुराग ।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग ॥ १४३ ॥

शब्दार्थ—नृपरिषि = राजर्षि । परिधान (सं०)=नीचे पहननेका वस्त्र ।=पहननेका वस्त्र ।= कपड़ा पहनना ।

अर्थ—धर्मधुरंधर राजर्षि जानकर सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने आए ॥ ६ ॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, वे सब मुनियोंने उनको आदरपूर्वक करा दिए ॥ ७ ॥ शरीर दुबला है, मुनिवस्त्र (वल्कल कोपीन आदि) उनके पहननेके वस्त्र थे । वे संतसमाजमें नित्यप्रति पुराण सुना करते थे ॥८॥ और प्रेमपूर्वक द्वादशाक्षर मंत्र जपते थे। "वासुदेव" भगवान्‌के चरणकमलोंमें राजा-रानीका मन बहुत ही लग गया ॥१४३॥

नोट—१ 'आए मिलन सिद्ध मुनि०' इति । राजाके पास मुनिगण आए। इसका कारण यह है कि मनुमहाराज बड़े ही धर्मधुरंधर राजा हुए । मुनिगण जहाँ वैराग्य और अनुराग अत्यंत पाते हैं वहाँ उनका आदर करते हैं । राज्य छोड़ वानप्रस्थ ले लिया है, अतएव अब राजर्षि हैं —(श्रीरूपकलाजी)। पुनः ये तो मानों ज्ञान भक्तिकी मूर्ति ही हैं अतएव मुनिगण मानों अपने उपास्यके स्वरूपसे मिलने आए ।

बाबा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि "सिद्ध लोग इससे मिलने आए कि जिन विषयोंके हेतु हमने नाना परिश्रम करके सिद्धि प्राप्त की है वही सब छोड़कर राजा तप करने आए हैं अतएव हमसे श्रेष्ठ हैं। मुनि मननशील वैरागी इससे मिलने आए कि जैसे हमको संसारी पदार्थोंसे घृणा है वैसे ही राजाको भी है, अतएव हमारे बराबर हैं। और ज्ञानी इससे मिलने आए कि राजाको वैराग्य हुआ है, वह तत्त्वज्ञानका जिज्ञासु है, उसे उपदेश देना होगा । दूसरे इनका धर्मात्माओंसे स्वाभाविक स्नेह होता है और राजा धर्मधुरंधर है।" इससे जनाया कि मुनि सिद्ध ज्ञानीके समाजमें धर्म, भक्ति और ज्ञानका आदर है, ऐश्वर्यका नहीं ।

२—'मुनिन्ह सकल सादर करवाये' इति । नैमिषारण्यक्षेत्रके मध्यमें अनेक तीर्थ हैं जैसे कि मिश्रिख, पंचप्रयाग, चक्रतीर्थ इत्यादि । ये ही सकल तीर्थसे अभिप्रेत हैं । 'सादर' का भाव कि प्रत्येक तीर्थका नाम माहात्म्य, दर्शन और सेवन-विधि, इत्यादि बता-बताकर विधिपूर्वक दान-मानसहित तीर्थ करवा देते थे जिससे दंपतिको यथार्थ फलकी प्राप्ति हो ।

टिप्पणी—१ (क) राजारानी किस प्रकार रहते थे, उनकी नित्य चर्य्या क्या थी यह यहाँ बताया है, तीर्थवास, फल फूल भोजन, वल्कल वस्त्र । इससे शरीर दुबला हो गया है; कुछ काल तीर्थदर्शन ही करते रहे; पुनः संत-समाजमें पुराणादि सुनते रहे; पुनः, रात दिन अनुराग सहित मंत्र जपने लगे । (ख) 'सहित अनुराग' इति ।—अनुरागसे कार्य सिद्ध होता है, यथा 'रामनाम जपु जिय सदा सानुराग रे" (विनय) 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किए जोग तप ज्ञान बिरागा । ७ ६२.१ ।' (ग) 'द्वादश अच्छर मंत्र ··· । बासुदेवपद····' इति—'वासुदेवपद' देकर द्वादश-अक्षर मंत्रकी व्याप्ति मिटाई अर्थात् और मंत्र नहीं, वासुदेव-मंत्र ही जपा । मूर्त्तिके ध्यानसहित अनुराग-पूर्वक मंत्र जपनेसे इष्टका शीघ्र साक्षात्कार होता है—यह विधि है । यहाँ वासुदेव, सच्चिदानंद, ब्रह्म, हरि, ये सब श्रीराम ही हैं क्योंकि श्रीरामही अन्तमें प्रगट हुए । यथा 'ब्रह्म, सच्चिदानंदघन रघुनायक जहं भूप', 'रामाख्यमीशं हरिम्', 'यदक्षरं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ।' (अ० रा० ७.८.६८) । (घ) 'सतसमाज नित सुनहिं पुराना' कहकर 'द्वादश····' कहनेसे पाया गया कि सत्संग और हरिकथाश्रवणसे हरिभक्ति होती है ।

† 'संतसमाज १७६२ । 'संत सभा' । (पं०) ‡ मंत्र बर । (वै०) ।

* द्वादश अक्षर मंत्र *

श्री पं० रामवल्लभाशरणजीका मत है कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यही द्वादशाक्षर वासुदेव मंत्र है, श्रीनारदजीने यही मंत्र ध्रुवजीको बताया था, यथा "जपश्च परमो गुह्यः श्रूयतां मे नृपात्मज । यं सप्तरात्रं प्रपठन्पुमान्पश्यति खेचरान् ॥ ५३ । 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय ।' मंत्रेणानेन देवस्य कुर्याद्द्रव्यमयीं बुधः । सपर्यां विविधैर्द्रव्यैर्देशकालविभागवित् ॥ भा० स्कं० अ० ८ ॥" अर्थात् 'हे राजपुत्र ! इसके साथ साथ जिस परम गुह्य मंत्रका जप करना आवश्यक है यह भी बतलाता हूँ । इसका सात रात्रि जप करनेसे मनुष्यको सिद्धोंका दर्शन होता है । वह मंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' है । देशकालके विभागको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि इस मंत्र द्वारा भगवान्की नाना सामग्रियोंसे पूजा करें । (भा०) । वासुदेव मंत्र पर-वासुदेव और चतुर्व्यूह-गत वासुदेव दोनोंका वाचक है । ध्रुवजीको राज्यकी कामना थी । अतएव उनको चतुर्भुजरूपका ध्यान नारदजीने बताया था । जिस मूर्त्तिका ध्यान किया जाता है वही स्वरूप प्रगट होता है । नारद पंचरात्रमें पर-वासुदेवकी मूर्त्तिका ध्यान यह लिखा है ।—"मरीचिमण्डलं संस्थं बाणाद्यायुधभूषितम् । द्विहस्तमेकवक्त्रञ्च रूपमाद्यमिदं हरेः ॥" अर्थात् तेजके मण्डलमें स्थित, बाण आदि आयुधसे युक्त द्विभुज, एक मुख—हरि भगवान्का यही आदि रूप है ।

मनुशतरूपाजीने वासुदेवमंत्रका जप किया और परवासुदेवका ध्यान किया—परन्तु निष्काम होकर; अतएव उनको परात्पर परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन हुआ ।

कुछ लोगोंका कहना है कि 'श्रीसीतारामजी मनुशतरूपाजीके सामने प्रकट हुए हैं इससे यहाँ श्रीराम सीताजीका ही मंत्र अभिप्रेत है । श्रीराम षडक्षर मंत्र तथा श्रीसीताषडक्षरमंत्र दोनों मिलकर द्वादशाक्षर मंत्र हुआ ।' इन दोनों मंत्रोंका जप वैष्णवोंमें एक साथ किया जाता है । परंतु दोहेमें मंत्रका विशेषण 'द्वादश अक्षर' है जिससे जान पड़ता है कि मंत्र एक ही है, दो नहीं और वह मंत्र बारह अक्षरका है । वासुदेव मंत्रसे श्रीसीतारामजीका प्रकट होना वैसे ही है जैसे रामनामके जपसे प्रह्लादके लिये "नृसिंह' का । सत्योपाख्यानमें श्रीसीतारामजीका ध्यान करते हुए द्वादशाक्षरमंत्रके जपका माहात्म्य भी बताया गया है । यथा "ध्यायन्ननन्यभावेन द्वादशाक्षरमन्वहम् । पूजयेद्विधितो नित्यं श्रीरामं न्यासपूर्वकम् ॥" (पू० अ० ३२।२३) । फिर सुतीक्ष्णजीके पूछनेपर अगस्त्यजीने बताया है कि "प्रणवं पूर्वमुच्चार्य नमः शब्दं ततो वदेत् । भगवत्पदमाभाष्य वासुदेवाय इत्यपि । ४१ । ततः सर्वात्मसंयोग योगपीठात्मनेनमः । इति मंत्रेण तन्मध्ये कुर्यात्पुष्पाञ्जलिं पुनः । ४२ ।" इत्यादि । इससे स्पष्ट है कि योगपीठात्मक यही मंत्र श्रीरामजीका है । अतः वासुदेवमंत्रसे श्रीसीतारामजी प्रकट हुए इसमें संदेह नहीं । (मा० त० वि०) ।

पुनः, वासुदेवका अर्थ है—"जो सब विश्वमें बसा हुआ है और जिसमें सब विश्वका निवास है । महारामायणे यथा "सर्वे वसन्ति वै यस्मिन् सर्वेऽस्मिन् वसते च यः । तमाहुर्वासुदेवं च योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥" (५२। ८६); तब इससे श्रीरामजी क्यों न प्रकट होते ! पुनः, यथा 'बिस्व बास प्रगटे भगवाना' ।

वि० त्रि० लिखते हैं कि "पुराणोंमें वासुदेव शब्दका अति उदार अर्थ पाया जाता है । प्रभु समस्त भूतोंमें व्याप्त हैं और समस्त भूत भी उन्हींमें रहते हैं, तथा वे ही संसारके रचयिता और रक्षक हैं, इसलिये वे वासुदेव कहलाते हैं । यथा 'भूतेषु वसते सोऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत् । धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः । वि० पु० अंश ६ अ० ५ । श्लो० ८२ ।''' स्वायम्भू मनुकी तपस्याकी कथा कालिकापुराणमें मिलती है, उसमें भी वासुदेवके जपका ही उल्लेख है । यथा 'ॐ नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे । इति जप्यं प्रजप्तो मनोः स्वायम्भुवस्य च । प्रससाद जगन्नाथः केशवो नचिरादथ ।' अर्थात् 'ओं नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे' इसे जपते हुए स्वायंभू मनुपर जगन्नाथ केशवने शीघ्र ही कृपा की । यहाँ 'शुद्धज्ञानस्वरूपिणे' पद 'भगवते' का अनुवाद है ।"

श्रीकरुणासिंधुजी भी लिखते हैं कि "वासुदेव, पर पुरुष, ब्रह्म, व्यापक आदि जिसको कहते हैं वह

रामचन्द्रजी ही हैं। प्रमाण सनत्कुमार संहितायाम्, यथा 'नमोस्तु वासुदेवाय ज्योतिषांपतये नमः। नमोस्तु राम देवाय जगदानन्दरूपिणे ॥ कौसल्यानन्दनं रामं धनुर्बाणधरं हरिम् ॥' रा० प्र० कार लिखते हैं कि द्वादश अक्षर मंत्र राममंत्रका अंगभूत है, उसीको जपते हैं।

पं० शिवलालपाठकजीका मत यहाँ भिन्न है। पाठकजी कहते हैं कि 'वासुदेव' शब्द यहाँ लक्षणा है। अर्थात् मुख्य अर्थका बाध करके और अर्थ प्रगट करता है और आगे चरण कमल (पदपंकरुह) लिखा है। पुनः, वासुदेव श्रीरामचन्द्रजीके प्रकाशको कहते हैं, यथा 'वासुदेवो घनीभूतस्तनु तेजो महाशिवः'। अतएव वासुदेवसे श्रीरामचन्द्रजी सूचित होते हैं, उनके पदका मुनि ध्यान करते हैं और षडक्षर मंत्र दोनों जपते हैं। अतएव १२ अक्षर मूलमें कहा है, यह अथर्वण वेदमें लिखा है, ।—(मानस मयङ्क)। श्रीकरुणासिंधुजीने यह भाव भी दिया है।

नोट—३ 'वासुदेव' पद देनेका कारण यह भी हो सकता है कि श्रीमनुमहाराजने कोई विशेष रूप मनमें नहीं निश्चित किया है। जो निर्गुण, सगुण, शिव-भुशुण्डि-मन-मानस-हंस, इत्यादि है उसके दर्शनकी अभिलाषा, उसीके गुणोंका ध्यान, चित्तमें है। अतएव ऐसा शब्द यहाँ दिया गया कि जो द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत और उपासकों सभीके अनुकूल है, सभीके मतोंका प्रबोधक है, प्रभुका अवतार गुप्त है; अतएव गुप्त रीतिसे लिखा है।

श्रीरामजीके मंत्रोंके संबंधमें खोज करनेसे हमें वे० भूषणजीसे मालूम हुआ कि आनन्दरामायणके मनोहरकाण्ड सर्ग १५ में एकाक्षरीसे लेकर पंचाशताक्षरी तकके अनेकों राममंत्रोंका उल्लेख है। उनमें एक द्वादशाक्षर मंत्र भी है। यह एक ही है और उसमें विशेषता यह है कि इस मंत्रके जपका माहात्म्य भी उसमें साथ ही साथ पूरे एक श्लोकमें दिया हुआ है जो बात अन्य मंत्रोंके साथ प्राप्त नहीं है। वह मंत्र और उसका माहात्म्य इस प्रकार है—"श्रीसीतारामं वन्दे श्रीराजारामम् ।" "द्वादशाक्षर मंत्रोऽयं कीर्तनीयो सदा जनैः। वीणावाद्यादिनः पुण्यः सर्ववाञ्छितदायकः। १२६।" अतः मेरी समझमें यदि श्रीसीताराम नामात्मक मंत्र ही लेना हो तो उपर्युक्त द्वादशाक्षरी मंत्र ले सकते हैं। इसमें श्रीसीता और श्रीराम दोनों नाम भी हैं और यह मंत्र भी है।

यह खोज इस लिये की गई कि हारीत संहितामें श्रीमनुजीका श्रीराममंत्र जपना कहा गया है, यथा "श्रीरामाय नमो ह्येतत्तारकं ब्रह्म संज्ञितम्। इममेव जपन्मंत्रं रुद्रस्त्रिपुरदाहकः। कार्तिकेयोमनुश्चैव देवता त्वं प्रपेदिरे। बालखिल्यादि मुनयो जप्त्वा मुक्ताः भवांबुधेः ॥"

श्रीरामरहस्योपनिषदमें अनेक राममंत्र दिये हैं। उनमेंसे एक द्वादशाक्षरमन्त्र यह है—

"शेषं षडर्णवज्ज्ञेयं न्यासध्यानादिकं बुधैः। द्वादशाक्षरमन्त्रस्य श्रीरामऋषिरुच्यते ॥५१। जगती छन्द इत्युक्तं श्रीरामो देवता मता। प्रणवो बीजमित्युक्तः क्लीं शक्तिर्ह्रींच कीलकम्। ५२। मन्त्रेणाङ्गानि विन्यस्य शिष्टं पूर्ववदाचरेत्। तारं मायां समुच्चार्य भरताग्रज इत्यपि। ५३। रामं क्लीं वह्निजायान्तं मन्त्रोयं द्वादशाक्षरः। ॐ ह्रद्भगवते रामचन्द्रभद्रौ च ङेयुतौ ॥ ५४ ॥" (द्वितीय अध्याय)।

संत श्रीगुरुसहायलालजी एक भाव यह भी लिखते हैं कि "यह जपरीति वानप्रस्थोंकी है। योगियोंकी रीति है कि प्रथम द्वादशाक्षर जप लेते हैं तब प्रणव वा अजपा जप वा क्रिया इत्यादि करते हैं। इसीसे यहाँ द्वादशाक्षरका जप करके तब "हरि हेतु करन तप लागे।" (मा० त० वि०)।

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा ॥१॥
पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार† मूल फल त्यागे ॥२॥

† अहार-पं० रा० व श०

उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई ॥३॥
अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥४॥

शब्दार्थ—साक, फल, कंद—७४ (४) देखिये। सच्चिदानंद=सत् (जो किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ हो, जिसका विनाश न हो) चित् (सर्वप्रकाशक) आनंद (सुखस्वरूप)।

अर्थ—वे शाक (साग), फल, कंद (मूल) खाते और सच्चिदानंद ब्रह्मका स्मरण करते थे ॥ १ ॥ फिर वे हरिके लिये तप करने लगे। मूल-फलको छोड़कर जल हीका आधार (सहारा) लिया ॥ २ ॥ उनके हृदयमें निरन्तर यही लालसा हुआ करती कि उसी परम प्रभुको देखें, जो निर्गुण, अखण्ड (अविच्छिन्न, संपूर्ण, जिसके खण्ड न हो सकें), आदि और अंत (अर्थात् जन्म-मरण) रहित है, जिसका चिन्तन परमार्थवादी (ब्रह्मवादी, तत्ववेत्ता) करते हैं ॥ ३, ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'करहिं अहार साक फल कंदा' इति। यहाँ शाक, फल, कंदके आहारका क्रम पार्वतीजीके तपक्रमसे उलटा है, शेष सब क्रम वही है। पार्वतीजीने प्रथम कंद खाए तब फल फिर शाक और उसके बाद क्रमसे जलपर फिर पवनपर ही रहीं, तदनन्तर उपवास किए, यथा 'संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गँवाए॥ कछु दिन भोजनु बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा। ७४ (४-५)।' मनुजीके तपमें व्यतिक्रम कहकर जनाया कि शाक, फल, कंद यह सब आहार है। सब आहारको एक कोटिमें रक्खा। तात्पर्य यह कि शाक, फल और कंद इनमें कोई नियम नहीं लिया कि शाक ही खायेंगे, या कंद ही खायेंगे अथवा फल ही खायेंगे। इनमेंसे जो मिल गया वही खा लिया। अर्थात् कभी कंद खाये, कभी शाक और कभी फल ही खाकर रह जाते थे।* पार्वतीजीकी तरह राजाने भी वस्त्र छोड़ दिये, वल्कलवस्त्र पहनते हैं, यथा "कृस सरीर मुनिपट परिधाना', अन्न भी छोड़ दिया, शाक फल कंद खाते हैं। (ख) 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा'। भाव कि "केवल शरीरकी 'कष्टा' ही नहीं करते (अर्थात् केवल शारीरिक कष्ट ही नहीं उठाते) किन्तु सच्चिदानंद ब्रह्मका स्मरण भी करते हैं। सच्चिदानंदके रूप नहीं है इसीसे उनका सुमिरना लिखा और वासुदेवके रूप है इसीसे दोहेमें वासुदेवपदपंकरुहमें प्रीति करना लिखा। सच्चिदानंदब्रह्म ही वासुदेव हुये हैं। यथा 'राम सच्चिदानंद दिनेसा। ११६.५।', 'बिस्वबास प्रगटे भगवाना। १४६।८।', 'जगनिवास प्रभु प्रगटे'''। १९१।' (दोहेमें जो वासुदेवपदपंकरुह कहा था उसके 'वासुदेव' का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि 'ब्रह्म सच्चिदानन्द' है। श्रीराम ही ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं; यथा 'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप। ७।४७।', 'जय सच्चिदानंद जग पावन। ५०।३।')।

२—'पुनि हरि हेतु करन तप लागे।०' इति। (क) प्रथम शाक फल कंद आहार था। अब उनको त्यागकर जलका आधार लिया। इसीसे यहाँ 'पुनि' पद दिया अर्थात् एक कोटिसे दूसरी कोटिमें गए। इसी तरह जब जल छोड़कर पवनका आधार लिया तब फिर 'पुनि' पद दिया है,—'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार।' (ख) 'हरि हेतु तप करने लगे', इस कथनका आशय यह है कि पहले मनमें कोई चाह न थी। "वार्धके मुनिवृत्तीनां" इस न्यायानुसार धर्मपालनार्थ तप और भगवत् स्मरण करते थे, अब हरिकी प्राप्ति चाहते हैं। वासुदेव, सच्चिदानंद और हरि एक ही हैं यह जनाया। [दोहा १४३ टि० १ (ग) देखिए] (ग) ☞यहाँसे तप करना कहते हैं, इसीसे यहाँ 'तप' पद दिया और तपका प्रमाण लिखा कि छः हजार वर्ष जल पीकर रहे, सात हजार वर्ष पवन पीकर रहे और दस हजार वर्ष कठिन उपवास किये।

* प्र० सं० में हमने लिखा था कि "पहले कंद मूल फल तब शाक चाहिए। यहाँ क्रमभंग क्यों किया? क्रमभंगसे जनाया कि कोई नियम नहीं, जो कुछ मिल गया वही खा लिया।'

शाक, फल और कंदकी संख्या न की। पार्वतीजीके तपमें शाक फल और कंदकी गिनती की थी—'संबत सहस मूल फल खाए॰' (७४।४ देखिए)। इस भेदमें तात्पर्य्य यह है कि पार्वतीजीकी 'लघु अवस्था' है, वे अत्यन्त सुकुमारी हैं—'अति सुकुमारि न तन तप जोगू। ७४।२।' उनका शरीर तपके योग्य न था अतएव उनका (आहारयुक्त भी) इतना तप भारी तप है, बहुत है। इसीसे उनके तपमें शाक, फल और कंद आहारकी संख्या दी है, और 'कठिन व्रत' की गिनती नहीं की (अर्थात् इसमें संख्या नहीं दी कि कितने समय तक जल और पवनपर रहीं। शाकादि आहारकी संख्या दी)। उन्होंने कठिनव्रत बहुत कम दिन किए—'कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपवासा। ७४।५।' थोड़े ही दिनका कठिन तप अवस्थाके विचारसे बहुत भारी और दीर्घ कठिन तपके समान समझा गया। (जैसे ध्रुवका, जिन्होंने केवल ५ ही मासमें त्रैलोक्यको डिगा दिया था)। और, मनुजीने सुलभ सामान्य एवं सुगम व्रत कम दिन किए इसीसे उनके तपमें 'सुलभ तप' की गिनती नहीं है, कठिनव्रत बहुत दिन किए इसीसे कठिन व्रतकी गिनती की गई। कारण कि मनुजी बड़े पुरुषार्थी हैं। [जन्म होते ही ये ब्रह्माकी आज्ञासे पूर्व भी प्रजापतित्वशक्ति संपादनार्थ तप कर चुके थे।] दोनोंके तपोंका मिलान—

पार्वतीजी	मनुशतरूपाजी
१ संबत सहस मूल फल खाये। सागु खाइ सत बरष गँवाये॥ बेल पाती महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥	१ एहि बिधि बीते बरष षट, सहस बारि आहार। संबत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर अधार॥ बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ।
यहाँ बारि, पवन आदिकी संख्या नहीं। ७४ (५-७)	यहाँ कंद मूल आदिकी संख्या नहीं। १४४ (१)

नोट—१ श्रीवैजनाथजी तथा महाराज हरिहर प्रसादजी लिखते हैं कि—"सत्संग प्रथम भक्ति है उसको किया तो कथा-श्रवण दूसरी भक्ति प्राप्त हुई, इससे निश्चय हुआ कि हमारा क्या कर्त्तव्य है, किसकी भक्ति करनी चाहिए, क्या मंत्र जपना चाहिए। आत्मदृष्टिकी शुद्धिके लिए प्रथम वासुदेव मंत्रका जप किया। उससे अन्तःकरण शुद्ध हुआ तब व्यापक अन्तर्यामी ब्रह्मका स्मरण करने लगे। इससे हृदय अत्यन्त शुद्ध हुआ तब हरि (रामाख्यमीशं हरिं) के लिए तप करने लगे।" (श्रीरामजी ही हरि, ब्रह्म, सच्चिदानन्द और वासुदेव हैं यह पूर्व दिखाया जा चुका है)।

२—वैजनाथजी कहते हैं कि सच्चिदानंदके स्मरणसे पाँच हजार वर्षमें पाँचों तत्व, स्थूल शरीर जाग्रत् अवस्था जीत लिये गए और सज्जनता समता छठी और सातवीं भक्ति प्राप्त हुई। अब सूक्ष्म रूपका आधार है; इसीसे फलादिको छोड़कर जल आहार हुआ। फिर हरि श्रीरामजीके हेतु तप करने लगे। नाम स्मरणरूपमें मन लगा, संतोष किया। यह आठवीं भक्ति हुई। इससे लिंग शरीर स्वप्नावस्था जीते गए। तब सरल स्वभावसे परम प्रभुके लिये निरन्तर अभिलाषा हुई।

३ 'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई' इति। (क) 'सोई' अर्थात् जिसको सुमिरते हैं 'उस ब्रह्म सच्चिदानन्द परम प्रभुको आँखों देखें'। उस परम प्रभुके उस ब्रह्म सच्चिदानन्दके लक्षण आगे कहते हैं—'अगुन अखंड॰' इत्यादि। (ख) परम प्रभु=जो 'अशेष कारण परं रामाख्यं ईशं हरिं' है, जो सब प्रभुओंका प्रभु है, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।', 'सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनू। बिधिहरिहर बंदित पदरेनू।', इत्यादि। (ग) 'उर अभिलाष निरंतर होई' का भाव कि ब्रह्मका आँखोंसे देखना असम्भव है। (उसका मुनियोंको ध्यानमें अनुभव मात्र होता है)। असम्भवमें

'अभिलाषा नहीं होती; (यह साधारणतया देखा ही जाता है कि जो बात असम्भव है उसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, जो सम्भव है उसीकी अभिलाषा और प्रयत्न भी करते हैं), पर मनुजीके हृदयमें "निरन्तर इस असम्भव बातकी (ब्रह्मको नेत्रोंसे देखनेकी) अभिलाषा बढ़ती ही जाती है, इसका कारण आगे कहते हैं कि 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगत हेतु लीला तनु गहई ।। जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा । तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ।' (घ) 'निरंतर होई' अर्थात् दृढ़ विश्वास है कि पूरी होगी । ['अभिलाष की परिभाषा यह है—"नयन बैन मन मिलि रहै चाहै मिल्यो शरीर । कहि केशव अभिलाष यह बरनत है मति धीर ।" (वै०)]

४—'अगुन अखंड अनंत अनादी ।०' इति । (क) त्रिगुणातीत, पूर्ण और आदि-अंत-रहित । ये सब निर्गुण (अव्यक्त) ब्रह्मके विशेषण हैं ☞ जहाँ सगुण ब्रह्ममें भ्रम होता है वहाँ ये ही विशेषण देकर भ्रम दूर करते हैं, यथा 'गुनातीत सचराचर स्वामी । राम उमा सब अंतर जामी । कामिन्ह कै दीनता देखाई । धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई । ३।३६ ।', 'उमा एक अखंड रघुराई । नरगति भगत कृपाल देखाई । ६।६० ।', 'राम अनंत अनंत गुन…। १।३३ ।', 'राम अनंत अनंत गुनानी । ७.५२ ।', 'आदि अंत कोउ जासु न पावा । ११८।४ ।', 'पूरन काम राम सुखरासी । मनुज चरित कर अज अबिनासी ।३।३०।', 'जो आनंद सिंधु सुखरासी ।…१९७।५ ।', 'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै । ७।९२ ।' तथा 'निगम नेति सिव ध्यान न पावा । मायामृग पाछे सो धावा । ३।२७ ।', इत्यादि । [(ख) 'अखंड'=अंशकला आदि भेद रहित स्वयं परब्रह्मरूप । अनन्त = वेदादि जिसका अंत नहीं पाते कि उसमें शक्ति, बल, तेज, प्रताप, गुण कितने हैं । (वै०) । जो रूप भगवान्‌ने माता कौसल्याको दिखाया है उसे वक्ताओंने अखण्ड रूप कहा है । यथा 'देखरावा मातहि निज अद्भुतरूप अखंड । रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड । २०१ ।…'] (ग) 'जेहि चिंतहिं परमारथ बादी' इति । अर्थात् जिसको ब्रह्मवेत्ता भी नहीं समझ सकते, वेद भी नहीं कह सकते जैसा आगे कहते हैं । परमार्थवादी शिवजी आदि 'अगुण अखण्ड' आदिका चिंतन करते हैं, वेद उस स्वरूपका निरूपण 'नेति नेति' कहकर करते हैं । [प्रकृतिपार होनेसे अगुण, निरवयव होनेसे अखण्ड, नाशरहित होनेसे अनन्त और अज होनेसे अनादि है । (वि० त्रि०)]

नेति नेति जेहि बेद निरूपा । निजानंद[1] निरुपाधि अनूपा ।।५।।
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस तें नाना ।।६।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई । भगतहेतु लीला तनु गहई ।।७।।
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा । तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ।।८।।
दोहा—एहि बिधि बीते बरष षट-सहस बारि आहार ।
संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार ।।१४४।।

व्याकरण—ऐसेउ=ऐसे भी । सोऊ = सोभी । तेऊ, इत्यादि ।

अर्थ—जिसको वेद नेति नेति (इति नहीं है, इति नहीं है) कहकर निरूपण करते हैं । जो स्वयं

---

१ चिदानंद—१७०४, (परंतु रा० प० में 'निजानंद' है), वै० । निजानंद—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा० । सं० १६६१ वाली पोथीमें मूलमें 'निजानंद' पाठ है और हाशियेपर 'चिदा' बना है । निजानंदपर हरताल नहीं है । लेख प्राचीन ही दोनों जान पड़ते हैं । शिवजीका पूर्व वाक्य है कि 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदा-नंदा', उसके अनुसार यहाँ मनुजीकी अभिलाषा में 'चिदानंद' पाठ ही समीचीन मालूम होता है । निजा-नंदका भाव कि स्वयं आनंदस्वरूप है । और उससे सब आनंदरूप होते हैं ।

आनंदरूप, उपाधि और उपमा रहित है ॥ ५ ॥ जिसके अंशसे अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णुभगवान् उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥ ऐसे प्रभु (समर्थ) भी सेवकके वश हैं। भक्तोंके लिये लीला-तन ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥ यदि वेद यह वचन सत्य ही कहते हैं तो हमारी अभिलाषा (अवश्य) पूरी होगी ॥८॥ इस प्रकार जलका आहार (भोजन) करते छः हजार वर्ष बीत गए। फिर हजार वर्ष वायुके सहारे अर्थात् वायु पीकर रहे ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा' अर्थात् जो वेदके निरूपणमें नहीं आता। (ख) 'निजानंद निरुपाधि अनूपा' अर्थात् आप आनंदरूप हैं, मायाकी उपाधिसे रहित हैं और उपमा-रहित हैं (ग) ☞ प्रमाण चार हैं—शब्द, अनुमान, उपमान और प्रत्यक्ष। यहाँ दिखाते हैं कि वह ब्रह्म शब्द, अनुमान और उपमान इन तीनोंसे पृथक् है। 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा' यह शब्द प्रमाण है, 'जेहि चिंतहिं परमारथबादी' यह अनुमान-प्रमाण है और 'अनूपा' यह उपमान है। आगे 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई' यह प्रत्यक्ष प्रमाण कहेंगे। (ग) [प्र० सं० में इस प्रकार था—"न्यायके अनुसार प्रमाणके चार भेद हैं। जिससे पदार्थका ज्ञान होता है।···यहाँ इन चारोंको कहा है। परमार्थवादी अगुण आदि अनुमान करते हैं। (चिंतहिं' अनुमान है), 'निरूपा', यह उपमान है। वेद शब्द है। ('नेति नेति' यह शब्द है) उसमें नहीं आता। और 'लीला तनु गहई' यह प्रत्यक्ष है]

वि० त्रि०—'नेति नेति···' इति। भाव कि वेद कहता है कि स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है। दोनों अवस्थाओंके निषेधसे कोई अभावात्मक न समझ ले, इस लिये निजानंद अर्थात् स्वरूपानन्दरूप कहा। उसे निजानन्द इस लिये कहते हैं कि उसमें अहंकार नहीं है। जितना जितना अभ्यास योगसे अहंकारकी विस्मृति होती है, उतना ही सूक्ष्मदृष्टिसे निजानन्दका अनुमान होता है। यथा 'यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगत:। तावत्तावत् सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते।' जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा ये चार प्रकारकी उपाधियाँ हैं। उसमें ये चारों न होनेसे 'निरुपाधि' कहा। अनूप है, अर्थात् उसके सदृश कुछ भी नहीं है।

टिप्पणी—२ 'संभु बिरंचि बिष्नुभगवाना।' यह ब्रह्मका ऐश्वर्य्य कहा। शंभु बिरंचि बिष्णु भगवान् हैं अर्थात् ये बड़े ऐश्वर्य्यमान हैं। ऐसे ऐश्वर्य्यमान त्रिदेव उनके अंशसे उत्पन्न हैं। ब्रह्मांड भी करोड़ों हैं, जितने ब्रह्माण्ड हैं उतने ही शंभु, बिरंचि और विष्णु हैं। प्रत्येकमें त्रिदेव हैं। इसीसे 'नाना'-पद दिया। यथा 'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता ॥ ७८१।', 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै। १।१९२।' [बैजनाथजी 'नाना' का भाव 'अनेक भाँतिके' लिखते हैं। अर्थात् पंचमुखसे लेकर अनंत मुखके शंभु, चतुर्मुखसे लेकर अनेक मुख तकके ब्रह्मा, और चतुर्भुजसे लेकर अनेक भुजाओं और अनेक मुखोंके विष्णु। साकेत-विहारीके अवतारमें लंका जीतनेपर देवताओंको अभिमान हुआ उसको भंग करनेके लिये यही प्रभाव श्रीरघुनाथजीने दिखाया था। सिद्धान्ततत्त्वदीपिका इसका प्रमाण है। (वै०) । मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नजी श्रीरामजीके अंश हैं, इन्हींसे नाना त्रिदेव उत्पन्न होते हैं। प्रभुने श्रीभरतादिको अपना अंश कहा ही है।—विशेष 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। १८७।२।' में देखिए।

वि० त्रि० का मत है कि "यहाँ 'अंश' से 'अंशइव अंश' ग्रहण करना होगा, क्योंकि ऊपर उसे अखंड अर्थात् निरंश कह आए हैं। जैसे प्रतिबिंब बिंबका अंशइव अंश' है। इसी तरह त्रिदेव उसके प्रतिबिंबसे उत्पन्न होते हैं।"

टिप्पणी—३ 'ऐसेउ प्रभु सेवक···' अर्थात् इतने बड़े ऐश्वर्यमान स्वामी भी। 'लीला तनु गहई' का भाव कि शरीर धारण करना प्रभुकी लीला है, अपनी इच्छासे भगवान् रूप बनाकर प्रकट हो जाते हैं, यथा 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे ॥ १५२।१।' (ख) ☞ ब्रह्मके अनेक विशेषण हैं। इसीसे अनेक जगह (कुछ कुछ) कहकर अनेक विशेषणोंको दिखाया है। भक्तहेतु अवतार होना, लीला करना

और दर्शन देना कहा है। यथा 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। १३.३.५।' (२) 'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥ ५१।', (३) 'बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥ आनन रहित सकल रसभोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥ तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहि बरनी॥ जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान। ११८।' (४) 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ ११६।२।', (५) 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेमभगति बस कौसल्याकें गोद। १६८।', (६) 'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप। २०५।', (७) ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंद निर्गुन गुनरासी॥ मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥ नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल। ३४१।', (८) 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥ सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥ भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल। २।९३।', (९) ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता। गो-द्विज धेनु देव हितकारी। कृपा-सिंधु मानुषतनुधारी। ५।३९।' (१०) 'सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिज्ञान रूप बलधामा॥ ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥ अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥ निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥ प्रकृतिपार, प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। ७।७२।', तथा यहाँ (११) 'अगुन अखंड अनंत अनादी' से 'भगत हेतु लीला तनु गहई।' तक। इत्यादि।—तात्पर्य्य यह कि जिनके अंशसे ब्रह्मादि उपजते हैं वे भक्तोंके प्रेमसे आप ही आकर उत्पन्न होते हैं। "ऐसेउ प्रभु०" में माधुर्य्य कहा, भक्ति और भक्तका महत्व दिखाया। यही माधुर्य्य है।

४ 'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार०।' ☞ इससे जनाया कि वेदके वचनमें जिनका विश्वास है उनको ईश्वरकी प्राप्ति होती है। ☞ 'अभिलाषा' प्रथम कह आए हैं—'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई।', यही उपक्रम है और 'तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।' यह उपसंहार है। यहाँ 'शब्द प्रमाण अलंकार' है।

नोट—१ (क) 'अगुन अखंड' से 'अभिलाषा' तक, यह प्रसंग हृदयकी अभिलाषाका है। अभिलाषा हृदयमें हो रही है। प्रगट किसीसे नहीं कहते। (ख) 'सत्य श्रुति भाषा' इति। अगुणअखंडादि विशेषणयुक्त ब्रह्म भक्तोंके लिये अपनी इच्छासे अवतार लेता है और पृथ्वीपर लीला करता है ऐसा श्रुतिभगवती कहती है। दोहा १३ की चौ० ४ 'तेहि धरि देह चरित कृत नाना' में रा० पू० ता० और यजुर्वेदके उद्धरण प्रमाणमें दिये गए हैं। ऋग्वेदमें मंत्ररामायण प्रसिद्ध है। यथा "रघुश्येनः पतयदंधो अच्छायुवा-कविर्दीदयद्गोषु गच्छन्। १। सजातो गर्भो असिरोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु॥ चित्रशिशुः परतिमां स्यक्तून्प्रमातृभ्यो अधिक निक्रदद्गाः। २। विष्णुरित्था परममस्य विद्वानजातो बृहन्नभिपाति तृतीयं। आसायदस्यपयो अक्रत स्वं सचेतसो अभ्यर्चंत्यत्र। ३। अत उत्वापितुभृतोजनित्रीरंनावृधं प्रतिचरंत्यन्नैः। ताईंप्रत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता। ४। तिस्रो मातृस्त्रीन्पितॄन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौनेम वग्लापयन्ति। मंत्रयं ते दिवो अमुष्य पृष्टे विश्वविदं वाचमविश्व-मिन्वाम्। ५। चत्वारिते असुर्याणिनामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति। त्वमंगतानि विश्वानि वित्सेयेभिः कर्माणिमघवंचकर्थ। ६। अमन्दानस्तोमान्प्रभरेमनीषासिंधावधि क्षियतोभाव्यस्य। यो मे सहस्रममिमीतसवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः। ७।

उपमाश्यावा स्वनयेन दत्ता वधूमंतो दशरथ सो अस्थुः । षष्टि सहस्र मनु गव्यमागात्सनत्कक्षीवां अभिपित्वे अह्नां । ८ । चत्वारिंशद्दशरथस्य शोण सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति । मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवंत उदमृक्षं तपज्ञाः । ९ । उपोपमे परामृशमामेदभ्राणिमन्यथाः । सर्वाहमस्मिरोमशा गंधारीणामिवाविका । १० । अगालामिंद्र त्रिष्यूत्व्यकृणोः सूर्यस्त्र चं । महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोस्तभ्नात्सिंधुमर्णवं नृचक्षाः । विश्वामित्रोयदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेषुभिरिन्द्र । १२ ।" इत्यादि सातो कांड हैं । (वैजनाथजीकी टीकासे उद्धृत) । इस मंत्ररामायणरूप वचन को विचारकर मनुजीके हृदयमें विश्वास है ।

टिप्पणी—४ 'एहि बिधि बीते बरष षटसहस०' इति । (क) 'एहि बिधि' अर्थात् जल आहार पर रहते । ☞ उत्तरोत्तर कठिन तप करते जाते हैं यह दिखा रहे हैं । जल आहार कठिन है यह तप छः हजार वर्ष किया । उससे कठिन पवनका आहार है, उसे हजार वर्ष किया, उससे भी कठिन उपवास (अर्थात् पवन भी नहीं लेते) है, सो दसहजार वर्ष किया । इस तरह यहाँतक मनुजीके तपकी तीन कोटियाँ (दर्जे) दिखाईं । (१) अन्नका त्याग, शाकादिका आहार । (२) केवल जलका आधार । (३) केवल पवन । आगे चौथी कोटिका तप है । क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णनसे 'सार अलंकार' हुआ ।

नोट—२ किसका दर्शन चाहते हैं ? 'परम प्रभु' का जो अखंड अनंत अनादि हैं, जिनका परमार्थवादी चिंतन करते हैं, इत्यादि । एवं जो अपने भक्तोंके प्रेमके वश लीलातन ग्रहण करते हैं । इसमें भाव यह भी है कि हमें उस परम प्रभुका दर्शन हो न कि लीलातनका । दर्शनके बाद लीलातनसे उनको अपना पुत्र होना माँगेंगे ।

बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ । ठाढ़े रहे एक पद† दोऊ ॥ १ ॥
बिधि हरि हर तप देखि अपारा । मनु समीप आए बहु बारा ॥ २ ॥
मांगहु बर बहु भांति लोभाए । परम धीर नहि चलहिं चलाए ॥ ३ ॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा । तदपि मनाग मनहि नहि पीरा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अपार = जिसका पार नहीं, असीम, अखंड, बहुत बड़ा । अस्थि = हड्डी । मनाग (मनाक्) = किंचित्, जरासा भी; यथा "टूटत पिनाकके मनाक बाम रामसे ते नाक बिनु भये भृगुनायक पलकमें ।" धीर = दृढ़ चित्त वाले, धैर्य्यवान् । साहित्य दर्पणके अनुसार 'धैर्य्य' नायक या पुरुषके आठ सत्त्वज गुणोंमेंसे एक है ।

अर्थ—दशहजार वर्ष इसको भी छोड़े रहे । दोनों एक पैरसे खड़े रहे ॥ १ ॥ उनका बहुत बड़ा अखण्ड तप देखकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश मनुके पास बहुत बार आए ॥ २ ॥ उन्होंने इनको बहुत तरहसे लालच दिया कि वर माँगो पर वे परम धीर हैं, उनके डिगानेसे वे न डिगे ॥ ३ ॥ शरीरमें हड्डी मात्र रह गयी तो भी उनके मनमें जरा भी पीड़ा नहीं हुई ॥ ४ ॥

बाबा हरिदासजी—"एहि बिधि बीते बरषषट···बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ" इति । छः हजार वर्षमें षट्विकार और जलतत्त्व जीत लिये, सातहजार वर्षमें मायाके सात आवरण तथा पवनतत्त्व जीते, और दशहजार वर्षमें दशो इन्द्रियाँ और दशों दिशाएँ जीतीं ।

वैजनाथजी—'त्यागेउ सोऊ' अर्थात् पवन खींचते थे वह भी त्याग दिया अर्थात् श्वास बंदकर नामका स्मरण और रूपका चिन्तन एक पैरपर खड़े होकर करने लगे । यहाँ प्रेमा और परा दोनों भक्तियाँ पूर्ण हैं

† पग—रा० पा०, ना० प्र०, गौड़जी, पं० रा० व० श० । पद—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० राम ।

यह दिखाया। यह प्रेमकी संतृप्त दशा है। आत्मरूपकी अखण्ड प्रीति तैल धारावत् परब्रह्मरूपमें लग गई, इससे आदि प्रकृतिको जीतकर तुरीयावस्थाको प्राप्त हुए।

टिप्पणी—१ 'बरष सहसदस त्यागेउ सोऊ।०' इति। (क) दोहेमें 'संबत सप्त सहस' कहा था, संवतका अर्थ 'वर्ष' यहाँ स्पष्ट किया। (ख) 'त्यागेउ सोऊ' अर्थात् पवनका आधार भी त्याग दिया। 'दोऊ' = राजा और रानी दोनों। (ग) ☞ ६००० वर्ष जल पीकर रहे, ७००० वर्ष पवन खाकर रहे, इस तरह क्रमसे कठिन उपवास ८००० वर्ष का होना चाहिए था, सो न करके यह अनुष्ठान एक दम १०००० वर्ष तक किया। यह व्यतिक्रम क्यों? किस हेतुसे ऐसा किया गया? इस सम्भावित प्रश्नका उत्तर यह है कि जल छोड़कर पवन पर रहे, फिर उसे भी छोड़कर कठिन उपवास करने लगे। अब इसे छोड़ें, तो इसके आगे तो इससे कठिन और कोई व्रत है नहीं जो करते, इसलिए यही निश्चय किया कि जबतक दर्शन न होंगे इसीपर डटे रहेंगे, इसे न छोड़ेंगे, दर्शन होगा तभी यह तप छूटेगा। (पुनः, भगवान्के मिलनेका, उनकी प्राप्तिका, कोई नियम या नियमित समय नहीं है कि वे उतने समयपर अवश्य दर्शन देंगे, इसलिए इस अनुष्ठानके लिए कोई संख्या न दी गई। जबतक भगवान्दर्शन न देंगे तबतक तपस्या न छोड़ेंगे बस अब यही संकल्प है)। परमेश्वरके दर्शन देने, न देनेमें, अपना कुछ बस तो है ही नहीं, उनकी कृपा उनकी इच्छापर निर्भर है, इससे ये बराबर कठिन उपवास करते ही गए। दश हज़ार वर्ष बीतनेपर भगवान्ने दर्शन दिए इसीसे दस हज़ार वर्ष उपासे एक पैर पर, जो उस समय तक खड़े बीते थे, खड़े रहना कहा गया। यहां 'एक पद' कहकर जनाया कि पूर्व दोनों पैरों पर खड़े थे।

२—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा।०' इति। (क) तपके फलदाता त्रिदेव हैं, इसीसे वे मनुजीके समीप आए। कर्मफल देनेमें विधाता मुख्य हैं, यथा 'कठिन करमगति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता।' इसीसे विधिका नाम प्रथम लिखा। (ख) 'तप देखि अपारा' अपार तप देखकर आए, इस कथनका भाव यह है कि राजाको तपसे निवृत्त करने आए, जिसमें फल पाकर तप छोड़ दें। (ग) 'मनु समीप आए बहु बारा' इति। कै बार आए और कब कब किस समय आए? इसका उत्तर यह है कि तीन बार आए और तीन अवसरोंपर आए। प्रथम जब छः हज़ार वर्ष जलपर रहे तब आए, इसके बाद जब सात हज़ार वर्ष पवन ही खाकर रह गए तब आए और अन्तिम बार जब दस हज़ार वर्ष उपवास करते हो गए तब आए। (वि० त्रि० का मत है कि पहिली तपस्यापर ब्रह्मा आये, दूसरीमें ब्रह्मा और विष्णु दोनों आये और तीसरीमें बिधिहरिहर तीनों आये)। पुनः प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि श्रीपार्वतीजीका तप देखकर ब्रह्माजी समीप नहीं गए थे, वहाँ केवल आकाशवाणी हुई थी। यथा "देखि उमहिं तप खीन सरीरा। ब्रह्म गिरा भइ गगन गँभीरा।४७.८।' वैसे ही यहाँ आकाशवाणी ही क्यों न हुई? समीप क्यों आए? इसका उत्तर प्रत्यक्ष है कि राजा ब्रह्मके दर्शनकी अभिलाषासे तप कर रहे हैं-'देखिय नयन परम प्रभु सोई'। दर्शनाभिलाषी हैं; इसीसे त्रिदेव यह विचारकर कि हम ब्रह्मके अंश (अंश-भूत) हैं, अंश अंशीसे अभेद है, दर्शन देने आए, दंपतिसे दर्शन करने और वर माँगनेको कहा। त्रिदेवने विचार किया कि यदि हमसे वर माँग लें तो ब्रह्मको क्यों अवतरना पड़े। इसीसे कई बार आए और बहुत भाँतिसे लोभ दिखाया।

नोट—१ कुछ महानुभाव कहते हैं कि 'मनुजीकी वृत्ति गुणातीतमें लीन है और त्रिदेव गुणमयी हैं। यदि आकाशवाणी होती तो उनको सुनाई ही न देती। अतएव समीप आए'।

२ पं० शिवलाल पाठकजी 'बहु बारा' का भावार्थ यों करते हुए प्रश्नका उत्तर देते हैं कि—"बारा शक्तिन्ह युत लखो, बिधि हरि शंभू आइ। लखि बाणी अनरस तजे, ते सब भजे लजाइ॥" अर्थात् वे बारा-का 'बाला' 'शक्ति', ऐसा अर्थ करते हैं। भाव यह कि त्रिदेव अपनी शक्तियोंसहित आए परन्तु मनुने उनकी वाणीको निरस समझ त्याग दिया उनसे वर लेना अंगीकार न किया।" (मा० म०)।

३ कुछ लोग कहते हैं कि विधिहरिहर एक-एक करके प्रथम आए और अब एक साथ यह समझकर आए कि हम तीनों मिलकर जायेंगे तब ब्रह्म ही स्वरूप हमें मानकर वर माँग लेंगे। अतएव 'बहु बारा' कहा। वि० त्रि० लिखते हैं कि "अव्यक्तके अभिमानसे आविष्ट होकर ईश्वर ही रुद्र, हरि और ब्रह्माके रूपसे तीन प्रकारके होकर दृश्यादृश्यके महासमुदायके अवभासक हुए।"

टिप्पणी—३ (क) 'माँगहु बर बहु भाँति लोभाए' इति। वर = ईप्सा,—'वर ईप्सायां'। वर धातु ईप्सा अर्थमें है। ईप्सा = इच्छा। अर्थात् कहा कि जो इच्छा हो सो माँगो। 'बहुभाँति' यह कि ब्रह्माजीने कहा कि तुम ब्रह्मलोक ले लो, शिवजीने कहा कि तुम हमारे कैलासमें वास करो और विष्णु भगवान्‌ने कहा कि तुम हमारे वैकुंठमें वास करो। इस प्रकार तीनोंने अपने-अपने लोकोंकी प्राप्तिका लोभ दिखाया [अथवा, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों माँगनेको कहा जिससे लोभ उत्पन्न हो। (वै०)। वा, कहा कि निर्गुण ब्रह्म इन्द्रियका विषय नहीं है, वह तो अनुभवगम्य है। यदि मिश्र ब्रह्मका दर्शन भी हो गया तो क्षण भरके लिए हो जायगा, हम लोग भी तो वही हैं। कुछ भी कामना नहीं है तो मोक्ष माँग लो। (वि० त्रि०)] (ख) 'परम धीर नहिं चलहिं चलाए' अर्थात् लोभमें नहीं पड़ते, तप नहीं छोड़ते। वे ब्रह्मादिसे वर नहीं माँगते, क्योंकि जानते हैं कि ये तो ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न हैं। ब्रह्मादिके डिगानेसे न डिगे इसीसे 'परम धीर' विशेषण दिया। उनके लोभ दिखानेसे न चलायमान हुए इससे 'परम धीर' कहा। पुनः शरीरके कष्टसे न चलायमान हुए, अतः 'परम धीर' कहा, जैसा आगे कहते हैं कि 'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा'।

नोट—४ "परम धीर नहिं चलहिं चलाए" यही धैर्यवान्‌का लक्षण है। शुकदेवलालजी लिखते हैं कि "वे अपनी अनन्यतासे किसीके चलाये कब चलायमान हो सकते हैं कि दूसरेसे वर माँगें—'बने तो रघुबर ते बनै०'। सो ब्रह्मा शिवकी तो क्या कहें इनका साथी होनेसे विष्णुके देवत्वको भी भगवत् विभूति मानकर विष्णुसे भी वर ग्रहण न किया। क्योंकि जैसे सूर्यवंश और चन्द्रवंशके सम्बन्धसे रामजीके राघवत्व और कृष्णचन्द्रजीके यादवत्वमें विष्णु विभूति माना गया, ऐसे ही देवत्रयीमें, विष्णुका भी देवत्व विष्णुविभूतिमें 'माना' जाता है"।

५ वैजनाथजी लिखते हैं कि 'कामनाके वश न हुए कि कुछ वरदान मागैं। पुनः क्रोधवश हो न चलायमान हुए कि उनसे विमुख भाषण करें अर्थात् कहें कि हम तुमसे वर नहीं माँगते, इत्यादि स्थिर रहे', चलाये न चले।

टिप्पणी—१ "अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा" इति। जब शाक फल या कंद खाते रहे तब कृशशरीर हो गए थे,—'कृस सरीर मुनिपट परिधाना'। जब उपास किये तब अस्थिमात्र रह गया। रक्त और मांस सब सूख गया। (ख) 'तदपि मनाग मनहिं नहिं पीरा' का भाव कि तनका क्लेश मनमें व्याप जाता है। मनमें पीड़ा नहीं है, इससे जनाया कि मन भगवान्‌में लगा हुआ है, 'बासुदेवपद पंकरुह दंपति मन अति लाग। १४३।' बिना मनके (होनेसे) शरीरको दुःख न व्यापा। यथा 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही', 'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बुझिय बिपति कि ताही। ५।३२।२।' (सत्ययुगमें अस्थिगत प्राण रहा। सब धातुओंके सूख जानेपर हड्डी हड्डी रह जानेपर भी इसीसे प्राण नहीं गया। वि० त्रि०)। ☞ऐसे ही उमाका शरीर जब तपसे क्षीण हो गया था तब आकाशवाणी हुई थी, यथा 'देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा'। यह दिखानेका तात्पर्य्य यह है कि यहीं तक तपकी अवधि है, इसके आगे मरणावस्था है। (ग) 'तदपि' का भाव कि जब शरीर अस्थिमात्र रह गया तब बड़ी भारी पीड़ा होनी चाहिए थी फिर भी जरा सी भी पीड़ा न हुई।

प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥५॥

माँगु माँगु बरु† भै नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी ॥६॥
मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई ॥७॥
हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहु अबहिं भवन ते आए ॥८॥
दोहा—श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात ॥१४५॥

अर्थ—सबके हृदयकी जाननेवाले प्रभुने तपस्वी राजा-रानीकी अनन्यगति देख उनको 'निज दास' जाना ॥ ५ ॥ परम गम्भीर कृपारूपी अमृतमें सनी हुई आकाशवाणी हुई कि 'वर माँगो, वर माँगो ॥ ६ ॥ मरे हुएको जिलानेवाली सुन्दर वाणी कानोंके छेदोंमें होकर जब हृदयमें आई तब उनके शरीर सुन्दर मोटे ताज़े हो गए, मानों वे अभी-अभी घरसे चले आ रहे हैं ॥ ७, ८ ॥ कानोंसे अमृत समान वचन सुनते ही शरीर पुलकसे प्रफुल्लित हो गया (खिल उठा, हर्षसे रोमांचित हो फूल उठा)। मनुजी (तथा शतरूपाजी) दण्डवत् करके बोले। उनके हृदयमें प्रेम नहीं समाता ॥ १४५ ॥

नोट—१ त्रिदेवके प्रसंगमें 'तप देखि' और यहाँ 'सर्वज्ञ' कहकर दोनोंमें भेद दिखाया। त्रिदेव तप देखते हैं और प्रभु अन्तःकरणका प्रेम देखते हैं। वे समझ गए कि हमारे दर्शन बिना अब ये शरीर ही त्याग देंगे, अतः बोले।

टिप्पणी—१ 'प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी।०' इति। (क) सर्वज्ञ हैं, अतः सब जानते हैं। 'गति अनन्य' अर्थात् हमारी गति छोड़ इनको दूसरी गति नहीं है, यथा 'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।२।१३०।', "एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की। ३।१०।८।" गति = शरण। हमारी प्राप्तिके लिए तप करते हैं यह सब जान गए। इसीसे 'सर्वज्ञ' कहा। (ख) तीनों देवता फलदाता हैं, इससे वे तप देखकर फल देने आए थे और परमप्रभुने अपना 'निजदास' जानकर कृपा की। राजा परमप्रभुके 'निजदास' हैं, यथा 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजहि अभिलाषा।', अर्थात् हम भी उनके सेवक हैं। ब्रह्मादिसे वर न माँगा इसीसे 'अनन्यगति' कहा। ('जरि जाहु सो जीह जो जाचहि औरहि')। [निज = सच्चा, खास, अनन्य। जो अनन्य गति हैं वे प्रभुको अति प्रिय हैं। यथा 'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।७।८६।']

२ 'माँगु माँगु बरु भै नभबानी।०' इति। (क) ☞ त्रिदेव राजाके समीप आए और 'परम प्रभु' की आकशवाणी हुई, वे समीप न आए। इसमें अभिप्राय यह है कि जैसे रूपके दर्शनकी चाह दासको होगी वैसा रूप धरकर प्रकट होंगे। पर इसमें यह प्रश्न होता है कि "प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, जो रुचि है उसे वे जानते हैं, उसीके अनुकूल प्रकट क्यों न हुए ?" उत्तर यह है कि यद्यपि स्वामी सर्वज्ञ हैं तथापि सेवक के मुखसे कहलाकर प्रकट होंगे। वरदानका यही क़ायदा (नियम) है कि मुखसे कहलवाकर तब वर दें।—'बर और हुकुम दिव्य पेषन में' इति (देव) स्वामीग्रंथे, यह आगे स्पष्ट है, जैसा मनुने कहा वैसे ही रूपसे प्रगट हुए।

नोट—२ अथवा, त्रिदेव इनके समीप गए तब इन्होंने उनकी ओर देखा भी नहीं। अतएव प्रथम आकाशवाणी हुई। वा, एकदमसे प्रगट होनेसे संभव था कि संदेह मनमें बना रह जाता कि ये परात्पर परब्रह्म हैं कि नहीं। दूसरे, अत्यन्त हर्षसे प्राणहीका त्याग होना संभव था। अतएव थोड़ा सुख पहिले दिया, उनका शरीर हृष्टपुष्ट कर दिया, इससे उनको विश्वास होगा और वे दर्शनका लाभ भी पूर्ण रीतिसे उठा सकेंगे।

† 'धुनि'—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। 'माँगुमाँगु बरु' ठीक 'बरं ब्रूहि' का अनुवाद है। बर—को० रा०। बरु—१६६१, १७०४।

३ —बाबा रामप्रसाद शरणजी लिखते हैं कि जब तक पृथ्वीतत्वकी प्रधानता रही तब तक उससे उत्पन्न हुए मूलफलादि खाते रहे। जब धारणा और बढ़ी तब उससे ऊपर जो जलतत्त्व है उसका आहार होने लगा—षट्सहस्र वर्षतक। इससे षट् विकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मान) छूट गए जिससे त्रिदेवके लुभानेमें न आए, षट्ऊर्मी (भूख, प्यास, जन्म, मरण, शोक, मोह) भी न रहीं, षट्चक्र भेदन कर गए (धोती, बस्ती, कपालादि षट्कर्म जो करते थे वे छूट गए), षट्ऋतुका प्रभाव भी निकृष्ट हो गया, षट्रस स्वाद जाते रहे। जब 'बारि' आहार भी छूट गया और सात हजार वर्ष समीर आधारसे रहे तब सप्तावरण दूर होगए। जब यह भी दशसहस्र वर्ष छोड़े रहे तब दशो इंद्रियोंके विक्षेप दूर हो गए और दशो दिशायें जीत लीं, दश प्राण भी अपने वशमें हो गए। जब तत्त्वके भीतरकी वस्तु वायुतकका निरादर कर दिया और निराधार दसहजार वर्षतक रहे तब निश्चय हो गया कि ब्रह्माण्डके भीतरके न तो किसी देवताकी चाहना है न किसी पदार्थहीकी। सब प्रकार निरवलंब होने पर 'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी ०'।

४ (ख)—'निज दास' और 'अनन्य गति' का अर्थ टिप्पणीमें आ गया। पुन: यथा 'बनै तो रघुवरसे बनै कै बिगरै भर पूरि। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबेमें धूरि' (दोहावली)। प्रभुको अनन्यदास परम प्रिय हैं। श्रीवचनामृत है कि 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा'। शुकदेव लालजी 'निज दास' का अर्थ 'अपना अकार-त्रय-सम्पन्न दास अर्थात् अनन्यगति, अनन्य शरण, अनन्यप्रयोजन' करते हैं। (ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि दो बार माँगु माँगु कहनेसे गम्भीरता और गोप्यार्थ यह है कि लोक परलोक दोनों माँगलो। पंजाबीजी कहते हैं कि मनु और शतरूपा दो हैं, अतएव दो बार कहा; अथवा, राजाके विशेष संतोषार्थ दो बार कहा। (ग) 'माँगु माँगु' यह प्रसाद (प्रसन्नता, कृपा) में वीप्सा है (और पुनरुक्ति-प्रकाश भी), यह आगे स्पष्ट है, यथा 'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि।' पुनः पुनः कथन करना वीप्सा है। 'परम गंभीर' का भाव कि गंभीर वाणी तो ब्रह्मादिकी भी थी पर यह 'अति गंभीर' है। कृपारूपी अमृतसे सनी हुई है अर्थात् प्रभुकी अत्यंत कृपासे यह वाणी हुई है।—(पं० रामकुमारजी)।

टिप्पणी—३ (क) 'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई।०' इति। कृपामृतसानी है, अतएव 'मृतक-जिआवनी' है। श्रवणको अमृतसमान सुखद है, अतएव 'सुहाई' है, जैसा आगे कहते हैं,—'श्रवनसुधासम बचन सुनि।' वाणी श्रवणद्वारा हृदयमें प्रवेश करती है, अत: 'श्रवनरंध्र होइ०' कहा। अथवा, कृपामृत-सानी है इसीसे मृतकजियावनी है और परम गंभीर है इसीसे सुहाई है; गंभीरता वाणीकी शोभा है। (ख) 'हृष्टपुष्ट तन भए सुहाए', राजा रानी दोनों के शरीर हृष्टपुष्ट और सुन्दर हो गए।' 'सुहाए' बहुवचन है क्योंकि दोनोंके लिए आया है। (ग) 'मानों अबहिं भवन तें आए' अर्थात् जैसेके तैसे पूर्ववत् हो गए।

४ 'श्रवनसुधासम बचन सुनि' इति। (क) सुहावनी वाणीने तनको पुष्ट और सुंदर कर दिया, यह वाणीका कृत्य कहकर अब राजाका कृत्य कहते हैं। मुखसे भगवान्के दर्शन माँगते हैं, यथा 'बोले मनु०', शरीरसे दंडवत् करते हैं, हृदयमें भगवान्का प्रेम है। तात्पर्य्य कि राजा रानी मनवचनकर्म तीनोंसे शरण हुए। (ख) 'मानहुँ अबहिं भवन तें आए', यह पुष्टका स्वरूप दिखाया; अब हृष्टका स्वरूप दिखाते हैं,—'श्रवन सुधा सम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।' शरीरका प्रफुल्लित होना, यही 'हृष्ट' का अर्थ है। ['हृष्ट-पुष्ट' बोली है अर्थात् मोटे ताजे, आरोग्य, हट्टेकट्टे। वैजनाथजी 'रिष्टपुष्ट' पाठ देते हैं और लिखते हैं, कि 'रिष्ट' उसे कहते हैं जिसमें अमंगल वा विघ्न न व्यापे। यथा 'रिष्टं क्षेमाशुभाभावेष्वरिष्टे तु शुभाशुभे इत्यमरः' अर्थात् अशुभका अभाव। भाव कि शीतघामादि कुछ छू ही न गए, ऐसा कुशल क्षेम पुष्टाङ्ग तन हो गया।'; मनुसे यहाँ मनुशतरूपा दोनों अभिप्रेत हैं जैसा आगेके 'जौं अनाथहित हम पर नेहू', 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' तथा 'दंपति बचन परम प्रिय लागे' से स्पष्ट है। विशेष १४६ (७) में देखिए।

नोट—५ यहाँ हृष्टपुष्ट होना उत्प्रेक्षाका विषय है, सो पहिले कहकर उसकी उत्प्रेक्षा की गई कि वह तन

कैसा है ? कवि अपनी कल्पना शक्तिसे पाठकका ध्यान घरके लालन पालन किए हुए शरीरकी ओर तनकी उत्कृष्ट शोभाका अनुमान करानेके लिये खींच ले जाते हैं। अतएव यहाँ 'उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

६—वाणी सुनते ही शरीर हृष्टपुष्ट होगया। विधि हरि हर कई बार मनुशतरूपाजीके समीप प्रत्यक्ष आए—'मनु समीप आए बहु बारा' तिसपर भी इनके शरीर क्षीण ही बने रहे थे और यहाँ केवल वाणीके श्रवणमात्रका यह प्रभाव हुआ। ऐसा करके भगवान्ने उनको अपने परात्पर ब्रह्म होनेका निश्चय कराया। (शीलावृत्त)।

७—'परम गँभीर कृपामृत सानी', 'मृतकजिआवनि गिरा सुहाई' और 'श्रवनसुधा सम बचन सुनि'—यहाँ तक अमृतहीका स्वरूप निबाहा है। ईश्वर अमृतस्वरूप है यह वेदोंने कहा है।

बाबा रामप्रसादशरणजी (साकेतवासी) - इस प्रकरणमें तीन ही तीनका अद्भुत प्रसंग देखिए। श्रीमनुशतरूपाजी तीन अवस्था बीतनेपर वन गए। जिस तीर्थमें गए उसमें भी तीनही अक्षर हैं। 'नैमिष' के अक्षरोंमें भी तीन अवस्थाओंका भाव है। 'नै' अर्थात् नीतिवाली युवावस्था जिसमें राजनीतिसे प्रजाका पालन किया है। 'मि' अर्थात् मिश्रित किशोर अवस्था जिसमें कुछ बाल्यावस्थाके खेल की याद और कुछ आनेवाली युवावस्थाकी चैतन्यता है, इसीसे मिश्रित कहा। 'ख' अर्थात् खेलवाली प्रथम अवस्था। तीर्थमें जो सरित धार गोमती है उसमें भी तीन अक्षर हैं गो (कर्म और ज्ञान इन्द्रियाँ) + मति (बुद्धि)। कर्म, ज्ञान और बुद्धि ये भी तीन हुए। तीन ही प्रकारके लोग इनसे मिलने आए,—'आए मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी'। तीर्थमें पहुँचकर ये तीन ही काम करते हैं—'संतसभा नित सुनहिं पुराना', 'द्वादस अक्षर मंत्र बर जपहिं सहित अनुराग', और 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा'। अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंमें तत्पर हैं। 'सुनहिं पुराना' (कर्म) का नैमिष तीर्थके प्रथमाक्षर 'नै' से संबंध है क्योंकि पुराणोंमें विधि-निषेध, धर्माधर्मके विवेचनमें नीतिही है। 'द्वादशाक्षर०' का दूसरे अक्षर 'मि' से संबंध है क्योंकि श्रीयुगल सरकारके दोनों षडक्षरमंत्र मिले हैं इससे मिश्रित कहा। और 'सुमिरहिं ब्रह्म' से 'ख' से संबंध है क्योंकि लीलाविभूति होनेसे यह जगत् ब्रह्मका खेलही है। पुनः, 'सुनहिं पुराना' यह श्रवणभक्ति है, 'जपहिं' यह दूसरी भक्ति है, यथा 'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा' और 'सुमिरहिं ब्रह्म' यह स्मरण है।—यहाँ केवल तीन ही क्रियायें कहीं और भक्ति हैं नौ। यहाँ एकएकमें तीनतीनका अंतर्भाव है। प्रथम 'संतसभा नित सुनहिं' में श्रवण, कीर्त्तन और दास्य तीन भक्तियाँ कहीं। सुननेपर परस्पर अनुकथन होना ही कीर्त्तन है और संतसभामें नित्य नेमसे नम्रतापूर्वक जाना दास्य है। 'मंत्र जपहिं सहित अनुराग' में अर्चन वन्दन और पादसेवन कहा। जपसमय ध्यानमें अर्चन वन्दन हो जाता है। और 'सुमिरहिं ब्रह्म' में स्मरण, सख्य और आत्म निवेदन आ गए। जीव-ब्रह्मका सखा-भावका संबंध है—'स्वारथ रहित सखा सबही के'। पुनः, लीला भी तीन प्रकार की है—ऐश्वर्य, माधुर्य, मिश्रित। इनमेंसे 'सुनहिं पुराना' यह मिश्रित है, 'जपहिं मंत्र' में केवल माधुर्य है और 'सुमिरहिं ब्रह्म' इसमें ऐश्वर्य है। श्रीमनुजीका प्रेम माधुर्यमें है और श्रीशतरूपाजीका मिश्रितमें, यह वरसे प्रगट है। तप करनेमें आहार भी तीन ही प्रकारका रहा, यथा 'करहिं अहार साक फल कंदा', 'बारि अहार मूल फल त्यागे', और 'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार'। तपमें कालका नियम भी तीन प्रकारका कहा है, यथा 'एहि बिधि बीते बर्ष षट सहस बारि आहार', 'संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार' और 'बरष सहसदस त्यागेउ सोऊ'। जिनके निमित्त तप करते हैं उनके तीन ही विशेषण कहे, यथा 'बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग', 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा' और 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे'। ब्रह्मवाणी हुई तब भी तीन ही बातें कहीं—'श्रवनरंध्र होइ', 'उर जब आई' और 'हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए', 'श्रवनसुधा सम बचन०' (१४५) में भी अंतःकरण, वचन और कर्म तीन कहे। (तु० प० ३।१,२)।

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधिहरिहर बंदित पद रेनू ॥१॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर नायक ॥२॥
जौं अनाथहित हमपर नेहू। तौ प्रसंन होइ यह बर देहू ॥३॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥४॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥५॥

अर्थ—हे सेवकोंके (लिये) कल्पवृक्ष और कामधेनु ! सुनिये। आपके चरणरजकी वंदना विधिहरि-हर करते हैं ॥१॥ हे सेवा करते ही सुलभ होनेवाले एवं जिनकी सेवा सुलभ है ! सम्पूर्ण सुखोंके देनेवाले ; शरणागतका पालन करनेवाले और चराचर (मात्र) के स्वामी ! ॥२॥ हे अनाथोंका कल्याण करनेवाले ! यदि आपका हमपर प्रेम है तो प्रसन्न होकर यह वर दीजिये ॥३॥ जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है, जिसके लिये मुनि यत्न करते हैं ॥४॥ जो कागभुशुण्डीजीके मनरूप मानससरका हंस है, (जो) सगुण और निर्गुण (दोनों है), जिसकी वेद बड़ाई करते हैं ॥५॥

नोट—१ 'सेवक सुरतरु सुरधेनू।...' इति। (क) सुरतरु और सुरधेनु दोनों ही की उपमा दी; दोनों मनोरथके देनेवाले हैं। प्रथम सुरतरु सम कहा, फिर सोचे कि वृक्ष तो जड़ है, जब कोई उसके पास पहुँचे तब वह मनोरथको पूरा करता है और हम असमर्थ हैं आपतक नहीं पहुँच सकते, आप ही कृपा करके हमारे पास आकर हमारे मनोरथको पूर्ण करें; तब 'सुरधेनु' सम कहा। (ख) यहाँ जो सेवका 'सुरतरु सुरधेनू' कहा है इसकी पूर्ति आगे 'तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं' और 'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई' में की है। इस प्रकार कि गोसाईंसे सुरधेनुका भाव ग्रहण किया और बिबुधतरु तो स्पष्ट ही कहा है। (ख) प्र० स्वामी लिखते हैं कि सुरधेनु जब सेवासे प्रसन्न होगी तभी माँगनेपर देगी, वह भला बुरा भक्त अभक्तका विचार भी करती है। सुरतरु न माँगनेपर भी केवल छायाका आश्रय करनेसे सब शोचोंका नाश करता है और माँगते ही अभिमत देता है। यथा 'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ। जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच। २।२६७।' भगवान् सुरतरु और सुरधेनु दोनोंका काम करते हैं और इससे विशेष मोक्ष या भक्ति भी देते हैं अतः आगे 'सकल सुखदायक' कहना पड़ा। दोहा ११३ भी देखिए। (ग) वि० त्रि० लिखते हैं कि "सुरतरु और सुरधेनुसे पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों कहा (यथा 'त्वं स्त्री त्वं पुमान्')। सुरतरु अभिमतदानि है और सुरधेनु सब सुखखानि है। यथा 'अभिमतदानि देवतरुवर से', 'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखखानि'।" (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि "आकाशवाणीमें माँगु माँगु दो बार सुन दो रूपका बोध हुआ। इसलिए प्रभुके संबोधन हेतु 'सुरतरु' कहा और शक्तिके संबोधनके लिये 'सुरधेनु'। आगे इन वचनोंको 'दंपति वचन' कहा है इसीसे दोनोंमें एक एकको लगाते हैं। (घ) पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि "दोऊ प्रति दोऊ कहे प्यारी प्रीतम माँग। कामधेनु अरु कल्पतरु कह दोऊ अनुराग" अर्थात् दोनों प्रिया प्रीतमने मनुशतरूपासे पृथक् पृथक् कहा कि वर माँगो तब मनुने रामचन्द्रको सुरतरु और शतरूपाने जानकीजीको सुरधेनु परमप्रेम युत कहा"—(मानस-मयंक)।

टिप्पणी १—'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।०' इति (क) भगवान् सेवक हितकारी हैं इसी बलसे तप किया था, यथा 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तन गहई ॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥' अब इसी बलसे वर माँगते हैं कि आप सेवकके लिए कल्पवृक्ष हैं, कामधेनु हैं। (ख) यहाँ 'सुरतरु' और 'सुरधेनु' दो उपमायें देनेका भाव यह है कि जो भक्त आपके यहाँ जाते हैं,

उनके लिए कल्पवृक्ष हो और जो आपके यहाँ नहीं पहुँचते उनकेलिए कामधेनु हो, उनके पास आप स्वयं जाकर उनके मनोरथ पूर्ण करते हैं। (ग) 'बिधि हरि हर बंदित पदरेनू।'—त्रिदेव आपके चरणरजकी वन्दना करते हैं इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि जिनकी सेवा ब्रह्मादि करते हैं वे परम प्रभु स्वयं सेवककी सेवा करते हैं। ☞उपजनेके प्रकरणमें उपजना कहा था; जहाँ 'उपजहिं जासु अंस ते नाना' कहा वहीं 'भगत हेतु लीला तनु गहई' कहा अर्थात् ब्रह्मादिके उपजानेवाले भक्तवश स्वयं 'उपजते' हैं। वैसे ही यहाँ सेवाके प्रकरणमें भक्तका सेवक बनना कहा। जब कहा कि बिधि हरि हर आपकी चरणरज की वंदना करते हैं अर्थात् ब्रह्मादि आपके सेवक हैं तब वहीं यह कहा कि आप अपने भक्तोंके सेवक हैं। भाव कि ब्रह्मादि जिनके सेवक हैं वे ही अपने भक्तोंके सेवक हैं।—यह भाव 'सुनु सेवक सुरतरु०' का है। अर्थात् आप सेवककी रुचि पूर्ण करनेमें लगे रहते हैं।

नोट २—श्रीशुकदेवलालजी लिखते हैं कि "इस प्रकरणमें विधिहरिहर पद व्यामोहक है। तहाँ कोई विद्वान् ऐसे स्थानमें हरिका अर्थ इन्द्रवाचक इन प्रमाणोंसे करते हैं कि देवत्रयमें ब्रह्मा शिवके साथ इन्द्र भी वर्षा करके विश्वका पालन करता है। रामायणे यथा 'ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननोवा। रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रोमहेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्तो युधि रामवध्यं॥ भारतेमोक्षधर्मे इत्यादि।' ...परन्तु ऐसा अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है।"

३ 'बिधि हरि हर बंदित पद रेनू' इति। यथा—'देखे शिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। ५४।७-८।' पूर्व नाना त्रिदेवोंका अंशसे उत्पन्न होना कहा था अब चरणसेवा करना कहकर यह भी सूचित किया कि त्रिदेव आपकी सेवासे ही प्रभुत्वको एवं अपने-अपने अधिकारको प्राप्त हैं। यथा "हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई। वि० १३५।', 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा।५।२१।५।' [पुनः, यथा वशिष्ठ संहितायाम्—"जय मत्स्याद्यसंख्येयावतारोद्भवकारण। ब्रह्माविष्णुमहेशादि संसेव्य चरणाम्बुज॥' (वै०)]

टिप्पणी—२ "सेवत सुलभ सकल सुख दायक।..." इति। (क) सेवा सुलभ है। यथा "बल पूजा मागै नहीं चाहै एक प्रीति।" (वि० १०७), 'सकृत प्रनामु किहें अपनाए। २।२६६।' जो 'सेवत सुलभ' है, जिसकी सेवा आसान है, वह सब सुखोंका दाता नहीं होता, अतएव 'सेवत सुलभ' कहकर फिर 'सकल सुखदायक' भी कहा। इस प्रकार जनाया कि ऐसे एक आप ही हैं, आपमें ये दोनों गुण हैं। 'सकल सुखदायक', यथा 'तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करै कृपानिधि तेरो। (वि० १६२)।' (ख) प्रथम सुरतरु और सुरधेनु समान कहा, अब उन दोनोंके धर्म कहते हैं। 'सेवत सुलभ सकल सुखदायक' इत्यादि उनके धर्म हैं। 'सकल सुखदायक' अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थोंके दाता हो। (ग) 'प्रनतपाल सचराचर नायक' अर्थात् चराचरको पालते हो। यहाँ प्रणतको चराचरसे पृथक् कहनेका भाव कि चराचरकी अपेक्षा प्रणतका विशेष पालन करते हैं। यथा 'जगपालक बिशेष जन त्राता'।

प० प० प्र०—'सेवत सुलभ सकल सुखदायक' यह चरण उत्तरकांडमें श्रीसनकादिककृत स्तुतिमें भी आया है। वहाँ 'सुरतरु सुरधेनु' का उल्लेख प्रथम करके पीछे यह चरण दिया है। यथा 'प्रनतकाम सुरधेनु कल्पतरु। होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु॥ भव बारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत सुलभ सकल सुखदायक। देहि भगति संसृति सरि तरनी। ७.३५।२-६।' इस द्विरुक्तिसे जनाया कि सनकादिमुनियोंने जो कुछ माँगा था, वही मनुजी दर्शन होनेपर माँगना चाहते हैं, पर भगवान् अपनी इच्छासे उनकी बुद्धि बदलते हैं। सनकादिक ब्रह्माजीके मानसपुत्र हैं और मनुजी ब्रह्माजीके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं। इस पुनरुक्तिसे दोनोंमें

समानता दिखाई। (इसमें एक शंका उपस्थित होती है कि उस कल्पमें तो पाँच मन्वन्तरोंके बाद अवतार होनेपर सनकादिकने वर माँगा है। और मनुजीकी यह अभिलाषा इस मन्वन्तरमें हुई है)।

सनकादिक तो स्वयं भगवान्‌के पास आए हैं तथापि उन्होंने 'सुरधेनु' प्रथम कहा है और भगवान् मनुजीके पास स्वयं आनेवाले हैं तथापि यहाँ सुरतरु प्रथम है, अतः इससे कुछ भाव निकालना ग़लत है।

बि० त्रि० का मत है कि 'सुरतरु' के सम्बंधसे 'सेवत सुलभ' कहा, यथा 'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच।...', और कामधेनुके संबंधसे 'सकल सुखदायक' कहा।

टिप्पणी—३ 'जौं अनाथहित हम पर नेहू। तौ०' इति। (क) 'अनाथहित' का भाव कि भगवान् अनाथपर कृपा करते हैं, यथा 'तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा।५।७।' 'सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो। सो एक राम...।७।१३०।', 'नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मो सो' (वि० ७९)। ☞(ख) पुनः भाव कि अनाथके हित एकमात्र आप ही हैं, दूसरा नहीं। राजा और रानी दो हैं इसीसे 'हम' बहुवचन पद दिया। इसी प्रकार पूर्व 'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥' कहा और आगे भी 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' तथा 'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे' में बहुवचन पद दिए। जहाँ दोनोंका सम्मत एक है वहाँ बहुवचन कहा। इसी तरह जहाँ दोनोंका सम्मत एक नहीं है, जहाँ दोनों पृथक्-पृथक् वर माँगते हैं वहाँ एकवचन दिया गया है। यथा 'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी', 'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ', 'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी', 'मम जीवन मिति तुम्हहि अधीना', 'सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा', 'सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु मोहि कृपा करि देहु' इत्यादि। (श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि अपनेको अनाथ कहनेका भाव कि 'त्रिलोकमें हम किसीक, अपना हितकर नहीं देखते, त्रिदेव भी हमारा अभीष्ट पूर्ण नहीं कर सकते, और त्रिकांडसे भी हम अपनो कल्याण नहीं समझते।' पुनः कणादकृत वैशेषिकवाले कालहीकी प्रेरणासे जगत्‌की उत्पत्ति आदि कहते हैं॥ हमको तीनों कालसे कदापि सुखकी वृद्धि नहीं है। पुनः, कोई जाग्रत्‌में अपनेको सुखी समझते हैं, कोई स्वप्नहीसे प्रीति करते हैं और कोई सुषुप्तिहीसे आनंद मानते हैं। परन्तु हमको तो इन तीनों अवस्थाओंमें कुछ भी हितकर नहीं जान पड़ता।)

४—'जो सरूप बस सिव मन माहीं।०' इति। ब्रह्मको नेत्रभर देखना चाहते हैं, ब्रह्मके शरीर नहीं है, इसीसे कहा था कि भक्तोंके लिए 'लीला तनु गहई'। पर लीलातन तो चतुर्भुज शेषशायी, अष्टभुज, भूमापुरुष, चतुर्व्यूह, द्वादशव्यूह, सहस्रभुज विराट्‌पुरुष, मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिंह, कृष्ण, इत्यादि अनेक हैं, तुम किस लीलातनका दर्शन चाहते हो? इसपर कहते हैं कि जो स्वरूप शिवजीके मनमें बसता है, जिस स्वरूपके लिए मुनि यत्न करते हैं कि हमारे हृदयमें बसे—'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं। ३।३२।' स्वरूपकी प्राप्तिमें शिवजी सिद्ध हैं। उनके मनमें मूर्ति बसती है। मुनि साधक हैं, वे मूर्त्ति अपने हृदयमें बसानेके लिए साधन करते हैं। जिन मुनियोंके साधन सिद्ध हो जाते हैं, उनके हृदयमें प्रभु बसते हैं, यथा 'राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मनमानस हंसा'।

५—'जो भुसुंडि मन मानस हंसा।०' इति। (क) श्रीशिवजी और भुशुंडीजी दोनों प्रेमी हैं, दोनों ब्रह्मके स्वरूप और स्वभावके 'जनैया' (जाननेवाले) हैं, इसीसे दोनोंके मनमें स्वरूपका बसना लिखा, यथा "कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेम सुख। फूले बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले। १९६।४-५।', 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ। ५।४८।', 'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं। ७।१२४।' (ख) यहाँ तक शिव, मुनि और भुशुंडि तीन नाम दिए। इन तीनोंका नाम कहकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों (से भगवान्‌की

प्राप्ति) दिखाते हैं। शिवजी ज्ञानी हैं, मुनि कर्मकांडी हैं और भुशुंडीजी उपासक हैं। तात्पर्य्य कि भगवान् ज्ञानी, कर्मी और उपासक तीनोंको प्राप्त होते हैं। (एक खर्रेमें पंडितजी लिखते हैं कि 'भुसुंडि' के कहनेसे (गरुड़को) 'अघाइ कै रामरूपका बोध भया')। (ग) 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा' इति। सगुण और निगुण कहकर जिसकी स्तुति वेद करते हैं, यथा 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने। ७।१३।' श्रीरामजीके सगुण और निर्गुण दो रूप हैं। निर्गुणरूप प्रथम ही कह आए—'अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥' इत्यादि। सगुण स्वरूप आगे कहेंगे—'नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम' इत्यादि। (घ) वेद निर्गुण ब्रह्मका निरूपण करते हैं, यथा 'नेति नेति कहि बेद निरूपा' और सगुण ब्रह्मकी प्रशंसा करते हैं—'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा'। एकका निरूपण और दूसरेकी प्रशंसा करनेका भाव कि निर्गुण ब्रह्ममें वाणीका प्रवेश नहीं है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतिः। सगुणमें वाणीका प्रवेश है, इसीसे प्रशंसा करते हैं। [यहाँ कहते हैं कि 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।' और उत्तरकांडमें वेद स्वयं कहते हैं कि 'ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं।' यह परस्पर भेद कैसा ? रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि 'सगुन जस' गानेमें भाव यह है कि यशका लाभ केवल सगुण ही रूपको है - निर्गुणकोनहीं, क्योंकि वह तो क्रियाशून्य है, चेष्टारहित है। जिसकी निषेधकी हानि अथवा विधिके प्रचारकी चेष्टा ही न हो उसको यश कैसे प्राप्त हो सकता है ? 'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।' (तु० प० ३।४)]।

नोट—४ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि मनुजीके वचनोंका भाव यह है कि "आपका स्वरूप कोई जानता नहीं। वेद भी 'नेति नेति' कहते हैं तब मैं उसे कैसे जानूँ ? अतएव उस स्वरूपको इस प्रकार लक्षित करते हैं कि 'जो सरूप....' इत्यादि। पर शिवजीके मनमें बालरूप बसता है, यथा 'बंदौं बालरूप सोइ रामू।' मुनियोंके ध्यानमें अवस्थाका नियम नहीं है। देखिए सनत्कुमार संहितामें पहले "पितुरंकगतं रामं" यह बालरूपका ध्यान है फिर 'वैदेही सहितं सुरद्रुमतले' यह किशोरावस्थाका ध्यान है। भुशुण्डीजी बालरूपके उपासक हैं। वेदोंके वर्णनमें अवस्थाका नियम नहीं है। वेदोंने अनन्तरूपोंका वर्णन किया है। इन वचनोंमें परात्पररूप और सब अवस्थाओंका सँभार आ गया।"

५—मनुजीका यह सिद्धान्त है कि "शिवजी भगवान् हैं, रामभक्तिके आदि आचार्य्य हैं, ज्ञान वैराग्य वेदतत्त्व आदिके ज्ञाता हैं, यथा 'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। १११।५।', 'जोग ज्ञान वैराग्य निधि। १०७।' मुनि, इन्द्रिय-विषय-सुखको त्यागकर अनेक कष्ट उठाकर, उपाय करते हैं तो परात्पर रूपहीके लिए करते होंगे। भुशुण्डिजी ऐसे परमभक्त हैं कि जिनके आश्रमके आसपास चार योजन तक माया नहीं व्यापती, वे भी परात्परकी ही उपासना करते होंगे। वेद भी परात्पर रूपकी ही, अगुण सगुण कहकर, प्रशंसा करते हैं।" अतएव इन तीनोंके सिद्धान्तसे जो ब्रह्म हो वही परात्पर होगा।

६—मयंककार लिखते हैं कि "शिवजीके मनमें किशोररूप और भुशुण्डीजीके मनमें बालस्वरूप बसता है। दोनों एक बार देखना दुस्तर है। दम्पतिने विचारपूर्वक यह वर माँगा जिसमें किशोररूपका तो तत्काल दर्शन हो (प्रथम 'जो स्वरूप बस सिव मनमाहीं' यह कहा इसीसे प्रथम शिवजीके ध्यानवाला स्वरूप प्रकट हुआ) और अवधमें बालरूपका आनन्द पावें अर्थात् पुत्र हो प्रगट हों। ('भुसुंडि मन मानस हंसा' अंतमें कहा। इसीसे कालान्तरमें वही यज्ञादि रूपी यत्न करनेसे 'भुसुंडि मन मानस हंसा' बालरूप होकर प्रकट होंगे)। "मनुने तप करते समय किसीकी उपासना नहीं की, न किसीके नामको जपा। उनका यही अनुष्ठान था कि जो परतम सबसे परे हो वह मुझको दर्शन दे। तब शार्ङ्गधर भगवान् रामचन्द्रजी प्रकट हुए। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि ये ही सबसे परे और सबके सींव हैं"—(मा० म०)।—

'बिधि हरि संभु नचावनिहारे', 'हरिहरहिं हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई।' (वि० १३५)।

प० प० प्र० – शिवजी रघुवीररूपके उपासक हैं, यथा 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा'। 'जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं।' कहनेपर विचार आ गया कि शिवजी तो बालरूपके उपासक नहीं हैं और बालरूप तो अधिक मोहक, मनोहर और सुखकर है, अतः फिर कहा कि 'जो भुसुंडि मन मानस हंसा' क्योंकि ये बालरूपके उपासक हैं। जो प्रथम माँगा उसके अनुसार अवतार-समयमें भी प्रथम वही रूप कौसल्याजीको दिखाया 'जो सरूप बस सिव मन माहीं' और फिर 'भए सिसुरूप खरारी'। मयंककारने उचित ही लिखा है।

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारतिमोचन ॥ ६ ॥
दंपति बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेमरस पागे ॥ ७ ॥
भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥ ८ ॥
दोहा—नील सरोरुह नीलमनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम ॥ १४६ ॥

शब्दार्थ—दंपति=स्त्रीपुरुष। पागे = शीरा, क़िवाम वा चाशीमें लपेटे, डुबोए वा साने हुए, यथा 'आखर अरथ मंजु मृदु मोदक प्रेम पाग पागिहै।' (विनय)। भगतबछल (भक्तवत्सल)—जैसे गऊ नवजात बछड़ेका प्यार करती है वैसे ही भक्तोंका प्यार करनेवाले, उनके दोषोंको स्वयं भोग लेनेवाले, उन पर दृष्टि न करनेवाले और सदा साथ रहनेवाले। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'आश्रितदोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन। आश्रितागस्तिरस्कार बुद्धिर्वात्सल्यमित्यपि ॥ सुस्निग्धहृदयत्वं यद्दोषरौक्ष्यातिगं निजे। जनेस्यात्तद्धिवात्सल्यं भक्ते प्राणस्य वै हरेः ॥ ममतामोहसम्पर्कौ दृढीयाँस्तनुजादिषु। यत्पिच्छलमनस्कत्वं विदुर्वात्सल्यमुत्तमाः ॥ वत्सः स्नेहगुणस्थेयांस्तद्दाता वत्सलो हरिः ॥—(वै०)।

अर्थ—हे प्रणतके दुःखको छुड़ानेवाले! हम वह रूप नेत्र भरकर देखें (ऐसी) कृपा कीजिये ॥ ६ ॥ दंपतिके कोमल, नम्र और प्रेमरसमें पागे हुए वचन प्रभुका परम प्रिय लगे ॥ ७ ॥ भक्तवत्सल, दयासागर, विश्वमात्रमें व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट होगए ॥८॥ नील-कमल, नील-मणि और नीले मेघोंके समान श्याम (वर्ण) तनकी शोभा देखकर करोड़ों अर्बों कामदेव लज्जित हो जाते हैं ॥ १४६ ॥

बाबा हरिदासजी—१ श्रीमनुजीने विचारा कि शिवजी और भुशुण्डीजी एवं मुनिजन को ब्रह्मका दर्शन ध्यानमें हुआ करता है, कहीं ऐसा न हो कि हमें भी ध्यानहीमें दर्शन देकर चल दें, हमने तो उनको पुत्र बनानेके लिये तप किया है अतः कहते हैं कि 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन', ध्यानमें नहीं किन्तु प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, अपने इन नेत्रोंसे और वह भी भरपूर। २—'दंपति बचन परम प्रिय लागे।०' इति। 'दंपति अर्थात् श्रीसीतारामको (उनके) वचन परम प्रिय लगे—(शीलावृत्ति)। (हमने 'दंपति' से मनु-शतरूपाका अर्थ किया है)।

टिप्पणी—१ 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन'। भाव कि जो रूप शिवादि ध्यान धरकर मनमें देखते हैं वही रूप हम प्रत्यक्ष नेत्र भरकर देखें। (ख) 'कृपा करहु प्रनतारतिमोचन' अर्थात् आप प्रणतकी आर्ति हरते हैं, हम प्रणत हैं हमारी आर्ति हरण कीजिए। तात्पर्य्य कि आपके दर्शन विना हम दोनों अत्यन्त आर्त हैं, हम इस योग्य नहीं हैं कि आप दर्शन दें, हमारे ऐसे सुकृत नहीं हैं कि दर्शन प्राप्त हो सकें, आपकी कृपाका ही भरोसा है, आप अपनी ओरसे कृपा करके हमको दर्शन दीजिए। (शिवादि समर्थ हैं। हममें उनका सामर्थ्य नहीं है। हमें एकमात्र आपकी कृपाका भरोसा है। कठोपनिषदमें भी कहा है कि

जिसपर वह कृपा करता है उसीको प्राप्त होता है। यथा 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।१।२।२२।')।

नोट—१ 'दंपति बचन' इति। पूर्व केवल 'मनु' जीका बोलना लिखा था, यथा 'बोले मनु करि दंडवत ॥ १४५ ॥' और यहाँ स्त्री-पुरुष मनु और शतरूपा दोनोंका बोलना लिखते हैं; यह पूर्वापर विरोध कैसा? बाबा हरीदासजीने इस शंका की निवृत्ति 'दंपति' से 'श्रीसीतारामजी' का ग्रहण करके की है। वे 'दंपति' से 'दंपति श्रीसीतारामजीको' यह अर्थ लेते हैं। हमने तथा प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने 'दंपति मनुशतरूपा के' ऐसा अर्थ किया है। शंकाका समाधान संत श्रीगुरुसहायलालजीने इस प्रकार किया है कि "मनु" से राजा मनु और मनुकी स्त्री दोनों अर्थ निकलते हैं। व्याकरणमें 'मनु' शब्दका स्त्रीलिंगमें तीन तरहका रूप है। मनायी, मनावी और मनुः। उसमें सूत्र लिखा है—'मनो रौ वा।…"। सा० त० वि०)। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'मनो रौ वा' इस सूत्रसे ङीप् विकल्पसे होता है। अतः शतरूपा भी मनु हैं। हिन्दी शब्दसागरमें भी 'मनु' को पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों लिखा है और उसका अर्थ, 'वैवस्वत मनु' और 'मनावी, मनुकी स्त्री' दिया है। इस तरह पूर्व के 'मनु' शब्दमें मनु और उनकी स्त्री शतरूपा दोनोंका ग्रहण होता है। अतः शंका नहीं रह जाती। पं० रामकुमारजी शंकाका समाधान इस तरह करते हैं कि पूर्व 'मनु' और यहाँ 'दंपति' शब्द देकर जनाते हैं कि जो मनुजी ने कहा वही महारानी शतरूपाजी ने कहा अर्थात् (अन्तमें) महारानीजीने कहा कि मैं भी यही चाहती हूँ। इस प्रकार ये वचन दोनोंके हुए, नहीं तो दोनोंका एक साथ बोलना नहीं बनता। (नोट—आगे इसी तरह श्रीशतरूपाजीने कहा भी है,—'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा। १५०.४।' वैसे ही यहाँ राजाके कह चुकनेपर अन्तमें कहा और पूर्वसे भी दोनोंका सम्मत यह था ही—"पुनि हरि हेतु करन तप लागे।… देखिअ नयन परम प्रभु सोई।" त्रिपाठीजीका मत है कि दम्पतिका हृदय इतना अभिन्न है कि वे ही शब्द दोनों मुखोंसे एक साथ निकल रहे हैं।)

टिप्पणी—२ (क) 'परम प्रिय लागे' इसका कारण आगे स्वयं कहते हैं 'मृदुल बिनीत प्रेमरस पागे'। वचन कोमल हैं, सुननेमें कटु कठोर नहीं हैं, विनम्र हैं। बड़ाई लिए हुए हैं (अर्थात् उनमें सेवक स्वामि-भावका उल्लंघन नहीं हुआ, मर्यादाके अनुकूल और अहंकार शून्य हैं, और प्रेमरसमें पगे हुए हैं। भगवान्को प्रेम प्रिय है, यथा—'रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा। २.१३७।' इसीसे ये वचन 'परम प्रिय' लगे। (ख) ☞प्रथम कहा कि 'बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात', हृदयके उसी प्रेमसे वचन बोले, अतएव उन वनचोंको 'प्रेमरस पागे' कहा। ☞भगवान् के वचन सुधा समानों हैं,—'श्रवन सुधासम बचन सुनि' और 'मृतक जियावन' हैं; इसीसे उन्हें सुनकर स्त्री-पुरुष दोनों जिये, नह तो मृत्यु हो जाती। (भगवान्के वचन सुनकर दोनों पुलकित और प्रफुल्लित हो गए वैसे ही) इनके वचन प्रेमरससे पागे हैं इसीसे भगवान्को परम प्रिय लगे। [कोमल वचन 'प्रिय' होते हैं, उसपर भी ये वचन 'विनीत' हैं इससे 'अतिप्रिय' हुए और फिर प्रेम-रसमें पगे हैं अतएव 'परम प्रिय' हैं। (वै०)]

नोट—२ वैजनाथजी लिखते हैं कि "जौ अनाथ हित हम पर नेहू', 'प्रनतपाल', 'कृपा करहु प्रनतारति मोचन' इत्यादि मृदुल हैं। 'सेवक सुरतरु…नायक' विनीत हैं और 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' प्रेमरसमें पगे हुये वचन हैं।" (प्रेमपगे तो सभी हैं क्योंकि 'प्रेम न हृदय समात' पूर्व कह आए हैं। वह प्रेम वचन, पुलक इत्यादि रूपसे बाहर निकल पड़ा है अतः वचन क्या हैं मानो प्रेमही हैं।)

टिप्पणी—३ 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना।०' इति। (क) राजाने कहा था कि आप सेवकके कामधेनु हैं, कल्पवृक्ष हैं और प्रणतपाल हैं, इन्हीं वचनोंको चरितार्थ करनेके लिए यहाँ 'भक्तवत्सल' कहा ('सेवकसुरधेनु' भगवान् हैं तो भक्त 'वत्स' हुआ ही। स्वयं भक्तके पास आए, अतः 'भगतबछल' विशेषण

उपयुक्त है) । जो राजाने कहा था कि 'करहु कृपा प्रनतारतिमोचन' अर्थात् कृपा करके मुझ आर्त्तको दर्शन दीजिए; इस वचनको चरितार्थ करनेके लिए 'कृपानिधान' कहा अर्थात् भगवान् कृपा करके प्रगट हुए। ☞भगवान्के प्रगट होनेका मुख्य कारण कृपा है; यथा 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी', 'सो प्रगट करुनाकंद सोभावृंद अग जग मोहई' तथा यहाँ 'भगतबछल॰' कहा [मृदुल, विनीत और प्रेमरस पागे ये तीन विशेषण वचनके दिए । वैसे ही तीन ही विशेषण भगवान्के दिये गए—भगतबछल, प्रभु और कृपानिधान। भक्तवत्सल हैं, प्रेमरसपागे वचन प्रिय लगे । प्रभु हैं, विनीत वचन पर प्रसन्न हुए । कृपानिधान हैं, मृदु वचन पर कृपा की । (वि॰ त्रि॰)] (ख) 'बिस्वबास प्रगटे भगवाना' । तात्पर्य कि वे कहीं अन्यत्रसे नहीं आए, उनका वास तो विश्वमात्रमें है, (वे वहीँसे) उसी जगह जहाँके तहाँ ही प्रगट हो गए, यथा—'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं । कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं । १८५।६ ।' (ग) 'प्रगटे' का भाव कि सूक्ष्मरूपसे भगवान् सर्वत्र हैं, देख नहीं पड़ते, वहीं प्रगट हो गए । 'प्रगटे भगवाना' का भाव कि ऐश्वर्य्यमान् रूप प्रगट हुआ । पुनः दूसरा भाव कि भक्त और भगवान्का सम्बन्ध है, भक्तहेतु प्रगट हुए, इसीसे 'भगवान्' कहा। यथा "भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।७।७२।" (घ) प्रथम प्रेम कहा-'दंपति बचन प्रेमरस पागे' । तत्पश्चात् प्रगट होना कहा, क्योंकि प्रेमसे भगवान् प्रगट होते हैं; यथा 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना । १८५।५ ।' उदाहरण लीजिए—'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदय हरनभवभीरा । ३।१० ।', 'जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानीं । कहि न सकहिं कछु मन सकुचानीं ॥ लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ । २३२ ।' इत्यादि। [☞ यहाँ 'विश्वबास' और 'भगवान' पद देकर जनाया कि श्रीसीतारामजी ही 'वासुदेव' और 'परमप्रभु' हैं जिनका मंत्र जपते थे और जिनके दर्शनकी अभिलाषासे तप कर रहे थे । गुप्त थे सो प्रगट हो गए ।] ।

४ 'नीलसरोरुह नीलमनि नीलनीरधर स्याम' इति । (क) कमल समान कोमल और सुगंधित नीलमणिसमान चिक्कन और दीप्तिमान् और नीले मेघोंके समान गंभीर श्याम शरीर है । एक उपमामें ये सब गुण नहीं मिले, इससे तीन उपमाएँ दीं । पुनः, इन तीन उपमाओंके देनेका भाव कि संसारमें जल, थल और नभ ये तीन स्थान हैं । यथा 'जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना । १।३।४ ।' इन तीनों स्थानोंकी एक एक वस्तुकी उपमा दी । जलके कमलकी, पृथ्वीके मणिकी और आकाशके मेघकी । (ख) 'नीरधर' शब्दसे सजल मेघ जनाए । 'नील नीरधर स्याम' में नील 'नीरधर' का विशेषण है और श्याम भगवान्का विशेषण है (ग) 'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम' इति । यथा 'स्याम सरीर सुभाय सुहावन । सोभा कोटि मनोज लजावन' । कामदेवका रंग श्याम है, इसीसे कामकी उपमा लिखी ।

* कमल, मणि और नीरधर तीन उपमाओंके और भाव *

वैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ तीन उपमान दिए । इन तीनोंमें मिलकर १६ धर्म हैं । इनकी उपमा देकर तनके षोड़श शोभामय गुण दर्शित किये हैं । कमलकी उपमा देकर छः गुण दर्शाए, मणिसे आठ गुण और मेघसे दो गुण । कमलके धर्म्म हैं 'सुन्दरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्धता, मनोहरता और मकरन्द' । प्रभुका शरीर सर्वांग सुठौर, कोमल, सुकुमार, सुगन्धयुक्त, सहज ही मनोहर और असीम माधुर्य्यरसयुक्त । मणिके धर्म हैं 'उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरणरहित, शुद्ध, अपावन न होनेवाला तथा सुखमा, एकरस दीप्ति, आबवाला' । वैसे ही प्रभु तमोगुणादि रहित हैं, देहमें मलिनता नहीं, निरंजन निर्मल एकरूप, तनमन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज, लावण्य, इत्यादि धर्मयुक्त हैं । मेघ गंभीर श्याम, बिजलीयुक्त । प्रभुका गंभीर श्याम तन, और तनपर पीतपट ।

२—श्यामतनके भिन्न भिन्न धर्मोंके भिन्न भिन्न उपमान दिए गए । सब धर्म्म जो वक्ता दिखाना चाहते

थे वे किसी एक उपमानमें नहीं मिले; इससे वे बराबर उपमा देते गए। श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें अंगदजीके बिदाईके प्रसंगमें 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि' ऐसा कहा है। वहाँ कुलिश और कुसुमकी उपमायें चित्तके लिये दी गई हैं। कुलिश मणि है और कमल कुसुम है। इस प्रकार कमलवत् श्याम और कोमल इत्यादि गुणोंका ग्रहण होगा, यथा 'नीलांबुज श्यामल कोमलांगं सीतासमारोपित वाम भागं'; मणिवत् श्याम और कठोर अर्थात् इससे पुष्ट और एकरस सहज प्रकाशमान् गुण लेंगे। यथा 'परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कुछ चहिय दिया घृत बाती'। कमल और मणिकी उपमा देनेपर सोचे कि ये सबको सुलभ नहीं, सबको इनसे आनंद नहीं प्राप्त हो सकता और इन्हें सर्वसाधारणने देखा भी नहीं, सुना भर है, अतएव जलधरकी उपमा दी। यह उपमान ऐसा है जिसे सबने देखा है। सब धर्म यहाँ मिल गए। मेघवत् गंभीर और चराचरमात्रको सुखदायक।

३—यहाँ मालोपमालंकार है। ☞ स्मरण रहे कि "गोस्वामीजीकी मालोपमाओंमें अन्य कवियोंकी अपेक्षा यह बड़ी भारी विशेषता है कि वे जिस विषयके वर्णनमें जहाँ जितनी आवश्यकता समझते हैं वहाँ उतनी उपमाएँ देते हैं। उपमाओंकी व्यर्थ भरमार करके अपना और पाठकका समय नष्ट नहीं करते।"

४—यदि कोई कहे कि मेघ तो अर्क यवासा को जलाते हैं तो उसका उत्तर यह होगा कि अर्कयवास-रूपी दुष्ट अपने कर्मोंसे नष्ट हो जाते हैं। मेघ या प्रभुका कुछ दोष नहीं, यथा 'तुलसी दोष न जलद को जौ जल जरत जवास'। पुनः, नीरधरसे श्रीरामजीकी सहृदयता तथा परोपकारपरायणता भी दिखाई है। मेघ जा जाकर सबको जल देते हैं और आप कृपानीरधर हैं, भक्तोंके पास जा जाकर कृपा करते हैं। यथा 'कृपा-बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारतिहारी।' (लं०),

५—वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि—(क) कोमल सरसादि होनेसे कमल वात्सल्य भावका द्योतक है। राजत्व (ऐश्वर्यत्व) किंवा राजसमाजमें मणिकी उपमा उपयुक्त होती है। 'कृपा-बारिधर राम खरारी' के अनुसार मेघकी उपमा कृपाकी द्योतक है। (ख) प्रायः सर्वत्र एक ही उपमा दी जाती है। यहाँ तीन उपमायें एक साथ देनेका भाव यह है कि एक तो भगवान्‌को देखते ही मनुजीके हृदयमें कोमल (वात्सल्य) भावका संचार हो गया, इसे जनानेके लिये 'नील सरोरुह स्याम' कहा। दूसरे, मनु राजा थे और भगवान्‌के ऐश्वर्यको जानते थे, अतः कविने 'नील मनि स्याम' कहा। और, मनुजी कृपा चाहते थे, यथा 'कृपा करहु प्रनतारति मोचन', इसलिये 'नील नीरधर स्याम' कहा।

६—पंजाबीजी कमलसे कोमलता, मणिसे प्रकाश और मेघसे उदारता और गंभीरता गुण लेते हैं।

७—रा० प० का मत है कि सरोरुहकी चिकनाई और सुगंध, मणिकी चमक और घनकी श्यामता ये गुण स्वरूपमें हैं। दर्पणकी उपमा न दी क्योंकि वह सुगंधरहित है। और रा० प्र० का मत है कि नील-कमल समान चिक्कन और कोमल है, नीलमणिसम चमक है और नील मेघके समान सरस है। भाव कि मुख की 'पानिय' (आब) विमल है और श्यामता तीनोंके समान है।—एक पर एक उपमा देते गए जब तीसरी उपमा भी योग्य न देखी तब हार मानकर चुप हो रहे। अथवा, तीन उपमायें देकर इनको त्रिदेवका कारण जनाया।

८—काशीनरेश श्रीईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजी लिखते हैं कि एक ही श्यामताको तीन प्रकारसे कहकर 'सत् चित आनंद' भाव दरसाया।

९ वि० त्रि० लिखते हैं कि जलमें सर्वोत्तम नीलिमा नीलकमलकी, थलमें नीलमणिकी और नभमें नीरधरकी है। इन तीनों नीलिमाओंकी शोभा सलोने श्यामसुन्दरमें है।

नोट—३ 'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम' इति। श्याम तनके लिए उपमा पर उपमा देते गए फिर भी समता न देखकर अन्तमें कहना पड़ा कि 'लाजहिं०'। ऐसा करके उपमेयका अनुपम

होना दिखाया। परमोत्कृष्टता जनानेके लिए इतनी उपमाएँ दी गईं। यहाँ किसीके मतसे तीसरा और किसीके मतसे पाँचवाँ प्रतीपालंकार है। 'कोटि कोटि शत' असंख्य, संख्यारहितका वाचक है। भाव यह है कि जैसा शरीरका रंग और शोभा है वह तो किसीसे कहते नहीं बनती; उपमा जो दी गई वह किंचित् एक देशमें जानिये, नहीं तो निरुपमकी उपमा कैसी ? यथा 'नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होत।' (गी० १।१६।३)। 'कोटि कोटि शत' कहनेका भाव कि जैसे एक दीपकसे अधिक प्रकाश दोमें, और दोसे तीनमें अधिक प्रकाश होता है वैसे ही यदि संख्यारहित कामदेव एकत्र हों तो भी उन सबोंकी समष्टि शोभा श्रीरामजीके श्यामतनकी शोभाके सामने तुच्छ हो जाती है, जैसे सूर्य्यके आगे दीपक। प्रभुके शरीरकी श्यामतामें जो दिव्य एकरस गुण हैं वे नीलकमल, नीलमणि और नीले मेघोंमें कहाँ ?
☞ यहाँ समष्टि शोभा कहकर आगे अंग अंगकी शोभा पृथक् पृथक् कहते हैं।

सरद मयंक बदन छबिसींवां। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवां॥१॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधुकर निकर बिनिंदक हासा॥२॥
नव अंबुज अंबक छबि नीकी। चितवनि ललित भावतीं† जी की॥३॥
भृकुटि मनोज-चाप छबि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी॥४॥
कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुपसमाजा॥५॥

शब्दार्थ—मयंक = चन्द्रमा। बदन = मुख। सींवाँ = हद, मर्य्यादा, सीमा, जिससे बढ़कर और नहीं। कपोल = गाल। चिबुक=ठुड्डी, ठोढ़ी। ग्रीवा=कंठ। अधर=ओष्ठ, होंठ, ओंठ। रद=दाँत। नासा = नासिका, नाक। अरुन (अरुण) = लाल। बिधु = चन्द्रमा। कर = किरण। निकर = समूह। बिनिंदक=निन्दा करनेवाला, अत्यन्त नीचा दिखानेवाला। हास्य=हँसी, मन्द मुसकान। अंबुज = कमल। नव=नवीन, ताजा खिला हुआ। ललित=सुन्दर, मनोहर, प्यारी, स्नेह भरी। ❀ भावती = भानेवाली, अच्छी लगनेवाली। भृकुटि = भ्रू, भौंह। पटल=पटली, तह, आवरण, तट। पुनः, पटल = समूह,—'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी', 'मोह महाघन पटल प्रभंजन'। भ्राजना = दीप्तिमान होना। कुटिल = घूमे हुए, घुंघराले, छल्लेदार। मकर = मीन, मछली। = मगर। "मकराकृत कुंडल गोलाकार होता है जैसे मछलीका मुँह और पूँछ मिलानेसे आकार बनेगा।"

अर्थ—उनका मुख शरदपूनोके चन्द्रमाके समान छबिकी सीमा है। गाल और ठोढ़ी सुंदर हैं, गला शंखके समान है। १। ओंठ लाल, दाँत और नाक सुंदर हैं। हँसी चन्द्रमाकी किरणसमूहको अत्यन्त नीचा दिखानेवाली है। २। नेत्रोंकी छबि नये खिले हुए कमलकी छबि से अधिक सुन्दर है और चितवन स्नेहसे भरी हुई मनको भानेवाली है॥ ३॥ भौंहें कामदेवके धनुषकी शोभाको हरनेवाली हैं। ललाट-पटलपर तिलक (समूह बिजलीका) प्रकाश कर रहा है॥ ४॥ कानोंमें मकराकृत कुंडल और सिरपर मुकुट सुशोभित है। टेढ़े घुँघराले बाल (क्या हैं) मानों भ्रमरोंके समाज हैं॥ ५॥

नोट—१ यह सम्पूर्ण प्रसंग भी उपमा और प्रतीप अलंकारसे अलंकृत है।

२—वैजनाथजी लिखते हैं कि दोहा १४६ में पूर्व सोलह गुण कहे। उनमें कमल, मणि और मेघ ये तीन उपमान कह चुके। वहाँ जो तेरह धर्म गुप्त कहे वही तेरह उपमान आगे कहते हैं। यथा—मुख-शशि, ग्रीव-शंख, हास्य-चन्द्रकिरण, नेत्र-कमल, भृकुटी-कामचाप, कुण्डल-मकर, केश-भ्रमर-समाज, भुजदंड-करिकर,

†—भावंती—१६६१ ❀ "शृङ्गार रसमें एक कायिक हाव या अङ्गचेष्टा जिसमें सुकुमारता (नज़ाकत) के साथ भौंह, आँख, हाथ, पैर अंग हिलाए जाते हैं" ।—(श० सा०)।

कंधर-केहरि, पीतपट-तड़ित, उदररेखा लहर, नाभि-यमुनभँवर, और पद-राजीव । और, ऊपर दोहेमें जो कहा है कि शरीरकी शोभाको देखकर असंख्यों कामदेव लज्जित हो जाते हैं उस वाक्यके प्रमाण हेतु यहाँ कपोल, चिबुक, अधर, दाँत, नासिका, चितवन, तिलक, ललाट, मुकुट, शिर, श्रीवत्स, उर, वनमाला, पदिक, आभूषण, जनेऊ, बाहुभूषण, कटि, निषंग, कर, धनुष और बाण इन बाईस अंगोंकी शोभाकी उपमा नहीं दी । (प्रथम संस्करणमें हमने इसको इस प्रकार लिखा था.—वैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ 'सरद मयंक बदन···' से लेकर 'पद राजीव बरनि नहि जाहीं ॥ १४८।१ ॥' तक १३ उपमान देकर उनके १३ धर्म्म गुप्त दिखाए हैं । २२ अंगोंकी शोभाकी उपमा नहीं दी गई; उनके विषयमें 'चारु', 'ललित', 'भावती जीकी' इत्यादि विशेषण देकर उनको योंही रहने दिया । इसका कारण यह है कि वे अनुपम हैं, उनकी उपमा नहीं मिली । जो ऊपर दोहेमें कह आए हैं कि 'लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम' उसीका निर्वाह इन चौपाइयोंमें खूब ही हुआ है" । जिस अङ्गकी किंचित् भी उपमा पाई उसे देते गए ।)

३—पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'सींव' समुद्रको कहते हैं, यहाँ 'सींवा' से ही चले (अर्थात् 'सीवां' से रूप-वर्णन-प्रसंगको उठाया) और सीवाँहीपर समाप्त किया है, 'छबिसमुद्र हरिरूप निहारी' अन्तमें और 'बदनछबिसीवाँ' आदिमें कहा है । यहाँ वाचक लुप्तोपमा है ।

टिप्पणी—१ 'सरद मयंक बदन छबिसीवाँ ॥०' इति ॥ (क) ☞शरीरके श्यामवर्णकी शोभा कहकर अब अङ्गोंकी शोभा कहते हैं । (ख) मुख छबिकी सीमा है अर्थात् जैसी शोभा मुखकी है वैसी कहीं नहीं है । 'सींव' कहकर सूचित किया कि शरद्चन्द्रसे मुखकी छबि अधिक है, यथा 'सरदचंद्र निंदक मुख नीके ॥ २४३।२ ॥' पुनः, भाव कि 'शरद्मयंक' से निर्मल चन्द्र कहा, छबिसींवसे पूर्णचन्द्र कहा; क्योंकि पूर्णिमाका पूर्णचन्द्र छबिकी सीमा होता है । रामचन्द्रजीका मुख छबिकी सीमा है; अतः उसकी उपमा छबिसींव चन्द्रकी देते हैं, यथा 'भए मगन देखत मुख सोभा । जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥ २०७।६ ।', 'सरद सर्बरीनाथ मुख सरद सरोरुह नयन ॥ २।११६ ।' इत्यादि । भाव कि शरदमयंक छबिकी सीमा है, उसके समान बदन छबिकी सीमा है । (शरद्मयंकको मुखसे उपमित करनेपर भी कविको सन्तोष न हुआ तब उसे छबिकी परमावधि बतलाया । वि० त्रि०) । (ग) 'दर ग्रीवाँ' इति । कंठ शंखसमान है । शंखमें तीन रेखाएँ होती हैं, उपमा देकर कंठको त्रिरेखायुक्त (एवं चढ़ाव उतारसहित) सूचित किया । यथा 'रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवा । जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवा ॥ २४३।८ ॥' इसमें 'वाचक लुप्तोपमा' है ।

श्रीवैजनाथजी—छबिके अङ्ग हैं—द्युति, लावण्य, रूप, सौंदर्य, रमणीयता, कान्ति, माधुरी, मृदुता और सुकुमारता । मुखको शरत्चन्द्र कहा है । चन्द्रमामें भी ये सब अङ्ग हैं । द्युति अर्थात् झलक दोनोंमें है । मुखमें लावण्य जैसे कि मोतीका पानी और चन्द्रमें श्वेतता । मुखमें रूप (बिना भूषणके भूषितवत् जान पड़ना) और चन्द्रमें प्रकाश । मुखमें सौंदर्य (सर्वांग सुठौर बना होना) वैसे ही चन्द्र वर्तुल बना । मुखमें रमणीयता (देखनेपर अनदेखा सा लगना) कान्ति (स्वर्णकीसी ज्योति), माधुरी (देखनेसे नेत्रका तृप्त न होना), मृदुता, सुकुमारता हैं; ये चन्द्रमामें क्रमशः किरण, कांति, अमियमयशीतलता, निर्मलता और सुकुमारता (ऐसी कि रविकी किरणोंको नहीं सह सकता हैं ।

टिप्पणी—२ (क) 'अधर अरुन रद सुंदर नासा ।०' इति । यथा, 'अधर अरुनतर दसन पाँति बर मधुर मनोहर हासा । मनहु सोन सरसिज महँ कुलिसन्ह तड़ित सहित कृत बासा ॥' इति गीतावल्याम् (७।१२ ।) । (ख) 'बिधुकर-निकर-बिनिंदक हासा ।०' इति । हास चंद्रकिरण समूहका निंदक है । इससे दाँतोंकी चमक दिखाई । यथा, 'कुलिस कुंद कुड्मल दामिनिदुति दसनन्हि देखि लजाई ।' (वि० ६०), 'कुलिसन्ह तड़ित सहित किय बासा । (उपर्युक्त) । ☞मुख शरच्चन्द्रको लज्जित करता है और 'हास' चन्द्रकिरणको । चन्द्रमासे किरण है, मुखसे हास है । (ग) यहाँ 'हास' वर्णन करनेमें भाव यह है कि श्रीरामचन्द्र-

जी राजासे हँसकर मिले। यह प्रभु का स्वभाव है। वे सबसे हँसकर मिलते हैं; यथा, 'रामबिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरिसुमिरि सोचत हँसि मिलनी ॥ ७।१९।' [इससे 'निजानन्द' और हृदयका अनुग्रह सूचित होता है, यथा 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥ १९८।७॥' अर्थात् यह आनन्दपूर्ण हास भक्तोंपर अनुग्रह दर्शित करनेके लिये होता है। इससे भक्तोंके हृदयकी तपनको मिटाते हैं, यथा 'जियकी जरनि हरत हँसि हेरत ॥२।२३६॥' (प्र० सं०)]

३ 'नव अंबुज अंबक छबि नीकी।०' इति। (क) नवीन कमलसे भी नेत्रोंकी छबि 'नीकी' है। और सुन्दर चितवन 'जीकी भावती' है। भाव कि नेत्रोंकी उपमा कमलकी दी, पर चितवनकी कोई उपमा है ही नहीं, तब उपमा कहाँसे दें ? चितवन जीकी भावती है अर्थात् जीके भीतर ही रह गई, बाहर न प्रगठ करते बना, यथा 'चितवनि चारु मार मनु हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी। २४३।३।' पुनः, 'भावती जी की' का दूसरा भाव कि जब श्रीरामजी हँसकर चितवते हैं तब उनकी चितवन जीकी जलन (हृदयके ताप) को हर लेती है, यथा 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत। २।२३६।८।' इसी भावसे 'भावती जीकी'। कहा यही भाव दिखानेके लिए यहाँ "हास, नेत्र और चितवन" तीनोंको एक साथ (तीन चरणोंमें एकके बाद एकको) वर्णन किया [भा० ३।१५।३६ में यही भाव यों वर्णन किया गया है। "कृत्स्न प्रसादसुमुखं स्पृहणीयधाम स्नेहावलोक केलयाहृदि संस्पृशन्तम्।' अर्थात् भगवान् अपनी स्नेहमय दृष्टिसे सबके हृदयको सुखी कर रहे हैं। इसी बातको गीतावली ७।२१ में 'चितवनि भगत कृपाल' भी कहा है। नेत्रको कमलकी उपमा देकर बड़े बड़े (कर्णान्त दीर्घ) और लाल डोरे पड़े हुए सूचित किया। यथा 'अरुन कंज दल बिसाल लोचन' (गी० ७।७)। पुनः 'भावती जी की' से जनाया कि हृदयको आह्लादित करनेवाली है, जिसकी ओर देखते हैं उसे अपना लेते हैं।] (ख) 'भृकुटि मनोज चाप छबिहारी।०' इति। (क) भौंहोंकी शोभा टेढ़ेपनकी है, इसीसे धनुषकी उपमा दी। धनुष सुन्दर नहीं होता, इसीसे कामके धनुषकी उपमा दी। कामके धनुषसे ये सुन्दर हैं, अतएव 'मनोजचाप छबिहारी' कहा। [कामका धनुष इतना सुन्दर है कि उसका नाम उन्मादन है। उन्माद उत्पन्न कर देता है। इस भौंहके सामने उन्मादन कुछ भी नहीं है। (वि० त्रि०)]

नोट—४ "तिलक ललाट पटल दुतिकारी" इति।—'पटल' शब्दके भिन्न-भिन्न अर्थोंके कारण इस चरणके कई अर्थ हो सकते हैं।—(१) 'ललाट-पटल'=मस्तकका तल (सतह)=ललाट-मण्डल। 'कस्तूरी-तिलकं ललाटपटले वक्षस्थले कौस्तुभम्' से भी 'पटल' का यही अर्थ सिद्ध होता है। 'दुति' (द्युति) का अर्थ दीप्ति, कांति, प्रकाश, चमक है। इस प्रकार इस चरणका अर्थ यह होगा कि "ललाटकी तहपर तिलक प्रकाशमान है।" 'दुतिकारी'=चमकनेवाला, प्रकाश करनेवाला।

(२) 'पटल' के कई अर्थ हैं—कपाट, आवरण, छत, पटली, परत, पटरा, समूह। पं० रामकुमारजी और अनेक टीकाकारोंने 'समूह' अर्थ लेकर इस चरणका अर्थ यों किया है।—'मस्तकपर तिलक समूह-प्रकाश कर रहा है', वा, 'समूह ललाटपर तिलक प्रकाश कर रहा है।'

(३) बैजनाथजी 'पटल' का अर्थ 'छा रहा है'—ऐसा करते हैं। 'पटलं छदिः (अमर २।२।१४) द्वे छादनस्य इत्यमर-विवेके'। अर्थात् तिलकका प्रकाश माथेपर छा रहा है।

(४) विनायकीटीकाकारने 'पटल दुतिकारी' का अर्थ 'बादलमें बिजलीके समान...' किया है। हमको कोशमें पटलका अर्थ 'मेघ' नहीं मिला।

(५) श्यामवर्ण ललाटपर केशरका पीला-पीला तिलक है, इसीसे बिजलीकीसी छटा दिखा रहा है। ऊर्ध्वपुण्ड्र रेखाएँ ऐसी शोभा दे रही हैं मानों 'अल्प तड़ित जुगरेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई।

(वि० ६२), अथवा—"भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुमरेखु । भ्रमर द्वै रविकिरनि ल्याये करन जनु उनमेखु" । (गी० उ० ६)।

६—बैजनाथजी लिखते हैं कि "कामके धनुषकी छबिसे मोहन और वशीकरण आदि होते हैं, पर वे एकरस नहीं रहते पुनः प्रवृत्तमार्ग है; और भृकुटिकी छबिमें मोहन और वशीकरण अचल एकरस निवृत्त मार्ग है। अथवा, भाव कि भृकुटिको देखकर काम धनुष भी फिर मोहन आदि नहीं कर सकता, यथा 'जे राखे रघुबीर सो उबरा तेहि काल महँ' ।"

टिप्पणी ४ (क) तिलक समूह ललाटमें प्रकाश कर रहा है, यथा 'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं' । ☞भृकुटीको चाप कहकर तब तिलक वर्णन करनेका तात्पर्य्य यह है कि तिलक बाणके समान है, यथा 'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलकरेख रुचि राजे । मनहुँ मदन तम तकि मर्कत धनु जुगल कनकसर साजे ॥ इति गीतावल्याम् ७।१२ ।' (ग) पुनः, तिलककी उपमा बिजलीकी दी गई है इसीसे 'दुतिकारी' कहा, यथा 'कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहउँ समुझाई । अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई' इति विनये (पद ६२) ।

५—'कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा ।०' इति । (क) 'भ्राजा' से सूचित हुआ कि मुकुटमें अनेक प्रकारकी मणियाँ लगी हुई हैं, यथा 'कुंचित कच कंचन किरीट सिर जटित जोतिमय बहु बिधि मनिगन' (गी० ७।१६), 'सिरसि हेम हीरक मानिकमय मुकुट प्रभा सब भुवन प्रकासति । इति गीतावल्याम् । ७।१७ ।' ☞यहाँ तक मुखका वर्णन है; इसका प्रमाण गीतावली 'प्रातकाल रघुबीर बदन छबि…' (७।१२) है । (ख) 'कुटिल केस जनु मधुप समाजा' अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानों बहुतसे भौंरे सिमिटकर एक जगह आ बैठे हैं, समाज एकत्र होनेसे ही जुल्फोंकी उपमा हुई, नहीं तो एक दो भ्रमर जुल्फकी उपमा नहीं हो सकते, और बहुतेरे भ्रमरोंके एकत्र हो समाज बने विना जुल्फका सादृश्य नहीं होता । जब सब अलग-अलग उड़ते रहे तब श्यामता सघन न हुई और जुल्फोंकी श्यामता सघन है, अतएव मधुपसमाजकी उत्प्रेक्षा की गई । भ्रमर चिकने और श्याम होते हैं, वैसे ही केश सचिक्कन और श्याम हैं, यथा "सघन चिक्कन कुटिल चिकुर बिलुलित मृदुल…।" (गी० ७।५), 'कुंचित कच रुचिर परम सोभा नहिं थोरी । मनहुँ चंचरीक पुंज कंजबृंद प्रीति लागि गुंजत कल गान दिनमनि रिझयो री ।' (गी० ७।७), 'चिक्कन कच कुंचित…। १९९।१० ।' इसीसे केशकी उपमा भ्रमरकी दी ।

नोट—५ शोभाका वर्णन मुखसे उठाया क्योंकि मनुजी वात्सल्यभावके रसिक हैं । पिता-माताकी दृष्टि पुत्रके मुखहीपर रहती है । वि०त्रि० लिखते हैं कि सरकारके रूप देखनेकी उत्कट अभिलाषा है, अतः मुखपर ही प्रथम दृष्टि पड़ी, अतः कवि भी पहिले मुखका ही वर्णन करते हैं । शोभाका निर्णय मुखसे ही होता है । अतएव यहाँ तक केवल मुखकी शोभा कही ।

उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला । पदिक हार भूषन मनिजाला ॥६॥
केहरि कंधर चारु जनेऊ । बाहु बिभूषन सुंदर तेऊ ॥७॥
करि-कर सरिस सुभग भुजदंडा । कटि निषंग कर सर कोदंडा ॥८॥
दोहा—तड़ित बिनिंदक पीतपट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवँर छबि छीनि ॥१४७॥

शब्दार्थ—पदिक=(नवरत्नजटित) चौकी-(विशेष नीचे नोटमें देखिये) । जाल=समूह । केहरि=सिंह । कंधर (सं०)=गरदन ।=कंधा । (वै०, रा० प्र०) । करिकर=हाथीकी शुंड (सूँड़) । निषंग=

तरकश । कोदंड = शार्ङ्ग धनुष । तड़ित=बिजली । बिनिंदक=विशेष नीचा दिखानेवाला; मात करनेवाला । पीतपट=पीताम्बर, रेशमी पीला वस्त्र । उदर=पेट । रेख=लकीरें ।

अर्थ—हृदयपर श्रीवत्स चिह्न, सुंदर बनमाला, नवरत्न जटित । (चौकी युक्त) हार और मणियोंसे युक्त आभूषण (पहिने) हैं ॥६॥ सिंहकी सी (मांसल) गरदन है । सुंदर (देदीप्यमान, चमकता हुआ पीत) जनेऊ है और भुजाओंके आभूषण भी सुंदर हैं ॥७॥ हाथीके सूँड़के समान सुंदर भुजदंड हैं । कमरमें तरकश और हाथोंमें धनुष बाण हैं ॥८॥ पीतांबर बिजलीको भी अत्यन्त नीचा दिखानेवाला है, पेटपर सुंदर तीन रेखाएँ (त्रिबली) हैं । नाभि मनको हर लेनेवाली है मानों यमुनाजीके भँवरोंकी छबिको छीने लेती है ॥१४७॥

* "उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला" *

कोई कोई श्रीवत्स और भृगुलता दोनोंको पर्य्याय शब्द कहते हैं और कोई कोई दोनोंको भिन्न-भिन्न दो चिह्नोंके नाम बताते हैं । श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि यह श्रीजानकीजीका दूसरा स्वरूप है । श्रीरामचन्द्रजी सदा भक्ति आदिका दान किया करते हैं इस कारण श्रीजानकीजी श्रीवत्सरूपसे सदैव दक्षिणाङ्गमें सुशोभित रहती हैं । श्रीवत्स=लाञ्छन । छातीपर पीतरोमावलीका गुच्छा दक्षिणावर्त्त,—"श्रीवत्सलाञ्छनमुदारम्" । संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि "वैकुण्ठाधीशके हृदयपर भृगुचरण प्रहार (भृगुलता) मात्रका चिह्न है और श्रीसाकेतविहारी (श्रीराम) जीके हृदयपर दक्षिण ओर श्रीवत्सचिह्न है अर्थात् पीतरोमावर्त है । काञ्चननिभा श्रीकिशोरीजी मानों हृदयहीमें निवासकर यह सूचित कर रही हैं कि सम्यक् चरित्र मेरा ही है जैसा 'रामहृदय' में श्रीकिशोरीजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है । अथवा, वृन्दावनमें तप करनेसे लक्ष्मीजीको हृदयमें इस रूपसे स्थान मिला । वा, ब्राह्मणोंका महा अद्भुत महत्त्व सूचित करनेके लिए श्रीसाकेतबिहारीजीने भी भृगुलताका चिह्न अङ्गीकार किया । अथवा, कार्यकी वस्तु कारणमें भी प्राप्त होती है जैसे श्राद्धकर्मकी वस्तु पिता-माता इत्यादिको प्राप्त होती है ।" (मा० त० वि०) ।

पं० महावीरप्रसाद मालवीय लिखते हैं कि 'श्रीवत्स विष्णुभगवान्‌का नाम है; भृगुलता नहीं । भृगुलताको श्रीवत्सलांछन कहते हैं' । घनश्याम त्रिवेदीजीकी पूर्व पत्रावली मानसशंकाके इस प्रश्नका कि 'विप्रपद चिह्न क्यों न लिखा ?' उत्तर पं० शिवलाल पाठकजी यह देते हैं कि उससे मनुजीको संदेह हो जाता कि ये परात्पर ब्रह्म नहीं हैं । रामचन्द्रजी क्षीरशायी भगवान्‌से परे हैं, उनके हृदयपर भृगुलता नहीं है; नैमित्तिक लीलास्वरूपमें गुप्त रूपसे प्रगट होनेके कारण, आवश्यकता पड़नेपर उसे भी धारण कर लिया करते हैं ।—(स्नेहलताजी, मा० म०) ।

श्रीरसरंगमणिजी श्रीरामस्तवराज 'भावप्रकाशिका टीका' में श्रीरामस्तवराजके 'श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्ताहारोपशोभितम् । १४ ।' के 'श्रीवत्स' पर लिखते हैं कि "छातीपर बाएँ ओर श्वेत रोमावलियोंकी भ्रमरी समान महासौभाग्यभूत महापुरुष लक्षण 'श्रीवत्स' नामका है । यह श्रीजानकीजीका प्रिय चिह्न है जो शोभित है । कहीं-कहीं श्रीवत्सको पीत रंगका भी कहा है ।" (प्र० स्वामी लिखते हैं कि श्रीरामस्तवराजकी टीकामें जो लिखा है वही उचित है । अमरव्याख्या सुधामें 'श्रीयुक्तो वत्सः श्रीवत्सः महत्व लक्षणं श्वेतरोमावर्त विशेषः ।' ऐसी व्याख्या है । भृगुपद चिह्न अर्थ लेना उचित नहीं है) ।

श्रीहरिदासाचार्यकृत भाष्य श्लोक १५ में (श्रीसीतारामसुद्रणालय श्रीअयोध्याजीकी छपी हुई सं० १९८६) पृष्ठ ८१ में आचार्यजी लिखते हैं—"महापुरुषत्वद्योतको वक्षोवर्तिपीतरोमात्मकचिह्न विशेषः श्रीवत्सशब्देनोच्यते । अत्र श्रीवत्सस्य तत्रापि कौस्तुभस्य नित्यविभूषणस्य धारणत्वोक्तेः ।" अर्थात् महापुरुषत्वको सूचित करनेवाला यह जो पीतरोमावर्त्तरूपी चिह्नविशेष वक्षस्थलमें स्थित है वह 'श्रीवत्स' नामसे कहा जाता है । यहां जैसे

श्रीवत्स और कौस्तुभका धारण करना कहा गया है, वैसे ही परात्पर श्रीरामजीके नित्य विभूषणोंमें इन दोनोंका उल्लेख किया गया। इससे यह सिद्ध है कि वे ही परमात्मा यहाँ अवतीर्ण हुए हैं।

पं० रामकुमारजी भी लिखते हैं कि "उरमें श्रीजानकीजीका निवास है। 'श्री' श्रीजानकीजीका नाम है। यथा 'तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम कानन चारी। ३।११।१८।', 'श्री सहित दिनकरबंस-भूषन काम बहु छबि सोहई। ७।१२।', 'जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ। ७।२४।' इत्यादि। विष्णुके उरमें श्रीवत्स है (वहाँ वह श्रीलक्ष्मीजीका चिह्न है। लक्ष्मीजी भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें बिराजती हैं), वे विष्णु श्रीरामजीके अंशसे उत्पन्न हैं। श्रीरामजीकी शक्ति श्रीसीताजी हैं। ये श्रीसीतासहित प्रकट हुए हैं। इसीसे यहाँ 'श्री' शब्दका अर्थ 'सीता' है।

नोट—१ "वनमाला"=तुलसी, कुन्द, मंदार, परजाता (पारिजात) और कमल इन पाँच पुष्पोंकी बनी हुई बनमाला जो गलेसे लेकर चरणों तक लंबी होती है। गीतावलीमें तुलसीके फूलोंसे रचित बन-माल कहा गया है, यथा 'सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि, तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई। गी० ७।३।', श्रीरामस्तवराजमें तुलसी, कुन्द और मन्दार (देववृक्ष-विशेष) के पुष्पोंकी वनमालाका भी उल्लेख है। यथा "तुलसी-कुन्द-मंदार पुष्पमाल्यैरलंकृतम्। १६।" गीतावलीमें 'तुलसिका और प्रसून' और श्रीरामस्तवराजमें 'मन्दार आदि पुष्प' इस प्रकार अन्वय कर लेनेसे वैजयन्ती माला यहाँ भी हो जाती है। अमरव्याख्यासुधामें 'आपादपद्मं या माला वनमालेति सा मता' इतना ही है अर्थात् चरण कमलोंतक लंबी माला 'बनमाला' कहलाती है। उसमें पुष्प विशेषके नाम नहीं हैं।

२—'पदिक हार भूषन मनिजाला' इति। 'पदिक' के कई अर्थ हैं। (१) 'पदिक' (पदक)= रत्न, हीरा, जवाहर, कौस्तुभ। पदिक हार = रतनोंका हार। यथा 'वक्षस्थले कौस्तुभं'। (२) 'पदिक' = चौकी; धुकधुकी; 'नवरत्नजटित स्वर्णका चौकोर आभूषण जो हारके बीचमें वक्षःस्थलपर रहता है। गीतावलीमें पदिकका उल्लेख बहुत जगह आया है। यथा "उरसि राजत पदिक ज्योति रचना अधिक, माल सुबिसाल चहुँ पास बनि गजमनी। गी० ७।५।', 'रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनि हारु। गी० ७।८।", 'भृगु पद चिन्ह पदिक उर सोभित मुकुतमाल…। गी० ७।१६।', "उर मुकुतामनि माल मनोहर मनहुँ हंस अवली उड़ि आवति॥ हृदय पदिक…। ७।१७।", 'उर मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदिक निकाई। जनु उड़गन मंडल बारिद पर नव ग्रह रची अथाई।', 'पटुली पदिक रतिहृदय जनु कलधौत कोमल माल। गी० ७।१८।', 'पहुँची करनि पदिक हरिनख उर…। गी० १।३१।' इत्यादि। इन उद्धरणोंसे पदिक और हार दो अलग अलग भूषण भी जान पड़ते हैं। अथवा, मणि-मुक्ता-हारमें ही नवरत्नजटित पदिक है। दोनों प्रकार हो सकते हैं।

पं० महावीरप्रसादमालवीयजीका मत है कि "रत्नजटित चौकीयुक्त घुटनेतक लटकनेवाला स्वर्ण का हार 'पदिकहार' कहाता है।"

पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि 'मणियोंके हार और मणिजटित आभूषणोंका समूह तथा नव-रत्नयुक्त पदिक पहने हैं।'

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'मणियों और छोटे मोतियोंका पाँच लरोंका हार पदिकके नीचे शोभित है। फिर भूषणों और मणियोंका जाल चार अंगुल चौड़ा उरपर विराजमान है जो मुनियोंके हृदयको अपनेमें फाँस लेता है।'

टिप्पणी—१ (क) 'केहरि कंधर' इति। सिंहकी सी ग्रीवा है। कंधर = ग्रीव। 'कं मस्तकं धरतीति कंधरः'। मस्तकको जो धारण करे वह कंधर कहलाता है। ग्रीव मस्तकको धारण किये है। [परन्तु 'ग्रीव' को ऊपर कह आए हैं, यथा 'चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा।' और कंधेकी उपमा सिंहकी दी जाया करती

ही है। यथा "कंध बालकेहरि दर ग्रीवां। चारु चिबुक आनन छबि सींवां ।७।७७।२।", "केहरि कंध काम करि कर बर बिपुल बाहु बल भारी। गी० १।५४।" इत्यादि। कंधे उन्नत, विशाल और मांसल होनेमें सिंहके कंधेकी उपमा दी जाती है। इससे 'कंधर' का अर्थ लोगोंने कंधा किया है। ☞ शब्दसागरमें 'कंधर' का अर्थ 'गर्दन' दिया है और 'ग्रीवा' का अर्थ "सिर और धड़को जोड़ने वाला अङ्ग; गर्दन" दिया है। दोनों शब्द संस्कृतभाषाके हैं। गोस्वामीजीने यहाँ 'ग्रीवा' की शंखकी उपमा दी है। इससे मानसके उपर्युक्त 'ग्रीवा' का अर्थ 'कंठ वा गला' ही उपयुक्त होगा। गोस्वामीजीने 'ग्रीव' का अर्थ 'कंठ' किया भी है। जैसे 'पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली।' में सुकंठ=सुग्रीव। 'कंधर' शब्द का अर्थ 'गर्दन' अर्थात् कंठके पीछेका भाग (जो मांसल और पुष्ट होता है) ले सकते हैं। अमरकोशके अमर विवेकटीकामें इसका हमें प्रमाण भी मिलता है। यथा 'कण्ठः गलः द्वे ग्रीवाग्रभागस्य। ग्रीवा शिरोधिः कंधरा त्रीणि मान इति ख्यातस्य।' (२।६।८८)। इससे ज्ञात होता है कि ग्रीव समूचे (आगे पीछे दोनों) भागों-का भी नाम है और अग्रभाग तथा पृष्ठभाग का अलग-अलग भी ग्रीवा नाम है। ग्रीवा=कंठ, गला। ग्रीवा= शिरोधि, कंधरा, मान (गर्दन)। वैजनाथजी आदि कुछ टीकाकारोंने 'कंधा' अर्थ किया है। प्र० सं० में 'कंधा' अर्थ दिया गया था। 'कंधर' को शुद्ध संस्कृतभाषाका शब्द जानकर अबकी अर्थ ठीक कर दिया है] (ख) 'चारु जनेउ' अर्थात् सुंदर चमकता हुआ पीत जनेऊ है। यथा 'पीत जज्ञ उपवीत सुहाए। २४४।२।', 'पीत जनेउ महाछबि देई ।३२७।५।', "...दलन दामिनि दुति यज्ञोपवीत लसत अति पावन। गी० ७।१६।' 'चारु' से बिजलीवत् प्रकाशमान् जनाया। (ग) 'सुंदर तेऊ' इति। 'तेऊ' बहुवचन पद देकर जनाया कि बाहुओंमें बहुत आभूषण हैं। यथा 'भुज बिसाल भूषनजुतभूरी। १६६।५।' यहाँ बाहुके आभूषणकी शोभा कही, आगे बाहुकी शोभा कहते हैं।

२ (क) 'करिकरसरिस सुभग भुजदंडा।' इति।—यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। हाथीकी सूँड़के समान कहकर बाहुका आकार और बल वर्णन किया, यथा 'काम कलभ कर भुजबलसींवाँ। २३३।७।' (पुरुषोंकी भुजायें कड़ी और बलिष्ठ होती हैं। चढ़ाव-उतारकी सुडौल और लंबी हैं। हाथीके शुंडमें और सब अंगोंसे अधिक बल होता है। इन सब बातोंके लिए 'करि-कर' की उपमा दी। स्त्रियोंकी भुजाएँ कोमल, नर्म और नाजुक होती हैं इससे स्त्रीकी भुजाको वल्ली कहते हैं, यथा 'चालति न भुज बल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी। ३२७।' और पुरुषकी भुजाको दंड कहते हैं। (ख) 'कटि निषंग कर सर कोदंडा'। धनुषबाण धारण किये हुए मूर्त्ति प्रगट हुई है। इससे सूचित किया कि हम प्रणतारतिहर्त्ता, भक्तसुखदाता और असुरोंके नाशक हैं, यथा 'अंगुलि त्रान कमान बान छबि सुरन्ह सुखद असुरन्हि उर सालति।' (गी० ७।१७)। (ग) मनु महाराजने प्रार्थना की कि जो स्वरूप शिवजी तथा भुशुण्डीजीके उरमें बसता है, उस स्वरूपका हमको दर्शन हो। श्रीशिवजी और कागभुशुण्डिजीके हृदयोंमें धनुषबाण धारण किए हुए ऐसी मूर्ति बसती है, इसीसे धनुषबाण धारण किये हुए मूर्ति प्रगट हुई। (प्रथम 'सर' तब 'कोदंड' कहकर जनाया कि दक्षिण हाथमें बाण है और बाममें धनुष। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'प्रभुकी द्विभुजमूर्तिका वर्णन है, श्रुति भी 'अयमात्मा पुरुषविधः' कहती है। अर्थात् परमात्माकी मूर्ति पुरुष सी है। उस अनाम और अरूपके दिव्य नाम और दिव्य मूर्तियाँ भी हैं, यहाँ द्विभुज मूर्तिका प्रकट होना दिखलाते हैं"।

३ (क) 'तड़ित बिनिंदक पीतपट०' इति। कटि कहकर तब पीतपटका वर्णन करते हैं। इससे सूचित करते हैं कि पीतपट कटिमें बाँधे हैं। यथा 'कटि तूनीर पीतपट बाँधे। २४४।१।' 'केहरि कटि पटपीत धर...। २३३।' पीतपट कहकर तब उदरका वर्णन करते हैं। इससे सूचित करते हैं कि पीतांबर कंधेपर पड़ा हुआ (काँखासोती) उदरतक लटक रहा है। दोनों जगह पीतपट जनानेके विचारसे किसी एक अंगमें धारण करना नहीं लिखा। [(ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ पीताम्बरके संग कोई अंग

नहीं कहे, इससे धोती, जामा, दुपट्टा, सर्वाङ्गके पटका प्रबोध करते हैं (वै०)। 'तड़ित बिनिंदक' कहकर जनायाकि उसमें अलौकिक चमक है। यथा 'पीत निर्मल चैल मनहुँ मरकत सैल पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही। गी० ७।६।'] 'उदर रेख बर तीनि'—पेटपर तीन बल (त्रिबली) का पड़ना शोभा सौंदर्य माना गया है। यथा 'नाभी सर त्रिबली निसेनिका, रोमराजि सैवल छबि छावति।' (गी० ७।१७), 'रुचिर नितंब नाभि रोमावलि त्रिबलि बलित उपमा कछु आव न। गी० ७।१६।' (ग) 'नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवरछबि छीनि' इति। यमुनाके भँवरकी उपमा देनेका भाव कि यमुनाजलके समान श्रीरामजीका श्याम शरीर है, यथा 'उतरि नहाने जमुनजल जो सरीर सम स्याम। २।१०९।' 'छीनने' का भाव कि नाभीकी शोभा सदा एकरस बनी रहती है और यमुनाकी छबि सदा नहीं रहती, उसमें भँवरें उठती हैं और मिट जाती हैं, जब मिट जाती हैं तब मानों भँवरकी छबिको नाभीकी छबिने छीन लिया। (वीरकविजी यहाँ 'असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' कहते हैं)।

नोट—३ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि नाभिकी उपमा बहुधा—"मैन मथानी दोत बिधि कुंड कूप रस भार। भँवर बिबर छबि रूपको नाभी गुफा सिँगार॥" इसके अनुसार दी जाती है। अर्थात् कामदेव की मथानी, ब्रह्माकी दवात, रसका कुंड, रसका कुआँ, शोभाकी भँवर, स्वरूपकी बाँबी और शृङ्गारकी गुफासे नाभिकी तुलना की जाती है, यथा 'मो मन मंजन को गयो उदररूप सर धाय। परयो सुत्रिबली भँवरमें नाभि भँवरमें आय॥'

वि० त्रि०—यही द्विभुज मूर्ति शम्भु-उर-बासी है, इसीके लिये मुनि यत्न करते हैं और यही भुशुण्डि-मन-मानस हंस हैं। इसीकी सगुण-अगुण कहकर वेदोंने प्रशंसा की है। इसीके उदरमें अनन्त कोटि ब्रह्मांड हैं। इसीके भीतर ही सब कुछ है, यह परिच्छिन्न दिखाई पड़ती हुई भी अपरिच्छिन्न है, सर्वाश्चर्य्यमय है, यही परमेश्वरी मूर्ति विश्व ब्रह्माण्डकी प्रतीक है, इसलिये इसे सगुण-निर्गुण रूप अनूप रूप कहा जाता है।

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह* माहीं॥ १॥
बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥ २॥
जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ ३॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ ४॥

शब्दार्थ—बिलास = इशारा, हिलना, फेरना, मनोहरचेष्टा।

अर्थ—(उन) पदकमलोंका (तो) वर्णन ही नहीं हो सकता जिनमें मुनियोंके मनरूपी भौंरे बसते हैं॥ १॥ बाएँ भागमें छबिकी राशि, जगत्की मूल कारण आदिशक्ति (पतिकी शोभाके) अनुकूल सुशोभित हैं॥ २॥ जिनके अंशसे गुणोंकी खानि अगणित लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं॥ ३॥ जिनकी भृकुटिके विलास (मात्र) से जगत् (की रचना) हो जाती है, वे ही श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रजीके बाईं ओर (विराजमान) हैं॥ ४॥

नोट—१ 'पदराजीव बरनि नहिं जाहीं'।—श्रीबैजनाथजी यों अर्थ करते हुए कि 'कमल सम लाल, कोमल इत्यादि नहीं कहे जा सकते' इसका कारण यह लिखते हैं कि कमल में जो भ्रमर रहते हैं वे श्याम वर्ण हैं, विषयरसके लोभी हैं, और स्वार्थमें रत हैं और इन चरणकमलोंमें वास करनेवाले भ्रमर मुनियों के मन हैं जो श्वेत (निर्मल), विषयरसरहित और परमार्थरत हैं और भक्तिरस पान करते हैं। 'पद राजीव' में वाचकधर्मलुप्तोपमा अलंकार है।

२—आदिशक्तिकी छबिके वर्णनमें 'सोभति अनुकूला' भर ही कह कर जना दिया कि वह भी छबि

* जेन्ह—१६६१।

समुद्र हैं, उनका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी अतुलित छबि है, और फिर वे जगन्माता हैं। यथा 'जगत जननि अतुलित छबि भारी', 'कोटिहु बदन नहि बनै बरनत जगजननि सोभा महा'। भावुकोंके लिये इतना कह दिया कि श्रीरामजीके अनुहरित ही सब शोभा है। †

टिप्पणी—१ (क) 'पदराजीव बरनि नहिं जाहीं' इति। भाव कि चरणोंकी शोभाका विस्तार भारी है। चरण ४८ चिह्नोंसे युक्त हैं, २४ अवतारोंके चिह्नोंसे युक्त हैं (अतएव उनका महत्त्व क्योंकर कहा जा सकता है? कहने लगें तो एक बड़ाभारी ग्रन्थ हो जाय फिर भी पार नहीं पा सकते)※। चरणको कमल कहा इसीसे मनको मधुप कहते हैं। (ख) 'मुनि मन मधुप बसहिं०' इति। 'बसहिं' से सूचित किया कि मन मधुप पदकमलका लोभी है, संसारसे तो विरक्त हो गया पर इनका सान्निध्य (समीपता, पास) नहीं छोड़ता, यथा 'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुधमधुप इव तजइ न पासू॥' ☞ जहाँ मुनियोंके मन बसते हैं वहीं ग्रंथकारने भी रूप वर्णनको समाप्त करके अपने मनको बसा दिया। उपासकोंके मनके बसनेका स्थान चरण है। (ग) 'बाम भाग सोभति अनुकूला।' अनुकूल शोभति है, यह कहकर जनाया कि जैसी छबि रामजीकी है वैसी ही छबि श्रीसीताजीकी है। दोनों परस्पर एक दूसरेसे शोभा पाते हैं। यही सूचित करनेके लिए अनुकूल शोभा लिखते हैं। जैसी छबि श्रीरामजीकी वर्णन की वैसी श्रीसीताजीकी नहीं वर्णन कर सकते; इसीसे 'सोभति अनुकूला' इन्हीं दो शब्दोंसे सारी छवि कह दी है। माताकी छबिका वर्णन नहीं कर सकते। उनकी शोभा वर्णन करनेका अधिकार भी नहीं है। [खर्रामें 'अनुकूला' का अर्थ 'प्रसन्न' वा 'अनुकूल नायककी अनुकूलानायिका' दिया है। प्र० स्वामी लिखते हैं कि दोनों अर्थ लेना उचित है। रूप लावण्यादिमें अनुकूल और स्वभावसे भी अनुकूल; क्योंकि दोनों 'कहियत भिन्न न भिन्न' हैं।] (घ) 'आदि-सक्ति छबि निधि जगमूला' इति। आदिशक्ति अर्थात् सब शक्तियाँ इसी शक्तिसे उत्पन्न हुई हैं। छबि-निधि=छबिसमुद्र अर्थात् छबिकी अवधि हैं। जगमूला अर्थात् प्रधानशक्ति हैं। आदिशक्ति और जगमूलाके अर्थ आगे स्पष्ट करते हैं।

नोट—३ 'आदि शक्ति'।—आदि=प्रथम, प्रधान, मूलकारण। 'आदिशक्ति'=मूल कारण शक्ति, जो समस्त शक्तियोंकी मूल कारण और स्वामिनी हैं। करुणासिंधुजी तथा वैजनाथजी लिखते हैं कि ३३ शक्तियाँ हैं जो श्रीसीताजीके भृकुटि विलासको निरख निरखकर ब्रह्माण्डकी रचना और उसके सब कार्य्य करती हैं। यथा महारामायणे—"श्रीर्भूर्लीला तथोत्कृष्टा कृपा योगोन्नती तथा। ज्ञाना पर्वी तथा सत्या कथिताचाप्यनुग्रहा ॥ २ ॥ ईशानाचैव कीर्त्तिश्च विद्येला कान्ति लंबिनी। चन्द्रिकापि तथा क्रूरा कान्ता वै भीषणी तथा ॥ ३ ॥ वांता च नन्दिनी शोका शांताच बिमला तथा। शुभदा शोभना पुण्या कलाचाप्यथ मालिनी ॥ ४ ॥ महोदयाह्लादिनी च शक्तिरेका-दशत्रिका:। पश्यन्ति भृकुटी तस्या जानक्या नित्यमेव च। इत्यादि। सर्ग ॥ ५ ॥"

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीसीताजीको आदिशक्ति इस विचारसे कहा है कि 'सब शक्तियाँ श्रीजानकीजी हीकी कला अंश विभूति हैं। मूलप्रकृति महामाया है जो जगत्की मूल कारण है

---

† अथवा, "अनुकूला=(१) पतिकी आज्ञानुकूल, यथा 'पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता॥ रामचंद्र आयसु अनुसरई॥ जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ"।=(२) श्रीरामानन्दस्वरूपिणी, श्रीरामानन्दकारिणी।"—(करुणासिंधुजी)।—(नोट—श्रीसीताजीका नित्यस्वरूप १२ वर्षका है।)

※ श्रीचरणचिह्नों और उनके कार्य्यावतारोंका वर्णन श्रीभक्तमालतिलक 'भक्तिसुधास्वाद' तृतीयावृत्ति (सं० १९८३) में श्री १०८ रूपकलाजीने और 'श्रीचरणचिह्न' में "लाला भगवानदीनने भाषामें" स्पष्ट लिखा है। महारामायण सर्ग ५२ से ५७ तकमें इसका वर्णन विशेष रूपसे है।

वह श्रीजानकीजीका महत् अंश है। अंश अंशी भावसे श्रीसीताजीको 'जगमूला' कहा। प्रमाणं महारामायणे-
"जानक्यंशादि संभूताऽनेक ब्रह्माण्ड कारणम्। सा मूलप्रकृतिर्ज्ञेया महामायास्वरूपिणी।"

वैजनाथजी—'बाम भाग···' इति। वाम दिशि तो स्वाभाविक प्रतिकूलका स्थान है, इसीसे 'दिशि' शब्द न देकर 'भाग' शब्द दिया। भाग = हिस्सा। इस तरह इस चरणका अर्थ है कि 'ऐश्वर्य माधुर्य्य संपूर्ण में दक्षिण भागमें जैसी शोभा प्रभुकी अद्भुत कह आए हैं वैसी ही वाम भागमें आदि शक्तिकी शोभा विचार लीजिए'। पुनः, बाम प्रतिकूलका स्थान है, इसके निवारणार्थ कहते हैं—'सोभति अनुकूला'। अर्थात् श्रीरामानन्दवर्द्धिनी हैं। भाव कि देखने मात्रको दो रूप हैं पर वास्तवमें एक ही तत्व हैं। "यही कारण है कि प्रथम दक्षिणांगमें प्रभुके रूपमें केवल माधुर्य्य अर्थात् प्रत्येक अंगकी शोभा वर्णन की और बाम भागमें श्रीसीताजीके रूपमें अब केवल ऐश्वर्य वर्णन करते हैं। दोनों मिलाकर ऐश्वर्य माधुर्य्य सर्वाङ्गका वर्णन पूरा किया।" अथवा, यों कहें कि वामभागमें श्रीसीताजीका ऐश्वर्य वर्णन करके श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य भी लक्षित किया, जैसे श्रीरामचन्द्रजीकी माधुर्य्य शोभा कहकर उससे श्रीसीताजीकी भी शोभा लक्षित की।"

टिप्पणी—३ (क) 'जासु अंस उपजहिं गुनखानी।०' इति। यह आदिशक्तिकी व्याख्या है। 'अगनित' का भाव कि जैसे श्रीरामजीके अंशसे नाना शंभु बिरंचि विष्णु पैदा होते हैं वैसे ही श्रीसीताजीके अंशसे अगणित उमा, रमा, ब्रह्माणी पैदा हुई और होती हैं। वहाँ नाना यहाँ अगणित, वहाँ शंभु बिरंचि विष्णु यहाँ उमा-ब्रह्माणी लक्ष्मी। वहाँ भगवान् यहाँ गुणखानी। [श्रीवैजनाथजी 'गुनखानी अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी' का भावार्थ यह लिखते हैं कि 'जिनमें विविध भाँतिके गुण हैं। अर्थात् महालक्ष्मी, नारसिंही, बाराही आदि सतोगुणी; ब्रह्माणी, इन्द्राणी, सौरी, कौवेरी आदि रजोगुणी और काली, भैरवी, कौमारी आदि तमोगुणी इत्यादि अगणित शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।] (ख) 'भृकुटि बिलास जासु जग होई।०', यह जगमूलाकी व्याख्या है। भृकुटिके विलास अर्थात् कटाक्षसे जगत् उत्पन्न होता है, यथा, 'आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया।' [वैजनाथजी 'जग होई' का अर्थ 'जगत्का व्यापार सृष्टि पालन और लय होता है।' ऐसा करते हैं। जब लोककी ओर दयामय भृकुटि होती है तब कार्य करनेवाली सब शक्तियाँ जगत्की रचना कर देती हैं। जबतक सौम्य दृष्टि बनी रहती है तबतक लोकका पालन करती रहती हैं। जब प्रभुका रुख देख भृकुटि टेढ़ी कर लेती हैं तब शक्तियाँ प्रलय कर देती हैं। इस तरह भृकुटि विलाससे जगत्का व्यापार होता है। (वै०)] ☞यहां तक विशेषण कहकर अब विशेष्य कहते हैं। (ग) 'राम बाम दिसि सीता सोई।' श्रीसीतासहित प्रगट होनेका भाव कि मनुमहाराजकी प्रार्थना है कि अखंड ब्रह्म हमको दर्शन दें,—'अगुन अखंड अनंत अनादी'; इसीसे श्रीसीतासहित भगवान् प्रकट हुए। इससे पाया गया कि श्रीसीतासहित पूर्ण ब्रह्म है इसीसे सीतासहित प्रगट हुए। जब पूर्ण ब्रह्मने अवतार लेना कहा तब सीतासहित अवतार लेना कहा—'सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।' विना सीताजीके ब्रह्मकी पूर्णता वहाँ भी न हुई, इसीसे सीता-सहित अवतार लेना कहा।

नोट—४ (क) 'सीता सोई' अर्थात् वही जिनके विशेषण कह आए। वे ही सीताजी हैं जो वाम भागमें सुशोभित हैं। पुनः, 'सोई' शब्द देकर शिवजी पार्वतीजीको इशारेसे जनाते हैं कि ये वही सीता हैं जिनको ढूँढ़ते हुए श्रीरामचन्द्रजीको तुमने दण्डकारण्यमें देखा था। (ख) यहाँ दोनोंके नाम देकर जनाया कि 'राम' और 'सीता' ये दोनों नाम सनातन हैं।

प० प० प्र०—मनुजी तो निर्गुण निराकार अदृश्य अव्यक्तादि सच्चिदानंदघन ब्रह्मको ही सगुण साकार रूपमें देखना चाहते थे, तब उनको आदिशक्ति सहित दर्शन क्यों दिया गया? इसका कारण इतना ही है कि जो निराकार ब्रह्म है वह विना मायाकी सहायताके सगुण साकार, नयन-विषय-गम्य हो ही नहीं सकता। इस दर्शनसे यह सिद्धान्त सूचित किया है। अवतार कार्य भी मायाकी सहायतासे ही होता है।

इसीसे कह देते हैं कि 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।' केवल निर्गुण निराकार ब्रह्म निष्क्रिय है । कोई भी कार्य हो दोनोंसे ही होता है । केवल ब्रह्म या केवल मायासे कुछ नहीं होता है । यह तात्त्विक सिद्धान्त है । यथा 'न घटत उद्धव प्रकृति पुरुषयो रजयोः । भा० १०।८७।३१।'

वि०त्रि०—मनु शतरूपाने पुंरूप और स्त्रीरूप दोनों रूपोंसे संबोधन किया था, यथा 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू' । अतः भगवान दो रूपसे प्रगट हुए। पुंरूपसे छबिसमुद्र हैं और स्त्री रूपसे छबिनिधि हैं। स्त्री रूपसे पुंरूपके अनुकूल हैं और जगमूल भी हैं । पुंरूपसे ब्रह्म हैं तो स्त्री रूपसे मूलप्रकृति हैं । राम और सीतामें ऐसा अभेद और अनुकूलता है कि युगल मूर्तिके भृकुटि विलासमें भी अन्तर नहीं है । यथा 'उमा रामकी भृकुटि बिलासा । होइ बिश्व पुनि पावइ नासा ।' और 'भृकुटि बिलास जासु जग होइ । राम बाम दिसि सीता सोई ।' उसी सीताशक्ति द्वारा ही रामावतार होता है और भगवान् नयनविषय होते हैं—'प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया' । अतः कहा 'राम बाम दिसि सीता सोई ।'

छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी । एकटक रहे नयन पट रोकी ॥५॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा । तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा ॥६॥
हरष बिबस तन दसा भुलानी । परे दंड इव गहि पद पानी ॥७॥
सिर परसे प्रभु निज कर कंजा । तुरत उठाए करुनापुंजा ॥८॥
दोहा—बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसंन मोहि जानि ।
मांगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि ॥१४८॥

शब्दार्थ—एकटक = टकटकी लगाए, स्तब्ध दृष्टिसे । नयनपट=नेत्रके किवाड़ वा परदे, पलक । तृप्ति-संतोष, जीका भर जाना, अघा जाना । पानी = पाणि, हाथ । परसे = स्पर्श किया, (सिर पर) हाथ रक्खा या फेरा । करुनापुंजा = करुणामय, करुणासे परिपूर्ण हृदय वाला, दयालु । करुणा मनका वह विकार है जो दूसरेके दुःखको दूर करनेकी प्रेरणा करता है । "करुणा", यथा 'भगवद्गुणदर्पणे—"आश्रितार्त्त्यग्निनादिम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः । अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकद्रवत् ॥ कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्त निवारणं । इतिव्यादुःखदुःखित्व-मार्त्तानां रघुणेश्वरा ॥ परदुःखानुसंधानाद्विह्वली भवनं विभोः । कारुण्यात्म गुरुत्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः ॥"—(वैजनाथजी) ॥ पुंज = समूह ।

अर्थ—शोभाके समुद्र भगवान्के (ऐसे) रूपको देखकर मनुशतरूपाजी आँखोंकी पलकें रोके हुए टकटकी लगाए (देखते) रह गए ॥ ५ ॥ उस अनुपम रूपको आदरपूर्वक देख रहे हैं । दर्शनसे तृप्ति नहीं मानते (देखते देखते अघाते नहीं) ॥ ६ ॥ आनन्दके अधिक वशमें हो जानेके कारण देहकी सुध भूल गई । वे हाथोंसे चरण पकड़कर दण्डेके समान पड़ गए ॥ ७ ॥ करुणाकी राशि प्रभुने अपने कर-कमलसे उनके सिरोंको छुआ और तुरत उन्हें उठा लिया ॥ ८ ॥ फिर वे कृपाके निधान बोले कि मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर और महान् दानी मानकर जो मनमें भावे वही वर माँग लो ॥ १४८ ॥

टिप्पणी—१ 'छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी ।०' इति । 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' इस वचनको यहाँ चरितार्थ किया कि भगवान्का रूप देखकर एकटक रह गए, पलक मारना बंद कर दिया । (ख) ☞श्रीसीताजी छबिनिधि हैं, श्रीरामजी छबिसमुद्र हैं, इस तरह दोनोंकी छबि समान कही । दोनोंकी छबि कहकर तब फिर हरिको छबिसमुद्र कहनेका तात्पर्य्य कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों एक रूप हैं, यथा 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न । बंदौं सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न । १७ ।'

नोट—१☞छबिको समुद्र कहा । समुद्रसे रत्न निकले वह यहाँ दिखाए हैं, यथा (१) राम बाम दिसि

सीता सोई, उर श्री बत्स रुचिर बनमाला। (२) पदिक हार भूषन मनिजाला। (३) मांगु मांगु धुनि भइ नभ बानी। परम गभीर कृपामृत सानी। (४) चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवां। (५) करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। (६, ७ उदारतामें कल्पवृक्ष और कामधेनु हैं)—'सुनु सेवक सुर-तरु सुरधेनु'। (८) सरदमयंक बदन छबिसींवा। (९) कटि निषंग कर सर कोदंडा।

२—समुद्र मंथनसे चौदह रत्न निकले थे, उनमेंसे यहाँ नौ (श्री, मणि (कौस्तुभ), अमृत, शङ्ख, हाथी (ऐरावत), कल्पवृक्ष, सुरधेनु, मयंक और कोदंड) कहे। शेष पाँचमें से चार तो निकृष्ट हैं। अप्सराएँ वेश्या हैं, वारुणी मादक है, अश्व चंचल है और विष प्राणनाशक है। रहे धन्वन्तरि वैद्य सो वे तो भगवान्‌के कलांशावतार ही हैं। इसीसे इन पाँचको न कहा। पुनः, जिसे देवता और दैत्योंने मथा वह प्राकृत समुद्र था और यह दिव्य छबि सुधा समुद्र है। देवता और दैत्य दोनों मथनेमें सम्मिलित थे इसीसे उसमेंसे उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों प्रकारके रत्न निकले थे। और इसे केवल परम भक्त दंपति राजर्षि मनुने अपने शुद्ध अनन्य प्रेम एवं तपरूप रज्जु तथा मथानीसे मथा था, इससे इसमेंसे उत्तमोत्तम रत्नही प्रकट हुए। (वे० भू०)।

३—वेदान्तभूषणजीका मत है कि यहाँ श्रीरामजीके स्वरूपका वर्णन समुद्रकी लहरोंके समान किया गया है। अर्थात् समुद्रकी लहर जैसे ऊपर उठती है फिर नीचे जाती है, फिर ऊपर जाती और पुनः नीचे गिरती है, यह क्रम किनारे आनेतक बराबर रहता है; इसी तरह मनुके देखनेमें कभी ऊपरका अंग कभी नीचेका, फिर ऊपर फिर नीचे; इसी क्रमसे मुखसे दर्शन आरंभ हुआ और पदकमलपर आकर श्रीसीताजीकी ओर देखना प्रारंभ हो गया। यथा प्रथम मुखको देखा फिर क्रमशः कपोल, चिबुक और कंठको; इसके बाद उन्हें क्रमशः नीचेके अंग देखने चाहिए थे किंतु ऐसा न करके उन्होंने पुनः ऊपर देखना शुरू किया। ओष्ठ, दाँत, नासिकाको क्रमशः देख फिर नासिकाके नीचे हासका दर्शन करने लगे। तत्पश्चात् फिर दृष्टि ऊपर गई। नेत्र, भौंह, तिलक और ललाटका दर्शन किया फिर नीचे कुंडल पर आ गए। पुनः ऊपर मुकुट फिर नीचे केश और शिर। फिर नीचे उरको देख ऊपर कन्धे, जनेऊ और बाहु देखे, तब फिर नीचे कटि देखने लगे। तत्पश्चात् फिर ऊपर कर तब नीचे उदरकी रेखाएँ, पुनः ऊपर नाभि फिर नीचे चरण।—यही दर्शन समुद्रवत् लहरोंका उठना गिरना इत्यादि है; अतः छबिसमुद्र हरि रूप कहा। [समुद्रमें नित्य नई तरंगें उठा करती हैं वैसे ही इस छबिसमुद्रमें रूपकी तरंगें उठा करती हैं, देखनेवाला तृप्त नहीं होता। (वि० त्रि०)]

बैजनाथजी—'छबि समुद्र हरि रूप' कहनेसे एक ही रूपका बोध होता है और यहाँ हैं युगलस्वरूप। तब अर्थ कैसे बने?। समाधान—जनकपुरमें युगलसरकारोंके सम्बन्धमें कहा है "राम रूप अरु सिय छबि देखे। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें।" वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। यहाँ प्रथम ही श्रीकिशोरीजीकी शोभा 'छबिनिधि' शब्दसे गुप्तरूपसे कह आए ही हैं। हरि रूपके समुद्र हैं और किशोरीजी छबिकी तरंग हैं। छबिके नौ अंगोंमेंसे एक अंग रूप भी है। इस प्रकार 'छबि समुद्र रूप' का अर्थ होगा 'नव अंग युक्त छबितरंग (श्रीजानकीजी) सहित हरि रूप अगाध समुद्र'।

नोट—४ (क) श्रीयुगलसरकारोंका ध्यान कहकर तब छबि वर्णनकी इति लगाई। ऐसा करके दोनोंको एक ही रूप जनाया। 'सरद मयंक बदन छबिसीवाँ' उपक्रम है और 'छबिसमुद्र हरिरूप' पर उपसंहार है। (ख) पाँडेजी तथा संत श्रीगुरुसहायलालजी 'छबिसमुद्र हरिरूप निहारी।०' का अर्थ यह करते हैं कि "छबिसमुद्र जो सीताजी हैं उनके शृङ्गारके भीतर हरिरूपको देखकर एकटक रहे"।

५-श्रीजानकीशरण कहते हैं कि-(क) "हरि ही के लिए मनुजीने यात्रा की, हरि ही के लिए तप किया; वही 'हरि'-शब्द यहाँ भी दिया गया। यह ऐश्वर्य्य सूचक नाम है।" (ख) पहले 'छबिनिधि' फिर 'छबिसमुद्र' कहकर बताया कि दोनों स्वरूपों पर टकटकी लगी है। विष्णु नारायणादि भी हरि हैं पर ये छबिसमुद्रके

हरि हैं—'एहि के उर बस जानकी जानकी उर मम बास है', क्षीरसमुद्रके नहीं। क्षीरसमुद्रके हरि तो इनके अंश हैं।" [यहाँ हरि-शब्द देकर जनाया कि परात्पर परब्रह्म हरि यही 'सीताराम' ही हैं, अन्य कोई 'हरि' नहीं—'रामाख्यमीशं हरिम्'। 'एकटक रहे' का भाव कि पलक मात्रका विक्षेप सह नहीं सकते।]

टिप्पणी—२ 'चितवहिं सादर रूप अनूपा।०' इति। (क) ☞भगवान्‌की उपमा कोई नहीं है, यथा 'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कबि कोबिद कहें। ३११।', 'निरुपम न उपमा आन राम समान राम०। ७।९२।' दोनों नेत्रोंद्वारा रूपामृतको पान कर रहे हैं। यथा 'पियत नयनपुट रूप पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा। २।१११।' (यह 'तापस' के संबंधमें कहा गया है)। रूपदर्शनके ये दोनों अत्यन्त भूखे थे, इसीसे 'सादर' (आदरपूर्वक) रूप देख रहे हैं। भूखा अन्नका अत्यन्त आदर करता ही है—यह 'सादर' का भाव है। (ख) 'तृप्ति न मानहिं'—रूप (माधुरी) अमृत है इसीसे पान करनेसे तृप्ति नहीं होती। नेत्र प्रेमप्यासे हैं, यथा 'दरसन तृषित न आजु लगि प्रेम पियासे नयन। २।२६०।' ऐसा प्रेम है कि छबि-समुद्र भी पाकर तृप्ति नहीं होती, यह प्रेमकी विशेषता दिखाई। [समुद्र पाकर भी तृप्त न हुए क्योंकि कितने हजारों वर्षों के तृषित हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि माधुरीमें यही प्रभाव है, यथा 'देखे तृप्ति न मानिए सो माधुरी बखान']।

३ (क) 'हरष बिबस तन दसा भुलानी।०' इति। भाव कि पहिले तनकी सुध थी इसीसे दंडवत की थी,—'बोले मनु करि दंडवत', अब तनकी सुध भूल गई, इसीसे दंड (डंडे) की नाईं (तरह) चरणों-पर गिर पड़े। यहाँ दंडवत करना नहीं कहते। क्रमशः दिखाते हैं कि रूप देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ, हर्षविवश होनेसे तनकी दशा भुला गई, (शरीरकी सुधबुध न रह गई), तनकी सुध भुलानेसे चरणोंमें गिर पड़े। भाव कि शरीरकी सुध न रही अर्थात् शरीर जड़वत् हो गया, इसीसे दंडवत् गिरना कहा। दशा = सुध। ☞[श्रीभरतजीके संबंधमें कहा है कि 'भूतल परे लकुट की नाईं' और यहाँ 'परे दंड इव' कहा। दोनोंमें भेदका कारण यह है कि श्रीभरतजी श्रीसीतारामजीके विरह और शोकमें सूख गए थे इससे उनकी उपमा लकुट अर्थात् पतली छड़ीसे दी और श्रीमनुशतरूपाजी हृष्टपुष्ट हैं,—'मानहु अबहिं भवन ते आए।' इससे उनके विषयमें 'दंड' शब्द प्रयुक्त हुआ।] (ख) ☞मनु महाराजने भगवान्‌का आदर किया। दंडवत करना एवं दंडवत् चरणोंपर गिरना यह आदर है। भगवान्‌ने मनुजीका आदर किया। सिर पर हाथ फेरकर उनको तुरत उठाया। यह आदर है, 'सिर परसे प्रभु०'। (ग) 'तुरत उठाए करुनापुंजा'। बहुत देर तक पड़े रखनेसे मनुजीका 'अनादर' होता (तुरत न उठानेसे सेवकका निरादर और स्वामीमें निठुरता सूचित होती। इसी तरह यदि सेवक स्वयं ही उठ पड़े तो उसमें प्रेमकी न्यूनता प्रकट होती है।) इसीसे 'तुरत उठाए' और करुणापुंज कहा। करुणाके पुंज हैं, यथा—'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई। २।८५।', इसीसे तुरत उठाया। ☞मनुके ऊपर मन वचन कर्मसे भगवान्‌की कृपा है, यह यहाँ स्पष्ट दिख रहा है,—सिरपर हाथ फेरा यह कायिक कृपा है। करुणापुंज यह मानसिक कृपा है और 'बोले कृपानिधान पुनि' यह वाचिक कृपा है।

नोट—५ "श्रीहनुमानजी, विभीषणजी, भरतजी इत्यादि जो जो प्रभुके चरणोंपर पड़े उन सबोंको उन्होंने उठाकर हृदयसे लगाया। यहाँ उठाना तो कहा गया परन्तु हृदयमें लगाना नहीं वर्णन किया गया, यह क्यों ?" समाधान यह है कि "अभी दम्पति और प्रभुमें पिता पुत्रका भाव नहीं है। मनु और शतरूपा दोनों हीने दण्डवत की। प्रभुने दोनोंके शिरोंपर कर-कमल फेरा। यहाँतक बात ठीक बनी सो कही। दोनोंने एकसा तप किया, हृदयसे लगावें तो दोनोंको, यदि एकको छातीसे लगावें दूसरेको नहीं तो दूसरेका अपमान सूचित होगा। मनुजी अकेले होते तो उनको हृदयसे अवश्य लगाते। परायी स्त्रीको हृदयसे लगाना अति अयोग्य है; इस कारण शतरूपाजीको हृदयसे न लगा सकते थे। अतएव केवल उठाना ही कहा।

गोस्वामीजीकी सँभार, उनकी सावधानता, लोक धर्म्म मर्य्यादाकी रक्षा, विलक्षण है, यह उन्हींसे बना है।" (प्र० सं०)

६—मयंककार कहते हैं कि शिर स्पर्शकर उठाना, यह वात्सल्य रस है। नैमिषारण्यमें रामचन्द्रजीकी ओरसे वात्सल्य रस जानो और अवधमें उलटा मनुकी ओरसे वात्सल्य रस जानो क्योंकि यहाँ मनुके पुत्र प्रगट हुए।" (प्र० सं०)

७—अलंकार—यहाँ कर उपमेयसे जो काम स्पर्श और उठानेका होना चाहिए वह उसके उपमान कमल द्वारा होना कहा गया। अतएव "परिणाम" अलंकार हुआ।

टिप्पणी—४ (क) "बोले कृपानिधान पुनि' इति। 'पुनि' का भाव कि उठाकर हृदयमें नहीं लगाया क्योंकि राजाको हृदयमें लगानेसे रानीका 'अभाव' होता, रानीको उरमें नहीं लगा सकते। पुनः भाव कि एक बार प्रथम ही वर माँगनेको कह चुके हैं—'मांगु मांगु बर भइ नभ बानी', अब पुनः बोले। पुनः भाव कि प्रथम उठाया, उठाकर तब बोले। पुनि=तत्पश्चात्, तब। (ख) 'अति प्रसन्न मोहि जानि मांगहु बर···' इति। (भाव कि जो अपनी ओरसे तुमने माँगा सो तो हमने दे दिया, पर हम प्रसन्न ही नहीं किंतु 'अति प्रसन्न' हैं, यह बात इतने ही से समझ लो कि हम अपनी ओरसे तुमसे कहते हैं कि और भी जो कुछ चाहो सो माँग लो। इतना मात्र देनेसे हमको संतोष नहीं हुआ, अतः और भी माँगो। कृपाकी बलिहारी!! 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'।)। (ग) 'अति प्रसन्न मोहि जानि। मांगहु बर०' इति। यहाँ तक वर देनेमें तीन विशेषण दिए—एक तो 'महादानी', दूसरे 'अति प्रसन्न' और तीसरे 'कृपानिधान'। कृपानिधान हैं, अतएव कृपा करके प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर सब कुछ दे देते हैं। 'अति प्रसन्न' का भाव कि तुमने कहा था कि 'जौं अनाथ हित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू' अर्थात् प्रसन्न होकर हमें दर्शन दीजिए, सो हमने प्रसन्न होकर दर्शन दिया, अब हम अति प्रसन्न हैं जो तुम माँगो सो हम दें। (घ) 'महादानि अनुमानि' अर्थात् महादानी समझकर वर माँगो; इस कथनका भाव यह है कि भगवान् अन्तर्यामी हैं, उनके हृदयकी जानते हैं कि जो वर ये माँगना चाहते हैं वह अगम है ऐसा जानकर ये न माँगेंगे (जैसा आगेके इनके वचनोंसे स्वयं स्पष्ट है—"एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जात सो नाहीं॥ तुम्हहि देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहि निज कृपनाईं॥")। (ङ) भगवान्‌ने पुनः वर माँगनेको कहा, क्योंकि राजाके हृदयमें (वर की) लालसा है, यथा "एक लालसा बड़ि उर माहीं'। पुनः दूसरा भाव यह है कि तपका फल तो दर्शन हुआ (सो दे दिया) अब दर्शनका फल होना चाहिए, क्योंकि दर्शनका फल अमोघ है, यथा 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं।५।४८।'

नोट—८ 'महादानि अनुमानि' इति। मनुजीके हृदयमें संदेह है कि यह वर मिले कि न मिले। अतएव प्रथम ही उनको निस्संदेह कर देनेके लिये कहा। ☞स्मरण रहे कि ब्रह्मादि कुछ न कुछ छुड़ाकर वर देते हैं, वरमें कुछ न कुछ शर्त लगा देते हैं। जैसे रावणको वर देनेमें 'बानर मनुज जाति दुइ बारे' ऐसा उससे कहलाकर वर दिया। वे दानी हैं और श्रीसीतारामजी महादानी हैं क्योंकि ये सब कुछ, अपने-तकको भी देनेवाले हैं। (प्र०सं०)। 'अनुमानि' का भाव कि मुझे अनुमानसे जानो कि मैं महादानी हूँ। विधि हरि हर दानी हैं, तब अनुमानसे सिद्ध है कि जिसके अंश दानी हैं, वह अंशी महादानी क्यों न होगा?

९—वैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ वामभागमें अर्थात् श्रीकिशोरीजीमें ऐश्वर्य वर्णन किया है। राजा-रानीको इस ऐश्वर्यकी कामना नहीं है। इसीसे श्रीकिशोरीजी नहीं बोलीं। दक्षिणभाग प्रभुरूपमें माधुर्य वर्णन किया गया है, उसीकी चाह दोनोंको है इसीसे प्रभु ही बोले।" (लोकरीति यह है कि जब स्त्री-पुरुष दोनों साथ होते हैं तब प्रायः पुरुष ही बातचीत करता है।)

सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी । धरि धीरजु बोलीं† मृदुबानी ॥१॥
नाथ देखि पदकमल तुम्हारे । अब पूरे सब काम हमारे ॥२॥
एक लालसा बड़ि उर‡ माहीं । सुगम अगम कहि जात सो नाहीं ॥३॥
तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं । अगम लाग मोहि निज कृपनाईं ॥४॥

शब्दार्थ—पूरे=पूर्ण हुये, प्राप्त हो गए। लालसा=अभिलाषा, उत्कट इच्छा। कृपनाईं=कृपणता, कंजूसी, कादर्य्य, क्षुद्रता, छोटा हृदय होनेसे।

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर वे दोनों हाथ जोड़कर धीरज धरकर कोमल वाणीसे बोले—हे नाथ! आपके चरणकमलोंका दर्शन पाकर अब हमारी सब इच्छाएँ पूरी हो गईं ॥ १ ॥ मेरे हृदयमें एक बहुत बड़ी लालसा है जो सुगम भी है और अगम भी; इसीसे वह कही नहीं जाती ॥३॥ हे स्वामी! आपको तो देनेमें अत्यन्त सुगम है, पर मुझे अपनी कृपणताके कारण बहुत कठिन जान पड़ती है ॥ ४ ॥

टिप्पणी १—'सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी०' इति। (क) 'सुनि प्रभु बचन' का भाव कि यदि भगवान् वर माँगनेको न कहते तो राजा वर न माँग सकते क्योंकि एक बार वर माँग चुके हैं (और वह मिल चुका है। 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन' यह वर माँगा था सो मिला; यथा 'छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी।" (ख) 'धरि धीरज बोले मृदु बानी' इति। [पूर्व कहा था कि 'एकटक रहे नयन पट रोकी' और 'प्रेम बिबस तन दसा भुलानी' इस लिये यहाँ धीरज धारण करना कहा। पुनः] 'धरि धीरज' का भाव कि पूर्व 'प्रेम बिबस तनदसा भुलानी' रही, अब प्रभुने जब उठाया और वर माँगनेको कहा तब सावधान होकर बोले। (ग) 'जोरि जुग पानी'। हाथ जोड़कर बोले क्योंकि जो वर माँगना चाहते हैं कि आप हमारे पुत्र हों वह अगम है अतः हाथ जोड़कर मांगते हैं। (कठिन वर माँगनेकी यह रीति है) यथा 'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ।२।२६।' (कैकेयी)। पुनः भाव कि प्रथम बोले तब दंडवत करके बोले थे, यथा 'बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात। १४५।', अब हाथ जोड़कर बोले। तात्पर्य्य कि जब दंडवत् चरणोंपर गिरे 'परे दंड इव गहि पद पानी' तब भगवान्ने उन्हें उठा लिया, तब हाथ जोड़कर बोले। (वा, पहिले भगवान् प्रगट न थे, केवल आकाशवाणी हुई थी तब दंडवत करके बोले थे। अब प्रत्यक्ष हैं, दंडवत कर ही चुके हैं, और स्वामी हैं, वर माँगना है अतः अब हाथ जोड़कर बोले।) (घ) यहाँ राजाके तन, मन, वचन तीनों दिखाए। तनसे हाथ जोड़े, मनसे धीरज धरा और बचनसे मृदु बोले।

२ (क) 'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे०' इति। सच्चे भक्त विना परम प्रभुके दर्शन पाये अधिकारीवर्गके दर्शनसे सन्तुष्ट नहीं रह सकते, अतः मनु-शतरूपाजीको प्रथम स्वरूपदर्शनकी कामना थी, यथा 'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥' उसका दर्शन हो गया इसी से स्वरूपके देखनेपर कहते हैं कि अब हमारे सब काम पूरे हो गए। अर्थात् अब माँगनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। इसी से आगे अन्य कोई वस्तु नहीं माँगते, इसी रूपकी प्राप्ति माँगते हैं, हमारे पुत्र हूजिए यही माँगना चाहते हैं।

---

† १६६१ में 'बोलीं' है। १७६२ में भी 'बोली' है। अर्थ होगा—'कोमल बाणी बोलीं', 'बानी' एवं 'मृदु बानी' के साथ 'बोले' अन्यत्र भी आया है। यथा "पुनि तापस बोलेउ मृदुबानी। १५६।२।', 'बोले राम सुअवसरु जानी। सील सनेह सकुचमय बानी ।२३६।४।' इत्यादि। अतः हमने 'बोले' पाठ ही समीचीन समझा है। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'बोलीं' क्रियाके कर्त्ता मनु और शतरूपा हैं। ('तृपित न मानहिं मनु सतरूपा')। क्रियाका सम्बन्ध 'सतरूपा' के साथ है। इसलिये क्रियाका प्रयोग स्त्रीलिंगमें हुआ।

‡ मन—रा० प०, वै०।

रूपके (दर्शन) पानेपर भगवान्‌ने अन्य वर माँगनेको कहा, उसीपर मनुजी कहते हैं कि रूप छोड़कर हमारे मनमें अन्य कोई कामना नहीं है, हमारी सब कामना रूप ही है सो पूरी होगई । अथवा, भगवान्‌के चरण-कमलके दर्शनसे सब कामनायें पूरी होती हैं, इसीसे सब कामनाओंका पूरा होना कहा । [पुनः, मनुजी अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इत्यादि जो कुछ भी है वह सब कुछ श्रीसीतारामजीहीको जानते हैं, अतएव उनके दर्शनसे सब कामनाओंका पूर्ण होना कहा (प्र० सं०) ।

३ (क) 'एक लालसा बड़ि उर माहीं' इति । एक लालसा है सो भी स्वरूप ही की प्राप्तिकी है । पुनः भाव कि चरणकमल के दर्शनसे सब कामनाएँ पूर्ण हुईं, अब एकमात्र यही एक लालसा रहगई है सो इसे भी पूरी कीजिए । पुनः भाव कि लालसा 'एक' ही है जो पूर्व थी वही है, दूसरी नहीं है । प्रथम रूप प्रकट होनेकी थी, अब उसके सदा संयोगकी है। 'बड़ि' का भाव कि पूर्व जो लालसा थी उससे यह बड़ी है। पूर्वकी लालसासे भगवान्‌की प्राप्ति क्षणभरके लिए हुई (यह दर्शन घड़ी दो घड़ी का ही है) और इस लालसासे पुत्र होनेसे रूपका संयोग सदा (आजीवन) रहेगा, अतएव इसे 'बड़ी' कहा। (ख) 'सुगम अगम' इसकी व्याख्या आगे स्वयं ही करते हैं । (ग) रूप देखकर तृप्ति नहीं हुई,–'तृपित न मानहिं मनु सतरूपा ।'; इसीसे पुनः रूपकी प्राप्ति माँगते हैं । (घ) 'कहि जाति सो नाहीं' अर्थात् इतनी अगम है कि वर माँगनेकी बात मुँहसे भी कही नहीं जाती । (रा०प्र०कार अर्थ करते हैं कि "सुगम है वा अगम यह कहा नहीं जा सकता")।

वि० त्रि० — गृहस्थोंकी लालसा देखिए । जिसे भगवदंश उत्तानपाद और प्रियव्रत ऐसे पुत्र हुए, किसीसे न प्राप्त होनेवाले पदको प्राप्त करनेवाले ध्रुव जैसे पौत्र हुए, साक्षात् भगवदवतार कपिलदेव जैसे जिसे नाती हुए, उसे अब प्रभु-सा पुत्र प्राप्त करनेकी लालसा हुई । अतः इस लालसा को बड़ी बतलाया ।

नोट—१ 'अब पूरे सब काम हमारे' में द्वितीयविशेष अलंकार है । यह कहकर फिर 'एक लालसा बड़ि मन नाहीं' कहना 'निषेधाक्षेप' है। (वीरकवि) । कुछ लोग कहते हैं कि मनुजीकी लालसा दर्शनकी थी सो पूरी होगई । प्रभुने लीलाहेतु अब यह रुचि उनमें उत्पन्न करदी है । ☞ स्मरण रहे कि मनुजीके सामने परम प्रभु अपने असली रूपसे खड़े हैं । आगे लीला तनके प्रगट होनेका वरदान देंगे ।

टिप्पणी-२ 'तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं०।' इति । (क) 'अति सुगम' का भाव कि दानीको 'सुगम' है और आप महादानी हैं अतः आपको 'अति सुगम' है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है 'मांगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि', इसीसे 'अति सुगम' कहा । (ख) 'गोसाईं' का भाव कि आप 'गौ' (कामधेनु) के स्वामी हैं, अतएव आपके लिए उसका देना 'अति सुगम' है । आगे कल्पतरु का दृष्टान्त देते हैं अतः उसके साहचर्य्यसे यहाँ 'गोसाईं' का अर्थ कामधेनुके स्वामी अति संगत है । (ग) 'अगम लाग मोहि निज कृपनाईं ।' अर्थात् अपनी कृपणताके कारण वह लालसा हमें इतनी अगम लगरही है कि मुँहसे निकालनेमें संकोच होता है । 'अगम लाग' का भाव कि वस्तुतः (आपके लिए वह) अगम नहीं है परन्तु मुझे अगम लगती है । (मुझे जान पड़ता है कि आप शायद न दे सकें) इसीसे संकोच होना है, माँगा नहीं जाता । ['सुगम अगम' में 'विरोधाभास अलंकार' है। आपकी ओरसे अगम नहीं है पर मुझे अपनी क्षुद्रता-के कारण मिलनेमें संदेह होता है, यथा 'अपडर डरेउँ न सोच समूले । २।२६७ ।'; इसी बात को दरिद्रका दृष्टान्त देकर कहते हैं । (प्र०सं०)]

नोट—२ 'गोसाईं' शब्द देकर सूचित करते हैं कि आप हृदयकी जानते हैं, इन्द्रियोंके स्वामी और प्रेरक हैं । 'गो' का अर्थ 'इन्द्रिय' भी है, यथा 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥ ३।१५।३ ।', 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं । ४।१० ।' सुरतरु जड़ है वह दरिद्रके जीकी नहीं जानता, विना माँगे नहीं देता । आप अन्तर्यामी हैं । यहाँ परिकरांकुर अलंकार है।

हृदयकी जानकर स्वयं वर देनेकी कृपा करें, मुझसे कहते नहीं बनता। पुनः, आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ; स्वामी दासके मनोरथको पूरा किया करते हैं; अतएव मेरा मनोरथ पूरा कीजिए। (प्र० सं०)।

३—श्रीकरुणासिंधुजी कहते हैं कि यहाँ "निज कृपनाई" से कार्पण्य शरणागतिका भाव भी निकलता है। कितना ही कोई जप तप आदि करे पर उसके मनमें यह बात स्वप्नमें भी न आनी चाहिये कि मैंने कुछ किया है। प्रभुसे बराबर यही प्रार्थना करनी चाहिए कि मुझसे कुछ नहीं बना, मैं अति दीन हूँ, इत्यादि। वैसे ही यहाँ इतना बड़ा तप करके भी मनुजी अपनेको कृपण कहते हैं।

☞लाखों वर्षका तप कोई चीज नहीं है। प्रभुके रिझानेके लिए दीनता और प्रीति मुख्य हैं, यथा "तुलसी राम कृपालु ते कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥" देखिए महर्षि अत्रिजी क्या कहते हैं—'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।' अनन्य भक्त श्रीसुतीक्ष्णजी भी क्या सोच रहे हैं—'हे विधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया।···मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥ नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा।'

जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति मांगत सकुचाई†॥५॥
तासु प्रभाउ जान नहिं सोई। तथा हृदय मम संसय‡ होई॥६॥
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥७॥
सकुच बिहाइ मांगु नृप मोही। मोरें नहिं अदेय कछु तोही॥८॥
दोहा—दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहौं सतिभाउ।
चाहौं तुम्हहिं समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥१४९॥

शब्दार्थ—बिबुधतरु = कल्पवृक्ष, सुरतरु। बिहाई = छोड़कर, दूर करके। अदेय=जो न दी जा सके। सिरोमनि (शिरोमणि)=मुकुटमणि, श्रेष्ठ। सतिभाउ।=सच्चा भाव=सद्भावसे। दोहा ४ (१) देखिये। दुराउ (दुराव)=छिपाव।

अर्थ—जैसे कोई दरिद्र कल्पवृक्षको पाकर भी बहुत संपत्ति माँगते हुए संकोच करता है (हिचकता है)॥ ५॥ क्योंकि) वह उसके प्रभावको नहीं जानता, वैसे ही मेरे मनमें संदेह होता है॥ ६॥ आप अन्तर्यामी हैं, उसे जानते ही हैं। हे स्वामिन्! मेरे मनोरथको पूरा कीजिये॥ ७॥ (प्रभु बोले) हे राजन्! संकोच छोड़कर मुझसे माँगो। तुम्हारे लिए मेरे पास ऐसा कुछ (कोई पदार्थ) भी नहीं है जो तुमको न दे सकूँ॥ ८॥ (मनुजी तब बोले) हे दानियोंमें शिरोमणि! हे दयासागर! हे नाथ! अपना सच्चा भाव एवं सत्यसत्य कहता हूँ, प्रभुसे क्या छिपाना, मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। १४९।

टिप्पणी—१ 'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई।०' इति। (क) भाव कि मैं दरिद्र हूँ आप कल्पवृक्ष हैं, आपके प्रभावको मैं नहीं जानता, इसीसे हृदयकी लालसा प्रगट करनेमें सकुचता हूँ। ☞प्रथम जब वर माँगा था तब भगवान्‌को 'सुरतरु सुरधेनु' कहा था, वैसे ही अब पुनः सुरधेनु और सुरतरु कहकर तब वर माँगते हैं। 'तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं' में 'सुरधेनु' को कहा और यहाँ 'बिबुधतरु' को कहते हैं। (ख) 'बिबुधतरु पाई' का भाव कि कल्पवृक्ष एक तो किसीको जल्दी मिलता नहीं और दरिद्रको तो अगम ही है। (ग) 'बहु संपति मांगत सकुचाई'। [भाव कि यदि दैव-योगसे मिल भी जाय तो भी बहुत धन माँगनेमें उसे संकोच होता है, कारण कि दरिद्रताके कारण उसका हृदय बहुत छोटा हो जाता है, वह बड़ी वस्तुकी लालसा करते डरता है। यद्यपि जीमें चाह बहुतकी है। वैसे ही मेरे जीमें लालसा बहुत बड़ी संपत्तिकी है,

† संकुचाई—१६६१। ‡ १६६१ में 'संसया' है॥

पर माँगनेकी हिम्मत नहीं पड़ती (वा साहस नहीं होता) । करुणासिंधुजी लिखते हैं कि देवतरु सब कुछ देने योग्य है पर दरिद्र बहुत समझकर माँगते डरता है क्योंकि वह अपनेको उतना पानेका पात्र नहीं समझता इसीसे उसे संदेह रहता है कि मिले या न मिले ।] ☞ जब रूप प्रगट होनेका वर माँगा तब 'कम संपत्ति' थी क्योंकि यह रूप (दर्शन) क्षणभर ही रह सकता है । अब जब पुत्र होकर सदा इस रूपका संयोग माँगते हैं तब इस वरको 'बहु संपत्ति' कहा, क्योंकि यह संपत्ति जन्मभरके ब्योपरनेके लिए है, जन्मभर चलेगी, जन्मभर इस स्वरूपका दर्शन होगा । भगवान् संपत्ति हैं, क्षणप्राप्तिमें कम संपत्ति है, बहुत (दिनोंके लिए) प्राप्तिमें बहुत संपत्ति है । यहाँ उदाहरण अलंकार है ।

२—'तासु प्रभाउ जान नहिं सोई ।०' इति । (क) सोई = वह दरिद्र । संशय यह कि यह वर बहुत भारी है न मिलेगा, इसीसे नहीं माँग सकते । ☞ भगवान्के लिए इतना गजबका भारी तप किया उसपर भी अपनेको 'कृपण', 'दरिद्र' कहते हैं ? तात्पर्य्यकी बात तो वस्तुतः यही है कि भगवान्की प्राप्तिके लिए करोड़ों कल्पोंतक तप करे तो भी कुछ नहीं है । भगवान् तो कृपा करके भक्तको मिलते हैं, तपके फलसे नहीं मिलते, ये पूर्व ही कह आए हैं । यथा 'प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी' । अनन्य दास जानकर भगवान् उनको प्राप्त हुए, तप देखकर नहीं । तप देखकर तो ब्रह्मा विष्णु महेश आए थे, यथा 'बिधि-हरि-हर तप देखि अपारा । मनु समीप आए बहु बारा ॥' क्योंकि ये तीनों देवता तपके फलके देनेवाले हैं ।

३—'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी । पुरवहु०' इति । (क) भाव कि दरिद्र कल्पवृक्षके प्रभावको नहीं जानता, इसीसे बहुत संपत्ति माँगते सकुचाता है और कल्पवृक्ष भी दरिद्रके हृदयकी नहीं जानता क्योंकि जड़ है इसीसे वह उसके मनोरथ पूरे नहीं करता, उससे माँगना पड़ता है तब वह देता है । यथा 'माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच । २.२६७ ।', यह दोष कल्पतरुमें हैं । पर आप अन्तर्यामी हैं, आप हृदयकी जानकर मनोरथोंको पूर्ण करते हैं । (ख) 'तुम्ह जानहु' का भाव कि मैं आपके प्रभावको नहीं जानता, मैं ज्ञानरंक हूँ, आप मेरे हृदयकी जानते हैं क्योंकि आप अन्तर्यामी हैं । मेरे हृदयकी लालसा आप पूरी करें । (ग) 'स्वामी' का भाव कि मैं 'आपका दास हूँ', दासका मनोरथ स्वामी ही पूरा करते हैं—('राम सदा सेवक रुचि राखी') । [बैजनाथजीका मत है कि सुसेवक कुछ माँगते नहीं, स्वामी उनके मनमें मनोरथ उठते ही पूर्ण करते हैं, इसी भावसे 'स्वामी' संबोधन किया । अथवा, पुत्र बनाना चाहते हैं जो सेवक पद है, अतः उसके निवारणार्थ 'स्वामी' कहा । भाव यह कि पुत्रहीमें स्वामित्व चाहते हैं, यह वात्सल्य रसकी रीति है ।]

प० प० प्र०—बिबुधतरु = सुरतरु । यह वाच्यार्थ है । सुरतरु माँगनेपर देता है पर याचकके मनकी इच्छाको वह नहीं जानता । पर वि (= विशेष) + बुध (= विद्वान) अर्थात् विशेष विद्वान तरु हो तो माँगनेकी आवश्यकता नहीं रहती । प्रभु तो 'जानसिरोमनि भावप्रिय' हैं, इससे कहा कि आप जड़ कल्पतरु नहीं हैं आप तो विशेष अन्तःकरणके जाननेवाले तरु हैं; अतः आप मेरी लालसा जानते ही हैं, उसे पूर्ण कीजिए । आप जड़ वृक्ष नहीं हैं, आप तो 'तरन्त्यनेनेति' तरुः अर्थात् जिसकी सहायतासे लोग तरते हैं वह तरु हैं ।

वि० त्रि०—यहाँ अज्ञान दरिद्र है । अहंता ममतासे मूढ़ पुरुषको ब्रह्मसुख अगम है । यथा 'कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख अह-मम मलिन जनेषु ।' वह समझे बैठा है कि ब्रह्मानन्द उसे मिल नहीं सकता । इसलिये वह उसके लिये यत्न भी नहीं करता और न उसके लिये देवी देवताकी आराधना करता है । प्रभु कल्पवृक्ष हैं, उन्हें पाकर भी परमानन्द नहीं माँगता ।

टिप्पणी—४ 'सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही ।०' । (क) राजाने कहा था कि 'जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई । बहु संपति माँगत सकुचाई ।' इसीपर भगवान् कहते हैं कि 'सकुच' छोड़कर हमसे माँगो, (तुम दरिद्र

नहीं हो, तुम तो 'नृप' हो अतः तुम्हें राजा के समान बड़ी भारी संपत्ति माँगनेका अधिकार है, तुम माँग सकते हो), और जो राजाने कहा था कि 'तथा हृदय मम संसय होई' अर्थात् मिलनेमें संदेह होता है, उसीपर भगवान् कहते हैं कि 'मोरें नहिं अदेय कछु तोही'। तात्पर्य कि तुम हमारे जन हो, यथा 'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें। ३.४२.५।' (ख) राजाने कल्पवृक्षकी उपमा दी थी और कल्पवृक्ष विना माँगे नहीं देता, यथा 'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँहँ समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच। २.२६७।' इसीसे आप भी कहते हैं कि 'माँगो' (तब हम दें)। राजाने भगवान्को अंतर्यामी कहा, इसीसे भगवान्ने कहा कि 'माँगु नृप मोही' अर्थात् मुझे ही माँग लो, तुम्हारे हृदयमें लालसा है कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँ सो मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा, तुम 'मुझे' माँग लो। ☞वरदानकी यह मर्यादा है कि माँगा जाय तब दिया जाय, अतएव 'माँगु' कहा।-'मोही' में श्लेषार्थालंकार है। अर्थात् मुझसे माँग लो और मुझको माँग लो।

५ 'दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहौं सतिभाउ' इति। (क) भगवान्ने कहा था कि 'मोरें नहिं अदेय कछु तोही' और 'माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि।' इसीसे 'दानिसिरोमनि' कहा। 'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि' तथा 'सकुच बिहाइ माँगु' कहा, इसीसे 'कृपानिधि' कहते हैं। दानिशिरोमणि और कृपानिधिका भाव कि आप कृपा करके दान देते हैं। (ख) सति = समीचीन। (ग) 'चाहौं तुम्हहि समान सुत'—आप हमारे पुत्र हों यह न कहके भगवान्के इतना कहनेपर भी संकोच बना ही रह गया। 'सुगम अगम कहि जात सो नाहीं' इस वचनको यहाँ चरितार्थ किया। साक्षात् भगवान्को पुत्र होनेके लिए न कहा, संकोचके मारे उनके समान पुत्र होनेका वरदान माँगा। राजा जानते हैं कि भगवान्के समान कोई नहीं है। राजाका विचार पूर्व कह आए हैं कि 'नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥' जब 'अनूप' हैं, उपमाको कोई नहीं है तब समान कहाँ हो सकता है? यथा 'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ३।६।'

नोट—१ संकोच यहाँ भी बना ही रह गया। क्योंकि राजा सोचते हैं कि ब्रह्माण्डनायक, ब्रह्मांड भरके स्वामी और मातापिताको पुत्र होनेके लिये कैसे कहें, यह बड़ी धृष्टता होगी, यथा 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई॥''' तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। १।१५०।'

त्रिपाठीजी लिखते हैं—"यह संदेह उठ सकता है कि जिसके सन्तानसे सृष्टि भरी पड़ी है, वह सुत क्यों माँगता है? अतः कहते हैं 'सतिभाउ'। मुझे प्रभुको देखकर लालसा हुई कि मुझे ऐसा पुत्र हो, और आपसा दूसरा है नहीं। अतः आपसा पुत्र माँगना आपको पुत्ररूपसे चाहना एक बात है, इसलिये माँगनेमें संकोच था। वास्तविक इच्छा आप सा पुत्र पानेकी है, चाहे जैसे सम्भव हो।"

२—श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ पुत्र करि प्रभुकी प्राप्तिमें वात्सल्यरसकी परिपूर्णता है। इसीके अन्तर्गत सब रस आ जाते हैं। जैसे कि विवाहमें श्रृङ्गार, बालकेलिमें हास्य, वनगमनमें करुणा, परशुरामकी वार्तामें भयानक, मखरक्षामें वीर, जन्मसमय अद्भुत, इत्यादि। फिर इसमें जगत्का हित रूपी परस्वार्थ भी है। पुत्र होंगे तब पतोहू भी स्वाभाविक ही प्राप्त होगी।

३—कुछ महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि मनुमहाराजने 'समान' शब्द बड़ी चतुरतासे कहा है। सभ्यताको लिए हुए हैं। इससे परीक्षा भी हो जायगी कि परात्पर परब्रह्म ये ही हैं या नहीं। यदि प्रभु कहें कि हमारे समान अमुक देवता हैं तो समझ जायँगे कि परतम प्रभु इनसे भी परे कोई और हैं। क्योंकि ब्रह्मके समान कोई दूसरा है ही नहीं, अधिककी तो बात ही क्या? (विशेष ऊपर टिप्पणीमें आ गया है)। "समान" कहकर जनाया कि ऐश्वर्य्य माधुर्य्य इत्यादि जैसे आपमें दिव्य गुण हैं वैसे ही जिसमें हों।

४—एक खर्रेमें पं० रा० कु० जी लिखते हैं कि जैसे मनुजीने परदेसे वर माँगा वैसे ही प्रभुने भी परदेसे ही कहा कि 'आपु सरिस कहं०'।

५—श्रीशारदाप्रसादजी (रामवन सतना) लिखते हैं कि "इस उपाख्यानमें प्रभुके वचन 'माँगु नृप मोहीं' बड़े मार्केके हैं। 'मुझे माँग लो' (जैसा चाहते हो, सुतरूपमें ही हम मिलेंगे)। 'माँगु नृप' (नृप संबोधन द्वारा संकेत किया कि अपने लिये राज्य माँग लो जिसमें अन्य कोई धन-जनादिकी चिंता पुत्रसुख अनुभवमें बाधक न हो)। 'माँगु नृप मोही' (मुझे राजाके रूपमें माँग लो)। हमें राजा देखकर तुम्हें तो सुख प्राप्त होगा ही और संसार का बड़ा उपकार होगा। राजा कैसा होना चाहिये इसका सदाके लिये आदर्श स्थापित हो जायगा। राजा तो न माँग सके परंतु प्रभुने सभी कुछ दिया।—धन्य हैं प्रभु!! तुम्हारे सिवा कौन कह सकता है—'मांगु नृप मोही'।—'अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूछ बिषाना॥'

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥१॥
आपु सरिस खोजौं कहं जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥२॥
सतरूपहि बिलोकि कर जोरें। देबि मांगु बरु जो रुचि तोरें॥३॥
जो बरु नाथ चतुर नृप मांगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥४॥

शब्दार्थ—अमोले=जिसका मोल न होसके; अमूल्य।

अर्थ—राजाकी प्रीति देखकर और उनके अमूल्य वचन सुनकर करुणानिधान प्रभु बोले कि "ऐसा ही हो॥ १॥ हे राजन्! मैं अपने समान और कहाँ जाकर खोजूँ? मैं ही आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा"॥२॥ शतरूपाजीको हाथ जोड़े देख कहा कि हे देवि! तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर माँगो॥ ३॥ (वे बोलीं) हे नाथ! हे कृपाल! जो वर चतुर राजाने माँगा, वही मुझे बहुत ही प्रिय लगा॥ ४॥

नोट—१ 'बचन अमोले'।—बैजनाथजी लिखते हैं कि "वचनोंमें अमूल्यता यह है कि पुत्रकी सेवा में निर्हेतु अत्यन्त परिश्रम लालन पालनका होता है। पुत्र इसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता; पितासे उऋण नहीं हो सकता, जैसा प्रभुने भरतजीसे कहा है। यथा 'निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौ पितु पग पानहीं कराऊँ। होउँ न उरिन पिता दसरथ तें कैसे ताके बचन मेटि पति पावउँ॥ (गी० २.७२)।

पं० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि – ये प्रेमके वचन हैं और प्रेमका मूल्य नहीं है। अतः वचन को अमूल्य कहा। पुनः भाव कि 'ब्रह्म वेदादिसे पिता-भावके वचन सुनते हैं पर यह पुत्रभावके वचन अपूर्व आज ही सुने।' अतः अमूल्य हैं।

टिप्पणी १—'देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु०' इति। (क) प्रीति हृदयमें है अतः उसका देखना कहा। प्रीति भीतर है, वचन बाहर हैं जो मुँहसे निकले अर्थात् भीतर बाहर दोनों स्वच्छ देखकर प्रसन्न हुए और प्रीति देखकर भगवान्ने 'एवमस्तु' कहा। प्रेमसे ही भगवान् मिलते हैं। यथा 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। ७।६२।' पुनः, 'देखि प्रीति' का भाव कि जनका धृष्टतारूप दोष न देखा, राजाके हृदयमें अत्यन्त प्रेम है इसीसे हमें अपना पुत्र बनाना चाहते हैं, यह प्रेम देखा। यथा कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की'। प्रीति यह देखी कि हमारे रूपका सदा संयोग चाहते हैं और अमूल्य वचन यह कि 'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत', भगवान्को साक्षात् सुत होनेको न कहकर संकोचवश 'समान सुत' यह शब्द कहे। पुनः, सुत प्रीतिकी अवधि (सीमा) है, यथा 'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की''। वि० २६८।' यह प्रीति देखी। [पुनः प्रीति अर्थात् निर्हेतु अमल वात्सल्य रसकी प्रीति। (बै०)] (ख) राजाने 'दानिसिरोमनि' कहा, इसीसे यहाँ भगवान्ने 'एवमस्तु' कहा अर्थात् जो मांगते हो वही दिया। राजाने

'कृपानिधि' संबोधन किया इसीसे यहाँ भी 'करुनानिधि' विशेषण दिया गया। पुनः, भगवान् पुत्ररूपसे अवतरनेको कहते हैं, और अवतारका मुख्य हेतु करुणा है अतः 'करुनानिधि' विशेषण दिया। राजा 'सति-भाउ' से बोले इसीसे वचनको 'अमोल' कहा। (ग)☞'एवमस्तु' से समझा जाता कि 'अपने समान' पुत्र देनेको कहा है, इसीसे भगवान् पुनः बोले।

वि० त्रि०—'चाहौं तुम्हहिं समान सुत' यह अनमोल वचन है जिसकी कोई कीमत ही नहीं, अतः उस वचनके पीछे स्वयं बिक गए, कह दिया 'एवमस्तु'। कोई भुक्ति चाहता है, कोई मुक्ति चाहता है और कोई भक्ति चाहता है। मनुजीने कुछ न चाहा, बालरूपसे रामजीको गोद खिलाने और लालन पालन का सुअवसर चाहा, ऐसी बात चाहे जिससे जगत्का कल्याण हो, अपने परलोकका भार प्रभुपर छोड़ दिया (पुंनामनरकात् त्रायते पुत्रः। नरकसे पिताकी रक्षा करता है, इसी से पुत्र कहलाता है), जैसी दृढ़ प्रीति पुत्रमें होती है, वैसी दृढ़ प्रीति चाही, प्रभुसे अपना सम्बन्ध सुरक्षित किया और साथ ही साथ अपनी भावी सन्तान मनुष्य जाति के लिये अमूल्य निधि सुलभ कर गये, इत्यादि सभी भाँतिसे मंगलमयी कामनाओंसे युक्त वचन था, इस लिये उसे अनमोल कहा।

टिप्पणी—२ (क) 'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई'। भगवान् यह नहीं कहते कि हमारे सदृश कोई नहीं है क्योंकि ऐसा कहनेसे अभिमान पाया जाता। आत्मश्लाघारूप दोष आरोपित होता। इसीसे कहते हैं कि अपने सदृश कहाँ जाकर ढूँढूँ। (ख) 'होब मैं आई' का भाव कि हम गर्भसे नहीं उत्पन्न होंगे, (जीवोंकी तरह रज-वीर्यसे नहीं किन्तु) तुम्हारे यहाँ आकर प्रगट होवेंगे, यथा—'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे'। [इससे जनाया कि अपने समान मैं ही हूँ। (मा० त० वि०)]

नोट—२ शुकदेवलालजी लिखते हैं कि प्रभुके इन वचनोंका अभिप्राय यह है कि "तुमने ऐसा वर माँगा जो मेरे घरमें है ही नहीं क्योंकि मेरी दोनों विभूतियोंमें न तो कोई मेरे समान है और न अधिक ही और मेरी विभूतिसे बाह्य कहीं कोई किंचिन्मात्र भी नहीं है, सर्वत्र मेरी ही विभूति है। अतः अपने समान तो मैं कहाँसे ढूँढ़कर लाऊँ, हाँ मेरे समान मैं ही हूँ; इसलिए मैं आप ही आकर तुम्हारा पुत्र होऊँगा।" यहाँ 'लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य' है।

३☞ यहाँ बड़े लोगों की रीति दिखाई कि वे अपनी बड़ाई अपने मुखसे नहीं करते। प्रभु कहते हैं कि तुमको हमारे समान ही चाहिए तो हम ही तुम्हारे पुत्र होंगे; दूसरेको कहाँ ढूँढ़ें। तुम्हारी इच्छा इतनेसे ही पूर्ण हो जायगी। और हम व्यर्थ परिश्रमसे बचेंगे।

श्रीशारदाप्रसादजी—'मांगु नृप मोही' मुझीको मांग लो। इतनी कृपा होनेपर भी संकोच न मिटा और वे 'चाहौं तुम्हहिं सुत' न कह सके और उन्होंने माँगा क्या?—'चाहौं तुम्हहिं समान सुत'। भगवान्ने 'एवमस्तु' कह दिया। राजासे माँगनेमें भूल होगई तो भगवान्ने देनेमें भूल कर दिखाई (ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्)। भगवान् कहते हैं कि "आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥" मेरे समान तो कोई है ही नहीं, इस कारण मैं ही तुम्हारा पुत्र होऊंगा। यह तो ठीक है। परन्तु जब राजाने 'चाहौं तुम्हहि समान सुत' कहा था तब भी तो भगवान्ने 'एवमस्तु' कहा था। तो क्या अब अपने समान सुत न देंगे? भक्तके प्रेममें जल्दीमें कह दिया था, ऐसा कहके टाल देंगे कि हमही आगए तो हमारे समानकी अब क्या आवश्यकता है? नहीं!! प्रभुका वचन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। वे स्वयं आए और अपने समान भरतलालजीको दिया। भरतलाल सबप्रकार श्रीरामजीके समान हैं यह मानस में बहुत स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है। जनकपुरमें सखियाँ आपसमें कहती हैं—"सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसइ भूप संग दुइ ढोटा॥ स्याम गौर सब अंग सोहाये। ते सब कहहिं देखि जे आये॥ कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥ लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख तें सब

अंग अनूपा ।।'' स्वरूप तो एक समान है ही, जोड़ी भी एक समान है । 'लखन सत्रुसूदन एक रूपा ।' जब भैयाको मनाने भरतजी चित्रकूट जा रहे हैं उस समय रास्तेमें बनवासी स्त्रियाँ क्या कह रही हैं,—'कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं । राम लखन सखि होंहि कि नाहीं ।। बय बपु बरन रूपु सोइ आली । सील सनेह सरिस सम चाली ।। बेष न सो सखि सीय न संगा । आगे अनी चली चतुरंगा ।। नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा । सखि संदेहु होइ यहि भेदा ।।'

तापस और राजस वेष भी जिस समानताको न छिपा सका, उसके विषयमें अधिक कहना क्या ?

प्रभुने अपनेको आज 'अतिप्रसन्न' और 'महादानि' कहा है, इसकी सार्थकता किस प्रकार की है यह संक्षेपमें देख लिया जाय । 'मांगु नृप मोही' आदेश है और 'चाहौं तुम्हहिं समान सुत' की याचना है और प्रभु देते क्या हैं— (१) ''इच्छामय नरबेष सँवारे । होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे ।।''-भगवान् स्वयं पुत्र हुए । (२) प्रभुके समान भरतलाल हुए । (३) 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता ।'-अंशी आप और अंश तीन भाई अवतरित हुए । (४) 'बसहु जाइ सुरपति रजधानी'—स्वर्ग प्राप्त हुआ । (५) 'होइहहु अवध भुआल'-चक्रवर्त्ति राज्य मिला । (६) 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहिं मोरि यह माया ।।'—सीतादेवीका अवतार न होता तो विवाहादिके अवसरपर जो सुख प्राप्त हुआ वह न मिलता । (७) अबतकके अवतारोंमें जो नहीं हुआ था वह इस अवतारमें करनेका वरदान देते हैं —'करिहौं चरित भगत सुखदाता ।' ऐसा चरित्र करेंगे 'जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी । भव तरिहहिं ममता मद त्यागी ।।'

इसके उपरान्त राजाने फिर जो वर माँगा था कि 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना । मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना ।' उसके लिये प्रभु संकेत करते हैं—'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा' ।

राजाने एक वर माँगा था, प्रभुने ढेर लगा दिया—महादानि ही तो ठहरे । राजसी स्वभाव (अविश्वासी) के कारण कहीं पानेके विषयमें संदेह न करने लगें इस कारण ''सत्य सत्य पन सत्य हमारा'' कहकर भरोसा दिलाया ।

ब्रह्मचारीजी—इस प्रसंगपर और भी कुछ भाव कहे जाते हैं । जैसे, 'मांगु नृप मोही०' इस भगवान्‌के (श्लेषात्मक) वाक्यसे भगवान्‌का यह आशय प्रगट होता है कि 'यदि तुम मुझे ही पुत्र रूपसे चाहते हो तो मुझे ही माँगो ! संकोच न करो, इसको भी मैं दे सकता हूँ; तेरे लिये मुझे अदेय कुछ नहीं है'; ऐसे ही मनुजीने भी भगवान्‌को ही पुत्र रूपसे माँगना चाहा अर्थात् 'चाहउँ तुम्हहि सुत' (तुम्हींको पुत्र रूपसे चाहता हूँ) यह कहना था परंतु 'चाहउँ तुम्हहि' इतना जैसे तैसे कह दिया कि संकोचने दबाया तब 'समान' कहकर वाक्य पूरा किया । तात्पर्य संकोच वश अपने असली आशयको छिपाया वही आगे सूचित किया कि 'प्रभु सन कवन दुराउ' अर्थात् यद्यपि संकोचवश मैं स्पष्ट कह नहीं सका तथापि आप अंतर्यामी हैं, आप मेरे आन्तरिक भावको पूरा करेंगे, मेरे कथन पर न जायँगे अर्थात् स्वयं ही पुत्र होंगे [यहाँ पर यह भी एक गूढ़ भाव है कि भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे माँगनेको कहा (मांगु नृप मोही) परंतु मनुजीने संकोचवश स्पष्ट शब्दोंसे माँगा नहीं किंतु अपनी चाह प्रगट किया । इन्हीं सब भावोंके कारण ही ''चाहउँ ... दुराउ'' इन वचनोंको अमोल कहा है] भगवान्‌ने जब 'एवमस्तु' कहा, तब मनुजी संशयमें पड़ गए कि 'एवमस्तु=ऐसा हो' इस भगवान्‌के कथनका क्या तात्पर्य है ? मेरी यह चाह ऐसी ही बनी रहेगी, वा पूरी होगी, यदि पूरी होगी तो जो मेरे मनमें है कि भगवान् ही स्वयं पुत्र हों वह पूरा होगा, वा जो मुखसे निकल गया (भगवान्‌के समान पुत्र हों) वह । भगवान्‌ने मनुजीके इन आन्तरिक संशयात्मक कष्टोंको जानकर दयापूर्वक अपने 'एवमस्तु' वाक्यका अर्थ स्पष्ट कर दिया । इसी भावसे यहाँ 'करुनानिधि' नाम दिया । 'बोले' यह क्रिया देहली दीपकके ढंग पर बीचमें दिया; अर्थात् प्रथम एवमस्तु' बोले और जब मनुजी संशयमें पड़ गए तब दयासे 'आपु सरिस ...' इत्यादि स्पष्ट रूपसे कह दिया ।'' (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारी) ।

"इस प्रसंगमें मनुजी और भगवान्‌के विषयमें जैसा कहा गया वैसा सब व्यवहारमें चरितार्थ करके दिखाया गया है।—जैसे, (भगवान् अपने पुत्र हों यह) 'बड़ी लालसा' उरमें है ऐसा कहा; तो उस लालसाको अंत तक हृदयमें ही छिपा रक्खा, 'जिस लालसाको अपनी कृपणतासे 'अगम' समझकर माँगनेमें संकोच होता है' ऐसा कहा; उसपर भगवान्‌के 'संकुच बिहाइ मांगु नृप मोही' ऐसा कहनेपर भी स्पष्ट खोलकर नहीं माँगा गया, संकोच बना ही रहा इत्यादि। भगवान्‌के विषयमें भी-'तुम्हहि देत सुगम', 'बिबुध तरु', 'अंतरजामी', 'पुरवहु मोर मनोरथ', 'नहिं अदेय कछु', 'दानि सिरोमनि', 'दया-करुना-निधि', इत्यादि (कुछ मनुजीके कथनमें, कुछ स्वयं भगवान्‌के वचनमें, तो कुछ कविके कहनेमें) उल्लेख आया है, सो पूर्णतया सब अंशोंसे अनुभवमें आया है, अंतर्यामी होनेसे तो मनुजीके एक (मुख्य, अद्वितीय) उरकी बड़ी लालसाको जान गये और संकोचसे स्पष्टतया माँगना न बननेपर भी उनके मनोरथको पूरा करनेका स्पष्ट शब्दोंमें वचन दे दिया, और 'मागु नृप मोही' पर जो उन्होंने 'चाहउँ तुम्हहिं समान सुत' कहा था, इसके लिए आगे 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता', कहेंगे। इस प्रकार भीतरका मनोरथ और बाहरका कथन दोनोंको पूर्ण करके अपना दानियोंमें शिरोमणि (श्रेष्ठ) होना, तथा 'देत सुगम', 'नहि अदेय कछु', 'कृपानिधि' आदि सब सिद्ध कर दिखाया। 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत' अर्थात् तुमको और (तुम्हारे) समान सुतको चाहता हूँ; ऐसा भी अर्थ हो सकता है। संभवतः इसीसे इस भावको भी पूर्ण करनेका भगवान्‌ने विचार किया इत्यादि।" (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

टिप्पणी—३ (क) 'सतरूपहि बिलोकि कर जोरें'। राजा हाथ जोड़े खड़े हैं—'सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी', इसीसे रानी भी हाथ जोड़े खड़ी हैं। पुनः, 'अंजली परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी'। हाथ जोड़नेसे देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं। (ख) ☞ शतरूपाजीसे वर माँगनेको इसलिए कहा कि प्रथम बार राजाके बर माँगनेमें रानी भी सम्मिलित हुई थीं, यथा 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारतिमोचन॥ दंपतिबचन परम प्रिय लागे।' इस बार वर माँगनेमें रानी उनके साथ सम्मिलित नहीं हुईं। जैसा ('चाहौं तुम्हहिं समान सुत' के 'चाहौं' एक वचन क्रियासे तथा) आगेके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहि सुहाई'। इसलिए एवं इससे कि भगवान् दानिशिरोमणि हैं, उन्होंने रानीसे भी वर माँगनेको कहा। (ग) 'बिलोकि कर जोरें' अर्थात् हाथ जोड़े हुए देखकर वर माँगनेको कहा और राजाके संबंधमें कहा था कि प्रीति देखकर और अमूल्य वचन सुनकर वर माँगने को कहा था। इसका तात्पर्य्य यही है कि इस बार रानी चुपचाप खड़ी रहीं, कुछ भी न बोली थीं। (घ) 'देबि मागु बरु जो रुचि तोरें'। पुत्र होंगे, यह तो राजाहीके वरसे निश्चित हो गया। 'जो रुचि तोरें' का भाव कि उन्होंने अपनी रुचिका वरदान माँगा, तुम अपनी रुचिका माँगो, रुचि हर एककी अपनी अपनी होती है।

नोट—४ 'पूर्व रूप देखनेके संबंधमें पृथक् वर माँगना नहीं कहा गया, यहाँ पृथक् वर माँगनेको क्यों कहा ?' उत्तर यह देते हैं कि "रूप दर्शनमें दोनोंका सम्मत एक था, यथा 'दंपति बचन परम प्रिय लागे' और यहाँ मनु महाराजने 'समान सुत' माँगा सो रामजीने समान ही होनेको कहा। महारानीको इसे भारी ढीठता समझ संशय हुआ, इसीसे वे हाथ जोड़े खड़ी रहीं। उनके हृदयकी रुचि जानकर पृथक् बर माँगनेको कहा गया।"

प्रथम 'दंपति' ने एक ही वर मांगा था और यहाँ केवल राजाने वर मांगा है जैसा 'सकुच बिहाइ मांगु नृप मोही' से स्पष्ट है। रानीने कुछ नहीं माँगा था। अतएव राजाको वर देकर उनसे वर मांगनेको कहा गया। (प्र० सं०)। (पं० रामकुमारजी)।

टिप्पणी—४ 'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल०' इति। (क) 'चतुर' का भाव कि पुत्र होनेका वर माँगकर आपके रूप और लीलाका निरंतर आनंद प्राप्त किया। पुनः, चतुर कहा क्योंकि वर माँगनेमें बड़ी

चतुरता यह की कि यह नहीं कहा कि आप हमारे यहाँ सदा बने रहें क्योंकि इस कथनसे भक्तिकी न्यूनता होती इससे यह माँगा कि आप हमारे पुत्र हों। पुत्र होनेसे सदा संयोग और प्रेम दोनों बने रह गए [बाबा रामदासजी कहते हैं कि 'चतुर' का भाव यह है कि जिसे शिवादिक मनसे देखते हैं उसको उन्होंने मेरे नेत्रोंके आगे प्रत्यक्ष खड़ा कर दिया और इतना ही नहीं किन्तु आगे जन्म भरके लिए मांग लिया कि जिससे जन्मभर देखते ही रहें, यथा 'जीवन मरन सनाम जैसे दसरथ राय को। जियत खेलायो राम राम बिरह तनु परिहरेउ' (दो० २२१)। वैजनाथजीके मतानुसार 'चतुर' इससे कहा कि पुत्ररूपसे प्रभुकी प्राप्तिमें वात्सल्यरसकी परिपूर्णता है। इसीके भीतर और सब रस आ जाते हैं। जैसे बालकेलिमें हास्य, विवाहमें शृङ्गार इत्यादि। श्रीजानकीशरणका मत है कि 'चतुर' शब्दमें व्यंग्य है कि सेवा तो दूर रही, स्वयं सेवा करायेंगे। वि० त्रि० लिखते हैं कि राजाने ऐसा वर माँगा जो शतरूपाजीको भी अति प्रिय है, क्योंकि इससे दोनोंका कल्याण होगा और दूसरे जन्ममें भी यह सम्बंध (दाम्पत्य) बना रहेगा, अतः 'चतुर' कहा।

मानस-मयङ्ककार लिखते हैं कि "यहाँ 'चतुर' शब्द बड़ा गूढ़ है। क्योंकि राजाने कहा है कि 'सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहिं बरु मूढ़ कहइ किन कोऊ'। इससे 'चतुर' शब्दसे यह ध्वनि निकलती है कि राजाने मूढ़तावश ऐसा वर माँगा है। यदि यह ध्वनि न होती तो राजा अपनेको मूढ़ न कहते। पुनः, इसी कारण शतरूपाने वात्सल्यरसमय भक्ति वर माँगा। दोनोंके वरमें भेद यह है कि रानीने तो रामचन्द्रकी ओरसे वात्सल्य भाव माँगा और राजाने अपनी ओरसे पुत्र समझकर वात्सल्य भाव माँगा।" (प्र० सं०)]

(ख) 'मोहि अति प्रिय लागा' क्योंकि राजाको तो (निरंतर दर्शन और लीलाका आनंद न हो सकेगा उनके आनन्दमें) अंतर भी पड़ेगा पर मुझे तो रातोदिन आपके संयोगका आनन्द मिलेगा (क्योंकि प्रथम तो माताहीको पुत्रका सुख मिलता है तब कहीं पिताको। लालनपालनका सुख तो मुझको ही अधिक मलेगा। मेरे तो नित्य गोदमें ही रहियेगा)। (ग) 'कृपाल' का भाव कि राजापर जो आपकी कृपा हुई वह मुझे अति प्रिय लगी। यह रानीके पातिव्रत्यकी शोभा है। (घ) 'चतुर' और 'सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा' कहकर राजाके वचनोंको आदर दिया क्योंकि आगे उनके वचनमें दोष दिखाती हैं।

नोट—५ इन वचनोंसे रानीकी चतुराई झलकती है। प्रथम तो उन्होंने पतिके वचनको प्रमाण स्वरूप किया और फिर स्वयं वर माँग लिया। ऐसा न कहतीं तो कौन जानता है, राजाके सैकड़ों रानियाँ होती हैं वे किसके पुत्र कहलाते, क्योंकि राजाने तो अकेले अपनेको ही कहा था, यथा "चाहौं तुम्हहिं···" 'मोहि अति प्रिय लागा' कहकर सूचित किया कि आप हमारे पुत्र कहलाएँ, आप मेरे ही पुत्र हों, अन्य किसी रानीके नहीं।

प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि १भगतहित तुम्हहिं सोहाई ॥५॥
तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥६॥
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान२ पुनि सोई ॥७॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥८॥

१—१६६१, १७०४ और १७६२ में 'भगति' पाठ है। रा० प०, मा० त० वि०, पं० में भी 'भगति' पाठ है। १७२१, छ०, को० रा० में 'भगत' पाठ है। भगत-हित = भक्तोंके लिये, भक्तोंके प्रेमसे। = भक्त-हितकारी। भगति-हित = भक्तिके प्रेमसे, भक्तिके लिये, भक्तिवश। 'भगत' उत्तम जान पड़ता है।

२ 'प्रमान' पाठ कुछ छपी पुस्तकों में मिलता है।

दोहा—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु ॥१५०॥

शब्दार्थ—सुठि=अत्यंत। रहनि=आचरण, चालढाल, व्यवहार, रीतिभांति। =लगन, प्रीति, यथा 'जो पै रहनि राम सो नाहीं' इति विनये।

अर्थ—परन्तु, हे प्रभो! अत्यन्त ढिठाई हो रही है यद्यपि भक्तोंके प्रेमसे आपको (यह भी) भाती है॥ ५॥ आप ब्रह्मादिके भी पिता (पैदा करनेवाले), जगत् मात्रके स्वामी, ब्रह्म और सबके हृदयकी जाननेवाले हैं॥६॥ ऐसा समझनेपर मनमें सन्देह होता है। फिर भी जो प्रभुने कहा वह प्रमाण है (असत्य नहीं हो सकता)॥७॥ हे नाथ! जो आपके निज-भक्त हैं, वे जो सुख पाते और जो गति प्राप्त करते हैं॥८॥ हे प्रभो! वही सुख, वही गति, वही भक्ति, वही अपने चरणोंका अनुराग, वही विवेक और वही रहनि, हमें कृपा करके दीजिए॥ १५०॥

नोट—१ 'परन्तु' शब्दसे महारानीने इस वरके माँगनेमें अपनी अरुचि प्रगट की। भाव यह है कि मैं न भी माँगू वा स्वीकार करूँ तो अब क्या हो सकता है, आप तो वचन दे चुके, आप अवश्य पुत्र होंगे। इसलिए अब वह वर न लेना व्यर्थ होगा।'' (श्रीजानकीशरण)।

टिप्पणी—१ 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।०' इति। (क) सेवकमें 'ढिठाई' (धृष्टता) होना दोष है, यथा 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी॥ २९।१।', 'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। २।२९८।' (ख) 'जदपि भगतहित तुम्हहिं सोहाई'। 'भगतहित' का भाव कि जिस प्रकार भक्तका हित हो वही आप करते हैं। 'तुम्हहिं सोहाई' अर्थात् आपको सुहाती है क्योंकि आप भक्तहितकारी हैं, औरोंको नहीं सुहाती। (इस कथनमें तात्पर्य्य 'दोषकी निवृत्ति' है, उसके लिए क्षमाकी मानों यह प्रार्थना है) भाव कि भगवान्‌से अपने दोष अपने मुखसे कह देनेसे वे दोष क्षमा कर दिए जाते हैं। यथा 'सीतापति रघुनाथ सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष।' (दोहावली), 'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः। त्राहि मां पापिनं घोरं सर्वपापहरो हरे।' पुनः भाव कि आप सेवककी धृष्टताको स्नेह और सेवा मान लेते हैं, यथा 'सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई। २।२९०।' और ऐसा मानकर प्रसन्न होते हैं। (नोट—क्या 'ढिठाई' है सो आगे कहती हैं)। (श्रीडींगरजीका मत है कि पतिके साथ पूर्णतः सहयोग करके वर प्राप्तिमें कुछ उनसे आगे बढ़ जाना यह मर्यादाका उल्लंघन 'ढिठाई' है)।

२—'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी।०' इति। ☞ यह 'ढिठाई' का स्वरूप दिखाती हैं। (क) ब्रह्मादिके पिता हो, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना। १।४१६।' जगत्‌के स्वामी हो। भाव कि जो जगत्‌का पिता है उसको अपना पुत्र बनाना और जो जगत्‌का स्वामी है उसे पुत्ररूपसे अपना दास बनाना, यह बड़ी भारी धृष्टता है। (ख) 'ब्रह्म सकल उर अंतरजामी' का भाव कि ब्रह्म बृहत् है, उसको छोटा करना और जो सबके हृदयके अन्दर है उसे एकदेशीय करना तथा जो सबके हृदयकी जानता है उसे अज्ञानी बनाना (अर्थात् माधुर्य्यमें उस ब्रह्मको अज्ञान धारण करना पड़ता है,) ऐसा करनेकी उससे प्रार्थना करना यह सब धृष्टता है।

३—'अस समुझत मन संसय होई।' इति। अर्थात् ब्रह्मादिके पिता और जगत्‌के स्वामीको हम अपना पुत्र बनाती हैं, ऐसा समझते ही हृदयमें संशय उत्पन्न हो जाता है। कौशल्या रूपमें भी ऐसा समझ कर भयभीत हुई हैं, यथा 'अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना। २०२.८।' भगवान्‌के पुत्र होने (बनने) में रानीको संशय उत्पन्न हुआ तब राजाका वर रुक गया। क्योंकि विना रानीके अंगीकार किये रामजी पुत्र कैसे होंगे? (नोट—यह कोई बात नहीं है। राजाओंके अनेक रानियाँ होती

हैं । भगवान्‌का वचन तो असत्य हो नहीं सकता । वे न जाने कौन ऐसा दूसरा सुकृती पैदा करते । वस्तुतः यह महारानीजीकी बचन चातुरी है, इसीसे वे कहती हैं कि जो आपने कहा कि 'नृप तव तनय होब मैं आई' यह वचन प्रमाण हैं (असत्य नहीं हो सकते) अर्थात् आप आकर पुत्र हों। ☞ रानीने प्रथम पतिके वचनका मान रक्खा—'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा । सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ।' और अब 'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई ।' इन वचनोंसे प्रभुके वचनोंका मान रखा ।

४ 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं ।०' इति । (क) 'निज भगत' का भाव कि धर्म, कर्म, देव, और तीर्थ सेवी भी आपके सेवक कहलाते हैं, सो वे सेवक नहीं, किंतु जो आपके 'निजभक्त' हैं वे । जैसे मनुजीने कहा कि जो स्वरूप शिवजीके मनमें एवं जो भुशुंडीजीके मनमें बसता है वह स्वरूप हम देखैं, वैसे ही रानी कहती हैं कि जो सुख इत्यादि 'निज भक्त' को मिलता है वह हमें मिले । तात्पर्य कि भगवान्‌के दिव्यगुण और रूप यथार्थ रूपमें सन्तोंको ही प्राप्त हैं इसीसे सन्तोंके-से सुख, गति आदि माँगे । इस प्रकार दोनोंने सन्तोंका ही मत मांगकर सन्तमतको सर्वोपरि दिखाया । 'निजभक्त' कहकर जनाया कि जो इस मूर्तिके अनुरागी हैं, जिनको यह छोड़ कुछ भाता ही नहीं ऐसे भक्त । १४५ (५) भी देखिए ।

५ 'सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति०' इति । (क) ☞ सोइ सुख, यथा 'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मदमोह । ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह । ७।४६ ।', 'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही । तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही' । 'सोइ गति', यथा 'तुम्हहिं छांड़ि गति दूसरि नाहीं । २।१३०।५ ।' (बैजनाथजी का मत है कि 'सोइ सुख'=जो सुख जीवितावस्थामें पाते हैं और 'सोइ गति=जो गति वे अन्तकालमें पाते हैं)। 'सोइ भगति', यथा 'अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव । जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव । ७।८४ ।', 'सोइ निज चरन सनेहु', यथा 'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनिमन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं । १४८।१ ।', 'राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ।१७।४।' 'सोइ बिबेक', यथा 'जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार । संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार । १।६ । अस बिवेक जब देइ बिधाता । तब तजि दोष गुनहिं मनु राता ।।', 'सोइ रहनि' यथा "कबहुँक हों एहि रहनि रहोंगो । श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाउ गहोंगो । जथा लाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहोंगो । परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहोंगो ।। परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहोंगो । बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहोंगो ।। परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहोंगो । तुलसिदास प्रभु एहि पथ रहि अबिरल हरि भक्ति लहोंगो ।।१७२।।" (विनय), 'जो पै रहनि राम सों नाहीं०' (वि० १७५) । ☞ भाव यह है कि आप हमारे पुत्र तो हों पर हमारे हृदयमें सेवक सेव्य भाव बना रहे । पुत्र स्नेहमें पड़कर हमारा विवेक जाने न पावे, हमारा रहन-सहन आपके निज भक्तोंका-सा बना रहे । (ख) 'मोहि कृपा करि देहु' का भाव कि जैसे राजाको आपने माधुर्य्यका आनन्द दिया, वैसे ही मुझपर कृपा करके मुझे ऐश्वर्य्यका आनन्द दीजिए । (ग) ☞ भक्ति और चरण सनेह तो एक ही बात है । दोनोंमें कोई फर्क (बीच, अन्तर) नहीं है । पर यहाँ भक्ति और चरण सनेह दोनों अलग अलग माँगे हैं । इसमें भाव यह है कि चरण सनेह ही माँगतीं तो उसमें नवधाका ग्रहण न होता और नवधाभक्ति ही केवल माँगतीं तो उसमें चरणोंमें स्नेहका ग्रहण न होता, पादसेवन मात्रका ग्रहण होता । अतएव दोनों मांगे । (संभवतः पं० रामकुमारजीका यही पाठ है) ।

'हमहिं कृपा करि देहु' इति । मनुजीने ब्रह्मगिरा सुनकर जब वर माँगा तब कहा कि 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन । कृपा करहु प्रनतारतिमोचन ।' अर्थात् दोनोंको प्रणत जनाते हुए दोनोंको कृपा करके दर्शन देनेकी प्रार्थना की । दूसरी बार 'चाहौं तुम्हहिं समान सुत' यह कहा, तब भगवान्‌ने शतरूपाजीसे वर

माँगनेको कहा। उन्होंने कहा—'जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सो कृपाल मोहि अति प्रिय लागा'। शतरूपाजीने विचारा कि भगवान्‌के पुत्र होनेपर भी यदि भक्ति न मिली तो विशेष लाभ क्या ? 'जनम गएउ हरि भगति बिनु' यही सोचकर तो घर छोड़कर वनमें आए थे। और विना विमल ज्ञानके भक्ति हृदयमें दृढ़ नहीं होती, यथा 'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई।' यह बड़ी भूल हुई कि राजाने ज्ञानसहित भक्ति साथ साथ नहीं माँगी। अतः शतरूपाजीने दोनोंके लिये सोच विचारकर ऐसा माँगा कि कुछ बाक़ी रह ही न गया। दोनोंके लिये वर माँगा, इसीसे 'हमहिं देहु' कहा। राजाने जो भूल की थी उसे महारानीने इस प्रकार सुधारनेका प्रयत्न किया।

नोट—२ 'कृपा करि देहु' का भाव कि मैं इतने पदार्थयुक्त यह वर पानेकी पात्री नहीं हूँ, आप अपनी ओरसे कृपा करके मुझे दें। भक्ति कृपासाध्य है अतः कृपा करके देनेको कहती हैं।

३—रानीने अपनी ढिठाई कहते हुए और प्रभुके वचनको प्रमाण भी करते हुए वर माँगा और वह भी कैसा ? इसीपर प्रभु रीझेंगे। यहाँ वरके प्रसंगमें 'सोइ' छः बार दोहेमें आया है। इसमें 'पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार' है। इससे भाव अधिक रुचिकर हो गया है। पुनः, प्रत्येक वर (सुख, गति, भक्ति इत्यादि) के साथ यह शब्द देकर ताकीद भी जना रहा है अर्थात् और कोई सुख, गति आदि मैं नहीं चाहती, आपके निज-भक्तका ही सुख, गति, भक्ति इत्यादि चाहती हूँ, ब्रह्मज्ञानी आदिका नहीं। अतएव 'वीप्सा' भी है। पुनः, रानीने जो कुछ माँगा सबके साथ 'सोइ' विशेषण दिया क्योंकि यदि किसी एकमें भी 'सोइ' न होता तो वह संतमतसे बाहर हो जाता।

४—कुछ महानुभाव कहते हैं कि यहाँ छः पदार्थ मांगे क्योंकि शरणागति छः प्रकार की है। अथवा, षट्विकारके दूर करनेके लिए छः पदार्थ मांगे। अथवा, मन और पाचों ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें करनेके लिए छः मांगे।

५—'निज भक्त' के लक्षण कहे वे सब सुतीक्ष्णजीमें देख लीजिए जो प्रभुके 'निज' भक्त हैं, यथा 'देखि दसा निज जन मन भाए। ३।१०।१६।' सुख, यथा 'मुनिहि राम बहु भांति जगावा। जाग न ध्यान-जनित सुख पावा। ३।१०।१७।' गति, यथा "प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा। ३।१०।३।···जाके गति न आन की। ७।" भक्ति, यथा 'अविरल प्रेम भगति मुनि पाई'। चरण-स्नेह, यथा 'परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिवर बड़ भागी। ३।१०।२१।' विवेक, यथा 'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई। ३।१२।४।' रहनि, यथा 'मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक। ३।१०।२।' निज भगत, यथा 'देखि दसा निज जन मन भाए। ३।१०।१६।'

६—जो कुछ शतरूपाजीने मांगा वह सब उनको कौशल्यातनमें प्राप्त भी हुआ है। १५१ (१-३) में देखिए।

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर* रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना ॥१॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥२॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुं न मिटिहि अनुग्रह मोरें ॥३॥

शब्दार्थ—रचना = गढ़न, बनावट, जिसमें विशेष चमत्कार वा युक्ति हो ऐसा वाक्य।

अर्थ—कोमल, गूढ़, सुन्दर और श्रेष्ठ वाक्यरचनाको सुनकर दयासागर (प्रभु) कोमल वचन

* बर—१६६१, छ०, को० रा०, श्रीनंगेपरमहंसजी। बच—१७०४, १७२१, १७६२। भक्तियुत—वै०। १६६१ में 'च' पर हरताल देकर 'र' बनाया है। बच = बचन।

बोले ॥१॥ तुम्हारे मनमें जो कुछ इच्छा है वह सब मैंने दी, इसमें संदेह नहीं ॥२॥ हे माता ! मेरी कृपासे तुम्हारा अलौकिक ज्ञान कभी न मिटेगा ॥३॥

टिप्पणी—१ 'सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर रचना ।०' इति । (क) वचनोंमें तीन गुण बताए । एक तो कोमल हैं, दूसरे इनमें गंभीर आशय भरा है, तीसरे इन वचनोंकी रचना सुन्दर है । राजाके वचनमें दोष भी दिखाती हैं और उनका मान भी रखती हैं यह 'गूढ़ता' है । 'नाथ', 'कृपाल', 'भगतहित' विशेषण देकर प्रार्थना की यह मृदुता है और जितनी भी वचनकी रचना है वह सब सुन्दर है । अथवा, 'जो बरु नाथ चतुर नृप मांगा । सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा' यह 'मृदु' है, 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई । जदपि भगतहित तुम्हहि सोहाई ॥ तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी । ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥ अस समुझत मन संसय होई । कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई ॥' यह 'गूढ़' है, और 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं । जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥' इत्यादि 'रुचिर' हैं । (ख) ☞ राजाको जब वर दिया तब 'करुनानिधि' विशेषण दिया था—'एवमस्तु करुनानिधि बोले' । इसी तरह जब रानीको वर दिया तब 'कृपासिंधु बोले' ऐसा कहा । इस प्रकार दोनोंपर भगवान्‌की एकसी कृपा दिखाई ।

वि० त्रि०—वचन रचना विनीत होनेसे मृदु, गम्भीरार्थक होनेसे गूढ़ और श्रवण सुखद होनेसे रुचिर थी । गम्भीरार्थक इसलिये कहा कि पुत्र रूपसे प्रभुकी प्राप्तिसे जिन छः बातोंमें कमी पड़नेका भय है उनको माँगती हैं ।

श्रीबैजनाथजी—"भक्तहित आपको देना सुहाता है पर माँगनेमें ढिठाई होती है ये मृदु हैं । गूढ़ आशय यह है कि रानीने विचारा कि राजाने जो बरदान माँगा वह कर्मकांड देशमें है, मायाकृत विघ्नोंसे रक्षा करनेकी तो कोई बात माँगी नहीं सो माँग लेनी चाहिये । भक्तिके अनेक अंग बटोरकर एकवचनमें कह देना भक्तियुत (वर) रचना है" ।

नोट—१ 'कृपासिंधु बोले' इति । महारानीजीने कहा था कि 'हमहिं कृपा करि देहु', अतएव यहाँ 'कृपासिंधु बोले' कहकर 'कृपा करके' बोलना जनाया ।

टिप्पणी—२ 'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं ।०' । (क) 'देवि माँगु बरु जो रुचि तोरें' उपक्रम है और 'जो कछु रुचि तुम्हरे०' यह उपसंहार है । 'मन माहीं' से यह भी जनाया कि जो तुम नहीं कह पाई हो पर तुम्हारे मनमें है वा जो भाव तुम्हारे मनमें है पर तुम ठीकसे नहीं कह पाई हो वह सब भी मैं देता हूँ । (ख) बहुत चीजें माँगीं, मिलनेमें संशय होता है, इसी से कहते हैं कि 'मैं सो दीन्ह सब' इसमें 'संसय नाहीं' । जैसे राजाने संशय किया था, यथा 'तथा हृदय मम संसय होई'; वैसे ही रानीके हृदयमें संशय न उत्पन्न हो कि यह सब गुण हमें कैसे मिलेंगे, (मिलेंगे वा नहीं), यह विचारकर भगवान्‌ने प्रथम ही कह दिया कि 'संसय नाहीं' । 'संशय नहीं' कहकर संशय की उत्पत्ति रोक दी । [राजाने संदेह किया था, इससे भगवान्‌को उन्हें पहले समझाना पड़ा था कि संकोच न करो, हम सब कुछ दे सकते हैं, भक्तके लिये कुछ भी अदेय नहीं है । इतनेपर भी राजाका संकोच पूर्णरूपसे न मिटा था । इसी लिये यहाँ प्रथम ही संशय मिटा देते हैं जिसमें फिर इन्हें भी समझाना न पड़े]

३—'मातु बिबेक अलौकिक तोरें ।०' इति । भाव कि रानीने विवेककी बात कही थी कि 'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जगस्वामी । ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥ अस समुझत मन संसय होई ।', इस बातपर भगवान् प्रसन्न हो गए और उनकी अनुग्रह इनपर हुई । इसीसे कहते हैं कि 'मातु बिबेक···अनुग्रह मोरें' । अथवा, रानीने विवेकसे बर मांगा, इसीसे विवेक सदा बना रहनेका आशीर्वाद दिया ।

[भगवान् जानते हैं कि रामावतारके पिताजीका मरण तो तापस-शापके कारण रामवनगमन-विरह-निमित्त ही होता है । यदि उनको रामरहस्यका ज्ञान रहेगा तो मरण असंभव होगा । अतः उनको ज्ञान और

ऐश्वर्यज्ञानयुक्त भक्ति देना संभव नहीं, इसीसे भगवान् वर भी बड़ी युक्तिसे देते हैं। कहते हैं 'जो कछु रुचि'''मैं सो दीन्ह'। 'आपने जो माँगा वह मैंने दिया वा एवमस्तु' नहीं कहा। 'तुम्हरे मन माहीं' का भाव कि आप दोनोंके मनकी रुचि भिन्न-भिन्न है अतः जो रुचि जिसके मनमें है वही मैंने दिया। पर इससे यह निश्चित न हुआ कि रानीको क्या दिया। अतः रानीके लिये स्पष्ट कह देते हैं कि 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।' तोरें एक वचन माताके लिये है, 'तुम्हारें' दोनोंके लिये है।

गोस्वामीजीकी सावधानता देखिए। 'मातु' कहकर प्रथम शतरूपाको ही संबोधित किया। राजाको बर देते समय 'पितु' (वा, तात) नहीं कहा; किन्तु नृप कहा, यथा 'नृप तव तनय होब मैं आई'। कारण कि पुत्रजन्मका ज्ञान और आनन्द प्रथम माताको होता है तब पिताको। रामजन्मकालमें भी ऐसा हुआ है। इस व्यावहारिक क्रमका भंग मानसमें कहीं नहीं हुआ है। उदाहरण—वन्दना प्रकरणमें प्रथम कोसल्यामाताकी वंदना करके कहा—'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।' हनुमान्‌जीको प्रथम माता श्रीजानकीजीने सुत कहा, तब रघुनाथजीने। सुं० १६ (६), ३२ (७) देखो। मर्यादापुरुषोत्तमके चरित्रमें लोकवेद-शास्त्रकी मर्यादाका भंग अन्य रामायणोंमें तो हुआ है पर मानसमें ऐसा कहीं नहीं हुआ। (शृङ्खलाके लिये दो० १५० देखिए)]

नोट—२ 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।' इति। (क) 'माता'—रानीने संदेह किया कि जो ब्रह्मादिके भी पिता और जगत्‌भरके स्वामी हैं वे पुत्र कैसे होंगे, इसके निवारणार्थ 'मातु' कहकर संबोधन किया। भाव यह कि अवतार तो समयपर ही होगा, परन्तु तुमको हमने माता अभीसे मान लिया, संदेह न करो। (वै०)। (ख) रानीने छः पदार्थ माँगे, उनमेंसे 'बिबेक' भी एक है। 'विवेक' के लिए कहा कि यह कभी न मिटेगा। इससे यह न समझें कि और सब मिट जायँगे। रानीके विवेकपर प्रभु प्रसन्न हुए क्योंकि ये वर उन्होंने विवेकसे मांगे हैं, उनका सब वचन विवेकमय है, इसीपर प्रभुने प्रसन्न होकर यह कहा कि हम तुमको अपनी ओरसे 'अलौकिक' विवेक देते हैं जो हमारी कृपासे न मिटेगा। 'अलौकिकता' अपनी ओरसे कृपा करके दी। 'न मिटिहि अनुग्रह मोरें' में यह भी ध्वनि है कि जब हमारी (लीला हेतु) इच्छा होगी तब मिट भी जायगा। यदि यह न कहते तो विरोध पड़जाता क्योंकि उनका ज्ञान मिट भी गया है, यथा 'माता पुनि बोली सो मति डोली। १।१६२।', 'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ॥ २०२।' अर्थात् काल-कर्मादि इस विवेकको न मिटा सकेंगे। जब मिटेगा तब हमारी कृपा और इच्छासे ही मिटेगा। (ग) अलौकिक विवेक यह कि हमारे ऐश्वर्य्यको कभी न भूलोगी। यही कारण है कि समय समयपर ऐश्वर्य्य दिखाकर उस विवेकको प्रभुने स्थिर रक्खा।

मा० त० वि०-कार कहते हैं कि माता कोसल्याका विवेक बराबर अखंड नहीं पाया जाता जैसा 'सो मति डोली' और 'मति भ्रम मोर'''। २०१।७।' इत्यादिसे स्पष्ट है। अतएव यहाँ भाव है कि जिस समय मैं अनुग्रह करूँगा उस समयसे तुम्हारा अलौकिक विवेक बना रहेगा। इसीसे प्रभुने 'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।'''२०१।' उस अनुग्रहके बादसे अखंड विवेक पाया जाता है।

वैजनाथजी लिखते हैं कि "लौकिक ज्ञान वह है जो शमदमादि साधनों द्वारा लोग प्राप्त करते हैं। इसमें विषय बाधक होता है—'मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ। ३।३८।' जरा चूके कि विषयोंने आ दबाया। जीव अल्पज्ञ है, उसे एकरस ज्ञान नहीं रहसकता, यथा 'ज्ञान अखंड एक सीताबर॥''' जौं सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस। ७।७८।' इसीसे प्रभु कहते हैं कि हमारे अनुग्रहसे तुमको अलौकिक ज्ञान बना रहेगा। अलौकिक अर्थात् एकरस ज्ञान"

वि० त्रि०—लौकिक विवेक शास्त्रजन्यज्ञानविषयक है। पर अलौकिककी बात दूसरी है। महाराज दशरथने लौकिक विवेकसे काम लिया। यथा "तुलसी जानेउ दसरथहि 'धरमु न सत्य समान'। रामु तजे जेहि लागि बिनु रामु परिहरे प्रान। दो० २१६।" परन्तु माता कौसल्याका अलौकिक विवेक सुनिये।—'वारौं

सत्यबचन श्रुतिसंमत जाते हौं बिछुरत चरन तुम्हारे ।। बिनु प्रयास सब साधनको फल प्रभु पायो सो तो नाहिं सँभारे । हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे ।। रुचिर काँच मनि देखि मूढ़ ज्यों करतल तें चिंतामनि डारे । मुनि लोचन चकोर ससि राघव, सिव जीवन धन सोउ न बिचारे ।। गी० अ० २।'

नोट—३ श्रीशतरूपाजीने यह बर माँगा कि—"जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ।। सोइ सुख१ सोइ गति२ सोइ भगति३ सोइ निज चरन सनेहु४। सोइ बिबेक५ सोइ रहनि६ प्रभु हमहि कृपा करि देहु ।। १५० ।।"; श्रीकौशल्यारूपमें ये सब उनको प्राप्त हुईं, यथा—

(१) सोइ सुख—"भरीं प्रमोद मातु सब सोहीं ।। पावा परम तत्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ।। जनम रंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचन लाभु सुहावा ।। मूक बदन जनु सारद छाई। मानहु समर सूर जय पाई ।। (दो०)—एहि सुख ते सतकोटि गुन पावहिं मातु अनंदु । ३५० ।।', "दिये दान बिप्रन्ह बिपुल पूजि गनेस पुरारि। प्रमुदित परम दरिद्र जनु पाइ पदारथ चारि ।। ३४५ ।।", 'लछिमन अरु सीतासहित प्रभुहि बिलोकति मातु। परमानंद मगन मन पुनि पुनि पुलकित गातु ।। उ० ७ ।।'

(२) सोइ गति—'जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी । २००।२ ।', 'निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा ।। २०३ । ७ ।', 'मोद प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता ।। राम दरस हित अति अनुरागीं ।...चलीं मुदित परिछन करन पुलक प्रफुल्लित गात । ३४६ ।', 'कौसल्यादि मातु सब धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई ।। ७।६ ।'

(३) सोइ भगति—"कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना ।। ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या के गोद ।। १९८ ।।"

(४) सोइ निज चरन सनेहु—'लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै ।। प्रेम मगन कौसल्या निसिदिन जात न जान। सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान ।। २०० ।।', 'कौसल्यादि राम महतारी। प्रेम बिबस तन दसा बिसारी ।। ३४५।८ ।', 'तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा ।। २०२।५ ।।'

(५) सोइ बिबेक—"माया गुन ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता ।" से 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना०' तक १९२ छंद ।, "बार बार कौसल्या बिनय करइ कर जोरि। अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ।। २०२ ।।", "कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू ।।...ईस रजाइ सीस सबही कें। उत्पति तिथि लय बिषहु अमी कें ।। देवि मोह बस सोचिअ बादी। बिधिप्रपंच अस अचल अनादी ।। भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी ।। २।२८२ ।।"—पुत्रमें परमेश्वर भाव रखना यह अलौकिक विवेक है।

(६) सोइ रहनि—कौशल्याजीका सारा चरित निजभक्तकी रहनी है। उदाहरण "प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान। सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान। २०० ।"

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी ।।४।।
सुत बिषैक† तव पद रति होऊ। मोहि बड़‡ मूढ़ कहै किन कोऊ ।।५।।
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति* तुम्हहिं अधीना ।।६।।

† बिषैक—१६६१, १७०४, रा० प०। बिषइक-पाठान्तर। ‡ बरु-पाठान्तर। * मिति—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०। तिमि-को० रा०।

शब्दार्थ—अवर = और भी। बिषैक = विषयक = विषयका। = संबंधी। फनि (सं० फणि) = सर्प। मिति = सीमा, नाप, तौल।

अर्थ—चरणोंमें प्रणाम करके मनु महाराज फिर बोले—हे प्रभो! मेरी एक और भी प्रार्थना है। ४। आपके चरणोंमें मेरी प्रीति पुत्र-संबंधी हो, चाहे मुझे कोई बड़ा मूढ़ ही क्यों न कहे? ॥ ५॥ जैसे विना मणिके सर्प और विना जलके मछली, वैसे ही मेरे जीवन की सीमा आपके अधीन रहे॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी।०' इति। दो बार वर माँगा और दोनों बार वंदन किया, यथा—'बोले मनु करि दंडवत प्रेम न हृदय समात' और 'परेउ दंड इव गहि पद पानी॥ धरि धीरज बोले मृदु बानी॥' अब फिर वर माँगते हैं, जैसा आगेके 'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ' से स्पष्ट है इसीसे पुनः चरणोंकी वंदना की। (ख) 'सुत बिषैक तव पद रति होऊ' इति। राजाने पुत्र होनेका वर माँगा था; इसीसे अब वे ऐश्वर्य्य नहीं माँगते। ('सुत बिषैक' अर्थात् आपके चरणोंमें हमारा प्रेम हो पर इस तरहका हो जैसे पिताका पुत्रपर, आपमें पुत्रभावसे प्रेम हो, स्वामी भावसे नहीं।)। (ग) 'मोहि बड़मूढ़ कहै किन कोऊ' इति। (इस भावमें) मूढ़ कहे जानेकी योग्यता है अर्थात् यह बात ऐसी है कि राजाको लोग अवश्य मूढ़ कहेंगे कि ईश्वरको पाकर भी इनको ज्ञान नहीं है; ये भगवान्‌को पुत्र मानते हैं। यथा 'अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना। २०२।७।' ईश्वरको जो न जाने वह मूढ़ है, यथा "ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥ ७।७३।" और जो ईश्वरको पाकर भी उसे न जाने उसमें ईश्वर भाव न माने वह 'बड़ा मूढ़' है। (घ) 'किन कोऊ' का भाव कि 'राजा बड़ा मूढ़ है' यह कहे जानेका हमें किंचित् भय वा संशय नहीं है। आपके चरणोंमें स्नेह हो, हम बड़े मूढ़ भले ही कहे जायँ। भाव कि बड़े ज्ञानी हुए और चरणोंमें अनुरक्ति न हुई तो अच्छा नहीं है और मूढ़ कहाते रहें पर आपके चरणोंमें प्रेम रहे यह अच्छा है, यथा 'करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई। २।१८६।' [वाल्मीकीयमें श्रीविश्वामित्रजीने श्रीदशरथ महाराजको ऐसा कहही डाला है जैसा उनके "न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव॥ १३॥ अहं ते प्रति जानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ। अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्य पराक्रमम्॥ १४॥ वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः।" (वल्मी० १।१९)। अर्थात् वे दोनों राक्षस रामचन्द्रके हाथसे अवश्य मारे जायेंगे। सत्यपराक्रमी रामको मैं जानता हूँ और वसिष्ठ आदि ये तपस्वी तेजस्वी सब ऋषि जानते हैं।—इससे ध्वनिसे सूचित हुआ कि तुम अज्ञानांधकारमें पड़े हो, तुम नहीं जानते कि ये तो ब्रह्माण्डमात्रके माता पिता स्वामी हैं।]

प० प० प्र०—मनुजीने भगवान्‌के वचनोंका मर्म जान लिया, अतः वे अपने मनकी रुचि प्रगट करके कह देते हैं। 'राम सदा सेवक रुचि राखी'-इसमें अपवाद केवल एक हुआ है और वह है अंगदके संबंधमें, पर वहाँ नैतिक कर्त्तव्य-पालनमें वैसा ही करना पड़ा। ७।१८-७।१९ देखिए।

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि जब राजाने देखा कि रानीने पुत्र तो पाया ही और साथ ही अनन्य भक्ति भी, ईश्वर भावका स्नेह, निज भक्तोंकी रीति, रहनी और अलौकिक विवेक इत्यादि सोना और सुगंध भी, मीठा और वह भी कठौता भर कि वह सब विवेक आदि सदा एक रस बने रहें—तब उन्होंने विचार किया कि यद्यपि प्रभु हमको पुत्ररूपसे प्राप्त हुए तथापि जीवकी अल्पज्ञतासे कहीं ऐसा न हो कि किसी समय हमारा प्रेम इनमें कम हो जाय, इस लिये फिर वर मांगते हैं। 'बड़ मूढ़ कहै' का भाव कि चाहे कोई कहे कि ये बड़े अज्ञानी हैं कि ईश्वरमें पुत्र भाव रखते हैं, मुझे इस कथनसे किंचित् भी संकोच न हो।

२—☞यहाँ यह उपदेश मिलता है कि प्रभुमें किसी ने किसी भावसे किसी प्रकार भी लग जाना चाहिए। उस भावमें, उस प्रयत्नमें, लोकमें निंदा भी हो तो भी उसपर कान न देकर अपनी भावना में अपनी निष्ठामें दृढ़ रहे। (करु०)।

मा० म०-कारका मत है कि "राजाने सोचा कि रानीने व्यंग्यसे हमें 'चतुर' कहा। इनको हमारा वर (केवल माधुर्यरसका) अच्छा न लगा, इसीसे इन्होंने हमसे पृथक् दूसरा वर माँगा। 'मूढ़' तो हम बनही चुके अब हम उसीमें दृढ़ रहेंगे। कटाक्ष तो हो ही चुका अब हम अपनी धारणासे क्यों हटें ? शतरूपाजी चाहती हैं कि पुत्र होते हुये भी हम उन्हें जगत्पिता समझें और राजाने माँगा कि पुत्र ही समझते रहें"—(स्नेहलताजी)।

श्रीगंगाप्रताप डींगरजी लिखते हैं कि मनु महाराजको पहले भगवान्‌के साक्षात् दर्शनकी अभिलाषा हुई। साक्षात् दर्शन प्राप्त होनेपर वे रूपमाधुरीपर मुग्ध होगए और उनके हृदयमें यह लालसा उत्पन्न हुई कि बस ऐसे दर्शनोंका सौभाग्य सदा बना रहे। इस विचारसे उन्होंने प्रभुके सदृश पुत्र माँगा। मुग्धताके कारण पुत्रका वर माँगते समय उनके हृदयमें कोई और विचार न था। महारानीजी यह सब देख सुन रही थीं परंतु वे इतनेमें सावधान हो चुकी थीं। उन्होंने बिचार किया कि महाराजने वर तो यथार्थ माँगा परन्तु केवल पुत्र होनेका माँगा, भक्ति माँगनेको भूल गए। अतः जब भगवान्‌ने उनसे वर माँगनेको कहा तब उन्होंने महाराजके वचनोंका समर्थन किया और भगवान्‌के वचनोंके अनुसार कि जब वे ही पुत्ररूपसे अवतरित होनेको हैं, उन्होंने भक्तोंकी सी रहनी, सहनी, इत्यादि भी माँगी। तब महाराजको होश हुआ कि वर माँगनेमें हमसे थोड़ी भूल हो गई, अतः उन्होंने अपनेको मूढ़ कहकर प्रभुमें सत्य प्रेम होनेका वर माँगा, जिसमें पुनरागमन न हो। इसीसे कविने बंदना करते हुए कहा है 'बंदौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।…'। यहाँ किसीके वचनोंमें न कोई चातुरी है और न व्यंग्य ही; भगवान्‌के सामने ये सब कैसे रह सकते हैं ?

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि "स्मरण रहे कि पुत्र भाव रखते हुए दशरथजीने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अटल प्रीति रक्खी जो लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे अनुचितसी देख पड़ती है। परन्तु उन्होंने उसे पूर्णरूपसे निबाहा जिसका उदाहरण गोस्वामीजीने यथायोग्य दर्शाया है कि-"मीन काटि जल धोइये खाए अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिए, मुएहु मीतकी आस॥"

दशरथजीका ठीक ऐसा ही हाल हुआ उन्होंने रामचन्द्रजीके वनवासी होते ही प्राण त्याग दिये, फिर भी मुक्त न हो पुत्र भाव रखते हुए ही स्वर्गमें निवास किए रहे। निदान रावणवधके पश्चात् फिर आकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकर मुक्त हुए। इस प्रकारसे उन्होंने प्रीति निबाही क्योंकि परमात्मा ही पुत्ररूपसे अवतरे थे।"

[☞ पुत्र भाव रहते हुए भी भगवान्‌के चरणोंमें उनका प्रेम रहा यह बात भी मानसमें चरितार्थ हुई देख पड़ती है। यथा 'मोरें गृह आवा प्रभु सोई।१६३।५।', 'सुमिरि राम गुर आयेसु पाई। चले महीपति संख बजाई। ३०२।३।', 'अस कहि गे विश्राम गृह राम चरन चितु लाइ। ३५५।' उनका प्रेम श्रीरामजीमें ऐसा था कि शरीर त्याग करनेपर स्वर्गमें सब प्रकार इन्द्रद्वारा सम्मानित होनेपर भी वे श्रीरामविना सुखी न थे, जैसा वाल्मी० ६।१२२।१३ में उनके वचनसे स्पष्ट है। यथा 'न मे स्वर्गो बहुमतः सम्मानश्च सुरर्षिभिः। त्वया राम विहीनस्य सत्यं प्रतिशृणोमि ते॥ १३॥ (वाल्मी० ६।१२२)। अर्थात् हे राम ! मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि तुम्हारे वियोगसे युक्त मुझको स्वर्गमें रहना जिसे देवर्षि बड़ी भारी वस्तु समझते हैं तुम्हारे सहवासके समान सुखदायी नहीं मालूम होता।

नोट—३ 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना' इति। (क) राजाने चरणोंमें प्रेम माँगा। किस प्रकारका प्रेम चरणोंमें हो यह अब कहते हैं। जैसे मणिके विना सर्प और जैसे जलके विना मछली नहीं रहती वैसे ही मेरा जीवन आपके अधीन रहे अर्थात् आपके विना मैं न जिऊँ। (ख) भगवान्‌की इच्छासे मनुजीने दो दृष्टान्त दिये। फणि मणिके दृष्टान्तसे भगवान्‌के विना व्याकुल रहें, मृत्यु न हो,

यथा 'मनि लियें फनि जियै ब्याकुल बिहाल रे' (वि० ६७)। यह दृष्टान्त जनकपुर जानेमें चरितार्थ हुआ। विश्वामित्रके साथ भगवान्‌के जानेपर राजा व्याकुल रहे पर मरे नहीं। मरे हुएके समान रहे, यथा 'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे। ३०८।४।' दूसरा दृष्टान्त 'जल बिनु मीन' का है। जल विना मछली जीती नहीं रह सकती। यह दृष्टान्त वनयात्रामें चरितार्थ हुआ। (ग) प्रथम वियोग विश्वामित्रके संग जानेमें हुआ; इसीसे प्रथम फणिमणिका दृष्टान्त दिया। दूसरा वियोग पीछे वनयात्रा होनेपर हुआ; इसीसे जल-मीनका दृष्टान्त पीछे कहा। इस तरह दोनों दृष्टान्त क्रमसे कहे गए। यह वर प्रभुकी इच्छासे माँगा गया, क्योंकि लीलामें राजाको दो बार वियोग होना है। (पं० रामकुमारजी)। (घ) वैजनाथजी लिखते हैं कि ''मनि बिनु फनि...मीना' का भाव यह है कि जैसे मणि सर्पके भीतर और जल मछलीके बाहर रहता है तथा मेरी प्रीति भीतर बाहर दोनों रहे। वा, जैसे सर्प स्वइच्छित मणिका वियोग सह सकता है वैसे मैं स्वइच्छित सह सकूं और जैसे मीन जलके बिछुड़ते ही मरजाती है वैसे ही वियोग होनेपर मैं प्राण त्याग सकूँ।'' (ङ) श्रीजानकीशरणजी, कहते हैं कि मछली अपनी इच्छासे जलके बाहर नहीं होती, वैसेही राजाभी रामरूपजलसे अपनी इच्छासे अलग न होंगे, कैकेयी मल्लाहिन बाहर निकालेगी।

अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ ॥७॥
अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी ॥८॥
सोरठा—तहँ करि भोग बिसाल१ तात गएँ कछु काल पुनि।
होइहहु अवध-भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत ॥१५१॥

अर्थ—ऐसा वर माँगकर (मनुजी प्रभुके) चरण पकड़कर रह गए। करुणानिधान भगवान्‌ने 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा ॥ ७ ॥ (फिर भगवान् बोले कि) अब तुम मेरी आज्ञा मानकर इन्द्रकी राजधानी (अमरावती) में जाकर निवास करो ॥ ८ ॥ हे तात! वहाँ बहुत सुख भोग करके कुछ काल बीतनेपर फिर तुम अवधके राजा होगे, तब मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा। १५१।

टिप्पणी १—'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ' इति। ☞ इस समय तीन बार पदवंदन दिखाया है। तीन बार वंदनामें क्रमसे वचन मन और तन (कर्म) दिखाया है। 'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी' यह वचन है, 'सुत बिषैक तव पद रति होऊ' यह मन है और 'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ' यह तन है। तात्पर्य कि राजाकी भगवान्‌के चरणोंमें मन वचन कर्म तीनोंसे प्रीति है। यह तीन बार पदवंदनका भाव है। ☞ भगवान्‌के तीनों बार वर देनेमें वक्ताओंने भगवान्‌को कृपानिधान वा करुणानिधान विशेषण दिया है, यथा 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना' (यह प्रथम बारकी प्रार्थनापर कृपा करके दर्शनरूपी वर दिया), 'एवमस्तु करुनानिधि बोले' (यह दूसरी बार जब पुत्र होनेका वर माँगा तब करुणा करके वर दिया) और 'एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ' (यह अंतिम बार सुतविषयक प्रेम माँगनेपर भी करुणा करके वर दिया)। इसका तात्पर्य्य यह है कि भगवानकी अपने दास (मनुजी) पर आदिसे अंततक एकरस कृपा बनी हुई है। [जो माँगा वह सब देनेकी इच्छा है अतः 'एवमस्तु' कहा। शतरूपाजीने दोनोंके लिये माँगा और वह सब देना अनुचित था, अतः वहाँ 'एवमस्तु' नहीं कहा। तुलसीदासजीकी काव्यकला शब्दलाघवमें अर्थ गम्भीर्य्ययुक्त है।' (प० प० प्र०)]

(चरण पकड़े रह जानेमें भाव यह है कि यह वर लेकर ही मानेंगे। वि० त्रि०)

२ 'अब तुम्ह मम आनुसासन मानी।०' इति। (क) 'अनुसासन मानी' का भाव कि राजाके मनमें

---

* पाठान्तर-बिलास।

इन्द्रलोकमें बसनेकी वासना नहीं है। कैसे मालूम हुआ कि नहीं है? इस तरह कि प्रथम ब्रह्माविष्णुमहेश तीनों आए, अपना-अपना लोक देते रहे पर ये ऐसे वैराग्यवान् कि (इन्होंने उस सुखको तुच्छ मानकर) उसकी इच्छा न की। ('प्रभु सर्बज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी।' भगवान् इस बातको जानते हैं) इसीसे भगवान्‌ने कहा कि हमारी आज्ञा मानकर इन्द्रलोकमें जाकर रहो। 'राम रजाइ सीस सब ही के।' स्वामीकी आज्ञा है; अतः उसे मान लिया। (ख) इन्द्रलोकमें निवास करानेका भाव कि राजाने ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और शिवलोक को लेना स्वीकार नहीं किया था (इससे वहाँ भेजना उचित न था। वहाँ जानेको कहते तो इनको संकोच होता।) अतएव वहाँ वास करनेको न कहा। पुनः भाव कि भगवान्‌ने प्रसन्न होकर इनको दर्शन दिया, पुत्ररूपसे इनके यहाँ अवतार लेकर सुतविषयक सुख देनेका वरदान दिया। पर इतना देनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ, क्योंकि राजाने भगवान्‌को छोड़कर और कुछ भी पदार्थ न माँगा।—'निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें। २।२९९।' (अहा! क्या सुंदर अनुपम स्वभाव सरकारका है!! बलिहारी बलिहारी!!)। इसीसे इन्द्रलोकमें निवास करनेको कहा। इन्द्रलोकमें भोगविलास बहुत है। भगवान्‌की आज्ञासे सुरपतिरजधानीमें बसनेसे सुरपति आदि सभी देवता इनकी सेवा करेंगे इनको तपका फल भी कुछ न कुछ भोग कराना भगवान्‌को मंजूर है। [किसीका मत यह भी है कि यहाँ भगवान्‌ने वेदमर्यादाकी रक्षा भी की है। तपका फल इन्द्रलोकका भोग विलास है, उसे भोग करनेको वहाँ भेजा। भोग विलासमें इन्द्रकी उपमा दी जाती है, यथा 'भोग पुरंदर। ७।२४।', 'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास। ६।१०।', 'मघवा से महीप बिषय सुख साने।' (क० ७।४६), 'भोगेन मघवानिव', इत्यादि।]

३—'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल०' इति। (क) ☞ इस वचनसे पाया जाता है कि विशाल भोगविलास करनेकेलिए ही इन्द्रलोकमें वास कराया गया। (ख) वर देनेके साथसाथ अभीसे भगवान्‌ने रानी राजामें माता-पिता-भाव मान लिया। इसीसे उनको माता पिता कहते हैं, यथा 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें' (शतरूपाजीसे) और 'तहँ करि भोग बिसाल तात गएँ कछु काल पुनि' (मनुमहाराजसे)। ['मातु' कहकर रानीका संदेह दूर किया था और अब 'तात' पिता-वाचक-पद देकर राजाको अपनी सत्य प्रतिज्ञापर विश्वास दिलाया] (ग) 'कछु काल' का भाव कि तपका फल तो कई कल्पोंतक इन्द्रलोकका राज्य प्राप्त होनेपर नहीं चुक सकता, कल्पोंतक इन्द्रपदप्राप्ति भी इस तपके आगे कुछ नहीं है। अतएव उसे बहुत कम मानकर 'कछु काल' कहा। पुनः, राजाको प्रभुका वियोग असह्य है, वे भगवान्‌का वियोग बहुत दिन न सह सकेंगे (और स्वर्गमें न जाने कबतक रहना पड़े यह समझकर राजाको संकोच होगा), इसीसे 'कछु काल' कहकर राजाकी खातिरी की, उनको संतोष दिया। क्योंकि देवशरीर धारण कर इंद्रलोकमें बसनेसे यह निश्चय है कि वहाँ देवताओंकी आयुपर्य्यन्त (वा तपफलभोग पर्य्यन्त) निवास करना पड़ता है तब तो भगवान्‌की इस आज्ञासे कि 'बसहु जाइ सुरपति रजधानी', निश्चय होता है कि बहुत कालतक वियोग रहेगा, अतएव उस संदेहकी निवृत्तिके लिए, उस संकोचको मिटानेके लिए भगवान् कहते हैं कि 'गएँ कछु काल पुनि' अर्थात् तुम्हें देवताओं की पूर्णायुतक वहाँ न रहना पड़ेगा, कुछ ही काल ठहरना होगा। फिर तुम अवधभुआल होंगे। (पुनः, 'कछु काल' का भाव कि थोड़े ही समयमें विशाल भोग भोग लोगे)।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रथम कल्पमें बहत्तरवीं चतुर्युगीमें दो लाख तेरह हजार एकसौ बयालीस वर्ष जब सत्ययुगके बीते उस समय प्रभुने मनुको स्वर्ग जानेकी आज्ञा दी। 'कछु काल' अर्थात् चौबीस लाख छब्बीस हजार आठसौ अट्ठावन वर्ष बीतनेपर। अर्थात् जब त्रेतायुगके तीन लाख चौरासी हजार वर्ष बाक़ी रहेंगे तब तुम राजा होगे। १४२ (१-४) भी देखिए।

त्रिपाठीजीका मत है पाँच मन्वन्तर तक अमरावतीमें बसनेको कहा। इन्द्र और देवता तक पाँच

बार बदलेंगे पर ये वहीं रहेंगे। सातवें (वैवस्वत्) मन्वन्तरमें अवधके राजा होंगे, तब अवतार होगा।

टिप्पणी—४ (क) 'होइहहु अवधभुआल' इति। इन्द्रलोक देनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ तब अवधभुआल होनेका वर दिया कि जहाँ (अवधमें) इंद्रलोकसे अनंतगुण अधिक ऐश्वर्य है। यथा 'अवधराजु सुरराज सिहाहीं। दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं।२।३२४।' (ख) 'तब मैं होब तुम्हार सुत'। भाव कि तुम्हारे इस शरीरके तथा देवशरीरके पुत्र न होंगे, जब अवधभुआल होंगे तब तुम्हारे पुत्र होंगे। भगवान्‌से कालका क़रार नहीं कराया था, पुत्र होनेका क़रार (एक़रार; वचन) था। इसीसे भगवान्‌ने कालका कोई एक़रार नहीं किया; पुत्र होनेका क़रार किया। अपना 'क़रार' समझकर राजाको संतोष रहेगा। (ग) ☞ काल और देश दोनों इस दोहेमें बताए। 'गएँ कछु काल पुनि होइहहु अवधभुआल', जब अवधभुआल होंगे तब, यह 'काल' बताया और 'अवध' यह देश बताया, जहाँ अवतार लेकर पुत्र होंगे। [पूर्व इनकी रजधानी बिठूर (ब्रह्मावर्त) कही जाती है। पूर्व प्रमाण दिया गया है]

नोट १ ☞ यहाँ यह दिखाते हैं कि प्रभु जिसपर कृपा करते हैं उसको फिर उत्तरोत्तर अधिक सुख देते ही जाते हैं क्योंकि—'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती'।

२—जब राज्य वैभवका भोग साठ हज़ार वर्ष कर लेंगे तब पुत्र होंगे। वैजनाथजी लिखते हैं कि "मनुजीने अट्ठाईस हज़ार वर्ष तप किया। प्रभुने चौबीस हज़ार वर्ष तपके फलमें चौबीस लाख वर्ष स्वर्गभोग दिया और चार हज़ार वर्षके तपके फलमें साठ हज़ारवर्ष अवधराज्यका सुखभोग दिया और अट्ठाईस वर्ष-तक पुत्र होकर वात्सल्यसुख दिया।" —पर इसमें मत-भेद है।

प० प० प्र०—बालकांड वन्दना-प्रकरणमें एक बार 'दसरथ राउ' कहकर वंदन किया फिर 'अवध-भुआल' कहकर। यथा 'दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी। करौं प्रनाम करम मन बानी। १।१६।६-७।', 'बंदौं अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद। १।१६।' यहाँ 'होइहहु अवध-भुआल' शब्द देकर सूचित करते हैं कि दोहा १६में जो वन्दना है वह मनु-दशरथकी है और जो 'दसरथ राउ' कहकर वन्दना की वह कश्यप (अदिति) दशरथकी है।

इच्छामय नरबेष संवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे॥१॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥२॥
जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥३॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥४॥

शब्दार्थ—'इच्छामय'=इच्छारूप, इच्छानुसार, इच्छासे, संकल्पमात्रसे। संवारे=रचकर, बनाए हुए। 'निकेत'=घर, अर्थात् सूतिकागृह, सौर, जच्चाख़ाना।

अर्थ—अपनी इच्छासे नररूप बनाये हुये तुम्हारे घरमें प्रकट होऊँगा॥ १॥ हे तात! अंशोंसहित देह धारणकर मैं भक्तोंको सुख देनेवाले चरित्र करूँगा॥ २॥ जिन्हें बड़भागी मनुष्य आदर पूर्वक सुनकर ममता मद छोड़कर संसारसे तर जायँगे॥ ३॥ आदिशक्ति जिसने जगत्‌को उत्पन्न किया वह ये मेरी 'माया' भी अवतार लेंगी॥ ४॥

नोट—१ "इच्छामय नर बेष सँवारे।…" इति। (क) नर का अर्थ है 'पाञ्चभौतिक मायामय शरीर-वाला' यथा, 'स्युः पुमां सः पंचजनाः पुरुषाः पुरुषा नराः'। इत्यमरे।' इसीसे कहते हैं कि मेरा नर-शरीर मायामय पांचभौतिक नहीं होगा, किन्तु 'इच्छामय' होगा। जैसे चीनीके अनेक खिलौने मनुष्य, पशु, पक्षी, फूल, फल इत्यादि बनते हैं, वे देखने मात्र मनुष्य, पशु आदि हैं, पर उनमें मनुष्य, पशु, इत्यादिके तत्त्व नहीं हैं, वे तो भीतर-बाहर चीनी ही हैं; वैसे ही हमारा रूप देखने मात्रको तो नराकार होगा पर भीतर बाहर शुद्ध ईश्वर

तत्त्व ही है, उसमें देही-देह-विभाग नहीं है, हमारा शरीर चिदानन्दमय ही होगा। मैं अपनी इच्छासे नरतन धारण करूँगा. जीवोंकी तरह कर्मका परिणाम वह शरीर नहीं होगा। (वै०)। (ख) संत श्रीगुरुसहाय-लालजी लिखते हैं कि "आनन्दो द्विविधः प्रोक्तः मूर्तश्चामूर्त्त एव च। अमूर्तस्याश्रयो मूर्तः परमात्मा नराकृतिः।" (अर्थात् आनन्द दो प्रकारका है, एक रूपवाला दूसरा रूपरहित। रूपरहितका आश्रय रूपवाले नराकृति परमात्मा हैं)। यही 'इच्छामय नर बेष' है। अथवा, भाव यह है कि नर वेष तो धारण करूंगा परंतु जब जैसा जिसे इच्छा होगी (वैसा), वा जिसकी इच्छाको जिस रूपसे पूर्ण करना आवश्यक होगा तन्मय नरबेषका (उसे) अनुभव होगा। इसीसे नारदको क्षीरशायी देख पड़े, परशुरामको रमाकान्त, देवताओंको उभय भाँति, कौसल्याको अनुपम रूप, सतीको राजपुत्र, और शिवजीको सच्चिदानंद ब्रह्म, इत्यादि मानसके प्रसंगोंसे पाया जाता है। अथवा, राजाके मनमें यह आया हो कि संसारी जीवोंकी तरह यदि ये हमारे प्रेमके कारण रज-वीर्यसे पुत्र हुए तो यह अद्भुत लावण्य कैसे बना रहेगा, इससे प्रभुने कहा कि हमारा 'इच्छामय नर बेष' होगा। (ग) 'इच्छामय नर बेष', यथा 'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार। १९२।' (घ) रा० प्र० कार लिखते हैं कि "जो शान्तिकी प्राप्ति करावे उसे 'नर' कहते हैं— 'नरति शान्तिं प्रापयतीति नरः।' जितने ऐसे ईश्वरकोटिके नर हैं उनका इच्छामय वेष सँवारनेवाले हम तुम्हारे गृहमें प्रगट होंगे।" (ङ) मयंककारका मत है कि 'प्रभुने मनुको अमरावतीमें बास करनेकी आज्ञा दी तब इनके मनको क्षोभ हुआ कि इतने दीर्घ काल तक यह स्वरूप क्योंकर एकरस रहेगा। अतएव प्रभुने कहा कि मैं इच्छामय सुन्दर शरीर धारण कर तुम्हारे यहाँ प्रकट होऊंगा। इससे राजाको ज्ञान हो गया कि यह नित्य स्वरूप है और मोह दूर हो गया।'

२—"नरवेष और देही-देह-विभागरहित शुद्ध चिदानंदमय शरीर तो अब भी है तब 'सँवारें' से क्या तात्पर्य है?" इस शंकाका समाधान यह है कि मनुष्य शरीरमें बाल, कुमार, पौगंड, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ होती हैं। हर्ष विषाद आदि होते हैं। इत्यादि। वैसे ही मेरे चिदानंदमय शरीरमें लोगोंको ये सब भाव दरसाए जायेंगे। तुम्हारे यहां प्रकट होनेपर मैं इन अवस्थाओंकी लीलाएँ भी करूँगा और अपनी इच्छासे नित्यकिशोर लीला भी जो चाहूँगा करूंगा (करु०, वै०)।

३—"अंसन्ह सहित देह धरि ताता।" इति। (क) भाव यह कि इनके विना हमारा चरित्र नहीं बनता। पुनः, यह सूचित किया कि अंशोंके भी तात (पिता) तुम्हीं होगे। (ख) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि "परमेश्वर अगणित अंशोंसे पृथ्वीपर अवतीर्ण हो कार्य्य सिद्ध किया करते हैं। उनमें यहाँ तीन विशेष अंशोंकी सूचना है; सो यों कि-(१) जिस अंशसे पृथ्वीको धारण करते हैं सो लक्ष्मणजीके-रूपमें, (२) वह अंश जिससे पृथ्वीका भरण पोषण करते हैं सो भरतजीके रूपमें और (३) जिस अंशसे शत्रुओंका नाश करते हैं वह विशेषकर शत्रुघ्नके रूपमें जिन्होंने लवणासुरका बध किया था।" (वस्तुतः यह मत पाँड़ेजीका है)।

(ग) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि "अंश दो प्रकारके होते हैं। १—महत् २—विभूति। जैसे गंगा, सरयू आदिकी धारासे स्रोत फूटकर पृथक् निकल चलें पर स्रोत मिला रहे—यह महत् अंश है; और गंगा सरयू जल घट आदिमें अलग निकाल लिया जाय यह विभूति अंश है। भरतादिक षोडश पार्षद महत् अंश हैं और रामरूप ही हैं।"

(घ) वैजनाथजी लिखते हैं कि एकन्नी, दोअन्नी, चवन्नी, अठन्नी आदि रुपयाके अंश हैं, इनसे रुपया खंडित नहीं होता। वैसे ही ईश्वरतत्त्व थोड़ा बट जानेसे खंडित नहीं होता। अंशावतार होनेसे भी पूर्णावतार खंडित नहीं होता। व्यापक ब्रह्म चांदी मात्र है, पूर्णावतार ऊँचा सिक्का है, दुअन्नी आदि अंशावतार हैं। जीव भूषणादि दागी हैं।

(ङ) मा० त० वि० कार लिखते हैं कि भाव यह है कि 'जो जो भक्त जिस स्वरूपके उपासक होंगे उन्हींके सुख दायक चरित्र करूंगा। वह अंशों सहित देह धरकर करूँगा। तात्पर्य कि कभी रमावैकुण्ठ नाथ होके, कभी क्षीरशायी और कभी श्वेतद्वीपवासी इत्यादि होके। अथवा, भक्तसुखदाता अंशोंके साथ यह देह धारण किये चरित करूँगा। अतः, 'वैकुण्ठाधीशस्तु भरतः क्षीराब्धीशश्च लक्ष्मणः। शत्रुघ्नश्च स्वयं भूमा रामसेवार्थमागतः।' के अनुसार वैकुण्ठाधीशादि भरतादि होंगे। भाव यह कि तुमने तो केवल हमको ही पुत्र रूपसे माँगा है पर तुम्हारे आनंदके लिये मेरे अनादि लीलाके परिकर भी चरितार्थ देह धारण करेंगे। अथवा, भाव कि पुत्र होनेकी बात ही क्या, मैं अपने चरित भी दिखलाऊँगा।' इत्यादि। [अंशोंके सम्बन्धमें १८७।२ देखिए]

४—"जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी···" इति। भाव यह कि जो अभागे हैं वे न सुनेंगे, यथा 'एहि सर निकट न जांहिं अभागा।३८।२।', 'सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होंहिं विषय अनुरागी'। मद ममता जन्ममरणके कारण हैं अतएव इनका त्याग होना कहकर भवसागरके पार होना कहा।—(पं० रामकुमारजी)।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—परब्रह्म परमात्माने किस प्रयोजनसे अपने अंशोंके सहित अवतार लिया? श्रीरघुनाथजीने स्वयं तो मर्यादा पुरुषोत्तमका अवतार लेकर अपने भागवत धर्म अर्थात् ईश्वरीय दिव्य गुण—सौशील्य, वात्सल्य, कारुण्य, क्षमा, शरण्यता, दया, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरत्व, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वदर्शित्व, सर्वनियामकत्व आदिकी सुलभताके साथहीसाथ लोकधर्म समस्त मर्यादाका भी आदर्श उदाहरण चरितार्थ कर दिखाया, जिसका पूरा-पूरा निर्वाह किसी जीव कोटिके सामर्थ्यसे संभव ही नहीं है। परन्तु विशेष धर्म अर्थात् परमार्थ सेवनके विशेष आदर्श स्वरूप श्रीप्रभुके तीनों अंशावतार श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न ही हुए हैं। जो भगवत् भागवत सेवाधर्म जीवमात्रके परम कल्याणार्थ अति आवश्यकीय धर्म था, उसके साथ-साथ यथासंभव लोकधर्मका भी निर्वाह गौणरूपमें होता ही रहा है। (इसके आगे कल्याण ११-७ पृष्ठ १०६८ से ११०५ तक चारों "श्रीविग्रहोंके आदर्श चरितोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन करानेके बाद वे लिखते हैं कि) निष्कर्ष यह है कि परम प्रभुने अपने तीनों अंशोंको साथ-साथ अवतरित करके भगवत् भक्ति और भागवत भक्तिकी चर्याको अपनी लोकमर्यादाके समान ही आदर्श बना दिया। उचित ही था क्योंकि लोकपरलोक दोनोंका शिक्षण स्वयं भगवानके अवतारसे ही तो होना था—

अतएव जैसा कि सब भ्राताओंमें छोटे श्रीशत्रुहनजीने भागवत सेवाकी निष्ठाको ही आदर्श बनाया; जीवमात्रके लिये प्रथम सीढ़ी संतसेवा ही है। श्रीरामचरितमानसमें सत्संगके प्रभावके संबंधमें और भी देखिये—"मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहां जेहि पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥" अस्तु सच्चे हृदयसे अनन्य होकर संतोंकी सेवा करनेसे भगवान संतुष्ट और प्रसन्न होकर अवश्य ही अपने दुर्लभ प्रेमको प्रदान करेंगे। उस भगवद्दत्त प्रेमसे भगवान्के प्राप्त होनेतक सदैव श्रीभरतजीकी चर्याका अनुसरण करना चाहिये। हृदयमें प्रभुजीका ध्यान करके अहर्निश उनके नामका अनुसंधान करते हुए उनकी प्राप्तिके लिये अनुरागसे करुणाक्रन्दन करना चाहिये। जब श्रीप्रभुकी प्राप्ति हो जाय—साक्षात्कार हो जाय, तब श्रीलक्ष्मणजीकी चर्याका अनुकरण करनेमें तत्पर हो जाना चाहिये। इससे निजत्व और सहजत्वकी प्राप्ति होगी और जीव कृतार्थ हो जायगा। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये श्रीमर्यादापुरुषोत्तम सरकारने अंशोंके सहित अवतार लिया, जिसकी बड़ी आवश्यकता थी।

नोट—☞ स्मरण रहे कि 'इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहौं प्रगट०' से स्पष्ट सिद्ध है कि मनुशतरूपाके आगे जो स्वरूप है, जो मूर्ति है, वह 'लीला तन' नहीं है, वरंच असली अगुण अखंड ब्रह्म ही है, लीलातन वा नरवेष श्रीअवधमें अवतरनेपर धारण करेंगे। 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता' भी दलील है कि इस समय

ब्रह्म अपने असली देहसे सम्मुख खड़ा हुआ है और कहता है कि मैं तुम्हारे लिये नर-शरीर धारण करूँगा।

"आदि सक्ति···। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।"

१—श्रीसीताजीके लिये 'माया' शब्द यहाँ ठीक उसी प्रकार प्रयुक्त किया गया है जैसे प्रणवरूप होनेसे वेदान्तसूत्रमें ब्रह्मको 'प्रकृति' कहा गया। यहाँ भी 'माया' शब्दका अर्थ उसी प्रकार समझना चाहिए। प्रमाण, रामोत्तरतापिन्युपनिषद्। यथा "श्रीराम सान्निध्य वशाज्जगदानन्ददायिनी। उत्पत्ति स्थिति-संहार-कारिणी सर्वदेहिनां॥ सा सीता भगवती ज्ञेया मूल-प्रकृतिसंज्ञिता। प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः॥" (३-४)। ठीक इसी अभिप्रायसे 'माया' शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है। श्रीसीताजी 'माया' नहीं हैं। उनको रामतापिनी आदि ग्रन्थोंमें चिद्रूपा लिखा है। यथा "सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामयी भवेत्।···दिव्यालङ्कार स्रङ्मौक्तिकाद्याभरणालङ्कृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति।" (सीतोपनिषत्)। 'न त्वां केचित् प्रजानते॥ १०॥ ऋते मायां विशालाक्षीं···।' (वाल्मी० ७।११८।१०)। 'हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कृतया चिता।···' (रामपूर्वतापिन्युपनिषत् ४।६)। वैदिक निघण्टुमें भी 'माया ज्ञान वयुनम्' से मायाको ब्रह्मकी चिच्छक्ति प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्गोस्वामीजीने भी उनको श्रीरामजीसे अभिन्न अभेद वर्णन किया है। यथा "गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥ १८॥", "माया सब सियमाया माहूँ।", "जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोई।" अन्य भाव लेनेसे पूर्वापर विरोध होगा।—'उद्भव स्थिति···' मं० श्लोक भी देखिये। सदाशिव संहितामें भी ऐसा ही लिखा है—"रामस्सीता जानकी रामचन्द्रः नाणुर्भेदोह्येतयोरिति कश्चित्। संतोमत्वातत्त्वमेतद्विबुध्वापारंजाताः संसृतेर्मृत्युकालात्॥" इस सिद्धान्तकी पुष्टता वनयात्राके समय चक्रवर्ती महाराजके वचनोंसे भी होती है। उन्होंने सुमन्तजीसे कहा है कि—'जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई॥ तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिय प्रभु मिथिलेसकिसोरी। एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ नाहिं त मोर मरन परिनामा। कछु न बसाइ भये बिधि बामा॥ २।८२॥' यदि श्रीसीताजी ब्रह्म न होतीं तो उनके घरपर रहनेसे राजा क्योंकर जीवित रह सकते थे। राजाके ये वचन व्यर्थ हो जाते हैं।

२—पुनः, माया पाँच प्रकार की है—अविद्या, विद्या, सन्धिनी, संदीपिनी और आह्लादिनी। जो जीवोंके हृदयमें नित्य अशुचि दुःख अनात्म वस्तुमें नित्य शुचि सुख आत्म बुद्धि करादेवे उसको 'अविद्या' कहते हैं। अज्ञानको विनाशकर जीव-परमात्माके यथार्थ ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली शक्तिको 'विद्या' कहते हैं। ज्ञान प्राप्त होने पर जीव ईश्वरकी सन्धिको अर्थात् अतिशय सान्निध्यको जनानेवाली शक्ति 'सन्धिनी' कही जाती है। जीवोंके हृदयमें परमात्माके साक्षात्कार संदीपन करनेवाली शक्तिको 'संदीपिनी' कहते हैं और ईश्वरसे अविनाभूत रहकर चेतनोंको ब्रह्मानन्द प्रदातृ सुखस्वरूपा चिन्मयी शक्तिको 'आह्लादिनी शक्ति' कहते हैं। वही आह्लादिनी शक्ति श्रीसीताजीको कहते हैं। मायाका अर्थ त्रिगुणात्मिका माया यहाँ नहीं है।

३—'माया' के अर्थ शक्ति, इच्छा और प्रेरणा भी हैं। उदाहरण (क) 'रामजीकी माया, कहीं धूप कहीं छाया।' (ख) 'अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया।' (ग) 'तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ।' (घ) 'बोले बिहँसि महेस तब हरि माया बल जानि जिय।'

४—'माया' शब्द केवल पद्यमें 'कृपा, दया, अनुग्रह' के अर्थमें भी आता है। उदाहरण—(क) 'भलेहि आय अब माया कीजै। पहुनाई कहँ आयसु दीजै।' (ख) 'साँचेहु उनके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया।' (ग) 'डंड एक माया कर मोरे। जोगिनि होउँ चलौं संग तोरे।—(हिन्दी शब्दसागर)

करुणासिंधुजी आदि कई टीकाकारोंने यहाँ 'माया' का अर्थ 'कृपा, दया, अनुग्रह' भी लेकर यह भावार्थ कहे हैं—'मेरी शक्ति मेरी दयारूपा जगत्को उत्पन्न करनेवाली', 'मेरी तुम पर यह दया है' अर्थात् तुमने इनको वरमें नहीं माँगा, हम अपनी ओरसे इनका भी सुख तुमको देंगे।

प्रोफे० दीनजी इसी अर्थको यहाँ ठीक समझते हैं। मेदिनीकोशमें 'माया' के अर्थ ये मिलते हैं- 'स्यान्माया शांबरीबुद्ध्योः'।

नोट—६ 'माया-भगवच्छक्ति।' जिस शक्तिके बलसे श्रीभगवान् 'बहु स्यां प्रजायेय' इस अपने संकल्पके अनुसार एकदम नाना जगत्‌रूपी रूपोंको धारण करते हुये जगत्‌की सृष्टि करनेवाले कहलाते हैं, उसीका नाम माया है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों मूर्तियोंके अपने-अपने कार्यक्षेत्रमें जो लीलाएँ हुआ करती हैं उन सबकी प्रेरणा करनेवाली और उनको भली भाँति संपन्न करनेवाली जगन्मातारूपी परमेश्वरी भगवती महामाया भगवच्छक्ति परमाशक्ति श्रीसीताजी हैं।

भगवच्छक्तिके चार अर्थ होते हैं-१ 'भगवतः शक्तिः भगवच्छक्तिः' षष्ठीतत्पुरुषसमासवाली व्युत्पत्तिसे भगवती भगवान्‌की शक्ति है, वही ईश्वरकी प्रेरणा करनेवाली और उसके सब काम करनेवाली है। २— 'भगवति' शक्तिः भगवच्छक्तिः' सप्तमी तत्पुरुषसमासवाली व्युत्पत्तिसे भगवान्‌में जो शक्ति है उसीका नाम देवी है और उसकी उपासनाके विना भगवान्‌की उपासना नहीं हो सकती। ३—'भगवती चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्तिः' इस कर्मधारयसमासवाली व्युत्पत्तिसे शक्तिरूपिणी देवी भगवती है। अर्थात् षड्गुणैश्वर्यादिसे विभूषित है और उसकी उपासनासे उपासकोंको सब प्रकारकी ऐश्वर्यादि विभूतियाँ अनायास मिल सकती हैं। ४—'भगवांश्चासौ शक्तिश्च भगवच्छक्तिः' इस कर्मधारयसमासवाली व्युत्पत्तिसे देवी और भगवान्‌में भेद नहीं है, बल्कि ऐक्य है। (स्मरण नहीं यह कहांसे लिया है)।

नोट—७ 'सोउ अवतरिहि'—अपने लिए 'होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे' कहा और 'आदि शक्ति' के लिए केवल 'अवतरिहि' कहा। भाव यह कि वे जगत्‌में दूसरी जगह अवतीर्ण होंगी, तुम्हारे यहाँ नहीं।

नोट—८ इस प्रकरणमें श्रीरामजीका ही बोलना गोस्वामीजीके शब्दोंसे पाया जाता है, श्रीसीताजी चुप ही रहीं। महानुभावोंने इसके कारण ये लिखे हैं—

(१)—दोनोंमें अभेद है—'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। इस 'निर्भिन्नता' के भावसे केवल महाराज ही बोले। वा,

(२)—लोमशरामायण और पद्मपुराणकी सम्मति लेकर विश्रामसागरमें लिखा है कि एक बिप्र हरिदेव और उनकी पत्नीने भी उसी समय इस अभिलाषासे तपस्या की थी कि आदिशक्ति हमारी सुता हों और परब्रह्म राम हमारे जामाता हों। यथा 'तहां बिप्र हरिदेव प्रबीना। कनकलता युत नारि नबीना। करहिं तपस्या भगवतहेता। असन बसन तजि अवधनिकेता॥' इत्यादि। और श्रीयुगल सरकारके प्रकट होनेपर उन्हींने इस प्रकार वर माँगा कि "इन्ह समान कन्या मिलै तुम्ह समान जामात।" वहाँ भी श्रीकिशोरीजीसे वर नहीं माँगा गया। वैसे ही यहाँ जब श्रीसीताजीसे वर माँगा ही नहीं तब वे क्यों बोलतीं? विश्राम सागरमें मनुजीने इस प्रकार वरदान माँगा है—"बोले महिपालक तुम सम बालक इन सम चहौं पतोहू। बिषइक इव जानों ईश न मानों देव यहै करि छोहू॥ (मा० त० वि०)। जैसे यहाँ मनुजीसे कहा है कि जब तुम अवध-भुआल होगे तब मैं तुम्हारा पुत्र हूँगा वैसे ही विप्र और विप्रपत्नीको यह आज्ञा हुई थी कि "त्रेता जनक होब तुम्ह सोई। नाम सुनयना इन्ह कर होई॥ तब तव कन्या सक्ति हमारी। ह्वै हैं अंशन संयुत चारी। मैं जामात मिलब तहँ जाना। अस कहि भे प्रभु अंतरधाना॥ (मा० त० वि०)। बैजनाथजीके मतसे विप्रका नाम बामवर्त्ती और विप्रपत्नीका नाम सुमति था।

(३)—नृपने पुत्र होनेका वर माँगा तब श्रीसीताजी अपनेको पुत्रबधू जानकर सकुचकर चुप हो रहीं (मानसमयंक, मा० त० वि०)।

(४)—भुवनेश्वर संहितामें पाया जाता है कि जनकजीको आदिशक्तिने वरदान दिया क्योंकि उनके जीमें यह लालसा थी कि वे हमारी कन्या हों। और यहाँ पुत्रकी चाह है अतएव प्रभु बोले; इनके बोलनेका प्रयोजन न था।

(५)—मानसी वन्दन-पाठकजी कहते हैं कि "ग्रन्थकारने पूर्व हीसे केवल श्रीरामोपासना गाई है— 'बासुदेव पदपंकरुह दंपति मन अति लाग', 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे' इत्यादि । मनुमहाराज श्रीजानकीजीको नहीं जानते । जानते तो श्रीराघव ऐसा न कहते कि 'आदिशक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया' । इस वचनसे इनके स्वरूपको राघवने जनाया । जो कहो कि केवल राघवकी उपासना क्यों गाई तो ग्रन्थकारका पूर्वसंकल्प है—'जेहि कारन अज अगुन अनूपा । ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा' । अतएव श्रीरामजन्मके हेतुमें श्रीमनुमहाराज हैं और श्रीजानकीजी तो विदेह महाराजके सुकृत भागमें हैं— 'जनक सुकृत मूरति बैदेही । दसरथ सुकृत राम धरे देही ।।' इस विभागसे मनु महाराजके अंशमें केवल राघव ही हैं इससे दोनों सरकारके वात्सल्यरसके भोक्ता दोनों महाराज हैं । अब यह प्रश्न होता है कि 'तो फिर उभय मूर्ति क्यों प्रगट हुई ?' इसका उत्तर यह है कि 'इनका संग-त्याग कभी नहीं होता।' दोनों मिलकर अखण्ड ब्रह्म हैं ।"

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा । सत्य सत्य पन सत्य हमारा ।। ५ ।।
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना । अंतरधान भए भगवाना ।। ६ ।।
दंपति उर धरि भगत† कृपाला । तेहि आस्रम निबसे कछु काला ।। ७ ।।
समय पाइ तनु तजि अनयासा । जाइ कीन्ह अमरावति बासा ।। ८ ।।
दोहा—यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही‡ बृषकेतु ।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु ।। १५२ ।।

शब्दार्थ—निबसे = निवास किया । निवाससे निवसना क्रिया बनाई है ।

अर्थ—मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा । 'हमारी प्रतिज्ञा सत्य है ! सत्य है !! सत्य है !!! ।। ५ ।। कृपानिधान भगवान् बारंबार ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गए ।। ६ ।। स्त्रीपुरुष (राजा-रानी) दोनों हृदयमें भक्तों पर कृपा करनेवाले प्रभुको धारणकर उसी आश्रममें कुछ काल बसे ।। ७ ।। फिर समय पाकर विना परिश्रम शरीरको छोड़कर इन्द्रलोकमें जा बसे ।। ८ ।। (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—) हे भरद्वाज ! धर्मध्वज श्रीशिवजीने यह अत्यन्त पवित्र इतिहास उमाजीसे कहा । अब और भी रामजन्मका हेतु सुनो ।। १५२ ।

नोट—१ 'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा' इति । राजाके 'पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी' का उत्तर यहाँ है । 'सत्य सत्य पन सत्य हमारा' इन वचनोंका हेतु अगली चौपाईके 'कृपानिधान' शब्दमें है । अर्थात् कृपा करके बारंबार 'सत्य' 'सत्य' कहा । पूर्ण विश्वास करादेनेके लिए तीन बार कहा । पूर्व भी 'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई' में लिखा गया है । लोकरीति है कि किसी बातकी प्रतिज्ञा की जाती है तो उसे तीन बार दुहराते हैं । इसीको 'त्रिवाचा' और त्रिसत्यम् कहते हैं। किसी टीकाकारका मत है कि अपने अवतार, अंशावतार और आदिशक्तिके अवतार अर्थात् तीन अवतारोंकी प्रतिज्ञाके विचारसे तीन बार कहा । और किसीका मत है कि एक बार राजाके और दूसरी बार रानीके विचारसे कहा । और तीसरी बार सत्य अपने पनको कहा । अथवा,

† भगति—भा० दा०, ना० प्र०, गौड़जी । भगत—१६६१, १७०४, रा० प०, मा० त० वि०, पं० । 'भगति कृपाला' का अर्थ होगा "कृपाल की भक्ति" । इसके अनुसार भाव यह है कि "दंपतिने अगुण अखंड का ज्ञान और तपादि कर्मोंको छोड़ दिया और हृदयमें भक्ति धारण कर ली, क्योंकि कर्म और ज्ञानका फल हरिभक्ति है, यथा 'तीर्थाटन साधन समुदाई । जोग बिराग ज्ञान निपुनाई ।। नाना कर्म धर्म व्रत दाना । ··· जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरि भगति भवानी । ७।१२६ ।' और यह इनको अब प्राप्त ही हो गई है । (प्र० सं०) । ‡ कहा—पाठान्तर ।

तीन बारसे त्रिकालमें सत्य जनाया। परंतु अगले चरणमें 'पुनि पुनि अस कहि' से स्पष्ट है कि तीन ही बार नहीं कहा बरंच 'सत्य सत्य पन सत्य हमारा' ऐसा बारंबार कहा है। दोनोंके संतोषार्थ बारंबार कहा।

२—इस प्रसंगको जिस शब्दसे उठाया था उसीपर समाप्त किया है। 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥' उपक्रम है और "पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भए भगवाना" उपसंहार है। "कृपा" ही से इस प्रसंगको संपुटित किया। भाव कि भक्तपर कृपा करके उसके लिये प्रगट हुए और यहाँ कृपापूर्वक उसको दिलासा देकर अन्तर्धान हुए। ☞ इसके निरन्तर पाठ से कृपा होगी।

३—'उर धरि भगत···तेहि आश्रम निवसे···' इति। (क) इस समय अगुण अखण्ड अनादि ब्रह्मने अपने इन अनन्य भक्तों पर अत्यन्त कृपा की है, दर्शन दिये, नये नये मनोरथ पूर्ण किये और अपनी ओर से कृपा करके जो नहीं मांगा वह भी दिया। अतः 'भगत कृपाल' विशेषण दिया। जिन्होंने ऐसी असीम कृपा की उन्हीं को हृदय में धारण किया। इससे जनाया कि दर्शन के पश्चात् भी राजा रानी दोनों अनन्यता पूर्वक उन्हीं प्रभुकी भक्तिमें तत्पर रहे। भक्त तो प्रथम ही थे, यथा 'गति अनन्य तापस नृपरानी। १४५।५।' अतः 'भगत कृपाला' पाठ विशेष उत्तम है। (ख) यहाँ दिखाते हैं कि राजा रानीका वैराग्य आदिसे अन्ततक एकरस रहा। उनके मनोरथ सिद्ध हुए फिर भी वे घर लौटकर न गए।

४ "समय पाइ तनु तजि अनयासा" इति।—सबके मृत्युका समय नियत है। प्रारब्ध भोग समाप्त होने पर ही शरीर छूटता है; अतएव 'समय पाइ' कहा। 'अनयासा' का भाव यह कि 'जनमत मरत दुसह दुख होई' वह दुःख इन भक्तों को नहीं हुआ। 'अनायास', यथा 'जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान। ७। १०६।', 'सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग। कि०।' इसी प्रकार इन दोनोंने एक साथ ही शरीर त्याग दिये।

नोट—५ 'राम-अवतार' प्रसंग यहाँ तक कहकर छोड़ दिया। अब आगे रावणका अवतार कहकर फिर दोनों प्रसंगोंको मिलावेंगे, तब इस (रामावतार) प्रसंग को फिर कहेंगे। यथा "अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा। १८८।६।' यह रामावतार का प्रसंग तो हुआ पर 'असुर मारि थापहिं सुरन्ह ··। १२१।' की पूर्ति के लिये आगेका प्रसंग कहते हैं।

स्वायंभुवमनुशतरूपा और श्रीनारद प्रसंगका मिलान

श्रीमनुशतरूपाजी	श्रीनारदजी (अरण्यकांड)
परे दंड इव गहि पद पानी। तुरत उठाये करुनापुंजा॥	१ करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ ३।४१।१०।
बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जान।	२ नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि। ३ ४१
सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी। धरि धीरज बोले मृदुबानी॥	३ नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि॥ ३।४१
दानि-सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।	४ सुनहु उदार परम रघुनायक। ३।४२।
सुगम अगम कहि जात सो नाहीं।	५ सुंदर अगम सुगम बरदायक। ३।४२।
एक लालसा बड़ि उर माहीं।	६ देहु एक बर माँगउँ स्वामी। ३।४२।
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी	७ जद्यपि जानत अंतरजामी॥ ३।४२।
सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही।	८ जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।
मोरे नहिं अदेय कछु तोही	अस बिश्वास तजहु जनि भोरे॥ ३।४२।
प्रभु परंतु सुठि होत ढिठाई	९ अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई। ३।४२।

एवमस्तु करुनानिधि बोले	१० एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ । ३।४२ ।
हरष बिबस तन दसा भुलानी ।	११ मुनि तन पुलक नयन भरि आये । ३।४५ ।
परे दंड इव गहि पद पानी ।।	१२ नारद सुनत पदपंकज गहे । ३।४६ ।
चाहउँ तुम्हहिं समान सुत० ।	१३ राकारजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम ।··· बसहु···उर व्योम । ३।४२ ।

नोट ६—'यह इतिहास पुनीत अति०' इति । ☞ (क) सब कल्पोंमें रामजन्मके दो दो हेतु लिखे । एक तो रावणका जन्म दूसरा कश्यपअदितिका तप । रावणजन्म विस्तारसे लिखा और कश्यप-अदितिका तप संक्षेपसे कहा, यथा 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा । तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा', 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता । दसरथ कौसल्या बिख्याता' । इस कल्पमें दोनों हेतु विस्तारसे लिखते हैं ।-मनुशतरूपाजीका तप विस्तारसे कहा । अब रावणका जन्म विस्तारसे कहते हैं । (ख) 'इतिहास' शब्दसे जनाया कि कविकल्पित नहीं है । (ग) संतश्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि ''अति पुनीत' इससे कहा कि यह हेतु साक्षात् श्रीसाकेतविहारीजीके प्रादुर्भावका है जो कारणोंके भी परमकारण हैं, यथा 'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं''—(मा० त० वि०) । पुनः, भाव कि और अवतार शापवश हुए और यह केवल कृपासे, अनन्य निज भक्तके प्रेमवश हुआ; अतएव 'अति पुनीत' कहा । (मा० त० वि०) । पुनः भाव कि इसमें किसीकी रक्षा अथवा किसीको दंड आदिकी वासना नहीं है, यह अवतार केवल शुद्ध प्रेम भावसे भरा हुआ है; अतएव यह अति पावन है । (वै०) । पुनः, इसके श्रवण-पठन आदिसे 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई । ७।१२६ ।', अतः 'अति पुनीत' कहा । यह इस कथाका माहात्म्य बताया । (घ) 'उमहिं कही बृषकेतु' यह मनु-शतरूपाप्रकरणका उपसंहार है । 'लगे बहुरि बरनैं बृषकेतू । १४१।८ ।' उपक्रम है । (ङ) 'अपर' के अर्थ हैं 'और वा दूसरा' तथा 'पश्चात्' । भाव यह कि श्रीसाकेतविहारीके अवतारके एक हेतु तो श्रीमनुशतरूपाजी हुए, उन्हींके अवतारका दूसरा हेतु अब कहते हैं । अथवा, मनुशतरूपाके वरदानके पश्चात् यह भी कारण हुआ । (मा० त० वि०) । पुनः भाव कि 'जिसमें किसीकी रक्षा किसीको दंड, कोई आर्त कोई अर्थार्थी इत्यादि अनेक वासना हैं ऐसा जो श्रीरामजन्मका हेतु है वह' । (वै०) ।

वि० त्रि०—इस इतिहासका उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार भक्तिसे है; यथा 'हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु' (उपक्रम), 'पंथ जात सोहत मतिधीरा । ज्ञान भक्ति जनु धरे सरीरा' (अभ्यास), 'दंपति उर धरि भगत कृपाला' (उपसंहार) । और भक्तिको गंगारूप कहा ही है, यथा 'रामभगति जहँ सुरसरि धारा' । यहाँ की भक्ति-गंगा विरति-यमुना और विचार-सरस्वती सहित शोभित है । यथा 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथापन, हृदय बहुत दुख लागा ।', 'बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा ।। नारि समेत गवन बन कीन्हा' । अतः इसे 'अति पुनीत' कहा ।

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—''तुलसीदासजीकी नाटकीय महाकाव्य कला'' इति ।—मैंने अपने लेखोंमें विस्तारसे लिखा है और इस प्रसंगमें संकेतरूपसे फिर लिखता हूँ कि संसारमें तुलसीदासजीको ही महाकाव्य और नाटकीय कलाओंके एकीकरणमें पूर्णतः सफलता प्राप्त हुई है । नहीं तो अँग्रेजी-भाषाका तो सिद्धान्त यह है कि महाकाव्यकी उड़ान खड़ी Vertical होती है और नाटकीकला का फैलाव पड़ा हुआ Horizontal होता है । एक आकाश की ओर उड़ती है तो दूसरी पृथ्वीपर फैलती है, भला आकाश व जमीनके कुलाबे कैसे मिलें ? फारसी भाषामें भी कहा गया है कि 'रज्म' (बीररस=कुछ महाकाव्यकला), 'बज्म' (शृंगार=कुछ नाटकी कला) और 'पंद व नसायह' (उपदेश=कुछ महाकाव्यकला) का एकीकरण असम्भव है ।

तुलसीदासजीने इस सफलताके लिये जिन युक्तियोंका प्रयोग किया है वह संक्षिप्त रूपमें यह हैं—

(१) बालकाण्डका आदि-भाग और उत्तरकांडका अंतिम भाग प्रस्तावना Prologue और उपसंहार Epilogue रूपमें है और इनमें आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रहस्योंका प्रकटीकरण हुआ है। बरनार्ड शा ने भी इस युक्तिका प्रयोग किया है पर अंतर यह है कि शा महोदयकी प्रस्तावना इत्यादि गद्यात्मक, मस्तिष्कीय तथा शुष्क हैं और तुलसीदासजीका काव्य चमत्कार वहाँ भी बना है यहाँ तक कि विषयसूची Index तक ऐसे सुन्दर रूपकके रूपमें है कि जिसका जवाब साहित्य-संसारमें मिलना कठिन है।

(२) चरित्र ऐसे लिये हैं जो मानवी और दैवी सत्ताओंके एकीकरणसे बने हैं जिसमें उनके जीवनका मानवी अंश नाटकीकलाकी बहार दिखा दे और दैवी अंशसे प्रसंग महाकाव्यकलाके शिखरपर पहुँच सके।

(३) शिव-पार्वती, कागभुशुण्डि-गरुड़ और भरद्वाज-याज्ञवल्क्यके जोड़े बराबर हमारे साथ हैं जो यथा-समय रहस्योंका प्रकटीकरण संकेतों द्वारा करते जाते हैं; परन्तु यह रंगमंचके आकाशपर ठीक उसी तरह क्षणिक प्रकाश परिधके अंदर दिखाई देते हैं जैसे आपने फिल्ममें भगवान् कृष्णको दुपट्टा घुमाते द्रौपदीचीरहरणके समय देखा हो।

(४) कवि भी साथ रहता है और हम दर्शकोंके लिये आलोचना करता जाता है। बरनार्ड शा ने भी इस युक्तिका प्रयोग किया है परन्तु गद्यात्मक शुष्क रीतिपर, विना इस युक्तिके शैक्सपियरके नाटक (विशेषतः दुःखान्तक) भूलभुलैयाँ हैं और नैतिक मार्ग साफ़ नहीं दीखता।

(५) जहाँ कला नाटकीय है वहाँ भी छोटे-छोटे आधिदैविक दृश्य लाये जाते हैं। इस रूपमें कि रहस्यका प्रकटीकरण भी हो जाय और रस भंग न हो, उदाहरणके लिये, सरस्वती और देवताओंका संवाद वनवास-प्रकरणमें विचारणीय है—शा महोदयने भी इस युक्तिका प्रयोग किया है।

(६) जैसा मैं पहिले एक नोटमें कह चुका हूँ, 'निशिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह' के दृश्यके बाद कलाका रूप बदल जाता है। अब हम महाकाव्यके वायु-मंडलमें पहुँच जाते हैं जहाँ सब चीजें असाधारण हैं। पर वहाँ भी नाटकी कलाकी सरसता जाने नहीं पाई। हमारी कल्पनाशक्तिको रबड़के समान घटने-बढ़ने-वाली बना दिया गया है। इस काममें सुरसा-हनुमान्-प्रसंग ठीक वैसा ही है जैसा 'मिल्टन' के 'पैराडाइज़ लास्ट' में शैतानी पार्ल्यामेन्टका प्रसंग।

(७) महाकाव्यकलामें ओजगुण प्रधान होना ही चाहिये। गुप्त आकाशवाणी और अमानुषिक दृश्य जैसे यहाँ (मनुशतरूपाके लिये) भगवान्का मूर्तिमान प्रकट होना, इस प्रसंगमें बड़े मार्केकी चीजें हैं। बरनार्ड शाने अपने Oracle (भविष्य वक्तव्य) को ओजस्वी बनानेके लिये मैजिक लैन्टर्न कलासे काम लिया है और उसका अमानुषिक रूप परदेपर दिखाया है। परन्तु यह सब धोखा है। पाश्चात्य जगत् वैज्ञानिक संकोचके कारण अमानुषिक सत्ताओंको भूल सा गया है, नहीं तो इस धोखेकी आवश्यकता न होती। देखिये यहाँ भगवान्का प्रकटीकरण कितना सुन्दर और सरस है।

भारतवर्षमें तो निराकारवादी महापुरुषों ने भी यह माना है कि 'मुक्त पुरुष' को शरीर केवल इच्छामात्र होता है और वे अभ्यागत होते हैं (स्वामी दयानन्द—सत्यार्थ प्रकाश)। अब इसमें और 'निज इच्छा निर्मित तन माया गुण गोपार' में बहुत ही थोड़ा अंतर रह जाता है। मिल्टन ने भी लिखा है कि आधिदैविक व्यक्तियोंमें घटने बढ़नेकी शक्ति होती है और जो रूप या लिंग चाहें वे धारण कर सकती हैं।

यदि वास्तवमें ईश्वरी सत्ता सब जगह व्यापक है तो "प्रेम ते प्रगट होहिं जिमि आगी" का सिद्धान्त Self-evident—(स्वयं सिद्ध) सा प्रतीत होता है। सर मोहम्मद एकबाल जैसा निराकारवादी मतका कवि भी लिखता है—"कभी ऐ हक़ीक़ते मुन्तज़र नज़र आ लिबासे मजाज़ में। कि हज़ारों सिजदे तड़प रहे हैं हमारे जबीने नियाज़ में।" यह तड़प मानव जातिमें बताती है कि हम भगवान् को सगुण रूपमें बिला देखे संतुष्ट नहीं हो सकते! वेदोंमें कितनी ही प्रार्थनायें हैं कि भगवान् हमारे सम्मुख तथा हमारे अंतः

करणमें प्रकट हों। पर खेद है कि हमारी कल्पना शक्ति इतनी संकुचित हो गई है कि हम यह सम्भव नहीं समझते कि वह प्रार्थना कभी स्वीकार होगी। भाई! जहाँ और जिस व्यक्तिमें वह प्रकाश प्रगट हो, अगर उसे भगवान्‌का अवतार कहा जाय या और किसी प्रकाश रूप सत्ताका व्यक्तित्व स्वीकार किया जाय तो अवैदिक कैसे होगा—श्रीजयदेव वेदालंकारने अपने सामवेद भाष्य के पृष्ठ ७०२ पर नोटमें लिखा है कि श्रीपंडितज्वालाप्रसाद मिश्रने इस मन्त्रसे सीता-राम की कथा निकालनेका यत्न किया है (सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्) अर्थ यों लिखा है "प्रकाशमान देदीप्यमान् परमात्मा उत्तम विज्ञानमय नियमोंसे नाना रूपसे व्याप्त होकर मनोहर रूपोंसे रमण करने योग्य इस जगत्‌को प्रकट करता है, चलाता है, व्यवस्थित करता है"—यह केवल एक उदाहरण है। क्या तुलसीदासजीका कहना, कि अग्नि व्यापक रूप और प्रकट दो रूपोंमें जिस तरह वैज्ञानिक मानते हैं वैसे ही ज्ञान और भक्तिके संयुक्त मार्गमें भगवान्‌का निराकार और साकार रूप है और प्रकटीकरणका प्रयोग है "प्रेम", अवैदिक है?। एक सूफी कविने भी "इश्क़" की कशिशका जोर दिखाते हुये लिखा है "कच्चे धागे से चले आयेंगे सरकार बँधे।" स्वामी दर्शनानन्दजी जैसे उदार पुरुषोंने भी अपने उपनिषद्‌भाष्य और वेदान्त भाष्यमें यह माना है कि जब जीवमें आनन्द गुण परमात्मामें से आ जाता है तो वह अपनेमें 'सच्चिदानन्दत्व' का अनुभव करता है और भगवान् कृष्ण की तरह 'स्व' रूपमें बोलता है, वे कहते हैं कि लोहेका गोला भी आगके गुण धारण कर आग हो जाता है।

इन सब उदाहरणोंके देनेका हेतु यह है कि आंगिल्य-भाषा-शिक्षित समुदाय अवतार प्रकरणको केवल कल्पना न समझे वरन् उसपर विचार करे।

(८) यहाँ प्रसंग नहीं है परन्तु संकेत रूपमें यह भी कह देना अनुचित नहीं है कि तुलसीदास की कलामें फिल्म और सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यासकलाके गुण भी इस तरह कूटकूट कर भरे हैं कि साहित्य संसारमें उनका रामचरितमानस बड़े मार्केकी पुस्तक है—तभी तो उनका दावा है कि 'कलियुग तरन उपाय न कोई। राम भजन रामायण दोई।' (अज्ञात)।

*** श्रीमनु-शतरूपा-प्रकरण समाप्त हुआ ***

—:-०-:—

भानुप्रताप-प्रकरण

(भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु)

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी॥ १॥
बिस्वबिदित एक कैकय देसू। सत्यकेतु तहँ बसै नरेसू॥ २॥
धरमधुरंधर नीतिनिधाना। तेज प्रताप सील बलवाना॥ ३॥
तेहि कें भए जुगल सुत बीरा। सब गुन धाम महा रनधीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—प्रति = से; के सामने; को लक्ष्य कियेहुए। पुरानी = प्राचीन।

अर्थ—हे मुनि! वह पवित्र और प्राचीन कथा सुनो जो श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे कही थी॥ १॥ संसारमें प्रसिद्ध एक कैकय देश है। वहाँ सत्यकेतु राजा रहता था॥२॥ धर्मधुरंधर नीतिका खज़ाना, तेजस्वी, प्रतापी, सुशील और बलवान् था॥३॥ उसके दो वीर पुत्र हुए जो सब गुणोंके धाम और महारणधीर थे॥४॥

टिप्पणी—१ 'सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी।०' इति। (क) 'सुनु' दो बार कहा है। एक 'भरद्वाज सुनु अपर पुनि रामजनम कर हेतु', दूसरे यहाँ 'सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी'। इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है

क्योंकि प्रथम 'सुनु' अपर रामजन्मके हेतुके साथ है अर्थात् जब दूसरा 'हेतु' सुननेको कहा तब 'सुनु' कहा और अब 'कथा' कहते हैं अतः कथा सुननेके लिए 'सुनु' कहा। दो बार दो बातोंके लिए 'सुनु' कहा। (ख) 'कथा पुनीत पुरानी'। पुनीत है अर्थात् श्रवण करनेवाला सुनकर पवित्र हो जाता है। 'पुरानी' है अर्थात् जब महादेवजीने पार्वतीजीसे कही तब सबने जानी। इसके पहले कोई नहीं जानता था। (ग) ☞संत, मुनि, वेद और पुराणोंका जो मत शिवजीने कहा वह याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाज मुनिको सुनाया। अब केवल शिवजीको जो कारण समझ पड़ता है उसे सुनाते हैं, यथा 'तदपि संत मुनि वेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥ १२१।४-५।' अपूर्व कथा सुनकर भरद्वाजजी पूछते हैं कि यह कथा पूर्व किसने कही है, इसीपर याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि 'जो गिरिजा प्रति संभु बखानी' अर्थात् यह उमामहेश्वरसंवाद है। यह कथा कभी सुननेमें नहीं आई; इसीसे कहते हैं कि यह 'पुरानी' है। पुनः, यह शंका होती है कि इस कथामें तो भगवान्‌की कुछभी कथा नहीं है, यह तो केवल एक राजाकी कथा है, इसके सुननेसे क्या लाभ हो सकता है? इसीके निवृत्त्यर्थ 'पुनीत' विशेषण दिया। अर्थात् राजा भानुप्रताप बड़ेही पुण्यश्लोक हुए जैसे राजा नल, रघु, युधिष्ठिर, आदि हुए। और इनके कारण भगवान्‌का जन्म हुआ, ये भगवानके जन्मके हेतु हैं, अतएव यह कथा पुनीत है। (ङ) 'संभु बखानी' का भाव कि यह कथा प्रामाणिक है, शिष्टपरिगृहीत है। भगवान् शंकरने कही और पार्वतीजीने सुनी ऐसा कहकर सुननेकी श्रद्धा बढ़ाई, नहीं तो इसके सुननेमें उतनी श्रद्धा न रहती। ☞कभी देवता, कभी नर, और कभी असुर (तीनों) शापवश राक्षस हुए, कुंभकर्ण और रावण हुए। पूर्व कथाओंमें देवता और असुरका रावण कुंभकर्ण होना कह आए। जय विजय और रुद्रगण देवता थे और जलंधर असुर था। अब मनुष्यकाभी रावण कुंभकर्ण होना कहते हैं। भानुप्रताप और अरिमर्दन नर हैं।—भानुप्रतापकी कथा कहनेमें प्रधान एक भाव यही है।

नोट—१ (क) 'पुनीत', 'पुरानी' और 'जो गिरिजा प्रति संभु बखानी' ये सब विशेषण साभिप्राय हैं। इस श्रीरामावतारके दो हेतु बताए हैं—एक मनुशतरूपाजीको वरदान, दूसरा भानुप्रतापका प्रसंग। दोनोंको 'पुनीत' कहकर दोनोंकी एकता दिखाई। (ख) 'पुरानी' है, शिवजी ही जानते थे। यथा 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेमतें प्रगट होहिं मैं जाना। १८५।५।' तथा यहाँ कथा भी वही जानते थे। वा, पुरानी (पुराणी)= पौराणिक। अर्थात् ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंमें है। (ग) 'शंभु' और 'गिरिजा' नाम यहाँ कल्याण और परोपकारके विचारसे बहुत अच्छे आए हैं। (घ) करुणासिंधुजीके मतानुसार यह कथा आदि कल्पकी है, अतः पुरानी कहा। ☞करुणासिन्धुजी एवं संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि यह कथा महारामायण और शिव-संहितामें है। धनराज सूरजी बताते हैं कि अगस्त्यरामायणमें भानुप्रतापकी कथा है (प्र० सं०)। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "यद्यपि सभी कथाएँ गिरिजाके प्रति शम्भुकी बखानी हुई हैं, पर याज्ञवल्क्यजी इन दोनों कथाओंके लिये गिरिजाशम्भुकी कही हुई बतलाते हैं, इसका आशय यह मालूम होता है कि इन दोनों कथाओंको भुशुण्डीजीने नहीं कहा, और भुशुण्डीजीकी कही हुई कथाकी सूची (मूल रामचरित जो उत्तर-काण्ड में वर्णित है) में इन कथाओंका उल्लेख भी नहीं है। अतः भुशुण्डीजीने प्रधानतः उसी कल्पकी कथा कही, जिसमें नारदजीको मोह हुआ था और शम्भुने प्रधानतः उस कल्पकी कथा कही जिसमें ब्रह्म कोसलपुर-भूप हुए थे।"—(यह जटिल समस्या है। इस पर बहुत वाद-विवाद होता है)।

टिप्पणी—२ 'बिस्व बिदित एक कैकय देसू।०' इति। (क) 'बिस्व बिदित'। मनु महाराजका देश नहीं कहा था, केवल उनका नाम दे दिया था, यथा 'स्वायंभू मनु अरु सतरूपा', और यहाँ देश तथा पिताका नाम भी दिया, यद्यपि इनके जाननेका कथाके लिए कोई प्रयोजन न था। इससे जान पड़ता है कि भरद्वाज-जीने नाम और देश आदि पूछे (क्योंकि यह नवीन इतिहास है जो उन्होंने पूर्व नहीं सुना था। मनुजी

प्रसिद्ध हैं क्योंकि ब्रह्माके पुत्र हैं; इससे उनके देशके जाननेकी चिंता न हुई)। इसीसे प्रथम ही उनका देश कहा (वा, स्वयं ही नई कथा होनेके कारण कहा)। पुनः, 'विश्वविदित' कैकय और सत्यकेतु दोनोंका विशेषण है। देश और राजा दोनोंकी समानता दिखानेके लिए 'विश्वविदित' कहा। अर्थात् जैसे कैकयदेश विश्वमें विदित है, वैसे ही सत्यकेतु राजा विश्वविदित हैं। 'सत्यकेतु' जैसा नाम है वैसाही उसमें गुण है। विश्वमें उसके सत्यकी पताका फहराती है। लोकमें जैसा देश प्रसिद्ध है वैसा ही राजा प्रसिद्ध है। यथा 'द्रुमकुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान्' इति वाल्मीकीये। (यह वचन विश्वामित्रजीने दशरथजीसे कहा था। अर्थात् जिस तरह लोकमें आप विख्यात हैं उसी तरह वह स्थान द्रुमकुल्यनामसे विख्यात है)। (ख) 'कैकय देसू' कहनेका भाव कि यदि देश न कहते तो कैकय राजाका बोध होता, यह समझा जाता कि कैकय-राजाके यहाँ सत्यकेतु रहते थे। (ग) कैकयदेश विश्वमें विदित है इस कथनसे राजधानीकी प्रसिद्धि कही, यथा 'जग बिख्यात नाम तेहि लंका' और 'सत्यकेतु' नामसे राजाकी श्रेष्ठता दिखाई।

नोट—२ 'केकय' यह देश व्यास और शाल्मली नदीकी दूसरी ओर था और उस समय वहाँकी राजधानी गिरिव्रज वा राजगृह थी। अब यह देश काश्मीर राज्यके अन्तर्गत है और कक्का (वा गकर) कहलाता है।—(श० सा०)। विनायकी टीकाकार हिरात जो अफगानिस्तानमें है उसे केकयदेश लिखते हैं। कहते हैं कि यह कश्यप ऋषि का बसाया हुआ था।

३—'सत्यकेतु' यथा नाम तथा गुण। नामसे ही जना दिया कि उसके सत्यकी ध्वजा विश्वभरमें फहराती थी। 'धर्म न दूसर सत्य समाना' और सब धर्मोंकी जड़ सत्य ही है, यथा 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। २.२८।' यह राजा सत्यकेतु है इसीसे धर्मधुरंधर भी हुआ ही चाहे। पुनः, धर्मके चार चरण हैं—सत्य, शील, दया और दान। यथा 'प्रगट चारि पद धरम के कलि महँ एक प्रधान। येन केन बिधि दीन्हे दान करै कल्यान। ७.१०३।', 'चारिउ चरन धरम जग माहीं। ७.२१।' धर्मधुरंधर कहकर जनाया कि इन चारों प्रकारके धर्मोंमें निपुण है। धुरंधर=धुरीका धारण करनेवाला, भार उठानेवाला। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—३ 'धरमधुरंधर नीतिनिधाना' ।०' इति। (क) सत्यकेतु है, इसीसे धर्मधुरंधर है,—'सत्यान्नास्ति परोधर्मः'। 'नीतिनिधान' कहा, क्योंकि राजाके लिए नीतिज्ञ होना परमावश्यक है। नीति राजाका एक मुख्य अंग है। नीति विना जाने राज्य नहीं रहता, यथा 'राजु कि रहइ नीति बिनु जाने। ७.११२।' (ख) 'तेज प्रताप सील बलवाना' इति। तेजस्वी तीन माने गये हैं,—सूर्य्य, अग्नि, चन्द्र। यथा 'तेजहीन पावक ससि तरनी। ६।१०३।' तेज अग्निका-सा, प्रताप भानुका-सा और शील चन्द्रमाका-सा यहाँ अभिप्रेत है, यथा 'तेज कृसानु'''। १।४।५।', 'जब तें रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा। ७।३१।', 'काम से रूप प्रताप दिनेस से सोमसे सील गनेससे माने' (क० उ० ४३)। [नोट—तेज, प्रताप, सील और बल, ये चार गुण चार लोकपालोंके हैं, ये सब एक ठौर सत्यकेतु राजामें दिखाए। तीन गुणवाले तीन लोकपालोंके नाम कहे गए। चौथा गुण 'बल' पवनदेवके समान जनाया, यथा 'पवनतनय बल पवन समाना।४।३०।४।' (प्र० सं०)]

४ 'तेहि के भए जुगल सुत बीरा।०' इति। (क) धर्मधुरंधर कहकर तब उसके बाद पुत्रकी उत्पत्ति कहते हैं। तात्पर्य कि धर्मसे उत्तम सन्तानकी प्राप्ति होती है, यथा 'दंपति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्ह कै लीका। नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरिभगत भएउ सुत जासू। १४२।२-३।' 'भए' से सूचित किया कि वीर उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते। (ख) 'सब गुन धाम' इति। अर्थात् जितने गुण पितामें गिनाए,-सत्य, धर्म, नीति, तेज, प्रताप, शील और बल, उन सबके ये धाम हैं, वे सब इनमें निवास करते हैं, और, एक गुण सत्यकेतु (पिता) से इनमें अधिक दिखाया, वह है 'वीरता'। (ग) 'महारनधीरा' यह गुण पितामें नहीं कहा था। 'महारणधीर' का भाव कि पिता रणधीर थे और ये महारणधीर हुए।

'वीर' कहकर महारणधीर कहनेका भाव कि वीर अधीर नहीं होते, यथा 'सुनि सरोष बोले सुभट बीर अधीर न होहि। २।१६१।' सम्मुख युद्ध करना, प्राणका लोभ न करना वीरकी शोभा है, इससे वीरगतिकी प्राप्ति होती है। सदा रणधीर रहते हैं। रणमें धैर्य्यपूर्वक डटे रहना, पीछे पैर न देना, भागना नहीं, यह क्षत्रियधर्म है—'युद्धे चाप्यपलायनम्'। यह पितासे वीरतामें अधिक हुए, यह आगे दिखाते हैं कि पिता एक देशका राजा था और इन्होंने अपने पराक्रमसे सप्तद्वीपका राज्य किया, चक्रवर्ती हुए। यथा 'चक्रवर्त्ति के लच्छन तोरें। १५६।४।', 'सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे।…१५४।'

नोट—४ (क) प्रथम उत्तम वंश कहकर अब 'तेहि के भए जुगल सुत बीरा।' यहाँसे संतानकी श्रेष्ठता दिखाते हैं। जैसे मनुशतरूपाजीके विषयमें 'दंपति धरम आचरन नीका' कहकर उत्तानपाद आदि संतानकी श्रेष्ठता दिखाई थी। (ख) मनुसंहिता अध्याय ७ श्लोक १६० में राजाओंके छः प्रधान गुण ये कहे गए हैं-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय। इनके लक्षण और भेद भी अर्थ शास्त्रोंमें दिये हैं।-(वि० टी)।

राजधनी जो जेठ सुत आही। नाम प्रतापभानु अस ताही ॥५॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा ॥६॥
भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती ॥७॥
जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि हित आपु गवन बन कीन्हा ॥८॥
दोहा—जब प्रतापरबि भएउ नृप फिरी दोहाई देस।
प्रजा पाल अति बेद बिधि कतहुँ नहीं अघलेस ॥१५३॥

शब्दार्थ— राजधनी = राज्यका अधिकारी वा मालिक, यथा कोशलधनी, त्रिभुवनधनी। जेठ = ज्येष्ठ, बड़ा। अचल=अटल, न टलने वा हटनेवाला, पर्वत समान, पैर जमाए रहनेवाला। समीती = सुंदर मित्रता। बरजित (वर्जित)=रहित। अतुल=जिसकी तौल या अंदाज न हो सके, बहुत अधिक। अमित= जिसकी तुलना या समता न हो सके। प्रतापरवि=भानुप्रताप। दोहाई (द्वि=दो। आह्वाय=पुकार)। राजाके सिंहासनपर बैठनेपर उसके नामकी घोषणा वा सूचना डंके आदि द्वारा होना।

अर्थ—राज्यका अधिकारी जो जेठा पुत्र है, उसका प्रतापभानु (भानुप्रताप) ऐसा नाम है ॥५॥ दूसरे पुत्रका नाम अरिमर्दन है; उसकी भुजाओंमें असीम बल था। लड़ाईमें वह पर्वतके समान अचल था ॥६॥ भाईभाई (दोनों भाइयों) में बड़ा ही मेल और सर्वदोषछलरहित प्रेम था ॥७॥ राजाने जेठे सुतको राज्य दिया और आप हरिभजनके लिये वनको चल दिये ॥८॥ जब भानुप्रताप राजा हुआ, उसकी दुहाई नगरमें फिरी। वह वेदविहित विधानके अनुसार प्रजाका अत्यन्त पालन करने लगा (उसके राज्यमें) पाप लेशमात्र भी कहीं न रह गया ॥१५३॥

टिप्पणी—१ 'राजधनी जो जेठ सुत आही।०' इति। (क) 'राजधनी आही' अर्थात् राज्यका मालिक (अधिकारी) है, अभी राजा नहीं बनाया गया है। इससे दिखाया कि वह राज्याभिषेकका अधिकारी है क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र है, जेठा पुत्र राज्याधिकारी होता है यह नीति है, यथा 'मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृप नीति। ।३१।' (ख) मालिक है। यह कहकर जनाया कि राजाने भानुप्रतापको मालिक (युवराज) बनाकर राज्यकाजमें प्रवीण किया, अब निपुण हो गया है अतः अब राज्य देंगे, जैसा आगे स्पष्ट है—'जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा'। यही कायदा है कि प्रथम राज्यकाज-सिखाया जाता है जब उसके योग्य पुत्र होता है तब उसको राज्य दिया जाता है, यथा 'देखा बिधि बिचारि सब लायक दच्छहि कीन्ह प्रजापतिनायक। ६२।६।', 'कहइ भुआल सुनिअ मुनिनायक। भए राम सब बिधि सब लायक। २।३।', वैसे ही सत्यकेतुने

किया । [(ग) 'नाम प्रताप भानु अस' का सीधा साधारण अर्थ यही है कि 'प्रतापभानु ऐसा उसका नाम है' । इससे यह भी जनाया कि उसका प्रताप 'भानु अस' सूर्य्यकासा है । इसीसे 'भानुप्रताप' न कहकर 'प्रतापभानु अस' कहा । पुनः नाम है भानुप्रताप पर वक्ता सर्वत्र प्रतापभानु ही कहते हैं । भाव यह है कि इसका प्रताप उलटनेवाला है ।]

२ 'अपर सुतहि अरिमर्दन नामा ।०' इति । (क) नामसे ही दोनों भाइयोंके गुण दिखाते हैं । सूर्य्यकासा प्रताप है इससे भानुप्रताप नाम है । दूसरा शत्रुओंको मर्दन करता है, इसीसे उसका अरिमर्दन नाम है । (ख) 'भुजबल अतुल, अचल संग्रामा', ये दोनों गुण शत्रुके नाशके लिए आवश्यक हैं । अतः 'अरिमर्दन' कहकर इन गुणोंसे संपन्न होना भी कहा । इससे जनाया कि बड़ा पुत्र होनेसे भानुप्रताप राज्यका मालिक हुआ और यह पुत्र फ़ौजका मालिक वा अफ़सर हुआ । यह राज्यकी रक्षा करता है, शत्रुपर चढ़ाई करता है । ☞बड़ा भाई प्रतापमें अधिक है, छोटा भाई बलमें अधिक है । दूसरे जन्ममें भी ऐसा होगा । कुंभकर्ण रावणसे अधिक बली था । रावणके घूँसेसे हनुमान्‌जी भूमिपर न गिरे थे, यथा 'जानु टेकि कपि भूमि न गिरा । उठा सँभारि बहुत रिस भरा । ६।८३।१ ।' और कुंभकर्णके घूँसेसे हनुमान्‌जी चक्कर खाकर गिर पड़े थे, यथा 'पुनि उठि तेहि मारयो हनुमंता । घुर्मित भूतल परेउ तुरंता । ६।६४।८ ।' रावण विशेषप्रतापी था, यथा 'कर जोरें सुर दिसिप बिनीता । भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥ देखि प्रताप न कपि मन संका । ५।२० ।'

३ 'भाइहि भाइहि परम समीती । सकल०' इति । (क) 'भाइहि भाइहि' कहकर अन्योन्य मित्रता दिखाई । प्रीति और मित्रता पर्याय हैं । (ख) 'सकल दोष छल बरजित प्रीती' का भाव कि कपट छल जहाँ होता है वहाँ प्रेम नहीं रह जाता, यथा 'जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि । बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि । ५७ ।'; अतएव छलरहित कहा । (ग) 'सकल दोष', जैसे कि मित्रके दुःखसे दुःखित न होना, (यह दोष है, यथा 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी'), कुमार्गसे निवारण न करना, मित्रके अवगुण दूसरेसे कहना, देने लेनेमें शंका रखना, हित न करना, विपत्ति पड़नेपर स्नेह न करना, मुखपर प्रशंसा और पीठपीछे निंदा करना इत्यादि दोष श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवसे बताए हैं । कपट=छल-'सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा । तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा । ५।३।४ ।'

४—'जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा ।०' इति । (क) जो पूर्व कहा था कि राजा 'धरमधुरंधर नीति-निधाना' था, उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं । धर्मात्मा और नीतिनिपुण है, इसीसे ज्येष्ठ पुत्रको राज्य दिया । पुत्रको राज्य देना धर्म और नीति है, यथा 'लोभु न रामहिं राजु कर बहुत भरत पर प्रीति । मैं बड़ छोट बिचारि जिय करत रहेउँ नृपनीति । २।३१ ।' (ख) 'हरि हित आपु गवन बन कीन्हा' इति । प्रथम धर्म निबाहा; तब उससे वैराग्य हुआ । 'जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा ।' यह वैराग्यका लक्षण वा प्रमाण है । वैराग्य होनेसे भगवान्‌में भक्ति हुई, अतः 'हरिहित आपु गवन बन कीन्हा' । यह सब क्रमसे दिखाया । धर्मसे वैराग्य और वैराग्यसे भक्ति होती है, यथा 'धर्म तें बिरति···', 'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती । निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा । तब मम धरम उपज अनुरागा । ३।१६ ।' (ग) 'गवन बन कीन्हा' से जनाया कि राजाका चौथापन आ गया, यथा 'संत कहहिं असि नीति दसानन । चौथे पन जाइहि नृप कानन । ६।७ ।' उदाहरण—'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन ।०' । चौथेपनमें वन जाना चाहिए यह धर्मनीति है अतः उसका पालन किया ।

[मनुजीने 'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा' और सत्यकेतुको बरबस देना नहीं पड़ा, यह 'जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा' से स्पष्ट है । इससे जनाया कि प्रतापभानुको राज्यकी आकांक्षा थी, इससे उसने नहीं न किया । इसमें ही प्रतापभानुके विनाशका गूढ़ रहस्य कविने रख दिया है । (प० प० प्र०)]

५—'जब प्रतापरबि भएउ नृप फिरी दोहाई देस ।०' इति । (क) नये राजाकी दुहाई फिरती है, यथा 'नगर फिरी रघुबीर दोहाई' । इससे स्पष्ट किया कि पहले राज्यके अधिकारी मालिक थे, राजा न थे, अब राजा हुए तब मनादी फिरी कि ये राजा हैं । सत्यकेतु एक देश (कैकयदेश मात्र) का राजा था, इसीसे देशमें दुहाई फिरना कहते हैं । भानुप्रताप अपने पराक्रमसे सब राजाओंको जीतकर सप्तद्वीपके राजा हुए, यह आगे स्पष्ट कहा है,—'सप्तदीप भुजबल बस कीन्हे । लै लै दंड छाँड़ि नृप दीन्हे' । (ख) 'प्रजा पाल अति बेदबिधि कतहुँ नहीं अघ लेस' इति । इससे दिखाया कि राजा कैसा भारी धर्म्मात्मा है कि प्रजामात्रमें कहीं पापका नामतक नहीं है । ['अति' से यह भी जनाया कि प्रजाकी रक्षा आदि पुत्रवत् करता था । कुमार्गियोंको दंड देता था । इससे हिंसा, जूआ, चोरी, परस्त्रीगमन आदि व्यसन कहीं नहीं रह गए । (वै०) । राजा धर्मात्मा था अतः प्रजा भी धर्मात्मा है ।

छान्दोग्योपनिषद् अ० ५ खण्ड ११ में एक केकयकुमार 'अश्वपति' की चर्चा आई है जिनके पास प्राचीनशाल आदि ऋषियोंसहित अरुणपुत्र उद्दालक मुनि वैश्वानर आत्माके संबंधमें जानकारीकेलिये गए थे । उन केकयकुमारने उनसे कहा था कि 'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर ही है तथा न अदाता, मद्यप, अनाहिताग्नि, अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही, फिर कुलटा स्त्री आई ही कहाँ से ? यथा "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो । नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो···। ५ ।"—इससे जान पड़ता है कि केकयदेशके सभी राजा इस प्रकार प्रजाका पालन करते हैं । राजा भानुप्रताप इनसे भी अधिक प्रजापालक था ।]

पुनः, 'अति' का भाव कि सत्यकेतु भी प्रजाका पालन करते थे पर भानुप्रताप 'अत्यन्त' पालन करता है । 'बेदबिधि' से जनाया कि वेद पुराण शास्त्रमें उसकी अत्यन्त श्रद्धा है । श्रद्धाके उदाहरण, यथा (१) 'प्रजा पाल अति बेद बिधि', (२) 'भूप धरम जे बेद बखाने । सकल करै सादर सनमाने', (३) 'दिनप्रति देइ बिबिध बिधि दाना । सुनै सास्त्र बर बेद पुराना ।', (४) जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग । बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग । १५५ ।'

नोट—१ करुणासिंधुजी लिखते हैं कि महारामायणमें यह कथा है कि 'भानुप्रताप श्रीसीतारामजीका बड़ा ही कृपापात्र है । इसका नाम प्रतापी है । श्रीरामचन्द्रजीने मनुशतरूपाजीको वरदान देनेके पश्चात् एक समय इसे आज्ञा दी कि तुम प्रकृतिमण्डलमें जाकर राजा हो, हम तुम्हारे साथ कुछ रण क्रीड़ा करेंगे । [वैजनाथजी लिखते हैं कि इस (प्रतापी) पर आदिशक्तिजीका बड़ा प्रेम था । एक समय गेंदके खेलमें उसने अपनी सफलता दर्शाई । इससे प्रसन्न होकर प्रभुने यह आज्ञा दी थी] आज्ञा पाकर आदिकल्पके प्रथम सत्ययुगमें वही सखा प्रतापभानु राजा हुआ ।'

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि श्रीरामजीकी इच्छासे प्रतापी सखा भानुप्रताप हुआ और 'बलिवर्य' सखा अरिमर्दन हुआ । वे लिखते हैं कि शिवसंहितामें कहा है कि—'प्रतापी राघवः सखा भ्राता वै सहि रावणः । राघवेन तदा साक्षात्साकेतादवतीर्यते ।'

२—'अति बेद बिधि'···इति । 'अति बेद बिधि' कहकर जनाया कि सत्यकेतु 'बेदबिधि' से प्रजा पालन करते थे और भानुप्रताप उनसे श्रेष्ठ हुआ । (प्र० सं०) ।

अलंकार—'अघलेश' कहकर राजाकी अतिशय नीति निपुणता कहना 'अत्युक्ति' अलंकार है । यथा 'योग्य व्यक्तिकी योग्यता अति करि बरनी जाय । भूषन सो अत्युक्ति है समुझैं जे मतिराय' (अ० मं०) ।

नृप हित कारक सचिव सयाना । नाम धरमरुचि सुक्र समाना ॥१॥
सचिव सयान बंधु बलबीरा । आपु प्रतापपुंज रनधीरा ॥२॥
सेन संग चतुरंग अपारा । अमित सुभट सब समर जुझारा ॥३॥

सेन बिलोकि राउ हरषाना । अरु बाजे गहगहे निसाना ॥४॥

शब्दार्थ—चतुरंग-चतुरंगिणी सेनाके चार अंग हैं-हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। जुझारा=जूझनेवाले; पैर पीछे न रखनेवाले चाहे लड़ाईमें प्राण ही क्यों न चले जायँ; बाँके बीर, सूरमा। यह शब्द प्रान्तिक है केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। 'बलबीर'—बलमें औरोंसे बढ़कर, बलवान्, बलवान् और बीर, शूरवीर। वीर= जो किसी काममें औरोंसे बढ़कर हो जैसे दानवीर, कर्मवीर, बलवीर। प्रताप-पुंज=प्रताप समूह। पुंज=समूह, राशि, ढेर। प्रतापपुंज = बड़ा प्रतापी। गहगहे = घमाघम, धूमधामके सहित, बहुत अच्छी तरह। इस अर्थमें यह शब्द बाजोंहीके संबंध में आता है, यथा 'बाजे नभ गहगहे निसाना ।१।२६२।', 'गहगह गगन दुंदुभी बाजी,'बाज गहागह अवध बधावा' (अ० ७), 'चली गान करत निसान बाजे गहगहे लहलहे लोयन सरसई है—(गीतावली)। निशान=डंका, धौंस, दुंदुभी। पहले लड़ाईमें डंकेका जोड़ा ऊँटों और-हाथियों पर चलता था और उसके साथ निशान (झंडा) भी रहता था, इससे यह सूचना होती थी कि लड़ाईके लिए हम आए हैं।

अर्थ—मंत्रीका नाम धर्मरुचि है जो शुक्राचार्य्यजीके समान सयाना और राजाका हित करनेवाला था ॥१॥ मंत्री चतुर, भाई बलमें वीर और आप (राजा) बड़ा ही प्रतापी और रणधीर था ॥ २ ॥ साथ में (पास) अपार चतुरंगिणी सेना थी जिसमें अगणित उत्तम उत्तम योद्धा थे जो सबके सब समरमें जूझजाने वाले थे ॥ ३ ॥ सेनाको देखकर राजा हर्षित हुआ और घमाघम नगाड़े बजने लगे ॥ ४ ॥

टिप्पणी १—'नृप हित कारक सचिव सयाना ।०' इति। (क) मंत्रीका यही एक धर्म है कि राजा का हित करे और चतुर हो। सयाना हो अर्थात् सब बातें जाने, यह मुख्य है। (पुनः, भाव कि राजाका जो भी हित करता है वह सब पूर्ण होता है अतः सयाना कहा। पुनः, सयाना=ज्ञानी। संग्रामका समय है, अतः ज्ञानी कहा। ज्ञानी कहनेका भाव यह है कि ज्ञानीका पराजय नहीं होता, यथा 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्रश्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम (गीता १८-७८)। (ख) 'नाम धरम-रुचि' अर्थात् यथा नाम तथा गुण है। धर्ममें रुचिका प्रमाण है कि 'नृपहित हेतु सिखव नित नीती।' (ग) शुक्र समान कहनेका भाव कि शुक्र राजाके हितकारक थे और सयाने भी। जब राजा बलिने उनके वचन न माने तब भी उन्होंने राजाका हित विचारकर जलपात्रमें प्रवेशकर उसमें से जल न गिरने दिया जिसमें राजा संकल्प न कर सके और उसका राज बना रह जाय। वृहस्पति भी नीतिमें कम नहीं हैं परंतु उनके समान न कहा। कारण कि इन्द्रने जब वृहस्पतिका अपमान किया तब वे चल दिए। इन्द्रकी राज्यश्री नष्ट भ्रष्ट हो गई पर वृहस्पतिने उनकी रक्षा न की। अतएव वृहस्पतिको शुक्रके समान राजाका हितैषी न जानकर उनकी उपमा न दी। पुनः दूसरा भाव कि राजा भानुप्रतापको राक्षस रावण होना है, शुक्र राक्षसोंके गुरु और मंत्री हैं। धर्मरुचि भानुप्रताप (भविष्यके रावण) का मंत्री है अतः शुक्र समान कहकर भविष्यकी सूचना दी। (घ) प्रजाका हित राजा करते हैं यह दोहेमें दिखा आए। राजाका हित मंत्री करता है यह यहाँ कहा। ☞ राजाके सात अंग कहेगये हैं उनमेंसे मंत्री प्रधान अंग हैं इसीसे मंत्रीको प्रथम कहते हैं।

नोट—श्रीशुक्राचार्य्यजी देवता हैं। पर दैत्योंके पक्षमें रहते हैं, दैत्योंके आचार्य्य और सर्वज्ञ हैं। जब राजा बलि नर्मदाके उत्तर तटपर भृगुकच्छ क्षेत्रमें अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे तब वामनरूपधारी विष्णु भगवान्ने देवकार्य्यके लिए उनसे जाकर अपने पैरोंकी नापसे तीन पग पृथ्वी माँगी, और राजा बलिने देनेको अंगीकार कर लिया। उस समय सर्वज्ञ दैत्यगुरुने भगवान्के उद्देश्यको जानकर बलिको भूमिदान करनेसे रोका। अनेक प्रकारसे राजाको नीति समझायी—'अपनी जीविकाकी वृत्ति वा प्राणोंकी रक्षाके लिए, पुनः किसीके सत्य बोलनेसे किसीके प्राणोंपर आ बने तो उसकी रक्षाके लिए इत्यादि अवसरों पर झूठ

बोलना पाप नहीं है; तुम अपनी जीविकाकी वृत्तिकी रक्षाके लिए अब भी 'नहीं' कर सकते हो। राजा ने इनकी बात न मानी तब गुरुने डाँटा और शापका भी भय दिखाया, अपने अपमानकी पर्वा न की। फिर भी जब बलि अपनी सत्य प्रतिज्ञासे न डिगे तब वे जलपात्रमें प्रवेश कर गए जिसमें संकल्प पढ़नेके लिए जल ही न मिले। इसका फल यह उनको मिला कि उनकी एक आँख फोड़ दी गई। इस प्रकार अपना अपमान और अहित सहकर भी उन्होंने बलिका भला ही चाहा था। "शुक्रनीति" इनका ग्रंथ प्रसिद्ध ही है।

श्रीकेशवदासजीने 'रामचन्द्रिका' में कहा है कि जब अकंपनादि बड़े बड़े बली योद्धा मारे गए तब रावणने महोदरसे मंत्र (सलाह) पूछा। उस समय महोदरने चार प्रकारके मंत्र और चार प्रकारके मंत्री कहे हैं। यथा—(१) "कह्यो शुक्राचार्य्य सु हौं कहौं जू, सदा तुम्हारो हित संग्रहौं जू", "चारि भाँति मंत्री कहे चारि भाँतिके मंत्र। मोहि सुनायो शुक्र जू सोधि सोधि सब तंत्र॥" (२) छप्पय—"एक राजके काज हतै निज कारज काजे। जैसे सुरथ निकारि सबै मंत्री सुख साजे। एक राजके काज आपने काज बिगारत। जैसे लोचन हानि सही कवि बलिहि निवारत॥ इक प्रभु समेत अपनो भलो करत दासरथि दूत ज्यों। इक अपनो अरु प्रभुको बुरो करत रावरो पूत ज्यों" (१७ वाँ प्रकाश)। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ 'सचिव सयान बंधु बलबीरा।०' इति। (क) जिसमें जो गुण प्रधान है उसमें वह गुण लिखते हैं। सचिवमें 'सयानता' प्रधान है,-'नृपहितकारक सचिव सयाना।' भाईमें बल प्रधान है,— 'अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा' और राजामें 'प्रताप' प्रधान है,—'नाम प्रतापभानु अस ताही' तथा यहाँ 'आप प्रतापपुंज०'। (ख) शत्रु बुद्धि और बलसे जीता जाता है। यथा 'नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों। ५।६।' सचिवके बुद्धि है और भाईमें बल है। ये दोनों राजाकी दक्षिण भुजा हैं। चतुरंगिणी सेना और सुभट राजाके वाम भुज हैं, यह बात जनाने के लिये राजाको दोनोंके बीचमें रखा। तात्पर्य्य कि ऐसा चतुर्भुज विश्वको विजय करता है।

३ 'सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा' इति। (क) 'सेन संग' कहकर सूचित किया कि राजा दिग्विजयकेलिए सेना लेकर निकले हैं, चतुरंगिणी सेना कहकर 'सुभट' को उससे पृथक् लिखकर जनाया कि यह अक्षौहिणी सेना है। अक्षौहिणीमें पाँच अंग गिनाए गए हैं—हाथी, घोड़ा, रथ, प्यादा और योद्धा, यथा 'अयुतं च नागास्त्रिगुणी रथानां लक्षैक योद्धा दशलक्ष वाजिनाम्। पदाति संख्या षट्त्रिंशलक्षां अक्षौहिणी तां मुनयो वदन्ति॥' यहाँ भी अक्षौहिणी सेना बतानेके लिए पाँचों अंग कहे। चतुरंगिणी सेना अपार है और सुभट भी अमित हैं, इसीसे अक्षौहिणीकी संख्या न की। अपार और अमित कहनेसे अमित अक्षौहिणी दल सूचित किए।

नोट—२ चतुरंगिणी सेनाके चार अंग ये हैं—हाथी, रथ, घोड़े और पैदल। यथा "हस्त्यश्वरथपादातं सेनांगं स्याच्चतुष्टयम्। अमरकोश २।८।३३।" सेनाके पत्ति, सेनामुख और गुल्मादि जो सब प्राचीन ग्रंथोंमें कहे गए हैं उनमें भी उपर्युक्त हाथी आदि यही चार अंग गिनाये गए हैं। प्रमाण यथा "एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका॥ पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम्॥८०॥ सेनामुखंगुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः। अनीकिनी दशानीकिन्यक्षौहिणी ॥ ८१ ॥" (अमरकोश २। ८)। अर्थात् एक हाथी, एक रथ, तीन घोड़े और पाँच पैदल मिलकर एक 'पत्ति' होती है। इससे क्रमसे तिगुना करते जानेसे उत्तरोत्तर क्रमशः सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, दशानीकिनी, और अक्षौहिणी होती हैं। निम्न तालिकासे यह स्पष्ट हो जायगा—

सेना संख्या	हाथी	रथ	घोड़े	पैदल
१ पत्ति	१	१	३	५
२ सेनामुख	३	३	९	१५
३ गुल्म	९	९	२७	४५
४ गण	२७	२७	८१	१३५
५ वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५
६ पृतना	२४३	२४३	७२९	१२१५
७ चमू	७२९	७२९	२१८७	३६४५
८ अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०९३५
९ दशानीकिनी	६५६१	६५६१	१९६८३	३२८०५
१० अक्षौहिणी	१९६८३	१९६८३	५९०४९	९८४१५

यह गणना अमरकोशके अनुसार हुई और महेश्वरकृत अमरविवेकटीका (सन् १९०७ निर्णयसागरकी छपी) में टीकाकार अक्षौहिणीका प्रमाण कहींका इस प्रकार लिखते हैं। "तथा च। अक्षौहिण्यामित्यधिकैः सप्तत्या ह्यष्टभिः शतैः। संयुक्तानि सहस्राणि गजानामेकविंशतिः॥ एवमेव रथानान्तु संख्यानं कीर्तितं बुधैः। पञ्चषष्टिः सहस्राणि षट् शतानि दशैव तु॥ संख्यातास्तुरगास्तज्ज्ञैर्विना रथतुरङ्गमैः। नृणां शतसहस्राणि सहस्राणि तथा नव। शतानि त्रीणि चान्यानि पञ्चाशच्च पदातयः॥" इत्येकैकम्॥ भारते अक्षौहिणी प्रमाणम्। "अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैक द्विकैर्गजैः। रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥" महाऽक्षौहिणी प्रमाणं तु "खद्वयं निधिवेदाक्षिचन्द्राक्ष्यग्निहिमांशुभिः। महाऽक्षौहिणिका प्रोक्ता संख्या गणित कोविदैः।" अर्थात् अक्षौहिणी सेनामें २१८७० हाथी, २१८७० रथ, ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल होते हैं।

महाभारतमें इसीको संक्षेपसे इस प्रकार कहा है—'खाङ्गाष्टैकद्विकैः' [(द्वि) २ (एक) १ (अष्ट) ८ (अंग) ७ (ख) ०। अर्थात् २१८७० हाथी, इतने ही रथ, तिगुने घोड़े और पचगुने पैदल मिलकर 'अक्षौहिणी' सेना होती है। इसी तरह महा अक्षौहिणीकी "खद्वयं-निधि-वेद-अक्षि-चन्द्र-अक्षि-अग्नि-हिमांशु (००, ९, ४, २, १, २, ३, १)" अर्थात् १३२१२४९०० संख्या सब मिलकर होती है।

आजकल इस संबंधका यह श्लोक प्रचलित है जो श्रीरामकुमारजीने टिप्पणीमें दिया है। परन्तु हमें पता नहीं चला कि यह श्लोक कहाँका है। (इसमें अशुद्धियाँ भी बहुत हैं परन्तु प्रसिद्ध है अतः दिया है।)

उपर्युक्त प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि सुभटोंकी गणना हाथी, रथ और घोड़ेके सवारोंमें आ गई क्योंकि सभी हाथी घोड़े आदि अनुमानतः विना वीर योद्धा सवारोंके न होंगे। वीर सुभटोंका हाथी, घोड़े और रथोंमें बैठकर युद्ध करना पाया जाता है। 'सेन चतुरंग अपारा' कहकर 'अमित सुभट' कहनेका भाव यह हो सकता है। हाथी रथ घोड़े पैदल अपार हैं (अर्थात् गिनती नहीं है कि कै अक्षौहिणी सेना है)। सुभटोंको अमित कहकर जनाया कि पाठक यह न समझ लें कि अपार हाथी आदिमें बहुतेरे खाली ही होंगे, सुभटोंकी संख्या कम होगी सो बात यहाँ नहीं है, हाथी, रथ और घोड़ोंपर जो वीर सुभट हैं वे भी संख्यारहित हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'जुझारा' इति। शस्त्रास्त्रसे मरनेको तथा लड़नेको 'जूझना' कहते हैं। यहाँ जुझारा' = लड़नेवाले; लड़ैत। यथा 'पुनि रघुपति सैं जूझै लागा। सर छाँड़ै होइ लागहिं नागा।' (ख) मंत्री,

भाई, चतुरंगिणी सेना और सुभट सबको गिनानेका भाव कि इन सबको साथ लेकर राजा दिग्विजयके लिए निकला। (ग) 'सुभट सब समर जुझारा।'—सब सुभट हैं अर्थात् उत्तम चुने हुए वीर योद्धा हैं, इसीसे 'समरजुझारा' हैं।

५ 'सेन बिलोकि राउ हरषाना।०' इति। (क) ☞ यात्रा समय हर्ष होना शकुन है, यथा 'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा', 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भए सुभ सुंदर नाना।' हर्षसहित चलनेसे कार्य्य सिद्ध होता है, यथा "होइहि काज मोहि हरष बिसेषी"। (ख) हर्षित हुए कि इस सेनासे हम समस्त शत्रुओंको जीत लेंगे। हर्ष होना भीतरका शकुन है और डंके नगाड़ेका बजना बाहरका शकुन है, यथा 'भेरी मृदंग मृदु मर्दल शंख वीणा, वेदध्वनिर्मंगल गीत घोषाः। पुत्रान्विता च युवती सुरभी सवत्सा धौतांबरंच रजकोऽभिमुखः प्रशस्तः।' पुनः सेनाको मनके अनुकूल पाया, अतः हर्ष हुआ।

अलंकार—सेनाकी ओर देखकर राजा हर्षित हुए। इस चेष्टाको देखकर सेनापति समझ गए कि राजा दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया चाहते हैं, उनके इस सूक्ष्म कृत्यके उत्तरमें सेनापतियों ने निशान बजवाए जिससे प्रगट हो जाय कि वे राजाके अभिप्रायको समझ गए। अतएव 'सूक्ष्म अलंकार' हुआ। (वीरकवि)।

बिजय हेतु कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥५॥
जहँ तहँ परीं अनेक लराईं। जीते सकल भूप बरिआईं ॥६॥
सप्त दीप भुज बल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे ॥७॥
सकल अवनिमंडल तेहि काला। एक प्रतापभानु महिपाला ॥८॥
दोहा—स्वबस बिस्व करि बाहुबल निज पुर कीन्ह प्रबेसु।
अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय* नरेसु ॥१५४॥

शब्दार्थ—कटकई=सेना, फ़ौज। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। 'मनहु करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ' (अ०)।=छोटा कटक, छोटी सेना। साधि=शोधकर, शुभ मुहूर्त बिचरवाकर, साधकर। बजाई=बजाकर, डंका पीटकर, यथा 'देउँ भरत कहँ राज बजाई'। दंड=वह धन जो शत्रु या छोटे राजाओंसे बड़े राजाको मिलता है, ख़िराज, कर; वह धन जो अपराधीसे किसी अपराधके कारण लिया जावे। अवनि=पृथ्वी। मंडल=अंडाकार फैलाव, गोला। प्रवेश करना=भीतर जाना; दाख़िल होना, पैठना।

अर्थ—दिग्विजयके लिये सेना सजाकर और शुभ दिन (मुहूर्त्त) साधकर राजा चढ़ाईका डंका बजाकर चला ॥५॥ जहाँ-तहाँ अनेक लड़ाइयाँ (लड़नी) पड़ीं अर्थात् हुईं। सब राजाओंको उसने बलपूर्वक जीत लिया ॥६॥ सातों द्वीपोंको अपनी भुजाओंके बलसे वशमें कर लिया और दंड ले लेकर राजाओंको छोड़ दिया ॥७॥ उस समय संपूर्ण भूमंडलमें एक भानुप्रताप ही (मंडलीक) राजा था ॥८॥ संसारभरको अपनी भुजाओंके बलसे अपने वशमें करके उसने अपने नगरमें प्रवेश किया। राजा अर्थ, धर्म, काम आदि सब सुखोंको समय समयपर सेवन करने लगा ॥१५४॥

टिप्पणी—१ 'बिजय हेतु कटकई बनाई।०' इति। (क) 'कटकई बनाई' अर्थात् व्यूहकी रचना की, आगे पीछे चलनेका प्रकार किया। प्रथम फौज निकलकर परेडपर खड़ी हुई। उसे देखकर राजा हर्षित हुआ। तब वहीं परेडपर सेनाकी रचना की गई। सेनाकी रचना करते बने तो अवश्य विजय होती है, इसीसे 'विजय हेतु कटकई' का बनाना कहा। 'कटकई बनाई' से यह भी जनाया कि पूरी सेनामेंसे कुछकी

* पाठान्तर—'सबइ'—छ०, भा० दा०।

एक छोटी सेना दिग्विजयके लिये बना ली, शेष राजधानीमें ही रहने दी। (ख) 'सुदिन साधि नृप चलेऊ'। इससे ज्ञात हुआ कि उसी दिन दिग्विजयके लिए सुदिन था, उसीको साधा अर्थात् जैसे ही पयान करनेकी लग्न आई वैसे ही पयान कर दिए। (ग) 'बजाई'। वीर जब दिग्विजयको चलते हैं तब नगाड़ा डंका बजाकर चलते हैं, यथा 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही। २३०।२।'; वैसे ही यहाँ भी जब सेना निकली तब नगाड़े बजे—'सेन बिलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना', और जब फौज चली तब डंके बजे—'सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई'। इसीसे नगाड़ोंका बजना दो बार कहा।

२ (क) 'जहँ तहँ परी अनेक लराई' इति। लड़ाई 'जहाँ तहाँ' ही करनी पड़ी तब भी लिखते हैं कि 'अनेक' लड़ाइयाँ हुईं। कारण यह है कि सप्तद्वीपके राजाओंको जीता है, इससे लड़ाइयाँ बहुत हुईं, फिर भी जहाँ तहाँ ही हुई अर्थात् सर्वत्र नहीं हुई, कहीं-कहीं ही लड़ाई करनी पड़ी। 'जहँ तहँ' से जनाया कि सब नहीं लड़े, बहुतसे आकर मिल गए, बहुतेरे भाग गए, यथा 'जासु देसु नृप लीन्ह छड़ाई। समर सेन तजि गएउ पराई। १५८।२।' (ख) 'जीते सकल भूप बरिआई' इति। 'बरिआई' अर्थात् बल पुरुषार्थसे लड़कर जीता, छल करके (अर्थात् अधर्म युद्धसे) नहीं। आगे यह स्पष्ट है, यथा 'स्वबस बिस्व करि बाहुबल', 'सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे'। (ग) ☞संक्षेपसे युद्ध वर्णन करनेका भाव कि भानुप्रतापको सप्तद्वीपके राजाओंको जीतनेमें कुछ भी विलंब न हुआ, बहुत ही शीघ्र सबको जीतकर वे लौट आए इसीसे युद्धका वर्णन भी बहुत थोड़ेमें किया गया।

३ 'सप्तदीप भुजबल बस कीन्हे।०' इति। तात्पर्य्य कि सब राजाओंको जीतकर पकड़ लिया और सबके राज्यपर कर बाँध-बाँधकर सबको छोड़ दिया। सब राजा अब आज्ञामें रहते हैं। (राज्य छीनकर अपने राज्यमें मिला लेना अच्छी नीति नहीं है। राज्य उतना ही बड़ा होना चाहिए जिसकी देखरेख स्वयं राजा कर सके। वि० त्रि०)।

नोट—१ "सातों द्वीप सात बड़ेबड़े समुद्रोंसे घिरे हुए हैं। उन्हें क्योंकर पार किया? श्रीरघुनाथजी तो सौ योजनवाले चौड़े समुद्रपर सेतु बाँधकर तब लंकाको गए थे और ये समुद्र तो बहुत बड़े हैं?" यह शंका उठाकर पं० रामकुमारजी उसका यह समाधान करते हैं कि "प्रतापीको सब मार्ग दे देते हैं। भानुप्रतापको भी समुद्रने मार्ग दिया, नहीं तो लाखों योजनके विस्तारके समुद्रोंमें पार कैसे होते? यदि समुद्र मार्ग न देता होता तो श्रीरामजी मार्ग माँगते ही क्यों? यथा 'तासु बचन सुनि सागर पाहीं। माँगत पंथ कृपा मन माहीं।५।५६।" मोहवश पहिले समुद्रने मार्ग न दिया पर जब उनका बल देखा तब प्रसन्न हुआ,—'देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भएउ सुखारी।५।६०।' उसने मार्ग न दिया पर सेतुबंधनका उपाय बता दिया। सेतुका उपाय बताया जिसमें सुयश हो, यथा 'एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय'। जब सातों द्वीपोंमें रघुनाथजीका राज्य हुआ तब सेतु बाँधना कहाँ लिखा है। सब समुद्र मार्ग देते रहे।" दूसरा समाधान इसका यह हो सकता है कि उस समय जान पड़ता है कि भारतवर्ष बड़ी उन्नतिपर पहुँच चुका था। राजाके यहाँ बड़े-बड़े विमान (हवाई जहाज़) थे, बड़े-बड़े दरियाई घोड़े आदि थे। जैसे पुष्पक विमानपर श्रीरघुनाथजी सेना सहित लंकासे श्रीअवध लौटे और तत्पश्चात् भी कई बार जहाँ तहाँ पुष्पकपर उनका आना जाना आनंदरामायण आदिमें पाया जाता है। लंकाकी चढ़ाईके समय वनवासमें थे इससे समुद्रबंधन करना पड़ा था।

२ सप्तद्वीप और सप्तसमुद्रोंका विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ में, करुणासिंधुजीकी आनन्दलहरी टीकामें तथा कोशोंमें पाठक देख सकते हैं।

☞पुराणोंके अनुसार पृथ्वी सप्तद्वीपोंमें विभक्त की गई है। भागवतमें राजा प्रियव्रतके द्वारा सप्त-द्वीपकी सृष्टिका होना कहा गया है। द्वीप=पृथ्वीके विभाग। सातोंके नाम ये हैं—जंबू, प्लक्ष, शाल्मली,

कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर। मुसलमानोंमें भी हफ्त अक़लीम माने जाते हैं। पर उससे सप्तद्वीपसे कोई मिलान नहीं है।

टिप्पणी—४ 'सकल अवनि मंडल तेहि काला।०' इति। अर्थात् सार्वभौम राजा हुआ। 'अवनि-मंडल' का तात्पर्य्य कि सप्तद्वीपमें समस्त पृथ्वी है। जिस कालमें भानुप्रताप राजा था उस कालमें पृथ्वी भरमें दूसरा स्वतन्त्र राजा नहीं था, यथा 'भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला। ७।२२।' ☞श्रीरघुनाथजीके राज्यशासनके वर्णनमें 'तेहि काल' न कहा जैसा यहाँ कहा गया है, कारण कि श्रीरामजी तो सभी कालोंमें वर्तमान रहते हैं, यथा 'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी', राजा रूपसे भी भगवान् हीहैं, यथा 'ईस असंभव परम कृपाला', 'नराणांच नराधिपः' (गीता १०)। और भानुप्रतापमें कालका नियम है क्योंकि कुछ दिन रहे फिर न रहे। [दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि रघुकुलमें पूर्वसे ही चक्रवर्त्ती राजा होते आए हैं और भानुप्रतापके पूर्वज चक्रवर्ती न थे; यही अपने कुलमें प्रथम ऐसा प्रतापी हुआ]।

५ 'स्वबस बिस्व करि बाहु बल०' इति। (क) 'सेवै समय नरेसु' राजा समय पर सेवते अर्थात् सेवन करते हैं। भाव कि अर्थके समयमें अर्थ, धर्मके समयमें धर्म, कामके समयमें काम और हरिभक्ति और सत्संग करके मोक्षसुख सेवते हैं। यथा 'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई', 'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग। ५।४।' तात्पर्य्य कि चारों पदार्थ राजाको प्राप्त हैं; यह बात राजाने स्वयं अपने मुखसे आगे कही है, यथा 'कृपासिंधु मुनि दरसन तोरें। चारि पदारथ करतल मोरें। १६४।८।' (ख) समस्त पृथ्वीको जीतनेके बाद सुखको वर्णन करनेका भाव कि निष्कण्टक राज्य होनेसे राजाको सुख होता है।

नोट—३ (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि अब "परिपूर्ण विभव वर्तमान है यही बात यहाँ कहते हैं। अर्थ अर्थात् इच्छापूर्ण धन, धर्म अर्थात् सत्य, शौच, दया और दानादियुक्त। काम अर्थात् एक तो कामदेव, दूसरे मनोकामनाएँ। इत्यादि यावत् सुख हैं अर्थात् सुगंध, वनिता, वस्त्र, गीत, ताँबूल, भोजन, भूषण और वाहन ये आठों भाग्याङ्ग सुख राजा भानुप्रतापको सेवते (सेवा करते) हैं। अथवा, सब सुख भी प्राप्त हैं और सब देशोंके राजा भी सेवामें हाज़िर हैं।" (ख) अर्थादिका सेवन आगे वर्णन किया गया है। सभामें बैठकर राज्यकाजको देखना-भालना अर्थका सेवन है, इससे धनका लाभ है। प्रातःकाल पूजा-पाठादि धर्मकर्मके समय धर्मका सेवन करता है। शयनके समय रात्रिमें कामसुखका और सत्संगके समय मोक्षसुखका अनुभव करता है। (रा० प्र०)। पं० शुकदेवलाल भी अर्थादिसे 'त्रय वर्ग सांसारिक सुखों' का भाव लेते हैं।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "यद्यपि कामसे सुखमात्रका ग्रहण होता है, पर यहाँ 'कामादि' पाठ होनेसे स्त्रीसुख अभिप्रेत है और 'आदि' से इतर सुखोंका ग्रहण होगा। राजाको अर्थ, धर्म और काम तीनोंके पूजनकी आज्ञा है। संपूर्ण जगत्‌के लिये कर्मका प्राधान्य है, पर राजा और वेश्याके लिये अर्थका प्राधान्य है अतः अर्थ पहिले कहा। तत्पश्चात् धर्म और अन्तमें काम कहा।"

वाल्मी० ६।६३ में कुंभकर्णने रावणसे कहा है कि जो या तो धर्म, अर्थ और कामको पृथक्-पृथक् अथवा इन तीनोंमेंसे दो-दोको अथवा सबको यथा समय करता है, अर्थात् जो प्रातः काल करना चाहिये उसे प्रातःकाल, मध्याह्नमें करने योग्य मध्याह्नमें इत्यादि, करता है, वही राजा नीतिवान् कहा जाता है, जथा "धर्ममर्थं च कामं च सर्वान्वा रक्षसांपते। भजते पुरुषः काले त्रीणि द्वन्द्वानि वा पुनः। ६"।

पद्म पु० उ० में श्रीदिलीपजी महाराजने अपने संबंधमें कहा है कि मैंने धर्म, अर्थ और कामका यथा समय सेवन किया है। यथा "वर्गत्रयी यथाकालं सेविता न विरोधिता। तथापि मेऽनपत्यस्य न सौख्यं विद्यते हृदि॥

प० पु० उत्तरखंड अ० २०२ श्लोक १०७।'''एवं धर्मार्थकामा मे यथाकालं निषेविता। ११४।'' अतः यहाँ भी यही भाव ग्रहण होगा और 'सेवै समय' पाठ ही उत्तम है।

टिप्पणी—६ ''अरथ धरम कामादि सुख०' इति। (क) पृथ्वी भरके राजा होनेपर अर्थ वर्णन करनेका भाव कि पृथ्वी भरका द्रव्य सब सिमिटा चला आता है। धनसे धर्म होता है, इसीसे अर्थके पीछे धर्म कहा, धर्मका फल सुख है इससे धर्मके बाद कामादि सुखका भोग कहा। (ख) चारों पदार्थ भंडार कहाते हैं, यथा 'चारि पदारथ भरा भँडारू'।

७ राजाके सात अंग हैं- स्वामी, मंत्री, मित्र, कोश, देश, किला और सेना। यथा 'स्वाम्यामात्य सुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। इत्यमरे २।८।१७।' राजा भानुप्रतापको इन सातों अंगोंसे पूर्ण युक्त दिखाते हैं। (१) 'करै जो धरम करम मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी'। वासुदेव स्वामी हैं। (२) 'नृप हित-कारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक्र समाना' यह मंत्री अंग है। (३) 'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती' भाई मित्र अंग है। (४) 'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु।' चारों पदार्थोंकी प्राप्ति और सप्तद्वीपका द्रव्य कोश है। (५) 'सप्तद्वीप भुज बल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे' सातों द्वीप 'देश' अंग है। (६) 'घेरे नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई' इससे कोट किला अंग वर्णन किया। और (७) 'सेन संग चतुरंग अपारा।०' यह सेना अंग है। (परंतु ये ७ राज्याङ्ग हैं, राजाके अंग नहीं, स्वामी=राजा)।

भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भै भूमि सुहाई ॥१॥
सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी ॥२॥
सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती। नृपहित हेतु सिखव नित नीती ॥३॥
गुर सुर संत पितर महिदेवा। करै सदा नृप सब कै सेवा ॥४॥

शब्दार्थ—१ बरजित (वर्जित)=त्यक्त, रहित। 'शील'=परिपूर्ण। धर्मशील=धर्मात्मा।

अर्थ—राजा भानुप्रतापका बल पाकर पृथ्वी सुन्दर कामधेनु (वा, कामधेनुसम सुहावनी सुख-दायक) हो गई ॥ १ ॥ प्रजा सब दुःखोंसे रहित और सुखी रहती; स्त्रीपुरुष सुन्दर और धर्मात्मा थे ॥ २ ॥ धर्मरुचि नामक मंत्रीका श्रीहरिके चरणोंमें प्रेम (भक्ति) था, राजाके हितके लिए वह सदा उसको नीति सिखाया करता था ॥ ३ ॥ गुरु, देवता, संत, पितृदेव और ब्राह्मण इन सबोंकी सेवा राजा सदैव करता रहता था ॥ ४ ॥

नोट—१'भूप प्रतापभानु बल पाई।०' इति। 'बल' अर्थात् धर्मका बल। राजाके धर्मसे पृथ्वी प्रजाको सुखद होती है। अतः 'बल पाई' कहकर 'कामधेनु भै०' कहा। धर्मसे सुख होता ही है, यथा 'तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए। धर्मसील पहँ जाहिं सुभाए। २९४.३।'

टिप्पणी—१ 'भूप प्रतापभानु बल पाई।०' इति। (क) ☞यहाँ पृथ्वी कामधेनु है, राजाका सुन्दर चरित, उत्तम धर्माचरण (भूपधरम जे बेद बखाने। सकल करै सादर सनमाने ॥ इत्यादि) तृण है, सुन्दर प्रजा (सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी) वत्स है जिसे पाकर कामधेनुरूपी पृथ्वी पन्हाकर नाना प्रकारके (अर्थ, धर्म, कामादि) पदार्थ रूपी दूध प्रकट करती है। यथा 'ससि संपन्न सदा रह धरनी।' अर्थात् भूमिको कामधेनु कहकर जनाया कि पृथ्वीसे अन्न रत्न आदि मनोरथके अनुकूल उपजने लगे; एक बार बोया जाय, कई बार काटा जाय। दोहावलीमें कामधेनु पृथ्वीका रूपक इस प्रकार दिया है—'धरनि धेनु चारितु चरति प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ। हाथ कछू नहिं लागिहै किये गोठ की गाइ ॥ ५१२।' इसीके अनुसार यहाँ भावार्थ कहा गया। (ख) 'प्रतापभानु बल पाई'—यहाँ धर्म शब्दका अध्याहार करना

होगा। अर्थात् राजाके धर्मका बल पाकर। इससे दिखाया कि पृथ्वीको राजासे बल मिलता है, समय पलट जाता है। (ग) 'कामधेनु मैं'। कामधेनु अर्थ, धर्म और काम तीन पदार्थ देती है। राजाके संबंधमें तो प्रथम ही कह आए कि 'अरथ धर्म कामादि सुख सेवै समय नरेसु'। राजाके लिए चारों पदार्थ प्राप्त ही हैं और अब बताते हैं कि सब प्रजाके लिए भी पृथ्वी कामधेनु (अर्थ, धर्म, काम देनेवाली) हो गई। यहाँ 'प्रथम उल्लास' और 'वाचक वा वाचक धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है [(घ) 'सुहाई' को कामधेनुका विशेषण मानें तो भाव होगा कि देवताओंकी कामधेनु सुन्दर नहीं और यह सुन्दर है।]

२—'सब दुख बरजित प्रजा सुखारी।०' इति। (क) 'सब दुख' अर्थात् आधि-व्याधि दारिद्रय, भय, रोग, शोक और वियोग इत्यादि। दुःख पापका फल है। यथा "नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। ७।१२१।", 'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग। ७.१००।' कहीं पाप नहीं है, यथा 'प्रजा पाल अति बेद बिधि कतहुँ नहीं अघलेस', अतः दुःख भी नहीं है। (ख) 'प्रजा सुखारी'। सब सुखी हैं क्योंकि सब धर्मशील हैं। धर्मका फल सुख है, यथा 'बरनाश्रम निजनिज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग। ७.२०।' जिनकी धर्ममें प्रीति नहीं है उनको सुख नहीं मिलता। यथा 'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता।७.१०२।' (ग) ऊपर कहा कि 'कामधेनु मैं भूमि' अब यहाँ प्रजाको अर्थ, धर्म, कामकी प्राप्ति दिखाते हैं।—'सुखारी' से अर्थकी प्राप्ति कही, 'धर्मशील' से धर्मकी और 'सुंदर नरनारी' से कामकी प्राप्ति जनाई। (घ) दुःख सुख द्वन्द्व हैं, दोनों सर्वत्र रहते हैं। पर यहाँ दुःख नहीं है, सुख ही सुख है।

३ 'सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती।०' इति। (क) मंत्रीमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों कहते हैं।—'सचिव सयान बंधु बल बीरा' एवं 'नृपहितकारक सचिव सयाना' से ज्ञानी, 'धरम रुचि' से कर्मी और 'हरिपद प्रीति' से उपासक जनाया। (ख) प्रथम ही जो कहा था कि 'नृपहितकारक सचिव' मंत्री हितकारक है वह हितकारकत्व यहाँ दिखाते हैं कि 'नृपहित हेतु' नित्य नीतिकी शिक्षा राजाको दिया करता है। तात्पर्य्य कि राजाका हित नीतिसे है। बिना नीतिके राज्य नहीं रहता, यथा 'राजु कि रहइ नीति बिनु जानें। ७.११२।' (धर्मार्थाविरोधी काम और धर्माविरोधी अर्थका सेवन नीति है जिससे धर्म, अर्थ और काम किसीको भी पीड़ा न हो। वि० त्रि०)। (ग) 'धरम रुचि' कहकर तब हरिपद प्रीति कहनेका भाव कि धर्मसे हरि-भक्तिकी प्राप्ति होती है, यथा 'जप जोग धरम समूह ते नर भगति अनुपम पावई। ३.६।'

नोट—२ महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि "हरिपद प्रीति" विशेषण देकर कवि आजहीसे शरणागतिकी नींव दे रहे हैं। ३ ☞उपदेश—भक्तिका बीज जो पड़ जाता है वह जन्मजन्मान्तरमें बढ़ता ही जाता है, सूखता नहीं। राक्षस होनेपर भी मंत्री भगवद्भक्त ही रहा। भुशुंडीजीने भी कहा है—'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंग बर। ७.७९।' हरिपद प्रीति दूसरे तनमें इसीसे हुई। ४-हरिपद प्रीतिमें मंत्रीका अपना हित है और नीति सिखानेमें राजाका हित है, वह दोनों करता है। (खर्रा)

टिप्पणी—४ 'गुर सुर संत पितर महिदेवा।०' इति। (क) यहाँ गुरु संत सुर पितृ और ब्राह्मण पाँच नाम लिखकर सूचित किया कि यह दूसरे प्रकारके पंचदेव हैं। यथा 'चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहै न संकरद्रोही ॥ ४.१७.५।' यहाँ शंकरसे 'सुर' को कहा। क्योंकि शंकरजी महादेव हैं। (२) 'देख इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई। ४.१७.७।' यहाँ 'हरि' से पितृदेव कहे। पितृ भगवान्‌के रूप कहे जाते हैं, यथा 'पितृरूपो जनार्दनः'। (३) 'सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई। ४.१७.५।' से 'संत' को कहा। (४) 'मसक दंस बीते हिमत्रासा। जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा' से महिदेव कहे। (५) 'भूमि जीव संकुल रहे गए सरदरितु पाइ। सदगुरमिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ' से गुरु कहा। पंचदेव सदा पूज्य हैं, इसीसे राजा सदा सबकी सेवा करते हैं। (ख) 'करै सदा'।

'सदा' से राजाकी पाँचोंमें अत्यन्त श्रद्धा दिखाई। (ग) सेवाके प्रकरणमें गुरुको प्रथम कहा क्योंकि इनका दर्जा भगवान्‌से भी अधिक है। यथा 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी ॥ २.१२६।'

(ग)—(खर्रा) 'गुरु सुर संत०' से जनाया कि राजा कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों कांडोंमें आरूढ़ है। गुरु-सेवासे ज्ञान (यथा 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान'), संतसेवासे उपासना और देव-पितृ-विप्र-सेवासे कर्म कांड सूचित किया।

(घ) विनयमें भी पाँचोंको पंचदेवोंकी तरह एक साथ ही कहा है। यथा "द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पाइये। यह जानि तुलसीदास त्रास हरन रमापति गाइये। पद १३६।१२।" ये भवपार होनेके साधन हैं, अतः इनकी सेवा करता है। विनयमें यहाँके 'पितर' की जगह 'हरि' हैं (जिसका कारण ऊपर दिया गया है), शेष चार वही हैं।

भूप धरम जे बेद बखानें। सकल करै सादर सुख मानें ॥ ५ ॥
दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनै सास्त्र बर बेद पुराना ॥ ६ ॥
नाना बापी कूप तड़ागा। सुमन बाटिका सुंदर बागा ॥ ७ ॥
बिप्र-भवन सुर-भवन सुहाए। सब तीरथन्ह बिचित्र बनाए ॥ ८ ॥
दोहा—जहं लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप किए सहित अनुराग ॥ १५५ ॥

शब्दार्थ—बापी = बावली, छोटा कुँआ वा गहरा तालाब जिसमें जलतक पहुँचनेके लिये सीढ़ियाँ बनी होती हैं। तड़ाग = तालाब। जाग=यज्ञ।

अर्थ—राजाओंके धर्म जो वेदोंने कहे हैं उन सब धर्म्मोंको राजा आदरपूर्वक सुख मानकर करता था ॥ ५ ॥ प्रतिदिन अनेक प्रकारके दान देता और उत्तम शास्त्र वेद और पुराण श्रवण करता था ॥ ६ ॥ सब तीर्थोंमें अनेक बावलियाँ, अनेक कुएँ, अनेक तालाब, सुन्दर फुलवाड़ियाँ और बाग तथा ब्राह्मणों और देवताओंके सुहावने घर और मंदिर विचित्र विचित्र बनवाए। ७-८। जहाँ तक वेदपुराणोंमें यज्ञ कहे गये हैं उन सबोंको एकएक करके हज़ार-हज़ार बार राजाने प्रेमसहित किया। १५५।

नोट—१ 'भूप धर्म' इति।—राजाओंके धर्म्म श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीसे यों कहे हैं—'मुखिया मुख सों चाहिए खान पान कहं एक। पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक ॥ २.३१५। राजधरम सरबस एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई ॥' प्रजापालन, देशरक्षा, उपद्रव आदिका निवारण इत्यादि राजाओंके धर्म हैं। महाभारतके शान्तिपर्वके 'राजधर्म' अंशमें राजाके धर्मोंका वर्णन है।

टिप्पणी १—'भूपधरम जे बेद बखाने।०' इति। (क) भूपधरम = राजधर्म। ये धर्म अपनेही धर्म हैं। 'सादर करै' से जनाया कि अपने धर्मोंके करनेमें राजाको बड़ी श्रद्धा है। वह श्रद्धा दिखाते हैं। सब करना, सादर करना और सुख मानकर करना यह सब श्रद्धाके द्योतक हैं। (ख) वेद जो कहते हैं वह धर्म है, वेदके प्रतिकूल जो कर्म हैं वह अधर्म हैं, यथा 'जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला। १८३।५।', 'वेद प्रतिपादितो धर्म्मो ह्यधर्म्मस्तद्विपर्य्ययः' इति मनु० महाभारते। वेद कहते हैं इसीसे करते हैं। सब करते हैं। सब करनेसे शरीरको कष्ट मिलता है तब अनादर होता हो सो बात नहीं है, यह जनानेको 'सादर सुख माने' कहा। ☞ भूप धर्म क्या हैं यह आगे दोहे तक कहते हैं।

वि० त्रि०—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः', अपने धर्ममें मरना अच्छा है, क्योंकि परधर्म

भयका देनेवाला है। राजा यदि सन्यास धर्मका पालन करने चले तो वह उसके लिये परधर्म है, उसका फल अत्यन्त बुरा है। गीतामें प्राधान्येन यही शिक्षा है। धर्माचरण प्रारम्भमें विष-सा मालूम होता है, पर परिणाममें अमृततुल्य है।

टिप्पणी २ 'दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना।०' इति। (क) 'दिन प्रति' का भाव कि लोग कहीं पर्व आदि पुण्य अवसरोंपर विविध प्रकारका दान देते हैं पर राजाको ऐसी श्रद्धा है कि 'प्रति दिन' विविध प्रकारके दान देते हैं, प्रतिदिन शास्त्रादि सुनते हैं। अनेक पदार्थ देते हैं, यथा 'गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा। १९६।८। (पुनः 'बिबिध बिधि' से जनाया कि जिस दानका जैसा विधान शास्त्रों में है उसके अनुसार दान देता था। वि० त्रि०)। (ख) 'सुनै सास्त्र बर बेद पुराना' इति। कथा प्रतिदिन तीन बार होती है। प्रातः, मध्याह्नोत्तर और रात्रि में। एक समय धर्मशास्त्र होता है, यथा 'कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिं महीसु सहित रनिवासा। ३५९.५।' एक समय पुराण होता है और एक बार वेद। (ग) 'शास्त्र बर' का भाव कि वेद पुराण शास्त्र तीनों त्रिगुणात्मक हैं, राजा सतोगुणी और रजोगुणी शास्त्र सुनते हैं, तमोगुणी नहीं सुनते। (घ) प्रथम कहा कि 'भूपधरम जे बेद बखाने। सकल करै', (सब सादर करते हैं) और अब कहते हैं कि 'सुनै शास्त्र बर बेद०', इससे सूचित किया कि जो प्रतिदिन सुनते हैं वही करते हैं।

३—'नाना बापी कूप तड़ागा।०' इति। (क) चार चरणोंका अन्वय एक साथ है, 'बनाए' सबकी क्रिया अन्तमें दी है। 'अनेक' और 'सुन्दर' विशेषणका सम्बन्ध सबमें है; इससे अत्यन्त श्रद्धा दिखाई। (ख) 'बापी कूप तड़ाग' कहकर 'सुमन बाटिका बाग' को कहनेका भाव कि ये सब जलाशय बाटिका और बागोंमें हैं, यथा 'बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं। ५.३।', 'मध्य बाग सरु सोह सुहावा। २२७.७।' (ग) एक चरणमें बापी, कूप, तड़ागको कहा और दूसरेमें बाटिका बागको। दो चरणोंमें दोनोंको पृथक्-पृथक् लिखकर जनाया कि बाटिका और बागोंसे पृथक्‌भी बहुत जलाशय बनाए हैं।

४—'बिप्रभवन सुरभवन सुहाए।०' इति। (क) 'बिचित्र बनाए' अर्थात् बनावमें सुंदर हैं, अनेक रंगोंसे रँगे हुए चित्रित हैं, यथा 'मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें। २१३.५।' (ख) 'सुहाए' और 'बिचित्र बनाए' से राजाकी श्रद्धा दिखाई। (ग) 'बिप्रभवन सुरभवन' इति। पूर्व जो कहा था कि 'गुर सुर संत पितर महिदेवा। करै सदा नृप सब कै सेवा' इससे गुरुस्थान और संतस्थानका बनाना न कहा। संत विरक्त होते हैं, स्थान नहीं चाहते,—'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महाकुसमाजहि रे'। पितृका मंदिर नहीं होता, इसीसे पितृमंदिरका बनाना न कहा। (घ) 'सब तीरथन्हि बनाए' क्योंकि तीर्थ-स्थानोंमें इनके बनानेका विशेष माहात्म्य है। ब्राह्मण देवताओंकी पूजा करते हैं (इसलिए उनके घर बनाए), मंदिरोंमें जीविका लगी है। (विप्रभवन और सुरभवनको साथ रखकर सूचित किया कि देवमंदिरके पास ब्राह्मण पुजारीका घर बना देते थे जिसमें बराबर पूजा होती रहे)।

[पुनः भाव कि वेदकी रक्षाके लिये विप्रभवन, उपासनाके लिये सुरभवन और तरनेके लिये तीर्थों को बहुत ही सुन्दर बनाया। पुण्यके दो विभाग हैं—इष्ट और पूर्त। उनमेंसे पूर्त यहाँ तक कहे, आगे दोहेमें इष्ट कहते हैं। यथा, 'वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते।' 'एकाग्नि कर्महवनं त्रेतायां यच्चहूयते। अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते।' अर्थात् बापी, कूप, तालाब, देवमन्दिर, अन्नका सदाव्रत और बाग इन सबोंको पूर्त कहते हैं। एकाग्नि कर्म हवन और त्रेताग्निमें जो हवन किया जाता है तथा अन्तर्वेदीमें जो दान किया जाता है, उसे इष्ट कहते हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—५ 'जहं लगि कहे पुरान श्रुति०' इति। (क) इससे यज्ञ करनेमें श्रद्धा दिखाई। वेद पुराण और शास्त्रोंका सुनना कहा था। शास्त्रोंमें यज्ञोंका वर्णन नहीं है, इसीसे यहाँ शास्त्रोंको नहीं कहते, केवल वेद

पुराणोंको कहते हैं । (परन्तु वे० भू० जी कहते हैं कि प्रत्येक यज्ञका पूर्ण विधान एवं महत्व पूर्वमीमांसा शास्त्रमेंही वर्णित है । विना मीमांसा शास्त्रके किसीभी यज्ञका अस्तित्वही न रह जायगा । शुक्ल यजुर्वेदके प्रथम और द्वितीय अध्यायमें नवेन्दु और पूर्णेन्दु यज्ञका, तृतीयाध्यायमें अग्निहोत्रका, चतुर्थसे अष्टमाध्याय तक सोमयज्ञका, दशममें वाजपेय और राजसूय यज्ञका, एकादशसे अष्टादशतक यज्ञीय वेदी बनानेकी विधि, उन्नीससे एक्कीस तक सौत्रामणियज्ञका, बाईससे पचीसतक अश्वमेधयज्ञका, छब्बीससे एकतीस तक चान्द्र-यज्ञका, तीस और एकतीसमें नरमेधयज्ञका, बत्तीससे पैंतीसतक सर्वमेधयज्ञका वर्णन है । बृहदारण्यकोपनिषद्के पूर्वार्ध में भी यज्ञकाही वर्णन है । इससे इस भावमें त्रुटि आती है) । (ख) 'जहँ लगि' का भाव कि वेदादिमें ढुँढवा-ढुँढवाकर यज्ञ किये । 'सहस्र सहस्र' शब्द 'अगणित, अनंत' वाची हैं । 'अनुराग सहित' करना कहा क्योंकि उत्साह भंग होनेसे धर्म निष्फल हो जाता है; यथा 'उत्साह भंगे धन धर्महानिः' । (खर्रा)—सहस्रों यज्ञोंका फलही है कि 'सुनासीर सत सरिस' विलास पावेगा ।

हृदय न कछु फल अनुसंधाना । भूप बिबेकी परम सुजाना ॥ १ ॥
करै जे धरम करम मन बानी । बासुदेव अर्पित नृप ज्ञानी ॥ २ ॥
चढ़ि बर बाजि बार एक राजा । मृगया कर सब साजि समाजा ॥ ३ ॥
बिंध्याचल गँभीर बन गएऊ । मृग पुनीत बहु मारत भएऊ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अनुसंधान=पीछे लगना; चाह, खोज या प्रयत्न करना; सोचना बिचारना । अर्पित=आदरपूर्वक अर्पण या भेंटमें दिया हुआ । मृगया=शिकार, अहेर, आखेट । विपिन=वन ।

अर्थ—राजा बड़ा बुद्धिमान् और चतुर है । उसने मनमें किसी फलकी इच्छा नहीं की ॥ १ ॥ जो धर्म वह (मन कर्म वचनसे) करता था उनको वह ज्ञानी राजा मन कर्म और वचनसे बासुदेव भगवान्‌को अर्पण कर देता था ॥ २ ॥ एक बार (की बात है कि) शिकारका सब साज सजाकर राजा उत्तम श्रेष्ठ घोड़ेपर सवार होकर विंध्याचलके घने गहरे वनमें गया और वहाँ उसने बहुतसे पवित्र मृग मारे ॥ ३-४ ॥

टिप्पणी—१ 'हृदय न कछु फल अनुसंधाना०' इति । (क) 'परम सुजान' का भाव कि राजा कर्मकी गतिको जानते हैं कि कर्मके फलकी इच्छा करनेसे कर्मबंधन होता है, इसीसे निष्काम कर्म करते हैं । विवेकी हैं अर्थात् असत् कर्म नहीं करते, समीचीन कर्म करते हैं, यथा 'अस बिबेक जब देइ बिधाता । तब तजि दोष गुनहिं मन राता' ॥ 'परम' देहलीदीपक है । [विवेकी था, अतः समझता था कि मेरा कर्ममें ही अधिकार है, फलमें नहीं । यथा 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।' (वि० त्रि०)]

नोट—१ रा० प्र० कारका मत है कि राजाको ज्ञानी कहनेमें भाव यह है कि ज्ञानमें विघ्न होता है । राजाको आगे विघ्न होगा; उसे राक्षस होना पड़ेगा । मा० म० कार लिखते हैं कि "भानुप्रताप और मनुकी उपासना एकही (परतम रामचन्द्र) की थी; परन्तु उसने जो कर्म किए उनको भगवदर्पण कर दिया जिसका फल परधाम जानेपर प्राप्त होगा और मनु महाराजने अपने शुभ कर्मका फल लोकहीमें ले लिया कि परमात्मा स्वयं पुत्र हो प्रकट हुए" ।

टिप्पणी—२ 'करै जे धरम करम मन बानी । बासुदेव अर्पित० । इति । (क) 'नृप ज्ञानी' का भाव कि ज्ञानी है, इससे जानता है कि विना भगवान्‌को अर्पण किए कर्म व्यर्थ हो जाता है, यथा हरिहि समरपे बिनु सतकर्मा ।'''श्रम फल'''। ३।२१ ।' (ख) ☞राजामें कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों कहते हैं । 'करै जे धरम' इससे कर्म, 'बासुदेव अर्पित' से उपासना और 'ज्ञानी' से ज्ञान कहा । ['कर्म मन बानी' दीपदेहली है । राजा सब धर्म मन कर्म वचनसे करता है । अर्थात् जितने मन कर्म वचनके पाप हैं उनको त्यागकर सब धर्मका प्रतिपालन करता है ।] (ग) 'बासुदेव अर्पित' से राजाकी वासुदेवमें प्रीति कही । भगवान्‌में

प्रेम कहकर राजाके कर्म और ज्ञानकी शोभा कही। विना भगवत्-प्रेमके कर्म और ज्ञानकी शोभा नहीं है, यथा 'सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपदपंकज भाऊ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम परधानू॥', 'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू'। (घ) यहाँ दिखाया कि धर्म भी मन कर्म वचनसे होते हैं जैसे पाप तीनों प्रकारके कहे गए हैं, यथा 'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं।२।१६७।' (ङ) 'करै जे धरम' से जनाया कि सभी धर्मोंको भगवान्‌को अर्पण कर देता है—(गीतामें कहा भी है —'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।२।४७।' अतः भगवदर्पण करना उचित ही है)। यदि एक भी कर्म, विना समर्पित किया रह जाय तो भवबंधन होता है। [इसीसे भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि सब कर्म संग और फलको छोड़कर करने चाहिएँ, यथा "एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्। १८। ६।", 'न कछु फल अनुसंधाना' और 'बासुदेव अर्पित' कहकर जनाया कि वह सभी कर्म धर्म निष्काम भावसे भगवान्‌के अर्पण हेतु ही करता था।]

३ (क) 'चढ़ि बर बाजि बार एक राजा' इति। 'एक बार' का भाव कि शिकार खेलने तो अनेकों बार गए क्योंकि राजा हैं, पर अनेक बारके मृगयाके कथनका कोई प्रयोजन नहीं है। जिस बारके मृगयाके कथनका प्रयोजन है (जिससे इस कथाका, श्रीरामजन्म-हेतुका संबंध है) उस बारका प्रसंग कहते हैं। (ख) 'बर बाजि' पर एक बार चढ़कर मृगयाको गए, इस कथनसे यह सूचित किया कि कभी रथमें, कभी हाथीपर भी चढ़कर शिकारको जाया करते थे, पर इस बार घोड़ेपर चढ़कर गए। इससे यह जनाया कि राजा, सुरथकी तरह एकाकी बनमें गए, यथा 'एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनं'। हाथीपर महावत रहता है और रथपर सारथी साथ रहता है, घोड़ेकी सवारीपर कोई साथ नहीं रहता। (ग) 'बर बाजि' का भाव कि ऐसा श्रेष्ठ घोड़ा है कि उसकी दौड़में कोई शिकार निबह नहीं सकता तथा वह राजाके मनके अनुकूल चलता, काम करता है। (घ) 'मृगया कर सब साजि समाजा' अर्थात् अनेक प्रकारके हथियार लिए, खड्ग, तलवार, कृपाण, बर्छी, बल्लम, धनुष बाण, पाश आदि। पुनः 'सब साज' से यह भी जनाया कि घोड़ा और वस्त्र सब हरे रंगके हैं। जिससे वृक्षोंके रंगमें छिप सकें*। (ङ) 'बिंध्याचल गँभीर बन गयऊ' इति। गंभीर बनमें गया कहकर जनाया कि और जो शिकार खेलने योग्य बन थे जहाँ पूर्व जाया करते थे वे गम्भीर न थे, इसीसे उन बनोंमें बहुत मृग नहीं थे, इसमें, गंभीर होनेके कारण, बहुत मृग थे। (यह भी संभव है कि और बनोंमें पूर्व बहुत बार गए थे, इससे वहाँ शिकार बहुत न मिल सकते थे; इससे दैवयोगसे इस बनमें गए।) (च) 'मृग पुनीत बहु मारत भयऊ'। 'पुनीत' मृग वह हैं जिनके वधकी आज्ञा शास्त्रने दी है। यथा 'पावन मृग मारहिं जिय जानी'। २०५ (२) देखिए। मृगयाका सब साज सजकर गए और गहरे सघन बनमें गए जहाँ बहुत मृग थे, इसीसे बहुत मृग मारे, घने बनमें शिकारके पशु बहुत रहते ही हैं।

फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू॥५॥
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुं क्रोधबस उगिलत नाहीं॥६॥
कोल कराल दसन छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई॥७॥

* राजा रजोगुणी तमोगुणी और सतोगुणी तीनों कर्म करता है। दिग्विजय, प्रजापालन और अर्थ कामादिका सेवन रजोगुणी कर्म हैं। गुरु, सुर-पितृ महिदेव सेवा इत्यादि सतोगुणी कर्म हैं। और 'चढ़ि बर बाजि' 'मृगया करई' यह तमोगुणी कर्म है। तमोगुणी कर्म करनेसे विघ्न हुआ जैसा आगे कहते हैं। (शिकारी कुत्ते, बाज पक्षी आदि जो कुछ वस्तु मृगयोपयोगी थे वे 'सब साज' हैं। वि० त्रि०।)

घुरुघुरात हय आरौ पाएं। चकित बिलोकत कान उठाएं ॥८॥
दोहा—नील महीधर सिखर सम देखि बिसाल बराहु।
चपरि चलेउ हय सुटुकि नृप हाँकि न होइ निबाहु ॥१५६॥

शब्दार्थ—बराह = सूकर, सुअर। दुरेउ = छिपा। ग्रसि = भक्षण करके, इस प्रकार पकड़कर कि छूट न सके, निगलकर। बिधु = चन्द्रमा। उगिलत = उगलता, मुँहसे बाहर निकाल फेंकता। दसन (दशन) = दाँत। पीवर = मोटा, स्थूल, यथा 'पीनस्तु स्थूल पीवर इत्यमरः'। खूब माँस और चर्बीसे लदा हुआ। कोल = सुअर। घुरघुरात—घुरघुराता था; सुअरके गलेसे घुरघुर ऐसा शब्द निकलता है। हय = घोड़ा। आरौ = आरव = शब्द, आहट। महीधर = पर्वत। शिखर = चोटी, कंगूरा। चपरि = चपलतासे, शीघ्र, फुर्तीसे, एकबारगी, ज़ोरसे। यथा 'तहाँ दसरथके समर्थ नाथ तुलसीको चपरि चढ़ायो चाप चन्द्रमा ललामको', 'राम चहत सिव चापहि चपरि चढ़ावन', 'जीवनते जागी आगि चपरि चौगुनी लागि तुलसी बिलोकि मेघ चले मुँह मोरिकै'। सुटुकि = कोड़ा मारकर, चाबुक लगाकर, इशारा (टिकटिक करके) देकर, टिटकार कर। 'निबाह' = अन्ततक एकसा पूरा पड़ना; गुज़ारा छुटकारा, बचावका रास्ता या ढंग, पार पाना, निकलना, बचना।

अर्थ—राजाने एक सुअर वनमें फिरते हुए देखा। (वह ऐसा देख पड़ता था) मानों चन्द्रमाको ग्रसकर राहु वनमें आ छिपा है ॥ ५ ॥ चंद्रमा बड़ा है, मुँहमें नहीं अमाता, मानों क्रोधवश वह उसे उगलता भी नहीं ॥ ६ ॥ यह शोभा सुअरके भयंकर दाढ़ोंकी कही गई है, उसका शरीर बहुत लंबा चौड़ा था और मुटाई बहुत थी ॥ ७ ॥ घोड़ेकी (टापकी) आहट पाकर सुअर घुरघुराता और कान उठाए चौकन्ना हो देख रहा है ॥ ८ ॥ नीलगिरिके शिखरके समान बड़ा भारी सूकर देख राजा घोड़ेको चाबुक लगाकर फुर्तीसे हाँक चला अर्थात् सरपट छोड़ा जिसमें सुअरका निर्वाह न हो।❀

टिप्पणी—१ (क) 'फिरत बिपिन नृप दीख बराहू' इति। ☞कालकेतु राक्षस वराहका रूप धरकर राजाको छलना चाहता है, यथा 'कालकेतु निसिचर तहँ आवा। जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा'। इसीसे वह वनमें फिरता है कि जिसमें राजा हमें देखें तब हम भागकर इन्हें (पीछा कराते हुए) कपटी मुनिके पास ले जायँ। [सुअर फिर रहा है; यह उसका कपट है। वह अपने कार्य्यसाधनहेतु फिरता है कि जिसमें राजा हमें देखकर पीछा करें। जैसे मारीच कपटमृग बनकर श्रीसीताजीके सामने फिरता था] ☞कालकेतु वराह बनकर मृगोंमें मिला, अवध्य मृग न बना, क्योंकि अवध्य मृग बननेसे राजा पीछा न करते और हिंसक होनेसे वराहका शिकार राजा लोग करते ही हैं। अवश्य वराहरूप देखकर पीछा करेंगे अतः वराह बना। (ख) 'जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू' इति। इन्द्रके वज्रसे अथवा भगवान्‌के चक्रसे डरकर मानों राहु बनमें जा छिपा है। जैसे हनुमान्‌जीने जब सूर्य्यको ग्रास कर लिया था तब इन्द्रने वज्र उनपर चलाया था। चन्द्रग्रहणकी उपमा देकर सूचित किया कि राजाके नाश करनेवाला विघ्न

❀ कोई कोई टीकाकार 'सुअरकी आहट पाकर घोड़ा घुरघुराता है और कान उठाये ....', वा, "घुरघुरानेका शब्द सुन घोड़ा कान उठाये चकित देखता है।" ऐसा अर्थ करते हैं। वैजनाथजी लिखते हैं कि राजा वृक्षोंकी आड़में है इससे शूकर चकित देखता है। वीरकविजी एवं विनायकी-टीकाकार 'हाँकि न होइ निबाह' का अर्थ ऐसा भी करते हैं कि 'राजाने सूअरको ललकारा कि अब बच न सकेगा।' और श्रीशुकदेवलालजी 'यद्यपि जानेका निबाह भी नहीं होनेका' ऐसा अर्थ करते हैं। पं० रामकुमारजी 'चपरि चलेउ हय सुटुकि' का अर्थ 'घोड़ेको टिटकार देकर हाँकके दबाकर चला' ऐसा करते हैं। वि० त्रि० जी अर्थ करते हैं—'क्योंकि हाँकनेसे निर्वाह नहीं होता था'।

प्राप्त हुआ। जैसे चन्द्रमाको राहु ग्रसता है वैसे ही राजा भानुप्रतापको खल ग्रसेंगे। जैसे राहु चन्द्रमाको ग्रसकर वनमें छिपा है वैसे ही राजाको ग्रसनेवाले दुष्ट वनमें छिपे हैं।

नोट १—यहाँ सुअर उपमेय, राहु उपमान, दोनों काले हैं। डाढ़ें (दाँत) उपमेय, चन्द्रमा उपमान, दोनों श्वेत चमकदार, दोनों गोलाकार। कालापन और गोलाकार दाढ़ोंका मुँहके भीतरसे बाहरतक निकले और चमकते दिखाई पड़ना उत्प्रेक्षाके विषय हैं। राहु और चन्द्रमा दोनों आकाश ही पर रहते हैं, राहुका चन्द्रमाको मुँहमें पकड़कर वनमें छुपना यह उत्प्रेक्षाका आधार असंभव है, सिद्ध नहीं होता; अतएव यह 'असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' है।

२—'क्रोधवश'- क्षीरसमुद्रसे अमृत निकलनेपर जब भगवान् उसे देवताओंमें बाँटने लगे तब राहु भी देवसमाजमें आ बैठा था। चन्द्रमाने इशारेसे इसका छल भगवान्को बताया था। उस वैरके कारण क्रोध रहता है। भगवान्ने चक्रसे राहुके दो टुकड़े कर दिए; उसमें एक केतु कहलाता है और एक राहु। विशेष १।४।३,६ भाग १ पृष्ठ १४०, १४६ में देखिये।

३—श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि वराहको राहुकी उपमा देनेका भाव यह है कि जैसे यह (कालकेतु) राक्षस राहुसम चन्द्रमाको ग्रसे है वैसे ही कपटमुनिरूप केतु 'भानु प्रताप' को ग्रसेगा।' (भाव यह जान पड़ता है कि राहु और केतु का संबंध है। कालकेतुको राहु कहा है तो उसका साथी केतु हुआ। परंतु केतुका सूर्यको ग्रसना हमने कभी नहीं सुना। और केतु जिसका उदय उत्पातकारक होता है वह राहुवाला केतु नहीं है)।

टिप्पणी—२ (क) 'बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं' इति। 'बड़ विधु' का भाव कि ग्रहण पूर्णचन्द्रका होता है, पूर्णिमाका चंद्र पूर्ण और बड़ा होता है। 'नहिं समात' कहनेका भाव कि शूकरके दाँत मुखसे अधिक हैं अर्थात् बाहर निकले हुए हैं। मुखमें जब नहीं समाता तो उगल देना चाहिए पर वह उगलता नहीं, इसका कारण बताते हैं कि क्रोधवश है। चन्द्रमापर राहुका बड़ा क्रोध है। (ख) 'कोल कराल दसन छबि गाई।०' इति। ☞ यहाँ सूर्य्य ग्रहण की उत्प्रेक्षा नहीं की क्योंकि सूर्य्य की उपमा दाँतकी नहीं (दी जाती) है, चन्द्रमाकी ही उपमा दाँतोंकी (दी जाती) है, यथा 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा।१९८।७', 'अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु कर निकर बिनिंदक हासा। १४७।२।' अर्थात् हाससे दाँतोंका प्रकाश चन्द्रकिरणको लज्जित करता है। इसीसे चन्द्रग्रासकी उत्प्रेक्षा दाँतोंकी छबि कहनेकेलिए की गई। चन्द्रमामें छबि है। राहुका स्वरूप भारी है, इसीसे सूकरके तनको भारी कहा, राहु काला सूकर भी काला (ग) 'चकित बिलोकत कान उठाए' इति। यह शूकरजातिका स्वभाव है। जब घोड़ा दौड़ा तब आहट मिली अर्थात् टाप सुन पड़ी, तब घुरघुराने लगा जिसमें शब्द सुनकर पास आवैं और कान उठाकर शब्द सुनता है कि किस दिशासे आते हैं। 'चकित बिलोकत' कि कहीं धोखेसे निकट न आ जायँ और मार लें।

३ (क) 'नील-महीधर-सिखर सम०' इति। नीलपर्वतके समान बड़ा नहीं बना किन्तु शिखरके समान बना जिसमें राजाको भ्रम न होने पावे कि इतना बड़ा शूकर तो होता नहीं यह कोई राक्षस है जिसने कपट छलका वेष धारण किया है। ऐसा सन्देह होनेसे पीछा न करता। (ख) ☞ 'फिरत बिपिन नृप दीख बराहू' पर प्रसंग छोड़ा था, बीचमें वराहका स्वरूप उत्प्रेक्षाद्वारा कहने लगे, अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं—'देखि बिसाल बराह'। पूर्व वराहका देखना कहा था, अब देखकर मारनेको दौड़ा यह कहते हैं। (ग) 'नील महीधर' कहकर जनाया कि नीले शूकरका रूप धरा था। पुनः, नील पर्वत समान कहकर उसके देहकी सुंदरता कही, यथा 'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सयल इक सुंदर भूरी॥ ७।५६।' इसी नीलगिरिके शिखरके समान कहा। (घ) ☞ 'चपरि चलेउ''हाँकि न होइ निबाह' इससे पाया गया कि राजाने

वराहको तलवारसे मारनेकी इच्छा की, इसीसे निकट पहुँचनेकेलिए उन्होंने घोड़ा दौड़ाया, नहीं तो जहाँसे देखा था वहाँसे निशाना लगाकर बाण मारते ।

आवत देखि अधिक रव बाजी । चलेउ बराह मरुतगति भाजी ॥१॥
तुरत कीन्ह नृप सर संधाना । महि मिलि गएउ बिलोकत बाना ॥२॥
तकि तकि तीर महीस† चलावा । करि छल सुअर सरीर बचावा ॥३॥
प्रकटत दुरत जाइ मृग‡ भागा । रिसबस भूप चलेउ सँग※ लागा ॥४॥

शब्दार्थ—बाजी (बाजि) = घोड़ा । संधाना=चढ़ाया, लगाया । निशाना किया । चलाया । रव (फा० रौ) = रफ़्तार, चाल ।-यह फ़ारसी शब्द है । वेग । दुरत = छिपता । भाजी = भागकर ।

अर्थ—घोड़ेको अधिक तेज़ रफ़्तारसे आते देख वराह वायुकी चालसे भाग चला अर्थात् हवा हो गया ॥१॥ राजाने तुरत बाणको धनुषपर चढ़ाकर चलाया, बाणको देखते ही वह पृथ्वीमें दुबक गया ॥२॥ राजाने ताक-ताककर तीर चलाए । सुअर छल करके शरीरको बचाता रहा ॥ ३ ॥ कभी छिपता, कभी प्रकट हो जाता, इस प्रकार वह पशु भागता जाता था और राजा रिसके मारे उसके पीछे लगा चला जाता था ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) 'आवत देखि' । भाव कि शूकर यही राह देख रहा था कि राजा मेरी ओर आवे तब मैं कपटी-मुनिके आश्रमकी ओर भागूँ । (ख) 'अधिक रव बाजी' अर्थात् घोड़ेको भारी वेगसे आता हुआ देखा । इससे जनाया कि और घोड़ोंसे इसका वेग अधिक है । (ग) 'मरुतगति भाजी' से जनाया कि घोड़ेके वेगसे (चलनेसे) शूकरका निर्वाह न हो सकेगा, इसीसे वह शूकरकी गतिसे न भागा, पवनकी गतिसे भागा । (नोट—पवनके वेगसे चलना, हवा होजाना, ये मुहावरे हैं अर्थात् बहुत शीघ्रतासे चलना) । अथवा, 'अधिक रव' का अर्थ दूसरे चरणमें खोला कि घोड़ा पवनके वेगसे दौड़ा; इसीसे सूकर भी पवनकी गतिसे भागा । इससे जनाया कि घोड़ा पवनवेगी है । (घ) दोहेमें जो 'चपरि चलेउ' कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला कि 'अधिक रव' से चला ।

२—'तुरत कीन्ह नृप सर संधाना' । भाव कि जब तलवारकी पहुँच न रहगई तब बाण चलाया । 'तुरत' बाण चलाया यह जानकर कि अब यह बाणकी पहुँचसे भी बाहर निकला जाता है । ☞ यहाँ दिखाया कि राजा अश्वारोहण और धनुर्विद्यामें बड़ा निपुण है कि दौड़ते हुए घोड़ेपर बैठा हुआ बाण चलाता है, (घोड़ेकी बागडोर छोड़ेहुए है । दोनों हाथ धनुषबाणमें फँसे हुए हैं । घोड़ेकी सवारीपर शिकार प्रायः भाला, बर्छा, तलवारसे किया जाता है जिसमें एक हाथसे घोड़ेको सँभाले रहते हैं । बाण चलानेमें दोनों हाथोंका काम पड़ता है ।) । (ख) 'महि मिलि गएउ बिलोकत बाना', इससे बाणकी करालता कही, यथा 'देखेसि आवत पबिसम बाना । तुरत भएउ खल अंतरधाना । ६।७५ ।' पुनः, भाव कि नीलगिरिशिखरसमान वराह है इस प्रमाणसे राजाने बाण मारे । वह पृथ्वीमें मिल गया अर्थात् रजसमान हो गया, बाण ऊपरसे निकल गया । (यह मुहावरा है । जमीनसे मिल गया अर्थात् दबककर जमीनसे जा मिला) । (ग) 'तकि तकि तीर महीस चलावा' । भाव कि जब प्रथम बाण न लगा, ऊपरसे निकल गया, तब राजा बड़ी सावधानतासे ताकताककर बाण चलाने लगा । पुनः, 'तकि तकि' से जनाया कि बहुत तीर चलाए, सब वार ख़ाली ही जाते हैं । (घ) 'करि छल सुअर सरीर बचावा' । क्या छल करता है यह आगे लिखते हैं । 'प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा' यह छल है, यथा 'प्रगटत दुरत करत छल भूरी । एहि बिधि प्रभुहि गएउ लै दूरी ।३।२७।' (ङ) 'सरीर बचावा' से सूचित किया कि बाण लग पाता तो शरीर न बचता, प्राण निकल जाते । ☞ संधाननेका अर्थ चलाना है, यह 'तकि तकि तीर महीस चलावा' से स्पष्ट कर दिया ।

पाठान्तर—† महीप । ‡ मग । ※ सँग-१६६१ ।

[बैजनाथजी लिखते हैं कि ये बाण बाणविद्याके अभिमंत्रित बाण नहीं हैं। शिकारमें पशु समझ सीधे बाण चलाए, नहीं तो वह बच न सकता। कामनामें हानिसे क्रोध और उससे मोह होता है। इसीसे पीछा किए जाता है।]

३ (क) 'प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा ।०' इति। भाव कि बहुत दूर निकल जाता है, तब फिर प्रकट हो जाता है जिसमें राजा निराश होकर चला न जाइ, और जब राजा निकट आ जाते हैं तब छिप जाता है जिसमें राजा मार न लें। पुनः भाव कि जब बाण आते देखता है तब छिप जाता है, जब बाण व्यर्थ हो जाता है तब फिर प्रकट हो जाता है। 'जाइ मृग भागा' से जनाते हैं कि राजाके आगेसे कभी कोई मृग बचता न था पर यह मृग बच बच जाता है, भागा जाता है। (ख) 'रिस बस०'—जब शिकारीको शिकार मारते नहीं मिलता तब उसे स्वभावतः क्रोध आ जाता है। पीछा करनेका कारण क्रोध है। यदि क्रोध न होता तो इतना पीछा न करते। राजा खिसियाए हुए हैं। 'रिस बस' का भाव कि मृगके पीछे सैकड़ों कोस दौड़े जाना बुद्धिमानी वा समझका काम नहीं है। क्रोधमें समझ (बुद्धि) नहीं रह जाती। उसने विचारसे काम न लिया। अनेक मृग मारे, एक न सही, यह समझ न आई। (सभी वार मेरे खाली गए, अतः इसमें कुछ रहस्य है, यह शूकर वेषमें कोई और है)।—[कामन्दकीय नीतिसारमें लिखा है कि राजाओंको मृगया खेलना, पासा खेलना, और मद्य पान करना निन्दित है क्योंकि इन्हींके कारण पाण्डवों, नल और यदुवंशियोंकी विपत्ति देखी जाती है। यथा 'मृगयाऽक्षास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम्। दृष्टास्तेभ्यस्तु विपदः पांडुनैषधवृष्णिषु ॥"—(वि० टी०)]

गएउ दूरि घन गहन-बराहू। जहँ नाहिन गज बाजि निबाहू ॥५॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू। तदपि न मृग मग तजै नरेसू ॥६॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा। भागि पैठ गिरिगुहा गँभीरा ॥७॥
अगम देखि नृप अति पछिताई। फिरेउ महाबन परेउ भुलाई ॥८॥
दोहा—खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत।
खोजत ब्याकुल सरित सर जल बिनु भएउ अचेत ॥१५७॥

शब्दार्थ—घन=घना। गहन=वन। नाहिन=नहीं। बिपुल=बहुत। मग=मार्ग, लीक, पीछा। पैठ=घुस गया, प्रवेश किया। खेद=ग्लानि, चित्तकी शिथिलता, थकावट, दुःख। खिन्न=दीन, अप्रसन्न, उदास, चिंतित। तृषित=प्यासा। अचेत=बेसुध, असावधान, मूर्छित, होशहवास ठिकाने नहीं। छुद्धित=क्षुधित=भूखा।

अर्थ—सुअर बहुत दूर घने जंगलमें जा पहुँचा, जहाँ हाथी घोड़ेका गम-गुजर नहीं ॥५॥ यद्यपि राजा बिलकुल अकेला है और मनमें बहुत क्लेश है तो भी वह शिकारका पीछा नहीं छोड़ता ॥६॥ राजाको बड़ा धीर देख सुअर भागकर पर्वतकी एक बड़ी गहरी गुफ़ामें जा बैठा ॥७॥ उसमें अपना गम-गुजर न देख राजा बहुत पछताता हुआ लौटा तो उस घोर भारी बनमें मार्ग भूल गया ॥८॥ खेदखिन्न और घोड़े सहित भूख-प्याससे व्याकुल राजा (घोड़ेको लिये हुए) नदी तालाब खोजते फिरते हैं। जलके बिना होशहवास ठिकाने नहीं रह गए ॥१५७॥

पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—यह शिकार-प्रकरण आजकलके शिकार-वर्णनोंसे मिलाइये और कविकी चित्रणकलापर दाद दीजिए! फ़िल्मकलाकी दृष्टिकोणसे राजा, घोड़े और सुअरकी प्रगतियाँ कितनी सुन्दर हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'गएउ दूरि घनगहन बराहू ।०' इति। इससे दिखाते हैं कि भानुप्रतापके भयसे कपटी मुनि कैसे घोर सघन वनमें भी कितनी दूरीपर रहता था। दूरीका प्रमाण आगे लिखते हैं—'कह मुनि

तात भयो अँधियारा। जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा।' विंध्यवनसे वराह यहाँ तक ले आया। विंध्याचलसे इतनी दूर राजाका नगर रहा होगा। (ख) 'जहं नाहिंन गज बाजि निबाहू'। तात्पर्य्य कि यहाँ तक हाथी घोड़ेका निर्वाह था अतएव यहाँ तक राजाने अनेक मृग मारे और यहाँ तक वराहको खेदते आए, अब आगे गुजर नहीं। (ग) 'अति अकेल बन बिपुल०' इति। भाव कि ऐसे घोर वनमें बहुत आदमियोंको साथ लेकर प्रवेश करना चाहिए सो राजा अकेला है, एक भी आदमी संगमें नहीं है।※ 'बिपुल कलेसू'—बहुत क्लेश यह कि कहीं घोड़ा बझ (फँस) जाता है, कहीं काँटेदार वृक्षोंसे देह छिल जाती है। (घ) 'तदपि न मृग मग तजइ नरेसू', शूकरका मार्ग (पीछा) राजा नहीं छोड़ता, इससे पाया गया कि राजा बाणविद्यामें बड़ा निपुण है, बाणसे (कंटकी वृक्षोंको) काटकाटकर मार्ग करता जाता है, नहीं तो सघन बनमें घोड़ा कैसे दौड़ता? ऊपर कह आए हैं कि 'जहं नाहिन गज बाजि निबाहू', तब निश्चय है कि राजा मार्ग बनाते जाते हैं जिससे घोड़ेका निर्वाह होता जाता है। मगका अर्थ मार्ग है, आशयसे उसका अर्थ 'पीछा' है, यथा 'किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा' अर्थात् रावण हठ करके सबके पीछे लगा यानी पीछे पड़ा, किसीका पिंड नहीं छोड़ता। पंथ और मग एक ही है। ['न तजै' का कारण 'नरेश'-शब्द देकर जना दिया। भाव कि यह राजा है, राजहठ प्रसिद्ध है, वह हठवश पीछा नहीं छोड़ता। (पंजाबीजी)]

२ (क) 'कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा' इति। तात्पर्य्य कि कालकेतु (सूकर) को यह विश्वास था कि महावनमें प्रवेश करते ही जहाँ घोड़ेका निर्वाह नहीं है राजा हमारा पीछा छोड़ देगा पर उसको धोखा हुआ, राजाने पीछा न छोड़ा। (ख) 'भागि पैठ गिरिगुहा गभीरा'।—यहीं तक राजाको ले आनेका प्रयोजन था। यह गंभीर गुफ़ा कपटीमुनिके आश्रमके पास है। पुनः, गहरी गुफ़ामें डरकर जा बैठा, यह समझकर कि वैसे राजा पीछा न छोड़ेगा, अवश्य मारेगा, मेरे प्राण ले लेगा, और यह गुफ़ा अत्यन्त अगम है इसके भीतर नहीं आ सकेगा, यथा 'अगम देखि नृप अति पछिताई।' पर मुख्य बात यही थी कि आगे भागने और राजाको ले जानेका प्रयोजन ही न था। (ग) 'अगम देखि नृप अति पछिताई।०' इति। अगम्य देखकर उसमें प्रवेश न कर सकते थे, अतएव शिकार हाथसे निकल जानेके कारण पश्चात्ताप हुआ। (पछताना यह कि सब परिश्रम व्यर्थ हुआ, शिकार भी न मिला और अब प्राणोंके लाले पड़े हैं, इत्यादि।) (घ) 'फिरेउ महाबन परेउ भुलाई' इति। लौट पड़े, उसी रास्ते। तब भूले कैसे? इससे जनाया कि प्यास के कारण रास्ता छोड़कर इधर उधर जलाशय ढूँढ़ने लगे। मार्गपर कोई जलाशय रहा होता तो न मार्ग छोड़ते न रास्ता भूलते। मार्गपर कोई जलाशय न था, इसीसे खोजने लगा जैसा दोहेसे स्पष्ट है। राजाने बुद्धिसे जलका अनुमान किया होगा, कोई जलपक्षी पास देख पड़े होंगे, जैसे श्रीहनुमान्‌जीने अनुमान किया था, यथा 'चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं। बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं। ४.२४।' अथवा जलसे भीगे कोई जीव देख पड़े होंगे उससे अनुमान हुआ कि निकट ही कहीं जलाशय है। इस तरह कपटी मुनिके आश्रममें पहुँचे। आश्रमके पास जल है ही। पुनः, भुलानेका कारण व्याकुलता है। जल बिना एवं भूख प्याससे राजा और घोड़ा दोनों व्याकुल हैं इसीसे भूल गए, यथा 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलै न जल घन गहन भुलाने। ४.२४।' पुनः साधारण वन होता तो न भूलता, यह महावन है अतः भूल गया।

३ (क) 'खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत०' इति। भूख प्यास दोनों लगी हैं। (ख) 'जल बिनु भयउ अचेत' का भाव कि भूखसे अचेत नहीं हुए, प्यासके कारण अचेत होगये। दिनभर जल

※ यदि 'मृगया कर सब साजि समाजा' के 'समाज' से यह अर्थ लें कि राजाके संगमें और लोग भी आए थे तब 'अति अकेल' का भाव होगा कि वे सब बिंध्यके वनसे छूट गए, केवल कुछ गज बाजिके सवार संगमें आए, सो वे भी महावनमें छूट गए जहाँ हाथी घोड़ेका निर्वाह न था।

पीनेका अवकाश न मिला, परिश्रम भारी पड़ा, इसीसे प्यास अधिक लगी हुई है। (मनुष्य भूख सह भी सकता है पर प्यास विना जानपर आ बनती है)। (ग) 'खोजत सरित सर'। भाव कि राजाको नदी या तालाबसेही जल मिल सकता था, बावली और कूपका एक तो वनमें मिलना असंभव दूसरे कुएँसे जल निकालते कैसे ? घोड़ेको जल कैसे पिलाते ? अतएव बापी कूपका खोजना न कहा।

नोट—राजाका चित्त शिकार हाथसे निकल जानेके कारण उदास है उसपर फिर वनके दुःख काँटे, झाड़, भूखप्यास और संध्या का समय। घोड़ा भी शिथिल है, शिकारी जानवरोंको भी शिकार निकल जानेसे दुःख होता है। भूखप्यास भी दोनोंहीको लगी है। घोड़ेकी व्याकुलतासे सवार भी बेकार हो जाता है।

फिरत बिपिन आश्रम एक देखा। तहँ बस[१] नृपति कपट मुनि बेषा ॥ १ ॥
जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई[२]। समर सेन तजि गएउ पराई ॥ २ ॥
समय प्रतापभानु कर जानी। आपन् अति असमय अनुमानी ॥ ३ ॥
गएउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहिँ नृप अभिमानी ॥ ४ ॥
रिस उर मारि रंक जिमि राजा। बिपिन बसै तापस के साजा ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कपट=नक़ली, बनावटी। आश्रम=साधुका स्थान। समय=दिन, एक़बाल, भाग्योदय, प्रतापकी प्रबलता, बढ़तीके दिन। असमय = अदिन, अभाग्यके दिन, बुरे दिन। साज=सजाव, वेष।

अर्थ—वनमें फिरते-फिरते एक आश्रम देख पड़ा। वहाँ कपटसे मुनिका वेष बनाए हुए एक राजा रहता था॥ १ ॥ जिसका देश राजा भानुप्रतापने छीन लिया था (क्योंकि) लड़ाईमें सेना छोड़कर वह भाग गया था॥ २ ॥ भानुप्रतापका समय और अपना अत्यन्त असमय समझकर॥ ३॥ उसके मनको बहुत ग्लानि हुई इससे घर न लौटा और न वह अभिमानी राजा भानुप्रतापहीसे मिला (मेल मिलाप, संधि ही की)॥ ४॥ वह राजा द्ररिद्रकी तरह मनमें क्रोधको मारकर तपस्वीके वेषमें वनमें रहने लगा॥ ५ ॥

नोट—१ 'तहँ बस नृपति कपट मुनि बेषा' कहकर फिर उसके कपट मुनिवेषसे वनमें बसनेके कारण, 'जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई' से लेकर 'बिपिन बसै तापस के साजा' तक, कहे। भानुप्रतापके भयसे ७० योजनपर, फिर अति गंभीर वनमें और उसपर भी रूप बदले हुए रहता है—इसीसे 'कपट' शब्द का प्रयोग हुआ।

पं० राजबहादुर लमगोड़ा—सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कलाके दृष्टिकोणसे यह प्रसंग विचारणीय है।

टिप्पणी—१ (क) 'फिरत बिपिन' = जलाशय खोजते फिरतेमें। 'आश्रम एक देखा' इससे सूचित हुआ कि आश्रमके आगे दूसरी तरफ़ जल है। यदि जल इधरही होता तो पहिले जल मिलता, पीछे आश्रम। मुनियोंके स्थानको आश्रम कहते हैं। राजा मुनि बना है इसीसे उसके स्थानको आश्रम कहा। (ख) 'तहँ बस नृपति कपट मुनि बेषा' इति। 'कपट मुनि' का भाव कि छल करनेके लिए मुनि बना है, वस्तुतः राजा है, यथा 'राक्षस कपट बेष तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा॥ ६.५६॥' (ग) 'जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई' का भाव कि राज्य छीन लिया था, प्राणभी ले लेता; इसीसे भागकर प्राण बचाया। (घ) 'समर सेन तजि गएउ पराई' से सूचित किया कि पहिले यह संग्राम करनेको उद्यत हुआ, सेना लेकर लड़ने चला, रही भानुप्रतापकी सेना और उसका बल यह जब उसने देखा कि बहुत भारी है तब धैर्य्य जाता रहा और सबको वहीं छोड़कर भाग गया। (ङ) ☞ यहाँ प्रथम देशका छुड़ाना कहते हैं, पीछे समरमें सेना लेकर आना और भागना। इस क्रममें तात्पर्य्य यह है कि जब भानुप्रताप देश छुड़ाने लगा तब राजा अपना देश

१ जहँ बस नृपति जती के बेषा-(रा० व० श०)। २ छोड़ाई—(रामायणीजी)।

बचानेके लिए लड़नेको तैयार हुआ पर शत्रुको बहुत प्रबल देखकर लड़ा नहीं, भाग गया।❀ [पंजाबीजी कहते हैं कि कपटी मुनिका नाम 'समरसेन' था।]

२ (क) 'समय प्रतापभानु कर जानी' इति। क्षत्रियके लिए रणसे भागना बड़ी लज्जा और दोषकी बात है; इसीपर कहते हैं कि समय भानुप्रतापके अनुकूल है, उनका भाग्य उनका प्रताप उदयपर है, इत्यादि। समयके अनुकूल बरतना नीति है। नीतिकी आज्ञा है कि समयपर राजा किसीभी प्रकारसे अपने प्राण बचा सकता है। देवता लोग तक शत्रुको प्रबल देखकर भाग जाते रहे हैं, यथा 'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई ॥ १७६.४ ॥' (ख) 'आपन अति असमय अनुमानी' इति। प्रथम भानुप्रतापका समय (अच्छे दिन) हुआ तब अन्य सब राजाओंका 'असमय' हुआ; इसीसे भानुप्रतापने सबको जीता और जीतकर देश छीन लिए। राजाने भानुप्रतापका समय देखा, अर्थात् देखा कि यह तो सातों द्वीप जीत लेगा, सर्वत्र इसका राज्य हो ही जायगा, अतएव यह तो राजा ही बना रहेगा, रहे हम सो राजासे रंक हो गए, इससे जान पड़ता है कि हमारा 'अति असमय' है, हमारे सितारे, हमारे नक्षत्र, हमारे दिन बहुत बुरे हैं। (ग) 'गएउ न गृह मन बहुत गलानी०' इति।—भाव कि राजा बहुत अभिमानी है, इसीसे उसने भानुप्रतापसे मेल न कर लिया, उनसे मिला भी नहीं। क्षत्रिय होकर रणसे भाग आया इस बातकी ग्लानि मनमें बहुत मान रहा है, इसीसे घर भी न गया कि किसीको क्या मुँह जाकर दिखाऊँ। ☞यह सोचकर कि यह भी राजा हमभी राजा, जैसे यह क्षत्रिय वैसे हम क्षत्रिय, हम इससे क्यों मिलें, क्यों इसके सामने सिर झुकावें, मिला नहीं। जो राजा भानुप्रतापके वशमें होगए और जो मिले उन्हें उसने छोड़ दिया। यह न मिला इससे इसका देश भी छीन लिया गया और ग्लानिके कारण यह घरवालोंसे भी न मिला। घर-बार भी छूटा, अतएव वनमें जाकर बसा कि वहाँ खोजनेको न आवेगा।

नोट—२ 'मिला न राजहिं नृप अभिमानी' इति। राजनीतिके चार अङ्ग हैं—साम, दाम, भय, भेद। अपनेको कमजोर देख सन्धि (मेल) कर ली जाती है। इस राजाने मेल न किया, क्योंकि यह अभिमानी है।

३ 'रिस उर मारि रंक जिमि राजा।०' इति। (क) राज्य छुड़ा लिया, राज्यसुख छूट गया, यही 'रिस' है, जैसा आगे 'समुझि राजसुख दुखित अराती। अँवा अनल इव सुलगै छाती' से स्पष्ट है। (ख) 'रिस उर मारि।' भाव कि 'रिसके मारे लोग सब काम बिगाड़ देते हैं, जूझ जाते हैं, यथा 'आवा परम क्रोध कर मारा। गरज घोर रव बारहि बारा', 'सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि करि चरन नारि समुझावा' इत्यादि, यह बात समझकर राजाने अपने क्रोधको मारा (दबाया), संग्राममें जाकर जूझा नहीं। (ग) 'रंक जिमि'—भाव कि जैसे रंक (कंगाल, दरिद्र, भिक्षुकको कोई गाली दे तो उस) से कुछ करते तो बन नहीं सकता (उसका कुछ बस नहीं चलता, वह कुछ कर नहीं सकता। वह बेचारा करे क्या लाचारीसे) मनके मन हीमें क्रोधको मार रखता है (बस चलता तो खा ही लेता), वैसे ही भानुप्रतापने जब राजाको रंक बना दिया तो वह भी मनमें क्रोध दबाए रखे है (क्रोध करे भी तो कर ही क्या सकता है ? अपनी ही हानि है; रहे-सहे प्राणोंसे भी हाथ धोना पड़े। निर्बल क्रोध करे तो मारा जाय)। (घ) 'बिपिन बसै तापस के साजा।'—भाव कि जब प्रतिष्ठित लोगोंके मानकी हानि होती है तब वे या तो मर जाते हैं या कहीं दूर चले जाते हैं। यथा 'सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरि शरणं', यह दूर चला आया। वनमें और वह भी तपस्वीके वेषमें रहता है जिसमें कोई सहसा पहिचान न सके, न ढूँढ़ सके। घने वनमें कौन आवेगा।

❀ नीति भी है कि उपद्रव, अकाल, अपनेसे बलवान शत्रुके चढ़ आनेपर, दुष्टसंग पड़ने इत्यादि अवस्थाओंमें जो भाग जाता है वह जीवित रहता है। यथा चाणक्य—'उपसर्गेऽन्यचक्रेच दुर्भिक्षे च भयावहे। असाधुजनसंपर्के पलायति स जीवति। (वि० टी०)

भानुप्रताप भारी वैरी है, वह पता पावे तो खोजकर वध करे जैसे युधिष्ठिरने दुर्योधनका पता लगाकर उसका वध कराया, यथा 'भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ ।२।२२९।', 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि। ३।२१।'

तासु समीप गवन नृप कीन्हा। यह प्रतापरबि तेहिं तब चीन्हा ॥६॥
राउ तृषित नहि सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना ॥७॥
उतरि तुरग तें कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥८॥
दोहा—भूपति तृषित बिलोकि तेहिं सरबरु दीन्ह देखाइ।
मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ ॥१५८॥

अर्थ—राजा उसके पास गया तब उसने पहचान लिया कि यह भानुप्रताप है ॥ ६ ॥ राजा प्याससे व्याकुल है (इस कारण उन्होंने) उसे न पहिचाना*। सुन्दर (मुनि) वेष देख उसे महामुनि समझे ॥७॥ घोड़ेसे उतरकर (राजाने) प्रणाम किया। (परन्तु) बड़ा चतुर है, अपना नाम न बतलाया ॥८॥ राजाको प्यासा देख उसने सरोवर दिखा दिया। राजाने घोड़ेसहित प्रसन्नतापूर्वक स्नान और जलपान किया ॥१५८॥

टिप्पणी १—(क) 'तासु समीप'। भाव कि जिसका देश भानुप्रतापने छीन लिया, जो राजासे रंक हो गया, जिसका घरबार सब छूट गया है, जो अभिमानी है, क्रोधको भीतर भरे हुए दिनरात क्रोधाग्निमें जलता रहता है और तपस्वीवेषमें छिपकर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ वनमें बैठा है, उसके पास ('तासु' का संबंध ऊपरकी 'जासु देस नृप लीन्ह छड़ाई' इत्यादि सब चौपाइयोंसे है)। (ख) 'गवन नृप कीन्हा' का भाव कि ऐसेके पास भानुप्रताप गए, अतएव इनकी अब भलाई नहीं है, यथा 'तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गए कल्यान न होई। ६२।६।' (ग) 'यह प्रतापरबि तेहि तब चीन्हा' इति। 'तब' अर्थात् जब राजा कपटी मुनिके समीप गए तब। राजाने कपटी मुनिको दूरसे ही देख लिया था। देखकर समीप चले आए कि दर्शन करें और जलाशय पूछें कि कहाँ है, कमसे कम उनके पास जल तो अवश्य मिल जायगा। जबतक समीप न गए थे तबतक उसने राजाको न पहिचाना था। (घ) 'राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। प्याससे व्याकुल हैं, यथा 'खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत। खोजत व्याकुल सरित सर जलबिनु भएउ अचेत ।१५७।'—'अचेत' है, अतः न पहिचान पाया। (ङ) 'देखि सुबेष महामुनि जाना' इति। यथा 'लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ। १।७५।' भाव कि यदि तृषासे व्याकुल न होते तो सुवेष देखकर भी महामुनि न जानते, पहिचान ही लेते।

२ (क) 'उतरि तुरग तें कीन्ह प्रनामा' इति। (देवमंदिर, तीर्थ, संतमहात्माओं इत्यादि) गुरुजनोंको देखकर सवारीसे उतरकर, (अस्त्र शस्त्र उतारकर अलग रखकर), (तब उनको) प्रणाम करना चाहिए, यथा 'उतरे राम देव सरि देखी। कीन्ह दंडवत हरषु बिसेषी। २।८७।' राजाने सुवेष देख महामुनि जाना, अतः घोड़ेसे उतरकर विधिवत् प्रणाम किया। (ख) 'परम चतुर न कहेउ निज नामा' इति। नाम न प्रकट करनेसे 'परम चतुर' कहा, यथा 'सुनु महीस असि नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप। मोहि तोहि-पर अति प्रीति सोइ चतुरता बिचारि तव। १६३।' ☞ पुनः, 'न कहेउ निज नामा' इस कथनका प्रयोजन यह है कि प्रणाम करनेके समय अपना और अपने पिताका नाम कहकर प्रणाम करना चाहिए, यथा 'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा। २६६।२।', 'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।

* 'नहिं सो पहिचाना' का अर्थ एक खर्रेमें यह मिला है कि 'सो अर्थात् जिससे पहचाना जाता था वह पहिचान नहीं है, मुनिवेष बनाए है' अतः न पहिचान सका।

पिता समेत लीन्ह निज नामू । ५३।७ ।', 'कौसलेस दसरथके जाए ।'''नाम राम लछिमन दोउ भाई ।४।२।', 'बिश्वामित्र मिले पुनि आई । पदसरोज मेले दोउ भाई ॥ रामु लषनु दसरथ के ढोटा । दीन्हि असीस देखि भल जोटा । १।२६६ ।' (भानुप्रतापने अपना नाम न बताया इसीसे अंतिम चरणमें इसके कारणकी आवश्यकता हुई । मंत्रीने इसे नीतिमें परम निपुण बना दिया था) ।

३ (क) 'भूपति तृषित बिलोकि तेहि' इति । इससे जनाया कि राजाने अपनेसे प्यासे होनेकी बात न कही । उसीने प्यासे देखकर अपनेसे ही विना पूछे कहा कि आप प्यासे जान पड़ते हैं, जाइए उस सरमें प्यास बुझा आइए । (कैसे जाना कि प्यासे हैं ? चेष्टासे । इसीसे 'बिलोकि' पद दिया) ☞तृषित देखकर जलाशय बताया, यह बड़ी चतुराई और बुद्धिमानीका काम है । वह कपटसे साधु बना है, इसीसे उसने अपनी दयाका परिचय दिया, आचरणसे साधु होना दिखाया । जिसमें राजा समझे कि हमें व्याकुल देखकर हमपर महात्माको बड़ी दया लग आई । संत दयालु होते हैं, दूसरेका दुःख देख दया लग आती है, यथा 'नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता । ३।२ ।' कपटी मुनि यही बात आगे स्वयं कहता है, यथा 'चक्रवर्त्तिके लच्छन तोरें । देखत दया लागि अति मोरें ।' (ख) 'सरवर दीन्ह देखाइ' इति । ☞साधुने सरोवर दिखा दिया । इसमें दूसरा (भीतरी कपटका) आशय यह है कि राजा कहीं पानी पीकर उधर ही उधर न चला जाय, इसीसे साथ चला गया । और ऊपरसे यह दिखा रहा है कि राजा जल विना अचेत है, अकेले सरोवर ढूँढ़नेमें क्लेश होगा, इसलिए साथ गया । यह आशय आगेकी चौपाईसे स्पष्ट है,—'निज आश्रम तापस लै गयऊ' । साथ न जाता तो 'निज आश्रम लै गयऊ' कैसे कहते ? (ग) 'मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति' इति । मृगयामें शूकरका पीछा करनेमें बड़ा परिश्रम पड़ा, दूसरे ग्रीष्मके दिन थे, गर्मीसे भी तपे हुए थे; अतएव स्नान किया और प्यससे 'अचेत' होरहे थे, अतः जलपान किया । (घ) 'हरषाइ' । जैसा जलाशय चाहिए था, वैसा ही मनके अनुकूल मिल गया, अतः हर्षपूर्वक स्नान पान किया (और घोड़ेको कराया) ।

गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ । निज आश्रम तापस लै गयऊ ॥१॥
आसन दीन्ह अस्त रबि जानी । पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥२॥
को तुम्ह कस बन फिरहु अकेलें । सुंदर जुवा जीव पर हेलें ॥३॥
चक्रवर्त्ति के लच्छन तोरें । देखत दया लागि अति मोरें ॥४॥
नाम प्रतापभानु अवनीसा । तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ॥५॥

शब्दार्थ—आसन=ऊन मूँज कुश आदिके बने हुए चौखुंटे बिछौने जो प्रायः पूजन, भोजनके समय बैठनेके काममें आते हैं । आसन देना=सत्कारार्थ बैठनेको कोई वस्तु देना, बैठाना । जुवा (युवा) =जवानी; १६ वर्षसे ३५ वर्ष तककी अवस्था । जीव = प्राण, जीवन । परहेलना (सं० प्रहेलन) = निरादर करना, पर्वा न करना, तिरस्कार करना । यथा "मैं पिउ प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिय माहिं । तेहि रिस हौं परहेली रूसेउ नागर नाह ॥" (जायसी) । अवनीश = पृथ्वीका स्वामी; राजा ।

अर्थ—सारी थकावट दूर हुई और राजा सुखी हुआ तब (वह) तपस्वी उसे अपने आश्रम पर ले गया ॥ १ ॥ सूर्यास्त-समय जानकर बैठनेको आसन दिया । फिर तापस कोमल वचन बोला ॥ २ ॥ तुम कौन हो ? वनमें कैसे अकेले फिर रहे हो ? तुम्हारी सुन्दर युवा अवस्था है । अपने जीवनका निरादर कर रहे हो अर्थात् प्राणोंकी कुछ परवा नहीं करते ॥३॥ चक्रवर्त्ती राजाओंके लक्षण तुममें देखकर मुझे बड़ी दया लगती है ॥४॥ (राजाने कहा—) हे मुनीश! सुनिए । एक भानुप्रताप नामका राजा है, मैं उसका मंत्री हूँ॥५॥

टिप्पणी १—"गै श्रम सकल सुखी नृप भएऊ' इति। स्नान करनेसे थकावट दूर होती है और सुख प्राप्त होता है, यथा 'मज्जन कीन्ह पंथश्रम गएऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भएऊ। अ० ८७।७।', 'देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा। ३।४१।', 'करि तड़ाग मज्जन जलपाना। बट तर गयेउ हृदय हरषाना। ७।६३।', 'अब जनगृह पुनीत प्रभु कीजै। मज्जनु करिअ समरश्रम छीजै। लं० ११५।' (ख) 'निज आश्रम तापस लै गएऊ', इससे पाया गया कि आश्रमसे जलाशय पृथक् कुछ दूरीपर है और यह कि तापस राजाको अपने आश्रममें ले जानेकेलिए सरोवरपर ठहरा रहा कि ये स्नानादिसे निवृत्त हो लें तब साथ लेकर जायँ नहीं तो बताकर चला आता। (ग) 'आसन दीन्ह अस्तरबि जानी'। तात्पर्य्य कि अब लौटनेका समय नहीं रह गया, ऐसे घोर वनमें रात्रिमें चलते न बनेगा, जैसा कि उसके आगेके 'निसा घोर गंभीर बन पंथ न सुनहु सुजान' इन वचनोंसे स्पष्ट है। [तपस्वीको भय हुआ कि राजा चैतन्य हुआ है, कहीं मुझे पहचान न ले इसलिये सूर्यास्तके पहिले दूर ही दूर था। बोला तक नहीं। (वि० त्रि०)। मेरी समझमें दैवयोगसे समय आदि सब उसके अनुकूल हो गये थे] (घ) 'पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी' इति। ☞ राजा भूखे प्यासे थे, यथा 'खेद खिन्न छुद्धित तृषित राजा बाजि समेत'। उनको सरोवर बताकर उनकी प्यास शान्त की, आश्रममें ले गया, आसन दिया, छुधा शान्त करनेकेलिए कंद मूल फल दिए, घोड़े को घास दी, इत्यादि। सब बातोंके कथनका प्रसंगमें कोई प्रयोजन न था, इसीसे ग्रंथकारने नहीं लिखा। मृदु वाणी बोला क्योंकि संत मृदु वाणी बोलते हैं और खल तो कठोर ही बोलते हैं— ('बचन बज्र जेहि सदा पिआरा'), खल मृदुवाणी जब बोलते हैं तब केवल छलनेके लिए, यथा 'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा। ७।३६।' तपस्वीमें दोनों बातें हैं। वह संत बना है और खल तो है ही। अतएव 'मृदु' वचन बोला (अपनेको संत जनाने और भीतरसे राजाके साथ छल करनेकी घातमें है। क्योंकि उसे अपना कार्य्य साधना है, राजासे दाँव लेना है।)

नोट—१ 'आसन दीन्ह' और 'पुनि तापस बोला' से अनुमान होता है कि आसन देनेपर भी राजा तुरत बैठा नहीं, तब यह समझकर कि राजाकी तुरत चले जानेकी इच्छा है, उन्हें रोक रखनेकेलिए बातें छेड़ दीं। सूर्य्यास्तका समय है ही, कुछ और समय बीत जाय तो फिर राजा सहजही रुक जायगा।

२—कुछ महानुभावोंका मत है कि 'अस्तरबि' शब्द यहाँ साभिप्राय है। तपस्वी सोचता है कि प्रतापरूपी भानु जो उदित था उसके अस्तका समय अब आ गया। ऐसा समझकर वह इस तरहकी बातें कर रहा है। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ (क) 'को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले ।०' इति। ☞ ये बातें उस समय पूछने की थीं जब प्रथम भेंट हुई पर उस समय उसने न पूछा क्योंकि राजा प्याससे व्याकुल थे। जब राजा जल पानकर सुखी हुए तब यह प्रश्न किए। इससे कपटी मुनिकी बुद्धिमत्ता प्रकट होती है। (ख) कपटी मुनि राजाको पहिचानता है, यथा 'यह प्रतापरबि तेहि तब चीन्हा' और अनजान बनकर पूछता है। इसका कारण यह है कि अभी भानुप्रतापका नाम बतानेका मौक़ा नहीं है यदि अभी कपटीमुनि उनका नाम बतादे तो उनके मनमें संदेह उत्पन्न होजायगा कि यह कोई जानपहिचानका आदमी है, छल न करे। धीरे धीरे जब राजाकी प्रतीति और प्रीति अपनेमें हो जायगी तब अपनी सिद्धाई दिखानेके लिए भानुप्रताप और उनके पिताका नाम बतावेगा। जल्दी करनेसे काम बिगड़ जाता है; अतएव उसने क्रमसे राजाको अपने वशमें किया। (ग) 'बन फिरहु अकेले' और 'सुंदर जुवा जीव परहेले' का भाव कि तुम तो दिव्य महलोंमें रहने योग्य हो, वनमें फिरने योग्य नहीं हो। तुम्हारे हजारों सेवक, सिपाही, सेना रहना चाहिए तब आश्चर्य्य है कि तुम अकेले हो। यह कैसे जाना ? उसका समाधान स्वयं आगे करता है कि 'चक्रवर्त्ति के लच्छन तोरें'। सुंदर शरीर है, युवावस्था है तब भी प्राणोंका अनादर करते हो, हथेली पर प्राणोंको लिए

वनमें फिरते हो। भाव कि सुंदर जवान पुरुष ऐसा कभी नहीं करते। [पुनः भाव कि 'अभी तुम युवा हो, वानप्रस्थकी अवस्था नहीं, तब तुम अकेले महावनमें कैसे आए? क्या किसी संकटमें फँस गये हो?' जिसके भयसे तापस बनकर यहाँ रहता था वह यहाँ स्वयं आ पहुँचा, अतः उसके आनेका अभिप्राय तथा उसकी परिस्थिति जाननेके लिये प्रश्न करता है। (वि० त्रि०)]

नोट—३ प्राणोंकी तुम्हें पर्वा नहीं? ऐसा पूछनेका कारण बताते हैं कि सामुद्रिकसे तुम्हारे चक्रवर्ती राजाके लक्षण पाए जाते हैं। राजाका अकेले वनमें फिरना उचित नहीं, न जाने कब क्या आपत्ति आ पड़े। राजाके भलेमें सबका भला है, उसके सुखसे प्रजा सुखी रहती है। इसीसे दया लगना कहा।

टिप्पणी—३ (क) 'चक्रवर्त्ति के लच्छन तोरें' इति। (इससे जनाया कि सामुद्रिक शास्त्रका भारी ज्ञाता है)। लक्षण अंगमें होते हैं, अंग देखकर कहे जाते हैं, यथा 'राजलछन सब अंग तुम्हारे'। अतः यह जाना गया कि अंग देखकर चक्रवर्त्तिके लक्षण होना कहता है। इसीसे कहा कि 'देखत दया लागि'। (ख) 'दया लागि' कहा क्योंकि दया लगना संतका धर्म है, यथा 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया'। 'अति दया लगी' कहनेका भाव कि हमारी दया तो सभी जीवोंपर रहती है पर तुम्हारे ऊपर अत्यन्त दया लग आई। तात्पर्य्य कि तुम्हारे अंगोंमें चक्रवर्त्तीके लक्षण हैं, जिससे निश्चय है कि तुम सब जीवोंके रक्षक हो, तुम्हारे सुखसे सभी जीवोंको सुख है और तुम्हारे दुःखसे सभीको दुःख हुआ चाहे। ☞दयाका स्वरूप पूर्व दिखा आए हैं कि तृषित देखकर सरोवर बताने गया, आश्रमपर ले आया, आसन दिया, यह सब 'अति दया' है। पुनः 'अति' का दूसरा भाव कि सामान्य क्लेशमें सामान्य दया होती है और भारी पुरुषको भारी क्लेशमें देखा। अतः 'अति दया' हुई।

नोट—४ सामुद्रिकमें चक्रवर्तीके लक्षण इस प्रकार हैं। यथा 'केशाग्रं वृषणं जानु समं यस्य स भूपतिः। ऊरुश्च मणिबंधश्च मुष्टिश्च नृपतेः स्थिरा ॥ नाभ्यंतःकुक्षिवक्षोभिरुन्नतैः क्षितिपो भवेत्। भ्रुवौ नासापुटे नेत्रे कर्णावोष्ठौ च चूचकौ ॥ कूर्परौ मणिबंधौच जानुनी वृषणौ कटिः। करौ पादौ स्फिचौ यस्य समौ ज्ञेयः स भूपतिः।'—सामुद्रिक

टिप्पणी—४ 'नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव।०' इति। (क) राजा नीतिविरुद्ध नहीं करता। नाम बताना नीतिविरुद्ध है, इसीसे नाम नहीं बताया। जैसे प्रथम प्रणाम करनेपर नाम न बताया था—'परम चतुर न कहेउ निज नामा।' वैसे ही अब भी न बताया। (ख) तापसने चक्रवर्त्तीके लक्षण कहे सो भी घटित होने चाहिएँ, क्योंकि महात्माका वचन मिथ्या नहीं है (जो उसने कहा सो ठीक ही है,) अतएव अपनेको राजाका मंत्री बताया। मंत्री राजाके समान होता है, जो लक्षण राजामें होते हैं वे मंत्रीमें भी होते हैं। (ग) तापसने चक्रवर्त्तीके लक्षण कहे और इस समय भानुप्रताप चक्रवर्त्ती राजा है। इसीसे राजाने अपनेको भानुप्रतापका मंत्री बताया (नहीं तो और किसी राजाका नाम ले लेते)। (घ) राजाने कपटी तापसको महामुनि जाना, यथा 'देखि सुबेष महामुनि जाना'। इसीसे 'सुनहु मुनीसा' अर्थात् मुनीश संबोधन किया। (ङ) तापसके 'को तुम्ह' इस प्रश्नका उत्तर इस अर्धालीमें समाप्त हुआ। 'कस बन फिरहु अकेले' का उत्तर आगे देते हैं। [तापसने चक्रवर्त्तीके लक्षण बताए, इससे राजाने समझा कि ये कोई बड़े भारी मुनि हैं। इसीसे इन्होंने जान लिया। अतः राजाने विचारा कि इन्हें युक्तिसे उत्तर देना चाहिए कि अपना नाम भी प्रकट न हो और मुनिको संदेह भी न हो। अतः अपनेको चक्रवर्त्तीका मंत्री बताया। अपनेको छिपानेके लिए राजा अपनेको मंत्री बताता है। अतएव यहाँ 'व्याजोक्ति' अलंकार है।—'कछु मिस करि कछु और बिधि कहै दुरैकै रूप। सबै सुकबि व्याजोक्ति तेहि भूषण कहैं अनूप॥' अर्थात् किसी खुलती हुई बात-को छिपानेकी इच्छासे कोई बहानेकी बात विना निषेधके द्वारा कही जाय।]

फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़ें भाग देखेउँ पद आई॥ ६॥
हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा। जानत हौं कछु भल होनिहारा॥ ७॥

कह मुनि तात भयउ अँधियारा । जोजन सत्तरि नगरु तुम्हारा ॥ ८ ॥

दोहा—निसा घोर गंभीर बन पंथ न सुनहु[1] सुजान ।
बसहु आजु अस जानि तुम्ह जाएहु होत बिहान ॥
तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलै सहाइ ।
आपुनु[2] आवै ताहि पहिँ ताहि तहाँ लै जाइ ॥ १५९ ॥

शब्दार्थ—अहेर = शिकार । अहेरें = शिकारमें । वह जीव जिसका शिकार किया जाय उसे भी 'अहेर' कहते हैं । बिहान=सवेरा । आपुनु=आपही; स्वयं । यथा 'आपुनु चलेउ गदा कर लीन्हीं ॥१८२.४॥'

अर्थ—शिकारके पीछे फिरते हुए भूल पड़ा हूँ, बड़े भाग्यसे (यहाँ) आकर (आपके) चरणोंका दर्शन पाया ॥ ६ ॥ हमें आपका दर्शन दुर्लभ है, मैं समझता हूँ कि कुछ भला होनेवाला है ॥ ७ ॥ मुनिने कहा—हे तात ! अँधेरा हो गया, (यहाँसे) तुम्हारा नगर ७० योजनपर है ॥ ८ ॥ हे सुजान ! सुनो, रात भयंकर अँधेरी है, वन घना और गहरा है, उसमें रास्ता नहीं है । ऐसा जानकर तुम आज यहीं रहो, सवेरा होते ही चले जाना । तुलसीदासजी कहते हैं कि जैसी भवितव्यता (हरिइच्छा, होनेवाली) होती है वैसी ही सहायता मिल जाती है । वह भावी आप ही उसके पास आ जाती है और (आकर) उसको वहीं ले जाती है (जहाँ सहाय करनेवाला है) ॥ १५६ ॥

टिप्पणी १—'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई ।०' इति । (क) ☞कपटी मुनिके प्रश्नका तात्पर्य यह अभिप्राय लेनेका है कि राजा यहाँ अपनी ओरसे आया है कि कालकेतुके भुलानेसे आया है । यदि कालकेतुके भुलानेसे आया है, वही इनको ले आया है तब तो सब काम बन गया, राजाको छलनेका पूर्ण योग लग गया (क्योंकि जो कुछ मैं अपनी सिद्धाई कहूँगा वह कालकेतु जो अभी आता ही होगा, अपनी मायासे सच्ची कर देगा । और यदि यह अपनेसे ही भटककर आ गया है तब तो इसको रोक रखना व्यर्थ ही होगा, क्योंकि कालकेतुका कौन ठिकाना कि आवे या न आवे) । तापस पूछता है 'कस बन फिरहु अकेले ?' राजा उसका उत्तर देते हैं कि 'फिरत अहेरें०', किसी संकटसे विवश होकर यहाँ नहीं आया, किन्तु शिकार करते-फिरते थे, वनमें भुला गए । इस उत्तरसे कपटी मुनिको निश्चय हो गया कि कालकेतु भुला लाया है क्योंकि उसने इससे क़रार किया था कि मैं किसी दिन राजाको शिकारमें भुलाकर तुम्हारे पास ले आऊँगा, पीछेसे मैं भी आऊँगा तुम सब बात कह रखना । इसीसे अब वह राजासे रातमें यहीं टिक जानेको कहता है । (ख) 'बड़ेभाग देखेउँ पद आई', यथा 'बड़े भाग पाइअ सतसंगा' । ['दया लागि' की जोड़में यहाँ 'बड़े भाग' कहा । यहाँ 'अनुज्ञा अलंकार' है । वनमें भूलना दोष है, दुःख है, उसे मुनिदर्शनसे भाग्य मान लिया ।]

२—'हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा०' । भाव कि जिसका दर्शन खोजनेपर भी नहीं मिल सकता वह रास्ता भुला जानेसे मिल जाय तो जानना चाहिए कि भला होनेवाला है और बड़ी भाग्य है । क्योंकि बड़े ही भाग्यसे अलभ्य लाभ होता है । भूतकालमें पुण्य अच्छा रहा तो वर्तमानकालमें संतदर्शन हुआ, यथा 'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता' । संत मिले इससे आगे होनहार अच्छा है अर्थात् भविष्य भी अच्छा हो जायगा । (पुनः भाव कि हम नगरके रहनेवाले और राजस तामस वृत्तिके और आप वनमें सात्विकवृत्तिसे रहनेवाले, तब भला हमें आपका दर्शन कैसे मिल सकता ?) ।

१ सूझ—(छ०) । २ 'आपुनु' 'ताहि लिआवहि ताहि पहिं'—(छ०) । ऐसा भी अर्थ होता है—'या तो वह आप ही उसके पास आती है या उसीको वहाँ ले जाती है ।' विशेष टिप्पणी ५ देखिये । (प्र० सं०) ।

प० प० प्र०—यद्यपि भानुप्रताप निष्काम और ईश्वरार्पण करके सब धर्म कर्म करता था, तो भी उसके चित्तमें ऐश्वर्य-भोग-कामना सुप्तावस्थामें थी, यह कविकुलचूड़ामणिने बड़ी गूढ़ युक्तिसे यहाँ जनाया है। वह प्रसुप्त कामना राजस-तामस-संस्कार बलिष्ठ स्थानमें प्रवेश करनेपर और उस कपट-मुनिके कुसंस्कारों के प्रभावसे जागृत हो गई।

'फिरत अहेरे परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई। हम कहँ दुर्लभ दरस तुम्हारा।' यहाँतक जो राजाने कहा वह उचित ही है। पर 'जानत हौं कछु भल होनिहारा' उसके इस वाक्यसे उसके हृदयकी गुप्त वासना कुछ अंशमें प्रकट हो रही है। अखिल विश्वका सम्राट् है। जो कुछ चाहिए सब प्राप्त है। 'अर्थ धर्म कामादि सुख सेवै समय नरेसु'। प्रजा भी सब प्रकार सुखी है। कुछ भी दुःख नहीं है। तब भला कौनसा भला होनेको शेष था जिसके लिये उसने 'जानत हौं कछु भल होनिहारा' ऐसी आशा प्रकट की। राजामें भगवद्भक्तिका न तो लवलेश है और न भगवद्भक्तिकी रुचि ही है, इसीसे तो धर्मरुचि स्वयं भक्ति-प्रिय होता हुआ भी राजाको केवल राजनीति ही सिखाता रहा। रावण होनेपर भी यही देखनेमें आता है। विभीषणजीने जब केवल राजनीतिका उपदेश दिया तब उसका आदर किया है, पर जब रामभक्तिका उपदेश देने लगा तब क्या हुआ यह सुन्दरकांडमें प्रकट है।

टिप्पणी—३ 'कह मुनि तात भएउ अँधियारा०' इति। (क) ☞सूर्य्यास्त होनेपर आसन दिया, यथा 'आसन दीन्ह अस्त रबि जानी'। इतनी वार्ता होते-होते अँधेरा हो गया। इससे निश्चय हुआ कि कृष्णपक्षकी रात्रि थी और समस्त रात्रि अँधियारी रात थी, इसीसे आगे दोहेमें निशाको घोर कह रहा है। (अमा-वस्याको तांत्रिक छलके प्रयोग भी किये जाते हैं। अतएव मुनिको प्रयोगका योग भी अच्छा मिल गया।) सूर्य्यास्तसे बातें करनी शुरू कीं और इतनी देरतक बातोंमें लगाए रहा कि अँधेरा हो गया, यही बातोंमें लगानेका मुख्य उद्देश्य था। (ख) ☞राजाका घोड़ा केकय देशसे विंध्यतक दो ही पहरमें गया और लौट आया, यथा 'कानन गएउ बाजि चढ़ि तेही। पुरनरनारि न जानेउ केही॥ गए जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा।' इस हिसाबसे कैकयदेशसे विंध्यतक केवल एक पहरका रास्ता राजाके घोड़ेका निश्चित हुआ। पहरभर दिन चढ़ेतक शिकार खेला, तीन पहरतक भारी दौड़ लगाई, तब कपटी मुनिके पास पहुँचे। इतना बीच (फ़ासला) विंध्यसे महावन तकका है। (ग) 'तात' कपटी मुनि राजापर छोह करके रात्रिमें टिकनेको कहता है, इसीसे छोहके प्रकरणमें वत्स, बालक वा पुत्रभावसे 'तात' संबोधन करता है। (घ) 'जानत हौं कछु भल होनिहारा' इन वचनोंसे कपटी मुनि ताड़ गया कि राजा मुझे महामुनि समझकर कुछ लाभकी आशा-पाशमें बँध रहा है, अतः अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये वह उसे रोकनेके लिये ये वचन कह रहा है।

४ 'निसा घोर गंभीर बन पंथ न सुनहु सुजान।०' इति। (क) ☞तापस यहाँ देश, काल और वस्तु तीनोंकी कठिनता दिखाता है। देश दूर है, ७० योजन है। निशा घोर है अर्थात् काल भयानक है। वन गंभीर है अर्थात् वस्तु अगम है। (ख) 'बसहु आजु' अर्थात् ऐसा जानकर आज यहीं निवास करो। इस कथनसे पाया जाता है कि राजा अब भी जानेको तैयार हैं, आसन अभीतक ग्रहण नहीं किया है, घोड़ा लिए खड़ा है। निशा घोर है, देख नहीं पड़ता। इसपर यदि राजा कहना चाहे कि हम घोड़ेपर सवार हैं, अंधेरेका कोई भय नहीं, उसीपर प्रथमसे ही कहता है कि 'बन गंभीर' है, घोड़ा निबह नहीं सकता। इसपर यदि वह कहे कि घोड़ा इस रास्तेसे निकल जायगा उसपर कहता है कि 'पंथ न'। 'कह मुनि तात भएउ अँधियारा' के संबंधसे 'निशा' को 'घोर' कहा। 'जहँ नाहिंन गज बाजि निबाहू' के संबंधसे 'गँभीर बन' कहा। और 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई' के संबंधसे 'पंथ न' (अर्थात् भूल जानेका डर है) कहा। (ग) 'सुजान' का भाव कि तुम जानते हो कि रात्रिमें चलना मना है। (घ) 'जायेहु होत बिहान' इति।

ठहरानेसे राजा ठहरनेको कहते हैं इसीसे कपटी मुनि कहता है कि जल्दी चले जाना, सवेरा होते ही चले जाइयो। (नोट—यह भी राज़ी करनेकी चाल है कि हम रोकते थोड़े ही हैं, तुम्हारे भलेको कहते हैं, सवेरा होते ही चल देना)।

५ 'तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलै सहाइ।०' इति। (क) 'जसि भवतव्यता' का भाव कि ऐसे धर्मात्मा राजाको भला ऐसा विघ्न होना चाहिए? न होना चाहिए। भावीवश ऐसा हुआ। किसी पूर्वले जन्मका भारी पाप उदय हुआ। (ख) 'मिलै सहाइ'। भाव कि भवितव्यताका कोई रूप नहीं है, वह 'सहायक' के द्वारा काम करती है। जैसी भावी है वैसी ही 'सहाय' मिलती है अर्थात् भवितव्यता अच्छी होती है तब अच्छी और बुरी होती है तब बुरी 'सहाय' मिलती है। (ग) 'आपुनु आवै ताहि पै' अर्थात् वह भावीके वश आप ही सहायके पास आता है जैसा यहाँ हुआ। भावीवश राजा सहायके पास आया। राजाका भवितव्य है कि उसका तन, धन, राज्य सभी कुछ नष्ट हो जाय, वैसा ही उस भावीको सहाय मिल गया—कपटी मुनि। शीघ्र ही नाश कर डाला। (घ) 'ताहि तहाँ लै जाइ' अर्थात् (या तो वैसा होता है, वैसा न हुआ तो यह होता है कि) भावी सहायको उसके पास ले जाती है। उत्तरार्द्ध 'आपुनु आवै···लै जाइ' का भाव यह है कि जिस तरह उसका काम बने वही वह करती है। ☞दूसरी प्रकार इस तरह भी अर्थ हो सकता है कि 'होनहारवालेके पास भावी आप ही आती है और आकर उसको वहीं ले जाती है जहाँ सहाय करने-वाला है'। भाव कि भावी प्रथम सहाय तैयार करती है, फिर जीवके पास आती है और उसे सहायके पास ले जाती है। यह अर्थ समीचीन है। [खर्रेमें लिखा है कि "उस प्राणीका भोग यदि वहीं हुआ तो भावी उसके पास आकर उसी जगह भोग भोगाती है और यदि उसका भोग बाहर हुआ तो उसको वहीं ले जाकर भोगाती है। 'सहाइ' = संयोग। विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'आपुन आवै०' यह कथन नीति-शास्त्रके अनुसार है। जैसे—"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोपि तादृशः। सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता॥" अर्थात् वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसा ही उद्योग लग जाता है और सहायता भी वैसी ही मिल जाती है जैसी होनहार होती है]

श्रीलमगोड़ाजी—कविकी उपस्थिति कितनी आवश्यक है? परन्तु यह विचारणीय है कि किस संक्षिप्तरूपमें वह घटनाके रहस्यपर आलोचना करके प्रकाश डालता है?

नोट-१ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि यह सम्मत तो याज्ञवल्क्यका है पर ग्रंथकार सबका सिद्धान्त कहते हैं; इसलिए यहाँ उन्होंने अपना नाम रख दिया है। वैसी ही सहाय मिलती है अर्थात् उसीके योग्य काम करनेवाले मिल जाते हैं। 'आपुनु आवइ।०' अर्थात् जिस शत्रुके हाथ बुराई होना है उसके पास वह भावीवश आप ही पहुँच जाता है, जैसे, कपटी मुनिके पास राजा पहुँच गया। अथवा 'ताहि तहाँ०' अर्थात् जहाँ बुराई होनेवाली है तहाँ बुराई करनेवाले शत्रुको ले जाती है जैसे कालकेतु राक्षस सूकर रूपसे भानुप्रतापके पास पहुँचा और भुलाकर वनमें ले आया। आगेके लिए भी यही सहाय मिले जो राजाके यहाँ जाकर उसका नाश करायेंगे।

वि० त्रि० इस प्रकार अर्थ करते हैं—'राजा मृगयाको जाता है। वहाँ कालकेतु सूकर बनकर (भवि-तव्यताका सहाय होकर) आता है और राजाको ले जाकर कपटी मुनि तक पहुँचा देता है, जहाँ राजा स्वयं कपटी मुनिका शिकार हो जाता है।'

श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ भवितव्यता प्रारब्ध नहीं है, केवल प्रभुकी इच्छा है; क्योंकि राजा 'प्रतापी' नामक सखा है जो प्रभुकी आज्ञासे राजा हुआ।

नोट—२ 'आपु न आवइ' पाठ अशुद्ध है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि लोग घरमें बैठे बैठे मर जाते हैं, कहीं साँपने डस लिया, कहीं छत गिर पड़ी उससे दबकर मर गए, यही भाव 'आपुनु आवइ' का है। यह सम्मत लाला भगवान्दीनजीका भी है। इसमें 'विकल्प अलंकार' है।

भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा । बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा ॥१॥
नृप बहु भांति प्रसंसेउ ताही । चरन बंदि[1] निज भाग्य सराही ॥२॥
पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई । जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई ॥३॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी । नाथ नाम निज कहहु बखानी ॥४॥

अर्थ—'बहुत अच्छा, स्वामी !' राजा (ऐसा कहकर) आज्ञाको सिरपर धरकर घोड़ेको पेड़में बाँधकर आ बैठा ॥१॥ राजाने उसकी बहुत प्रकारसे प्रशंसा की और चरणोंको प्रणाम करके अपने भाग्यको सराहा ॥२॥ फिर सुंदर कोमल वचन बोले—हे प्रभो ! पिता जानकर मैं ढिठाई करता हूँ ॥३॥ हे मुनीश्वर ! हे नाथ ! मुझे अपना पुत्र और सेवक जानकर अपना नाम बखान कर कहिए ॥४॥

टिप्पणी –१ (क) 'भलेहि नाथ' । भाव कि आपने बहुत अच्छा कहा, ऐसी घोर रात्रिमें चलना अच्छा नहीं है । (ख) 'आयसु धरि सीसा' । भाव कि महात्माकी आज्ञा बड़ी प्रसन्नतासे मानी । बड़ोंकी आज्ञा माननेमें ऐसा ही कहा जाता है, यथा 'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा । परम धरम यह नाथ हमारा ।' (ग) 'बैठ महीसा' से सूचित किया कि अभीतक राजा (घोड़ेकी बागडोर थामे) खड़े-खड़े बातें करता रहा था । चलनेपर उद्यत था, अब घोड़ा बाँधकर बैठा । (घ) 'नृप बहु भांति प्रसंसेउ ताही' । हमारे बड़े पुण्य हैं, बड़ी भाग्य है कि आपके चरणोंका दर्शन हुआ इत्यादि जैसे पूर्व कहा था कि 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई । बड़े भाग देखेउँ पद आई' । पुनः, तापसने राजाको प्याससे व्याकुल देख सरोवर बताया, आश्रमपर ले आया, घोर रात्रिमें वनमें न जाने दिया, तथा यह देखकर कि यह ऐसे घोर वनमें बसे हैं, राजाने इस कपटीको पूर्ण सन्त समझा; अतएव संत समझकर सन्तलक्षण कह-कहकर प्रशंसा की । 'बिषय अलंपट सील गुनाकर । पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥ सम अभूतरिपु बिमद बिरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ॥ कोमल चित दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥ सबहि मानप्रद आपु अमानी ।७।३८ ।' इत्यादि संत लक्षण एक एक करके उनमें कहने लगे, यही बहुत भांतिकी प्रशंसा है । (पूर्व जो कहा था कि 'बड़े भाग देखेउँ पद आई', उसीके संबंधसे यहाँ चरणोंको प्रणाम कर भाग्यकी सराहना करना कहा) ।

२—'पुनि बोलेउ मृदु गिरा सुहाई ।०' इति । (क) कपटमुनिकी वाणीको मृदु कहा था, यथा 'पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी' । उसकी वाणीको 'सुहाई' विशेषण न दिया था क्योंकि वह छलयुक्त है । राजाकी वाणीको 'मृदु' और 'सुहाई' दोनों विशेषण देकर जनाया कि इनकी वाणी कोमल और निश्छल है । (ख) 'जानि पिता', पिता जाननेका भाव कि पिता शरीरकी रक्षा करता है—'पातीति पिता' । आपने जल देकर शरीरकी रक्षा की, प्राण बचाए और शरीरकी रक्षाके लिए ही रात्रिको वनमें न जाने दिया । (कपटीने राजाको 'तात' अर्थात् वत्स, पुत्र कहा था, यथा 'कह मुनि तात भएउ अँधियारा ।', 'तात' शब्द प्यारमें पुत्र, पिता, भ्राता सभीके लिये प्रयुक्त होता है । मुनिके संबंधसे यहाँ 'तात' से 'पुत्र' का ही अर्थ लिया जा सकता है । उसी संबंधसे राजाने 'जानि पिता' कहा) । (ग) 'करौं ढिठाई' । भाव कि महात्माओंसे धृष्टता न करनी चाहिए (मैं जो धृष्टता करता हूँ वह पिता जानकर, आपका वात्सल्य अपने ऊपर देखकर करता हूँ । माता पितासे बालक ढीठ होता ही है, यथा 'हौं माचल लै छाड़िहौं जेहि लागि अरयो हौं', 'मेरे माय बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरयो ।' इति विनये) । (घ) 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी' अर्थात् मैं आपको अपना पिता जानता-मानता हूँ ,—'जानि पिता०', आप मुझे अपना आज्ञाकारी पुत्र जानिये । नाम पूछनेके लिये पुत्र और सेवक बने क्योंकि महात्माओंको अपना नाम बतानेमें संकोच होता है,—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ।'; इसीसे प्रार्थना करके पूछते हैं ।

[1] बंद्य—१६६१ ।

वहाँ कोई और है नहीं, यदि होता तो उससे पूछ लेते, अतएव मुनिसे ही पूछते हैं। (ङ) 'नाथ नाम निज कहहु बखानी'। सेवकका धर्म है कि अपने स्वामीका नाम जाने, और पुत्रको पिताका नाम जानना चाहिए, अतः नाम पूछनेकी आवश्यकता हुई।

नोट—वैजनाथजी लिखते हैं कि 'बखानी' का भाव यह है कि जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा आदि के जो नाम हों सो कहिए। राजा जन्म संस्कार आदि सब हाल जानना चाहता है।

तेहि न जान नृप नृपहि सो जाना। भूप सुहृद सो कपट सयाना ॥५॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा ॥६॥
समुझि राजसुख दुखित अराती। अवा अनल इव सुलगै छाती ॥७॥
सरल बचन नृप के सुनि काना। बयर सँभारि हृदय हरषाना ॥८॥
दोहा—कपट बोरि बानी मृदुल बोलेउ जुगुति समेत।
नाम हमार भिखारि‡ अब निर्द्धन रहित निकेत ॥१६०॥

शब्दार्थ—सुहृद=निश्छल, शुद्ध हृदयवाला। अराती (अराति)। रातना=अनुरक्त होना, मन लगना। यथा 'जिन्हकर मन इन्ह सन नहिं राता'। अराति=न अनुरक्त होनेवाला=शत्रु। सुलगै=जलती है; भभकती है। सरल=सीधे-सादे, कपट-छल-रहित; स्वाभाविक; भोले भाले।

अर्थ—राजाने उसको न पहचाना, उसने राजाको पहचान लिया। राजाका हृदय निश्छल है और वह कपटमें प्रवीण है॥ ५॥ एक तो वह शत्रु, फिर जातिका क्षत्री, उसपर भी राजा; (अतः वह) छल बलसे अपना काम निकालना चाहता है॥ ६॥ वह शत्रु राज्य सुखको सोचकर दुःखी है, उसकी छाती कुम्हारके आवाँ (भट्टी) की आगकी तरह (भीतर ही भीतर) सुलग रही है॥७॥ राजाके सीधे सादे वचन कानोंसे सुनकर अपने बैरका स्मरण करके वह हृदयमें हर्षित हुआ॥ ८॥ कपटरूपी जलमें डुबाकर वह युक्ति समेत कोमल वाणी बोला कि अब तो हमारा नाम भिखारी है और हम धन-धाम-रहित हैं (वा, भिखारी निर्धन, रहित-निकेत हैं)। १६०।

नोट—१ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यासकलाका लुत्फ देखिये। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि न जान नृप'। पूर्व कपटी मुनिको न पहचाननेका कारण यह बतलाया था कि राजा भूखप्याससे व्याकुल था, यथा 'राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना। १५८।७।' राजा स्नान जलपान कर अब सचेत हुए और अब समीप ही बैठे हैं, अतः अब तो पहचानना चाहिए था पर राजाने न पहचाना इसीसे उसका दूसरा कारण लिखते हैं, वह यह कि भूप सुहृद है। (ख) 'भूप सुहृद सो कपट सयाना' अर्थात् राजाका हृदय सुंदर है, निष्कपट है और मुनि कपटमें चतुर है; इसीसे न पहचाना, यथा 'सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ। २।१६२।' [यह (सरलता, सुशीलता और धर्मपरायणता) ही सुहृदताके लक्षण हैं] पुनः, यथा 'नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिय आपु समान।२।२२७' जो सुहृद होते हैं वे दूसरोंको भी वैसा ही समझते हैं। ['कपट सयाना' से स्पष्ट कर दिया कि पूर्व जितनी बातें उसने कीं, वह सब कपटमय थीं, स्वार्थसाधानार्थ थीं] (ग) 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा' इति। तात्पर्य्य कि ये सब एकसे एक कठिन होते हैं, ये तीनों छलबलसे अपना काम निकालनेकी सदा इच्छा रखते हैं। [पुनः भाव कि इनमेंसे एक भी होना छलबलसे काम करनेकेलिए पर्याप्त था पर यहाँ तो तीनों गुण एकहीमें मौजूद हैं।] विशेष आगे नोट २ में देखिए।

‡—१६६१ में 'भिखारी' पाठ है।

(घ) 'छल बल कीन्ह चहै निज काजा' इति। कपटी मुनिने ठीक ऐसा ही किया। प्रथम छल किया कि कालकेतु सुअर बनकर छल कर राजाको यहाँ ले आया और इसने ऊपरसे दया, कोमलता दिखाकर राजाको धोखेमें डालकर उनके नाशका उपाय रचना प्रारंभ किया, पीछे बलका प्रयोग किया। यथा 'तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाए। सजि सजि सेन भूप सब धाए'। स्वयं भी संग्राम किया और राजाको मारा। पुनः भाव कि तापस राजा है इससे उसने छल किया। राजाकेलिए छल करनेकी आज्ञा नीतिमें लिखी है। क्षत्रिय है इसीसे बल किया और बैरी है इसीसे अपना 'काज' किया अर्थात् राजाको मारकर राज्य लिया। पुनः 'छल बल' तीनोंमें लगा सकते हैं, तीनोंही छल बल करते हैं। (ङ) 'कीन्ह चहै निज काजा' का भाव कि राजाने तो उसे पिता बनाया, आप सुत सेवक बना तब तो 'तापस' को ऐसा छल न करना चाहिए था; इसीपर कहते हैं कि बैरी, क्षत्रिय और राजा इन तीनोंका हृदय कठोर होता है, यथा महाभारते 'नवनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निशितस्तीक्ष्णधारः। तदुभयमेतद्विपरीतं क्षत्रियस्य वाङ्नवनीतं हृदयं तीक्ष्णधारम्। १-३-१२३।' अर्थात् ब्राह्मणका हृदय मक्खनके समान कोमल होता है और वाणी छुरे की तीक्ष्ण धार है। क्षत्रियका इसके विपरीत होता है। क्षत्रियकी वाणी मक्खनसमान और हृदय तीक्ष्णधारवाला अर्थात् वज्र समान कठोर होता है। ये (बाप, बेटा, भाई, स्वामी, सेवक) कुछ भी नाता नहीं मानते, सदा अपना काम छलबलसे निकालते हैं, यह उनका सहज स्वभाव है

नोट—२ प्रथम कहा कि 'कपटमें सयाना' है अर्थात् कपट भी ऐसा करता है कि कोई भाँप न सके, जानना तो दूर रहा। फिर 'सयाना' होनेका कारण बताया—'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा'। इसमें तीनों सयाने एकत्र हो गए हैं। यहाँ 'द्वितीय समुच्चय' अलंकार है। बैरी सदा शत्रु की घातमें रहता हैं, यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ। २।२२९।', 'रिपु पर कृपा परम कदराई। आ० १९।' क्षत्रिय क्रोधी और बलवान् होते हैं, बदला लेनेसे नहीं चूकते, यथा 'तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्रिजाति कर रोष। लं० २३।' राजा सहज अभिमानी और स्वार्थ-परायण होते हैं, जैसे बनै अपना काम निकालना चाहते हैं, दूसरेकी बढ़ती नहीं देख सकते, समय पाकर उपकार भी भुलाकर अपकार करते हैं, दो राजा एक देशमें नहीं रह सकते जैसे दो तलवार एक मियानमें नहीं रह सकतीं। ये तीनों छल बलसे काम लेते हैं। पुनः, ३—'बैरी पुनि···' इस अर्द्धालीके एक चरणमें 'छल, बल और निज काजा' इन तीनको कहकर जनाया कि बैरी छल, क्षत्रिय बल और राजा अपने कामसे काम रखते हैं, जैसे बने—(पांड़ेजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'समुझि राजसुख दुखित अराती।०' इति। आँवेंकी अग्नि भीतर ही भीतर सुलगती रहती है, प्रगट नहीं होती, वैसे ही कपटी मुनिको रह रहकर राज्यसुख याद आता है इससे उसकी छाती दुःखसे भीतर ही भीतर जलती है। वह अपना दुःख प्रकट नहीं करता ['अवाँ अनल इव सुलगै छाती'—५८.४ 'तपै अवां इव उर अधिकाई।' पृष्ठ १४४-१४६ में देखिए।] 'समुझि राज सुख' अर्थात् इसी दुःखसे शत्रुता माने हुए है; इसीसे 'अराती' कहा। (ख) 'सरल बचन नृपके सुनि काना' इति। सरल (सीधेसादे मनुष्य) से ही कपट चलता है, चतुरसे नहीं चलता, इसीसे 'सरल' जानकर हर्षित हुआ कि अब यह हमसे बचकर नहीं जा सकता। (ग) 'बयर सँभारि हृदय हरषाना'। वैर सँभालकर अर्थात् वैरका स्मरण करके, यह हमारा वैरी है यह याद करके सुखी हुआ। [मिलान कीजिए दोहावलीके "सत्रु सयानो सलिल ज्यों राख सीस रिपु नाउ। बूड़त लखि पग डगत लखि चपरि चहूँ दिसि आउ।५२०।" इस दोहेसे। इसमें शत्रुका सयानापन दरसाया है।] (घ) 'हृदय हरषाना'। भाव कि अपने दुःखको भीतर ही भीतर आँवेंकी अग्निकी नाईं छिपाए था, अब हर्ष है सो भी प्रकट नहीं करता। तात्पर्य्य कि दुःख सुख दोनों छिपाए हुए है क्योंकि राजा पर खुल जाय तो बड़ी हानि हो जायगी। ☞ (ङ) जो ऊपर कहा था कि 'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा।' उसे यहाँ चरितार्थ करते हैं।—वैरी है अतः राजसुख समझकर दुखित

है, हृदय जलता रहता है। इसीसे 'अराती' कहा। क्षत्रिय है, वैर स्मरणकर सुखी हुआ। क्षत्रिय पिछला वैर 'सँभारते' हैं। और, राजा है, इसीसे कपटयुक्त वाणी बोला। राजाको कपट करना उचित है, यथा 'कीन्हेउ कपट लाग भल मोही।'

वि० त्रि०—'सुनि काना।…' इति। कानसे सुनने का भाव कि उसे हृदयमें स्थान नहीं दिया। यह देखकर कि राजा बड़ा सरल मालूम पड़ता है, इसके सरल वचनोंमें चित्त न पिघले, अतः वैरको सँभाला कि इसीने मेरा सर्वस्व हरण कर मुझे वनचारी बना रक्खा है।

टिप्पणी—३ 'कपट बोरि बानी मृदुल०' इति। (क) अपना नाम नहीं बताता यही कपट है, यथा 'कीन्हेउ कपट…'। ☞नाम न बतानेकी बात प्रसंगभरमें है। इसीसे 'कपट बोरि' कहा अर्थात् जो कुछ मृदु वचन आगे कह रहा है वह सब कपटके हैं। राजाने कपटी मुनिको पिता बनाया, आप पुत्र और सेवक बना; तब वह राजाकी प्रीति-प्रतीतिकी परीक्षा करने लगा कि देखें राजा सत्य ही सेवक बनता है या ऊपरसे ही ऐसा कहता है। (ख) 'बोलेउ जुगुति समेत' इति। अपना नाम नहीं बताता, इस प्रकार अपनी उदासीनता दिखाता है कि हमको किसीसे पहचान करनेका प्रयोजन क्या? यह उसके आगे के 'मैं न जनावउँ काहु' इन वचनोंसे स्पष्ट है। यही युक्ति है कि यदि राजाको प्रीति प्रतीति होगी तो फिर प्रार्थना करेगा। राजाने घबड़ाकर ऐसा ही किया। इससे प्रीति और विश्वासकी परीक्षा हो गई। यथा 'सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु बिषै बिस्वास बिसेषी। १६१.६।' परीक्षा करके तब आगे छल करता है। (ग) 'नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत' यह दीनता अपनी दिखाकर अपना महात्मापन झलका रहा है। जिसमें राजा समझें कि ऐसे बड़े होकर भी महात्मा बड़े ही निरभिमानी हैं। (घ) 'अब' का भाव कि आगे बहुत कुछ था अब भिखारी, निर्धन और अनिकेत हैं। हमारा अवतार निर्धनके यहाँ नहीं हुआ [व्यंग्य यह है कि हम बड़े ऐश्वर्यमान थे, राजा थे, हमारे भी महल आदि थे, जो सब तुमने छीन लिया। (वै०)] ☞भानुप्रताप भी उसके अंगमें देख रहा है कि सब राज्यलक्षण हैं (अतः उसका परिचय पूछनेके लिए उत्सुक हुआ ही चाहे। दोहेमें जो कहा है कि 'बोलेउ जुगुति समेत' वह युक्ति "अब" शब्दमें है। श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'अब' में युक्ति और अभिप्राय यह है कि इसे आगे चलकर कहना है कि हम ब्रह्माके पुत्र हैं, अनेक तपस्या की है, पूर्वकल्पमें अनेक शक्तियाँ रची हैं, इत्यादि इत्यादि, और अब तो हम सब त्याग बैठे।)

कह नृप जे बिज्ञाननिधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना ॥१॥
सदा रहहिं अपनपौ दुराएं*। सब बिधि कुसल कुबेष बनाएं ॥२॥
तेहि तें कहहिं संत श्रुति टेरें। परम अकिंचन प्रिय हरि केरें ॥३॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहि संदेहा ॥४॥
जोसि सोसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिअ अब स्वामी ॥५॥

शब्दार्थ—गलित=गला हुआ, जीर्णशीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट। सरीखे=सदृश, समान। गलित अभिमान= जिनका अभिमान नष्ट हो गया, निरभिमानी। अपनपौ=आत्मगौरव, मान, मर्य्यादा, ममता, अभिमान, अपने रूपको। अकिंचन=निर्धन, दरिद्र, दीन, परिग्रहत्यागी। किंचन=थोड़ी वस्तु। अकिंचन=जिनके पास थोड़ी भी वस्तु न हो, जिसे कुछ भी चाह नहीं, जिनके भगवान् ही एक धन हैं जिनकी किसीमें अहं मम बुद्धि नहीं है। अधन=धनरहित, निर्धन। अगेह=गेह (घर) रहित। सम=समान, सरीखे। जोसि सोसि (योऽसि सोऽसि=यः असि सः असि)=जो हो सो हो, जो भी हों।

* 'सदा अपनपौ रहहिं दुराये' (व्यासजी); 'सदा रहहिं अपनपौ दुराये'—(श्रावणकुंज); 'रहहिं अपनपौ सदा०' (ना० प्र०)।

अर्थ—राजाने कहा कि जो आप सरीखे विज्ञानके खजाना और निरभिमानी होते हैं ॥ १ ॥ वे सदा अपने गौरवको, अपने स्वरूपको, छिपाये रहते हैं। (क्योंकि) बुरा वेष बनाये रहनेमें सब प्रकार कुशल† मानते हैं ॥ २ ॥ इसीसे सन्त और वेद पुकारकर कहते हैं कि परम अकिंचन ही भगवान्‌के प्यारे हैं ॥ ३ ॥ आप सरीखे निर्धन, भिखारी और गृह-हीनोंसे ब्रह्मा-शिवको भी सन्देह होता है‡ ॥ ४ ॥ आप जो हैं सो हैं (अर्थात् जो कोई भी हों सोई सही) मैं आपके चरणोंको नमस्कार करता हूँ ! हे स्वामी ! अब आप मुझपर कृपा कीजिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना' इति । 'तुम्ह सारिखे' कहकर जनाते हैं कि जितने विज्ञाननिधान निरभिमानी संत हैं उन सबोंमें आप प्रधान हैं। (ख) 'जे विज्ञाननिधाना गलित अभिमाना' का भाव कि विज्ञाननिधान होनेसे अभिमान नष्ट हो जाता है। ज्ञानसे देहाभिमान छूट जाता है, यथा 'बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा। देह जनित अभिमान छुड़ावा। ४।२८।', 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। ३।१५।' दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि 'अपने विज्ञानका अभिमान जिनको नहीं है'। (ग) 'सदा रहहिं अपनपौ दुराएँ।' इति। राजा जानते हैं कि 'भिखारी, निर्धन, अनिकेत' ये नाम नहीं हैं, मुनि (छिपाव) करते हैं, इसीसे वे कहते हैं कि विज्ञानी निरभिमानी अपने को छिपाये रहते हैं। (घ) 'सब बिधि कुसल कुबेष बनाए' इति । बहुत लोगोंके संघट्टसे भजनमें विक्षेप होता है, लोकमान्यता तपका नाश करती है, यथा 'लोकमान्यता अनलसम कर तपकानन दाहु।', रागद्वेष बढ़ता है,—यही 'सब बिधि' है। गुप्त रहनेसे सब विधिसे बचत है (नहीं तो कोई लड़का माँगता है, कोई धन, कोई नौकरी, इत्यादि। प्रायः आजकल लोग इसीलिये संतके पास जाते हैं)। तात्पर्य्य कि अपनपौ छिपानेकेलिए कुवेष बनाए रहते हैं। (ङ) 'तेहि तें', 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरें' के साथ है। इसी कारण अर्थात् गुप्त रहने और निरभिमानी होनेसे (परम प्रिय हैं)। अकिंचन गुप्त रहते हैं और निरभिमानी होते हैं। ☞ कपटीमुनिने अपनेको 'भिखारी' कहा; उसीके उत्तरमें राजाने उसे 'विज्ञाननिधान गलित अभिमान' कहा। तापसने अपनेको 'निर्धन, रहित निकेत' कहा; उसके उत्तरमें राजा उसको 'अकिंचन परम प्रिय हरि केरे' कहते हैं। अर्थात् आप भगवान्‌को परमप्रिय होनेकेलिए (सर्वस्व त्यागकर) भिखारी, निर्धन और अनिकेत बने हैं।

२—'तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि०' इति। (क) भाव कि ऐसे निष्कंचन ब्रह्मलोक, शिवलोक ले लेनेको समर्थ हैं। ब्रह्मा और शिवको संदेह होजाता है कि हमारा लोक न लेलें। अथवा शिव-विरंचि संदेहमें पड़ जाते हैं कि हम इन्हें क्या दें। (ख) शिवविरंचिको संदेह होना कहा क्योंकि ये तपके फलदाता हैं। (ग)☞ ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेव हैं। यहाँ तीनोंको कहा है। जब अकिंचन और निरभिमानी हुए तब हरिके परमप्रिय हुए (क्योंकि कुवेष और अकिंचनता इत्यादि जितनी भी बातें हैं वे सब भगवान्‌को प्रिय लगनेके लिये हैं। हरिके परमप्रिय होनेसे ब्रह्मा और शिवको संदेह हुआ कि भगवान्‌से हमारा लोक न माँग लें। अथवा, यह संदेह होता है कि हम तो तपका ही फल दे सकते हैं, हरिके परमप्रिय होनेका फल क्या दें ? इनको देने योग्य कोई वस्तु हमारे पास नहीं है। [आप ऐसे अधन, भिखारी और गृहहीन ही ब्रह्म, रुद्र पद पाते हैं। अतः आप ऐसे महापुरुषोंसे उन्हें संदेह होता है। ये ज्ञानी देवता हैं अतः इन्हें त्रास नहीं होता, संदेहमात्र होता है। इन्द्र भोगी है, अतः उसे त्रास हो जाता है। यथा 'सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुरबासा' (वि० त्रि०)]

नोट—विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि "इसका गुप्त अर्थ यह भी हो सकता है कि ब्रह्मा और

† दूसरा अर्थ—'सब प्रकारसे निपुण होनेपर भी वे कुवेष बनाये रहते हैं कि जिसमें कोई न जाने'।—(पंजाबीजी)।

‡ पंजाबीजी यह अर्थ करते हैं—'मुझे शिवब्रह्माका सन्देह होता है कि आप वेही तो नहीं हैं'।

शिवसरीखे साधुओंको ऐसे साधुओंके विषयमें संदेह होता है कि वे झूठे हैं। ऐसे सांकेतिक भावके शब्द अनायास ही सत्यता अथवा भविष्यसूचक ईश्वरकी प्रेरणासे निकल पड़ते हैं।" वीरकविजी लिखते हैं कि "यहाँ ब्रह्मा और शिवजीके संदेहद्वारा लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य है कि जो दूसरोंको धनेश बना देनेवाले, दाताओंके शिरोमणि और वैकुंठधाम देनेवाले हैं; वे स्वयं सदा निर्धन, अगेह तथा मँगतोंके वेषमें रहते हैं। मानसांकमें "संदेह हो जाता है कि ये वास्तविक संत हैं या भिखारी" यह भाव कहा है।

टिप्पणी—३ (क) 'जोसि सोसि'। जब कपटी मुनिने नाम न बताया तब राजाने महात्मा जानकर हठ न किया, यही कहा कि जो भी हों सो हों हमारा नमस्कार है। कथनका तात्पर्य्य कि हमें तो आपके चरणोंसे प्रयोजन है। (ख) 'मोपर कृपा करिअ अब स्वामी'। राजाकी प्रार्थना थी कि मुझे सुत, सेवक जानकर नाम कहिए, पर कपटीने नाम न बताया। इससे जाना गया कि मुनिने सुत सेवक न माना। अतएव राजा विनती करते हैं कि अब मेरे ऊपर कृपा कीजिए, मुझे अपना सुत और सेवक जानिए, आप मेरे स्वामी हैं, मैं आपको अपना स्वामी मानता हूँ।

प० प० प्र०—[१५६ (६-७) में बता आए हैं कि राजाके हृदयमें भगवद्भक्तिकी रुचि भी न थी] इस मुनिकी कृपासे वैराग्य, ज्ञान, भक्ति माँगनेकी अथवा मन्त्रोपदेश लेनेकी भी इच्छा राजाके मनमें पहले या पश्चात् कहीं देखी नहीं जाती। वह मुनिकी कृपासे कुछ न कुछ अलौकिक ऐश्वर्यादिकी इच्छाको अब पूर्ण कर लेना चाहता है जो जगत्में दुर्लभ है। पर जबतक 'बर माँग' ऐसा मुनि न कह दें तब तक वह उस वासनाको प्रगट नहीं करेगा। उस कपटी चतुर राजाने तो भानुप्रतापके प्रथम वचन-'जानत हौं कछु भल होनिहारा' से ही ताड़ लिया कि राजाके हृदयमें कुछ ऐहिक कामना है। राजाके इस कामनाङ्कुरको कपट मुनि बार बार खाद्य और जल देता रहा। प्रतापभानु तो राह ही देखता था कि गुरु महाराज कब 'बर माँगु' कहें और मैं वर माँगूँ। इतने बीचमें उसने यह भी निश्चित कर लिया कि क्या माँगना चाहिए। (आगे 'अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं। १६४।५।' में देखिए)।

सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु बिषय बिस्वास बिसेषी ॥६॥
सब प्रकार राजहि अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई ॥७॥
सुनु सतिभाउ कहौं महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला ॥८॥
दोहा—अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावौं काहु।
लोकमान्यता अनल सम कर तप कानन दाहु ॥
सोरठा—तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि ॥१६१॥

शब्दार्थ—सहज=जो बनावटी न हो, स्वाभाविक। आपु=अपने विषय, संबंधमें, प्रति। अपनाई=अपने वशमें, अपनी ओर वा अपने अनुकूल करके। केकि=मोर, मुरैला। पेखु=देखो। असन = भोजन।

अर्थ—अपने ऊपर राजाका स्वाभाविक प्रेम और अधिक विश्वास देख सब प्रकार राजाको अपने वशमें करके अपना अधिक प्रेम दिखाता हुआ बोला ॥ ६-७ ॥ हे राजन्! सुनो, मैं सत्य ही सत्य कहता हूँ, मुझे यहाँ बसे हुए बहुत काल बीत गया ॥ ८ ॥ अबतक मुझे कोई न मिला था और मैं (अपनेको) किसीपर प्रकट नहीं करता; क्योंकि लोक-प्रतिष्ठा अग्निके समान है जो तप रूपी वनको भस्म कर देती है। तुलसी-दासजी कहते हैं कि सुन्दर वेष देखकर मूर्ख ही नहीं किन्तु चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं। देखिए मोर देखनेमें सुन्दर होता है उसके वचन अमृतके समान हैं परन्तु सर्प उसका भोजन है ॥ १६१ ॥

टिप्पणी—१ 'सहज प्रीति भूपति कै देखी।' इति। (क) राजाके विश्वास और प्रेम दोनोंकी विशेषता दिखानेकेलिए प्रीतिको 'सहज' और विश्वासको 'विशेष' कहा। (ख) 'देखी' का भाव कि कपटी मुनिने राजाकी प्रीति प्रतीतिकी परीक्षा लेनेकेलिए ही दुराव किया था। छिपाव करनेपर भी प्रेम और विश्वास कम न हुए इसीसे दोनोंको 'विशेष' कहा। (ग) 'जोसि सोसि तव चरन नमामी', 'मो पर कृपा करिअ अब स्वामी', यह सहज प्रीति है। और 'कह नृप जो विज्ञान निधाना' से लेकर 'होत बिरंचि सिवहिं संदेहा' तक, यह विश्वास है कि ये कोई बहुत भारी महात्मा हैं।

२ (क) 'सब प्रकार राजहि अपनाई'। अपनानेका भाव कि राजाने बिनती की कि मुझे अपना सुत सेवक जानकर अपना नाम कहिए, उसने अपना नाम न बताया, ऐसा करनेसे अपनाना न निश्चित हुआ, तब राजाने अपनानेके लिए प्रार्थना की,—'मोपर कृपा करिअ अब स्वामी'। अतः अब सब प्रकारसे राजाको अपनाया अर्थात् कहा कि तुम हमारे सेवक हो, पुत्र हो, शिष्य हो। (ख) 'बोलेउ अधिक सनेह जनाई'। अर्थात् अधिक प्रेम दिखाकर बोला कि तुम हमारे सुत सेवक हुए, हम तुमको अपना सुतसेवक जानकर अपना नाम कहते हैं नहीं तो न कहते। पुनः, 'अधिक सनेह' का भाव कि पूर्व स्नेह (दिखाया) था। और जब अपनाया तब अधिक स्नेह हुआ। (ग) 'जनाई' का भाव कि वस्तुतः स्नेह है नहीं, झूठा स्नेह प्रकट करता है, यथा 'रहसी रानि राम रुख पाई। बोली कपट सनेह जनाई'। [नीति भी यही है कि "जो रीझै जेहि भावसे तैसे ताहि रिझाव। पीछे युक्ति विवेकसे अपने मतपर लाव।" (वि० टी०)। धूर्तोंका पहिला काम यही होता है कि अपने ऊपर विश्वास दृढ़ करा लेते हैं तब अपने कपट जालके पसारमें हाथ लगाते हैं। मंथराने यही किया था, यथा 'सजि प्रतीति बहु बिधि गढ़ि छोली। अवध साढ़ साती तब बोली।' इसी भाँति कपटमुनिने जब देख लिया कि यह मुझे ब्रह्म रुद्रकी कोटिमें समझने लगा, विनय परिचय अत्यंत विश्वास करने लगा तब अधिक स्नेह जनाकर माया फैलाई॥ (वि० त्रि०)]

३—'सुनु सतिभाउ कहौं महिपाला।०' इति। (क) 'सतिभाउ कहौं'। भाव कि प्रथम जब राजाने नाम पूछा तब उसने दुराव किया, राजा जान गए कि यह नाम नहीं है जो यह बताते हैं; इसीसे फिर प्रार्थना की; इसीसे अब वह कहता है कि मैं 'सतिभाउ' से कहता हूँ जिसमें इस नामको भी झूठा न समझ ले। आगे जो बातें उसे कहनी हैं वह सब झूठी हैं, उनको राजा झूठ न माने किंतु सत्य ही जाने इस अभिप्रायसे वह प्रथम 'सतिभाउ कहौं' ऐसा कहता है अर्थात् मैं सत्य ही कहता हूँ अब छिपाव नहीं करता हूँ। (ख) 'महिपालां'। राजाने अपनेको भानुप्रतापका मंत्री बताया—'नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा'। और कपटी मुनिने उससे 'महिपाल' संबोधन किया, सचिव न कहा। ऐसा करके कपटी मुनि अपनी सर्वज्ञता दिखाता है। अर्थात् बताता है कि तुमने हमसे छिपाया पर हम जानते हैं कि तुम भानुप्रताप हो, जैसा वह आगे स्वयं ही कहेगा। यदि वह राजाको सचिव कहता तो अज्ञता पाई जाती। (ग) 'बीते बहु काला' अर्थात् बहुत काल (युगों) तप किया, (यह भी युक्तिका वचन है। दस दिन भी बहुत होते हैं। राजा इससे समझा कि यहाँ इनको रहते कल्पके कल्प बीत गए और वह तो वस्तुतः राज्य छिन जानेपर यहाँ आ बसा)।

४ 'अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ काहु।०' इति। (क) राजाने प्रशंसा की थी कि 'सदा रहहिं अपनपौ दुराएँ। सब बिधि कुसल कुबेष बनाएँ'। वही बात वह भी कहने लगा कि अबतक हमें कोई न मिला और न हमने किसीको जनाया अर्थात् हम सदासे अपनेको छिपाए ही रहे हैं। कभी कहीं गए नहीं, न किसीसे मिले। 'न मिलेउ कोउ' अर्थात् एक आप ही मिले। 'न जनावउँ काहु' अर्थात् आपको प्रथम प्रथम जनाया। (ख) 'लोकमान्यता अनल सम०' लोकमान्यताको विनयपत्रिकामें दूषण कहा है, यथा 'बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।'

नोट—१ दो प्रकारसे संतको लोग जानते हैं। एक तो यों कि कोई उनके पास पहुँच जाय तो उससे दूसरोंको पता लग जाता है और दूसरे यों कि संत स्वयं कहीं भिक्षाटनके लिये जायँ और विभूति आशीर्वादादि देकर दूसरोंको अपनी सिद्धता दिखाकर अपनेको प्रसिद्ध करें। यही बात तापस कह रहा है कि न तो आजतक कोई हमें मिला और न हम ही किसीके पास गए।

☞साधु-संतों तपस्वियोंके लिए यह उपदेश है। जो लोग दान पुण्य तपस्या भजन आदि करके लोकमें प्रतिष्ठा चाहते हैं उनका वह दान तप आदि व्यर्थ हो जाता है। वैजनाथजी भी लिखते हैं कि तपस्वीको चाहिए कि तपोधनको गुप्त रक्खे तभी बच सकता है, नहीं तो आर्त्त अर्थार्थी अनेक सेवा शुश्रूषादि मान बढ़ाकर तपको लूट लेंगे। जैसे विश्वामित्रकी बड़ी तपस्या त्रिशंकुने लूटी, कुछ अप्सराओं और कुछ विप्रपुत्रने लूटी। 'लोकमान्यता···' में पूर्णोपमालंकार है।

टिप्पणी—५ 'तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।०' इति। (क) मूढ़ ही नहीं, चतुर मनुष्य भी भूल जाते हैं, इसीपर मोरका दृष्टान्त देते हैं कि देखो मोर सुंदर है, वचन उसका अमृत समान है पर भोजन सर्प है। तात्पर्य्य कि वेष और वचन सुंदर हैं, करनी खराब है। ऐसे ही खलोंका हाल है, यथा 'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाहिं महाअहि हृदय कठोरा।' राजा परम चतुर थे पर कपटी मुनिके स्नेहमय वचन और वेषसे धोखा खा गए, यथा 'बचन बेष क्यों जानिए मन मलीन नर नारि। सूपनखा मृग पूतना दसमुख प्रमुख बिचारि॥', 'हृदय कपट बर बेष धरि बचन कहैं गढ़ि छोलि। अब के लोग मयूर ज्यों क्यों मिलिए मन खोलि॥' (दोहावली ४०८, ३३२)। (ख) ☞'तुलसी देखि···नर' यह बात प्रसंगके बीचमें लिखनेका भाव कि जो कपटी मुनिने कहा कि 'अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावउँ काहु। लोक०', बस यही बात सुनकर राजा भूल गए, भ्रमसे समझ लिया कि यह कोई बड़ा भारी महात्मा है। इसीपर कहते हैं कि 'तुलसी०'।

नोट—२ यदि ऐसा अर्थ लें कि 'मूढ़ भूलते हैं, चतुर नहीं', तो भाव यह होगा कि जो रामभक्त हैं वे ही चतुर हैं, जो भक्ति छोड़ दूसरे पदार्थ की चाह नहीं करते, यथा 'रामहि भजहिं ते चतुर नर', 'सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मांगेसि अस बरदाना॥···रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मांगेहु भगति मोहि अति भाई॥' राजा साधारण धर्ममें भले ही रत रहा, ज्ञानी भले ही रहा, पर उसमें रामभक्ति बीजका लेश न था, उसको अमर और अकंटक शतकल्प क्या बल्कि सदाके लिये अजरत्व, अमरत्व और संसारके राज्यकी प्रबल ऐषणा थी, यह अहंकार ही उसके पतनका कारण हुआ, इसीसे वह भूला, क्योंकि वह मूढ़ था, उसे अपने तन, धन और राज्यका मोह था, धर्म-कर्ममें कर्तृत्वाभिमान था। और, 'अभिमान गोविन्दहि भावत नाहीं'। यदि वह भक्त होता तो भगवान् उसकी रक्षा अवश्य करते, उन्होंने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—'बालक सुत सम दास अमानी॥ सदा करौं तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥' 'चतुर' होता, तो प्रलोभनमें कभी न भूलने पाता और न घोर विप्रशापसे नष्ट होनेकी नौबत आती।

३ "पूर्व राजाने तापसका वेष देखकर धोखा खाया, यथा 'देखि सुबेष महामुनि जाना'। और यहाँ वचनपर भूला अतएव 'सुधासम बचन' कहा। 'मूढ़ न चतुर नर' गहोरा देशकी बोली है अर्थात् चतुर और मूढ़ दोनों भूल जाते हैं।" (पं० रामकुमारजी)।

४ इस सोरठेमें राजाके धोखा खानेका कारण ग्रन्थकार नीति द्वारा समझाते हैं। जैसे मोरके सुन्दर रूप और बोलीसे सभी मोहित हो जाते हैं वैसे ही साधुवेष और स्नेहमय वचनोंसे सभीको धोखा हो जाता है।

५ कुछ टीकाकारोंने यह अर्थ किया है कि—'मूर्ख भूलते हैं चतुर लोग नहीं भूलते'। ऐसा अर्थ करते हुए वे इस सोरठेका भाव यह कहते हैं कि पहले जब राजा कपटी मुनिके पास गया था तब तो वह प्याससे अति व्याकुल था इससे न पहचान सकता था। पर अब तो उसे पहिचान लेना था। राजा चतुर है उसे

धोखा न खाना था। यद्यपि तापसने अपनी सर्वज्ञता जनानेके लिए 'महिपाला' सम्बोधन किया तथापि इसे तो सोचना था कि हमने तो अपनेको मंत्री कहा और यह हमें राजा कहता है, हो न हो यह कोई भेदी है। ऐसा सोचकर भली भाँति विचारकर लेना उचित था। यथा दोहावल्यां—"कपट सार सूची सहस बाँधि बचन परवास। कियो दुराउ चहै चातुरी सो सठ तुलसीदास ॥ ४४०। हँसनि मिलनि बोलनि मधुर कटु करतब मन माँह। छुअत जो सकुचै सुमति सो तुलसी तिनकी छाँह ॥ ४०६।"

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "मुनिका वेष है ऐसे घने जंगलमें रहता है जहाँ मनुष्यका गंध नहीं, ऐसी वैराग्ययुक्त वाणी है, ऐसे पुरुषको महामुनि न माननेका कोई कारण नहीं है, फिर भी श्रीग्रन्थकार सावधान करते हैं कि ऐसी अवस्थामें भी लट्टू हो जाना मूढ़का काम है। ये सब साधुके लक्षण नहीं हैं—'न लिङ्गं धर्मकारणम्'; क्योंकि खल लोग इन सब बातोंकी नक़ल कर लेते हैं। मोरका सुन्दर वेष और बोली देखकर कौन समझेगा कि यह साँप खाता होगा। अतः वेष-वाणी आदि बाह्य चिह्नोंका कोई मूल्य नहीं। सन्तमें एक लक्षण होता है कि उसकी नकल किसीके किये हो नहीं सकती। वह ग्रंथकारके शब्दोंमें सुनिये—'उमा संत की इहै बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई।'

प्रोफ़ेसर दीनजीका मत है कि "चतुर भूलते हैं मूढ़ नहीं भूलते" यह अर्थ अधिक सङ्गत है क्योंकि मूढ़ भूलेंगे क्या? वे तो मूर्ख हैं ही; चतुर ही लोग वेष देखकर भूलते हैं, वे गुण नहीं जानते (जैसे मोर खूबसूरत नहीं होता। उसके कंठकी नीलिमा ही सुंदर होती है और अंग नहीं), गँवारको इतनी फ़िक्र नहीं होती, वह तो दण्डवतकर चलता होगा।"

६ यहाँ 'मोर' और 'अहि असन' का दृष्टान्त देकर यह भी जनाया है कि जैसे मोर अहिकुलका नाशक है वैसे ही यह कपटी मुनि भानुप्रतापके कुलका नाशक होगा।

७ गोस्वामीजीने अन्यत्र दोहावलीहीमें मोरके विषयमें 'अहि अहार कायर बचन' कहा है और यहाँ 'सुधासम बचन' कहा। कारण यह कि मोरकी बोली दो तरहकी होती है, आनन्दमय और दुःखमय। आनन्दमय केवल वर्षाकालमें होती है, दूसरी बोली घबराहटकी होती है। वर्षा और गरजके समय उसकी बोली दूरसे सुहावनी लगती है, पाससे वह भी नहीं।—(दीनजी)।

८ यहाँ यह शंका होती है कि इस भावसे तो वेषपूजामें अश्रद्धा होगी जो भागवत-धर्मका एक बड़ा अंग है। इसपर वैजनाथजी लिखते हैं कि राजा हरिइच्छासे मूढ़ हो गया था; परन्तु जो वेष मात्रके उपासक हैं वे तो समदृष्टिवाले होते हैं उनको 'भूलमें पड़ना' कहना अयोग्य है। उन्हें परीक्षाकी जरूरत ही नहीं।

अलंकार—'बचन सुधासम असन अहि' में अनमिल वस्तुओंका वर्णन 'प्रथम विषम' अलंकार है।

तातें गुपुत रहौं जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं ॥१॥
प्रभु जानत सब बिनहि जनाएं। कहहु कवन सिधि लोक रिझाएं ॥२॥
तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरें। प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरें ॥३॥
अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटै अति मोही ॥४॥
जिमि जिमि१ तापसु कथै उदासा। तिमि तिमि नृपहि उपज बिस्वासा ॥५॥

शब्दार्थ—किमपि = कोई भी, कुछ भी, यथा 'अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा। का देउँ तोहि तिलोक महँ कपि किमपि नहिं बानी समा' (लं०)। प्रयोजन = काम, मतलब, सरोकार। सुचि (शुचि) = पवित्र। जनाएँ = प्रकट किए ही; कहे। रिझायें = प्रसन्न किये वा करनेमें। घटै =

१ जिम—१६६१

लगेगा, लगता है। कथै = कहता है; (की) बात करता है, बोलता है। उदासा = उदासीनता, वैराग्य वा निरपेक्षता; झगड़ेटंटेसे अलग रहनेका भाव। उपज = उत्पन्न होता है, बढ़ता है।

अर्थ—इसीसे मैं जगत्‌में गुप्त रहता हूँ। भगवान्‌को छोड़ किसीसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता ॥१॥ प्रभु तो विना कहे ही सब जानते हैं; भला कहिए तो लोकको रिझानेमें क्या सिद्धता है ।२॥ तुम पवित्र और सुन्दर बुद्धिवाले हो, (इससे) तुम मुझे परम प्रिय हो। मुझपर तुम्हारा प्रेम और विश्वास है ॥३॥ (अतएव) हे तात ! यदि अब मैं तुमसे छिपाऊँ तो मुझे बड़ा कठिन दोष लगेगा ॥४॥ ज्यों ज्यों तपस्वी उदासीनताकी बातें कहता था त्यों त्यों राजाका विश्वास उसपर बढ़ता जाता था ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'तातें गुपुत रहौं' इसका संबंध 'लोकमान्यता अनल-सम कर तप कानन दाहु' से है। लोकमान्यता तपको जला डालती है, इसीसे अपना तप बचानेके लिए गुप्त रहता हूँ, नहीं तो जाकर किसी तीर्थमें रहता। (ख) राजाने जो कहा था कि 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरें' उसीपर कहता है कि 'हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं', मुझे केवल हरिसे प्रयोजन है तात्पर्य्य कि सब प्रयोजन हरिसे पूरे होते हैं, यथा 'सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिंन दुर्लभ कछु मोही'। (ग) 'प्रभु जानत सब बिनहि जनाए।०' भगवान् विना जनाये सब जानते हैं अर्थात् मनकी, वचनकी और तनकी इन सबकी जानते हैं और सब कुछ देनेको समर्थ हैं तब लोगोंको रिझानेका तो कुछ प्रयोजन रह ही न गया। जो पूर्व कहा कि 'मैं न जनावउँ काहु' उसीका यहाँ कारण बताता है कि क्यों नहीं किसीपर अपनेको प्रकट करता। (घ) 'कहहु कवनि सिधि लोक रिझाएँ।' तात्पर्य्य कि लोगोंके रिझानेमें परिश्रम होता है फिर भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और प्रभुसे कहना भी नहीं पड़ता, कहनेमात्रका भी परिश्रम नहीं और सिद्धि सब कुछ प्राप्त हो जाती है। (ङ) ☞लोकमें और प्रभुमें अपार भेद दिखाते हैं। लोक जनानेसे जानता है, विना जनाये नहीं जानता और प्रभु विना जनाए जानते हैं, लोककी खुशामद करनेसे भी कुछ प्राप्ति नहीं होती और भगवान् विना कहे सब कुछ देते हैं; अतः 'मैं न जनावौं काहु'। 'प्रभु' शब्दसे जनाया कि वे सर्वसमर्थ हैं, जीव अल्पज्ञ और असमर्थ है।

नोट—१ 'ताते गुपुत रहौं''' इत्यादि वचनोंको सुनकर राजाका चित्त कुछ उदास हो गया कि फिर भला ये हमसे भी क्यों बतावेंगे तब वह कपटी मुनि कहता है कि तुमसे नहीं छिपा सकता, क्योंकि 'तुम्ह सुचि''''दारुन दोष घटै अति मोही'। अथवा राजाको संदेह हो सकता था कि 'तो' हमसे क्यों कहा', अतएव 'तुम्ह सुचि सुमति०' कहा।

टिप्पणी—२ 'तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरें' इति। (क) शुचि अर्थात् निश्छल। सुमति अर्थात् बुद्धिमान्। [वेदविहित मार्गमें सात्विकी श्रद्धा होनेसे 'सुमति' कहा। यथा 'मतिर्नाम वेदविहितमार्गेषु श्रद्धा' इति शाण्डिल्योपनिषदि। (वि० त्रि०)] 'शुचि' को सुमतिका विशेषण मानें तो भाव होगा कि तुम्हारी बुद्धिमें पाप नहीं है, तुम्हारी बुद्धि पवित्र है। 'परम प्रिय मोरें' का संबंध 'शुचि, सुमति' और 'प्रीति प्रतीति मोहिपर तोरें' से है। (ख) 'प्रीति प्रतीति०', यथा 'सहज प्रीति भूपति कै देखी। आपु बिषय बिस्वास बिसेषी'। प्रथम राजाकी प्रीति प्रतीति देख चुका है तब ऐसा कहता है कि हमपर तुम्हारा प्रेम और विश्वास है। तुम शुचि हो इसीसे तुम्हारी प्रीति शुचि है। ☞प्रीतिकी प्रशंसा उसकी पवित्रताकी ही होती है, यथा 'प्रीति पुनीत भरत कै देखी', 'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।'''२२८।', 'उमा बचन सुनि परम बिनीता। रामकथा पर प्रीति पुनीता। १२०।८।' और, तुम सुमति हो इसीसे तुम्हारी हमपर प्रतीति हुई अर्थात् तुमने अपनी सुन्दर बुद्धिसे हमको पहचान लिया। तुम्हारी प्रीति प्रतीति हमपर है, अतः तुम हमको परम प्रिय हो—यह अन्योन्य प्रीति दिखाई। [तात्पर्य्य कि प्रथम चरणके 'शुचि' और 'सुमति' को दूसरे चरणके 'प्रीति' और 'प्रतीति' में यथाक्रमसे लगानेसे यह भाव निकला]

३ 'अब जौं तात दुरावौं तोही ।०' इति । (क) राजाको अपना सुत सेवक माना, इसीसे 'तात' संबोधन किया । प्रथम जब नाम पूछनेपर कपटी मुनिने न बताया तब राजाने कहा था कि 'सदा अपनपौ रहहिं दुराएँ । सब बिधि कुसल कुबेष बनाएँ ।', इसीपर वह कहता है कि 'अब जौं०' अर्थात् पहले दुराव किया था, सुत सेवक न माना था, पर अब तुम्हें परम प्रिय माननेपर भी यदि दुराव करूँ तो मुझे बड़ा पाप होगा । ऐसा कहा जिससे राजा यह न समझे कि दुराव करते हैं । (ख) 'दुरावौं तोही' । भाव कि औरोंसे गुप्त रहनेसे तपकी रक्षा होती है, इससे वनमें गुप्त रहता हूँ । तुमसे गुप्त रहनेसे पाप है । (ग) 'दारुन दोष घटै अति मोही' अर्थात् प्रीति प्रतीति करनेवालेसे कपट करनेसे बड़ा भारी दोष लगता है और मैं साधु हूँ इससे मेरे लिए तो यह अत्यंत दारुण दोष है ।

४ 'जिमि जिमि तापस कथै उदासा ।०' इति । (क) 'कथै उदासा'=वैराग्य कहता है, उदासीनता प्रकट करता है । 'कथै उदासा' में यह भी भाव ध्वनित है कि इसकी उदासीनता कथन मात्र है पर सब बात विश्वास ही पर निर्भर है । 'जिमि जिमि''' तिमि तिमि' से पाया गया कि विश्वास उत्पन्न करनेके लिए ही अपनी उदासीनता वर्णन करता है । यद्यपि प्रथम ही विशेष विश्वास देख चुका है—'आपु बिषय बिस्वास बिसेषी', तथापि फिर भी विश्वास उपजा रहा है क्योंकि विश्वासीसे ही छल लगता (अर्थात् चलता है)। अतएव बारंबार विश्वासको पुष्ट करता है । ☞खलोंकी रीति है कि सुन्दर वेष बनाकर वैराग्यके वचन सुनाकर लोगोंको छलते ठगते हैं ☞(नोट—'उपज' कहकर विश्वासको वृक्ष जनाया । विश्वासका बीज राजामें पड़ चुका है; यथा 'देखि सुबेष महामुनि जाना' । तपस्वी वेष देखकर राजाको विश्वास हुआ कि यह मुनि है । सुतसेवक बना इससे उसका विश्वास प्रकट ही है—'आपु बिषय बिश्वास बिसेषी' । अब उस बीजको वृक्षरूप कर रहा है अतः उपजाना कहा । वृक्ष अचल होता है वैसे ही विश्वासको अचल बनाता है) ।

देखा स्वबस कर्म मन बानी । तब बोला तापस बगध्यानी ॥६॥
नाम हमार एकतनु भाई । सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई ॥७॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी । मोहि सेवक अति आपन जानी ॥८॥
दोहा—आदिसृष्टि उपजी जबहि तब उतपति भै मोरि ।
नाम एकतनु हेतु तेहिं देह न धरी बहोरि ॥१६२॥

शब्दार्थ—आदि=सबसे पहिलेकी, प्रथम।

अर्थ—(जब उसने राजाको) कर्म, मन और वचनसे अपने वशमें देखा तब वह बकध्यानी (शिकारपर घात लगाए बैठा हुआ) तापस बोला ॥ ६ ॥ हे भाई ! हमारा नाम 'एकतनु' है । यह सुन राजा फिर मस्तक नवाकर बोला ॥ ७ ॥ मुझे अपना अत्यंत सेवक जानकर नामका अर्थ बखानकर कहिये ॥ ८ ॥ (उसने उत्तर दिया कि) जब 'आदिसृष्टि' उत्पन्न हुई तभी मेरी उत्पत्ति हुई । 'एकतनु' नाम है, इसका कारण यह है कि फिर (दूसरी) देह नहीं धारण की ॥ १६२ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—सारी वार्ता ही नाटकी तथा उपन्यासकलाकी Dialogue (वक्तृताद्वन्द्व) की जान है । उसमें कविकी बीच-बीचकी आलोचनायें सोनेमें सुगंधका काम करती हैं ।

टिप्पणी—१ (क) 'देखा स्ववस करम मन बानी' इति । 'कह नृप जे बिज्ञान निधाना । तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना ॥०' इत्यादि वचनोंसे प्रशंसा की, इससे 'वाणीसे' वशमें जाना । 'जोसि सोसि तव चरन नमामी ।०' इससे कर्मसे वशमें जाना । 'सहज प्रीति भूपति कै देखी' इससे मनसे वशमें जाना । (ख) 'तव बोला तापस बगध्यानी' । बकध्यानीका भाव कि जैसे बगला मछली मारनेके लिए साधु बनकर बैठता है वैसे ही यह कपटी मुनि राजाका नाश करनेके लिए साधु बनकर बैठा है । 'तब' का भाव कि

प्रथम प्रीति और विश्वास अपने ऊपर देखा था। प्रीति प्रतीतिसे लोग वशमें होते हैं, यह बात भी अब देख ली। दोनों बातें देख लीं 'तब'।

नोट—१ बगला मछली पकड़नेके लिए बहुत सीधासादा बनकर नेत्र बंदकर नदी तालाब आदि जलाशयोंके किनारे खड़ा रहता है, परंतु मछली जलके किनारे आई नहीं कि उसने गड़प लिया। बगलेकी यह मुद्रा केवल अपने घातके लिए होती है। इसीसे बनावटी भक्तोंको 'बगला भगत' कहते हैं। इस शब्दका प्रयोग ऐसे समय होता है जब कोई व्यक्ति अपना बुरा उद्देश्य सिद्ध करनेके लिए बहुत सीधा बन जाता है। जो ऊपरसे बहुत उत्तम और साधु जान पड़े परन्तु जिसका वास्तविक उद्देश्य दुष्ट और अनुचित हो, जो पूर्ण पाखण्डी कपटी हो उसे 'बकध्यानी' कहते हैं। इस तापसको बकध्यानी कहा क्योंकि यह केवल वेषमात्रसे साधु है, उसके वचन कपटसे भरे हुए हैं और मनमें तो वह अपनी घात ताक रहा है, यथा 'जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ। १७०।८।' जैसे बगला मछलीकीघातमें रहता है वैसे ही यह राजाको परिवारसहित नाश करनेकी ताकमें है। बगलेके पाखंडको एक कविने श्रीरामचन्द्रजी द्वारा व्यंगोक्तिसे यों प्रगट किया है—'पश्य लक्ष्मण पंपायां बकः परमधार्मिकः। शनैः शनैः पादनिक्षेपं जीवहत्याभिशंकया॥'

टिप्पणी-२ (क) 'नाम हमार एकतनु भाई'। कपटी मुनिने अपना कोई प्रसिद्ध नाम न बताया। क्योंकि जितने प्रसिद्ध मुनि हैं वे सब राजाके सुने जाने हैं। प्रसिद्ध नाम बतानेसे कपट खुल जानेकी संभावना थी, अतएव एक अपूर्व नाम 'एकतन' बताया। (ख) 'भाई'। यहाँ राजाको वह भाई नहीं कह रहा है। राजाको तो 'महिपाल, नृप, तात' विशेषण देकर संबोधन करता है। 'भाई' कहकर बोलनेकी रीति है। (ग) 'सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई'। इससे स्पष्ट है कि कपटी मुनि अपना नाम बताकर 'नाम हमार एकतनु भाई' कहकर चुप हो गया। अपनी ओरसे नामका अर्थ यह विचारकर न कहा कि इससे पता चल जायगा कि राजा इस नामको भी 'नाम' समझता है या अभी 'दुराव' ही समझता है, (पूरा विश्वास हमपर हुआ या अभी कमी है)। यदि इसे वह 'नाम' न समझेगा, किन्तु समझता होगा कि हमसे छिपाते हैं, तब तो अर्थ न पूछेगा और यदि इसे सत्य ही हमारा नाम समझेगा तो अर्थ पूछेगा। राजाके मनका अभिप्राय जाननेके लिए केवल नाम कहा। (पुनः, संभवतः उसने विचारा होगा कि यदि मैं अपनेसे कहूँगा तो राजाको संदेह होगा और न कहूँगा तो भी अपूर्व नाम सुनकर संदेह होगा कि एक तन तो सभीके होते हैं, तब इनके 'एकतनु' नामका क्या आशय है। अद्भुत नाम सुनकर उसके जाननेकी उत्कंठा होगी। अतएव अपनेसे न कहना उचित समझकर चुप साध ली। राजाको सुनकर जिज्ञासा हुई ही।) (घ) 'सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई'। 'पुनि' का भाव कि जैसे पूर्व चरणोंमें प्रणामकर प्रार्थनापूर्वक नाम पूछा था वैसे ही बड़ी नम्रताके साथ नामार्थ पूछते हैं,—'तव चरन नमामी। मोपर कृपा करिअ अब स्वामी'।

नोट—२ 'एकतनु भाई', ये वचन सत्य भी हैं। 'एकतनु' अर्थात् हम अपने बापके एकलौते बेटे हैं। 'भाई' अर्थात् तुम्हारे भाई बिरादरी हैं, तुम राजा हम भी राजा, तुम क्षत्रिय हम भी क्षत्रिय। जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चार भाँतिके नाम होते हैं। अतएव राजा नामका कारण विस्तारसे जानना चाहता है।—(वै०)।

टिप्पणी—३ 'कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक०' इति। (क) अपना सेवक (गूढ़ तत्व भी) सुननेका अधिकारी होता है, यथा 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी। ११०।१।' अतः 'कहहु…मोहि सेवक जानी' कहा। (ख) 'सेवक अति' कहनेका भाव कि नाम जब पूछा तब अपनेको सुत सेवक कहा था, यथा 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी। १६०।४।', 'मो पर कृपा करिअ अब स्वामी।१६१।५।' वैसे ही अब नामार्थ पूछनेमें भी अपनेको 'सुत सेवक'

कहते हैं। 'अति सेवक', 'सुत सेवक' होता है। (जैसे हनुमानजीको उनकी अति सेवाके कारण सुत कहा है,—'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं', 'हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना', 'सुनु सुत बिपिन करहिं रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी')। (वा, 'अति सेवक' का भाव कि आपको छोड़कर मैं दूसरा स्वामी जानता ही नहीं। वि० त्रि०)। (ग) 'कहहु नाम कर अरथ'। ☞देखिए पहिले उसने अपना नाम बतानेमें 'कपट' किया; अब बिना पूछे अर्थ भी नहीं बताता। 'कहहु०' से जनाया कि राजाको नामका अर्थ न समझ पड़ा। उसने सोचा कि 'एकतन' तो सभी हैं (दो तनका तो कोई देखने सुननेमें नहीं आया) तब इनका नाम एकतन क्यों हुआ ?

४ 'आदिसृष्टि उपजी जबहिं०' इति। (क) राजा, नामार्थके पश्चात् पिताका नाम न पूछ पड़े इसका भी उपाय तापस प्रथम ही नामार्थमें ही किए देता है। सृष्टिके आदिमें अपनी उत्पत्ति कहता है इससे पिताका और गुरु का नाम भी पूछनेकी गुञ्जाइश नहीं रह गई। पिताका अथवा गुरुका नाम मालूम होनेसे भी राजा कपटीमुनिको जान सकता सो भी अब नहीं जान सकता। दूसरे इस अर्थसे राजा यह सोचकर चुप हो जायगा कि इतने पुराने पुरुषोंको हम कैसे जान सकनेको समर्थ हो सकते हैं।

नोट—३ 'एकतनु' का अर्थ कैसी अनोखी रीतिसे समर्थन करता है। राजा तो यह समझें कि जब प्रथम कल्पके प्रथम सत्ययुगके आदिमें सृष्टि हुई तभी मैं पैदा हुआ और तबसे आजतक अनेक प्रलय और महाप्रलय हो गए पर मेरा वही शरीर बना रहा। और सत्य सत्य भीतरी गुप्त अर्थ यह है कि मेरे पिता मातासे जो 'आदिसृष्टि' अर्थात् प्रथम संतान हुई वह मैं ही हूँ। अर्थात् अपने मातापिताका सबसे बड़ा पुत्र हूँ। 'एकतनु भाई' से एकलौते बेटेका भाव भी निकल सकता है। इसी तरह 'देह न धरी बहोरि' का भीतरी अर्थ है कि जबसे पैदा हुआ तबसे अबतक जीवित हूँ, न मरा न दूसरी देह पाई।

नोट—४ 'आदि सृष्टि' इति। सृष्टि ब्रह्मकी लीला है। ब्रह्म अनादि और अनन्त है। उसकी लीला भी अनादि अनन्त है। अतः सृष्टि भी अनादि है।

यह नहीं कहा जा सकता कि सृष्टिकी उत्पत्ति और लयके कार्यका कबसे प्रारंभ हुआ अर्थात् सृष्टिका उत्पन्न और लय होना प्रथम प्रथम कबसे हुआ। हमारे ग्रंथोंसे पता चलता है कि न जाने कितने ब्रह्मा हो गए। कपटी मुनिके इस शब्दसे यह भी साबित हो सकता है कि हमारे सामने सैकड़ों ब्रह्मा हो गए।

यदि यह मानें कि 'आदि सृष्टि' से वर्तमान ब्रह्माकी रची हुई प्रथम सृष्टि अभिप्रेत है तब यह प्रश्न होता है कि ब्रह्माने प्रथम प्रथम सृष्टि कब रची।

सिद्धान्तशिरोमणिकार स्वामी श्रीभास्कराचार्यजीका मत है कि ब्रह्माने पैदा होते ही सृष्टि रची। पर 'सूर्यसिद्धान्त' में सृष्टिके आरंभके विषयमें ऐसा उल्लेख है -"ग्रहर्क्षदेवदैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम्। कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः। २४।' इसकी व्याख्या पं० सुधाकरद्विवेदीजी इस प्रकार लिखते हैं—'ब्रह्मदिनादितः शतघ्नवेदसप्तवेददिव्याब्देषु गतेषु ब्रह्मा सृष्टिं रचयित्वा आकाशे नियोजितवान्। ब्रह्मगुप्तादयो ब्रह्मदिनादावेव ग्रहादिसृष्टिं कथयन्ति।' अर्थात् ब्रह्माजीके दिनके आरंभसे ४७४०० दिव्यवर्ष (अर्थात् हमारे १७०६४००० वर्ष) बीतनेपर सृष्टिकी रचना हुई। और ब्रह्मगुप्तादि पंडितोंके मतसे ब्रह्माकी उत्पतिके साथ ही सृष्टिका आरंभ हुआ।

सिद्धान्तशिरोमणिके मतसे 'आदि सृष्टि उपजी जबहिं'''' का भाव होगा कि ब्रह्माजीकी उत्पत्तिके साथ ही मैं भी उत्पन्न हुआ; मेरी और ब्रह्माकी आयु लगभग एक ही है। और सूर्यसिद्धान्तके मतानुसार भाव यह है कि ब्रह्माजीके प्रथम दिनमेंसे जब ४७४०० दिव्य वर्ष बीते तब मेरी उत्पत्ति हुई।

कालकी प्रवृत्तिके संबंधमें यह श्लोक है—"लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव। मधोः सितादेर्दिनमासवर्ष युगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः। १५।" (सिद्धान्तशिरोमणि सं० १६२६, विद्या-

विलास प्रेस, काशी)। अर्थात् लंकापुरीमें जब सूर्यका उदय हुआ, उसी समयसे रविवार चैत्रशुक्लके आरंभ से दिन, मास और वर्ष आदिकी एक साथ ही सर्वप्रथम प्रवृत्ति हुई।

जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं ॥१॥
तप बल तें† जग सृजै बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता ॥२॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तप तें अगम न कछु संसारा ॥३॥
भएउ नृपहि सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहै सो लागा ॥४॥
करम धरम इतिहास अनेका। करै निरूपन बिरति बिबेका ।५॥

शब्दार्थ—'सृजै'=उत्पन्न करता है। 'बिधाता'=ब्रह्मा। 'परित्राता'=विशेष रक्षा करनेवाला। संघारा (संहार)=प्रलय, नाश। पुरातन=पुरानी, प्राचीन।

अर्थ—हे पुत्र! मनमें आश्चर्य न करो। तपसे कुछ भी कठिन नहीं ॥१॥ तपस्याके बलसे ब्रह्मा सृष्टि उत्पन्न करते हैं। तपके बलसे विष्णु (सृष्टिके) पालनकर्ता हुए॥ २॥ तपहीके बलसे शिवजी संहार करते हैं। तपसे संसारमें कुछ भी कठिन नहीं है॥ ३॥ यह सुनकर राजाको बड़ा अनुराग हुआ तब वह पुरानी कथाएँ कहने लगा॥ ४॥ कर्म, धर्म और उनके अनेकों इतिहास (कहे और साथ ही) ज्ञान और वैराग्यका निरूपण करने लगा॥ ५॥

श्रीलमगोड़ाजी—तपवाला Peroration (वक्तृताका जोरदार अंश) इतना सुन्दर है कि कविकी जितनी तारीफ़ की जाय कम है। वक्तृता प्रतिद्वन्द्वी अवाक् रह जाता है।

टिप्पणी १—'जनि आचरजु करहु मन माही' इति। (क) ☞ सृष्टिके आदिमें उत्पत्ति हुई, यह सुन कर आश्चर्यकी प्राप्ति हुई; उसीका निवारण करता है। 'मन माहीं' से जनाया कि राजाने आश्चर्यकी शंका वचनसे कुछ भी प्रकट न की। मनमें आश्चर्यकी उत्पत्तिको रोक वह प्रथम ही किये देता है। [प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि "नामका अर्थ कहकर उसने सोचा कि राजाको संदेह होगा कि जबसे आदिसृष्टि हुई तबसे आजतक ये कैसे बने रह सकते हैं इसीसे वह पहले ही से गढ़न्तकर कह चला कि 'तप०'; जिसमें राजा संदेह करने ही न पावें। अथवा, संदेह मनमें हुआ। चेष्टा देखकर उसने राजाके मनोगतभावोंको जान लिया और अपनी बात पुष्ट करने लगा। इसीसे कहा कि 'जनि आचरजु करहु मन माहीं' अर्थात् मैं तुम्हारे मनके भावको समझ रहा हूँ तुम आश्चर्य न करो। इस तरह यहाँ 'पिहित अलंकार' हुआ।]। (ख) 'सुत'। राजाने पूर्व प्रार्थना की थी 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी'। इसीसे अब 'सुत' कहकर संबोधन कर रहा है। (राजाने उसको 'पिता' कहा है, यथा 'जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई' और अपनेको सुत कहा। पर कपटीमुनिने अभीतक अपने मुखसे 'सुत' नहीं कहा था। अब अधिक विश्वास करानेके लिए 'सुत' कहकर जनाया कि हम भी तुम्हें पुत्र मानते हैं; इसीसे हमने गुप्त बात कही और उसे समझाते भी हैं)। (ग) 'तप तें दुर्लभ कछु नाहीं'। (सुत कहकर उसके चित्तको अपने वशमें करके) अब अपनेमें तपबल निश्चय कराता है। कैसा तपबल है? ब्रह्मा-विष्णु-महेशके समान। इसीसे आगे तीनोंका तपबल कहता है। कुछ दुर्लभ नहीं है, इस कथनका भाव यह है कि तपबलसे त्रिदेव उत्पत्ति, पालन, संहार करते हैं। तपबलसे हमारी देह नाशको प्राप्त न हुई, इसमें अब आश्चर्य ही क्या? तपबलसे कुछ दुर्लभ नहीं है, यह कहकर जनाता है कि हमको त्रैलोक्यमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। यही बात आगे वह स्वयं स्पष्ट कहता है, 'सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिंन दुर्लभ कछु मोही'।

† तैं—१६६१

२ (क) 'तप बल तें जग सृजै बिधाता ।०' इति । उत्पत्ति, पालन और संहार तीनों क्रमसे कहता है। सृष्टिके द्वारा तपका बल दिखाता है। तपबलसे ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं, भाव कि ब्रह्मा पहले सृष्टि करनेमें असमर्थ हुए, तब आकाशवाणी हुई कि तप करो, तप करो। तब उन्होंने भारी तप किया जिससे सृष्टि कर सके। इससे भी बड़ा काम उसका पालन करना है। यदि एक क्षण भी आलस्य कर जायँ तो सृष्टिमें गड़बड़ मच जाय और यह सब प्रजा नष्ट हो जाय, सो तपबलसे विष्णुभगवान् सृष्टिकी रक्षा करते हैं। शिवजी सृष्टिका संहार करते हैं। 'जग' पद आदिमें देकर सबके साथ जनाया। (ख) तपसे कुछ भी दुर्लभ नहीं है अर्थात् तपका बल भारी है, यह कहा था, इसीसे भारी बल दिखानेके लिए त्रिदेवका बल कहा। (ग) 'तप तें अगम न कछु संसारा' इति। इससे दिखाया कि जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और संहार करना अगम है, पर तपके बलसे सुगम हो गया। जब ऐसा बड़ा कठिन काम सुगम है तब संसारमें और कौन काम है जो तपसे न हो सके ? सभी असंभव काम संभव हो सकते हैं। (पुनः, इससे यह भी दिखाता है कि केवल त्रिदेवहीमें यह शक्ति नहीं है, किंतु जो कोई भी तप करे वही उत्पत्ति पालन संहार आदि कर सकता है) और यह भी न समझो कि तीनों देवता एक ही एक काम कर सकते हैं। एक ही देवता तपके प्रभावसे तीनों काम कर सकता है। तपसे उन्हें एवं किसीको भी कुछ भी अगम नहीं है। इस तरह अपनेको त्रिदेवके समान जनाया।

नोट—१ -'तप तें अगम न कछु संसारा'। प्रमाण यथा 'यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्चदुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ।' (मनु संहिता)। पुनः यथा 'तप अधार सब सृष्टि भवानी ।७३।५।'

२ ब्रह्मा, विष्णु, महेश भगवान् हैं। इन्हें उत्पत्ति, पालन, संहार करनेके लिए कठिन उपवास आदि तप नहीं करने पड़ते। ये तो सङ्कल्प मात्रसे सब कार्य्य करते हैं। इनके सम्बंधमें 'तप' शब्द 'संकल्प या विचार' के अर्थमें प्रयुक्त होता है अर्थात् वे संकल्प करके विश्वकी उत्पत्ति आदि करते हैं। यहाँ 'तप आलोचने' धातु है। (रा० व० श०)। न तो ब्रह्मा कुलालकी भाँति सब वस्तुओंकी रचना करते हैं, न विष्णु माँकी भाँति सबका पालन करते हैं और न शम्भु व्याधकी भाँति संहार करते हैं। यह सब कार्य उनके तपोबलसे आपसे आप होता रहता है।

३ (क)—'भएउ नृपहि सुनि अति अनुरागा ।' इति । 'अति अनुरागा' का भाव कि तापसपर राजाका प्रेम तो पूर्वहीसे था, पर अब महिमा सुननेसे 'अति' अनुराग हो गया। (ख) 'कथा पुरातन कहै सो लागा' इति। जब तपस्वीकी अति कालीनता सुनकर राजाको आश्चर्य न हुआ, उलटे अनुराग हुआ तब प्राचीन कथाएँ कहने लगा। ☞अनुराग हो तभी मनुष्य कथाके श्रवणका अधिकारी होता है यथा 'लागी सुनै श्रवन मन लाई। आदिहु तें सब कथा सुनाई। ५।१३।' राजाको अत्यन्त अनुराग हुआ तब कथा कहने लगा। 'पुरातन' कथा कहकर अपना 'पुराणपन' अपनी कालीनता सिद्ध करता है। जिसमें राजाको निश्चय हो जाय कि तपस्वीजी बड़े ही कालीन हैं, यह सब घटनाएँ इनकी देखी हुई हैं। (ग) 'करम धरम इतिहास अनेका' इति। अर्थात् कर्मकी गति कहता है जो अत्यंत सूक्ष्म और कठिन है। यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता। २।२८२।' [इससे जनाया कि कर्मकी गति या तो ब्रह्मा जानते हैं या मैं। और कोई नहीं जानता। 'कर्म' से कर्म अकर्म और विकर्म तीनों भेद सूचित कर दिये। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि इन तीनोंके विषय जाननेयोग्य हैं। इनकी गति कठिन है। बड़े-बड़े विद्वान् भी इन बातोंको यथार्थरूपसे नहीं जानते। यथा "कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः १७।" "कवयोऽप्यत्र मोहिताः। १६।' (गीता ४)। इन सबोंके स्वरूप उसने कहे।] धर्म भी अनन्त हैं। धर्मसे चारों वर्णोंके धर्म, चारों आश्रमोंके धर्म, स्त्रियोंके धर्म, स्वामि धर्म, सेवकधर्म, दानधर्म, और मोक्षधर्म इत्यादि अनेक धर्मोंका ग्रहण हो गया। (धर्मके विषयमें पूर्व दोहा ४४ 'ब्रह्म निरूपन धर्म बिधि…'

में विस्तारसे लिखा गया है)। अनेक इतिहास कहता है अर्थात् कर्म-धर्मके उदाहरण इतिहाससे देता है। पुनः, कर्मधर्मकी कथाएँ कहता है तथा और भी इतिहास कहता है। [उदाहरणार्थ इतिहास कहे कि अमुक अमुक राजाओंने ऐसे-ऐसे कर्म किये और उनसे ये ये फल प्राप्त किये । (घ) 'करै निरूपन बिरति बिबेका" इति। ज्ञान और वैराग्यके स्वरूप सूक्ष्म हैं। अतः उनका निरूपण करना कहा।—दोहा ४४ भी देखिए।]

उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥६॥
सुनि महीप तापस बस भएऊ। आपन नाम कहन तब लएऊ ॥७॥
कह तापस नृप जानौं तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ॥८॥
सोरठा—सुनु महीस असि नीति जहँ† तहँ नाम न कहहिं नृप।
मोहि तोहि पर अति प्रीति सोइ‡ चतुरता बिचारि तव ॥१६३॥

अर्थ—उत्पत्ति, पालन और संहारकी कहानियाँ कहीं और भी अगणित आश्चर्य्य (की बातें) बखानकर कहीं ॥ ६ ॥ सुनकर राजा तपस्वीके वशमें हो गया और तब अपना नाम कहने लगा ॥ ७ ॥ वह (तापस) बोला कि राजन्! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुमने कपट किया, वह मुझे अच्छा लगा ॥ ८ ॥ राजन्! सुनो, ऐसी नीति है कि राजा अपना नाम जहाँ तहाँ नहीं कहते, तेरी यही चतुरता समझकर तुझपर मेरा अत्यन्त प्रेम है ॥ १६३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहेसि अमित आचरज बखानी'। तात्पर्य्य कि प्रथम प्रसिद्ध उत्पत्ति, पालन और संहारकी कथाएँ कहीं, यथा 'तपबल तें जग सृजै बिधाता। तपबल बिष्नु भए परित्राता ॥ तपबल संभु करहिं संघारा'। अब अप्रसिद्ध आश्चर्य्य बखानकर कहता है। वह यह कि कभी ब्रह्मा पालनका कार्य्य करते हैं और विष्णु उत्पत्ति करते हैं, यथा 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा। ५।२१।' कभी ब्रह्मा ही तीनों कर्म करते हैं, यथा 'जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी। २।२८२।' और कभी भगवान् ही उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं, यथा 'आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा। ६।१५।' इत्यादि। (ख) 'बखानी' बखानकर कहनेका भाव कि जो कभी न सुनी थीं ऐसी-ऐसी अद्भुत बातें बहुतेरी कहीं जिसे सुनकर आश्चर्य्य हो।

नोट—१ "उद्भव पालन प्रलय कहानी"—द्विभुज शार्ङ्गधनुष-बाणधारी श्रीसाकेतविहारीकी जब इच्छा हुई कि सृष्टिकी रचना हो तब उन्होंने प्रथम जल उत्पन्न कर उसमें चतुर्भुज रूपसे शयन किया। इसीसे नारायण कहलाए अर्थात् जल है घर जिनका। उनके कमलनाभिसे ब्रह्मा हुए जिनको त्रिगुणात्मक सृष्टि रचनेकी आज्ञा हुई। श्रीमद्भागवत स्कंध २ में इसकी कथा है जो पूर्व लिखी जा चुकी है। भगवान् विष्णु नारायण आदि रूपोंसे और अवतार ले लेकर प्रजाकी रक्षा करते हैं। उन अवतारोंका वर्णन किया। 'प्रलय'—कभी शिवजी द्वारा और कभी शेषजी, सूर्य्य भगवान्, इत्यादि द्वारा सृष्टि फिर लय हो जाती है। कूर्म पुराणमें नित्य (जो प्रतिदिन लोकमें क्षय हुआ करता है), नैमित्तिक (कल्पान्तमें तीनों लोकोंका क्षय), प्राकृत (जिसमें महदादि विशेष तक विलीन हो जाते हैं) और आत्यन्तिक (ज्ञानकी पूर्णावस्था प्राप्त होनेपर ब्रह्ममें लीन हो जाना) चार प्रकारके प्रलय कहे गए हैं। यथा 'नित्यो नैमित्तिकश्चैव तथा प्राकृतिको लयः। आत्यन्तिकश्च कथितः कालस्य गतिरीदृशी। भा० १२।४।३८।' (प्र० सं०)।

पद्म पु० सृष्टिखण्डमें एक बारकी सृष्टि इस प्रकारकी पुलस्त्यजीने बताई है—"जब ब्रह्माजी सृष्टि-कार्यमें

† ऐसा ही १६६१ में है। ‡ पाठान्तर—'परम चतुरता निरखि तव'

प्रवृत्त हुए उस समय उनसे देवताओंसे लेकर स्थावर पर्यन्त चार प्रकारकी प्रजा उत्पन्न हुई जो मानसी प्रजा कहलाई। तदनन्तर प्रजापतिने देवता, असुर, पितर और मनुष्य—इन चार प्रकारके प्राणियोंकी तथा जलकी भी सृष्टि करनेकी इच्छासे अपने शरीरका उपयोग किया। उस समय सृष्टिकी इच्छावाले मुक्तात्मा प्रजापतिकी जङ्घासे पहले दुरात्मा असुरोंकी उत्पत्ति हुई। उनकी सृष्टिके पश्चात् भगवान् ब्रह्माने अपनी वयस्से इच्छानुसार 'वयों' (पक्षियों) को उत्पन्न किया। फिर अपनी भुजाओं से भेड़ों और मुखसे बकरों की रचना की। इसी प्रकार अपने पेटसे गायों और भैंसोंको तथा पैरोंसे घोड़े, हाथी, गर्दभ, नीलगाय, हिरन, ऊँट, खच्चर तथा दूसरे-दूसरे पशुओंकी सृष्टि की। ब्रह्माजीकी रोमावलियोंसे फल, मूल तथा भाँति-भाँतिके अन्नोंका प्रादुर्भाव हुआ। गायत्रीछन्द, ऋग्वेद, त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर तथा अग्निष्टोम यज्ञको प्रजापतिने अपने पूर्ववर्त्ती मुखसे प्रकट किया। यजुर्वेद, त्रिष्टुपछन्द, पंचदशस्तोम, वृहत्साम और उक्थकी दक्षिणवाले मुखसे रचना की। सामवेद, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम, वैरूप और अतिरात्रभागकी सृष्टि पश्चिम मुखसे की तथा एकविंशस्तोम, अथर्ववेद, आप्तोर्याम, अनुष्टुपछन्द और वैराजको उत्तरवर्त्ती मुखसे उत्पन्न किया। छोटे-बड़े जितने भी प्राणी हैं सब प्रजापतिके विभिन्न अंगोंसे उत्पन्न हुए। कल्पके आदिमें ब्रह्माने देवताओं, असुरों, पितरों और मनुष्योंकी सृष्टि करके फिर यक्ष, पिशाच, गंधर्व, अप्सरा, सिद्ध, किन्नर, राक्षस, सिंह, पक्षी, मृग और सर्पोंको उत्पन्न किया। नित्य और अनित्य जितना भी यह चराचर जगत् है, सबको आदिकर्त्ता भगवान् ब्रह्माने उत्पन्न किया।"

टिप्पणी—२ 'सुनि महीस तापस बस भएऊ।०' इति। (क) तापसके वशमें हो गया अर्थात् यह विचार चित्तमें स्फुरित हो आया कि ये तो भारी महात्मा हैं, इनसे कौन कपट छिप सकता है, ये तो हमें जानते हैं तभी तो हमको इन्होंने महिपाल कहा है। प्रथम कपट किया, नाम न बताया, अब नाम बताना चाहते हैं। तपस्वीने राजाको अपने वशमें जानकर अपना नाम बताया, यथा 'देखा स्वबस कर्म मन बानी। तब बोला तापस बगध्यानी॥ नाम हमार एकतनु भाई।' राजा तपस्वीको अपने वशमें जानकर अपना नाम बतावें सो बात नहीं है, क्योंकि महात्मा किसीके वशमें नहीं होते। राजा स्वयं तापसके वश हो जानेसे अपना नाम बताने लगा। राजाको वशमें करनेके लिए ही उसने अपना माहात्म्य सुनाया था।

नोट—२ पहिले भिखारी नाम बताया, फिर कहा कि अच्छा अब हम अपना असली नाम बताते हैं। इस खयालसे कि जब राजा अपना नाम बताने लगेगा तब हमको और भी बातें गढ़नेका अवसर प्राप्त होगा। ऐसा ही हुआ भी। (प्रोफ० दीनजी)। 'कहन तब लएऊ' से जनाया कि कहनेको हुआ पर कहने न पाया था कि वह बीचमें बोल उठा।

टिप्पणी—३ (क) 'कह तापस नृप जानौं तोही' इति। जब अपना नाम बताने लगा तब तापस (राजाकी बात काटकर) बोला कि हम तुम्हें जानते हैं। तुम अपनेको मंत्री बताते हो, पर मंत्री हो नहीं। तुम तो राजा हो; इसीसे तो हम तुम्हें 'नृप' कहते हैं। (ख) 'कीन्हेहु कपट लाग भल मोहीं।' कपट किसीको अच्छा नहीं लगता पर हमको तुम्हारा कपट करना अच्छा लगा। 'भला लगा' कहनेका भाव कि कपटसे और प्रीतिसे विरोध है। कपटसे प्रीतिका नाश होता है, यथा 'जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि। ५७।' पर तेरे इस कपटसे मेरा प्रेम तुझसे हटा वा घटा नहीं वरन् अत्यंत अधिक हो गया। आगे दोहेमें इन दोनों (कपट भला लगने और प्रीति अति अधिक होने) का हेतु कहता है कि तुम्हारी चतुरता देखकर यह दोनों बातें हुईं। (ग) 'सुनु महीस०' इति। 'अति प्रीति' का भाव कि चतुरता विचारकर प्रीति हुई अतएव जैसी चतुरता है वैसी ही प्रीति है। राजामें 'परम' चतुरता है इसीसे 'अति' प्रीति हुई, यथा 'उतरि-तुरग ते कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज

नामा' । (घ) 'असि नीति' का भाव कि तुमने नाम न बताया सो ठीक किया, यही नीति कहती है, तुमने अनीति नहीं की । तुम्हारा नामका छिपाना कपट नहीं है किंतु राजनीतिकी निपुणता है, तुमने उस नीतिका पालन किया है, कुछ कपट नहीं किया ।

नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा । सत्यकेतु तव पिता नरेसा ॥१॥
गुर प्रसाद सब जानिअ राजा । कहिय न आपन जानि अकाजा ॥२॥
देखि तात तव सहज सुधाई । प्रीति प्रतीति नीति निपुनाई ॥३॥
उपजि परी ममता मन मोरें । कहौं कथा निज पूंछे तोरें ॥४॥
अब प्रसंन मैं संसय नाहीं । मांगु जो भूप भाव मन माहीं ॥५॥

शब्दार्थ—निपुनाई = निपुणता । ममता = ममत्व, स्नेह, प्रेम, अपनापन ।

अर्थ—तुम्हारा नाम भानुप्रताप है । राजा सत्यकेतु तुम्हारे पिता थे ॥१॥ हे राजन् ! गुरुकी कृपासे मैं सब जानता हूँ पर अपनी हानि समझ कहता नहीं ॥२॥ हे तात ! तुम्हारी स्वाभाविक सिधाई, प्रीति, प्रतीति और नीतिमें निपुणता देख मेरे मनमें ममत्व उत्पन्न हो गया; इसलिए तेरे पूछनेसे अपनी कथा कहता हूँ ॥३-४॥ अब मैं प्रसन्न हूँ इसमें सन्देह नहीं । राजन् ! जो मनको भावे माँग ले ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा । सत्यकेतु…।' इति । पिता समेत नाम लेनेका भाव कि प्रणाम करनेके समय पिता समेत नाम लेनेकी विधि है । कपटी मुनिको प्रणाम करते समय राजाने पितासमेत अपना नाम न लिया था, इसीसे उसने अपनी सिद्धता दिखानेके लिए, सर्वज्ञताका पूर्ण विश्वास जमानेके लिए दोनोंका नाम खोल दिया । तपस्वी पहिले राजाके पिताका नाम बताता पीछे राजाका, परन्तु भानुप्रताप अपना नाम कहने ही लगा था इसीसे (उसने इनकी बात काटकर जिसमें राजाके मुखसे नाम निकलने न पावे, राजा रुक जाय) प्रथम इन्हींका नाम कहा पीछे पिताका । (ख) 'गुरप्रसाद सब जानिअ' इति । ☞प्रथम सब पदार्थोंकी प्राप्ति तपोबलसे कही, यथा 'सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं' । जानकारी गुरुप्रसादसे कहता है क्योंकि विना गुरुके ज्ञान नहीं होता, यथा 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान' । (इससे यह भी जनाया कि तुम हमें गुरु करोगे तो तुम्हें भी सब सुलभ हो जायगा) । (ग) 'कहिअ न आपन जानि अकाजा' इति ।—भाव कि अपनी जानकारी कहनेसे लोकमान्यता होती है, जैसा पूर्व कह चुके हैं, यथा 'लोकमान्यता अनल सम कर तपकानन दाहु ।', अतएव नहीं कहते । तात्पर्य्य कि हम अपनेको छिपाये रखते हैं क्योंकि 'सब बिधि कुसल कुबेष बनाएँ' । (घ) 'जब सब जानते हो, पिताका नाम बताया, नगरका फ़ासला बताया, इत्यादि और यह भी जानते हो कि कहनेसे अकाज होता है तब कहा क्यों ?' इस संभावित शंकाका समाधान स्वयं ही आगे प्रथम ही किए देता है कि 'देखि०' । (ङ) 'देखि तात तव सहज सुधाई ।०' सहज सुधाई, प्रीति, प्रतीति और नीतिकी निपुणता इन चारका देखना कहा । 'भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा' से 'नाथ नाम निज कहहु बषानी । १६०।१-४ ।' तक 'सहज सुधाई' है । [यथा 'सरल बचन नृपके सुनि काना । १६०।८ ।', 'कह नृप जे विज्ञाननिधाना' से 'मोपर कृपा करिअ अब स्वामी' १६१ (१-५) तक सहज प्रीति प्रतीति है] 'सहज प्रीति भूपति कै देखी । आपु बिषय बिस्वास बिसेषी' यहाँ प्रीति प्रतीति देखी । 'परम चतुर न कहेउ निज नामा' यह नीति निपुणता देखी, यथा 'सुनु महीस अस नीति जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप ।'

२ (क) 'उपजि परी ममता मन मोरें' इति । 'उपजि परी' का भाव कि संतको ममता न करनी चाहिए । (संत निर्मम होते हैं । उनका किसीपर ममत्व कैसा ? पर तुम्हारी प्रीतिप्रतीति इत्यादि देखकर

मुझसे रहा न गया । गुणोंमें सामर्थ्य ही ऐसा है कि आत्माराम मुनियोंको भी खींच लेता है। प्रेमके आगे नेम नहीं रह जाता । बस) 'ममता' उपज पड़ी, तुमपर स्नेह हो गया । अर्थात् हमने तुमको अपना सुत और सेवक मान लिया । (नोट—'ममता वह स्नेह है जो माताका पुत्रके साथ होता है। राजाने अपनेको 'सुत सेवक' कहा था उसीकी जोड़में इसने 'ममता' का उपजना कहा । 'उपजना' का भाव ही यही है कि पहिले न थी अब 'प्रेम' आदि बीज पड़नेसे उत्पन्न हो गई; मातापिताकी भाँति मेरा सहज प्रेम तुमपर अब हो गया) । (ख) ☞ अपनी कथा कहनेके दो हेतु बताए । 'ममता' और 'पूँछे तोरें' । राजाने पूछा था; यथा 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी । नाथ नाम निज कहहु बखानी' ('बखानकर कहो' कहा था, इसीसे नाम, अर्थ, उसका कारण तपोबल इत्यादि सब कहे) । दो हेतु कहनेका भाव कि यदि केवल हमारा ममत्व ही तुमपर होता और तुमने पूछा न होता तो भी हम न कहते, इसी तरह यदि केवल तुमने पूछा ही होता पर मुझे तुम्हारे ऊपर ममता न हुई होती तो भी मैं न कहता । यहाँ दोनों कारण उपस्थित हो गए, इससे कहना पड़ा ।

३ (क) 'अब प्रसन्न मैं' इति । 'अब' कहनेका भाव कि तुमपर हमारा ममत्व हो गया, तुमको हमने अपना जाना, अब प्रसन्न हैं । पुनः भाव कि जब तुमने नीति बरती, नीतिके अनुकूल कपट किया तब हमको अच्छा लगा था—'कीन्हेहु कपट लाग भल मोही', और जब तुम निष्कपट होकर अपना नाम बताने लगे तब हम प्रसन्न हो गए । (ख) 'संसय नाहीं' कहनेका भाव कि कपट करनेसे प्रसन्नता होनेमें संदेह होता है, तुम संशय न करो कि "हमने मुनिसे कपट किया, नाम न बताया, झूठ बोले कि हम मंत्री हैं, तब हमपर प्रसन्न कैसे होंगे ! केवल हमारी खातिरी, हमारे संतोषके लिए ऐसा कहते हैं कि हम प्रसन्न हैं" । (निष्कट हो गए हो इससे मेरी प्रसन्नतामें भी कुछ संदेह नहीं है) । प्रसन्नतामें विश्वास करानेके लिए 'संसय नाहीं' कहा । (ग) 'माँगु जो भूप भाव मन माहीं' इति । ☞ छल करनेका और कोई उपाय न देख पड़ा तब वर माँगनेको कहा, यह सोचकर कि जो भी वर माँगेगा उसीमें ब्राह्मण भोजन करानेको कहेंगे । (कपटी मुनिने सोचा कि राजा अब पूरा क़ाबूमें आ गया है, अब इसके नाशका उपाय करना चाहिए । अतः अब वर माँगनेको कहा) । (घ) 'अब प्रसन्न मैं' कहकर 'माँगु' कहनेका भाव कि हमारी प्रसन्नता निष्फल नहीं होती । [वर प्रसन्नता होनेसे ही दिया जाता है, यथा 'परमप्रसन्न जानु मुनि मोही । जो बर माँगहु देउँ सो तोही । ३।११ ।', 'कागभुसुंडि मांगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि । ७।८३ ।' इसीसे 'वर' मँगवानेके लिए प्रथम अपनेको 'अब प्रसन्न' कहा ।] (ङ) 'भूप' संबोधनका भाव यह है कि तुम सातो द्वीपोंके चक्रवर्त्ती राजा हो, इससे पृथ्वीके (भूलोकके) तो सब पदार्थ तुम्हारे पास हैं ही फिर भी तुम्हें कोई अभाव अवश्य होगा । तुमने कहा ही था 'मो पर कृपा करहु अब स्वामी' । अतः जो वस्तु तुम चाहो सो माँगो । अर्थात् हम तुम्हें स्वर्गादि अपर लोकोंके पदार्थ भी देनेको समर्थ हैं ।

प० प० प्र०—यद्यपि कपटमुनिने 'अब प्रसन्न' 'माँगु जो भूप भाव मन माहीं' ऐसा कहा । तथापि जिसके मनमें कुछ भी विषयवासना नहीं है, उससे यदि कोई एकाएक कहे कि 'माँगु जो भाव मन माहीं' तो वह उसी क्षण कुछ भी माँगनेमें असमर्थ ही होगा, (पर राजाने तुरत वर माँगा), जो वर राजाने माँगा है वह तो विना सोच विचारके कोई भी न माँग सकेगा । सुतीक्ष्णजीकी हालत तो देखिए । जब भगवान्‌ने उनसे कहा—'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही । जो बर माँगहु देउँ सो तोही ।', तब भक्तिकी आकांक्षा रखते हुए भी मुनिने क्या कहा ?—'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा । समुझि न परइ झूठ का साचा ।' और प्रतापभानुने क्या माँगा—'जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ । एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ ।' क्या विना पूर्व विचारके ऐसा वर कोई माँग सकेगा ? 'कृपासिंधु मुनि दरसन तोरें । चारि पदारथ करतल मोरें ।' कहा तो सही, पर जो ज्ञानी जीवन्मुक्त है, वह ऐसा वर किसीसे क्यों माँगेगा ?

देखिए तो, राजाने यहाँ भी 'चारि पदारथ' को ही कहा, भक्तिका नाम भी नहीं लिया, भक्तिका स्मरण भी नहीं हुआ। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रतापभानुको ऐश्वर्यकी लालसा थी, इसीसे उन्होंने पिताके राज्य देने पर नहीं नहीं किया और सम्राट् होनेपर भी अधिक ऐश्वर्यकी लालसा उसके हृदयमें गुप्त रीतिसे बसी हुई थी, वह निष्काम कर्म वासुदेवार्पित करता था पर कर्तृत्वाहंकार नष्ट नहीं हुआ था। उसमें भक्तिका पूरा-पूरा अभाव था। (पूर्व १५८।६-७ भी देखिए शृंखलाके लिये)।

वि० त्रि०—'मांगु जो भूप भाव मन माही' इति। इस तरह वह भीतरी इच्छा जानना चाहता है। भीतरी इच्छा ही कमजोरी है, उसीकी पूर्तिके लिये आदमी अंधा हो जाता है। धूर्त्त लोग सदा उसके जानने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि उसे जान लेने पर ठगनेमें बड़ा सुभीता होता है।

सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना ॥६॥
कृपासिंधु मुनि दरसन तोरें। चारि पदारथ करतल मोरें ॥७॥
प्रभुहि तथापि प्रसंन बिलोकी। मांगि अगम बर होउं असोकी* ॥८॥
दोहा—जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जिनि कोउ।
एक छत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ ॥१६४॥

शब्दार्थ—कलप—३३।७ (मा० पी० भाग १ पृष्ठ ५४६ देखिये। कल्पोंके नाम आगे दिये गये हैं।

अर्थ—राजा सुन्दर वचन सुनकर प्रसन्न हुआ और तपस्वीके चरणोंको पकड़कर बहुत तरहसे उसने विनती की ॥ ६ ॥ हे दयासागर मुनि! आपके दर्शनसे चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) मेरे हथेली-पर हैं तो भी प्रभुको प्रसन्न देख दुर्लभ वर माँगकर (क्यों न) शोकरहित हो जाऊँ ॥ ८ ॥ बुढ़ापा और मृत्युके दुःखोंसे शरीर रहित हो, संग्राममें कोई जीत न सके, एक छत्र राज्य हो, पृथ्वीपर कोई शत्रु न रह जाय और सौ कल्प तक राज्य हो ॥ १६४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि सुबचन०'। वांछित पदार्थ देनेको कहा इसीसे इन्हें 'सुबचन' कहा। ☞ यहाँ राजाका मन, वचन और कर्म तीनोंसे मुनिके शरण होना दिखाया। मनमें हर्ष है, वचनसे विनय कर रहा है और तनसे चरण पकड़े है। (ख) 'कृपासिंधु मुनि' का भाव कि राजाने प्रथम कृपा करनेकी प्रार्थना की थी, यथा 'मो पर कृपा करिअ अब स्वामी'। अब 'कृपासिंधु' कहकर जनाते हैं कि आपने मुझपर असीम कृपा की। (विना सेवा शुश्रूषाके, विना जप तपके चन्द मिनटोंके समागममें इतनी बड़ी कृपा की कि मुहँ माँगा वर देनेको तैयार हो गये। अतः कृपासिंधु जाना। वि० त्रि०)। (ग) 'दरसन तोरें चारि पदारथ करतल मोरें' इति। भाव कि चारों पदार्थ तो हमको पूर्वहीसे प्राप्त रहे हैं, यथा 'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु ।१५४।', अब आपके दर्शनसे वे सब मेरे 'करतल' में हो गए। अर्थात् (पहिले मुझे तो जरूर प्राप्त थे पर दूसरोंको देने योग्य मैं न था, अब आपके दर्शनोंसे मैं इस योग्य भी हो गया) अब मैं चारों पदार्थ दूसरोंको दे सकता हूँ। (घ) 'प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी।०'—भाव कि आपके दर्शनसे चारों पदार्थ करतल हो गए, अब आपकी प्रसन्नता देखकर अगम वर माँगता हूँ। वह दर्शनका महत्व था, यह प्रसन्नताका महत्व है। 'अगम' अर्थात् जहाँ तक किसीकी गति आजतक न हुई हो।

२—'जरा मरन दुख रहित तनु०'। (क) 'तनु' का भाव कि जैसा आपका तन जरामरण दुःख-रहित है वैसा ही हमारा भी कर दीजिए। पुनः हम क्षत्रिय हैं, अतः हमारा तन ऐसा बलवान कर दीजिए कि हमें कोई न जीत सके। (पुनः भाव कि 'शीर्यते इति शरीरम्' सो शरीर जरा-मरण-रहित हो, यह महादुर्गम

* पाठान्तर—बिसोकी (भा० दा०)

वर है। शरीरका नाम ही रोगायतन है, सो दुःखरहित हो। 'समर जितै जनि कोउ', प्राणीमात्रसे अजय हो जाऊँ, इस भाँति अलौकिक पराक्रम माँगा। वि० त्रि०) । (ख) 'एक छत्र' अर्थात् छत्र एकमात्र हमारे ऊपर लगे; दूसरा छत्रधारी कोई राजा न हो। 'रिपुहीन महि०' अर्थात् हमको जीतने योग्य कोई शत्रु सौ कल्प तक न हो।

नोट—१ 'कलपशत' इति। यहाँ भानुप्रताप 'शत कल्प' तक राज्य होनेकी प्रार्थना करता है। अतः कल्पोंके संबंधमें कुछ जानकारीकी आवश्यकता हुई।

अमरकोशमें कल्पके विषयमें यह उल्लेख है—"मासेन स्यादहोरात्रः पैत्रो वर्षेण दैवतः। दैवे युग सहस्रे द्वे ब्राह्मः कल्पौ तु तौ नृणाम्॥ १।४।२१।" अर्थात् हमारे (मनुष्योंका) एक मास पितरोंका एक दिनरात होता है और हमारा एक वर्ष देवताओंका एक दिनरात होता है। देवताओंके दो हजार युग (अर्थात् हमारे दो हजार सत्ययुग, दो हजार त्रेता, दो हजार द्वापर और दो हजार कलियुग) का ब्रह्माका एक दिनरात होता है जिसे मनुष्यका दो कल्प कहा जाता है। एक सृष्टि दूसरा प्रलय। ब्रह्माके दिनको कल्प कहते हैं और रात्रिको कल्पान्त, कल्प, प्रलय, क्षय आदि कहा जाता है।

ब्रह्माके एक दिन को कल्प कहते हैं। जैसे हमारे यहाँ मासमें तीस दिन होते हैं और प्रतिपदा, पूर्णमासी और अमावस्या होती हैं वैसे ही ब्रह्माजीके प्रत्येक मासमें तीस दिनके तीस नाम वाले कल्प और प्रतिपदा आदि होते हैं।

भा० ३।११।३४ की 'अन्वितार्थप्रकाशिका टीका' में लिखा है कि (स्कन्दपुराणान्तर्गत) प्रभासखण्डके अनुसार श्वेतवाराहसे लेकर पितृकल्पतक, ब्रह्माजीके शुक्ल प्रतिपदा से अमावस्यातक, तीस दिन का एक मास होता है। इन तीसों कल्पोंकी बारह आवृत्ति होनेसे ब्रह्माका एक वर्ष होता है। ब्रह्माजीकी आधी आयुको 'परार्द्ध' कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कल्पोंके नाम प्रत्येक मासमें वही रहते हैं।

प्रभासखण्डमें कल्पोंके नाम इस प्रकार हैं। यथा "प्रथमः श्वेतकल्पस्तु द्वितीयो नीललोहितः। वामदेवस्तृतीयस्तु ततोराथंतरोऽपरः॥ ४५॥ रौरवः पञ्चमः प्रोक्तः षष्ठः प्राण इति स्मृतः। सप्तमोऽथ बृहत्कल्पः कन्दर्पोऽष्टम उच्यते॥ ४६॥ सद्योऽथ नवमः प्रोक्त ईशानो दशमः स्मृतः। ध्यान एकादशः प्रोक्तस्तथा सारस्वतोऽपरः॥४७॥ त्रयोदश उदानस्तु गरुडोऽथ चतुर्दशः। कौर्मः पञ्चदशो ज्ञेयः पौर्णमासी प्रजापतेः॥ ४८॥ षोड़शो नारसिंहस्तु समाधिस्ततः परः। आग्नेयोऽष्टादशः प्रोक्तः सोमकल्पस्ततोऽपरः॥ ४९॥ भावनो विंशतिः प्रोक्तः सुप्तमालीति चापरः। वैकुण्ठश्चार्चिषो रुद्रो लक्ष्मीकल्पस्तथापरः॥५०॥ सप्तविंशोऽथ वैराजो गौरी कल्पस्तथान्धकः। माहेश्वरस्तथा प्रोक्तस्त्रिपुरो यत्र घातितः॥५१॥ पितृकल्पस्तथान्ते च याकुहूर्ब्रह्मणः स्मृता। त्रिंशत् कल्पास्समाख्याता ब्रह्मणो मासि वै प्रिये॥ ५२॥" इसके अनुसार कल्पोंके नाम क्रमशः ये हैं – १ श्वेत (श्वेतवाराह) कल्प, २ नीललोहित, ३ वामदेव, ४ रथन्तर, ५ रौरव, ६ प्राण, ७ बृहत्, ८ कन्दर्प, ९ सद्य, १० ईशान, ११ ध्यान, १२ सारस्वत, १३ उदान, १४ गरुड़, १५ कौर्म (ब्रह्माकी पूर्णमासी), १६ नारसिंद, १७ समाधि, १८ आग्नेय, १९ सोमकल्प, २० भावन, २१ सुप्तमाली, २२ वैकुण्ठ, २३ आर्चिष, २४ रुद्र, २५ लक्ष्मी, २६ वैराज, २७ गौरी, २८ अंध्रक, २९ माहेश्वर और ३० पितृकल्प।

शब्दसागरमें भी तीस नाम दिये हैं। उनमें प्रभासखण्डोक्त नामोंसे कहीं-कहीं भेद है। श० सा० में ११ व्यान; १७ समान; २० मानव; २१ पुमान; २३,२४,२५ क्रमशः 'लक्ष्मी, सावित्री और घोर'; २६ वाराह, २७ वैराज, २८ गौरी—है। शेष सब दोनोंमें एकसे हैं।

इसी प्रकार अन्यत्र भी दो तीन स्थलोंमें तीस कल्पोंके नामों का उल्लेख मिलता है परन्तु उनमें भी कुछ नामोंमें भेद है।

कल्पोंकी संख्या और नामोंमें बहुत मतभेद है, हम उसका भी उल्लेख यहाँ किये देते हैं। कोई सात, कोई अट्ठारह और कोई बत्तीस कल्पोंका निर्देश करते हैं।

'प्रतिष्ठेन्दुशेखर' में (स्नान) संकल्पमें सात नाम ये गिनाये हैं—प्राणकल्प, पार्थिवकल्प, कूर्मकल्प, अनन्तकल्प, ब्रह्मकल्प, वाराहकल्प और प्रलयकल्प ।

भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्वके चतुर्थ खण्डमें अ० २५ में कल्पोंके नाम इस प्रकार हैं—'कल्पाश्चाष्टादशाख्यातास्तेषां नामानि मे शृणु । कूर्मकल्पो मत्स्यकल्पः श्वेतवाराहकल्पकः ॥ ५० ॥ तथा नृसिंहकल्पश्च तथा वामनकल्पकः । स्कन्दकल्पो रामकल्पः कल्पो भागवतस्तथा ॥ ५१ ॥ तथा मार्कण्डकल्पश्च तथा भविष्यकल्पकः । लिङ्गकल्पस्तथा ज्ञेयस्तथा ब्रह्माण्डकल्पकः ॥ ५२ ॥ अग्निकल्पो वायुकल्पः पद्मकल्पस्तथैव च । शिवकल्पो विष्णुकल्पो ब्रह्मकल्पस्तथा क्रमात् ॥ ५३ ॥' अर्थात् अट्ठारह कल्प कहे गये हैं उनके नाम सुनो—कूर्मकल्प, मत्स्यकल्प, श्वेतवाराह कल्प, नृसिंह, वामन, स्कन्द और रामकल्प, भागवत, मार्कण्ड तथा भविष्यकल्प, लिङ्ग, ब्रह्माण्ड, अग्नि और वायुकल्प, पद्म, शिव, विष्णु और ब्रह्मकल्प ।

'आह्निक सूत्रावली' में ३२ कल्पोंकी चर्चा हेमाद्रिकृत स्नान संकल्पमें आई है जिसमें रथन्तरको आदिमें गिनाया है और श्वेतवाराहको आठवाँ कहा है, यथा "परार्द्धद्वय जीविनो ब्रह्मणो द्वितीये परार्धे एकपञ्चाशत्तमे वर्षे प्रथममासे प्रथमपक्षे प्रथमदिवसे अह्नो द्वितीये यामे तृतीये मुहूर्त्ते रथन्तरादिद्वात्रिंशत्कल्पानां मध्ये अष्टमे श्वेतवाराहकल्पे स्वायम्भुवादि मन्वन्तराणां मध्ये सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे कृतत्रेताद्वापरकलिसंज्ञकानां चतुर्णां युगानां मध्ये वर्तमाने अष्टाविंशतितमे कलियुगे तत्प्रथमे विभागे" ।

इस संकल्पसे हमें यह बातें मालूम होती हैं—ब्रह्माकी आयु दो परार्द्ध (शब्द सागरके अनुसार हमारे दो शंख वर्ष) हैं । उसमेंसे आधी आयु बीत चुकी । इस समय उनके एक्कावनवें वर्षके प्रथम दिनके दूसरे प्रहरका तीसरा मुहूर्त्त (दंड) चल रहा है । रथन्तरादि बत्तीस कल्पोंमेंसे यह श्वेतवाराह नामक आठवाँ कल्प इस समय वर्तमान है ।

हमने कुछ विस्तारसे इसलिये लिखा है कि हमारे देशके वैज्ञानिक अपने सद्ग्रन्थोंको प्रमाण मानकर उसके अनुसार सृष्टिके संबंधमें खोज करें । केवल पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके पैरोंपर न चलें । ईसाई और मुसलिम खुदाई पुस्तकोंकी अशुद्धता इस संबंधमें तो इतने ही दिनोंमें स्पष्ट हो गई ।

टिप्पणी—३ 'कल्प शत' राज्य हो अर्थात् ब्रह्माके सौ दिनोंतक हमारा राज्य स्थिर रहे । यह भी ध्वनि है कि हमारे राज्यमें ब्रह्माके सौ दिनतक प्रलय न हो । इतने दिन तो राज्य रहे पर जरा-मरणरहित सदाके लिये हो जाऊँ । (पुनः 'कल्प शत' से मेरी समझमें 'सैकड़ों कल्प' यह अर्थ अधिक उत्तम है । भाव कि ब्रह्माकी आयुभर हम अमर रहें और हमारा राज्य अकंटक हो । यह तृष्णाका स्वरूप है । राजा चक्रवर्त्ती है, चारों पदार्थ प्राप्त हैं तो भी संतोष नहीं हुआ, तृष्णा शान्त न हुई । ☞सौ कल्प राज्य हो, ऐसा वर माँगनेसे पाया गया कि राजा न तो ज्ञानी ही था और न भगवद्भक्त ही; क्योंकि यदि ज्ञानी होता तो ऐसे महात्माको पाकर भगवत्तत्त्व पूछता, भगवत्प्राप्ति माँगता, राज्य न माँगता । तब यह कैसे कहा गया कि राजा ज्ञानी है ? यथा 'करै जे धरम करम मन बानी । बासुदेव अर्पित नृप ज्ञानी । १५६।२ ।' उत्तर यह है कि यहाँ 'ज्ञानी' कहनेका अभिप्राय केवल यह है कि राजा धर्मात्मा था, वेद पुराण सुननेसे उसे यह ज्ञान प्राप्त हो गया था कि विना भगवान्को अर्पण किये कर्म बंधनस्वरूप है, इसीसे जो धर्म करता था वह भगवान्को अर्पण कर देता था । बस इतने ही अंशमें राजा 'ज्ञानी' था) । (इस वरसे स्पष्ट है कि उसके भीतर प्रौढ़ देहाभिमान है और राज्यकी उत्कट वासना है । चाह ही दुःख रूपी वृक्षका दृढ़शक्तिक बीज है । चाह शेष रह जाने पर, जो सुख है वह भी दुःखरूप है। ज्ञानी राजा चाहके शेष रह जानेसे बड़ी भारी बिपत्तिमें पड़ना चाहता है । वि० त्रि०) ।

नोट—२ तापससे राजाने जैसा सुना वैसा ही वर माँगा। उसने सोचा कि जब ये आदिसृष्टिसे अपना एक ही तन स्थित रख सके हैं तब इनके लिये कौन बड़ी बात है कि सौ कल्पतक हमारा राज्य इसी शरीरसे

करा दें। प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि जिसकी राजसी प्रकृति होती है वह बड़ी आयु चाहता है, जैसे खिज़ाब लगाकर लोग ईश्वरको धोखा देना चाहते हैं।

३—राजाके ज्ञानी और भक्त होनेमें संदेह नहीं, वह अवश्य ज्ञानी था। पर यहाँ ठीक वही बात है जो श्रीशंकरजीने पूर्व कही है कि 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ' एवं 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'। श्रीरामजी मनुजीके पुत्र होने जा रहे हैं। उसी लीलाके लिये उन्हें रावण भी तैयार करना है। आगे भी 'भूपति भावी मिटहि नहिं जदपि न दूषन तोर' यह जो कहा है वह भी इस भावका पोषक है। भावी हरिइच्छाको भी कहते ही हैं।

कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ॥ १॥
कालौ तुअ पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाड़ि महीसा॥ २॥
तपबल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह कें कोप न कोउ रखवारा॥ ३॥
जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ सब बिधि बिष्नु महेसा॥ ४॥
चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई॥ ५॥

शब्दार्थ—कारन (कारण)=वह जिसके विना कार्य्य न हो। वह जिसका किसी वस्तु या क्रियाके पूर्व संबद्धरूपसे होना आवश्यक हो। साधन। वह जिससे दूसरे पदार्थकी संप्राप्ति हो।—(श० सा०)।

अर्थ—तापस राजाने कहा कि ऐसा ही हो, (पर इसमें) एक कारण है जो कठिन है, उसे भी सुन लो॥ १॥ राजन्! केवल विप्रकुलको छोड़कर काल भी तुम्हारे चरणोंपर मस्तक नवावेगा॥ २॥ तपस्याके बलसे ब्राह्मण सदा प्रबल रहते हैं, उनके कोपसे रक्षा करनेवाला कोई नहीं है॥ ३॥ हे राजन्! जो ब्राह्मणों को वशमें कर लो तो विधि हरि हर सभी तुम्हारे हो जायें॥ ४॥ ब्राह्मण कुलसे जबरदस्ती नहीं चल सकती, मैं अपनी दोनों भुजाओंको उठाकर सत्य-सत्य कहता हूँ॥ ५॥

टिप्पणी १—'कह तापस नृप ऐसेइ होऊ।०' इति। (क) 'तापस' कहनेका भाव कि कपटी मुनिने यह जनाया कि हम तपस्वी हैं, हमारे तपके बलसे ऐसा होगा। 'ऐसेइ होऊ' यह 'एवमस्तु' का अर्थ है। (ख) 'कारन एक कठिन'। भाव कि एक कारण कठिन है जो तुमको अजर अमर न होने देगा। वह कठिन कारण आगे कहता है। 'कारण कठिन है' अर्थात् हमसे इसका निवारण न हो सकेगा। (ग) 'सुनु सोऊ' का भाव कि जो अगम वर हमने तुमको दिया है उसमें जो कठिन कारण है और जो उस कठिन कारणका निवारण है वह भी हम कहते हैं सुनो। (घ) 'एक' का भाव कि इस कारणका उपाय हो जाय तो फिर वर रोकनेवाला दूसरा कोई कारण नहीं है। एक मात्र यही है दूसरा कोई नहीं।

२ 'कालौ तुअ पद नाइहि सीसा'। इति। (क) 'कालौ' कहनेका भाव कि काल सबको खाता है सो भी तुम्हारे वशमें रहेगा। राजाने 'जरा मरन दुखरहित' होनेका वर माँगा, उसीपर कपटी मुनि कहता है कि काल भी तुम्हारे चरणोंपर मस्तक नवायेगा। अर्थात् वह भी तुम्हारी मृत्यु न कर सकेगा। तब औरोंकी गिनती ही क्या? (ख) 'एक बिप्रकुल छाँड़ि'। भाव कि ब्राह्मण कालसे भी प्रबल हैं। काल तुम्हारे वशमें रहेगा। त्रैलोक्य तुम्हारे वशमें रहेगा। एक मात्र ब्राह्मण वशमें नहीं रह सकते। ☞राजाने जो वर माँगा है कि 'समर जितै जनि कोउ' उसीके उत्तरमें कपटी मुनिने 'एक बिप्रकुल छाँड़ि०' कहा अर्थात् काल कुछ न कर सकेगा पर ब्राह्मणोंको तुम भारी वा महाकाल समझो। कालसे हम तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं पर ब्राह्मणोंसे नहीं, जैसा आगे कहते हैं—'तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्हके कोप न कोउ रखवारा'।

१—१६६१ में 'सब' है। पाठान्तर—'बस'।

(कपटी मुनिने देख लिया कि भानुप्रतापका राज्य बिना ब्रह्मशापके जा नहीं सकता अतः ब्राह्मणोंसे भय बतलाकर उसने ब्रह्मद्रोहका बीज बो दिया । वि० त्रि०)।

३ (क) 'तपबल बिप्र सदा बरिआरा ।' इति । ब्राह्मणकुल तुम्हारे अधीन न होगा, यह कहकर अब उसका कारण कहते हैं कि तपबलसे ये सदा प्रबल हैं। तपका बल पूर्व कह चुके हैं।—'तप बल तें जग सृजै बिधाता ।०' इत्यादि । 'सदा बरिआरा' कहनेका भाव कि सदा प्रबल कोई नहीं रहता, जब निर्बल हो जाते हैं तब दूसरा उनको जीत ले सकता है, किन्तु यह बात यहाँ न समझो । ये सदा प्रबल रहते हैं, इनका बल कभी नहीं घटता कि जो इन्हें कोई अधीन कर ले। यह न समझो कि हमें तो सौ कल्प रहना है कभी तो इनका बल कम होगा तब वशमें कर लेंगे । (ख) 'तिन्ह कें कोप न कोउ रखवारा' इति । तात्पर्य्य कि विप्रकोपसे हम भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते । (ग) 'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा ।। तौ तुअ सब ।०' तात्पर्य्य कि ब्राह्मणोंके वश हो जानेसे त्रिदेव भी तुम्हारी आज्ञानुसार चलेंगे । यथा 'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव । मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव । ३।३३ ।' ☞ब्राह्मणोंको वशमें करनेको कहा पर उसका उपाय न कहा, इस विचारसे कि राजा जब पूछेगा तब बतायेंगे । युक्ति जल्दी न बतानी चाहिए, यह बात वह स्वयं आगे कहेगा, यथा 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ । फुरै तबहि जब करिय दुराऊ ।' यदि बिना पूछे तुरत बता देता तो यह वचन झूठा पड़ जाता । (राजाको इसकी बात काटनेका मौक़ा मिल जाता कि आपने हमसे 'युक्ति' बतानेमें किंचित् संकोच न किया और हमसे छिपानेको कहते हैं । ☞आगे जो युक्ति बाँधना है उसकी भूमिका यहींसे बाँध चला है)। (घ) 'तौ तुअ सब बिधि बिष्नु महेसा' का भाव कि जब उत्पन्न पालन संहार करनेवाले ही बसमें हो गए तब सब सृष्टि तो बस हो ही चुकी । (नोट—पूर्व तपकी प्रशंसा कर चुका है, इसीसे ब्राह्मणोंका बल भी तपसे ही कहा । भाव कि मैंने जो वर दिया वह तपोबलसे दिया । अतः मेरा वर तपोधनसे ही कट सकता है । और ब्राह्मण तपोधन हैं ही । राजा जानता है कि विप्रोंने जिसपर क्रोध किया उसको किसीने न बचाया इसीसे कहा कि उनको वशमें करो ।)

४ 'चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई ।०' इति । (क) ब्राह्मणकुलसे जबरदस्ती करनेको मना करता है। भाव कि जैसे सब राजाओंको जबरदस्ती जीत लिया, यथा 'जहँ तहँ परी अनेक लराई । जीते सकल भूप बरिआई', वैसी ज़बरदस्ती बिप्रकुलके साथ नहीं चल सकती क्योंकि 'तप बल बिप्र सदा बरिआरा ।' (पुनः भाव कि ब्रह्मादि देवताओंपर भी जोर चल सकता है पर इनसे बस नहीं चलता । पुनः, 'बरिआई' का भाव कि वे शस्त्रबलसे वश नहीं हो सकते । विश्वामित्र और वसिष्ठके विरोधसे यह सिद्ध हो गया है कि क्षात्रबलसे ब्रह्मबल बहुत अधिक है । वि० त्रि०)। (ख) ☞'सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई ।' प्रतिज्ञा वा प्रण करनेमें भुजा उठानेकी रीति है, यथा 'पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल । २४९ ।', 'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी । भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी । २।२६६ ।', 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।३।९।' बातको अत्यन्त पुष्ट करनेके लिए भुजा उठाकर कहा । (ग) 'सत्य कहउँ' । सत्य-पद दिया जिसमें राजा ब्राह्मणोंको अत्यंत प्रबल समझे क्योंकि जबतक अत्यन्त प्रबल न समझेगा तबतक उनके वश करनेका उपाय ही क्यों पूछेगा । जिसमें उपाय पूछे इस अभिप्रायसे ऐसा कहा । (नोट—'चल न बरिआई', 'दोउ भुजा उठाई' और 'बिप्रश्राप बिनु' शब्दोंसे गुप्तरीतिसे जनाता है कि विप्रश्रापसे तुम्हारा नाश होगा)।

बिप्र-श्राप बिनु सुनु महिपाला । तोर नास नहिं कवनेहु काला ।।६।।
हरषेउ राउ बचन सुनि तासू । नाथ न होइ मोर अब नासू ।।७।।
तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना । मो कहुं सर्वकाल कल्याना ।।८।।

दोहा—एवमस्तु कहि कपटमुनि बोला कुटिल बहोरि।
मिलब हमार भुलाब निज कहहु त* हमहि न खोरि ॥१६५॥

शब्दार्थ—मिलब = मिलाप। भुलाव=भुलावा, भटकने या भूल जानेकी बात। त = तो।

अर्थ—हे राजन्! सुनो। ब्राह्मणोंके शाप बिना तुम्हारी मृत्यु किसी भी कालमें न होगी ॥६॥ राजा उसके वचन सुनकर हर्षित हुआ (और बोला) हे नाथ! अब मेरा नाश न होगा। (वा, न हो) ॥७॥ हे कृपानिधान! हे प्रभो! आपकी प्रसन्नतासे मेरे लिये सब कालमें कल्याण होगा (वा, हो) ॥८॥ 'एवमस्तु' कहकर वह कुटिल कपटी (नकली) मुनि फिर बोला कि हमारा मिलना और अपना भटकना (यदि किसीसे) कहोगे तो हमारा कोई दोष न होगा ॥१६५॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिप्रश्राप बिनु' 'नास नहिं कवनेहु काला'। राजाने तो इतना ही माँगा था कि शरीर 'जरामरण दुख रहित' हो जाय, पर कपटी मुनि उसके हृदयका आशय समझ गया कि इनकी मरनेकी इच्छा नहीं है; इसीसे कहता है कि 'कवनेहु काला' किसी कालमें तुम्हारा नाश नहीं होनेका। किसी कालमें अर्थात् नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, महाप्रलय आदिमें भी तुम बने रहोगे। ☞इससे राजापर अपनी परम प्रसन्नता और कृपा दिखा रहा है। जितना वर राजाने माँगा उससे अधिक दिया। देवता भी अजर अमर हैं; पर महाप्रलयमें उनका भी नाश होता है और राजाका नाश कभी न होगा, यह अधिकता है; इसीसे राजा हर्षित हुआ जैसा आगे कहते हैं—'हरषेउ राउ बचन सुनि तासू'। (ख) 'हरषेउ राउ'। इससे सूचित हुआ कि कपटी मुनिने ब्राह्मणोंके कोपका बहुत भय दिखाया था। राजाके हृदयमें भय न हुआ क्योंकि राजा ब्रह्मण्य है। इसीसे 'बिप्रश्राप बिनु सुनु महिपाला' यह सुनकर न डरा और 'तोर नास नहिं कवनेहु काला' यह सुनकर प्रसन्न हुआ। (ग) 'नाथ न होइ मोर अब नासा'। कपटी मुनिने जो कहा था कि तेरा नाश किसी कालमें न होगा वही वर राजा माँग रहा है कि अब मेरा नाश न होवे। ['न होइ' का भाव यह कि ब्राह्मण हमसे अप्रसन्न ही क्यों होंगे जो हमारा नाश हो। अतएव निश्चय है कि मेरा नाश अब न होगा]।

२ (क) 'तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना' का भाव कि कल्याण निष्कंटक अविनाशी राज्य, अविनाशी शरीर और सुखमय जीवन इत्यादि बहुत भारी सुकृतसे होते हैं, हमारे ऐसे सुकृत कहाँ हैं, यह सब आपके प्रसाद (प्रसन्नता) से, आपके प्रभुत्व (सामर्थ्य) से और आपकी समुद्रवत् कृपासे होंगे। (ख) 'मो कहुँ सर्वकाल कल्याना' इति। जब कपटी मुनिने राजाको उसके माँगनेसे अधिक वर दिया कि 'तोर नास नहिं कवनेहु काला' तब राजाने (यह सोचकर कि मैंने तो सौ कल्पतक राज्य माँगा है, सो तो इन्होंने पूर्व ही दे दिया, अब सदाके लिए अमर कर दिया तो यह निश्चय है कि सौ कल्पके बाद मेरा राज्य न रहेगा, शरीर अवश्य रहेगा; किंतु पराधीन रहकर यदि जीवन भी बना रहा तो वह किस कामका? अतएव वह अब यह वर माँगता है कि मेरा 'सर्वकाल कल्यान' हो। अर्थात् शरीरपर्य्यन्त राज्य भी बना रहे, हम अविनाशी तो हुए ही हमारा राज्य भी अविनाशी हो। 'सर्वकाल' अर्थात् सदा निष्कंटक राज्य रहे। (नोट—पं० रामकुमारजीने 'होइ' का अर्थ 'होवे' या 'हो' लिया है। अर्थात् राजा वर माँगता है कि ऐसा हो। इसीसे आगे तापसने 'एवमस्तु' कहा है। वि० त्रि० भी यही अर्थ करते हैं)।

३—'एवमस्तु कहि कपट मुनि बोला कुटिल बहोरि।०' इति। [(क) जब 'तापस' कहा तब 'अैसेइ होऊ' भाषाके शब्द कहे और जब मुनि कहा तब 'एवमस्तु' देववाणीका शब्द कहा; अर्थ एक ही है]। (ख) यहाँ कपट मुनि और कुटिल दो विशेषण देकर जनाया कि कपटी मुनि कपटी भी है और कुटिल भी। 'एवमस्तु' कहनेमें कपटमुनि कहा क्योंकि एवमस्तु कपटसे कहा गया है। राजाके इस कथनपर कि 'मेरा

* १६६१ में 'तहं हमहि' पाठ है।

नाश न हो, सब कालमें कल्याण हो' तापसने वचनसे तो एवमस्तु कहा पर अन्तःकरणमें वह राजाके नाशका उपाय विचार रहा है, यही कपट और कुटिलता है। और 'मिलब हमार भुलाव निज कहहु त हमहिं न खोरि' ये वचन कुटिलताके हैं। (ग) भुलाजानेमें ही इस कपटीके दर्शन हुए हैं, यथा 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई'। अतएव 'भुलाब निज' कहा। (घ) 'कहहु त हमहिं न खोरि'। हमारा दोष नहीं है अर्थात् हम पहिलेहीसे तुम्हें जनाए देते हैं, तुम आज्ञा न मानोगे तब हमारा दोष क्या ? तुम्हारा नाश तुम्हारी करनीका फल होगा। पुनः, भाव कि हम तुमसे न बताते, यह बात छिपा रखते, तो हमको अवश्य दोष लगता। किसीको अपनाकर फिर उससे दुराव करना दोष है (यह भूमिका वह पहिले ही बाँध चुका है), यथा 'अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटै अति मोही। १६२।४।'; अतएव दोषसे बचनेके लिए तुमको यह बात भी बता दी जिसमें पीछे यह न कहो कि आपने तो गुप्त रखनेको बताया न था। (ङ) ☞प्रथम बार जब वर दिया तब ब्राह्मणोंको वशमें करनेका आदेश किया, यथा 'कह तापस नृप ऐसेइ होऊ' इत्यादि। अब 'एवमस्तु' कहकर अपनेसे भेंट होनेकी बात दूसरेसे कहनेको मना करता है। ऐसा कहनेमें कपटी मुनिका आन्तरिक अभिप्राय यह है कि राजा लोभके वश होकर दोनों बातें करे; क्योंकि इन दोनों बातोंमें तापसका हित है, उसका स्वार्थ सिद्ध होगा। कहनेको मना करनेमें गुप्त आशय यह है कि कोई जान लेगा तो हमारा भंडा फूट जायगा, कपट खुल जायगा और प्रत्यक्ष मतलब शब्दोंका यह है कि युक्ति प्रकट कर देनेसे विघ्न होगा, इसीसे प्रगट करनेको मना किया।

नोट—'मिलब हमार' और 'भुलाब निज' दोनों गुप्त रखनेको कहा। क्योंकि एक भी प्रकट होनेसे दूसरा अवश्य प्रगट हो जायगा। मंत्री परम सयाना है, ताड़ जायगा कि किसी शत्रुने तापस वेष राजाके नाशके लिए बनाकर नाशका उपाय रचा है। वनमें ढुँढवाकर उसको मार ही डालेगा। इसीसे बड़ी युक्तिसे मना किया है।

तातें मैं तोहि बरजौं राजा। कहें कथा तव परम अकाजा॥१॥
छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी॥२॥
यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा॥३॥
आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरि हर कोपहिं मन माहीं॥४॥

अर्थ—इसीसे मैं तुझे मना करता हूँ। हे राजन्! इस प्रसंगके कहनेसे तेरी अत्यन्त हानि होगी॥१॥ छठे कानमें इस बातके पड़ते ही तुम्हारा नाश होगा,* हमारा यह वचन सत्य है॥ २॥ हे भानुप्रताप! सुनो, इस बातके प्रगट होनेसे या विप्र शापसे तुम्हारा नाश होगा॥ ३॥ और किसी भी उपायसे तुम्हारा नाश न होगा चाहे हरि और हर ही मनमें कोप क्यों न करें॥ ४॥

नोट—१६६१ में 'कोपहि' पाठ है। यहाँ हरिहरका निरादर सूचित करनेके लिये भी एकवचनका प्रयोग कहा जासकता है।

टिप्पणी १ (क) 'तातें मैं तोहि बरजौं'। भाव कि मैं गुप्त रहता हूँ मुझे कोई न जाने और जो कार्य्य करना है वह भी गुप्त रखने योग्य है (जैसा आगे कहेगा), यथा 'जौं नरेस मैं करउँ रसोई। तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई' अतः मैं मना करता हूँ क्योंकि फिर काम न हो सकेगा। (ख) 'तव परम अकाजा' अर्थात् विशेष कार्य्यकी हानि है। जो प्रथम कह आए कि 'जरा मरन दुखरहित तनु समर जितै

* "षट् कर्णो भिद्यते मंत्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया। इत्यात्मना द्वितीयेन मंत्रः कार्य्यो महीभृता" (सरयूदासजी की गुटका)। अर्थात् सलाहकी हुई बात छठे कानमें पड़ते ही फैल जाती है, इसलिये राजाको किसी एक प्रधान अमात्यके साथ ही सलाह करनी चाहिए।

जिनि कोउ ।०', यह सब कार्य्य नष्ट हो जायगा तुम्हारा मरण होगा। मरण आगे कहता ही है, यथा 'छठे श्रवन यह परत कहानी नास तुम्हार०'। अतएव मैं तुम्हे मना करता हूँ जिसमें 'हमहिं न खोरि'। (बात को स्पष्ट कह देनेसे दोष नहीं लगता, यथा 'कहौं पुकारि खोरि मोहि नाहीं। २७४।३।' अकाजके दो अर्थ हैं। एक तो कार्य्यका नष्ट होना, दूसरे मरण होना, यथा 'सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहु राजु अकाजेउ आजू। २।२४।' यहाँ दोनों अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। (ग) 'छठे श्रवन परत'। भाव कि (दो कान तुम्हारे दो हमारे, हम दोनोंतक बात रही तब तक हानि नहीं है। जब तीसरेके कानोंमें पड़ेगी तभी छठे कानमें पड़ना कही जायगी अतएव) तीसरेसे न कहना। किसी दूसरेसे कहनेमें कपटी मुनिने अपना शाप लगादिया कि यह कथा कही नहीं कि मृत्यु हुई। ['छठें श्रवन' पदसे श्लेषद्वारा यह गुप्त अर्थ प्रकट होता है कि कालकेतुके कानोंमें यह बात पड़ते ही अवश्य नाश होगा। मेरी वाणी ध्रुव सत्य होगी] (घ) 'नास तोर' इति। पहले मृत्युका एक ही कारण था; यथा 'कारन एक कठिन सुनु सोऊ॥ कालौ तुअ पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाड़ि महीसा'। अब मृत्युके दो कारण हुए जैसा आगे वह स्पष्ट कहता है, 'यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा'। (घ) 'सत्य मम बानी' कहकर भय दिखाया जिसमें किसीसे कहे नहीं। वह शंकित है कि कहनेसे कहीं कोई हमारा छल भाँप न ले। ('सत्य' का भाव कि अनुनय विनयसे इसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वि० त्रि०)।

नोट—आदिसे बराबर उल्टा नाम आया है। यहाँ नाशके साथ ठीक नाम 'भानुप्रताप' दिया है क्योंकि नाश तो इसी का होना है।

टिप्पणी—२ 'यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा' इति। ☞कपटीमुनि हृदयमें कैसा शंकित है, यह शब्दोंमें दिखारहे हैं। बात प्रगट होनेका अत्यन्त डर लगा हुआ है इसीसे पहिले प्रगट करनेमें नाश होना कहता है तब द्विजश्रापसे। 'प्रगटना' मुख्य है, विप्रशाप 'अथवा' में है अर्थात् गौण है। प्रकट करनेसे उसका कपट खुल जानेकी अत्यन्त संभावना है इसीसे प्रकट करनेको बारंबार मना करता है और बारंबार भय दिखाता है, यथा 'मिलब हमार भुलाब निज कहहु त हमहिं न खोरि' (१), 'तातें मैं तोहि बरजौं राजा। कहें कथा तव परम अकाजा' (२), छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी' (३), और 'यह प्रगटे अथवा द्विज श्रापा' (४)। लगातार प्रत्येक चौपाईमें मना किया है। यहाँ 'विकल्प अलंकार' है। [नोट—क्रमसे भयप्रदर्शन उत्तरोत्तर अधिक होता गया है। प्रथम 'हमहिं न खोरि' अर्थात् कहोगे तो हमें दोष न देना कि हमसे कहा न था। दूसरेमें 'तव परम अकाजा' कहा अर्थात् तुम्हारा सब काम बिगड़ जायगा, हमारा क्या जायगा? दो बार तो कहनेसे मना किया। तीसरी और चौथी बार आज्ञा उल्लंघन करनेका फल दिखाया एवं प्रगट करनेमें अपना शाप दिया कि तेरा नाश होगा।]

३—'आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरिहर०' इति। (क) 'आन उपाय' का भाव कि कोई-भी तुम्हारे नाशका उपाय करे तो वह कारगर न होगा। (ख) 'जौं हरिहर कोपहिं' का भाव कि इनके मारनेसे जगत् मरता है, इनके जिलानेसे जीता रहता है; पर इनके भी कोपसे तुम्हारा नाश न होगा। (ग) विप्रके कोपसे नाश होगा इससे जनाया कि ब्राह्मण त्रिदेवसे श्रेष्ठ हैं और विप्रकोप हरिहरके कोपसे अधिक है, यथा 'इंद्र कुलिस मम (सिव) सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्हकर मारा नहिं मरई। बिप्ररोष पावक सो जरई। ७।१०९।' तात्पर्य्य कि हरिहरके कोपसे हम तुम्हारी रक्षा करेंगे, यथा 'राखै गुर जो कोप बिधाता', विप्रकोपसे हम नहीं बचा सकेंगे, यथा 'तपबल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा।' (घ) ☞प्रथम जो कहा था कि 'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ सब बिधि बिष्नु महेसा', उसीको यहाँ 'जौं हरिहर कोपहिं' कहकर स्पष्ट करते हैं। अर्थात् ब्राह्मणभक्तिसे प्रसन्न होकर त्रिदेव वशमें हो जाते हैं इसीसे उनके कोपसे नाश नहीं हो सकता। [नोट—पूर्व विधि-

हरिहरका वश होना कहा और क्रोधमें दोहीको कहा। कारण कि विधि तो उत्पत्ति भर करते हैं, सो जन्म तो हो ही चुका अब उनका कोई काम न रह गया। दूसरे, अपने द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुको साधारण मनुष्य भी स्वयं नहीं नष्ट करता तब ब्रह्मा क्यों नष्ट करने लगे। पालन न करनेसे नाश होता है अतएव 'हरि' का नाम लिया और हर तो संहारके देवता ही हैं]।

सत्य नाथ पद गहि नृप भाषा। द्विज-गुर-कोप कहहु को राखा ॥५॥
राखै गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहि कोउ जग त्राता ॥६॥
जौं न चलब हम कहें तुम्हारें। होउ नास नहिं सोच हमारें ॥७॥
एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा ॥८॥
दो०—होहिँ बिप्र बस कवन बिधि कहहु कृपा करि सोउ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखौं कोउ ॥१६६॥

शब्दार्थ—राखा = रक्षा की। त्राता = रक्षक, बचानेवाला।

अर्थ—राजाने मुनिके चरणोंको पकड़कर कहा कि हे नाथ! आप सत्य कहते हैं (भला) कहिये तो ब्राह्मण और गुरुके कोपसे किसने रक्षा की है? यदि ब्रह्मा कोप करें तो गुरु बचा सकते हैं। ‡ पर गुरुसे विरोध करनेपर जगत्‌में कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं ॥ ६ ॥ जो मैं आपके कहनेपर न चलूँगा तो अवश्य नाश हो जाय, हमें इसका शोच नहीं ॥ ७ ॥ पर, प्रभो! मेरा मन एक ही डरसे डर रहा है कि ब्राह्मण-शाप बड़ा कठिन (भयंकर) होता है ॥ ८ ॥ ब्राह्मण किस प्रकार वशमें हों, यह भी कृपा करके कहिये। हे दीन-दयालु! आपको! छोड़कर मैं किसीको भी अपना हितकर नहीं देखता ॥ १६६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सत्य नाथ'। मुनिने कहा कि हमारा वचन सत्य है, यथा 'छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी'। राजा इसीको पुष्ट करता है कि आपका वचन सत्य है। (ख) 'पद गहि'। तापसने कहा था कि हरिहर भी कोप करें तो भी किसी प्रकार नाश न होगा, यह सुनकर राजा-को हर्ष हुआ। अतएव (कृतज्ञता और प्रसन्नता जनानेके लिए) चरण पकड़े, यथा 'सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्ह बिधिनाना'। (पुनः, 'सत्य मम बानी' से जैसे प्रतिज्ञापूर्वक कथन सूचित होता है वैसे ही राजाने 'पद गहि' कहा कि सत्य है।)। (ग) 'द्विजगुर कोप'। मुनिने द्विजका कोप कहा था, यथा 'यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा'। राजाने द्विज और गुरु दोनोंका कोप कहा। तात्पर्य्य कि गुरुने कथा कहनेको मना किया, न माननेसे गुरुकोप हुआ, इसीसे राजाने द्विजकोप और गुरुकोप दोनों कहे। (घ) ☞ राजाने अब कपटीमुनिको गुरु भी मान लिया, पिता और स्वामी तो पहिले ही मान चुका था। 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी' यहाँ पिता और स्वामी माना और 'द्विजगुर कोप कहहु को राखा' यहाँ गुरु माना। (ङ) 'राखै गुर जौं कोप बिधाता। प्रथम हरिहरका कोप करना कह आए—'जौं हरिहर कोपहिं मनमाहीं'। अब ब्रह्माका कोप कहते हैं। इस तरह सूचित किया कि ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनोंके कोपसे गुरु बचा सकते हैं। गुरुके विरोधसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश कोई भी नहीं रक्षा कर सकते। उत्तर कांडमें कथा है कि शिवजीने शूद्रपर कोप करके शाप दिया तब गुरुने रक्षा की। बृहस्पतिका कोप इन्द्रपर हुआ तब वह

‡ "राखै गुरु०" सुंदर कविकृत कवित्त इसी विषयपर पढ़ने योग्य है—"गोविंदके किए जीव जात है रसातलको गुरु उपदेशे सोतो छूटे फंद ते। गोविंदके किए जीव वश परें कर्मनके गुरुके निवाजे सो तो फिरत स्वच्छंद ते। गोविंदके किये जीव बूड़े भवसागरमें, सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख द्वंद्व ते। औरहू कहाँ लौं कछु मुख ते कहौं बनाइ गुरुकी तो महिमा है अधिक गोविन्द ते ॥" (सुन्दर विलास)।

राज्यभ्रष्ट हुआ, किसीने रक्षा न की, जब वह बृहस्पतिहीकी शरण गया तब फिर सब बन गया। शुक्रके कोपसे दंडक राजा भस्म हो गए किसीने रक्षा न की। वसिष्ठजीके कोपसे त्रिशंकुकी क्या दशा हुई। (नोट—प्रथम 'द्विज गुर कोप कहहु को राखा' कहकर दोनोंको समान कहा, फिर गुरुकोपमें अधिकता दिखाई। यहाँ 'विशेषक अलंकार' है।)

२ (क) 'जौं न चलब हम कहें तुम्हारें।०' इति। ☞राजाके मनमें है कि हमारा नाश न हो, यथा 'नाथ न होइ मोर अब नासू।' रहा गुरुके प्रतिकूल चलना, उससे अपना नाश अंगीकार करता है कि हमारा नाश हो, हमें सोच नहीं है। गुरुकी प्रसन्नतासे रक्षा होती है, यथा 'सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा २।३०६।' जब गुरुकी प्रसन्नता न होगी तब नाश हुआ ही चाहे। (ख) 'नास होउ नहिं सोच हमारें' का भाव कि हम नाशके योग्य काम ही न करेंगे तब हमारा नाश क्यों होगा, और जब नाशके योग्य काम ही करेंगे तब नाश होगा ही, इसमें हमारा ही दोष है; यह समझकर सोच नहीं है। (ग) 'एकहि डर डरपत मन मोरा।' नाशके लिए दो डर दिखाए हैं, एक तो कथाका प्रगट करना, दूसरा विप्रश्राप, यथा 'यह प्रगटें अथवा द्विज श्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा।' राजा कहते हैं कि इनमेंसे एक ही डरसे हमारा हृदय धड़कता है दूसरेसे नहीं। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि दूसरा डर तो हमारे अधीन है। आपने प्रकट करनेको मना किया। हम न प्रगट करेंगे, यह तो हमारे बसकी बात है, पर दूसरा हमारे बसका नहीं है इसीसे हमें भय लगता है। (घ) 'प्रभु महिदेवश्राप अति घोरा'। 'अति घोरा' का भाव कि आप ब्रह्मा विष्णु महेशके कोपसे बचालेनेको कहते हैं, ब्राह्मणके कोपसे नहीं, यथा 'तप बल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह कें कोप न कोउ रखवारा।' इससे सिद्ध हुआ कि त्रिदेवका कोप घोर है और विप्रकोप अति घोर है। (वे रुष्ट होते ही शाप देदेते हैं और वह अप्रतिक्रिय होता है। यथा 'इंद्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला। जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्र रोष पावक सो जरई।' वि० त्रि०)।

३ (क) 'होहिं बिप्र बस कवन बिधि' इति। कपटीमुनिने प्रथम विप्रोंको वशमें करनेको कहा, यथा 'जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा।' विप्रोंके साथ जबरदस्ती करनेको मना किया, यथा 'चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।' अर्थात् जैसे राजाओंको भुजबलसे जीता, वैसे ब्राह्मण नहीं जीते जाते (ध्वनि इसमें यह है कि इनके वश करनेका दूसरा उपाय है जो हम जानते हैं)। इसीसे राजा वह उपाय पूछता है जिससे वे वशमें हो जायँ। (ख) 'कहहु कृपा करि सोउ'। 'सोउ' का भाव कि जैसे कृपा करके वर माँगनेको कहा और वर दिया, वैसे ही कृपा करके यह भी कहिए। (वा, जैसे आपने बताया कि विप्रको भुजबलसे जीता नहीं जाता, और जैसे यह कहा कि विप्रोंको वश कर लो जिसमें वे कोप ही न करें; वैसे ही वश करनेका उपाय भी कहिए)। (ग) 'तुम्ह सम दीनदयाल निज हितू न देखउँ।' ☞जो कपटीके पाले पड़ जाता है उसे कपटीके समान दूसरा कोई हितुआ (हितैषी) नहीं देख पड़ता। जैसे कैकेयीको कपटिन मंथराके पाले पड़ने पर मंथरा समान हितैषी कोई न समझ पड़ा, यथा 'तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कै भइसि अधारा। २।२३।' 'निज हितू न' अर्थात् मेरे तो आप ही सबसे बड़े हित हैं। जरामरणदुःख रहित किया, सौ कल्पका निष्कण्टक राज्य दिया, ऐसा हितैषी कौन होगा। 'दीनदयाल' का भाव कि और सब स्वार्थके हित हैं, आप दीनदयाल हैं, मेरी दीनता देखकर आपने दया की। ब्राह्मणों-को वश करानेमें भी आपको छोड़कर दूसरा हितैषी नहीं देख पड़ता। [द्विजद्रोहका बीज उग गया। जो 'गुर सुर संत पितर महिदेवा'। करै सदा नृप सब कर सेवा', वही राजा आज अपने स्वामी (महिदेव) को अपना वश्य करनेकी विधि पूछता है। (वि० त्रि०)]

सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं। कष्ट साध्य पुनि होहिं कि नाहीं ॥१॥

अहै एक अति सुगम उपाई। तहाँ परंतु* एक कठिनाई ॥२॥
मम आधीन जुगुति नृप सोई। मोर जाब तव नगर न होई ॥३॥
आजु लगें अरु जब तें भएउँ। काहू के गृह ग्राम न गएउँ ॥४॥
जौं न जाउँ तव होइ अकाजू। बना आइ असमंजस आजू ॥५॥

शब्दार्थ—कष्टसाध्य=जिसके साधन वा यत्नमें बड़ा कष्ट हो, जिसका करना कठिन है। असमंजस= दुविधा, अड़चन, कठिनाई।

अर्थ—राजन्! सुनो, संसारमें बहुतेरे उपाय हैं, पर उनका साधन कठिन है और फिर भी सिद्ध हों या न हों ॥ १ ॥ (हाँ) एक उपाय बहुत ही सुगम है पर उसमें भी एक कठिनता है ॥ २ ॥ हे नृप! वह युक्ति मेरे अधीन है और मेरा जाना तुम्हारे नगरमें हो नहीं सकता ॥ ३ ॥ जबसे मैं पैदा हुआ तबसे आजतक मैं किसीके घर गांव नहीं गया ॥ ४ ॥ और, जो नहीं जाता हूँ तो तेरा काम बिगड़ जायगा, आज यह बड़ा असमंजस आ पड़ा है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिबिध जतन'। इससे कपटीमुनिने अपनी बड़ी जानकारी दर्शित की। इससे जनाया कि संसारभरके सब यत्न हमारे जाने हुए हैं। राजाने पूछा था कि विप्र कौन विधिसे वश हों वह उत्तर देता है कि एक दो विधियाँ नहीं किन्तु अगणित विधियाँ वश करनेकी हैं। (ख) 'जग माहीं' का भाव कि जगत्के लोग जानते हैं। इस तरह जगत्भरके यत्नोंको सामान्य वा साधारण सूचित करके तब अपने यत्नको विशेष और सुगम बताता है जिसमें हमारे कहे हुए यत्नमें श्रद्धा हो। (ग) 'अहै एक अति सुगम उपाई' इति। पूर्व जगत्के उपाय कहे; अब अपना उपाय बताता है। दोनोंमें भेद दिखाते हैं। वहाँ 'बिबिध' उपाय, यहाँ 'एक' उपाय। वे कष्टसाध्य हैं, यह 'अति सुगम' अर्थात् इस उपाय में कठिनता नहीं है [वहाँ कष्ट उठानेपर भी संदेह है कि कार्य्य सिद्ध हो वा न हो, और यह तो अपने अधीन है। अतः इसमें सफलता निश्चित है। 'कष्टसाध्य पुनि होहिं कि नाहीं' सुनकर राजा निराश हुआ, उदासी छा गई तब कपटी-मुनिने श्रद्धा बढ़ानेवाली बात कही कि 'एक' बहुत ही सुगम उपाय है। वह उपाय 'एक' ही है दूसरा नहीं। 'एक' कहनेमें भाव कि और सब पराधीन हैं। जिनमें मेरी जरूरत नहीं वे सब कष्टसाध्य हैं। 'अति सुगम' यही एक है। 'अति सुगम' कहा, जिसमें राजा इसके लिए हठ करे]। (घ) 'तहाँ परंतु एक कठिनाई'। उपाय तो अति सुगम है, उपायमें कठिनता नहीं है, कठिनता उससे पृथक् है। भाव कि जगत्के जितने उपाय हैं उनके करनेमें कठिनता है और इस उपायके करनेमें कठिनता नहीं है। कठिनतामें इतना ही भेद है। पर कठिनता इसमें जो है वह दूसरी बातकी है जो आगे कहता है, उपाय कठिन नहीं है। ☞ उपायको अत्यन्त सुगम और विशेष कहकर तब एक कठिनाई कही जिसमें राजा उपायके लोभसे कठिनता अंगीकार कर ले। अर्थात् चलनेके लिए विनय करे। ऐसा ही हुआ भी। ☞ प्रथम वर देकर वरके सिद्ध होनेमें एक कठिन कारण लगा दिया कि ब्राह्मणों को छोड़ सभी तुम्हारे वशमें होंगे, ब्राह्मणोंको वशमें करो—यह अपना प्रयोजन सिद्ध किया।—'कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ'। और, यहाँ वशमें करनेके उपायमें कठिनाई कहता है कि यह उपाय मेरे अधीन है, यह भी अपना प्रयोजन सिद्ध किया।

वि० त्रि०—सरल पुरुषका तब तक पतन नहीं होता, जबतक वह कुटिल न हो जाय, अतः पतन चाहनेवाले हानि लाभ दिखलाकर उसे कुटिलताकी ओर अग्रसर करते हैं। कपटी मुनिने इसे पहिले मन्त्री-से बात छिपाना सिखाया और अब छल (माया) को स्थान देनेके लिये विवश कर रहा है।

* १६६१ में 'परतु' है।

टिप्पणी—२ (क) 'मम आधीन जुगुति नृप सोई'। अर्थात् इस युक्तिको जगत्‌में दूसरा कोई नहीं जानता, एक मात्र हमही जानते हैं, वेदोंपुराणोंमें भी नहीं है। तापसका यह कथन सत्य ही है। अन्न खानेसे सब ब्राह्मण वशमें हो जायँ ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। ☞प्रथम यत्न कहा, यथा 'सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं', फिर उपाय कहा,—'अहै एक अति सुगम उपाई' और, अब युक्ति कहता है,—'मम आधीन जुगुति०'। इस तरह 'जतन', 'उपाई' और 'जुगुति' को पर्य्याय जनाया। (ख) ☞जब राजा मिले तब उनसे प्रीति करनी पड़ी। उस समय मुनिने कहा था कि 'अब लगि मोहि न मिलेउ कोउ मैं न जनावौं काहु', अब राजाके नगरमें जाना पड़ेगा, इसीसे कहता है कि 'मोर जाब तव नगर न होई'। यही कठिनाई है कि 'हम जा नहीं सकते', क्यों नहीं जा सकते यह आगे कहते हैं। (ग) 'आजु लगे अरु जब तें भएऊँ।०' इति। 'जब तें भएऊँ' से सूचित किया कि हम वनमें ही पैदा हुए अर्थात् मुनिकुलमें वनहीमें रहे। (घ) 'काहूके गृह ग्राम न गएऊँ'। पूर्व नगरको कह चुका है, 'मोर जाब तव नगर न होई'। अब 'ग्राम और घर भी नहीं जाता' यह कहता है। तात्पर्य्य कि हम परम विरक्त हैं इससे ग्राम, पुर, नगर एवं किसीके घर कहीं भी नहीं जाते। यह प्रथम ही कह चुका है कि आजतक हमें कोई भी मनुष्य न मिला क्योंकि हम गुप्त रहते हैं, यथा 'ताते गुपुत रहौं बन माहीं'। और न आजतक हम बस्तीमें गए यह यहाँ कहा। न गए क्योंकि हमें किसीसे कोई प्रयोजन नहीं है, यथा 'हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं'। इसपर यदि कहें कि विना किसी मनुष्यके मिले सब बातोंकी जानकारी आपको कैसे हुई तो इसे प्रथम ही कह आए हैं कि 'गुरप्रसाद सब जानिअ राजा'।

३ (क) 'जौं न जाउँ तव होइ अकाजू।' इति। 'मोर जाब तव नगर न होई' इस कथनसे कपटकी बात निर्जीव होगई (अर्थात् आगे कपट छल करनेकी बात ही खतम होगई), अतएव उसे पुनः सजीव करता है कि 'जौं न जाउँ०'। (ख) 'बना आइ असमंजस'। भाव कि हमने असमंजस होनेका काम नहीं किया, असमंजस स्वयं आकर बन गया अर्थात् अच्छी तरह असमंजस हो गया कि टालने योग्य नहीं है। (ग) 'आजू' का भाव कि अबतक हमें कोई न मिला था इसीसे कभी असमंजसका योग न लगा था, आज तुम्हारे मिलनेसे असमंजसका अवसर प्राप्त हो गया। (घ) ☞ कपटी मुनि जाहिरा (प्रत्यक्षमें) राजाके अकाजको बचाता है; यथा 'कहें कथा तव परम अकाजा', 'जौं न जाउँ तब होइ अकाजू'। और काज करनेको कहता है, यथा 'अवसि काज मैं करिहौं तोरा। १६८।३।', 'सब बिधि तोर सँवारब काजा। १६६।६।'

नोट—'मम आधीन' अर्थात् और कोई इसे नहीं जानता न कर सकता है। 'गृह ग्राम न गएऊँ' अर्थात् घरकी कौन कहे ग्रामसे होकर भी न निकला। वह उपाय मेरे अधीन है यह सुनकर राजा प्रार्थना करता परन्तु जब उसने कहा कि मैं किसीके घर गाँव कभी नहीं गया तब राजा क्या कहता? मुनिसे हठ न कर सकता था। कपटी मुनिने यह समझकर फिर अपने वचनोंको सँभाला और कहा कि 'जौं न जाउँ तव होइ अकाजू। बना…'; जिसका भीतरी अभिप्राय यह है कि मैं अवश्य जाऊँगा यदि किंचित् भी प्रार्थना करोगे। 'बना आइ' का भाव यह कि होनहार वश हरि-इच्छासे ऐसा असमंजस आपही आ पड़ा, कुछ मैं तुमको बुलाने तो गया न था। असमंजस यह कि न जाऊँ तो तेरा काम बिगड़ता है और जाता हूँ तो मुझे दोष लगेगा इससे न रहही सकता हूँ और न जाही सकता। मेरा नियम भंग न हो और तुम्हारा काम भी बन जाय, इन दोनों बातोंका सामञ्जस्य नहीं बैठता। (रा० प्र०, पंजाबीजी)। यहाँ "संदेह अलंकार" है। (प्र० सं०)।

☞लोभसे अंधा करके ही धूर्त्त संसारको ठगते हैं। आँख खोलकर यदि देखा जाय तो जनताको वही धूर्त्त वश करनेमें समर्थ होता है, जो अपने प्रलोभनका विश्वास जनताको करा देनेमें समर्थ होता है। बड़े-बड़े बुद्धिमान ऐसे ही प्रलोभनसे अंधे होकर महाधूर्त्तको महात्मा मानकर मारे जाते हैं। स्वार्थमें अंधा होकर

राजाने यह न समझा कि केवल नीतिमत्ता तथा सरलतादि गुणोंको देखकर घंटे भरमें एक महा विरक्तको ऐसी प्रीति कैसे उत्पन्न हो सकती है कि महादुर्लभ वर देकर अपने तपको क्षीण करे और अपने जन्म भरके नियम तोड़ दे। (वि० त्रि०)।

अलंकार—'होहिं कि नाहीं' में वक्रोक्ति है। 'मोर जाब तव नगर न होई।' इसका समर्थन ज्ञापक हेतु द्वारा किया कि जबसे पैदा हुआ कहीं नहीं गया—'काव्यलिंग अलंकार' है।

सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी। नाथ निगम असि नीति बखानी ॥६॥
बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं ॥७॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू ॥८॥
दोहा—अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपाल।
मोहि लागि दुख सहिअ प्रभु सज्जन दीनदयाल ॥ १६७ ॥

शब्दार्थ—नीति = सदाचार, मर्य्यादाका व्यवहार। मौलि = मस्तक।

अर्थ—यह सुनकर राजा कोमल मीठे वचन बोला—हे नाथ! वेदोंने ऐसी नीति कही है ॥ ६ ॥ (कि) बड़े लोग छोटों पर स्नेह करते हैं। पर्वत अपने सिरों पर सदा तिनकेको धारण किये रहते हैं ॥ ७ ॥ अथाह समुद्रके मस्तक पर फेन सदा बहा करता है। पृथ्वी अपने सिर पर सदा धूलि धारण किये रहती है ॥ ८ ॥ ऐसा कहकर राजाने पाँव पकड़ लिये (और बोला) हे स्वामी! कृपा कीजिये। हे प्रभो! हे सत्पुरुष! हे दीनों पर दया करनेवाले! मेरे लिये दुःख सहिये ॥ १६७ ॥

☞ कपटी मुनिने अपनी चिकनी चुपड़ी बातोंसे राजाको मोहित करके 'ग़रज़ी' (ग़रज़मंद, उत्सुक) बनाया और आप बेग़रज़ बना रहा। प्रथम जब राजाने बड़ी प्रार्थना की तब नाम बताया, यथा 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी' (१)। फिर विप्रोंके वश करनेका उपाय बड़ी विनती करनेपर बताया, यथा 'होहिं बिप्र बस कवन बिधि कहहु कृपा करि सोउ। तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखों कोउ' (२)। और अब राजाके घर चलनेमें राजासे प्रार्थना करा रहा है। (नोट—'ग़रज़मंद बावला' यह मसला यहाँ चरितार्थ हो रहा है)।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि महीस बोलेउ'। राजा नीतिके ज्ञाता होते हैं, यथा 'सोचिय नृपति जो नीति न जाना'। राजा यहाँ महात्मासे नीति कहते हैं, अतएव 'महीस' पद दिया। (ख) 'निगम असि नीति बखानी' इति। प्रथम ही दिखा आए कि राजा वेद विधिके अनुकूल चलता है, इसीसे वह वेदोंका प्रमाण देता है, यथा 'प्रजा पाल अति बेद बिधि', 'भूप धरम जे बेद बखानें। सकल करै सादर सुख मानें', 'जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप किये सहित अनुराग' तथा यहाँ 'सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी। नाथ निगम असि नीति बखानी'। पुनः [(ग) वेदोंका प्रमाण दिया क्योंकि महात्मा लोग वेदोंके मार्ग पर चलते हैं। पुनः, इससे वेदोंकी साक्षी देते हैं कि राजनीतिसे इससे विरोध है, छोटोंसे प्रेम करना राजनीतिके विरुद्ध है; यथा 'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि ॥६।२३॥' पुनः, भाव कि वेद अनादि हैं, उनकी अतुलित महिमा है, यथा 'अतुलित महिमा बेद की तुलसी किये बिचार। जो निंदत निंदित भएउ बिदित बोध अवतार। दो० ४६४।' अतएव वेदोंकी रीति कही।] (घ) 'बोलेउ मृदु बानी' अर्थात् जैसी प्रार्थना की रीति है वैसी।

२ (क) 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं' इसके तीन उदाहरण देते हैं। पर्वत, समुद्र और पृथ्वी। ☞ यहाँ उपदेशभागमें यह बताते हैं कि कैसा ही बड़ा क्यों न हो पर (अपनेसे) बड़ेके पास लघु होकर रहना चाहिए जैसे राजा भानुप्रताप साधुके समीप अपनेको तृण समझे हैं। पर्वत, समुद्र और पृथ्वी ये

तीनों 'बड़े' की अवधि (सीमा) हैं तथा ये तीनों प्रसिद्ध हैं; अतएव इन तीनका उदाहरण बड़प्पनमें दिया। (ख) 'जलधि अगाध मौलि बह फेनू।०' इति। ☞पर्वतके साथ 'सदा' और पृथ्वीके साथ सदाका पर्याय 'संतत' पद दिया है, यथा 'गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं', 'संतत धरनि धरत सिर रेनू'। समुद्रके साथ सदा पद नहीं कहा। यह भी साभिप्राय है। तात्पर्य्य यह कि गिरि पर तृण सदा रहता है और पृथ्वी पर रज (धूलि) सदा रहती है, पर समुद्रमें फेन सदा नहीं रहता। (पुनः, 'संतत' शब्द दोनोंके मध्यमें देहलीदीपक है,—'जलधि अगाध मौलि बह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू'। इस तरह संततको 'जलधि' के साथ भी लगा सकते हैं। रा० प्र० का भी मत यही है कि समुद्रके मस्तक पर फेन सदा नहीं रहता)। (ग) पर्वत बहुत हैं, इसीसे उसके साथ 'सिरनि' बहुवचन पद दिया। समुद्र एक है इसीसे मौलि एकवचन पद दिया। इसी तरह पृथ्वीके साथ 'सिर' एकवचन कहा। (घ) ☞तीन उदाहरण देकर तीन प्रकारकी बड़ाई कहते हैं—ऊँचाईकी, निचाईकी और विस्तारकी। ऊँचाईमें पर्वत, गम्भीरता (अगाधता) में समुद्र और विस्तारमें पृथ्वीसे बड़ा कोई नहीं है। (पुनः, जल, थल, नभ ये संसारमें तीन हैं, तीनोंमेंसे एक-एक 'बड़े' का दृष्टान्त दिया। जलमें समुद्र सबसे बड़ा, थलमें पृथ्वी और आकाशमें पर्वत सबसे बड़े)। (ङ) ये तीनों जड़ पदार्थ हैं। जड़का ही उदाहरण देनेमें भाव यह है कि यद्यपि ये तीनों 'जड़' हैं तथापि ये अपने बड़प्पनको नहीं छोड़ते। जब कि जड़ोंमें भी जो सबसे बड़े हैं उनकी यह उत्तम रीति है तब आप तो 'चेतन' हैं, महात्मा हैं, आप अपने बड़प्पनको क्यों न निबाहें? यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

वि० त्रि०—शिर पर तृण धारण दासत्व स्वीकारके लिये किया जाता है। पूर्वकालमें जब दास-प्रथा थी, जो लोग अपनेको बेचते थे, वे शिर पर तृण धारण करते थे। पर्वतकी गणना परहितैकव्रत सन्तोंमें है, सो अपने आश्रितोंके लिये दासताका चिह्न धारण करनेमें संकोच नहीं करता। आप ऐसे विरक्तोंको भी आश्रितके लिये नगर और घर जानेमें संकोच न करना चाहिए। समुद्र अगाध है, अपार है, बड़े-बड़े पुरुषार्थियोंका पुरुषार्थ उसमें नहीं चलता पर आश्रित होनेके कारण फेन अवस्तु होने पर भी उसके शिर पर विचरण करता है। आप भी तपोनिधि हैं, आपकी महिमा अगाध और अपार है। मैं आपका आश्रित हूँ, अवस्तु हूँ, मेरे हितको अपनी तपस्याके ऊपर स्थान दीजिए, मेरे कल्याणकी ओर देखिए, अपनी महिमापर दृष्टिपात न कीजिए। पृथ्वी जैसा गुरु कौन होगा और रेणु सा लघु कौन है? आश्रित होने के कारणसे ही पृथ्वी उसे सदा शिरपर धारण करती है। आप गुरु हैं; मुझ जैसे लघुको प्रतिष्ठा करनेमें समर्थ हैं।

टिप्पणी—२ 'अस कहि गहे नरेस पद०' इति। (क) प्रभु, सज्जन और दीनदयाल संबोधन करके विनय करके चरण पकड़ लिए। भाव यह है कि पहिले यह कहा कि बड़े छोटोंको शिरपर धारण करते हैं। इसमें राजाकी धृष्टता पाई जाती है कि यह भी महात्मा के शिरपर चढ़ना चाहता है। इसीसे विनीत वचन कहकर चरण पकड़कर जनाता है कि मैं आपके सिरपर चढ़ना नहीं चाहता, मैं तो आपका चरणसेवक हूँ, एक मात्र आपके चरणोंका ही अवलम्ब चाहता हूँ। अथवा पुनः, भाव कि महात्माको कार्य्यके लिए ले जाना चाहता है और उनका नियम है कि वे कहीं जाते नहीं; अतएव अत्यन्त आर्त्त होकर चरण पकड़े। आर्त्तदशामें भी चरण पकड़ने की रीति है, यथा 'सहित सहाय सभीत अति मानि हारि मन मैन। गहेसि जाइ मुनिचरन तब कहि सुठि आरत बैन। १२६।' (ख) 'स्वामी होहु कृपाल'। भाव कि आप स्वामी हैं, मैं आपका दास हूँ। दास जानकर कृपा कीजिए। (ग) 'मोहि लागि दुख सहिअ प्रभु सज्जन दीनदयाल' इति। भाव कि दासके लिए 'प्रभु' दुःख सहते हैं, उसपर भी आप सज्जन हैं और 'संत सहहिं दुख परहित लागी' यह संत स्वभावही है। पुनः, आप दीनदयाल हैं, मैं दीन हूँ, दीनोंपर दया करना संत-लक्षण है, यथा 'कोमल चित दीनन्हपर दाया। संत सहज स्वभाव खगराया।' प्रभु, सज्जन और दीनदयाल ही दोनोंपर कृपा कर

सकते हैं तथा दूसरोंके लिए दुःख सहते हैं। इस तरह प्रयोजनके अनुकूल विशेषण दिए। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। (घ) 'दुख सहिअ'। यहाँ दुःख क्या है? अपने नियमको तोड़ना। 'काहू के गृह ग्राम न गएऊँ' यह अपना नियम छोड़कर हमारे यहाँ चलनेमें आपको दुःख होगा, उसे सहिए अर्थात् हमारे यहाँ चलिए।

वि० त्रि० – आशाके दासोंकी गति दिखलाते हैं। सम्राट् होकर आशाकी डोरीमें पशुओंकी भाँति बँधा हुआ दीन हो रहा है। यही स्वार्थान्धता उसके नाशका कारण होगी।

जानि नृपहि आपन आधीना। बोला तापस कपट प्रबीना ॥१॥
सत्य कहौं भूपति सुनु तोही। जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही ॥२॥
अवसि काज मैं करिहौं तोरा। मन तन[१] बचन भगत तैं मोरा ॥३॥
जोग जुगुति तप[२] मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ ॥४॥

शब्दार्थ—जोग, तप, मंत्र—३७.१० (मा० पी० भाग १ पृष्ठ ६१५, ६१६, पृष्ठ ३८४), ८४.८ पृष्ठ ३२८ देखिए।

अर्थ—राजाको अपने वशमें जानकर वह कपटमें प्रवीण तापस बोला ॥१॥ हे राजन्! सुन। मैं तुझसे सत्य कहता हूँ। मुझे जगत्‌में कुछ भी कठिन नहीं है ॥२॥ मैं तेरा काम अवश्य करूँगा। तू मन-कर्म-वचन तीनोंसे मेरा भक्त है ॥३॥ योग, युक्ति, तप और मंत्रके प्रभाव तभी फलीभूत होते हैं जब गुप्त रक्खे जाते हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'आपन आधीना'। चरण पकड़कर दीन वचन कहकर विनती करना अधीनता जनाता है। ☞कपटी मुनिने जो कुछ भी कहा वह सब राजाको बसमें जानकर ही कहा; जैसे कि (१) वशमें जानकर नाम बताया, यथा 'देखा स्वबस करम मन बानी। तब बोला तापस बगध्यानी'। (२) वशमें जानकर बर दिया, यथा 'सुनि महीस तापस बस भएऊ।०' इत्यादि। (३) और अब वशमें जानकर युक्ति बताता है। (ख) 'बोला तापस कपट प्रबीना' अर्थात् कपटमें प्रवीण है इसीसे कपटकी बात बोला। अपने वश जानकर अर्थात् यह निश्चय समझकर कि अब कपट करनेमें राजा कुछ कुतर्क न करेगा। ('कपट प्रबीना' में यह भी भाव है कि कपटमें परम चतुर है, इसका कपट लखा नहीं जा सकता, यथा 'कपट चतुर नहिं होइ जनाई। २।१८।') (ग) 'सत्य कहौं' का भाव कि अपने मुख अपनी बड़ाई न करनी चाहिए। बड़ाई करना दोष है। मैं अपनी बड़ाई नहीं करता, केवल एक सत्य बात कहता हूँ क्योंकि झूठ बोलना बड़ा पाप है, यथा 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा'। हम झूठ नहीं बोलते। पुनः, 'जग नाहिन दुर्लभ कछु मोही' ऐसा कहनेमें असत्यकी संभावना होती है क्योंकि पूर्णकाम एक ईश्वर ही है, जीव पूर्णकाम नहीं है, इसीसे असत्यका संदेह 'सत्य कहौं' कहकर दूर किया। (घ) 'तोही' का भाव कि तू मन वचन कर्मसे हमारा भक्त है, तुझसे दुराव करना महापाप है, यथा 'तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरें। प्रीति प्रतीति मोहिपर तोरें ॥', 'अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटै अति मोही।' अतएव तुझसे कहता हूँ। (ङ) 'जग नाहिंन दुर्लभ कछु मोही'। जैसा कि प्रथम कहा था कि 'जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं।'

वि० त्रि०—कपटमुनि जब राजामें अत्यन्त श्रद्धा देखता है, तब अपनी महिमासूचक एक बात कहता है, फिर उसके परिपाकके लिये समय देता है। यथा 'सब प्रकार राजहिं अपनाई। बोलेउ अधिक सनेहु जनाई। सुनु सतिभाउ कहौं महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला।' जब राजामें फिर श्रद्धाका उद्रेक उठता है तब उससे अधिक महिमासूचक बात कहता है। यथा 'देखा स्वबस कर्म मन बानी। तब बोला तापस बकध्यानी। नाम

१ क्रम=१७२१, १७६२, छ०। तन-१६६१, १७०४। २ जप=१७२१, १७६२, छ०। तप-१६६१, १७०४, को० रा०।

हमार एकतनु भाई ।' अब उसी बातको जमानेके लिये बातें करता जाता है, फिर जब देखता है कि राजाकी श्रद्धा बढ़ती ही जाती है, अब तो मेरे अधीन हो गया, जो चाहूँगा कराऊंगा, तब कपटमें प्रवीण तापस बतलाता है कि मुझे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है, यह बात मैं तुमसे कहता हूँ। दूसरेसे अपना भेद नहीं खोलता, 'सत्य कहों'– भाव कि यह शंका न करो कि कदाचित् मेरा किया हुआ उपाय भी निष्फल हो, वह निष्फल हो ही नहीं सकता। मेरे लिये सब कुछ सुलभ है।

टिप्पणी—२ (क) 'अवसि काज मैं करिहौं' इति। प्रथम कार्य्य करनेमें असमंजस कहा, यथा 'जौं न जाउँ तव होइ अकाजू। बना आइ असमंजस आजू।' जब राजाने प्रार्थना की तब कहा कि अवश्य करूँगा। (ख) राजाकी तापसमें मन, कर्म, वचनसे भक्ति है। राजाने स्तुति की; 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। संतत धरनि धरत सिर रेनू', यह वचनकी भक्ति है। 'अस कहि गहे नरेस पद' यह तन (कर्म) की भक्ति है। और 'स्वामी होहु कृपाल' यह मनकी भक्ति है। मनसे स्वामी माना। (ग) 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ।०' इति। इसका प्रत्यक्ष भाव यह है कि ये दुराव करनेसे फलीभूत होते हैं। और, उसका आन्तरिक अभिप्राय यह है कि प्रकट होनेमें कोई चतुर मनुष्य हमारे कपटको भाँप न ले और जो युक्ति बतावे तो युक्ति तो कुछ है ही नहीं। मैं रसोई बनाऊँ तुम परोसो, इसमें कौन युक्ति है। यह केवल ब्राह्मणोंके मांसकी रसोई करनेका उपाय है। इसीसे युक्ति छिपायी, राजाको न बताई। प्रथम अपना मिलना प्रगट करनेको मना किया, उसमें शाप लगा दिया कि बताओगे तो मर जाओगे और अब युक्ति बतानेमें कार्य्यकी असिद्धि लगा दी। अर्थात् यदि हम तुमको बता देंगे तो तुम्हारा कार्य्य न सिद्ध होगा, निष्फल हो जायगा। तात्पर्य्य कि तुम नगरमें जाकर हमारा मिलना न कहना, जब हम आवें युक्ति करें तब हमें कोई न जाने और न यह खुलने पावे कि अन्नमें युक्तिकी गई है; जितना ही छिपाओगे उतनी ही शीघ्र कार्य्य सिद्ध होगा। (☞जितने कपटी हैं वे बात छिपानेपर ज़ोर देते हैं, क्योंकि प्रकट होनेपर उनकी माया चल नहीं सकती। वि० त्रि०)।

नोट—जो भूमिका दोहा १६५ 'मिलब हमार भुलाब निज कहहु त हमहिं न खोरि' पर उठाई थी वह यहाँ प्रकट की। अर्थात् उसका कारण बताता है। (पंजाबीजी)।

जौं नरेस मैं करौं रसोई। तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई॥५॥
अंन सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई॥६॥
पुनि तिन्ह कें गृह जेवै जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ॥७॥

शब्दार्थ—अनुसरई = अनुसरण करेगा; अनुकूल रहेगा। अंन (अन्न) = खानेका पदार्थ, भोजन। जेवना=भोजन करना, खाना।

अर्थ—राजन्! यदि मैं रसोई करूँ और तुम परसो, मुझे कोई न जान पावे॥५॥ (तो) उस अन्नको जो-जो खायगा वह-वह तुम्हारी आज्ञाके अनुकूल चलेगा॥६॥ हे राजन्! यह भी सुनो कि फिर उनके घर जो भी भोजन करेगा वह भी तेरे वशमें हो जायगा॥७॥

टिप्पणी—१ "जौं नरेस···" इति। (क) तापसने योग, युक्ति, तप और मंत्र चारके गुप्त रखनेकी बात कही; इनमेंसे यह कौन है? उत्तर—प्रथम ही उसने जो कहा है 'मम आधीन जुगुति नृप सोई' वही युक्ति यहाँ कह रहा है। भाव कि रसोईमें मैं ऐसी युक्ति कर दूंगा कि जो भोजन करेगा वह तुम्हारे वश हो जायगा। हम एक लक्ष ब्राह्मणोंके लिये रसोई बनावें और तुम परसो, इस कथनका तात्पर्य यह है कि इतनी बड़ी रसोई बनानेका सामर्थ्य हममें है, परसनेकी शक्ति हम तुमको दे देंगे। तापसका आन्तरिक अभिप्राय यह है कि राजाके परसते ही कालकेतु आकाशवाणी करेगा, राजाको शाप हो जायगा, परसनेका प्रयोजन ही न पड़ेगा। (ख) 'तुम्ह परसहु'—तुम ही परसो। भाव कि जो परसेगा उसीके वशमें ब्राह्मण हो जायँगे।

पुनः 'जौं नरेस···तुम्ह परसहु' का भाव कि वहाँ दूसरा कोई रसोइया न रहे और न कोई दूसरा परसनेवाला रहे ! (यह कहा क्योंकि डर है कि कोई दूसरा रहेगा तो भंडा फूट जायगा)। (ग) 'मोहि जान न कोई' इति । तात्पर्य्य कि हम किसी दूसरेको दर्शन न देंगे, तुम्हारा कार्यमात्र करेंगे । पुनः भाव कि हमारे प्रगट हो जानेसे ब्राह्मण भोजन करने न आयेंगे क्योंकि हमें तो कोई चतुर मनुष्य भी न पहचान सकेगा, वे सब यही कहेंगे कि न जाने किसकी बनाई रसोई है, रसोइया जाना हुआ ब्राह्मण नहीं है; अतः हम उसकी बनाई रसोई खाने न जायेंगे । हमारे प्रकट हो जानेसे तुम्हारा सब बना-बनाया काम बिगड़ जायगा ।

वि० त्रि०—इसी युक्तिमें कपट भरा है, पर अंधभक्त राजाका उस ओर ध्यान नहीं है। राजाके भोजनमें यदि कोई चूक हो जाय तो रसोईदार और परसनेवालेकी चूक समझी जाती है। उसके लिये राजाको कोई दोषी नहीं बतलाता । अतः कहता है कि तुम परोसो और मुझ रसोइदारको कोई न जाने । अर्थात् ऐसी अवस्थामें जो चूक होगी, उसका जिम्मेदार राजाको छोड़कर और कोई हो नहीं सकता। सभी समझेंगे कि यदि राजाकी सम्मति न थी तो रसोईदार गुप्त क्यों रक्खा गया ?

टिप्पणी—२ 'अन्न सो जोइ···' इति । 'अन्न सो' अर्थात् मैं जो रसोई करूँगा वह अन्न । रसोईमें अन्न मुख्य है इसीसे 'अन्न' को भोजन कहते हैं। रसोईमें ब्राह्मणका मांस मिलानेको है इसीसे मांस बनानेका नाम नहीं लेता। यही कहता है कि हमारा बनाया और तुम्हारा परसा हुआ अन्न जो खायेगा। 'आयसु अनुसरई'—यह युक्तिका प्रभाव बताया। राजाकी आज्ञा मुख्य है इसीसे आज्ञा मानेगा, यह कहा।

३—'पुनि तिन्ह कें···' इति । 'पुनि' से जनाया कि जो तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे वे तुम्हारे वशमें हो जायेंगे, इसके पश्चात् उन भोजन करनेवालोंके घरमें जो भोजन करने जायेंगे वे भी तुम्हारे वशमें हो जायेंगे और फिर इनके घर जो भोजन करेंगे वे भी तुम्हारे वशमें हो जायँगे । इस तरह 'पुनि···' का ताँता सर्वत्र लगता चला गया है । भाव यह कि इस प्रकार पृथ्वी भरके ब्राह्मण तुम्हारे वशमें हो जायँगे, जैसा वह आगे स्वयं कह रहा है—'एहि बिधि भूप कष्ट अति थारें। होइहहि सकल बिप्र बस तोरें। १६९।१।' ('तिन्ह के गृह' से यह भी जनाया कि घरका एक व्यक्ति भी यदि भोजन कर गया तो भी उसके घरमें जो-जो हैं जो घरमें भोजन करते हैं वे भी वशमें हो जायँगे और बाहरवाले जो करेंगे वे भी वशमें हो जायँगे। एक नगरवालोंका नाता दूसरे नगरमें, दूसरेका तीसरेमें इत्यादि लगा ही रहता है, इस प्रकारसे समस्त नगरोंके ब्राह्मण एक दूसरेके लगावसे वशमें हो जायेंगे, सबको अपने यहाँ खिलाना भी न पड़ेगा। कैसी सुन्दर युक्ति बताई ! इस प्रकारकी वशीकरणकी रीति तांत्रिकोंमें बहुत है)।

वीरकविजी—यहाँ असत्‌से असत्‌की समताका भावसूचक 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है । जैसे उसका रसोई बनाना असत् है वैसे ही विप्रोंका वश होना मिथ्या है ।

जाइ उपाय रचहु नृप एहू । संबत भरि संकलप करेहू ॥८॥

दोहा—नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार ।

मैं तुम्हरे संकलप लगि दिनहि करबि जेवनार ॥१६८॥

शब्दार्थ—संकलप (संकल्प) = प्रतिज्ञा । संबत (संवत्) = एक वर्ष । नित (नित्य) = नित्यप्रति, प्रतिदिन । नूतन = नये, नवीन । बरेहु = वरण करना, न्योता देना ।

अर्थ—हे राजन् ! जाकर यही उपाय करो । एक वर्ष (भोजन कराने) का संकल्प करना ॥८॥ नित्य नये एक लाख ब्राह्मणोंको कुटुम्ब सहित निमंत्रित करना । मैं तुम्हारे संकल्प (एक वर्षके अनुष्ठान) तक बराबर दिन ही दिन रसोई (तैयार) कर दिया करूँगा ॥ १६८ ॥

टिप्पणी—१ 'संबत भरि संकलप करेहू' इति । भाव यह कि—(क) उस समय घर-शुमारी (गणना)

में तीन करोड़ साठ लाख घर वेदपाठी, क्रियामान् श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके थे। एक-एक लक्षका नित्य निमंत्रण होनेसे एक वर्षमें तीनसौ साठ लक्ष अर्थात् तीन करोड़ साठ लक्षका निमंत्रण हो जायगा। इसीसे 'संबत' भरका संकल्प करनेको कहा। वेदपाठी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ही निमंत्रण दिया गया, यथा 'बरे तुरत सत सहस बर बिप्र कुटुंब समेत। १७२।' इनकी अपेक्षा जो सामान्य ब्राह्मण थे उनको निमंत्रण नहीं दिया गया वे 'पुनि तिन्ह कें गृह जेवँ जोऊ।०' में आ जायेंगे। पुनः, (ख) वर्ष भर ब्राह्मण-भोजन करानेकी विधि है अतः 'संबत भरि...' कहा। [वा, (ग) ब्राह्मणोंको वर्षासन दिया जाता है। अथवा, (घ) भावीवश ऐसा संकल्प कराया गया क्योंकि विप्रशापसे संवत्के भीतर इसका नाश होना है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि यदि दो चार दिनका ही संकल्प होता तो एकाएकी ऐसा होनेसे सबको संदेह हो जाता कि क्या कारण है। (प्र० सं०)] (ङ) कालकेतु तो एक ही दिनमें राजाको शाप दिला देगा। उसमें यह सामर्थ्य है तभी तो उसने कपटी मुनिको वचन दिया कि 'कुल समेत रिपु मूल बहाई। चौथें दिवस मिलब मैं आई। १७१।५।' उसने वर्षभरको नहीं कहा था। तापस राजाने एक वर्षका संकल्प करनेको कहा जिसमें राजाको विश्वास हो कि यह बड़ा भारी पुण्य है; इस पुण्यके प्रभावसे ब्राह्मण अवश्य वशमें हो जायँगे।

२ (क) 'नित नूतन' का भाव कि एक ही को नित्य नेवता देनेका (नित्यप्रति भोजन करानेका) कोई प्रयोजन नहीं। वह तो एक ही दिनके निमंत्रणमें भोजन करनेसे वशमें हो जायगा। (ख) 'बरेहु सहित परिवार' इति। भाव कि यदि परिवारवाले भोजन न करेंगे तो वे वशमें न होंगे। परिवारसहित न्योतना, इस कथनसे यह ज्ञात हुआ कि परिवारकी गणना एक लक्षमें नहीं है। एक लक्ष ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येक ब्राह्मण परिवारसहित निमंत्रित किया जाय। परिवार चाहे जितना हो उसकी गणना न की जायगी। भीतरी अभिप्राय यह है कि परिवार सहित राजाका नाश कराना है। परिवारसहित निमंत्रण होनेसे परिवारसहित नाश होनेका शाप होगा। (ग) 'मैं तुम्हरे संकलप लगि...' इति। वर्षभरका संकल्प करनेको कहा। राजा संकोचवश मुनिसे वर्षपर्यन्त रसोई करनेको कह नहीं सकता, इसीसे वह स्वयं ही कहता है कि मैं वर्षभर प्रतिदिन रसोई बनाऊँगा। [भाव यह कि तुम इसकी चिन्ता न करो कि इतने ब्राह्मणोंके लिये रसोई कैसे होगी। मैं तपोबलसे दिनके दिन ही नित्य भोजन तैयार कर दिया करूँगा और तुम्हें परसनेका सामर्थ्य भी दूँगा। (प्र०सं०)। पं० रामकुमार 'संकलप लगि दिनहि' का अर्थ 'संकल्पके दिनतक। अर्थात् वर्ष दिन' ऐसा करते हैं।]

एहि बिधि भूप कष्ट अति थोरें। होइहहिं सकल बिप्र बस तोरें ॥१॥
करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा ॥२॥
और एक तोहि कहौं लखाऊ। मैं एहि बेष न आउब काऊ ॥३॥
तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया ॥४॥
तप बल तेहि करि आपु समाना। रखिहौं इहाँ बरष परवाना[१] ॥५॥

शब्दार्थ—होम = हवन। प्रसंग = प्रकर्ष करके संग = संयोग, सम्बन्ध। लखाऊ (लक्ष्य) = पहचानकी बात, चिह्न। उपरोहित (पुरोहित) = वह प्रधान याजक जो यजमानके यहाँ अगुआ बनकर श्रौतकर्म, गृह्यकर्म और संस्कार तथा शान्ति आदि अनुष्ठान करे कराए। पूर्वकालमें पुरोहितका बड़ा अधिकार था। पुरोहितका पद कुलपरंपरागत होता था।

अर्थ—हे राजन्! इस प्रकार (इस विधि या साधनसे) अत्यन्त थोड़े कष्टसे समस्त ब्राह्मण तेरे वशमें हो जायँगे ॥ १ ॥ ब्राह्मण लोग जो होम, यज्ञ और सेवा-पूजा करेंगे, उसके सम्बन्धसे देवता सहज ही वश

१ परमाना—पाठान्तर।

में हो जायँगे ॥ २ ॥ तुमसे एक और पहचान की बात बताता हूँ। मैं इस वेषसे कभी न आऊँगा ॥ ३ ॥ हे राजन्! मैं तुम्हारे पुरोहितको अपनी मायाके बलसे हर लाऊँगा ॥ ४ ॥ तपके बलसे उसे अपने समान बनाकर यहाँ एक वर्षपर्यन्त रक्खूँगा ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'एहि बिधि०'—भाव कि अन्य जो भी विधियाँ हैं वे कष्टसाध्य हैं और इस विधिमें अत्यन्त अल्प कष्ट है। भोजन करानेमात्र का, परसने भरका कष्ट है। (ख) "होइहहिं" अर्थात् निश्चय ही हो जायँगे। भाव कि अन्य साधनोंके करनेपर भी सन्देह ही रहता है कि सफलता हो या न हो, यथा 'कष्ट साध्य पुनि होहिं कि नाहीं', और इस साधनमें सफलता भी निश्चित है। (ग) 'सकल बिप्र बस तोरें' इति। संवतभरका संकल्प करना और एक लाख विप्र नित्य निमंत्रित करना यह कहकर 'सकल बिप्र बस होइहहिं' कहनेसे पाया गया कि तीन करोड़ साठ लाख घर उस समय वेदपाठी विप्रोंके थे।

२ 'करिहहिं बिप्र होम···' इति। (क) 'सहजेहिं' का भाव कि देवताओंका वशमें होना कठिन है। वे सहज ही में वशीभूत हो जायँगे, उनको वशमें करनेके लिये तुम्हें कुछ भी करना न पड़ेगा। पुनः, भाव कि ब्राह्मणोंको वशमें करनेमें किंचित् कष्ट उठाना पड़ेगा और इनको वश करनेमें किंचित् भी कष्ट नहीं होगा। तात्पर्य्य यह है कि भूदेवोंको वशमें करलेनेसे स्वर्गके देवता स्वाभाविक ही वशमें हो जायँगे। (ख) देवता सहजहीमें विना कष्ट किये कैसे वशमें हो जायँगे यह 'करिहहिं बिप्र होम···' से जनाया। भाव यह कि देवता होम, यज्ञ आदिसे वशमें होते हैं पर तुमको होम, यज्ञ, सेवा-पूजा कुछ न करनी पड़ेगी। 'तेहि प्रसंग' अर्थात् ब्राह्मण जो होम, यज्ञ, सेवा-पूजा करेंगे उसीके संयोगसे देवता वशमें हो जायँगे। (भाव कि यज्ञादि वे करेंगे और फल मिलेगा तुमको, केवल एक बार उनको मेरे हाथका बनाया परसकर खिला देनेसे।)

३ 'और एक तोहि कहौं लखाऊ।···' इति। (क) 'लखाऊ' यहाँ कहा और आगे कहा है कि 'मैं आउब सोइ बेष धरि पहिचानेहु तब मोहि।' इस तरह 'लखाउ' का अर्थ वहाँ खोल दिया। लखाउ= पहिचाननेकी बात, जिससे तुम हमको पहचान सको। (ख) प्रथम तो तापसने अपनेको छिपाया कि मुझे कोई जान न पावै। यथा 'तुम्ह परुसहु मोहि जान न कोई। १६८।५।' कदाचित् कोई जाने भी, तो पुरोहितका वेष देखकर पुरोहित ही जानैं; इसीसे कहा कि 'मैं एहि बेष न आउब काऊ।' भाव कि हमारे प्रकट होनेसे तुम्हारे कार्यकी हानि है। तीसरा (भीतरी) अभिप्राय यह है कि यदि हमें कोई जान गया तो हमारा बना-बनाया काम बिगड़ जायगा अतः कहा कि इस वेषसे न आऊंगा।

४ 'तुम्हरे उपरोहित कहुँ···' इति। (क) धर्मके कार्यमें पुरोहित अग्रसर रहता है। राजाका पुरोहित बड़ा बुद्धिमान् है। यदि वह वहाँ रहा तो हमारे छलको भाँप लेगा। (यह उसके हृदयमें भय है। अतः उसको वहाँसे हटा देनेको है)। ऊपरसे यह दिखाता है कि तुम्हारे पुरोहितको मैं अपने समान बनाकर यहाँ रक्खूंगा जिसमें हमारे तपमें अन्तर न पड़े, आसन शून्य न हो। (ख) 'हरि आनब करि निज माया' इति। 'हर लाने' का भाव कि प्रत्यक्ष ले आनेसे गुप्त बात खुल जायगी। दूसरे, हमारे कहनेसे वह न आयेगा। हरण करनेसे ही आयेगा। 'निज माया' अर्थात् अपनी योग-मायासे, योगबल के प्रभावसे। इससे वह अपना प्रभाव अपना सामर्थ्य दिखा रहा है। [माया सबकी अलग-अलग होती है। सबसे बड़ी रामकी माया है। यथा 'सुनु खग प्रबल राम की माया'), उसके बाद त्रिदेवकी माया है (यथा 'बिधि हरि हर माया बड़ि भारी' ।), फिर देवकी माया (यथा 'कछुक देव माया मति मोई'), ऋषिकी माया (यथा 'बिधि बिस्मयदायक बिभव मुनिवर तप बल कीन्ह'।), फिर असुरकी माया (यथा 'जब कीन्ह तेहि पाखंड। भए प्रगट जंतु प्रचंड'). फिर मनुष्यकी माया है (यथा 'इहां न लागी राउरि माया'); सो यहाँ आसुरी और मानुषी दोनों मायायें काम कर रही हैं। (वि० त्रि०)] (ग) पुरोहितको हर लाना कहा, उसकी सेजपर

सोनेको न कहा क्योंकि यह बात महात्माओंके योग्य नहीं है। कालकेतुसे पुरोहित की स्त्रीके पास शयन करने को कहा जिसमें स्त्रीको भ्रम न हो कि हमारा पति कहाँ गया।

५ 'तप बल तेहि....' इति। (क) किस लिये हर लायेंगे यह अब बताता है। संवत्भर तुम्हारे यहाँ रहना होगा, जैसा पूर्व कहचुके हैं—'मैं तुम्हरे संकलप लगि...।' यहाँ आसन खाली न रहे, इत्यादि। (ख) 'तप बल तेहि करि आपु समाना'—भाव कि पुरोहित हमारे समान नहीं है और न हो सकता है, मैं अपने तपोबलसे उसे अपने समान बना लूंगा। (पूर्व कह ही चुका है कि 'तप तें अगम न कछु संसारा')। अपने समान बनानेका भाव कि हमारा काम पुरोहित करेगा और पुरोहितका रूप धरकर तुम्हारा काम मैं करूंगा। [(ग) 'रखिहउँ यहाँ'—भाव यह कि मेरा नित्य नियम वह करता रहेगा क्योंकि यहाँ और कोई तो आ नहीं सकता, रहे देवता और मुनि सो वे अन्तरद्धि मेरे दर्शनोंको आते जाते हैं उनको भी यह न मालूम हो कि मैं कहीं चलागया। यहाँ वह अपना सामर्थ्य जता रहा है।—(पंजाबीजी)। (घ) इस तरह वह राजाको बहकाता है जिसमें यदि कपट खुल भी जाय और राजा यहाँ आवे तो पुरोहित ब्राह्मण समझकर मेरा बध न करे। (श्रीजानकीशरणजी)। (ङ) पुरोहित रहेगा तो राजाकी रक्षा करेगा अतः यह उपाय रचता है। (रा० प्र०)]

वि० त्रि०—पुरोहितका पद मंत्रीसे भी बड़ा है, इसी लिये अथर्ववेदी पुरोहित बनानेका आदेश है जो मन्त्रादिसे भली भाँति राज्य तथा राजाकी रक्षा कर सकता हो। शुक्रनीतिमें पुरोहितके कार्य और अधिकारका विशद वर्णन है। वही धर्माध्यक्ष है। नियमानुसार वह ब्राह्मण भोजनकी देखरेख करेगा। उसे रसोई देखनेसे तो राजा भी नहीं रोक सकता, तब विना भेद खुले न रहेगा। अतः कपटमुनिको पुरोहितसे भय है। पुरोहित बनकर रहनेसे धर्मविभाग अपने हाथोंमें रहेगा। दूसरा कोई निरीक्षक न रह जायगा।

मैं धरि† तासु बेषु सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा ॥६॥
गै निसि बहुत सयन अब कीजै। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजै ॥७॥
मैं तप बल तोहि तुरग समेता। पहुँचैहौं सोवतहि निकेता ॥८॥
दोहा—मैं आउब सोइ बेषु धरि पहिचानेहु तब मोहि।
जब एकांत बोलाइ सब कथा सुनावौं तोहि ॥१६९॥

अर्थ—हे राजन्! सुनो। मैं उसका वेष धारणकर सब तरहसे तेरा कार्य सँवारूँगा॥ ६॥ राजन्। रात बहुत बीत गई, अब सो रहिए। मुझसे तुझसे अब तीसरे दिन भेंट होगी॥ ७॥ मैं अपने तपोबलसे तुझे घोड़े समेत सोते ही (तेरे) घर पहुँचा दूँगा॥ ८॥ मैं वही वेष धरकर आऊँगा। जब तुमको एकान्तमें बुलाकर मैं सब कथा सुनाऊँ तब मुझे जान लेना॥ १६९॥

टिप्पणी—१ 'मैं धरि...' इति। (क) पुरोहित बननेमें तपोबलका काम नहीं है, इसीसे यहाँ 'तप बल' न कहा। वेष धरना कहकर तब काज सँवारना कहा। भाव कि प्रथम पुरोहितको अपने समान बनाकर यहाँ रख दूंगा तब उसका रूप धरकर तुम्हारा काम करूंगा। (ख) 'सब बिधि'—निमंत्रण देकर बुलाना, जेवनार बनाना, विघ्न दूर करना, इत्यादि 'सब बिधि' हैं।

२ (क)-'गै निसि बहुत' इति। जब तपका प्रभाव कहने लगा था तब राजाको अति अनुराग हो गया था; यह देखकर पुरातन कथायें कहने लगा था। यथा 'भएउ नृपहि सुनि अति अनुरागा। कथा

† करि—पाठान्तर।

पुरातन कहै सो लागा ॥'''कहेसि अमित आचरज बखानी।१६३।४-६।' इसीसे बहुत रात बीत गई। 'बहुत' से जनाया कि आधी रात बीत गई। यथा 'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥ २२६।२।' (विश्वामित्रजी जब पौराणिक कथा इतिहास कहने लगते थे तब अर्द्धरात्रि बीत जाती थी, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए)। (ख) 'सयन अब कीजै' इति। सोनेकी आज्ञा इससे दी कि कालकेतु आने ही चाहता है। [इससे जान पड़ता है कि राजाका चित्त उसकी बातोंमें ऐसा मग्न है कि नींद भी आनन्दमें उड़ गई; पर कपटी मुनि तो अपनी घातमें है। वह जानता है कि कालकेतुके आगमनका समय है। राजाके जागते हुये वह कैसे आवेगा, इससे अपने मतलबसे शयन करनेको कहा। पुनः, डर लगा है कि राजा उसे कहीं देख न ले जो हमारा कपट खुल जाय। और ऊपरसे एक साधारणसी बात कहनेमें जान पड़ती है क्योंकि बहुत रात बीतनेपर ऐसा कहना शिष्टाचार है। (प्र० सं०)। आज्ञा न देता तो राजा न सोता।] (ग) 'भेंट दिन तीजै' इति। भाव कि आजका दिन तो बीत ही गया। सवेरे तुम्हारे पुरोहितको ले आऊंगा, (ब्राह्मणोंको निमंत्रित करूँगा) और परसों तुमसे आकर मिलूँगा। [पुनः, बहुत दिनपर मिलनेको कहता तो राजा सहन न कर सकता। कलही का दिन बीचमें है, यह भी उसे युगसमान बीतेगा। यथा 'जुग सम नृपहि गए दिन तीनी। १७२।७।'] तीसरे दिन मिलनेको कहा, बहुत जल्दी न की जिसमें काम न बिगड़े। प्रथम दिन तो सोनेमें गया। दूसरे दिन राजा वनमें गए और दोपहरमें लौटे। निमंत्रणका समय न रह गया। तीसरे दिन सवेरे कालकेतु राजासे मिला इसीसे तुरत उसी दिन विप्रोंको निमंत्रण दिया गया।

३ (क) 'मैं तप बल''' इति। तापसने जो अपनी महिमा कही थी वह यहां प्रत्यक्ष दिखा रहा है, इसीसे राजाको दृढ़ विश्वास हुआ। यहाँ तक उसने अपनेमें योगमाया बल और तप-बल दोनों बल दिखाए। 'तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया।' अर्थात् पुरोहितको हर लानेमें मायाबल और यहाँ राजाको सोते ही पहुँचानेमें तपोबल कहा। (ख) 'पहुँचैहौं सोवतहि निकेता' इति। 'सोवतहि' अर्थात् तुम्हारी निद्रा न भंग होने पायेगी। घर पहुँचानेको कहा जिसमें अपनी महिमा भारी पाई जाय कि सत्तर योजन सोते ही पहुँचाया और वह भी किलेके भीतर महलमें रानीके पास; राजाने ऐसा समझा भी, यथा "मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी। १७२।३।' (ग) कपटी मुनिने घरमें पहुँचानेको कहा पर राजाने कुछ उत्तर न दिया कि लोग हमसे पूछेंगे तो हम क्या कहेंगे, आपने तो हमें यह वृत्तान्त गुप्त रखनेको कहा है। उत्तर न देनेसे राजाकी कपटी मुनिमें भक्ति दिखाई कि अपने ऊपर भले ही कष्ट सहा कि प्रात ही उठकर वनमें गया और वहाँसे दो पहरमें लौटकर घर आया पर मुनिको उत्तर न दिया। (स्वामीकी आज्ञा होनेपर उत्तर देना लज्जाकी बात है, यथा "उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई। २।२६६।')

४ (क) 'मैं आउब सोइ बेषु धरि' अर्थात् पुरोहितका रूप धरकर। (ख) 'पहिचानेहु तब मोहि'— भाव कि पहचाननेमें भ्रम हो जानेकी संभावना है क्योंकि हम भी पुरोहितका रूप धरकर आयेंगे। पुरोहितको देखकर भ्रम होगा कि ये मुनि हैं या पुरोहित, आगे ऐसा भ्रम हुआ ही है, यथा "उपरोहितहि देख जब राजा। चकित बिलोकि सुमिरि सोइ काजा। १७२।६।' इसीसे पहचान बताई है जिसमें भ्रम न हो जाय। [तापसको डर है कि कहीं राजाको अपने पुरोहितमें मेरा धोखा न हो जाय और कोई बात इसके मुखसे मेरे संबंधकी निकल न जाय। अतएव राजाको पुरोहितसे बात करनेको मना करता है।]

सयन कीन्ह नृप आयसु मानी। आसन जाइ बैठ छल ग्यानी॥१॥
अमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई॥२॥

अर्थ—राजाने आज्ञा मानकर शयन किया । छलमें ज्ञानी (वा, कपटी बना हुआ ज्ञानी) वह तापस अपने आसनपर जा बैठा ॥१॥ राजा थका हुआ है, (इसलिये उसे) बड़ी गहरी नींद आ गई । उस 'छल-ज्ञानी' को (तो) बहुत शोच और चिन्ता है (अतः) वह कैसे सो सकता ? (नहीं सो सकता था) ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सयन कीन्ह···' इति । 'आयसु मानी' का भाव कि राजाको अभी शयन करनेकी इच्छा न थी, उसका मन कथामें लगा था पर मुनिने आज्ञा सोनेकी दी, अतः उसे शयन करना पड़ा । (क्योंकि एक तो वे कालीन मुनि हैं, दूसरे गुरु हैं, तीसरे राजाको सुत और सेवक मानते हैं और उसका परम हित करनेमें तत्पर हैं । अतः सब प्रकार आज्ञा मानना आवश्यक था) । (ख) 'आसन जाइ बैठ' इति । प्रथम कह आए हैं कि 'निज आश्रम तापस लै गएऊ ॥ आसन दीन्ह अस्त रबि जानी । १।१५६।' अर्थात् अपने आश्रममें लाकर राजाको आसन दिया । और, अब कहते हैं कि 'आसन जाइ बैठ' । 'जाइ' से पाया गया कि कपटी मुनिने दो आसन बना रक्खे थे, यहाँसे उठकर दूसरे आसनपर जाकर बैठा । दो आसन न होते तो 'जाइ' न कहते । पुनः, आगे कहा है कि 'तापसनृपहि बहुत परितोषी । चला महा कपटी अति रोषी । भानुप्रतापहि बाजि समेता । पहुँचाएसि··· । १७१ ६-७ ।' इससे यह भी पाया गया कि दूसरा आसन कुछ दूरीपर था, इसीसे 'चला' शब्द दिया गया । यह आसन एकान्तमें और दूर था नहीं तो वहाँ कालकेतुसे अपने शत्रुके संबंधकी बातें कैसे कर सकता । (ग) 'छल ज्ञानी'—भाव कि इसीसे उसने दो आसन बना रक्खे थे क्योंकि राजाके सामने, जहाँ राजा सो रहेगा वहाँ, कालकेतुसे बातचीत करते न बनेगी । बड़ी सावधानतासे उसने छलकी सिद्धि की अतः 'छल ज्ञानी' कहा ।

२ (क) 'श्रमित भूप निद्रा···' इति । श्रममें निद्रा आती है, यथा 'लोग सोग श्रम बस गए सोई । २।८५ ।' (ख) 'सो किमि सोव'—भाव कि सोनेका समय हो गया है, इसीसे राजाको सोनेकी आज्ञा दी पर स्वयं न सोया, आसनपर जाकर बैठ रहा । उसका कारण कहते हैं । 'सोच अधिकाई' अर्थात् शोचमें निद्रा नहीं आती, यथा "गयउ भवन अति सोच बस नींद परै नहि राति । ३।२२ ।', 'निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच । २।२५२ ।' (तापसने राजासे जो कुछ अपना प्रभाव कहा वह सब कालकेतु निशाचरके मायावी बलके भरोसेपर, अतः उसे उसके अबतक न आनेका शोच है) कहीं किसी कारणसे रुक न जाय, ऐसा न हो कि न आवे, न आया तो हमारा सब काम ही बिगड़ जायगा, (कालकेतु न आया तो बात झूठी पड़ेगी फिर राजा मुझे जीता न छोड़ेगा), यह शोच है जैसा आगेके 'कालकेतु निसिचर तहँ आवा' से स्पष्ट है । पुनः, शत्रुके नाशका भी शोच है जो आगे कालकेतुके 'परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई । बिनु औषध बिआधि बिधि खोई । १७१।४ ।' इस वाक्यसे स्पष्ट है ।

कालकेतु निसिचर तहँ आवा । जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा ॥३॥
परम मित्र तापस नृप केरा । जानै सो अति कपट घनेरा ॥४॥
तेहि के सत सुत अरु दस भाई । खल अति अजय देव दुखदाई ॥५॥
प्रथमहि भूप समर सब मारे । बिप्र संत सुर देखि दुखारे ॥६॥

शब्दार्थ—केरा=का । यह संबंधका चिह्न है । परम मित्र = बड़ा दिली दोस्त ।

अर्थ—कालकेतु राक्षस वहाँ आया जिसने शूकर बनकर राजाको भुलाया था ॥ ३ ॥ वह तपस्वी राजाका परम मित्र था और अत्यन्त 'घनेरा' कपट जानता था ॥ ४ ॥ उसके सौ पुत्र और दश भाई थे जो अत्यन्त दुष्ट, अजय और देवताओंको दुःख देनेवाले थे ॥ ५ ॥ राजाने ब्राह्मणों, सन्तों और देवताओं को दुःखी देखकर प्रथम ही उन सबोंको संग्राममें मार डाला ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कालकेतु निसिचर' इति । इसके पूर्व शूकरका परिचय न दिया था, यहाँ

प्रकट किया कि कालकेतु ही वह शूकर था। कारण कि वहाँ कालकेतु प्रकट न था, शूकरका रूप धरे हुए था, इसीसे वहाँ ग्रंथकारने भी उसे प्रकट न किया। यहाँ कालकेतु अपने असली रूपसे प्रकट होकर आया, इसीसे यहाँ कविने उसे प्रकट किया कि यही शूकर बना था, वस्तुतः है राक्षस। राजाके सो जानेपर आया, इससे उसकी सावधानता दिखाई। (ख) 'जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा', यथा 'फिरत अहेरें परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई। १५६।६।' (ग) 'परम मित्र' का भाव कि तापसके मित्र तो बहुत हैं पर यह 'परम मित्र' है। क्योंकि दोनों अत्यन्त कपट जानते हैं। ('समानशीलव्यसनेषु मैत्री', समान शील और समान व्यसनवालोंमें मैत्री होती है। शत्रु के शत्रु से मित्रता होना स्वाभाविक है। मुनि कपटी और राक्षस मायावी, दोनों राजाके शत्रु। वि० त्रि०)। (घ) 'जानै सो अति कपट घनेरा'—भाव कि घनेरा कपट तो तापस भी जानता है पर कालकेतु 'अति घनेरा' कपट जानता है क्योंकि वह राक्षस है और राक्षस मनुष्यकी अपेक्षा अधिक कपट जानते ही हैं। अति घनेरा कपट आगे जो यह करेगा उससे स्पष्ट है। ☞ (ङ) यहाँ कपटी मुनिको 'तापस नृप' कहा, इसके पूर्व 'नृप' नहीं कहा था। भाव यह है कि राजाको छलनेके लिये ही वह मुनि बना था, जिसमें राजा उसे मुनि जाने और ऐसा हुआ भी। राजाने कपटी मुनिको मुनि जाना, यथा 'देखि सुबेष महामुनि जाना।' मुनि बनकर उसने कपट किया। इसीसे भानुप्रताप-कपटी-मुनि-संवादमें 'तापस नृप' न कहा किंतु मुनि, तापस, मुनीस आदि कहते रहे। और अब कालकेतु-कपटीमुनिके संवादमें 'तापस नृप' कहते हैं क्योंकि अब मुनि कहनेका कोई प्रयोजन नहीं है। कालकेतु जानता है कि यह राजा है, (राज्य छूटनेपर अपनेको छिपानेके लिये तपस्वी वेष धारणकर) तप करता है, इसीसे अब तापसनृप कहते हैं। इस प्रसंग भरमें प्रायः यही नाम दिया गया है। यथा 'परम मित्र तापस नृप केरा', 'तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा', 'तापस नृप निज सखहिं निहारी', 'अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा', तथा 'तापस नृपहिं बहुत परितोषी'। (पुनः 'तापस नृप' इससे कहा कि इस समय यहाँ दो राजा हैं, केवल नृप कहनेसे पाठकोंको भ्रम होना संभव था।)

२ (क) 'तेहिके सत सुत अरु दस भाई' इति। पुत्र बहुत प्रिय है, इसीसे प्रथम पुत्रका दुःख कहा। सौ पुत्र और दस भाई कहनेका भाव कि इतना उसका परिवार था, उसके सारे वंशका नाश हुआ, सब मारे गए। (ख) 'खल अति अजय···' इति। 'अति' देहली दीपक है। अर्थात् वे अति खल और अति अजय थे। 'खल' का भाव कि देवताओंकी संपत्ति देखकर जलते हैं, यथा 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी। ७।३६।'; इसीसे देवताओंकी संपत्तिका हरण करते हैं। 'अति अजय' हैं अर्थात् देवता इन्हें नहीं जीत पाते थे, इन्द्रादि सभी देवता हार गए थे। 'देव दुखदाई' अर्थात् देवताओंसे वैर मानते थे। यथा 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा। हमरे बैरी बिबुध बरूथा। १८१।५।' (यह रावणने राक्षसोंसे कहा है) [इन्द्रादि देवता दुर्जय (अजय) हैं उनको भी इन्होंने जीत लिया इससे 'अति अजय' कहा। ☞देवताओंको दुःख देते और उनकी सम्पत्ति छीन लेते थे अतएव खल कहा, यथा 'खलन्ह हृदय···।' (प्र० सं०)]

३ (क) 'प्रथमहि भूप समर सब मारे' इति। 'प्रथम' का भाव कि जब भानुप्रताप दिग्विजयको चला और तापस नृपपर चढ़ाई की तब कालकेतु अपने मित्रकी सहायताके लिये अपने सब पुत्रों और सब भाइयों सहित आया था, तब राजाने उन सब पुत्रों और भाइयोंको संग्राममें मारा। [यह भी हो सकता है कि पहले-पहल कालकेतुसे युद्ध किया क्योंकि वह ब्राह्मण, देवता और संत सभीको दुःख दे रहा था और राजा बिप्र-सुर-संत-सेवी था; इसीसे राजाने प्रथम उन्हींसे युद्ध किया। तत्पश्चात् मनुष्य राजाओंपर दिग्विजयके लिये निकला; यह भाव 'तेहि खल पाछिल बयरु सँभारा। तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा।' से भी पुष्ट होता है।] (ख) 'बिप्र संत सुर देखि दुखारे' इति। यह सबको मार डालनेका कारण बताया। भाव कि

भानुप्रताप राजाओंको जीतकर उनसे दंड लेकर, उनको छोड़ देता था, उनको मारता नहीं था। यथा 'सप्त दीप भुज बल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे। १५४।७।' पर कालकेतुके पुत्रों और भाइयोंको नहीं छोड़ा, इनका वध किया, क्योंकि देवता, ब्राह्मण आदि जो राजाके सेव्य हैं, (यथा 'गुरु सुर संत पितर महि देवा। करै सदा नृप सब कै सेवा।'), जिनका राजा भक्त है वे इन राक्षसोंके कारण निरन्तर दुःखित रहते हैं। यह बात राजाने स्वयं देखी अतः सबोंका नाश किया। (कालकेतु जान बचाकर भाग गया, इसीसे बच गया)। पुनः, 'देखि दुखारे' का भाव कि राक्षसोंको मारकर उनके दुःखको दूर कर उन्हें सुखी किया। (ग) देवताओंसे राक्षस बलवान् थे। उन राक्षसोंको भानुप्रताप ने मारा। इससे पाया गया कि भानुप्रताप देवता और राक्षस दोनोंसे अधिक बलवान् था।

प० प० प्र०—प्रतापभानुने यह राजनैतिक भूलें कीं जो उसके विनाशका कारण हुईं। विश्वविजेताके अभिमानमें उन्होंने राजनीतिका पालन सावधानतासे न किया। 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि', 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ' यह नीति है। कालकेतुके 'सत सुत अरु दस भाई' तो मारे पर घमंडमें आकर कालकेतुकी उपेक्षा कर दी कि अकेला वह क्या कर सकता है। इसी प्रकार जो राजा रणसे भाग गया, उसपर भी ध्यान नहीं रक्खा। 'तदपि कठिन' 'छत्र जाति कर रोष। ६।२३।' यह वे भूल गए।

मानसमें यह प्रतापभानु-आख्यान ही केवल एक ऐसा प्रकरण है जो एकदम सहारा (रेगिस्तान, मरुभूमि) के समान भक्तिरसविहीन होनेसे रूखा-सूखा लगता है। कपट मुनिने चार बार हरि शब्दका प्रयोग किया है, पर इस प्रकरणमें राम, रघुपति, रघुनाथ इत्यादि शब्द एवं भक्ति शब्द एक बार भी नहीं है। राम और भक्तिका नाम भी नहीं है। इस प्रकरणसे यह उपदेश मिलता है कि चाहे कोई कितना ही धर्मशील क्यों न हो, यदि उसमें सत्संग, रामनाम और रामभक्ति नहीं है, तो उसको संकट पड़नेपर अपने कर्मके अतिरिक्त कोई सहारा नहीं है, कोई बचानेवाला नहीं। (पृष्ठ ८८१, टिप्पणी २ देखिये)

तेहि खल पाछिल बयरु संभारा। तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा ।।७।।
जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावी बस न जान कछु राऊ ।।८।।
दोहा—रिपु तेजसी अकेल अपि लघु करि गनिअ न ताहु।
अजहुँ देत दुख रबि ससिहि सिर अवसेषित राहु ।।१७०।।

शब्दार्थ—संभारा=सँभाला, स्मरण किया, यथा 'बुधि बल निसिचर परइ न पार्यो। तब मारुतसुत प्रभु संभार्यो। ६।९४।', 'बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी। ५।१।', 'दीनदयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी। ५।२७।' मंत्र=सलाह, मशविरा, परामर्श। (जिसका मनन करनेसे रक्षा हो उसे मंत्र कहते हैं। इस तरह मंत्रका अर्थ हुआ—जिससे अपनी रक्षा हो, शत्रुका क्षय हो वह उपाय वा सलाह)। छय (क्षय)=नाश। अवशेषित=बचा हुआ।

अर्थ—उस दुष्ट (कालकेतु) ने अपने पिछले वैरका स्मरण किया और तपस्वी राजासे मिलकर सलाह की ।।७।। उन दोनोंने वही उपाय रचा जिससे शत्रुका नाश हो। राजा (भानुप्रताप) होनहारवश कुछ नहीं जान पाया ।।८।। तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो तो भी उसे छोटा न समझना चाहिए। (देखिए) राहु जिसका सिर मात्र बच रहा वह अब भी सूर्य और चन्द्रमाको दुःख देता है ।।१७०।।

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि खल' इति। 'खल' का भाव कि राजाको संग्राममें तो मार न सका और अकेला पड़ जानेसे वैरका साहस भी न रह गया था, एक साथी तापस नृपके मिल जानेसे अब छलसे मारनेका उपाय सोचा। 'पाछिल बयरु'—अर्थात् अपने सौ पुत्र और दशो भाइयोंके मारे जानेका वैर। पुनः भाव कि पहले तो तापस नृपके वैर से वैर मानता था (मित्रका वैरी अपना वैरी होता है। इसीसे

रघुनाथजीने बालिसे कहा है—'मम भुज बल आश्रित तेहि जानी । मारा चहसि अधम अभिमानी । ४।६ ।'), और अब उसने अपने पुत्रों और भाइयोंके मारे जानेका स्मरण किया (कि इसने हमारे वंशका नाश किया, हम इसका वंश सहित नाश करें)। (ख) 'तापस नृप मिलि'''' इति । (इससे जनाया कि कालकेतु विना तापस नृपसे मिले अकेले भानुप्रतापको छलसे भी मारनेको समर्थ न था। इसीसे वह तापस नृपसे मिला और तब दोनोंने मिलकर प्रथम विचारकर उपाय तैयार किया तब राजाको छला ।)

२ (क) 'जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ ।' इति । राजासे जीतना संभव नहीं है, इसीसे 'जेहि छय होइ' अर्थात् जीतनेका उपाय न रचा, क्षयका उपाय रचा। राजाको मृगयाका व्यसन था ही अतः कालकेतु शूकर बना और तापस नृप मुनि बना। शूकर छलकर राजाको तापसके पास लाया। दोनोंने मिलकर राजाको ब्राह्मणोंसे शाप दिलाया; यही उपाय है जो पूर्व कह आए हैं। यथा 'जाइ उपाय रचहु नृप एहू । संबत भरि संकलप करेहू ॥''', 'जेहि सूकर होइ नृपहि भुलावा' । (ख) 'भावी बस न जान कछु राऊ' इति । कालकेतुका शूकर बनना, वैरी राजाका मुनि बनना, दोनोंका मेल इत्यादि कुछ न जान पाया, इसका कारण 'भावी' है । 'भावी बस' कहनेका भाव कि भावीने राजाको अज्ञानी कर दिया, नहीं तो वह बड़ा बुद्धिमान् है वह अवश्य जान जाता । यदि 'भावी वश' न कहते तो राजामें अज्ञान पाया जाता। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "राजा बड़ा सावधान था । उसने कालकेतु और तपस्वी वेषधारी राजाके खोजवानेका यत्न बहुत किया था, परन्तु भावीवश उसे कुछ पता न लगा । कालक्रमसे बात पुरानी हो गई और अब उस ओर कोई ध्यान नहीं देता था") ।

३ 'रिपु तेजसी अकेल''' इति । अर्थात् कालकेतु और तापस नृप दोनों अकेले रह गए फिर भी वे तेजस्वी शत्रु थे, राजाने उनको लघु जानकर खोजकर न मारा, यही समझता रहा कि वे अकेले हमारा क्या कर सकते हैं । (उनके भाग जानेपर राजाको चाहिये था कि उन्हें खोजकर मारते । यह नीति है, यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ ।२।२२६ ।') शत्रु छोटा भी हो तो भी उसे छोटा न मानना चाहिए, यथा 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि । ३।२१ ।' 'अजहूँ' का भाव कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'सिर अवसेषित राहु'—भाव कि जैसे राहु शिरमात्र ही है वैसे ही कालकेतु और तापस नृप शिरमात्र ही काटनेको रह गए थे और सब वंशका नाश तो राजाने कर ही दिया था ।

नोट—१ यह दोहा भानुप्रताप, कालकेतु और तापस तीनोंमें घटित हो सकता है। कपटी मुनिका राज्य गया, उसके परिवार और सेना आदि सब राज्याङ्गोंका नाश हुआ । वह अकेला रह गया, जैसे राहुका सारा धड़ नष्ट हो गया, सिरमात्र रह गया । यद्यपि वह अकेला है तो भी क्या ? वह है तो क्षत्रिय, फिर राजा और शत्रु ! अवसर पर घात किया ही चाहे। भानुप्रतापको चाहिए था कि उसको खोजकर मारता । इसी तरह कालकेतुका वंश मारा गया । वह अकेला रह गया तो क्या ? वह है तो तेजस्वी ! देवता उससे जीत न पाते थे । अतः उसे भी मारना था । कालकेतुका परिवार राहुका धड़ है और कालकेतु शिर । (कालकेतुको राहु कहा क्योंकि राक्षस भी काला और राहु भी काला। 'तापस नृप' को राहु कहा, क्योंकि जैसे राहु छिपकर देवताओंमें जा बैठा था वैसे ही यह भी भागकर मुनिवेष बनाकर बैठा था । और भानुप्रतापको ग्रसनेकी संधिकी घातमें था) । पुनः, भानुप्रताप इस समय अकेला है। उसकी सेना और मंत्री आदि कोई अंग इस समय साथ नहीं हैं । इसे कालकेतु और तापस नृपने मार क्यों न डाला ? उसका समाधान करते हैं कि 'रिपु तेजसी'''' । अर्थात् वह अकेला है तो क्या ? है तो तेजस्वी ! न मरा तो फिर इन्हें जीता न छोड़ेगा । जैसे राहुका छल सूर्य और चन्द्रमाने बता दिया पर भगवान्के चक्रसे भी वह न मरा, उसका धड़मात्र नष्ट हो गया, शिर जीवित रह गया अतः वह अब तक सूर्य और चन्द्रसे अपना बदला लेता है। पुनः अकेले उसके मारनेसे क्या होता ? उसके भाई मंत्री प्रभृति खोज लगाकर इन्हें मार डालते, इनके रहते

राज्य तो लौटकर मिलेगा नहीं। अतएव अकेले राजाको न मार परिवार सहित उसका नाश करनेका उपाय रचा। (बला और अतिबला विद्याके जानकारको कोई सोतेमें मार नहीं सकता। अथवा उस समय असुर भी सोते हुए शत्रुको मारना अनुचित समझते थे। वि० त्रि०)।

२ पंजाबीजी लिखते हैं कि जैसे रवि और शशि दो और राहु एक, वैसे ही कालकेतु और कपटी मुनि दो और भानुप्रताप अकेला है। इसीसे उन दोनोंने विचार किया कि यदि हम इसे मारने लगे और वह जाग पड़ा तो फिर यह हमें राहुकी तरह ग्रसेगा। इसलिये उसे द्विजशाप दिलाकर उसका नाश करना उचित है।

३ 'अजहूँ' का भाव कि राहुका शिर काटे गये लाखों वर्ष हो गए। जब क्षीरसमुद्र मथा गया था तबकी यह बात है। पर उस वैरको राहु अब तक नहीं भूला, बराबर संधि पाकर वैरीको ग्रसता रहता है। वैसे ही यद्यपि कालकेतुके पुत्र और भाइयोंको मारे हुए तथा तापस नृपका राज्य छिने हुए वर्षें बीत गईं तब भी ये दोनों अपना वैर भूले नहीं, उस पुरानी शत्रुताके कारण आज भानुप्रतापके नाश करनेको उद्यत हैं।

४ राहुके शिर कटनेकी कथा दोहा ४।३ 'हरिहरजस राकेस राहु से' में देखिए। पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य। दोनों वाक्योंमें विना वाचक पदके बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है।

तापस नृप निज सखहि निहारी। हरषि मिलेउ उठि भएउ सुखारी ॥१॥
मित्रहि कहि सब कथा सुनाई। जातुधान बोला सुख पाई ॥२॥
अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौं तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥३॥

शब्दार्थ—सखहि = सखा को। सखा=साथी, मित्र। साधेउँ = ठीक कर लिया, वशमें कर लिया। कार्य सिद्ध कर लिया। रिपुका नाश कर दिया।

अर्थ—तपस्वी राजा अपने सखाको देख प्रसन्न हो उठकर मिला और सुखी हुआ ॥ १ ॥ (फिर उसने) मित्रसे सब कथा कह सुनाई। (वह) निशाचर आनन्दित हो बोला ॥ २ ॥ राजन्! सुनो। जो तुमने मेरा उपदेश (मेरे कहनेके अनुसार; मेरा कहा) किया तो अब मैंने शत्रुको साध लिया (उसका नाश कर डाला) ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तापस नृप…' का संबंध ऊपरके 'कालकेतु निसिचर तहँ आवा।…। १७०।३।' से है। अर्थात् कालकेतु वहाँ आया, उसे देखते ही तापस उठकर मिला। उठकर मिलने और हर्षित होनेका भाव कि तापस कालकेतुकी बड़ी प्रतीक्षामें बैठा था। सोच रहा था कि यदि कहीं कालकेतु आज न आया तो सब काम बिगड़ जायगा। मैंने राजासे एक़रार किया है कि तपोबलसे तुम्हें सोते हुए घोड़े समेत घर पहुँचा दूँगा, यह बात मेरे सामर्थ्यसे बाहर है, मुझसे तो हो नहीं सकती, इत्यादि शोचमें पड़ा हुआ था, यथा 'सो किमि सोव सोच अधिकाई।' जिस समय वह इस चिन्तामें ग्रस्त था उसी समय कालकेतु आ गया। इसीसे तापस बड़ा सुखी हुआ और उठकर मिला। 'निहारी' से सूचित हुआ कि उसकी राह देख रहा था कि कब आवे। (ख) 'कहि सब कथा सुनाई' इति। सब कथा सुनानेका भाव कि जिसमें सब बातचीत सुनकर छल करनेमें चूके नहीं, जैसा सुने वैसा ही सब कार्य करे। (ग) 'जातुधान बोला सुख पाई' इति। कालकेतुको सुख हुआ क्योंकि यह सब छल करना उसके लिये एक साधारण बात है। (धर्मात्माओंके साथ अन्याय करना, उनके नाशमें तत्पर रहना और नाशमें सुख मानना इत्यादि सब निशाचरोंके लक्षण हैं, यथा 'जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी। १८४।३।' अतः 'सुख पाई' के साथ 'जातुधान' कहा।) कालकेतु आया, यह तापस नृपके मनकी बात हुई इसीसे वह मित्रको देखकर सुखी हुआ। और कालकेतु

कथा सुनकर सुखी हुआ। इससे जाना गया कि यह सब उसके मनकी बात हुई। जैसे कपटी मुनिने कथा सुनाकर कालकेतुको सुख दिया वैसे ही कालकेतु अपने मित्रको सुख देनेकी बात बोला।

२ (क) 'अब साधेउँ' इति। अर्थात् अब मुझसे न बचेगा, अब मैं सब कर लूँगा। [श० सा० में 'साधित' शब्द मिलता है जिसका एक अर्थ यह है—'जिसका नाश किया गया हो'। इसके अनुसार 'साधेउ' का अर्थ होगा 'नाश कर डाला'] 'अब' का भाव कि यदि तुम ऐसा उपाय न करते तो हम शत्रुका नाश न कर सकते। (ख) 'जौ तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा।' इति। इससे पाया गया कि कालकेतु इसे पूर्व ही यह सिखा गया था (कि मैं किसी दिन जब राजा शिकारको निकलेगा उसे छल द्वारा भटकाकर इधर ले आऊँगा। तुम उससे इस तरह बातें करना कि जिससे वह तुम्हें महामुनि जानकर तुम्हारे वशमें हो जाय, तुम्हारी आज्ञाके पालनमें तत्पर हो जाय। इत्यादि।

परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु* औषध बिआधि बिधि खोई ॥४॥
कुल समेत रिपु मूल बहाई। चौथें दिवस मिलब मैं आई ॥५॥
तापस नृपहि बहुत परितोषी। चला महा कपटी अति रोषी ॥६॥

शब्दार्थ—बिआधि (व्याधि) = रोग।

अर्थ—अब तुम चिन्ता त्यागकर सो रहो। विधाताने विना दवाके रोगका नाश कर दिया॥ ४॥ वंशसहित शत्रुको जड़मूलसे (उखाड़) बहाकर मैं तुमसे चौथे दिन आकर मिलूँगा॥ ५॥ तपस्वी राजाको बहुत प्रकारसे संतोष (दिलासा) देकर (वह) महाकपटी और अत्यन्त क्रोधी (कालकेतु) चला॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'परिहरि सोच···' इति। प्रथम कह आए हैं कि कपटी मुनिको शोचके मारे नींद नहीं पड़ती—'सो किमि सोव सोच अधिकाई'। इसीसे कालकेतु कहता है कि सोच छोड़कर सो रहो। शोचमें मनुष्यको निद्रा नहीं पड़ती, यथा 'निसि न नींद' 'भरत बिकल सुचि सोच', 'गयो भवन अति सोच बस नींद परै नहिं राति।' इसीसे प्रथम शोच त्याग करनेको कहा तब सोनेको। ('रहहु सोई' का भाव कि पैर फैलाकर मेरे भरोसे निश्चिन्त सो रहो)। (ख) 'बिनु औषध···' इति। यहाँ भानुप्रताप व्याधि है। विना दवाके अर्थात् विना उपाय किये। भाव कि ऐसा प्रबल शत्रु साधारण उपायसे नहीं मर सकता सो एक साधारण उपायसे ही नाशको प्राप्त होगा। 'बिधि खोई' का भाव कि विधिवश ही ऐसा संयोग आ बना है, नहीं तो अपने किये न होता। (ग) 'कुल समेत रिपु मूल···' इति। शत्रुका मूल कुल है। कुलका नाश होनेसे शत्रु निर्मूल हो जायगा। [विप्र-गुरु-पूजा इसकी जड़ है। ब्राह्मणशापद्वारा इसकी जड़ धो बहाऊँगा। जड़के बह जानेसे इसका राज्यरूपी मकान भी ढह जायगा। (वि० त्रि०)] कपटीमुनिने राजासे कहा था कि 'मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजें' हमसे तुमसे तीसरे ही दिन भेंट होगी। इसीसे कालकेतु कहता है कि तीसरे दिन मैं राजासे पुरोहितका रूप धरकर भेंट करूँगा, चौथे दिन ब्राह्मणों को प्रातः ही निमंत्रित कराके मध्याह्नमें राजाको शाप दिलाकर उसी दिन तुमसे आ मिलूँगा।

२ 'तापस नृपहि···' इति। (क) 'बहुत परितोषी' का भाव कि कपटी मुनिको बहुत शोच है (कि न जाने कोई विघ्न उपस्थित हो जानेसे काम न हो तो मेरी क्या दशा होगी। उसने ढाढस बँधाया कि वार खाली न जायगा। वि० त्रि०)। 'सो किमि सोव सोच अधिकाई', इसीसे बहुत संतोष देना पड़ा। (ख) 'चला' से स्पष्ट है कि तापस भानुप्रतापसे सोनेको कहकर दूसरी जगह (जहाँ उसके सोनेका आसन था) चला गया था। यदि यहाँसे भानुप्रतापका आसन दूर न होता तो कालकेतुका चलकर वहाँ जाना न कह

* बिन—१६६१। प्रायः सर्वत्र 'बिनु' है, यहाँ लेखक प्रमाद जान पड़ता है।

सकते। (विशेष 'आसन जाइ बैठ छल ज्ञानी। १७०।१।' में देखिये)। (ग) 'महा कपटी अतिरोषी' इति। भाव कि तापस कपटी और क्रोधी था, यथा 'रिस उर मारि रंक जिमि राजा।'. और कालकेतु महा कपटी और अति रोषी है। यथा 'जानै सो अति कपट घनेरा', इसको अत्यन्त रोष है क्योंकि इसके दशो भाई और सौ पुत्र सभी राजाने मार डाले थे। [महा कपटी है अर्थात् अत्यन्त कपट जानता है। यथा 'जानै सो अति कपट घनेरा।' पुनः अपने अधीन पुरुषपर भी दया नहीं, उसे जड़मूलसे नाश करनेका प्रण किया है; इससे 'अति रोषी' कहा। 'महा कपटी' तो आगे उसके कर्मोंसे ही स्पष्ट है। (पं०)]

भानुप्रतापहि बाजि समेता। पहुँचाएसि छन माझ निकेता॥ ७॥
नृपहि नारि पहिं सयन कराई। हयगृह बाँधेसि बाजि बनाई॥ ८॥
दोहा—राजा के उपरोहितहि हरि लै गएउ बहोरि।
लै राखेसि गिरि खोह महुँ माया करि मति भोरि॥ १७१॥

शब्दार्थ—माँझ = में, मध्यमें। हयगृह=घोड़ोंके रहनेका स्थान, घुड़शाल। भोरी = भ्रमित, भोली भाली, जिसमें विचारशक्ति न रह जाय।

अर्थ—भानुप्रतापको घोड़े सहित क्षणके भीतर ही घरमें पहुँचा दिया॥ ७॥ राजाको रानीके पास लिटाकर घोड़े को अच्छी तरह घुड़शाला में बाँधा॥ ८॥ (फिर) राजाके पुरोहितको हर ले गया और (अपनी राक्षसी) मायासे उसकी बुद्धि भोरी करके उसे पर्वतकी गुफामें ले जाकर रक्खा॥ १७१॥

टिप्पणी—१ (क) कपटी मुनिने राजासे कहा था कि 'मैं तपबल तोहि तुरग समेता। पहुचैहों सोवतहि निकेता।' इसीसे कालकेतुने उसे सोते हुए घोड़े समेत क्षण मात्रमें घर पहुँचा दिया। (इस तरह तापसकी बात सत्य की। तापस राजाने तपबल कहा था इसीसे क्षणभरमें ही पहुँचाया। जिससे राजाको विश्वास हो कि तपोबलसे यह काम किया गया। सोते ही और घोड़े समेत उसपर भी क्षणभरमें, यह सब असाधारण बातें हैं। राजाने इसे मुनिका तपोबल माना भी है, यथा 'मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी।' (ख) तापसने तो पहले पुरोहितको हर लानेको कहा था, पीछे राजाको घर पहुँचानेको। परन्तु कालकेतुने प्रथम राजाको पहुँचाया। क्योंकि यदि वह पहले नगरमें जाकर पुरोहितको हर लाता तो उसे फिर यहाँसे राजाको ले जाना पड़ता और फिर लौटना पड़ता। इस तरह उसे दो बार आना जाना पड़ता। अतः कालकेतुने बुद्धिमानी की कि इनको वहाँसे लेता गया और यहाँ से लौटते में पुरोहितको ले आया।

२ 'नृपहि नारि पहिं सयन कराई।…' इति। (क) तापसने राजासे यह नहीं कहा था कि हम तुम्हें रानीके पास शयन करा देंगे, क्योंकि वह महात्मा बना है। महात्माके मुखमें ऐसी बात शोभा नहीं देती। तापसने जब कालकेतुसे सब कथा कही तब उससे कह दिया कि राजाको रानीके पास शयन करा देना, क्योंकि राजा रानीके पास शयन करता है, पृथक् नहीं सोता। पुरुषका स्त्रीसे पृथक् शय्यापर सोना 'स्त्रीणामशस्त्रवधउच्यते' स्त्रियोंके लिये अशस्त्रवध कहलाता है। (ख) राजा सो रहा था, उसी अवस्थामें रानीके पास पहुँचाया गया, घोड़ा अश्वशालामें पहुँचा। राजाको शय्यापर लिटाकर तब उसने घोड़ा बाँधा। 'बनाई' अर्थात् अच्छी तरहसे बाँधा जिसमें छूटे नहीं। ('बनाई' अर्थात् जीन आदि उतार कर अगाड़ी-पिछाड़ी बाँधकर, जैसी रीति है)।

३ 'राजाके उपरोहितहि…' इति। (क) 'बहोरि' अर्थात् घोड़ेको अश्वशालामें बाँधनेके पश्चात्। (ख) पुरोहितको हरनेका भाव कि धर्मकार्य कराना पुरोहितका काम है। बलि वैश्वदेव, ब्राह्मणभोजन का संकल्प कराना, इत्यादि में पुरोहित रहेगा तो वह सब जान जायगा क्योंकि वह बड़ा बुद्धिमान् पंडित है। अतः उसे प्रथम ही हर ले गया।

नोट—१ यहाँ 'राजाके उपरोहितहि' यह पद देनेका भाव यह है कि ब्राह्मण तो तपस्वी होते हैं उनपर निशाचरकी मायाका प्रभाव नहीं पड़ सकता। पर, यह पुरोहित है, राज्य धनधानसे पला है, इससे वह तेज नष्ट हो गया। इसीसे हर लिया गया। (पं०)। वीरकविजी लिखते हैं कि ब्राह्मणके लिये राजपुरोहित होना ही दोषका कारण है, नहीं तो क्यों पागल बनाकर कन्दरामें क़ैद किया जाता। इसमें 'लेश अलंकार' की ध्वनि है।

☞ब्राह्मणों और विरक्तोंको इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिए।

२ इसके साथ राक्षसने दो उपाय रचे। एक तो मति भोरी कर दी, दूसरे गिरिकन्दरामें छिपा दिया। कारण यह कि अगर "इसे मैं उन्मत्त करके छोड़ दूँगा तो कदाचित् इसे कोई पहिचान ले और नगरमें खबर पहुँचा दे तो हमारा काम बिगड़ जायगा। और यदि विना मति बौराए कन्दरामें रक्खें तो ऐसा न हो कि वहाँसे चिल्लाए तो कोई सुनकर इसे निकाल दे।" (पं०)। मति भोरी कर दी कि कन्दरामें ही घुमा करे बाहर न निकल सके, उसे यही न मालूम हो कि मैं कौन हूँ और कहाँ पर हूँ।

महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यदि वह बुद्धि संयुक्त रहता तो कोई जप-तप यंत्र-मंत्र इत्यादि द्वारा राजाके पास पहुँच जाता और तब सब भेद खुल जाता, अतएव मति भ्रमित करदी।

३ "यहाँ कालकेतु नामकी सार्थकता दिखायी है। वह मानों सत्य ही कालकी ध्वजा है जो राजाके नाशके लिए उठकर उसके साथ उसके नगर को क्रोधित आया है।

आपु बिरंचि उपरोहित रूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा॥ १॥
जागेउ नृप अनभएं बिहाना। देखि भवन अति अचरजु माना॥ २॥
मुनि महिमा मन महुं अनुमानी। उठेउ गवहिं जेहिं जान न रानी॥ ३॥
कानन गएउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नर नारि न जानेउ* केहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—बिरंचि = विशेष रचकर; अच्छी तरह बना कर। सेज = शय्या, पलंग। अनभएँ = विना हुए। बिहाना = प्रातःकाल, सवेरा। गवहिं = गौंसे, सँभालकर, धीरे-धीरे, चुपचाप। यथा 'देखि सरासन गवहिं सिधारे। २५०.२।' तेही = वह, उसी। केहीं = किसीने।

अर्थ—आप पुरोहितका रूप बनाकर उसकी अनुपम शय्यापर जा लेटा॥ १॥ राजा सवेरा होनेसे पहले ही जागा। महलको देखकर उसने बड़ा आश्चर्य माना॥ २॥ मनमें मुनिकी महिमा विचारकर वह चुपचाप बड़ी सावधानीसे उठा जिसमें रानी न जान पाये॥ ३॥ वह उसी घोड़ेपर चढ़कर वनको गया। नगरके स्त्री-पुरुष किसीने भी न जाना॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिरचि' का भाव कि ऐसा पुरोहित-रूप बनाया कि कोई भाँप नहीं सकता (कि पुरोहित नहीं हैं। पुरोहिताइन भी न जान सकी तब दूसरेकी तो बात ही क्या?)। (ख) 'परेउ जाइ'—सेजपर जाकर लेटनेका भाव कि जिसमें कोई यह न जान पावे कि पुरोहित घरमें नहीं हैं, कहाँ चले गए? ['जाइ' से यह भी जनाया कि पुरोहितको कहीं दूर ले जाकररख आया। वहाँसे फिर पुरोहितके यहाँ गया।]

(ग) 'सेज अनूपा' इति। इससे जनाया कि उसने विप्रपत्नीका धर्म बिगाड़ा। गोस्वामीजीने इस अपराधको प्रगट न कहा, 'अनूपा' शब्दसे सूचित कर दिया। सेजकी अनूपता यही है कि उसमें अपूर्व स्त्री रहे। ['सेज' प्रायः स्त्री सहित शय्याके लिए प्रयुक्त होता है। स्त्रीके पास जाकर लेटा, उसका धर्म नष्ट किया और उसने न जाना कि यह हमारे पति नहीं हैं। 'अनूपा' से यह भी जान पड़ता है कि राजासे दानमें मिला होगा। (प्र० सं०)। पुरोहितका धर्म नष्ट किया क्योंकि गुरुका धर्म नष्ट होनेसे शिष्यका विनाश होता है।

* जानेउं—१६६१

(पं०) । वि० त्रि० लिखते हैं कि पुरोहितकी जैसी शय्या थी वैसी राजाकी न थी, इसलिये अनूप कहा। इससे राजाका नीति नैपुण्य और धर्मबुद्धि सूचित हुई । राजाके यहाँ पुरोहितका बड़ा सम्मान था । रात अभी बाक़ी थी, इसलिये शय्यापर जा लेटा ।]

२ (क) 'जागेउ नृप···' इति । सवेरा होनेके पूर्व ही जागना कहकर जनाया कि यद्यपि राजा बहुत थके हुए थे और बहुत रात बीते सोये थे तथापि अपने जागनेके समय ही जगे । महात्माओंके उठनेका समय प्रातःकाल ही है, यथा 'पहिले पहर भूपु नित जागा । २।३८।१ ।' (पुनः भाव कि और सबोंके उठनेके समयसे पहले ही उठा क्योंकि यदि औरोंके उठनेका समय हो गया होता तो राजाका आना लोग जान जाते) (ख) 'अति अचरजु माना' का भाव कि प्रथम कपटी मुनिकी बार्ता सुनकर आश्चर्य माना था और अब उनका कर्त्तव्य देखा (कि सत्य ही जो उन्होंने कहा था वैसा किया कि सत्तर योजनकी दूरीपर और फिर महलमें और रानीके पास सोते ही पहुँचा दिया यह विशेष काम किया), अतः अति आश्चर्य हुआ ।

३ (क) 'मुनि महिमा' इति । भाव कि यह सब महिमा कालकेतुकी है पर राजाने उसे मुनिकी महिमा जानी । पुनः भाव कि पहले भवन देखकर आश्चर्य माना फिर अपने चित्तका समाधान किया कि यह मुनिकी महिमा है । हमसे कहा था कि सोते ही घोड़े समेत तुमको घर पहुँचा देंगे वैसा ही उन्होंने किया, उनकी महिमासे यहाँ पहुँचे, यह उनकी बड़ी भारी महिमा है । (ख) 'उठेउ गवहि···'—(सोते हुए घरमें पहुँच जाना, किसीको खबर न होना इत्यादि बातोंको छिपानेके लिये राजा चुपचाप उठकर फिर वनको चला गया) । 'जेहि जान न रानी'—क्योंकि रानी यदि जाग पड़ी तो वह राजाको देखकर अवश्य पूछेगी, पूछने पर बताना पड़ेगा और बतानेसे हानि है (कपटी मुनि पहले ही चेतावनी दे चुका है । यथा 'तातें मैं तोहि बरजौं राजा । कहें कथा तव परम अकाजा ॥ छठे श्रवन यह परत कहानी । नास तुम्हार सत्य मम बानी । १६६।१-२ ।') । पूछनेपर झूठ बोले तो भी हानि है । क्योंकि 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा । २।२८ ।') यहाँ 'युक्ति अलंकार' है ।

४ (क) 'कानन गयउ', वनको चला गया जिसमें लौटनेपर लोग जानें कि राजा अभी वनसे आया है, मुनिका रातमें ही भवनमें पहुँचाना किसीको मालूम न हो । 'बाजि चढ़ि तेही' उसी घोड़ेपर चढ़कर गया क्योंकि यदि दूसरे पर जाता तो लोगोंको संदेह हो जाता कि राजा तो जिस घोड़ेपर शिकारको गया था वह तो हयशालामें बँधा हुआ है, राजा कहाँ है, (घोड़ा यहाँ अकेला कैसे और क्यों आया ? फिर, दूसरा घोड़ा यहाँ नहीं है, उसे कौन और कब ले गया ? दूसरे घोड़ेपर लौटा देख लोग अवश्य पूछते) । (ख) 'पुर नर नारि न जानेउ केही', पुरवासियोंमेंसे भी किसीने न जाना, इससे जान पड़ता है कि इसमें कुछ कालकेतुकी मायाका प्रभाव रहा होगा । (निशाचरने राक्षसी मायासे सबको मोहित कर दिया था । वि० त्रि० का मत है कि राजाओं-के ऐसे गुप्त मार्ग होते थे कि वे उनसे पुरके बाहर आया जाया करते थे और किसीको पता न चलता था) ।

गएँ जाम जुग भूपति आवा । घर घर उत्सव बाज बधावा ॥५॥
उपरोहितहि देख जब राजा । चकित बिलोक सुमिरि सोइ काजा ॥६॥
जुग सम नृपहि गए दिन तीनी । कपटी मुनि पद रह मति लीनी ॥७॥

शब्दार्थ—गएं=बीत जाने पर । जाम (याम)=पहर, प्रहर, तीन घंटेका समय । बधावा=बधाई, मंगलाचार, आनन्द-मंगलके अवसरका गाना बजाना । चकित=चौकन्ना, आश्चर्ययुक्त, भौचका, हक्काबक्का । लीनी (लीन)=मग्न, अनुरक्त, लगी हुई, तन्मय ।

अर्थ—दोपहर बीतनेपर राजा आया । घर घर उत्सव होने और बधाइयाँ बजने लगीं ॥५॥ जब राजा पुरोहितको देखता है (तब अपने) उसी कार्यका स्मरण कर चकित हो (उसकी ओर) देखने लगता है ॥६॥ राजाको तीन दिन युगके समान बीते (क्योंकि) उसकी बुद्धि कपटी मुनिके चरणोंमें लीन हो रही थी ॥७॥

टिप्पणी—१ (क) 'गएं जाम जुग···' इति। दो पहरमें आए जिसमें लोग जानें कि तबके गए अब आए हैं। [दो पहर दिन बीतनेपर आया क्योंकि पहले आते तो भी सब पूछते कि रातमें कहाँ ठहरे थे जो इतनी जल्दी आगए, रातमें क्यों न आगए? दोपहर होनेसे वे समझे कि कहीं बहुत दूर निकल गए थे जहाँसे सवेरेके चले आए हैं। (पंजाबीजी, रा० प्र०)। किसी किसी का मत है कि अपने जानेसे दोपहर बीतनेपर आया। अथवा, 'दिन बितानेके लिए दो पहर बीते आया।] (ख) 'घर घर उत्सव···' इति। जब राजा घोर वनमें प्रवेश कर गया तब साथके लोगोंने लौट आकर सब हाल कहा। राजाके न आनेसे घर-घर सब लोगोंको संदेह हो रहा था (कि न जाने जीवित है या नहीं। सब दुःखी थे) इसीसे राजाको आए देख घर-घर उत्सव होने लगा और उसका नवीन जन्म समझकर बधाइयाँ बजने लगीं। (जन्मके समय बधाई बजनेकी रीति है। यथा—'गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमाकंद। १९४।' वि० त्रि० का मत है कि मृगयाका साज समाज साथ न होनेसे लोग समझेंगे कि वे सब विंध्याचलमें राजाकी बाट जोह रहे होंगे।)

२ (क) 'उपरोहितहि देख जब राजा' इति। घर-घर उत्सव होने लगा, राजमहलमें भी उत्सव होने लगा, तब पुरोहित भी दान कराने, आशीर्वाद देनेके लिये आया (ही चाहे), इसीसे पुरोहितको देखना कहा। (ख) 'चकित बिलोक०'—पुरोहितके द्वारा कार्य होनेको है, यथा 'मैं धरि तासु बेष सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा। १६९।६।', इसीसे कार्यका स्मरणकर चौकन्ना होकर देखता है कि यह हमारा पुरोहित है कि पुरोहितका रूप धरे हुए मुनि ही हैं। पहचानने नहीं पाता, इसीसे संदेहमें है, जब पहचानेगा तब सुखी होगा, यथा 'नृप हरषेउ पहिचानि गुरु···। १७२।' अथवा, अपना कार्य प्रिय है इसीसे पुरोहित प्रिय लगा, पुरोहितको चकित देख रहा है कि ये ही हमारा काम करेंगे। (बैजनाथजीका मत है कि जब पुरोहितको देखा तो स्वरूप तो वही था पर बोल-चाल स्वभाव और प्रकारका था इससे उसे देख चित्त चकित हुआ और अपना कार्य सिद्ध समझा)।

३ 'जुग सम नृपहि गए दिन तीनी' इति। (क) तापसने राजासे तीन दिनका क़रार किया था, यथा 'मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे। १६९।७।' इसीसे उसके बिना तीन दिन सत्ययुग, त्रेता और द्वापर इन तीनों युगोंके समान बीते। तीन दिन कुछ अनर्थ न हुआ। (इसीसे इन तीनको तीन उत्तम युग जो प्रथम होते हैं निश्चित करते हैं)। चौथा दिन कलियुगके समान नाश करनेवाला आवेगा। [समय का युग समान बीतना मुहावरा है। चिन्ता आदिसे समय काटे नहीं कटता, मानों युगका युग बीत गया। यथा 'भइ जुग सरिस सिराति न राती। २।१५५।' राजा अपने स्वार्थकी चिंतामें है कि कब मुनि आयें और मेरा मनोरथ सिद्ध हो। अतः उसे तीन दिन काटे नहीं कटते, युगके समान बड़े जान पड़ते हैं] (ख) 'दिन तीनी'—इससे पाया गया कि जिस दिन कपटी मुनिसे बातचीत हुई थी और उसने कहा था कि हमसे तुमसे तीसरे दिन भेंट होगी, वह दिन छोड़कर तीन दिन पूरे बीते। क्योंकि यह बात उसने दो पहर रात्रि बीतनेपर कही थी उसके पश्चात् राजा सो गया, सवेरा उसे घरमें हुआ, तब वह दिन युगसमान क्योंकर बीत सकता है! वह दिन तो सुखसे बीता। इससे पाया गया कि कालकेतु दो दिन बिताकर तीसरे दिन संध्या समय राजासे मिला। (ग) 'कपटी मुनि पद रह मति लीनी'—कपटी मुनिके चरणोंमें राजाकी अत्यंत प्रीति है; इसीसे प्रसंगमें अनेक जगह चरणोंमें प्रेमका उल्लेख कविने किया है। यथा 'बड़े भाग देखेउँ पद आई। १५९।६।', 'चरन बंदि निज भाग्य सराही।१६०।२।', 'जोसि सोसि तव चरन नमामी।१६१।५।।', 'गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना।। १६४।६।', 'सत्य नाथ पद गहि नृप भाषा। १६६।५।', 'अस कहि गहे नरेस पद स्वामी होहु कृपाल। १६७।' तथा यहाँ 'कपटी मुनि पद···'। ['रह मति लीनी' से सूचित किया कि प्रत्येक क्षण इसी सोच विचारमें बीतता था कि कब मुनिके दर्शन हों।]

समय जानि उपरोहित आवा। नृपहि मतें सब कहि समुझावा ॥८॥
दोहा—नृप हरषेउ पहिचानि गुरु भ्रम बस रहा न चेत।
बरे तुरत सत सहस बर बिप्र कुटुंब समेत ॥१७२॥

शब्दार्थ—मतें = मत, गुप्त बात। = एकान्तमें। चेत = बोध, ज्ञान।

अर्थ—अवसर जानकर पुरोहित आया और राजाको सब गुप्त बात एकांतमें कह समझाई ॥ ८ ॥ राजा गुरुको पहचानकर प्रसन्न हुआ। भ्रमके वश उसे चेत न रहा। उसने तुरत एक लाख श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको कुटुंब समेत (भोजनके लिये) न्योत दिया ॥ १७२ ॥

टिप्पणी—१ 'समय जानि ''' आवा' इस कथनसे पाया गया कि समय भी निश्चित कर दिया था कि तीसरे दिन संध्या समय आवेंगे। तापसने राजासे कहा था कि 'पहिचानेहु तब मोहि। जब एकांत बोलाइ सब कथा सुनावौं तोहि'। वही यहाँ कहते हैं कि 'नृपहि मतें सब''' अर्थात् एकान्तमें बुलाकर सब कथा कही। इस तरह यहाँ 'मतें' का अर्थ है 'एकान्तमें'। 'सब' अर्थात् जो वार्ता वनमें हुई थी वह सब।

२ (क) 'हरषेउ' से जनाया कि राजा बिना गुरुको पहचाने व्याकुल था—'जुग सम नृपहि गए दिन तीनी'; पहचाना तब प्रसन्न हुआ। (ख) 'भ्रम' कि ये महामुनि हैं। 'रहा न चेत'—विचार करनेवाले मन, बुद्धि और चित्त ये तीनों कपटी मुनिमें लगे हुए हैं, यथा 'मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी' (मन मुनिकी महिमामें भूला हुआ है); 'कपटी मुनि पद रह मति लीनी' (बुद्धि मुनिके चरणमें लीन है) और महामुनि होनेका भ्रम हुआ इसीसे चेत न रहा, अर्थात् चित्त उसे महामुनि माने हुए है। (ग) 'बरे तुरत''' इति। राजाको इस कार्यके सिद्ध होनेकी बड़ी इच्छा है इसीसे उसने तुरत विप्रोंको निमंत्रित किया। कपटी मुनिकी आज्ञा है कि 'नित नूतन द्विज सहस सत बरेहु सहित परिवार।', इसीसे राजाने 'बरे तुरत सत सहस''' । बर अर्थात् वेदपाठी ब्राह्मण। (उत्तम, कुलीन, श्रोत्रिय इत्यादि)। 'बरे तुरत' से सूचित किया कि कालकेतु हीने निमंत्रण जाकर दिया और सबको बुला लाया, यह काम दूसरेसे न बन पाता। एक लक्ष वेदपाठी ब्राह्मणोंके घर न्योता गया, इससे सूचित हुआ कि नगर बहुत बड़ा है।

नोट—१ 'भ्रम बस रहा न चेत' इति। वह तो भ्रममें पड़ा था कि ये बड़े चिरकालीन तपस्वी मुनि हैं, अपने तपोबलसे हमें सोते घर पहुँचा दिया, पुरोहितका ठीक रूप बना लिया, इत्यादि बातोंसे वह पूर्ण रीतिसे उसके वशीभूत हो रहा था। बुद्धि उसीमें तन्मय हो रही थी। इसीसे कुछ विचार न किया कि क्या एक लक्ष ब्राह्मणोंका नित्य प्रति निमंत्रण करना और भोजन कराना तथा उससे विप्र सुर सबका वश हो जाना संभव है ? कार्य्यके उचित होनेका विचार न रहा। जैसा हितोपदेशमें कहा है "अनुचितकार्य्यारंभः स्वजनविरोधो बलीयसां स्पर्द्धा। प्रमदाजनविश्वासो मृत्युद्वाराणि चत्वारि ॥"

२ मयंककार लिखते हैं कि "राजाने भ्रमवश राजनीतिको त्याग दिया क्योंकि कपटमुनिने कहा था कि तुम्हारे पुरोहितको हम हर लावेंगे, यहाँ एक वर्ष रक्खेंगे। यदि राजा पुरोहितके हरे जानेपर यह जाँच करते कि उसकी कुटी कहाँ है, किस प्रकार पुरोहितको रक्खा है तो सब भेद अनायास खुल जाता परन्तु दुःख होनहार था; अतः राजनीति छुट गई।"

श्रीवैजनाथजी—"राजाको भ्रम क्यों हुआ ? क्योंकि प्रथम राजाकी मति परमेश्वरके पदमें लीन रही, उनकी कृपासे धर्म पूर्ण रहा, प्रताप उदित रहा, चैतन्यता बनी रही। जब कपटी राजाके पदमें मति लीन हुई तब मति मंद हो गई। किस भाँति सो सुनिए—पहले हरिके आश्रित रहनेसे धर्म पूर्ण रहा इससे प्रथम दिन सत्ययुग सम बीता। जब कपटमें मन लगा, कुछ मतिमंद हुई, तब धर्मके एक पद 'सत्य' का नाश हुआ इससे दूसरा दिन त्रेतासम बीता। कपटके ध्यानसे आधी मति गई तब धर्मके दो पाद सत्य और

शौचका नाश हुआ इससे तीसरा दिन द्वापर सम बीता। चौथे दिन तीन अंश मति मंद हुई, इससे धर्मके तीन पाद सत्य, शौच और दयाका नाश होनेसे मूर्त्तिमान् राक्षसरूप कलियुग आया सो एक पद दान मात्र जो बच रहा था उसे भी उसने विघ्न लगाकर उखाड़ डाला। पूर्ण धर्मका नाश हुआ।"

वि० त्रि०—राजाको यह याद न रहा कि कालकेतुके सौ पुत्र और दस भाइयोंको मैंने मारा है, उसका पता किसी तरह नहीं लग सका, वह महामायावी है, बदला लेनेकी फिक्रमें लगा होगा। कहीं यह सब उसकी माया तो नहीं है। नहीं तो एक आदमी इतने आदमियोंके लिये रसोई कैसे बनावेगा?

उपरोहित जेवनार बनाई। छरस चारि बिधि जस श्रुति गाई ॥१॥
मायामय तेहि कीन्हि रसोई। बिंजन बहु गनि सकै न कोई ॥२॥
बिबिध मृगन्ह कर आमिष राँधा। तेहि महुँ बिप्र माँसु खल साँधा ॥३॥

शब्दार्थ—बिंजन (व्यंजन) = भोजनके पदार्थ। छरस = षट्रस, मधुर, तिक्त, आम्ल (आँवलेके स्वादका), लवण (नमकीन), कटु (कड़वा एवं खट्टा) और कषाय (जिसके खानेसे जीभमें एक प्रकार की ऐंठन वा संकोच जान पड़े। कसैला, बकठा)। यथा 'कटुकं लवणं चैव तिक्तं मधुरमेव च। आम्लं चैव कषायं च षड्विधाश्च रसास्मृता।' 'चारि बिधि'—'भक्ष्यं भोज्यं तथाचोष्यं लेह्यं चैव चतुर्विधम्।'—दोहा ६६।४ देखिए। बिंजन (व्यंजन) = पके हुए भोजनके पदार्थ। (यही अर्थ इसका साधारण बोलचालमें होता है। अन्यथा तरकारी, साग आदि जो दाल, भात, रोटी आदिके साथ खाए जाते हैं उनको व्यंजन कहते हैं)। आमिष = मांस। राँधना = पकाना। (सं० रंधन शब्दसे बना है)। साँधना = मिलाना, मिश्रित करना, फेंट देना।

अर्थ—पुरोहितने षट्रस और चार प्रकारकी रसोई बनाई जैसी श्रुतियों (सूपशास्त्र, पाकशास्त्र) में वर्णित है ॥ १ ॥ उसने मायामय रसोई बनाई। भोजनके पदार्थ बहुत थे, कोई गिन नहीं सकता था ॥ २ ॥ उसने अनेक पशुओंका मांस पकाया और उसमें उस खलने ब्राह्मणोंका मांस मिला दिया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'उपरोहित जेवनार बनाई⋯' इति। कपटी मुनिने कहा था कि "जौं नरेस मैं करौं रसोई।" और—"मैं तुम्हरें संकलप लगि दिनहिं करबि जेवनार।" इसीसे पुरोहितने जेवनार बनाई। दूसरा कोई रहता तो उसकी राक्षसी माया देखकर समझ जाता कि यह मनुष्य नहीं है; इसीसे उसने वहाँ किसी दूसरेको न रक्खा और ऊपरसे यह दिखाया कि हम सिद्ध हैं, हमारा बनाया भोजन खानेसे ब्राह्मण वशमें हो जायँगे, दूसरेके हाथके बनाए हुएसे नहीं। 'माया मय तेहि कीन्हि रसोई' यह स्पष्ट ही है जैसा आगे कहा है 'तहँ न असन नहि बिप्र सुआरा। १७४.७।' ये सब व्यंजन राक्षसकी मायासे बने थे, इसीसे कालकेतुके अन्तर्धान हो जानेपर सब व्यंजन भी अन्तर्धान होगए, न वह रहा न व्यंजन रहे। पुनः 'मायामय रसोई की' यह कहकर जनाया कि उसके बनानेमें किंचित् विलंब न लगा, विना परिश्रम एकलक्ष ब्राह्मणोंका भोजन बन गया। [पुनः, 'मायामय' यह कि बनाया तो थोड़ाही पर माया यह रची कि देखनेवाले को अगणित देख पड़े, इत्यादि।] (ग) 'बिंजन बहु' से जनाया कि रसोई मायामय है, किंतु पदार्थ सब सच्चे हैं, देखने मात्रके ही हों ऐसा नहीं है। 'गनि सकै न कोई' यह मायाका चमत्कार है।

२ 'बिबिध मृगन्ह⋯' इति। (क) बिबिध मृग अर्थात् हिरन, रोजा, साबर, खरगोश, बारह-सिंघा, सेही आदि अनेक पशु। इनके मांसमें ब्राह्मणका मांस मिलानेके लिये किसी ब्राह्मणका वध किया इसीसे उसको खल कहा। यथा 'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। ५।३।' (ख) रसोईमें मांस भोजन बना, इससे पाया गया कि तब ब्राह्मण मांस खाते रहे। पुरोहितने सब रसोई बनाई, मांस बनाया तब उसे 'खल' न कहा क्योंकि रसोईमें कोई अयोग्य बात न थी। ब्राह्मणका मांस मिलाया,

यह अयोग्य काम किया, इसीसे 'खल' कहा। [ब्राह्मण अनेक मत-मतान्तरके होंगे। कोई शाक्तभी होंगे। उनके लिये मांस पकाया गया। वैष्णव मांस नहीं खाते। अथवा, विप्रोंको कुपित करने के लिये ही ऐसा किया गया, मांस कोई भी ब्राह्मण न खाता था। यह भी स्मरण रहे कि जो निमंत्रित किये गए वे सब 'वर विप्र' थे। 'वर' शब्द जनाता है कि वे सब सात्विक ब्राह्मण थे। वि० त्रि० लिखते हैं कि वस्तुतः यहाँ कोई रसोई न थी, केवल वहाँ अनेक जन्तुओंके मांस थे और उनमें ब्राह्मणका भी मांस मिला था।]

भोजन कहुँ सब बिप्र बोलाए। पद पखारि सादर बैठाए ॥ ४ ॥
परुसन जबहि लाग महिपाला। भै अकास बानी तेहि काला ॥ ५ ॥
बिप्र बृंद उठि उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥ ६ ॥
भएउ रसोईं भूसुर मासू। सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥ ७ ॥

अर्थ—सब ब्राह्मणोंको भोजनके लिये बुलाया। चरण धोकर सबको आदर पूर्वक बैठाया। ४। ज्यों ही राजा परसने लगा त्योंही उसी समय आकाशवाणी हुई। ५। हे ब्राह्मणवृन्द ! उठ-उठकर (अपने अपने) घरको जाओ। अन्न मत खाओ, इसमें बड़ी हानि है। ६। रसोई ब्राह्मण मांसकी हुई है। सब ब्राह्मण विश्वास मानकर उठ खड़े हुए। ७।

टिप्पणी—१ जैसे निमंत्रण तुरत दिया गया था वैसे ही भोजनके लिये भी तुरत बुलाया। 'सादर' देहली दीपक है। सादर चरण पखारे अर्थात् स्वर्णपात्र आदिमें चरण रखकर धोए। और सादर बैठाया अर्थात् सबको आसन दिया। यथा 'सादर सबके पाँउ पखारे। जथा जोग पीढ़न बैठारे।' ☞यहाँ पंचोपचार पूजन कहते हैं। 'भोजन कहँ सब बिप्र बोलाए' यह आवाहन है; 'पद पखारि' पाद्य है; 'सादर बैठारे' यह आसन है; 'परुसन जबहिं लाग' यह नैवेद्य है; पाँचवां ताँबूल है। यहाँ नैवेद्य और ताम्बूल दोनों न हो पाए।

२ 'परुसन जबहिं लाग...' इति। (क) कपटी मुनिने राजासे परसनेको कहा था, यथा 'तुम्ह परसहु मोहि जान न कोऊ', इसीसे राजा परसने लगा। परसते ही आकाशवाणी हुई जिसमें ब्राह्मण उसे भगवान्‌को अर्पण न करें, 'बलिवैश्वदेव' न करें। [(ख) राजाका परोसना यही है कि स्वयं महाराजने भी हाथ लगा दिया। सारा समाज परोस रहा था। भाव यह कि परोसनेका काम पूरा होनेपर राजाने स्वयं परोसनेमें हाथ लगाया, उसी समय आकाशवाणी हुई। परिवारके सहित राजा परोसता था, यह बात इतनेसे ही सिद्ध है कि ब्राह्मणोंने परिवार सहित राजाको शाप दिया। राजाके स्वयं परोसनेसे मालूम हुआ कि बड़ी श्रद्धा है, नहीं तो राजाके परोसनेका नियम नहीं। हिमांचल और श्रीजनकजीने स्वयं नहीं परोसा। रसोइयोंने परोसा था। पर यहाँ रसोईदारका किसीको पता नहीं। अतः अब राजा पूरी तरह रसोईका जिम्मेदार हो गया। अब निगमन यही होगा कि राजाको ऐसी ही रसोई इष्ट थी, इसीसे न जाने किस-किसको बुलाकर रसोई बनवाई, पुराने रसोइए भी सम्मिलित नहीं किये गए। वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ 'भै अकास बानी तेहि काला'—यह आकाशवाणी ईश्वरकी है जैसा आगे स्पष्ट है— 'ईश्वर राखा धरम हमारा।' अथवा, शाप दिलानेके लिये कालकेतु ही आकाशसे बोला। 'तेहि काला' से 'तेहि कालकेतु की' यह अर्थ 'नामैकदेशे नाममात्रस्यैव ग्रहणम्' इस न्यायसे ले सकते हैं। कालकेतुने इस भावसे ब्राह्मणोंका अपराध न किया कि कहीं हमें भी शाप न दें और इसी अभिप्रायसे उसने ब्राह्मणोंका हित किया कि आकाशवाणी बोला। (टि० ४ भी देखिए)।

३ 'बिप्र बृंद उठि-उठि गृह जाहू।...'इति। (क) 'उठि-उठि' कहनेसे पाया गया कि ब्राह्मणोंके बहुतसे वृन्द थे, एक बार ही 'उठि' कहते तो एक ही वृन्द पाया जाता। (ख) 'विप्रवृन्द' कहा क्योंकि सब ब्राह्मण अपने-अपने कुटुम्ब समेत पृथक्-पृथक् हैं। 'घर जाओ' यह कहनेकी रीति है, यथा—'तजहु आस निज

निज गृह जाहू ।', 'तुम्ह घर गवनहु भयउ बिलंबा ।', 'जाहु भवन कुल कुसल बिचारी ।' (ख) अन्न मत खाओ क्योंकि रसोईमें ब्राह्मणोंका माँस बना है, इस कथनसे पाया गया कि सब अन्नमें मांसका संसर्ग कर दिया है। (ग) 'है बड़ि हानि'—धर्मकी हानि बड़ी हानि है, जैसा ब्राह्मणोंके 'ईश्वर राखा धरम हमारा' इस वाक्यसे स्पष्ट है। अन्न खानेसे क्या हानि है यह आकाशवाणी आगे कहती है—'भएउ रसोई···'। ['बड़ि हानि' से जनाया कि अन्य जीवोंका मांस भक्षण करना भी 'हानि' है और ब्राह्मण मांस भक्षण तो बड़ा पाप है, औरोंका प्रायश्चित है, इसका प्रायश्चित भी नहीं। (प्र० सं०)]

४ 'भएउ रसोई भूसुर मांसू।···' इति। (क) यह 'बड़ी हानि' बताई। यह आकाशवाणी कालकेतुकी है, यह इस चरणसे सिद्ध होता है। कालकेतुकी वाणी है, इसीसे उसमें उसने अपना नाम नहीं बताया। यदि यह ब्रह्मवाणी होती तो अवश्य कहती कि कालकेतु राक्षसने रसोईमें ब्राह्मण मांस बनाया है। (ख) 'उठे' क्योंकि आकाशवाणीकी आज्ञा है कि 'उठि उठि गृह जाहू।' 'मानि बिश्वासू' का भाव कि भानुप्रताप विप्रसुरसेवी है इससे कभी विश्वास न होता कि वह ब्राह्मणोंका माँस खिलायेगा; पर बोलनेवाला कोई दिखाई नहीं पड़ता और शब्द सुनाई पड़ते हैं, अतः यह अवश्य आकाशवाणी ही है, यह विश्वास हुआ। आकाशवाणीसे ही ऐसा विश्वास हुआ, अतः उठ पड़े। [राजाके विनाशार्थ ब्राह्मणोंपर अपनी करनी प्रकट करनेका अवसर जानकर कालकेतुने सोचा कि यदि सीधे-सीधे कहूँगा तो छानबीन होने लगेगी और सारी क़लई खुल जायगी। ब्रह्मवाणीपर झटपट विश्वास होता है अतः उसकी ओटसे कार्य करना ठीक होगा। तुरन्त अदृश्य होकर व्योममें गया और आकाशवाणी की। इसमें 'व्याजोक्ति अलंकार' है। (वीर)]

भूप बिकल मति मोह भुलानी। भावी बस न आव मुख बानी॥ ८॥

दोहा—बोले बिप्र सकोप तब नहि कछु कीन्ह बिचार।

जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार॥ १७३॥

अर्थ—राजा व्याकुल (हैरान) है। उसकी बुद्धि मोहसे भूली हुई (अर्थात् नष्ट हो गई) है। होनहारवश उसके मुखसे वचन नहीं निकलता। ८। तब ब्राह्मण कोप करके बोले, उन्होंने कुछ भी विचार न किया।‡ (कहा कि) रे मूर्ख राजा! तू परिवारसहित जाकर निशाचर हो। १७३।

टिप्पणी—१ (क) मोहसे बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी। १३५।५।' राजा मोहके वश है इसीसे उसकी बुद्धि नष्ट हो गई। उसे चाहिए था कि अपना सब वृत्तान्त ब्राह्मणोंके चरणोंपर गिरकर कह देता (प्रार्थना करता कि कोप न कीजिए, पहले सब वृत्तान्त सुन लीजिए तब अपराध हो तो मुझे दंड दीजिए)। अपना वृत्तान्त कह देता तो ब्राह्मण शाप न देते। पर भावीवश उसके मुखसे वचन न निकला। (ख) 'भावी बस···' इति। भावीवश राजाके साथ छल हुआ इसीसे ग्रंथकारने कई जगह उसका भावीवश होना कहा है। यथा "तुलसी जसि भवतव्यता तैसी मिलै सहाइ। १५९।" (भावी उसको कपटी मुनिके पास ले गई। इस वाक्यसे भावीका प्रवेश राजाके तनमें दिखाया); 'जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावी बस न जानु कछु राऊ। १७०।८।' (इससे मनमें भी भावीका प्रवेश दिखाया क्योंकि जानना मनसे होता है। राजा मनसे जान न पाए) तथा 'भावी बस न आव मुख बानी' (मुखसे वचन न निकला, भावीने वाणी रोक दी; यहाँ वाणीपर भी भावीका प्रभाव कहा); और आगे ब्राह्मणोंने भी कहा है—'भूपति भावी मिटै नहिं जदपि न दूषन तोर। १७४।'

टिप्पणी—२ 'बोले विप्र···' इति। (क) 'सकोप तब' अर्थात् जब राजा कुछ न बोला तब राजाको अपराधी समझकर कुपित हुए (क्योंकि आकाशवाणी सुनकर भी उसके निराकरणमें कुछ न बोलनेसे

‡ दूसरा अर्थ टि० २ में दिया गया है।

उसमें उसकी सम्मति पाई गई—'मौनं सम्मति लक्षणम्' 'खामोशी अल रज़ा' प्रसिद्ध है। यदि अपराध नहीं किया था तो चुप क्यों रहता ? दूसरे विप्रसमाज भरका निमंत्रण था, इतनोंका धर्म नष्ट होता था इसीसे तुरत भारी कोप हुआ। बात ऐसी गठ गई कि आकाशवाणीपर शंकाको स्थान ही नहीं)। (ख) 'नहि कछु कीन्ह बिचार' इति। इसके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि 'तूने कुछ विचार न किया' कि हम ब्राह्मणोंको मांस खिलाकर उनका धर्म नष्ट करते हैं इस अधर्मसे हमारा स्वयं ही नाश हो जायगा। दूसरे यह कि ब्राह्मणोंने कुछ विचार न किया। उन्हें विचार करना चाहिए था कि राजा तो बड़ा धर्मात्मा है, वह ब्राह्मणोंको विप्रमांस कैसे खिलायेगा, इस बातका निश्चय करके तब शाप देना था। इसी बातपर दूसरी आकाशवाणी हुई। यथा 'बिप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा। १७४।५।' कुछ विचार न किया (क्योंकि ब्रह्म गिरा असत्य नहीं होती, इसे ब्रह्मवाणी ही समझे; इसीसे एकदम उठे और एकदम क्रोध आ गया) क्रोधमें विचार नहीं रह जाता। (ग) 'जाइ' अर्थात् मरकर। 'निसाचर होहु'—भाव कि राक्षस विप्रमांस खाते हैं, यथा 'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी'। तू जो हमें खिलाना चाहता था वह तू ही जाकर खा। 'मूढ़'—अपना नाश अपने हाथ किया यही मूढ़ता है। 'सहित परिवार' निशाचर होनेका शाप दिया क्योंकि ब्राह्मणोंको परिवारसहित विप्रमांस खिलाना चाहा था, अब परिवारसहित जाकर जो हमें खिलाना चाहता था वह खाए। (शापमें भी विचार न किया कि परिवारसहित राक्षस होंगे तो विप्रोंके ही वंशका तो नाश करेंगे)।

वि० त्रि०—'मूढ़' क्योंकि इसमें तेरा कोई लाभ नहीं और हमारा धर्म चला जाता। 'सहित परिवार' क्योंकि परिवार सहित तू पादप्रक्षालनादि ब्राह्मण भोजनके कृत्यमें लगा था, तूने ही परिवारसहित रसोई इसीलिये बनाई और आप ही परोसने चला, हमलोगोंके सर्वनाशके लिये जानबूझकर तूने सब किया; अतः सहित परिवार निशाचर हो जा।

छत्रबंधु तैं बिप्र बोलाई। घालै लिए सहित समुदाई ॥१॥
ईस्वर राखा धरम हमारा। जैहसि तैं समेत परिवारा ॥२॥
संबत मध्य नास तव होऊ। जल-दाता न रहिहि कुल कोऊ ॥३॥

शब्दार्थ—छत्रबंधु=क्षत्रियोंमें महा अधम, क्षत्रियाधम। 'बंधु' शब्द क्षत्रिय और विप्र वा ब्राह्मणके साथ लगनेपर 'अधम' का वाचक होता है।

अर्थ—रे क्षत्रियाधम! तूने ब्राह्मणोंको समुदाय (कुल, परिवार, समाज) सहित (उनका धर्म) नष्ट करनेके लिये बुलाया ॥१॥ ईश्वरने हमारे धर्मकी रक्षा की और तू परिवार सहित नाशको प्राप्त होगा ॥२॥ एक वर्षके भीतर तेरा नाश होगा। तेरे कुलमें कोई पानी देनेवाला न रह जायगा ॥३॥

टिप्पणी—१ (क) 'घालै लिए' अर्थात् धर्मका नाश करनेके लिये जैसा 'ईश्वर राखा धरम हमारा' से स्पष्ट है। ब्राह्मणके धर्मका नाश करनेवाला क्षत्रिय 'क्षत्रियाधम' है, तू हमको बुलाकर विश्वाससे धर्म नष्ट करना चाहता था अतः 'क्षत्रबंधु' है। (ख) 'ईश्वर राखा ...' इति। अर्थात् तूने तो अपनी ओरसे नाश करनेमें कुछ उठा न रक्खा था, नाश ही कर चुका था किन्तु ईश्वर धर्मके रक्षक हैं, गौ और ब्राह्मणके हितकर्ता हैं, इसीसे उन्होंने हमारे धर्मकी रक्षा की। पुनः भाव कि तूने हमारे धर्मका नाश करनेके लिए हमें बुलाया, हम तेरे विश्वासमें आये, हम कुछ जानते न थे, इसीसे भगवान्ने हमारी रक्षा की। (क) 'जैहसि तैं समेत परिवारा'—भाव कि ईश्वर अधर्मियोंका नाश करते हैं, तू अधर्मी है, जानबूझकर हमारा धर्म नष्ट करनेको उद्यत हुआ, इसीसे तेरा नाश होगा, समाज तथा परिवारसहित हमें नष्ट करना चाहा (जिसमें कोई प्रायश्चित करनेवाला न रह जाय। वि० त्रि०); अतः परिवार सहित तेरा नाश होगा।

२ (क) 'संबत मध्य नास तव होऊ' इति। राजाने संवत् भरका संकल्प किया था, ऐसी ही कपटी

मुनिकी आज्ञा थी। यथा 'जाइ उपाय रचहु नृप एहू। संबत भरि संकलप करेहू। १६८।८।', इसीसे (भगवानकी प्रेरणासे) संवत्‌भरमें नाश होनेका शाप दिया गया। जो पिछले चरणमें कहा था कि 'जैहसि तैं समेत परिवारा' उसी 'जैहसि' को इन चरणोंमें स्पष्ट करते हैं। 'परिवारसमेत नाश जिसमें कोई जल भी देनेवाला न रहेगा' यही परिवार समेत जाना है। [(ख) 'जलदाता न रहिहि'—अर्थात् तुम्हारी सद्‌गतिका उपाय करनेवाला भी कोई न रह जायगा। अंजलिमें जल लेकर पितरोंके नामसे जल गिराना जल वा पानी देना कहलाता है। मरनेपर मृतकके नामसे जल दिया जाता है। इसीको तर्पण भी कहते हैं। इससे सद्‌गति होती है। 'जलदाता कोई न रहे' इससे नाती पनाती आदि तथा पोते परपोते आदि भी जो जल दे सकते हैं उनका भी नाश कह दिया। (ग) पूर्व जो कहा था 'बोले बिप्र सकोप', उस कोपका स्वरूप दिखाते हैं कि मारे क्रोधके तीन बार 'परिवार समेत' नाश होनेका शाप दिया। यथा 'जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार' (१), 'जैहसि तैं समेत परिवारा' (२), 'संबत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ।' (३)।

नृप सुनि श्राप बिकल अति त्रासा। भै बहोरि बर गिरा अकासा ॥४॥

बिप्रहु श्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा ॥५॥

चकित बिप्र सब सुनि नभबानी। भूप गएउ जहं भोजन खानी ॥६॥

अर्थ—राजा शाप सुनकर अत्यंत त्राससे अत्यंत व्याकुल हुआ। (तब) फिर श्रेष्ठ आकाशवाणी हुई ॥ ४ ॥ ब्राह्मणो ! तुमने भी सोचविचारकर शाप न दिया। राजाने कुछ भी अपराध नहीं किया ॥ ५ ॥ आकाशवाणी सुनकर सब ब्राह्मण भौचक्केसे रह गए। राजा (रसोईमें) गया जहाँ भोजन (के पदार्थों) की खानि थी ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि श्राप बिकल अति·····' इति। विप्रशाप अत्यंत घोर होता है, यथा 'प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा। १६६।८।', (वह अन्यथा नहीं हो सकता) 'किएँ अन्यथा होइ नहिं बिप्र श्राप अति घोर। १७४।', इसीसे 'अति त्रास' हुआ और अति त्रास होनेसे अति व्याकुल हुआ। 'अति' देहली दीपक है। अथवा, आकाशवाणी सुनकर विकल हुआ था, यथा 'भूप बिकल मति मोह भुलानी' और विप्र शाप सुनकर 'अति बिकल' हुआ। प्रथम आकाशवाणीसे अपराध साबित हुआ फिर उसका दंड मिला। राजा विप्रशापसे पहले ही डरता था, यथा 'एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा ॥' और अब वह घोर शाप सुना अतः अब अति त्रास हुआ। [विप्र शाप अति घोर है। भयंकरता यह है कि एक तो परिवारसहित नाश हो, वह भी अल्पकालमें और फिर यह कि राक्षस-योनि मिले, उसपर भी पानी देनेवाला कोई न रह जाय अर्थात् सद्‌गति हो सकनेका भी उपाय न रहे। यह अति भयंकरपन है। (प्र० सं०)]

(ग) 'बर गिरा अकासा' इति।—[पूर्व आकाशवाणीसे राजा अधर्मी ठहराये गए, राजाको जन्मभर इसकी ग्लानि रहेगी अतएव उसके संतोषके लिये और उसको लोकमें निरपराध प्रगट करनेके निमित्त देववाणी हुई, नहीं तो इस आकाशवाणीकी कोई आवश्यकता न थी] 'बर' शब्दसे सिद्ध हुआ कि पहलेवाली आकाशवाणी श्रेष्ठ न थी। वह कालकेतुकी थी, ब्रह्मवाणी न थी। वहाँ 'बर' शब्द नहीं है। ('बहोरि' अर्थात् शापसे अत्यंत व्याकुल होने पर। अथवा, एक आकाशवाणी पूर्व हुई। दूसरी बार फिर हुई अतः 'बहोरि' कहा)।❀

२ 'बिप्रहु श्राप·····' इति। (क) ब्राह्मणोंने कुछ विचार न किया यह वक्ता पहले ही कह आए—'नहिं कछु कीन्ह बिचार'। वही बात आकाशवाणी भी कह रही है। इससे जनाया कि बिना अपराधके

❀ यदि पूर्व भी देववाणी मानें तो यहाँ 'बरवाणी' का भाव यह होगा कि पहलीसे विप्रवृन्दने राजाकी भूल समझी और शाप दिया और इससे उनका सन्देह मिटेगा और वे शान्त होंगे।

राजाको शाप दिया । इससे भी सिद्ध है कि पहली आकाशवाणी कालकेतुकी है। यदि वह ईश्वरकी वाणी होती तो वह प्रथम ही यह बात कह देती कि राजाका इसमें दोष नहीं है। दो बार आकाशवाणी होनेका प्रयोजन ही न था । अपराध विचारकर शाप देना था ['बिप्रहु' का भाव कि राजाने तो अनजानमें अनुचित किया था, पर तुम विप्र हो तुम्हें ध्यानकर देख लेना था कि यह काम किसका था और किसने आकाशवाणीमें दुष्टता पूर्वक भेद जनाया और किस हेतुसे ? (मा० त० वि०)] (ख) 'अपराध कछु कीन्हा'—भाव कि ऐसा शाप भारी अपराधमें देना चाहिए था और राजाने तो किंचित् भी अपराध नहीं किया। राजाकी शुद्धता प्रकट करनेके लिए 'बर गिरा' हुई, नहीं तो राजाके हृदयमें बड़ा संताप रहता कि हमारा निर्दोषपन न ब्राह्मण ही जान पाये न परमेश्वर ही, हमें अपराधी बनाकर दंड दिया । इस वाणीसे अब संतोष हुआ ।

३ 'चकित बिप्र सब···' इति। (क) 'चकित' क्योंकि एक ओर तो आकाशवाणी कहती है कि रसोईमें विप्र मांस हुआ है और फिर यह भी कहती है कि राजाका कुछ दोष नहीं है, यह कैसी बात है ? (ख) 'गएउ भूप जहँ···' इति । [विप्र भी चकित और राजा भी । यहाँ दिखाते हैं कि 'कपटी मुनि पद' में राजाकी बुद्धि कैसी तन्मय हो रही थी, दो बार आकाशवाणी हुई तब भी उसने ब्राह्मणोंसे यह कहानी न कही क्योंकि उसने मना कर दिया था, आकाशवाणी सुनि चकित हो रसोईमें गया कि गुरुसे मैं जाकर यह सब कहूँ, वे मेरी रक्षा सुर विप्र दोनोंसे करेंगे । राजा अति व्याकुल होनेके कारण अत्यन्त शोचमें डूब रहा था, यह आकाशवाणी सुनकर व्याकुलता कुछ दूर हुई, वह सावधान हुआ, अब उस शोच-सागरसे पार होनेको गुरुके पास गया, जब वे न मिले तब शोच 'अपार' देख पड़ा । शापके पार जानेका सामर्थ्य न देखा तब सब कथा कही ।]

तहँ न असन नहि बिप्र सुआरा । फिरेउ राउ मन सोच अपारा ॥७॥
सब प्रसंग महिसुरन्ह सुनाई । त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥८॥
दोहा—भूपति भावी मिटै नहि जदपि न दूषन तोर ।
किएँ अन्यथा होइ नहि बिप्र श्राप अति घोर ॥१७४॥

शब्दार्थ—किएं = उपाय या यत्न करनेसे । अन्यथा = कुछका कुछ, व्यर्थ ।

अर्थ—वहाँ न तो भोजनके पदार्थ ही थे और न ब्राह्मण रसोइया ही । राजा मनमें बेहद चिन्तित हो लौटा ॥७॥ सब वृत्तान्त ब्राह्मणोंको सुनाया और बड़ा ही भयभीत और व्याकुल होकर (ब्राह्मणोंके आगे) पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥८॥ (ब्राह्मण बोले-) राजन् ! भावी नहीं मिट सकती, यद्यपि तुम्हारा दोष नहीं है। विप्रशाप अत्यन्त घोर (कठिन और भयंकर) होता है । किसी भी उपायसे वह व्यर्थ नहीं हो सकता ॥१७४॥

टिप्पणी—१ (क) 'तहं न असन···' इति । भोजनके पदार्थ न देख पड़े क्योंकि रसोई 'मायामय' थी । व्यंजन तो अगणित बने थे पर उनमेंसे एक भी न देख पड़ा। परदेके भीतर देखा तो रसोइया विप्र भी नहीं था । तब 'अपार शोच' हुआ । [मुख्य अपराधी अपने अपराधके प्रमाण सहित अन्तर्धान हो गया । अब राजा सोचता है कि जिसके ऊपर इतनी आस्था थी वह घोर वैरी निकला । और था वह कौन जिसने इतनी बड़ी माया करके मेरा नाश किया ? मैं अत्यन्त लोभसे मारा गया ! अब मेरा और मेरे कुटुम्बका क्या होगा ? इत्यादि सोच उठा । (वि० त्रि०)] अपार शोचका भाव कि राजाको पूर्ण भरोसा और विश्वास था कि मुनि भारी महात्मा हैं, हमारा अवश्य भला करेंगे, इसीसे शोचसे पार होनेके लिये मुनिके पास गया । उनको न देखा (जिसका भरोसा था कि पार कर देगा वह न मिला) अतः शोच अपार हुआ । (ख) 'फिरेउ' अर्थात् प्रसंग सुनानेके लिये । अभी सब विप्र खड़े हैं ।

२—"सब प्रसंग महिसुरन्ह···" इति । रसोईमें जब न पदार्थ देखे न मुनिको तब राजा समझ गया

कि वह मुनि न था, कोई शत्रु था, हमारे साथ बड़ा भारी छल किया, हमको धोखा हुआ; तब सब प्रसंग ब्राह्मणोंको सुनाया । (सब प्रसंग अर्थात् शिकारमें एक शूकरके पीछे घोर वनमें जाना, वहाँ एक तापसका मिलना, उसको महामुनि जान उसके छलमें आना, सोते ही महलमें पहुँच जानेसे उसमें विश्वास होना इत्यादि सब बातें । प्रसंगके अंतमें विप्रवृंदको आदरपूर्वक स्वयं ही बैठाना और परसना आरंभ करना तक कहा) । प्रसंगके अंतमें ब्राह्मणोंके शापकी बात आई, उसे समझकर त्रस्त हो गया, उसे कहते-कहते भयसे अत्यंत व्याकुल हो उनके आगे चरणोंपर गिर पड़ा ।

३. 'भूपति भावी मिटै नहिं···' इति । (क) जब राजा ब्राह्मणोंके आगे सब प्रसंग कह चुका, तब ब्राह्मणोंने समझाया । (दूसरी नभवाणी और सारा प्रसंग श्रवण करनेसे राजा निरपराध सिद्ध हुआ । अतएव वे राजाको समझाने लगे) । (ख) भावी नहीं मिटती अर्थात् यह सब भावीने कराया, भावी तुमको वहाँ ले गई, भावीवश तुमने यह काम किया । ☞प्रसंगके आदि, मध्य और अंत तीनोंमें भावीकी प्रमुखता (प्रधानता) कही गई है । यथा 'तुलसी जसि भवतव्यता···। १५६ ।' आदिमें, 'भावी बस न जान कछु राऊ । १७०।८ ।' मध्यमें और 'भावी बस न आव मुख बानी । १७३।८ ।' अंतमें । इसीसे ब्राह्मण भावीकी प्रबलता कहकर समझा रहे हैं कि 'भावी मिटै नहिं' । (ग) 'जदपि न दूषन तोर' कहनेका भाव कि दोष न होनेसे (चाहिए था कि) हम शाप अन्यथा कर देते किन्तु हमारे करनेसे शाप व्यर्थ हो नहीं सकता । [☞स्मरण रहे कि उस समय ब्राह्मणोंका यह प्रभाव था । वे असत्यवादी न थे । इसीसे तो जो वचन मुखसे निकल गया वह निकल गया, वह व्यर्थ न जाता था । आज कलकी गिरी दशा शोचनीय है ।]

नोट—१ 'बिप्र श्राप अति घोर' का भाव कि एक भी ब्राह्मणका शाप घोर होता है और यहाँ तो लाखों विप्रवरोंका शाप एक साथ हुआ, अतः अति घोर है ।

२—भानुप्रताप निर्वासिक धर्मात्मा था । उसे यह विघ्न और घोर शाप ? इसमें हरिइच्छा ही प्रधान है । जो कहो कि हरि तो धर्मके रक्षक हैं, उन्होंने कैसे विघ्न लगाया ? तो उत्तर यह है कि हरिको त्यागकर राजाने कपटमें मन लगाया तब हरि रक्षक कहाँ रहे ? पहले निष्काम कर्म करता था अब वह कामनावश हो गया । सौ कल्पतक राज्य तथा अमर होनेकी दुर्वासना उसमें उत्पन्न हुई, इससे वह बंधनमें पड़ा। (वै०) ।

पुनः, कुछ लोगोंका कथन है कि पूर्व कर्मोंका फल और साधु वेषकी मर्य्यादा रखनेके लिये निशाचर होनेका शाप हुआ । उस योनिमें वह 'मण्डलीक मणि' होकर लगभग ७२ चौकड़ी राज्य भोग करेगा । नर शरीरमें इतने दिन राज्यका नियम नहीं है ।

ब्राह्मणों द्वारा इन्हें निशाचर होनेका शाप हुआ क्योंकि उनको विप्र मांस भोजन करनेको दिया था, निशाचर विप्रमांस भक्षण करते हैं । उनका तात्पर्य्य यह था कि तू ऐसी योनिमें जा जहाँ यह तुझीको खानेको मिले । यहाँ यह शंका होती है कि इस शापसे तो ब्राह्मणोंहीकी हानि है ? सच है । इसीसे तो गोस्वामीजीके विलक्षण शब्द 'सकोप' इत्यादि यहाँ लेखनीसे निकले । क्रोधमें विचार कहाँ ? दूसरे भावी है ।

प० प० प्र०—मनु और प्रतापभानु । दोनों ही चक्रवर्ती सम्राट् थे, दोनों ही परम धर्मशील, राजनीति निपुण और प्रजावत्सल थे । पर मनुजीको वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होनेपर भी समाधान नहीं हुआ, उनके हृदयमें भक्तिकी लालसा उत्पन्न हो गई । प्रतापभानुमें न तो वैराग्य ही था न ज्ञान और न भक्तिकी इच्छा । धर्मका परिणाम 'बिषय-बिराग' है, वैराग्य प्राप्त होनेके पूर्व ही उसका घोर विनाश हुआ । अगणित निष्काम ईश्वरार्पित यज्ञादि कर्मोंका फल उसको रावण देहमें मिला—'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास' । शत अश्वमेध यज्ञोंका फल इन्द्रके ऐश्वर्यकी प्राप्ति है । रावणको शत इन्द्रका ऐश्वर्य मिला । 'जरा मरन रहित तनु' की वासना प्रतापभानुतनमें थी, अतः, उस वासना-बलने रावणदेहमें घोर तप करवाया । मरणरहित होनेकी इच्छासे ही रावणने वर माँगा । इस तरह पूर्वकर्म और पूर्व वासनासे तथा विप्रशापसे

उसको राक्षसदेह, अपार ऐश्वर्य और अपार सत्ता आदिकी प्राप्ति हुई। तपश्चर्याकी न्यूनता मरण रहित होनेकी वासना और कल्पशत राज्यकी कामनाने पूरी कर दी। देखिए, एक बारकी कुसंगतिसे दुर्वासना पैदा हुई, जिसका परिणाम यह हुआ। अब विचार कीजिये कि हम लोग तो रात दिन 'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना' करते ही रहते हैं, हरिभजन करनेकी कभी इच्छा ही नहीं होती, तब जन्म-मरण-महादुःखसे कब और कैसे छुटकारा मिलेगा ?

नोट—३ "पूर्व तीन कल्पोंकी कथामें जय-विजय, हरगण प्रभृतिका, शाप होनेपर शापानुग्रहके लिए प्रार्थना करना और शापोद्धार होना पाया जाता है। पर भानुप्रताप शापानुग्रहके लिए प्रार्थी न हुआ और न ब्राह्मणोंने ही अपनी ओरसे अनुग्रह की। कारण यह कि यह परात्पर ब्रह्मके आविर्भावकी कथा है; ब्राह्मणोंको भी इसकी खबर नहीं है; वे इतना कहकर ही रह गये कि भावी अमिट है।" (श्रीजानकीशरणजी)। वि० त्रि० का मत है कि "यहाँ भी शापानुग्रहकी बात समझ लेना चाहिए, यथा 'वैभव बिपुल तेज बल होऊ' 'समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहौ मुकुत न पुनि संसारा।"; पर आगेके 'अस कहि सब महिदेव सिधाए।' से यह असंगत जान पड़ता है।

भानुप्रताप रावणहीका चरित्र मुख्यतः इस ग्रन्थमें है। इन्हींके लिए श्रीसाकेतविहारी श्रीरामका अवतार है। (वै०)। पूर्व दोहा १५३ (५-६) में लिखा जा चुका है कि यह और इसका भाई श्रीरामजीके अत्यन्त प्रिय प्रतापी और बलिवर्य नामक सखा थे। प्रभुने इनके साथ रणक्रीड़ा करनेकी इच्छासे इनको प्रकृतिमंडलमें भेजा था। यह ब्राह्मणोंको क्या मालूम ? 'सो जानइ जेहि देहु जनाई' तब भला बिना उनके जनाए वे कब जान सकनेको समर्थ हो सकते हैं? अतः 'भावी मिटै नहिं' यही कहकर रह गए। 'हरि इच्छा भावी बलवाना। १।५६।६-८।' देखिए।

अस कहि सब महिदेव सिधाए। समाचार पुरलोगन्ह पाए ॥१॥
सोचहिं दूषन दैवहि देहीं। बिरचत* हंस काग किय जेहीं ॥२॥
उपरोहितहि भवन पहुँचाई। असुर तापसहि खबरि जनाई ॥३॥

अर्थ—ऐसा कहकर सब ब्राह्मण चलते हुए। पुरवासियोंने समाचार पाया ॥ १ ॥ (तो) वे शोच करने और विधाताको दोष लगाने लगे, जिसने हंस बनाते हुए कौवा बना दिया ॥ २ ॥ पुरोहितको घर पहुँचाकर राक्षस (कालकेतु) ने तापसको खबर दी ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'महिदेव सिधाए'—(यहाँ 'महिदेव' शब्दसे ब्राह्मणोंका महत्व सूचित किया कि ये पृथ्वीपरके देवता हैं, देवताओंकी भाँति आवाहनसे आये थे और अपवित्रता देखकर चले जा रहे हैं। वि० त्रि०)। आकाशवाणीकी आज्ञा थी कि 'उठि उठि गृह जाहू', अतः सब ब्राह्मण घर गए (उठकर तो पहले ही खड़े हो गये थे, शाप देने लगे फिर ब्रह्मवाणीसे चकित होकर प्रसंग सुनने लगे थे; अब चल दिये)। (ख) 'समाचार पुरबासिन्ह पाए'—ब्राह्मणोंके चल देनेपर उनको समाचार मिला, इससे पाया गया कि राजाने सब प्रसंग जो ब्राह्मणोंसे कहा था वह (वे रास्ता चलते हुए परस्पर कहते सुनते जाते थे एवं जो पूछता था उससे भी जहाँ तहाँ कहते गए; इस प्रकार) सब समाचार पुरवासियोंको मिला। ये ब्राह्मण भी पुरके ही थे। (ग) 'सोचहिं' अर्थात् राजाके लिये शोच करते हैं (कि ऐसा धर्मात्मा राजा न मिलेगा) और दैवको दोष देते हैं, ब्राह्मणोंको दोष क्यों नहीं देते कि जिन्होंने विना विचारे शाप दे दिया ? कारण कि ब्राह्मणको दोष लगाने, उनकी निन्दा करनेका फल भारी दंड है, यह वे जानते हैं, यथा 'द्विज निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमै बायस सरीर धरि। ७।१२१।' (घ) 'बिरचत हंस काग किय'—अर्थात्

*बिचरत—१७०४

भानुप्रतापने ऐसे ऐसे सत्कर्म किये थे कि देवता होता सो न होकर राक्षस हुआ। [हंसको क्षीर-नीर-विवरणका विवेक होता है; यथा 'छीर नीर बिबरन गति हंसी। २।३१४।' इसी तरह राजा अधर्मको त्यागकर धर्ममें रत था, निष्काम धर्म किया करता था, परम विवेकी था, यथा 'भूप बिबेकी परम सुजाना। १५६।१।' यह प्रारंभमें ही कहा है। उसी संबंधसे कहा कि वह 'हंस' बनाया जा रहा था सो काग बना दिया गया। कौआ काला, कठोरभाषी, मलिनभक्षी, छली इत्यादि वैसे ही राक्षस। राक्षस होनेका शाप दिया यही कौवा बनाना है। इसी तरह राज्य सुनाकर श्रीरामजीको वनवास देनेपर विधाताको दोष लगाया गया है, यथा 'एकं बिधातहि दूषन देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीं। २।४६।१।', "लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधि गति बाम सदा सब काहू। २।५५।२।" पुनः भाव कि 'बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा।' उसीका दोष है जो चाहे कर डालता है। यहाँ 'ललित अलंकार' है।]

वि० त्रि०—राजासे इस जन्ममें कोई अनर्थ भी नहीं हुआ जिसका फल यह शाप कहा जा सके, अतः दैवको दोष देते हैं कि उन्होंने नियम भंग किया। जन्मसे ही काग या हंस बनानेका विधान है। 'द्विजद्रोही बहु नरक भोग करि। जग जन्मै बायस सरीर धरि।' यहाँ तो राजा जन्मसे ही हंस था और हंसकी भाँति आचरण करता था, परम धर्मात्मा था, इसे ब्राह्मणद्रोह कहाँसे उत्पन्न हो गया जो यह ब्राह्मणोंको वश करने चला ?

टिप्पणी—२ 'उपरोहितहि भवन …' इति। इससे पाया जाता है कि कालकेतुको ब्राह्मणोंका भय था कि राजाकी तरह हमको भी अपना द्रोही समझकर शाप न दे दें, इसीसे उसने प्रथम तुरत पुरोहितको उसके घर पहुँचा दिया जिसमें पुरोहितको जब वे घरमें पायेंगे तो शाप न देंगे। [अथवा, अब अपना काम हो गया, अतः पहुँचा दिया। (रा० प्र०)। यह डर था कि पुरोहितकी खोजमें कहीं राजाके आदमी कपटी मुनिके आश्रमतक न पहुँच जायँ (वि० त्रि०)] राजाने सब प्रसंग कहते हुए पुरोहितके हरण करनेकी बात भी कही तब ब्राह्मण कुपित न हुए क्योंकि तापसने यह भी तो कहा था कि मैं उसे अपने समान बना कर अपने आसनमें रक्खूँगा, पुरोहितको उसने क्लेश नहीं दिया तब ब्राह्मण क्यों कुपित होते ? उसपर भी उसको शीघ्र ही घरमें देखा (इससे तापसको शाप कैसे देते ? एक बार तो अनर्थ कर ही चुके थे फिर कहीं दूसरा अनर्थ न हो जाय। आकाशवाणीने तो अपराधीका नाम बताया नहीं।) (ख) 'असुर तापसहि…' अर्थात् स्वयं जाकर सब समाचार कहा। क्योंकि यही क़रार था कि 'कुल समेत रिपुमूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई।'

तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाए। सजि सजि सेन भूप सब धाए॥४॥
घेरेन्हि नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई॥५॥
जूझे सकल सुभट करि करनी। बंधु समेत परेउ नृप धरनी॥६॥

अर्थ—उस दुष्टने जहाँ-तहाँ पत्र भेजे। सब राजा सेना सजा-सजाकर चढ़ आए॥ ४॥ डंका बजाकर उन्होंने नगरको घेर लिया। नित्य ही बहुत प्रकारसे लड़ाई होने लगी॥ ५॥ सब योद्धा शूरवीरोंकी करनी करके लड़ मरे। राजा भाई समेत (संग्राम) भूमिमें गिरा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि खल' अर्थात् जिसने पुरोहितको उसके घर पहुँचाया और तपस्वीको खबर दी उसी खलने। कालकेतुको पूर्व खल कह आए हैं, यथा 'तेहि खल पाछिल बयरु सँभारा। १७०।७।' यहाँ भी 'खल' उसीको कहा। (निकटवर्ती तापस शब्दके संबंधसे 'तेहि' तापसके लिये भी हो सकता है। तापसने यह काम खलताका किया अतः उसे 'खल' कहा। उसने पत्र लिख-लिख कालकेतु द्वारा सर्वत्र पहुँचाए। 'देखि न सकहिं पराइ बिभूती।', 'पर हित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद

बसेरे', इत्यादि 'खल' के लक्षण हैं)। (ख) 'जहँ तहँ' अर्थात् जिन-जिनको भानुप्रतापने जीता और राज्य छीन लिया। (जो आकर भानुप्रतापसे नहीं मिले थे उनके पास)। यथा 'जीते सकल भूप बरिआई। १५४।६।' (जिनको दंड लेकर छोड़ दिया था पर जिनको हारकी ग्लानि थी वे भी इसमें आ सकते हैं। जिनको वह जानता होगा कि भानुप्रतापसे भीतर-भीतर जलते हैं उन्हींको पत्र भेजे)। (ग) 'पत्र पठाए' क्योंकि मुखाग्र कहनेसे विश्वास न होता। (घ) 'भूप सब धाए' इस कथनसे सूचित हुआ कि सब राजा बड़े प्रसन्न हुए, वे ऐसा चाहते ही थे (कि भानुप्रतापको किसी तरह जीतें)। ['सजि सजि सेन' क्योंकि भानुप्रताप बड़ा बली था इससे पूरी सेना लेकर आए। जीत तो सकते न थे पर शापका बल पाकर जीतनेका विश्वास है। इसीसे प्रसन्न हुए]

२ 'घेरेन्हि नगर ' ' इति। (क) नगरको घेरनेसे पाया गया कि किलेसे लड़ाई होने लगी। [घेरनेसे यह भी होता है कि भीतर अन्न नहीं पहुँच सकेगा। वर्ष भरमें तो नाश होना है ही, तब तक घेरे रहेंगे, इस तरह सुगमतासे अपनी जय हो जायगी] (ख) 'निसान बजाई'। जैसे भानुप्रतापने निशान बजाकर चढ़ाई की और सबको जीता था, वैसे ही इन सब राजाओंने डंका बजाकर जीतनेके लिये भानुप्रतापपर चढ़ाई की। (ग) 'बिबिध भाँति'-अर्थात् किलेसे, किलेके बाहरसे, तोपसे, तुपकसे, तलवार, बर्छी, धनुषबाण, गदा, कृपाण, इत्यादि भांतिसे। अथवा, चक्रव्यूह इत्यादि अनेक व्यूह रचना द्वारा, और भी जो भाँति है वे भी इसमें आ गईं। (घ) 'नित होइ' से जनाया कि बहुत दिन लड़ाई हुई (संभवतः लगभग संवतभर क्योंकि संवतमध्य नाशका शाप था), क्योंकि किला भारी था जल्दी न टूट सका (और भानुप्रतापकी सेना भी साधारण न थी)।

३ (क) 'जूझे सकल सुभट करि करनी' इति। सुभटोंमें पुरुषार्थ था; इसीसे उनका करनी करके जूझना लिखा। राजामें शापके कारण पुरुषार्थ न रह गया, इसीसे उसका पुरुषार्थ करके जूझना नहीं लिखते। यदि प्रथमवाला पुरुषार्थ रहता तो सब राजा न जीत पाते। उसके प्रथमपुरुषार्थसे तो वे सब हार चुके थे। यथा 'सप्त दीप भुज बल बस कीन्हे।' ' '' ['करि करनी' अर्थात् रणभूमिमें अपनी वीरता दिखाकर सम्मुख संग्रास करते हुए। 'करि करनी' को देहली दीपकन्यायसे दोनों ओर लगा सकते हैं। तब भाव यह होगा कि दोनों भाई रणमें अपनी वीरतासे लड़े, पीठ न दिखाई, पर शापवश उसका पुरुषार्थ कारगर न होता था, उसका नाश होना ही था। (प्र० सं०)। 'बंधु समेत' अर्थात् अरिमर्दन भी साथ ही गिरा जो 'भुजबल अतुल अचल संग्रामा' था, वह भी मारा गया] (ख) सुभटोंका मरना कहकर तब दोनों भाइयोंको कहा। इससे जनाया कि जब सेना न रह गई तब दोनों भाई स्वयं लड़े।

सत्यकेतु-कुल कोउ नहिं बाँचा। बिप्रश्राप किमि होइ असांचा ॥७॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई। निज पुर गवने जय जसु पाई ॥८॥
दोहा—भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम ॥१७५॥

शब्दार्थ—बाँचा = बचाया, यथा 'बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यहु मरनहार भा साँचा। २७५।४।'-बचा। असाँचा=असत्य। बाम=बायाँ, उलटा, प्रतिकूल। मेरु=पर्वत।=सुमेरु। दाम=रस्सी, माला। जनक=पिता।

अर्थ—सत्यकेतुके कुलमें (राजा लोगोंने) किसीको न बचा रक्खा (वा, कोई न बचा)। ब्राह्मणोंका शाप क्योंकर असत्य हो सकता ? ॥७॥ सब राजा शत्रुको जीतकर नगरको बसाकर जय और यश पाकर अपने-अपने नगरको गए ॥ ८ ॥ श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं) भरद्वाज ! सुनो। जिसका जब विधाता

वाम होते हैं तब उसको धूलि मेरुके समान, पिता यमराजके समान और रस्सी वा माला सर्पके समान हो जाती है ॥ १७५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सत्यकेतु कुल कोउ···' इति। सुभटोंका और भाईसहित राजाका जूझना कहा, कुलका नाश न कहा था और शाप है कुलके नाशका भी। अतः कहा कि 'सत्यकेतु कुल कोउ नहिं बाचा' अर्थात् राजा लोगोंने अपने शत्रुके कुलमें किसीको न बचा रक्खा, सबका वध किया। क्योंकि यह राजनीति है कि शत्रु-कुलको न रहने दे। यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।' (ख) कुलका कोई व्यक्ति किसी प्रकारसे न बचा, इसका कारण बताते हैं कि 'बिप्र श्राप किमि···'। अर्थात् ब्राह्मणोंके शापसे ऐसा हुआ। उनका शाप है कि 'जलदाता न रहिहि कुल कोऊ', अतः 'कोउ नहिं बाचा'। शाप असत्य नहीं हो सकता। [जय विजयको जब शाप हुआ तब भी ऐसा ही कहा है। यथा 'बिप्र श्राप तें दूनौं भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई॥ ··· मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रवाना। १२२।१।' ब्राह्मण अपने दिये हुए शापको स्वयं व्यर्थ नहीं कर सकते, क्योंकि यदि ऐसा होने लगे तो उनका आशीर्वाद भी कुछ न माना जाय। यह बात देवर्षि नारदके 'मृषा होउ मम श्राप कृपाला।' से सिद्ध है। १३८।३। देखिए। (ग) बिप्रद्रोह कुलका नाशक है, यथा 'जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा। ४।१७।८।' अतः 'किमि होइ असांचा' कहा; कुलका नाश हुआ ही चाहे। पहले साधारण बात कहकर फिर विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन किया गया अतः यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। (प्र० सं०)]

२ (क) 'रिपु जिति सब नृप'—इससे जनाया कि भानुप्रताप (उन) सब राजाओंका शत्रु था अतः सबका 'रिपु' को जीतना कहा। (ख) 'नगर बसाई' इति। भाव कि संग्राम होनेसे पुरवासी भयके मारे जहाँ तहाँ भागने लगे कि राजा लोग हमारा भी वध न कर डालें, हमें न लूट लें, इसीसे सबको निर्भय करके बसाया। अथवा, राजाके नगरमें ब्राह्मण बहुत हैं; इससे राजाओंने नगरमें कुछ भी उपद्रव न किया कि वे हमें भी शाप न दे दें। सबका समाधान करके सबको बसाया कि पुरवासी भय न करें, उनसे कोई न बोलेगा। ऐसा कहनेका कारण है क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि शत्रुको मारकर उसका नगर लूट लिया जाता है। [लड़ाईमें नगर उजड़ जाता है अतः उसका बसाना कहा। पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि 'शत्रुको जीतकर सबने तापस नृपको नगरमें बसाया। काश्मीरका राज्य उसको दिया।' और बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि "राजाओंने अपने-अपने नगर स्वतंत्रतापूर्वक बसाए। अथवा, भानुप्रतापके नगरमें अपना अपना थाना बसाया।" सबने आपसमें समझौता करके अपने-अपने हिस्से की जगह लेकर उस नगरको बसाया। जैसे पिछली जर्मन लड़ाईमें जो संवत् १९९८ वि० के लगभग प्रारंभ होकर कई वर्षतक चली। उसमें जर्मनी और जापान की हार होनेपर अमरीका, रूस और इंगलैंडने उन मुल्कोंमें अपने-अपने भाग कायम किये।] (ग) 'निज पुर गवने' इति। नगर बसाकर अपने पुरको गए, इससे सूचित हुआ कि कुछ दिन वहाँ टिककर नगरका बंदोबस्त करके तब गए। पुनः, 'निज पुर गवने' का भाव कि राजा लोग निश्चय करके आए थे कि यदि भानुप्रतापपर विजय न प्राप्त हुई तो अब नगरमें लौटकर न आयेंगे, क्योंकि वह भारी शत्रु है फिर वह नगरमें न रहने देगा। इसीसे कहते हैं कि जब जय और यश प्राप्त हुआ तब अपने पुरको गए। (घ) 'जय जसु पाई' इति। भाव कि भानुप्रतापने सब राजाओंका 'जय-यश' हर लिया था। उससे न तो किसी राजाको जय ही मिली थी और न क्षत्रियपनेका यश ही किसीका रह गया था। अब जय और यश दोनों मिल गए (जो पूर्व छिन गए थे)। पुनः 'जय यश' कहनेका भाव कि शत्रुको संग्राममें मारा; छल करके नहीं मारा किंतु धर्मयुद्धसे विजय प्राप्त की। प्रथम जय मिली, जय होनेसे यश मिला। अतः उसी क्रमसे कहा।

३—'भरद्वाज सुनु···' इति। (क)-यह प्रसंग सुनकर कदाचित् भरद्वाज मुनिको संदेह हो कि ऐसे धर्मात्मा राजाके साथ ऐसा छल और उसका इस प्रकार मरण न होने चाहिए थे, अतः स्वयं ही उस संदेहका

निराकरण करते हैं कि 'जाहि जब···'। (ख) 'जाहि', जिसको कहनेका भाव कि कर्मफल सबके ऊपर है। जब=जिस कालमें। भाव कि कर्मफल समय पाकर उदय होता है। (ग) 'होइ बिधाता बाम'—भाव कि विधाता ही कर्मफलदाता है, यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता। २।२८२।४।' शुभ-कर्म-फल देनेको विधाता दाहिने होता है और अशुभ कर्मका फल देनेको वाम होता है। (घ) धूलि समान कालकेतु सुमेरु समान हो गया, जनकसमान कपटी मुनि यम और दामसम विप्र व्यालसमान हो गए।

नोट—१ 'धूरि मेरु सम जनक ···ब्याल सम दाम' इति। ये तीनों बातें राजापर बीतीं। कालकेतुके सौ पुत्र और दश भाई थे वे सब मारे गये। वह अकेले जान बचाकर भागा। अतः वह रज सम था, वही पर्वत हो गया, राजाको उसने कुचल डाला। राजाने कपटीमुनिको पिता माना, यथा "जानि पिता प्रभु करौं ढिठाई॥ मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। १६०। ३-४।" और उसने भी पुत्र माना, यथा 'सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं। १६१। १।'; वही उसके लिये कालरूप हो गया। ब्राह्मण राजाको रत्नमालासम थे। जैसे रत्न-मालाका सारसँभार रक्खा जाता है वैसे ही यह ब्राह्मणोंका आदर करता था। सो उन्हींने सर्प होकर इसे डस लिया। (मु॰ रोशनलाल)। वैजनाथजीने भी ऐसा ही लिखा है। वे लिखते हैं कि विप्रवृन्द मुक्तादाम-सम शोभा-सुखदायक थे। राजद्वारपर उनके दर्शनसे शोभा और सुख प्राप्त होता था, वे आशीर्वाद दिया करते थे; उन्हींने नाशका शाप दिया। और श्रीसंतसिंह पंजाबीजीका मत है कि "जिन राजाओंको इसने धूलवत् कर दिया वे ही मेरुवत् हो गए। विप्र पितासम कृपा करते थे वे ही यमतुल्य नाशक हुये, और कालकेतु दाम (रस्सी) सम 'सून्न मन' रहता था सो सर्प हो गया।"

वि॰ त्रि॰ भी श्रीपंजाबीजीके मतमें हैं कि "कपटी मुनि धूल समान था (यथा 'नाम हमार भिखारि अब निर्धन रहित निकेत'), पितृस्थानीय विप्रवृन्द थे। कालकेतुमें कुछ रह नहीं गया था, उसकी आकृतिमात्र राक्षसकी थी, सूकर आदि बना-बना बनमें फिरता था, वह रज्जु था सो सर्प हो गया।

नोट २ "सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू" उपक्रम और "सत्यकेतु कुल कोउ॰" उपसंहार है। "भरद्वाज सुनु अपर पुनि॰" दोहा १५२ उपक्रम है और "भरद्वाज सुनु जाहि॰॰" उपसंहार।

रा॰ प्र॰—भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद यहीं (अगली चौपाई) तक स्पष्ट देख पड़ता है, आगे ग्रंथमें कहीं नाम नहीं है। कारण यह है कि भरद्वाजका सन्देह रामतत्वके विषयमें था, चरितमें नहीं क्योंकि चरितको तो वे स्वयं प्रगट कहते हैं, यथा "तिन्हकर चरित बिदित संसारा"। अतएव जबतक रामतत्व जाननेका प्रयोजन रहा तबतक गोस्वामीजीने 'मुनि भरद्वाज' इत्यादि संबोधन किया। और जो कहें कि "चाहौ सुनइ राम गुन गूढ़ा" इस वाक्यमें विरोध पाया जाता है तो उसका उत्तर यह है कि ये वचन भरद्वाज मुनिके नहीं हैं।

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भएउ निसाचर सहित समाजा॥१॥
दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा॥२॥
भूप अनुज अरिमर्दन नामा। भएउ सो कुंभकरन बलधामा॥३॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भएउ बिमात्र बंधु लघु तासू॥४॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिज्ञान निधाना॥५॥

शब्दार्थ—भुजदंड=भुज (बाहु; बाँह) + दंड (दंडा)। डंडेके आकारका होनेसे बाहुको भुजडंड कहते हैं। प्रायः बलवान् पुरुषोंकी भुजाओंको 'भुजदंड' कहा जाता है। स्त्रियोंकी भुजाएँ कोमल होती हैं इससे

उन्हें भुजबल्ली कहा जाता है। बरिबंड (बलिवंद्य)=प्रचण्ड, बली, बलवानोंसे वन्दित। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है। विमातृ (सं०)=अपने माताके अतिरिक्त पिताकी दूसरी विवाहिता स्त्री=सौतेली माँ। विमात्र=विमातृज=सौतेला।

अर्थ—हे मुनि ! सुनो। समय पाकर वही राजा समाज सहित निशाचर हुआ ॥ १ ॥ उसके दश शिर और बीस भुजाएँ थीं। रावण नाम था। वह बड़ा बलवान् तेजस्वी प्रचंड वीर था ॥ २ ॥ राजाका छोटा भाई (जिसका) अरिमर्दन नाम था वह बलका धाम कुंभकर्ण हुआ ॥ ३ ॥ जो (धर्मरुचि) मंत्री था जिसकी धर्ममें रुचि थी, वह उसका सौतेला छोटा भाई हुआ ॥ ४ ॥ उसका नाम बिभीषण था जिसे संसार जानता है। वह विष्णु भगवान्‌का भक्त और विज्ञानका खजाना, भंडार वा समुद्र था ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'काल पाइ ।०' इति। जहांसे राजाके शापका प्रसंग छोड़ा था, वहींसे पुनः कहते हैं। 'काल पाइ''राजा भएउ निसाचर सहित समाजा।' का संबंध 'जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार। १७३।' से मिलाते हैं। (ख) 'काल पाइ' कहा क्योंकि समय पाकर शरीरकी प्राप्ति होती है। [जीव शरीर छोड़नेके पश्चात् तुरत जन्म ले, यह आवश्यक नहीं है। जब उसके कर्मोंके भोग-योग्य समय (ग्रहस्थिति) और वातावरण होता है तब पुनः जन्म पाता है।] यथा 'मन महँ तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाए। वि० १२४।' [हरि इच्छासे शापमें समयका नियम नहीं हुआ। यदि इसमें नाश होनेपर तुरंत निशाचरयोनि पानेका शाप होता तो मरण होते ही उनका जन्म होता। जैसे लोमशका शाप भुशुण्डीजी को हुआ कि 'सपदि होहु पच्छी चंडाला' अतः वे तुरंत काक हुए, यथा 'तुरत भयउँ मैं काग तब''। ७।११२।' अभी प्रभुके अवतारका समय नहीं है, इसीसे वैसा शाप न होने पाया।] जब श्रीरामजीकी इच्छा लीला करनेकी होती है तब प्रथम रावणका अवतार होता है। अतः जिस कल्पमें श्रीरामावतार होनेको था जब वह कल्प आया तब भानुप्रताप रावण हुआ। 'सुनु' का भाव कि राजा जैसे रावण हुआ वह हम आगे कहते हैं, सुनो। (ग) 'सहित समाज' निशाचर हुआ क्योंकि शाप था कि "निसाचर होहु''सहित परिवार।'; सहित परिवार ही सहित समाज है। जहां श्रीरामजीका परिवारसहित पूजन होता है वहां श्रीहनुमानजी; सुग्रीवजी आदिके सहित पूजन होता है, इससे भी समाजकी गणना परिवारमें है।

२ (क) 'दस सिर ताहि बीस भुज दंडा' इति। सब कल्पोंके रावण दश शिर और बीस भुजा वाले होते हैं। ऐसा ही सृष्टिका नियम है। भुजकी प्रबलता दिखानेके लिये 'भुजदंड' शब्द दिया। भारी और बलवान् भुजाको भुजदंड कहते हैं। यथा 'करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। १४७।८।', 'दुहु भुजदंड तमकि महि मारी। ६।३१।' 'दस सिर बीस भुजदंड' से सूचित हुआ कि रूप भयदायक है। (ख) 'रावन' नाम है अर्थात् यह सबको रुलानेवाला है। 'रावयतीति रावणः'। (विशेष आगे प० प० प्र० की टिप्पणीमें देखिए)। 'बीर बरिबंडा' वीरोंमें प्रबल है। यथा 'रन मद मत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा। १८२।६।' वीर की शोभा बलसे है; इसीसे वीरको बलवान् कहते हैं। यथा 'भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान। १२२।', 'नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना। ६।७९।', 'जेहिं ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड। खर दूषन तिसिरा बध्यो मनुज कि अस बरिबंड। ३।२५।'—ये सब काम बलके वर्णन किये गए हैं, इससे स्पष्ट हुआ कि 'बरिबंड' का अर्थ 'बलवान' है। 'रावन नाम' से सूचित किया कि नाम भयदायक है, यथा 'भई सभय जब नाम सुनावा। ३।२८।' और 'बीर बरिबंडा' से जनाया कि पुरुषार्थ भय दायक है, यथा "चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुर रवनी। १८२।५।' आगे अब क्रमसे सबकी उत्पत्ति कहते हैं। (ग) 'भूप अनुज'—भाव कि जैसे वह पूर्व भानुप्रतापका छोटा भाई था वैसे ही भानुप्रतापके रावण होनेपर वह रावणका छोटा भाई हुआ। 'अरिमर्दन नामा'—प्रथम तनमें वह शत्रुका मर्दन करनेवाला था, वैसे ही निशाचर होनेपर बलका धाम था, कोई शत्रु ऐसा न था जो उसके सम्मुख खड़ा रह सके, यथा 'अतिबल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता। १८०।३।' जैसे

अरिमर्दन भानुप्रतापसे अधिक बलवान था वैसे ही कुंभकर्ण रावणसे अधिक बलवान था। अरिमर्दनके संबंधमें कहा था कि 'भुज बल अतुल अचल संग्रामा' वैसे ही यहाँ 'बलधाम' का अर्थ है कि बलवान और संग्राममें अचल है, क्योंकि जो बलधाम होगा वह संग्राममें अचल अवश्य होगा। रावण वीर और बरिबंड (बलवान) है वैसे ही कुंभकर्ण अरिमर्दन अर्थात् वीर है और बलधाम है। रावणका रूप भयदायक है वैसे ही कुंभकर्णका रूप भयदायक है। कुंभ समान जब उसके कर्ण हैं तब रूप बड़ा भारी होगा ही।

३ 'सचिव जो रहा धरमरुचि जासू।…' इति। (क) धर्मरुचि नाम लिखनेका भाव कि मंत्री तो बहुत थे पर जो इस नामका था, जिसकी धर्ममें रुचि थी वह रावणका छोटा भाई हुआ। जैसे पूर्व जन्ममें धर्ममें रुचि थी, यथा 'सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती। १५५।३।' वैसे ही इस जन्ममें भी उसकी जन्मसे ही धर्ममें रुचि हुई। ['धरम रुचि जासू' देहलीदीपक न्यायसे दोनों ओर लगता है। अर्थ होगा—उसका विमातृज छोटा भाई हुआ जिसकी धर्ममें रुचि थी]। (ख) 'भएउ बिमात्र बंधु लघु' इति। मंत्री भाई हुआ। इससे सूचित हुआ कि राजाका यह मंत्री धर्मात्मा था, इससे वह उसे भाई करके मानता था; अथवा किसी नातेसे भाई होता था, सगा भाई न था। इसीसे इस जन्ममें वह भाई हुआ पर सगा भाई न होकर सौतेली मातासे हुआ। 'बंधु लघु'—भाव कि पूर्व जन्ममें छोटा था इसीसे अब भी छोटा हुआ।

४ "नाम बिभीषन जेहि जग जाना।…' इति। (क) जगत् जानता है क्योंकि इनकी गणना परम भागवतोंमें है, यही बात अगले चरणमें कहते हैं कि विष्णुभक्त हैं और विज्ञाननिधान हैं; यह भी बात संसार जानता है। पुनः संसार रामायण सुनने वा पढ़नेसे जानता है कि रावणको इन्होंने कैसा-कैसा उपदेश दिया है। (ख) जगत्में प्रथम नाम विख्यात होता है तब गुण। इसीसे प्रथम नाम कहा, पीछे गुण कहते हैं कि 'विष्नुभगत…' हैं। (ग) 'जग जाना' कहकर 'बिष्नुभगत…' कहनेका भाव कि संसारमें इनकी प्रसिद्धि भक्ति और विज्ञानके कारण हुई, राक्षसी कर्मोंसे नहीं। इससे पाया गया कि ब्रह्माके वरदानके पूर्वसे प्रथम जन्मसे ही, इनको भगवद्भक्ति प्राप्त थी, ब्रह्माका वर तो पीछे इस शरीरमें मिला। पूर्व जन्ममें धर्ममें रुचि थी इसीसे पूर्व जन्म संस्कारसे राक्षसदेहमें भी जन्म लेते ही हरिभक्ति प्राप्त हुई। धर्मसे हरिभक्ति मिलती है। यथा 'जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई। ३।६।' (घ) पुनः भाव कि ये ऐसे महाभागवत हैं कि संसार इनकी वन्दना करता है। यथा "प्रह्लाद नारद पराशर पुण्डरीक व्यासाम्बरीष शुक शौनक भीष्मकाद्यान्। रुक्माङ्गदार्जुन वसिष्ठ विभीषणाद्यानेतानहं परमभागवतान्नमामि।" (पाण्डवगीतामें यही श्लोक कुछ हेरफेरसे है। दोहा २६ (४) भाग १ पृष्ठ ४३१ देखिए। ये भगवान्के पार्षद भी हैं)।

प० प० प्र०—१ यहाँ देहस्वभावका दुष्परिणाम न होनेका कारण हरिभक्ति ही है। इससे अनुमान होता है कि त्रिजटा आदि जो भी हरिभक्तिमान व्यक्ति लंकामें थे वे सब पूर्व जन्ममें धर्मरुचि मंत्रीके ही संबंधी थे और हरिभक्त थे। प्रतापभानु आदि अन्य सब लोग पूर्व जन्ममें धर्मशील और पापरहित होते हुये भी राक्षसदेह पानेसे अधर्मी बन गए। इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्व जन्ममें इनमेंसे कोई भी हरिभक्त नहीं था। ☞ इस प्रकरणमें यह विशेष रीतिसे दिखाया है कि देह-स्वभाव विना हरिभक्तिके नहीं जाता है। केवल धर्मशीलतासे देह-स्वभाव नहीं जाता। काकभुशुंडी काकदेहवाला है पर काकस्वभाव नहीं है; इसका कारण भी यही है कि वह शापके पूर्व विप्रदेहमें हरिभक्तिसंपन्न था। इस प्रकार ग्रंथके उपक्रम और उपसंहारमें इन दो कथाओंसे एक ही सिद्धान्त बताया—बिनु हरि भक्ति स्वभाव न जाई।

२ नारदमोह प्रकरणसे यह बताया कि शिव-हरि-कृपा-विहीन योग, ज्ञान, वैराग्य और कामविजय भी निरर्थक और अधोगतिदायक हैं।

३ मनुशतरूपा प्रकरणमें बताया कि धर्मशीलता, वैराग्य और ज्ञानको हरिभक्तिका आधार हो तो वह जीव भगवानको भी वशमें कर लेता है।

४ काकभुशुंडि चरित्रमें यह विशेषता बताई है कि कर्म-ज्ञान-रहित केवल भक्तिसे वैराग्य-ज्ञानादि सब कुछ सहज ही अनायास प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक पद्धतिसे कर्म-धर्म-ज्ञान और भक्तिकी विशेषता बताकर सिद्ध किया है कि 'रघुपति-भगति बिना सुख नाहीं'। 'भजन रामको अंक है सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दस गून।' ऐसा कहना उचित ही है। यही मानसका श्रुतिसिद्धान्त है।

नोट—१ "भएउ बिमात्र बंधु लघु तासू।" इति। श्रीरामचरितमानसकल्पवाले रावण और कुंभकर्ण सहोदर भ्राता थे। विभीषणजी रावणके सौतेले भाई थे। अतः मानसकल्पवाली कथा वाल्मीकीय और अध्यात्म आदि रामायणोंसे भिन्न कल्प की है। इन रामायणोंके रावण, कुंभकर्ण और विभीषण सहोदर भ्राता थे। महाभारत वन पर्वमें जिस रावणकी कथा मार्कण्डेय मुनिने युधिष्ठिरजीसे कही है उसका भी विभीषण सौतेला भाई था। कथा इस प्रकार है—पुलस्त्यजी ब्रह्माके परम प्रिय मानस पुत्र थे। पुलस्त्यजीकी स्त्रीका नाम 'गौ' था; उससे वैश्रवण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वैश्रवण पिताको छोड़कर पितामह ब्रह्माजीकी सेवामें रहने लगे। इससे पुलस्त्यजीको बहुत क्रोध आ गया और उन्होंने (वैश्रवणको दंड देनेके लिये) अपने आपको ही दूसरे शरीरसे प्रकट किया। इस प्रकार अपने आधे शरीरसे रूपान्तर धारणकर पुलस्त्यजी विश्रवा नामसे विख्यात हुए। विश्रवाजी वैश्रवणपर सदा कुपित रहा करते थे। किन्तु ब्रह्माजी उनपर प्रसन्न थे, इसलिये उन्होंने उसे अमरत्व प्रदान किया, समस्त धनका स्वामी और लोकपाल बनाया, महादेवजीसे उनकी मित्रता करा दी और नलकूबर नामक पुत्र प्रदान किया। साथ ही ब्रह्माजीने उनको राक्षसोंसे भरी लंकाका आधिपत्य और इच्छानुसार विचरनेवाला पुष्पक विमान दिया तथा यक्षोंका स्वामी बनाकर उन्हें 'राजराज' की उपाधि भी दी।

कुबेर (वैश्रवण) जी पिताके दर्शनको प्रायः जाया करते थे। विश्रवामुनि उनको कुपित दृष्टिसे देखने लगे। कुबेरको जब मालूम हुआ कि मेरे पिता मुझसे रुष्ट हैं तब उन्होंने उनको प्रसन्न करनेके लिये पुष्पोत्कटा, राका और मालिनी नामकी परम सुन्दरी तथा नृत्यगानमें निपुण तीन निशाचरकन्यायें उनकी सेवामें नियुक्त कर दीं। तीनों अपना-अपना स्वार्थ भी चाहती थीं, इससे तीनों लाग डाँटसे विश्रवामुनिको संतुष्ट करनेमें लग गईं। मुनिने सेवासे प्रसन्न होकर तीनोंको लोकपालोंके सदृश पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया। पुष्पोत्कटाके दो पुत्र हुए—रावण और कुंभकर्ण। मालिनीसे एक पुत्र विभीषण हुआ। राकाके गर्भसे खर और शूर्पणखा हुए। यथा "पुष्पोत्कटायां जज्ञाते द्वौ पुत्रौ राक्षसेश्वरौ। कुम्भकर्णदशग्रीवौ बलेनाऽप्रतिमौ भुवि॥ ७॥ मालिनी जनयामास पुत्रमेकं विभीषणम्। राकायां मिथुनं जज्ञे खरः शूर्पणखा तथा॥ ८॥ महाभारत वनपर्व अ० २७५।"

रावणके दश शिर पैदा होतेही थे। इसीसे उसका नाम प्रथम दशग्रीव था। रावण नाम तो कैलासके नीचे दबनेपर हुआ। रावणका अर्थ है रुलानेवाला। वाल्मी० ७।१६ देखिए। (प०प०प्र०की टिप्पणी देखिए)

वाल्मीकीयके रावणजन्मकी कथा तथा उसकी माताका नाम इससे भिन्न है। कथा इस प्रकार है कि विष्णुभगवान्‌के भयसे सुमाली परिवार सहित रसातलमें रहने लगा। एक बार जब वह अपनी कुमारी कन्या कैकसीसहित मर्त्यलोकमें विचर रहा था, उसी समय कुबेरजी पिता विश्रवाके दर्शनोंको जा रहे थे। उनका देवताओं और अग्निके समान तेज देखकर वह रसातलको लौट आया और राक्षसोंकी वृद्धिका उपाय सोचकर उसने अपनी कन्या कैकसीसे कहा कि तू पुलस्त्यके पुत्र विश्रवामुनिको स्वयं जाकर वर ले। इससे कुबेरके समान तेजस्वी पुत्र तुझे प्राप्त होंगे। पिताकी आज्ञा मान कैकसी विश्रवामुनिके पास गई। सायंकालका समय था। वे अग्निहोत्र कर रहे थे। दारुण प्रदोषकालका उसने विचार न कर वहाँ जाकर उनके समीप खड़ी हो गई। उसे देखकर उन्होंने पूछा कि तुम कौन हो और क्यों यहाँ आई हो। उसने उत्तर दिया कि

आप तपः प्रभावसे मेरे मनकी जान सकते हैं। मैं केवल इतना बताये देती हूँ कि मैं अपने पिताकी आज्ञासे आई हूँ और मेरा नाम कैकसी है।

विश्रवा मुनिने ध्यान द्वारा सब जानकर उससे कहा कि तू दारुण समय आई है इससे तेरे पुत्र बड़े क्रूर कर्म करनेवाले और भयंकर आकृतिके होंगे। यह सुनकर उसने प्रार्थना की कि आप ऐसे ब्रह्म-वादीसे मुझे ऐसे पुत्र न होने चाहिएँ। आप मुझपर कृपा करें। मुनिने कहा—अच्छा, तेरा पिछला पुत्र वंशानुकूल धर्मात्मा होगा।

कैकसीके गर्भसे क्रमशः रावण, कुंभकर्ण, शूर्पणखा उत्पन्न हुए। सबके पीछे विभीषण हुए। (वाल्मी० ७।९।१--३५)।

प्रायः यही कथा अध्यात्मरामायणमें है। (अ० रा० ७।१।४५--५६)। पद्मपुराण पातालखण्डमें श्रीअगस्त्यजीने श्रीरामदरबारमें जो कथा कही है उसमेंकी 'कैकसी' विद्युन्मालीदैत्यकी कन्या थी। उस कैकसीके ही रावण, कुंभकर्ण और विभीषण पुत्र हुए।

२—रावणके दस शिर क्यों हुए? इसपर अनेक महात्माओंने लिखा है। सृष्टिकर्त्ता ही इसका अभिप्राय भले ही ठीक कह सकें? (१)—हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'रावणकी मांको पुत्रका वरदान मुनि देकर फिर किसी अनुष्ठानमें दस मास तक लगे रहगए, वह खड़ी रही। तबतक दश बार इसे रजोधर्म हुआ, इस कारण दस शिरका पुत्र मुनिने इसको दिया'। (२)—इसमें सत रज तम तीनों गुण दर्शानेको दस शिर दिए क्योंकि त्रिदेव के १० शिर हैं इस तरह कि भगवान् विष्णुके एक शिर है, ब्रह्माजीके चार और शंकरजीके पाँच हैं। सब मिलकर दस हुए। (३)—दसवीं दशा मृत्यु है। यह संसार भरको मृत्युरूप होगा। (४)—दश शिर मानों १० का अंक है जिसमें एक '१' जो ईश्वर उससे विमुख होनेसे यह शून्य (मृतक) सम होगा। (५)—यह मोहका स्वरूप है। दशों इंद्रियाँ इसके १० मुख हैं, यथा "मोह दसमौलि०।" इत्यादि। (मानस शंकावली, शंका मोचन)। पुनः, (६) यों भी कहा जाता है कि रुद्रयामल तंत्र और पद्मपुराणमें लिखा है कि 'कैकसी' को रतिदान की स्वीकृति दे मुनि ध्यानमें लीन हो गए। ध्यान छूटनेपर पूछा—उसने कहा दस बार मुझे ऋतु धर्म हुआ है, इससे आशीर्वाद दिया कि प्रथम पुत्र दश सिरवाला होगा और 'केसी' से कहा कि तेरे एक पुत्र होगा जो बड़ा ज्ञानी और हरिभक्त होगा। रावण, कुंभकर्ण और शूर्पणखा कैकसीसे हुए और विभीषण 'केसी' से हुए। (वीर)।

प० प० प्र०—प्रत्येक कल्पमें रावण 'दशमुख' क्यों और रामावतारके पिता 'दशरथ' ही क्यों? इन प्रश्नोंका समाधान केवल आध्यात्मिक विचारसे ही ठीक ठीक होता है। तथापि भौतिक दृष्टिसे भी ये नाम यथार्थ हैं। जिसका रथ दशो दिशाओंमें जहाँ चाहे जा सकता है, वह दशरथ है। दशमुखका अर्थ स्पष्ट है। दशमुख विश्रवा मुनिका ही पुत्र होता है। 'विशेषः श्रवः (कीर्ति) यस्य स विश्रवाः' जो विशेष विख्यात् विश्रुत होता है उसका पुत्र।

अध्यात्मपरक अर्थ—दशरथ—दशयुक्तः रथ यस्य = दशरथः। जिसके रथमें दशेन्द्रियरूपी घोड़े रहते हैं वह दशरथ है। जीव ही दशरथ है। 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। इन्द्रियाणि हयानाहु। कठ ३।३-४।' पंचकर्मेन्द्रिय और पंचज्ञानेन्द्रिय ही जीव दशरथके शरीररूपी रथके घोड़े हैं। रथका सारथी बुद्धिमान और कुशल होता है तभी वह रथको इष्ट स्थल तक ले जाता है और रथी कृतकृत्य होता है। बुद्धि सारथी है, और मन लगाम है—'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच', 'मनोरथानाम गतिर्न विद्यते'। दशरथजीका रथ स्वर्गादि लोकोंमें भी जाता है, जीवके मनोरथोंकी गति अकुंठित ही होती है। भौतिक वस्तुस्थिति आध्यात्मिक अर्थानुकूल ही है।

जीव दशरथ अजपुत्र है। अज है ब्रह्म, ईश्वर। और 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी', 'आत्मा वै

पुत्रनामासि', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः', 'जीवो' 'ब्रह्मैव नाऽपरः' । दशरथ जीवकी पत्नी महारानी कौसल्या कौसिलाजी ही होती हैं। कुशलस्य भावः कौशलम् । वह है सुमति । और 'जहाँ सुमति तहँ संपति नाना' । सद्गति, मोक्ष, भक्ति प्राप्त करनेके उत्तम अधिकारी जीवका प्रतीक 'दशरथ' है।

'दशमुख' । इस शब्दका अर्थ 'दशरथ'के समान ही है । = जिसके दशेन्द्रियरूपी मुख होते हैं वह ही दशमुख है । दशमुख भी दशों दिशाओंमें, स्वर्गादि लोकोंमें जा सकता है। 'मुखमुपाये प्रारम्भे, उपाये गेहादि मुखे' (हैमः) । मुख = गृहका द्वार । दश इन्द्रियाँ देहरूपी घरके दश दरवाजे हैं। 'इंद्रीद्वार झरोखा नाना'। इन इन्द्रियरूपी दशमुखोंसे ही जीव भोग भोगता है। दशमुख विषयी है। विवेकी 'धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी । हृदय भगति मति सारँगपानी' ऐसा जीव दशरथ है और विषयी, निशाचरवृत्तिवाला दुर्जन जीव दशमुख है।

दशमुख विश्रवस् मुनिका पुत्र है । श्रवः श्रुतिः, श्रुतिमें, वेदोंमें विशेष करके जो श्रुत है वह है आत्मा-ब्रह्म । दशमुखकी पटरानी 'मय' दानवकी 'तनया' है। मय अत्यन्त मायावी दानव है। 'तन विस्तारे' । उसकी तनया मयदानवके गुणदोषोंका विस्तार ही करेगी । दशमुख कुमतिवाला जीव है।

बुद्धिकी मुख्य तीन वृत्तियाँ होती हैं । वही कौसल्याजी, सुमित्राजी और केकयीजी हैं । कौसल्याजी = शुद्ध सात्विक बुद्धि वृत्ति । मानसमें कौसल्याजीका चरित्र ऐसा ही चित्रित किया गया है। सुमित्राजी राजस सात्विक हैं, यह भी मानसमें अच्छी तरह पाया जाता है। केकयी तामस सात्विक हैं, मानसमें यह भी स्पष्ट दिखाया है । बुद्धि वृत्तिके भेद अनेक हैं, अतः दशरथजीकी तथा दशमुखकी भी अनेक भार्याएँ हैं। मानसमें संख्याका उल्लेख नहीं है । वेदान्तसार अभंगरामायण (मराठी-प्रज्ञानानन्दकृत) में समग्र रामायण अध्यात्मपर अर्थसे भरा हुआ बताया है । [आत्मरामायणमें भी सब रामायण अध्यात्मपरक है। वर्षों हुईं जब मैंने उसे कहीं देखा था । मा० सं०]

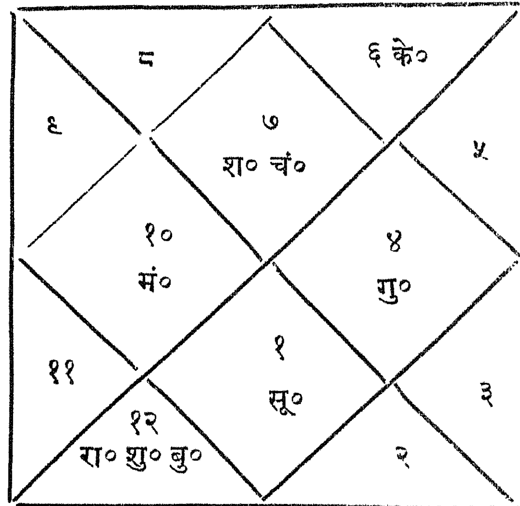
'रावन नाम' इति । दशाननने जब कैलास उठाया तब भवानीजीको डरी हुई देख शिवजीने अपने पदाङ्गुष्ठसे पर्वतको दबाया जिससे दशाननके बीसों हाथ पर्वतके नीचे दब गए और वह जोर-जोरसे रोने लगा, तबसे उसका नाम रावण हुआ। दशमुख नाम रूपानुसार रक्खा गया और रावण नाम उसके प्रतापानुसार है । उपनिषद्में रावण नामके अर्थ इस प्रकार मिलते हैं—'रामपत्नी वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे । १७ । स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावण'। ऊपर दिया हुआ इतिहास 'रावात् च रावणः' अर्थानुसार 'श्रीगुरुचरित्र' ग्रन्थमें और पुराणोंमें उपलब्ध है। वाल्मी० रा० उत्तरकांड सर्ग १६ 'रावण-नाम-प्राप्ति' है। ऊपर दी हुई कथा ही विस्तारसे है। दशानन एकसहस्र वर्ष रोता रहा था, इत्यादि। यथा 'सम्वत्सर सहस्रं तु रुदतो रक्षसो गतम् । ततः प्रीतो महादेवः शैलाग्रे विष्ठितः प्रभुः । ३६ । मुक्त्वा चास्य भुजान राम प्राह वाक्यं दशाननम् । प्रीतोऽस्मि तव वीर्यस्य शौण्डीर्याच्च दशानन । शैलाक्रान्तेन यो मुक्तस्त्वया रावः सुदारुणः । यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् । ३८ । तस्मात्त्व रावणो नाम नाम्ना राजन् भविष्यसि । देवता मानुषा यक्षा ये चान्ये जगतीतले । ३६ । एवं त्वामभिधास्यन्ति रावणं लोकरावणम् ।…'

इससे सिद्ध हुआ कि रावण जन्मनाम नहीं है । जन्मनाम दशानन ही था ।

टिप्पणी—५ (क) राजा उसका भाई और मंत्री तीनों राक्षसयोनिमें जाकर भाई हुए। इन तीनों भाइयोंके जन्म, नाम और गुण कहे। 'भएउ निसाचर' यह जन्म, 'रावन' नाम, 'बीर बरिबंडा' अर्थात् रावण वीरोंमें श्रेष्ठ था यह गुण कहा। 'भयउ सो कुंभकरन' यह जन्म, कुंभकर्ण नाम और 'बलधामा' अर्थात् कुंभकर्ण बलवान था यह गुण कहा। 'भयउ बिमात्र बंधु' यह जन्म, 'नाम बिभीषन' और 'विष्नु भगत बिज्ञाननिधाना' यह गुण कहे। (ख) तीनों भाइयोंके जन्म क्रमसे कहे । प्रथम रावण, तब कुंभकर्ण, तब बिभीषण। इसी क्रमसे छोटाई बड़ाई जना दी । रावण ज्येष्ठ, उससे छोटा कुंभकर्ण और कुंभकर्णसे छोटा

विभीषण है। (ग) धर्मरुचि विभीषण हुआ। धर्मरुचिमें कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों थे। 'नृप हितकारक सचिव सयाना' के 'सयान' शब्दसे 'ज्ञानी' कहा। ☞'सचिव धर्मरुचि' के 'धर्म-रुचि' से कर्म-काण्डी और 'हरि पद प्रीती' से उपासक सूचित किया। वैसे ही राक्षसयोनि में विभीषण होनेपर भी उसमें ये तीनों गुण हुए। ('धर्मरुचि जासू' देहलीदीपक है। इस तरह) 'धर्म' से कर्म, 'विज्ञान' से ज्ञान और 'विष्णुभक्त' से उपासना कही। [मंत्रीका जैसा नाम था वैसा ही उसमें गुण भी था। निशाचर होनेपर भी वह हरिभक्त हुआ। भक्तिका संस्कार नहीं मिटता, यथा 'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर। ७।७६।' (प्र० सं०)।]

वि० त्रि० ने दक्षिण भारतके एक महाविद्वान् वी० सूर्य्यनारायणरावके रायल हारोस्कोप नामक पुस्तकसे रावणकी यह कुण्डली उद्धृत की है—



रावणजन्मके समयका निर्णय उत्तरकांड ६४ (८) में लिखा गया है।

रहे जे सुत सेवक नृप केरे। भए निसाचर घोर घनेरे ॥६॥
काम-रूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयंकर बिगत बिबेका ॥७॥
कृपा-रहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाइ बिस्व परितापी ॥८॥

दोहा—उपजे जदपि पुलस्त्य कुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर स्राप बस भए सकल अघरूप ॥१७६॥

शब्दार्थ—कामरूप = इच्छारूप धारण करनेवाले। जब जैसी कामना हो वैसा रूप धर लेनेवाले। जिनस (जिन्स, फा०) = किस्म, प्रकार, जाति। बिगत = विशेष गया हुआ; रहित। परितापी = दुःख देनेवाले। अमल = निर्मल। बेदाग।

अर्थ—राजाके जो पुत्र और सेवक थे वे (ही) बहुतसे भयंकर राक्षस हुए ॥ ६ ॥ वे सब कामरूप, खल, अनेक प्रकार और जातिके, कुटिल, भयंकर, अविवेकी, निर्दयी, हिंसा करनेवाले, पापी और संसारभर-को संताप देनेवाले हुए। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ७-८। यद्यपि वे पवित्र, निर्मल और अनुपम पुलस्त्यकुलमें उत्पन्न हुए तथापि ब्राह्मणोंके शापवश वे सब पापरूप हुए।

टिप्पणी—१ 'रहे जे सुत सेवक···' इति। (क) राजाका हाल कहकर अब परिवारका हाल कहते हैं। 'रहे जे सुत···'-का भाव कि राजाके संबंधसे ये सब भी राक्षस हुए। इसीसे सर्वत्र राजा का संबंध दिखाते जाते हैं। यथा 'भूप अनुज अरिमर्दन नामा।', 'सचिव जो रहा···', 'रहे जे सुत सेवक नृप केरे'। (ख) 'सुत सेवक' कहने का भाव कि जो पुत्र थे वे पुत्र हुए और जो सेवक थे वे सेवक हुए। 'सेवक' की गणना परिवारमें है। यथा 'अतिहि अयाने उपखानो नहिं बूझैं लोग, साहही के गोत गोत होत है गुलाम को। क० ७।१०७।' अपना गोतिया अपना परिवार कहा जाता है। [श्रीयंत्रराज पूजनमें श्रीविभीषण, अंगद, हनुमान्जी आदि सेवक होते हुए भी परिवार माने गए हैं। वैसे ही राजा के सेवक उसके परिवार हैं। (रा० प्र०)] (ग)—'घोर'—ब्राह्मणका शाप अति घोर है, यथा—'प्रभु महिदेव श्राप अति घोरा।'; इसीसे ये सब 'घोर' हुए। 'भए निसाचर घोर' कहकर जनाया कि राक्षस जन्म लेते ही घोर हुए, यथा 'देखत भीम रूप सब पापी।' 'घनेरे' से पाया गया कि भानुप्रतापके पुत्र और सेवक बहुत थे; यथा—'सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा।'—ये सब राक्षस हुए। इसीसे 'घनेरे' कहा।

२ (क) 'कामरूप···'—कामरूप हैं अर्थात् अनेक रूप धारण करते हैं। खल हैं अतः जगत्में उपद्रव करते हैं। यथा 'करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया।' 'जिनस अनेका' अर्थात् अनेक प्रकारके हैं। किसीका मुख हाथीका सा, किसीका व्याघ्रका, किसीका वृषभका, किसीका शूकर गर्दभ श्वान आदिका सा है। यथा 'खर स्वान सुअर सृकाल मुख···। बहु जिनस प्रेत पिसाच···बरनत नहिं बनै। ६३।' पुनः 'कामरूप' से छली जनाया। भाव कि अनेक रूप धरकर छल करते हैं। कामरूप होनेसे विश्वको सताना उनके लिये सरल हो गया। 'खल' कहकर खलोंके अनेक अवगुणोंसे युक्त जनाया। यथा 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी।··· । ७।३६-४०।', 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएं··· ।४।' राजाके सुत, सेवक, मंत्री, सेनापति और सेना इत्यादि अनेक प्रकारके सेवक थे, इसीसे अनेक प्रकारके राक्षस हुए, अतः 'जिनस अनेका' कहा। (ख) 'कुटिल भयंकर···'—स्वभावसे कुटिल हैं और शरीर भयंकर है; यथा 'देखत भीमरूप सब पापी।' इससे जनाया कि भीतर बाहर दोनोंसे खराब हैं। 'बिगत बिबेक' अर्थात् इनमें सत्व और रजो गुणका लेश भी नहीं, केवल तमोगुण है। पुनः भाव कि मन कुटिल है, तन (आकृति) भयंकर है और अज्ञानी हैं। (ग) ☞ जैसे रावण का जन्म कहकर उसके गुण कहे, वैसे ही निशाचरोंका जन्म कहकर उनके लक्षण कहे। कामरूप आदि सब उनके लक्षण हैं।

३ "कृपारहित हिंसक सब···" इति। (क) 'कृपारहित'—भाव कि जहाँ कृपा करनेका हेतु उपस्थित है, कृपा अवश्य करनी चाहिए, वहाँ भी कृपा नहीं करते। यथा—'सपनेहु जिन्हके धरम न दाया।' 'हिंसक सब पापी' का भाव कि जिसने हिंसा की वह सब पाप कर चुका। यथा 'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई। ७४१। हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवनि मिति। १८३।' (ख) सब अवगुण क्रमसे कहे। कृपारहित हैं अतः हिंसक हैं, निर्दयी ही हिंसा करते हैं। हिंसक हैं इसीसे पापी हैं क्योंकि हिंसाके समान पाप नहीं। पापी हैं, इसीसे विश्वपरितापी हैं। विश्वपरितापीसे जनाया कि विश्वमें उनसे कोई जीत नहीं सकता, यथा 'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।' इन विशेषणोंसे जनाया कि विश्वको परिताप देनेमें ये; आनन्दानुभव करते थे। जो किसी एकको दुःख दे उसका नाम न लेना चाहिए और ये तो विश्वपरितापी हैं इसीसे इनके नाम नहीं लेते, इनका वर्णन नहीं करते। विश्वको दुःख देना महान् पाप है, यथा 'विश्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा।' पापी पृथ्वीका भार होते हैं। (ग) 'बरनि न जाय' क्योंकि पापीका वर्णन न करना चाहिए। यथा 'एहि लागि तुलसी दास इनकी कथा कछुयक है कही।'

४ 'उपजे जदपि पुलस्त्य कुल···' इति। (क) 'जदपि' का भाव कि ऐसे कुलमें जन्म होनेसे उपर्युक्त अवगुण न होने चाहिए थे। पुलस्त्यकुल पावन अर्थात् शुद्ध है, पवित्र है। अमल है अर्थात् कुलमें कोई

दोष नहीं है। अनूप है अर्थात् इस कुलकी कोई उपमा नहीं है। पावनादि क्रमसे कहे। पावन है अतः निर्मल है, और निर्मल है, इसीसे अनूप है। 'तदपि' का भाव कि कुलीन अधम काम नहीं करते पर ये पावन कुलमें उत्पन्न होकर अपावन हुए, निर्मल कुलमें मलिन हुए और अनुपम कुलमें तुच्छ हुए। उत्तम कुलमें जन्म लेनेपर भी 'अघरूप' हुए। वंशका प्रभाव प्रायः अवश्य पड़ता है पर इनमें वंशका गुण न आया। ['पावन अमल अनूप', यथा 'रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका। तेहि ससिमहँ जनि होहु कलंका। ५।२३।' भाव कि ये सब इस कुलमें कलंकरूप हुए।] (ख) 'महिसुर-श्राप बस'—यह उत्तम कुलमें होनेपर भी अघरूप होनेका हेतु बताया। इससे जनाया कि विप्रशाप अधिक प्रबल है, इसीसे विप्रशापका प्रभाव पड़ा, कुलका प्रभाव न पड़ा। विप्रशापके कारण कुलका प्रभाव न पड़ा। 'अघरूप' का भाव कि कुल पावन आदि है, पर रावणादि पापी हैं, इनके सब काम कुलधर्मके विपरीत हैं। 'अघरूप' कहनेसे पावन, अमल, अनूप तीनोंके विपरीत अपावन, मलिन और तुच्छ विशेषण इनमें घटित हुए। पुलस्त्य मुनिके कुलमें और हों राक्षस! यहाँ 'द्वितीय विषम अलंकार' है।

कीन्ह बिबिध तप तीनिहुं भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ॥१॥
गएउ निकट तप देखि बिधाता। मांगहु बर प्रसन्न मैं ताता ॥२॥
करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ॥३॥
हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥४॥

शब्दार्थ—उग्र = उत्कृष्ट, प्रचंड, भयंकर, कठिन। बारे = छोड़कर, बचाकर, सिवा। (यह शब्द सं० 'वारण निवारण' निषेधसे बना जान पड़ता है)।

अर्थ—तीनों भाइयोंने अनेक तथा अनेक प्रकारके परम उग्र तप किये। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥ तपको देखकर ब्रह्माजी उनके पास गये। (और बोले—) हे तात! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो ॥ २ ॥ रावणने विनतीकर चरण पकड़कर (ये) वचन कहे—हे जगदीश्वर! सुनिए। हम वानर और मनुष्य (इन) दो जातियोंको छोड़कर किसीके मारे न मरें ॥ ३, ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिबिध तप' यह कि उल्टे लटककर झूले, पंचाग्नि तापे, जल वृष्टिका दुःख सहा, जलशयन किया, उपवास किये, अंग काटकर हवन किये, इत्यादि। (ख) पुनः भाव कि तीनमेंसे किसीने किसी प्रकारका किया, किसीने किसी प्रकारका किया इससे 'बिबिध' तप कहा। 'कीन्हु···तीनिहु भाई' से सूचित हुआ कि तीनों भाइयोंने एक साथ तप करना प्रारंभ किया। इससे यह भी पाया गया कि तीनों भाई एक संग कुछ ही दिनके आगे पीछे पैदा हुए, तीनोंमें थोड़े ही दिनोंकी छोटाई बड़ाई है। पुनः, इससे यह जनाया कि जो जो तप करते थे वह तीनों साथ ही साथ करते थे, इससे प्रसन्न होकर तीनों भाइयोंको ब्रह्माने साथ ही वर दिया। तपका वर्णन नहीं हो सकता इससे वर्णन न किया। 'परम उग्र' का भाव कि अन्य तपस्वियोंका तप उग्र होता था और इनका 'परम उग्र' है। क्योंकि यह राक्षसतप है। (मनुष्यकी अपेक्षा राक्षस क्लेश सहनेमें, तितिक्षामें, अत्यन्त अधिक दृढ़ एवं कठिन होते हैं, इसीसे भयानक कष्ट उन्होंने उठाए, इतना कि कहा नहीं जाता)।

नोट—१ "कीन्ह बिबिध तप" इति। उग्रतप क्यों किया गया? पद्मपुराणमें अगस्त्यजीने श्रीरामजीसे कहा है कि एक बार कुबेरजी विमानपर अपने पिताके पास दर्शन करने गए और चरणोंपर पड़कर उनकी स्तुति करके अपने भवनको लौट गये। रावणने देखकर मातासे पूछा कि ये कौन हैं जो मेरे पिताके चरणोंकी सेवा करके लौट गए हैं। इन्हें किस तपस्यासे ऐसा विमान मिला है? रावणके वचन सुनकर माताको रोष आ गया और वह अनमनी होकर बोली—"अरे! मेरी बात सुन। इसमें शिक्षा ही शिक्षा भरी

हुई है। जिसके विषयमें तू पूछ रहा है वह मेरी सौतके कोखका रत्न कुबेर है जिसने अपने जन्मसे अपनी माताके विमल वंशको अधिक उज्ज्वल बना दिया है। परन्तु तू तो मेरे गर्भका कीड़ा है, केवल अपना पेट भरनेमें ही लगा हुआ है। कुबेरने तपस्यासे भगवान् शंकरको संतुष्ट करके लंकाका निवास, मनके समान वेगवाला विमान तथा राज्य और संपत्तियाँ प्राप्त की हैं। संसारमें वही माता धन्य, सौभाग्यवती तथा महान् अभ्युदयसे सुशोभित होनेवाली है, जिसके पुत्रने अपने गुणोंसे महापुरुषोंका पद प्राप्त कर लिया हो।" माताके क्रोधपूर्ण वचनोंने रावणको उग्र तपके लिये उत्तेजित किया। वह बोला—"माँ! कीड़ेकी-सी हस्ती रखनेवाला वह कुबेर क्या चीज है? उसकी थोड़ी सी तपस्या किस गिनतीमें है? बहुत थोड़े सेवकोंवाला उसका राज्य क्या है? यदि मैं अन्न, जल, निद्रा और क्रीड़ाका सर्वथा परित्याग करके ब्रह्माजीको संतुष्ट करनेवाली दुष्कर तपस्याके द्वारा समस्त लोकोंको अपने अधीन न कर लूँ तो मुझे पितृलोकके विनाशका पाप लगे।" रावणका निश्चय जानकर उसके दोनों भाइयोंने भी तपका निश्चय किया।

वाल्मीकीयकी कैकसीने महात्मा कुबेरको पिता विश्रवाके दर्शनोंको जाते हुए देख दशग्रीवकी दृष्टि उनकी ओर आकर्षित करते हुए उससे कहा है—'हे पुत्र! अपने भाई वैश्रवणको देखो, वह कैसा तेजस्वी है! तुम उसके भाई हो किन्तु देखो तुममें और उसमें कितना अंतर है। तू भी उन्हींके समान होनेका प्रयत्न कर।' यथा "पुत्र वैश्रवणं पश्य भ्रातरं तेजसावृतम्। भ्रातृभावे समे चापि पश्यात्मानं त्वमीदृशम्। ७।९।४२। "त्वमपि मे पुत्र भव वैश्रवणोपमः। ४३।" रावणने ईर्ष्यायुक्त हो उसी समय उनके समान या उनसे अधिक होनेकी प्रतिज्ञा की। अ० रा० में भी ऐसा ही है।

२ यह तप गोकर्णक्षेत्रमें किया गया। यथा "आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थं गोकर्णस्याश्रमं शुभम्। वाल्मी० ७।९।४७।"

३ "बिबिध तप" इति। महाभारतमें जिन रावणादिकी कथा है उनका तप इस प्रकारका था—रावण एक सहस्र वर्ष वायु भक्षण करके एक पैरपर खड़ा होकर पंचाग्नि सेवनपूर्वक तप करता रहा। इसके पश्चात् उसने अपना सिर काटकर हवन किया। यथा "अतिष्ठदेकपादेन सहस्रं परिवत्सरान्। वायुभक्षो दशग्रीवः पंचाग्निः सुसमाहितः। १९। पूर्णवर्षसहस्रे तु शिरश्छित्वा दशाननः। जुहोत्यग्नौ दुराधर्षस्तेनाऽतुष्यज्जगत्प्रभुः। २०।" आगे जो ब्रह्माजीने वरदान दिया है उससे अनुमान होता है कि प्रत्येक सहस्र वर्षके अन्तमें वह एक शिर काटकर हवन कर देता था। यथा 'यद्यदग्नौ हुतं सर्वं शिरस्ते महदीप्सया। तथैव तानि ते देहे भविष्यन्ति यथेप्सया।३०।' अर्थात् जो जो सिर तुमने अग्निमें हवन किये हैं वे सब तुम्हारी इच्छानुसार फिरसे हो जायँगे। वाल्मीकीय रा० में नौबार सिरोंका हवन करना स्पष्ट लिखा है। दशवीं बार जब वह दशवाँ शिर काटनेको हुआ तब ब्रह्माजीका आगमन हुआ। यथा "दशवर्षसहस्राणि निराहारो दशाननः। पूर्णे वर्षसहस्रे तु शिरश्चाग्नौ जुहाव सः। १०। एवं वर्षसहस्राणि नव तस्यातिचक्रमुः। शिरांसि नव चाप्यस्य प्रविष्टानि हुताशनम्। ११। अथ वर्षसहस्रे तु दशमे दशमं शिरः। छेत्तुकामे दशग्रीवे प्राप्तस्तत्र पितामहः। १२। वाल्मी० ७।१०।" अध्यात्म रा० में भी लगभग यही श्लोक हैं। पद्म पु० के रावणने सूर्यकी ओर दृष्टि लगाए एक पैरसे खड़े होकर दस हजार वर्ष तक तप किया।

वाल्मीकीयमें कुम्भकर्णका तप इस प्रकार है कि धर्म और सन्मार्गमें स्थित होकर ग्रीष्ममें पंचाग्नि सेवन करता था, वर्षाकालमें वीरासनसे बैठकर वर्षा सहन करता था और जाड़ेमें जलमें बैठता था; इस प्रकार उसने दस हजार वर्ष तप किया। और महाभारतके कुंभकर्णने उपवासकर पृथ्वीपर 'अधःशायी' होकर तप किया।

वाल्मीकीयके विभीषणने धर्मपूर्वक पवित्रतासे एक पैरपर खड़े होकर पाँच हजार वर्ष नियम किया। इस नियमको समाप्त करके तब उद्‌र्ध्वबाहु होकर सिर ऊपर किये हुये सूर्यपर दृष्टि जमाए हुए पाँचहजार

वर्षतक वेदपाठ करते रहे। इस तरह दसहजार वर्षका तप पूरा किया। महाभारतके विभीषणजी प्रथम एक सूखा पत्ता खाकर जप करते रहे। फिर उपवास करते हुए जपपरायण रहे। (वाल्मी० उ० सर्ग १०; महाभारत वन० अ० २७५)।

भिन्नभिन्न ग्रंथोंमें भिन्नभिन्न प्रकारका तप लिखा है। इसीसे कविने 'बिबिध तप' कहकर छोड़ दिया।

टिप्पणी—२ 'गयउ निकट···' इति। (क) 'गयउ निकट'—भाव कि औरोंको प्रायः आकाशवाणी द्वारा वर देते हैं पर यहाँ निकट आए। इसका कारण आगे कहते हैं कि इनका भारी तप देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, इसीसे प्रत्यक्ष आकर दर्शन दिये। यथा "बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा।", वैसे ही इनका अपार तप देखा तब आए। (ख) 'तप देखि'—अर्थात् जब तीनों भाई अंग काट काटकर हवन करने लगे तब ब्रह्मा निकट आए। [कुंभकर्ण और विभीषणका भी अपने अपने अंग काटकर हवन करनेका प्रमाण हमें नहीं मिला। विभीषणजी तो ऐसा तामसिक तप कभी न करेंगे। 'माँगहु बर' क्योंकि देवताओंकी प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जाती]। प्रसन्न हैं, इसीसे वात्सल्यभाव से 'तात' संबोधन किया। पुनः रावण ब्रह्माका प्रपौत्र है, इससे 'तात' कहा। क्रमसे वर देते हैं। रावण ज्येष्ठ है; इसीसे प्रथम उसके पास गए।

३ 'करि बिनती पद गहि···' इति। (क) रावण बहुत बड़ा वर माँगना चाहता है, इसीसे उसकी प्राप्तिके लिये उसने पहले विनय की और चरणोंपर गिरा। तब वर माँगा। यथा 'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी।२।२६।' विनती यह की कि 'आप हमपर प्रसन्न क्यों न हों, आपका प्रसन्न होना यथार्थ ही है। क्योंकि आप हमारे प्रपितामह ही हैं, इत्यादि।' यह कहकर चरण पकड़ लिये कि हम आपके चरणों की शरण हैं। पुनः, (ख) 'पद गहि दससीसा' से जनाया कि बीसों हाथों से चरण पकड़े, और दशो मस्तक चरणोंपर रख दिये। [तथा दशों मुखोंसे विनती भी की थी। परन्तु यदि रावणने नौ शिर काटकर हवन कर दिये हैं तब ब्रह्माजी वर देने आए जैसा वाल्मीकीय, महाभारत आदिका मत है तब तो यह भाव शिथिल हो जाता है।] (ग) 'सुनहु जगदीसा' संबोधन का भाव कि आप जगत्के स्वामी हैं, आपकी सृष्टिमें हम किसीके मारे न मरें। यथा 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्ती नर नारी।१८२।१२।' पुनः भाव कि जितने भी जगदीश हैं, ब्रह्मा विष्णु महेश और लोकपालादि, उनके मारे भी हम न मरें।

४ "हम काहू के मरहिं न मारे···" इति। (क) हम बहुवचन कहनेका भाव कि हम तीनों भाई किसीके मारे न मरें। किसीके मारे न मरें, इस कथनसे सूचित हुआ कि रावणके हृदयमें तीनों लोकोंके विजयकी इच्छा है। (ख) 'बानर मनुज जाति दुइ बारे' इति। इन दो को छोड़नेका भाव कि ये दोनों राक्षसोंके भक्ष्य हैं, यथा 'कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा।६।८।' अथवा, ब्रह्मा और शिवजीने रावणकी वाणीके साथ छल किया। यथा 'रावन कुंभकरन बर मांगत सिव बिरंचि बाचा छले। गी० ५।४१।' (नहीं तो उसका काम तो 'हम काहू के मरहिं न मारे' से चल जाता। आगे कुछ कहनेकी आवश्यकता न थी।) जब छल हुआ तब रावणने मृत्युकी रास्ता माँगी। प्रथम वाक्यमें मृत्युके लिये रास्ता न थी।

नोट—४ 'बानर मनुज जाति दुइ बारे' इति। महाभारतके रावणको जब ब्रह्मा वर देने गए तो उन्होंने प्रथम ही यह कहा कि अमरत्वको छोड़कर जो वर चाहो माँग लो। यथा "प्रीतोऽस्मि वो निवर्तध्वं वरान् वृणुत पुत्रकः। यद्यदिष्टमृते त्वेकममरत्वं तथास्तु तत्॥ २२॥ अ० २७५।" तब उसने देव गंधर्वादिके नाम गिनाकर उनसे पराजय न होना माँगा। तब ब्रह्माने कहा जिनसे तुमने अभयत्व माँगा उनसे अभय रहोगे। और अपनी तरफ़से कहा कि मनुष्यको छोड़कर तुम सबसे अभय रहोगे, ऐसा ही हमने विधान किया है।

रावण इस वरसे संतुष्ट हो गया क्योंकि उसने सोचा कि मनुष्य तो मेरे आहार हैं, वे मेरा क्या कर सकते हैं। विष्णु और इन्द्रादि देवता ही जब मुझे नहीं मार सकते तब मनुष्य क्या है ?

वाल्मीकीयमें ब्रह्माने वर माँगनेको कहा तब रावणने अमरत्व माँगा। इसपर ब्रह्माने कहा कि सबसे अमरत्व नहीं मिल सकता। तुम अन्य वर माँगो। यथा "नास्ति सर्वामरत्वं ते वरमन्यं वृणीष्व मे। ७।१०।१७।" तब उन्होंने सुपर्ण, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस तथा देवताओंसे अमरत्व माँगा और कहा कि मनुष्यादि अन्य प्राणियोंसे हमें चिन्ता नहीं है। वे तो तृणके समान हैं (यथा "सुपर्णनागयक्षाणां दैत्यदानवरक्षसाम्। अवध्योऽहं प्रजाध्यक्ष देवतानांच शाश्वत ॥ १६ ॥ नहि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित। तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः। ७।१०। २०।"

अ० रा० में ब्रह्माने वर माँगनेको कहा जैसा मानसमें है। रावणने 'सुपर्णनाग…' से अमरत्व माँगा और मनुष्यको तृणवत् मानकर स्वयं छोड़ दिया। वाल्मीकीयमें 'मानुषादयः' है और अ० रा० में —'तृणभूताय मानुषाः' है। 'मानुषादयः' में वानर और मनुष्य दोनों आ जाते हैं जिन्हें मानसकल्पके रावणने तृणवत् जानकर छोड़ दिया। ☞ श्रीमद्गोस्वामीजीके अक्षरोंकी स्थिति बड़ी विलक्षण है। उनके रावणने भी प्रथम यही कहा कि 'हम काहू के मरहिं न मारे।' इतना एक चरणमें लिखकर तब दूसरे चरणमें 'वानर मनुज जाति दुइ बारे' कहा। इस तरह वाल्मीकीयका भाव भी इसमें आ जाता है। अर्थात् प्रथम उसने अमरत्व माँगा। यह वर मिलता न देख उसने दो को वरा दिया।

५—यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि वानरसे तो वह मरा नहीं इनको क्यों छोड़ा ? समाधान—(क) तुच्छ जान दो को छोड़ दिया, यह आवश्यक नहीं था कि जिसके हाथ मृत्यु हो उसीको छोड़ता। पुनः, संग्राम में मनुष्य और वानर दोनों रहे। उसका तात्पर्य यही था कि इनको छोड़ किसीके हाथ न मरूँ, इनमेंसे कोई मार सके तो मार सके। रावण तो जानता था कि ब्रह्माने मेरी मृत्यु मनुष्यसे लिखी है, यथा 'नरके कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची। ६।२६।' पर इन्हें तुच्छ समझ विश्वास न करता था कि इनमेंसे किसीसे भी मेरी मृत्यु होगी। इससे दोनोंको बरा दिया। पुनः, (ख) इसी ग्रंथमें यह भी प्रमाण है कि उसने अपनी मृत्यु 'मनुज' से माँगी, यथा 'रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साँचा। ४९।१।' इससे यह भाव लोग कहते हैं कि अपने लिए मनुज और निशाचरोंके लिए वानर कहा। अतएव 'हम' बहुवचन कहा जिससे वर सार्थक हो जाता है। (यहाँ 'मनुज' शब्द श्लिष्ट है। 'मनुष्य' अर्थके अतिरिक्त दूसरा अर्थ 'मनु-प्रार्थित तथा उन्हींके द्वारा जायमान होनेवाले' यह भी देता है। अर्थात् मेरी मृत्यु उनके द्वारा हो जिन्होंने मनुको वर दिया था कि हम तुम्हारे पुत्र होंगे, मनुष्य रूप धारण करेंगे।)

एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा ॥५॥
पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गएऊ। तेहि बिलोकि मन बिसमय भएऊ ॥६॥
जौं एहिं खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू ॥७॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी। मांगेसि नींद मास षट केरी ॥८॥
दोहा—गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर माँगु।
तेहि मांगेउ भगवंत पद कमल अमल अनुरागु* ॥१७७॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं—) मैंने और ब्रह्माने मिलकर उसको वर दिया—'ऐसा ही हो। तुमने बड़ा तप किया है' ॥५॥ फिर प्रभु (ब्रह्माजी) कुंभकर्णके पास गए। उसको देखकर (उनके) मनमें बड़ा

* अनुराग—१६६१।

विस्मय हुआ । जो यह खल नित्य आहार करेगा तो सारा संसार ही उजड़ जायगा ॥ ७ ॥ (ब्रह्माने यह सोचकर) सरस्वतीको प्रेरित कर उसकी बुद्धि फेर दी (जिससे उसने) छः महीनेकी नींद माँगी ॥८॥ तत्पश्चात् वे विभीषणजीके पास गए और कहा—पुत्र ! वर माँगो । उसने भगवान्‌के चरण कमलोंमें विशुद्ध अनुराग माँगा ॥१७७॥

टिप्पणी—१ 'एवमस्तु तुम्ह···' इति । (क) 'तुम्ह बड़ तप कीन्हा' कहकर 'एवमस्तु' कहनेका भाव कि यह वरदान बहुत कठिन है, देने योग्य नहीं है, हम न देते परंतु तुमने बड़ा तप किया है इससे तुमको देते हैं । (ख) 'मैं ब्रह्मा मिलि···' इति । मिलकर वर देनेका भाव कि उसने तप करके दोनों देवताओंको संतुष्ट किया, इसीसे दोनोंने वर दिया । इसने अपने मस्तक काट-काटकर शिवजीको अर्पण किये थे । यथा 'सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाए । एक एक के कोटिन्ह पाए । ६।६३ ।", "जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ । ५।४९ ।", इसीसे ब्रह्माके साथ शिवजीने भी वर दिया । कुंभकर्ण और विभीषणको केवल ब्रह्माने वर दिये । यदि तीनोंको दोनोंने वर दिया होता तो 'मैं ब्रह्मा मिलि' यह वाक्य बीचमें न कहते तीनों भाइयोंको वर देकर तब यह वाक्य लिखते । पुनः 'तेहि' एकवचन है इससे भी केवल रावणको दोनोंका वर देना सिद्ध होता है । अन्यथा 'तिन्हहिं' शब्द देते । पुनः, मिलकर वर देनेका भाव कि यदि दोनों साथसाथ वर न देते तो वह तपसे निवृत्त न होता । एकसे वर पाकर फिर दूसरेसे वर प्राप्त करनेके लिए तप करता रहता । अनर्थके दो वरदान देने पड़ते । इसीसे एक ही वरदानमें दोनों शामिल हो गए । यह चतुरता है । (ग) ब्रह्माजी वर देने आए थे, यथा 'गयउ निकट तप देखि बिधाता ।' और वरदान देकर उनका जाना भी कहा है, यथा 'तिन्हहिं देइ बर ब्रह्म सिधाए । १७८।१ ।' शिवजी कहाँसे आ गए । वे अपना होना स्वयं कह रहे हैं । उनका न तो कहीं आना लिखा गया न जाना ? वे कहीं आए गये नहीं (रावण आदि शिवजीके स्थानमें ही तप कर रहे थे उसने उनको ही तो सिर काट काटकर चढ़ाए थे । यथा 'सिर सरोज निज करन्हि उतारी । पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी । ६।२५ ।' 'हुने अनल महँ बार बहु हरषि साखि गौरीस । ६।२८।' वहाँ शिवजीकी मूर्ति होगी । ब्रह्माजी वर देने लगे तब वे भी प्रगट हो गए) । इसीसे उनका आना न लिखा केवल वर देना लिखा । [अथवा, 'विधाता' शब्दसे दोनोंका बोध होता है । क्योंकि पुराणोंमें शिवजीको भी धारण पोषण करनेवाला कहा है । (रा० प्र०) । इस तरह 'गएउ निकट तप देखि बिधाता' में दोनोंका आगमन जना दिया । 'बिधाता' शब्द एकवचन है उसीके अनुसार 'गएउ' क्रिया दी गई । वाल्मीकीय, महाभारत, पद्मपुराण और अध्यात्ममें केवल ब्रह्माका वर देना कहा गया है । वि० त्रि० कहते हैं कि 'मैं' प्रथम कहनेसे 'एवमस्तु' कहनेमें शिवजी आगे दिखाई पड़े ।

२—'पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गएऊ ।···' इति । (क) 'पुनि' का भाव कि क्रमसे वरदान दिये । प्रथम रावणको तब उससे छोटे कुंभकर्णको तब उससे छोटे बिभीषणको । 'प्रभु'—कुंभकर्णकी मति फेर देंगे, कुछ का कुछ कहला दिया ऐसे समर्थ हैं । इसीसे 'प्रभु' कहा—'कर्त्तुमन्यथाकर्त्तुंसमर्थ प्रभुः' । 'कुंभकरन पहिं गएऊ'—('प्रभु' 'गएऊ' एकवचन शब्दोंसे जनाया कि इसे केवल ब्रह्माजीने वर दिया । शिवजी रावणको वर देकर वहीं अन्तर्धान हो गए) । पुनः, 'गएऊ' से सूचित किया कि तीनों भाई कुछ कुछ दूरी पर अलग-अलग बैठकर तप कर रहे थे, एक जगह न थे । (ख) 'तेहि बिलोकि···' से सूचित हुआ कि इतना भारी स्वरूप है कि चाहे तो समस्त सृष्टिको खा डाले । पुनः, कुंभकर्ण जन्म होते ही कुछ दिन बाद तप करने लगा । हजारों वर्ष बीत गए इसने कुछ भी भोजन नहीं किया, अब भोजन करेगा । इसीसे ब्रह्माजीको संदेह हुआ जैसा आगे लिखते हैं—'जौं एहि खल०' ।

नोट १ "तेहि बिलोकि मन बिसमय भएऊ" इति । वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब ब्रह्माजी कुंभकर्णको वर देनेको हुए तब उनके साथके देवताओंने उनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि आप इसे वर न

दें। क्योंकि विना वर पाए ही यह तीनों लोकोंको सताता रहा है। देखिए, इसने नन्दनवनमें सात अप्सराओं और इन्द्रके दश सेवकोंको खा डाला। ऋषियों और मनुष्योंकी तो गिनती ही नहीं कि कितने खा डाले। वर पानेपर तो यह तीनों लोकोंको खा डालेगा। यथा "नन्दनेऽप्सरसः सप्त महेन्द्रानुचरा दश। ३७। अनेन भक्षिता ब्रह्मन्नृषयो मानुषास्तथा। अलब्धवरपूर्वेण यत्कृतं राक्षसेन तु। ३८। तदेष वरलब्धःस्याद्भक्षयेद्भुवनत्रयम्।" आप इसे वरके बहाने अज्ञान दीजिए। देवताओंकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माने सरस्वतीका स्मरण किया। और उनको आज्ञा दी कि कुंभकर्णकी जिह्वापर बैठकर इससे कहलाओ। यथा 'वाणि त्वं राक्षसेन्द्रास्ये भव यादेवतेप्सिता। ७।१०।४३।' सरस्वती मुखमें बैठ गई।

अध्यात्म रा० में सरस्वतीद्वारा मोहित कुंभकर्णने वर माँगा कि मैं छः मास सोऊँ और एक दिन भोजन करूँ।—'स्वप्स्यामि देव षण्मासान्दिनमेकं तु भोजनम्। ७।२।२१।'

मानसकल्पके कुंभकर्णको तो देखकर स्वयं ब्रह्माजी विस्मित हो गए, इसीसे उन्होंने स्वयं सरस्वतीको प्रेरित किया।

२—प्र० सं० में हमने लिखा था कि "कुंभकर्ण पर्वताकार विशाल था। पैदा होते ही इसने एक हजार प्राणियोंको खा डाला। इन्द्रने वज्र चलाया वह भी सह लिया और उलटे ऐरावतका दाँत उखाड़कर ऐसा मारा कि वे भगे। इसने सात अप्सराओं, दस देव दूतों और अगणित ऋषियोंको खा डाला। जब ब्रह्माजी वर देनेको हुए तब देवताओंने सब वृत्तान्त स्मरण कराया। इससे सरस्वती द्वारा उन्होंने वाणी फेर दी, मति फेर दी। 'इन्द्र' पद माँगता सो उसके बदले 'निद्र' माँगा। वा, 'छः मास जागरण और एक दिन नींद' माँगता सो उसका उल्टा माँगा।"

३—वाल्मीकीय और अध्यात्म रा० में रावणके पश्चात् विभीषणको वर दिया गया तब कुंभकर्णको। महाभारतमें वही क्रम है जो मानसमें है।

टिप्पणी—३ "जौं एहि खल···" इति। 'खल' कहा, क्योंकि यह अन्नादिसे पेट न भरेगा किंतु सब जीवोंको खायेगा। खल जीवोंका भक्षण करते हैं; यथा 'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं। ५।३।', 'खल मनुजाद द्विजामिषभोगी। ६।४४।' इत्यादि। यह किसी जीवको न छोड़ेगा। 'नित करब अहारू' कहा क्योंकि विना आहारके कोई रह नहीं सकता। भोजन नित्यप्रति किया जाता है, यह नित्यका काम है। अतः यह भी नित्यप्रति आहार करेगा ही। 'होइहि सब उजारि संसारू'—भाव कि जीव तो वर्षोंमें जाकर आहारके योग्य होते हैं, और नित्य ही इसे बहुतसा भोजन चाहिए, इतने जीव कहाँसे आयँगे। इसके भोजनके लिये सारी सृष्टि भी न अँटेगी (पर्याप्त होगी)। सारा संसार ही नष्ट हो जायगा। यथा 'जौ दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई। १८०।५।' ब्रह्माजी सृष्टि रचते हैं इसीसे संसारके उजड़नेकी चिन्ता हुई।

४ 'सारद प्रेरि तासु मति फेरी।···' इति। (क) शारदा बुद्धि फेरनेमें प्रधान हैं। बुद्धिका फेरना इनके अधिकारमें है। इसीसे जहाँ ऐसा काम होता है वहाँ ये ही बुलाई जाती हैं। यथा 'अजस पेटारी ताहि करि गई गिरा मति फेरि। २।१२।', 'फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छल छाया॥ २।२९५।', इत्यादि। अतः उसके द्वारा बुद्धि फेर दी। 'मति फेरी'-से जनाया कि अन्य वर माँगनेका निश्चय उसने बुद्धिसे किया था। वह बुद्धि उसकी पलट दी। (ख) ब्रह्माने रावणसे वर माँगनेको कहा और विभीषणजीसे भी, यथा 'मागहु बर प्रसन्न मैं ताता।', 'गएउ बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर माँगु।', किन्तु कुंभकर्णसे वर माँगनेको न कहा। कारण कि कुंभकर्णको देखते ही ब्रह्माजी विस्मयको प्राप्त हो गए, अपनी सृष्टिकी रक्षाकी चिंतामें पड़ गए—'तेहि बिलोकि मन बिसमय भएऊ।', और उन्होंने सरस्वतीको बुद्धि फेरनेको प्रेरित किया। जब सरस्वतीने मति फेर दी तब ब्रह्माजीको सामने देखकर कुंभकर्णने स्वयं ही

वर माँगा। (जब वर माँगनेको ही नहीं कहा तब 'तात', 'पुत्र' या और कोई संबोधनका प्रश्न ही नहीं रह जाता। जब माँगनेको कहते तब संबोधनके संबंधमें शंका हो सकती थी)। (ग) अन्य कल्पोंमें ब्रह्माने रावण और कुंभकर्ण दोनोंको छला जैसा गीतावलीमें कहा गया है। इस कल्पमें केवल कुंभकर्णके साथ छल किया गया। यदि ऐसा न होता तो गोस्वामीजी रावणका भी छला जाना लिखते, केवल इसकी बुद्धिका फेरना न लिखते।

५ 'गए बिभीषण पास पुनि····' इति। [(क) यहाँके लिये बहुबचन क्रियाका प्रयोग हुआ। यह आदर-सम्मानका सूचक है। पूर्व जो वर दिये थे वे अनर्थके थे तथा उनमें छल किया गया था। कुछ बचाकर दिया गया था। अतः वहाँ 'गएऊ' एकवचनका प्रयोग हुआ है। यथा 'गयउ निकट तप देखि बिधाता', 'कुंभकरन पहिं गएऊ।'] (ख) विभीषण सबसे छोटे हैं इसीसे उनके पास सबसे पीछे गये। (संभवतः इसी क्रमसे तीनों बैठे भी होंगे)। (ग) 'पुत्र बर माँगु'—विभीषणजी भक्त हैं। भक्त भगवान्‌की भक्ति करके सब पितरोंका उद्धार करते हैं। इसीसे 'पुत्र' कहा। यथा "पुन्नरकात् त्रायतीति पुत्रः, पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवः इति वायुपुराणे" अर्थात् जो 'पु' नामक नरकसे अपने पितरोंकी रक्षा करे वह 'पुत्र' कहलाता है। ये भक्ति करके अपने पितरोंको कृतार्थ करनेवाले होंगे। [ब्रह्माजी जानते हैं कि रावण अहंकारी है, मान बड़ाई चाहता है। अतः 'गएउ' एकवचनसे सूचित किया कि रावण ब्रह्माजीका भी अपमान करेगा, वैसी ही व्यवस्था कुम्भकर्णकी भी है। विभीषणको अभिमान नहीं था, वह सबका आदर-सम्मान करेगा, यह भेद सूचित करनेके लिये विभीषणके पास जानेपर 'गए' और 'पुत्र बर माँगु' शब्दोंका प्रयोग किया गया। रावण और कुम्भकर्णको पुत्र न कहा, क्योंकि वे तो वंशके पितरोंको कलंकित करनेवाले हैं। विभीषण कुलकीर्तिको बढ़ाकर पुत्र नामको सार्थक करेंगे (प० प० प्र०)] (घ) 'माँगेउ भगवंत पद···' इति। भगवन्तपदमें अनुराग माँगनेका भाव कि इससे छः ऐश्वर्य वशमें कर लिए। भक्तिसे ऐश्वर्य स्वयं प्राप्त होते हैं। छः ऐश्वर्य, यथा 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।' अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। (विशेष 'भगवान्' शब्दपर दोहा १३ (४) मा० पी० भाग १ पृष्ठ २४२,२४३ में देखिए)। (ङ) 'अमल अनुराग'--भाव कि रावण और कुम्भकर्णने स्वार्थ माँगा और स्वार्थ छल है। यथा 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।' छल अनुरागका मल है। विभीषणने स्वार्थरहित भगवान्‌की भक्ति माँगी। स्वार्थरहित ही अमल है। भानुप्रतापका यह मन्त्री था। उस समय भी यह हरिभक्त था, यथा 'सचिव धरम रुचि हरिपद प्रीती।' अतः राक्षस तनमें भी वह हरिभक्त हुआ। यहाँ 'न मे भक्तः प्रणश्यति। गीता ९।३१।' 'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर।७।७९।३।' ये वाक्य चरितार्थ हुए।

तिन्हहिं देइ बर ब्रह्म सिधाए। हरषित ते अपने गृह आए॥ १॥
मय - तनया मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥ २॥
सोइ मय दीन्हि रावनहिं आनी। होइहि जातुधानपति जानी*॥ ३॥
हरषित भएउ नारि भलि पाई। पुनि दोउ बंधु बिआहसि जाई॥४॥

शब्दार्थ—"मय"—यह दैत्य कश्यपका पुत्र था। दिति इसकी माताका नाम है। यह बड़ा शिल्पी और मायावी था। हेमा अप्सरासे इसके दो पुत्र मायावी और दुंदुभी और एक कन्या मन्दोदरी हुई। त्रिपुरासुरने इसी दैत्यसे अपने तीनों विमानरूपी पुर बनवाए थे जो तीनों लोकोंमें बिना रोकटोकके जाते थे।

* रानी—वै०।

यह दानवोंका विश्वकर्मा था। श्रीकृष्णजी इसे चक्र चलाकर मारना और अग्निदेव जला डालना चाहते थे। अर्जुनने इसकी रक्षा की थी। श्रीकृष्णजीके कहनेसे इसीने श्रीयुधिष्ठिर महाराजके लिये मणिमय सर्व-गुणसंपन्न दिव्य सभाका निर्माण किया था, जो देवता, मनुष्य एवं असुरोंके संपूर्ण कला-कौशलका नमूना था। इसीने देवदत्त नामक शङ्ख अर्जुनको और दैत्यराज वृषपर्वाकी गदा भीमसेनको दी थी। तनुजा = तनसे जायमान = लड़की; कन्या। मंदोदरी—यह भी उस पंचकमेंसे एक है जिनका नित्य स्मरण महापातक-का नाशक है। यथा "अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मंदोदरी तथा। पंचकं ना स्मरेन्नित्यं महापातक नाशनम्।" (आचारमयूख)। 'पंचकं ना' का 'पंचकन्या' अशुद्ध पाठ करके लोगोंने इनको पंच कन्या कहा है। विशेष मा० पी० भाग १ दोहा २४ (४-५) पृष्ठ ४१० में देखिए। ललामा = रत्न; सुंदर। यथा "ललामा सुंदरो ज्ञेयः ललामो रत्नमुच्यते इत्यनेकार्थः।" नारि ललामा = स्त्री-रत्न, स्त्रियोंमें शिरोमणि। जातुधान (यातुधान) = राक्षस।

अर्थ—ब्रह्माजी उन्हें वर देकर चले। वे प्रसन्न होकर अपने घर आए॥ १॥ मय (दानव) की मंदोदरी नामकी कन्या जो परम सुंदरी और स्त्रियोंमें शिरोमणि थी उसको मयने ले आकर रावणको यह जानकर दी कि वह निशाचरोंका राजा होगा॥ २, ३॥ अच्छी स्त्री पाकर वह प्रसन्न हुआ। फिर उसने जाकर दोनों भाइयोंका विवाह किया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'तिन्हहिं देइ बर···' इति। ब्रह्माने रावणको वर दिया यह लिखा गया—'एव-मस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा', पर कुंभकर्ण और विभीषणको 'एवमस्तु' कहना नहीं लिखा गया। इसीसे यहाँ 'तिन्हहिं' शब्द देकर सबको 'एवमस्तु' कहना और वर देना सूचित कर दिया। 'तिन्हहिं···सिधाए। हर-षित···आए' का भाव कि उधर ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले, इतनेहीमें ये सब मारे हर्षके अपने घर श्लेष्मातक वनमें आ गये। (ख) 'हरषित' का भाव कि रावण और कुंभकर्णके साथ छल हुआ जिससे रावणने नर वानरके हाथ मृत्यु और कुंभकर्णने छः मासकी नींद माँगी। दोनों भाइयोंको मालूम नहीं हुआ कि उनके साथ छल हुआ है, इसीसे हर्षित आए। (रावणने स्वयं नर वानरको छोड़ दिया, उनसे अभयत्व नहीं माँगा। केवल उनको तुच्छ समझकर)। यदि छल मालूम होता तो पछताते। [यही मत अध्यात्मका जान पड़ता है जैसा "सरस्वती च तद्वक्त्रान्निर्गता प्रययौ दिवम्। २२। कुम्भकर्णस्तु दुष्टात्मा चिन्तयामास दुःखितः। अनभि-प्रेतमेवास्यात्किं निर्गतमहो विधिः। २३। (७।२)।" अर्थात् सरस्वतीके निकल जानेपर वह दुःखित हो सोच करने लगा कि "अहो भाग्यका चक्र तो देखो। जिसकी मुझे इच्छा नहीं वह बात मेरे मुँहसे कैसे निकल गई?" इन शब्दोंसे प्रकट होता है। महाभारतके कुंभकर्णको नहीं मालूम हुआ। पर वाल्मीकीयके कुंभ-कर्णने अनुमानसे जान लिया कि देवताओंने उसे मोहित कर दिया था। यथा "अहं व्यामोहितो देवैरिति मन्ये तदागतैः। वाल्मी० ७।१०।४८।" (ग) 'गृह आए'—भाव कि ब्रह्माके वरसे तीनों लोकोंको जीतनेका सामर्थ्य प्राप्त हो गया तो भी लोकपालोंको जीतनेके लिये तुरत न गया, क्योंकि ऐसा साहस करना नीतिके विरुद्ध है। अभी चढ़ाईका समय नहीं है, समय पाकर धावा करेंगे। इसीसे अभी (सबको समाचार देने आदिके लिये) घर आए। [विश्रवा मुनि जिस वनमें तप करते थे उसी वनमें अभीतक ये माता सहित रहते थे, वहीं गए। यथा 'एवं लब्धवराः सर्वे भ्रातरो दीप्ततेजसः। श्लेष्मातकवनं गत्वा तत्र ते न्यवसन् सुखम्। वाल्मी० ७।१०।४९।']

२ (क) 'मय तनुजा' से कुलकी सुन्दर (उत्तम कश्यप कुलकी), 'मंदोदरि नामा' से नाम भी सुंदर (पतली कमरवाली। पतली कमर सौंदर्यमें गिनी गई है। शास्त्रमें जिन और जिस प्रकारके नामोंका निषेध है वैसा यह नाम नहीं है), 'परम सुन्दरी' से स्वरूपकी सुन्दरता और 'नारि ललामा' से सुन्दर गुणों-वाली जनाया। पुनः, (ख) 'परम सुंदरी' है अर्थात् रावणकी अन्य सब रानियाँ भी सुन्दर हैं, यथा 'देव जच्छ गंधर्ब नर किन्नर नागकुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदरि बर नारि। १८२।' देवयक्षादि

की कन्याएँ जो इसकी रानियाँ हुईं वे भी बहुत सुन्दर हैं पर यह 'परम सुंदर' है। 'ललामा' का भाव कि सब रानियाँ श्रेष्ठ हैं—'सुंदरि बर नारि'; वैसी ही यह भी श्रेष्ठ है, (सबमें रत्नरूप है, शिरोमणि है)। [अ० रा० में जो 'सुतां मन्दोदरीं नाम्ना ददौ लोकैकसुन्दरीम् । ७।२।४० ।' है, वही यहाँ 'तनुजा, मंदोदरि नामा', 'दीन्हि', 'परम सुंदरी नारि ललामा' है। परम सुंदरी नारि ललामा = लोकोंमें एक ही सुंदरी। बाल्मी० में लिखा है कि यह इतनी सुन्दर थी कि इसे देखकर हनुमान्जीको भ्रम हुआ कि यही सीता तो नहीं हैं । यथा "गौरीं कनकवर्णाङ्गीमिष्टामन्तः पुरेश्वरीम् । कपिर्मन्दोदरीं तत्र शयानां चारुरूपिणीम् ॥ स तं दृष्ट्वा महाबाहुर्भूषितां मारुतात्मजः । तर्कयामास सीतेति रूपयौवनसंपदा ।५।१०।५२-५३।"

३ 'दीन्हि रावनहि आनी' इति । भाव कि विवाहका लग्न आदि न था फिर भी उसने शीघ्र ही अपनी कन्या लाकर उसको अर्पण कर दिया । इसका कारण अगले चरणमें कहते हैं कि 'होइहि जातुधान-पति' अर्थात् यह राक्षसोंका राजा होगा । 'जानी'–क्योंकि ब्रह्माके वरसे रावण समस्त देवतादिसे अवध्य है, (सब भाइयोंमें बड़ा है और यह वर इसीको मिला है दूसरोंको नहीं), अतः यह सबको जीतेगा, सबपर इसका अधिकार हो जायगा । यह जानकर अपनी कन्या प्रथम ही दी जिसमें यातुधानपति होनेपर मेरी कन्या ज्येष्ठ पटरानी हो, कोई दूसरा अपनी कन्या न लाकर पहले ब्याह दे । 'दीन्हि''''आनी' से जनाया कि डोला विवाह हुआ । [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावण शिकार खेल रहा था । उसी समय मय मंदोदरी सहित उसी वनमें पहुँचा । रावणने उसे देखकर उसका तथा कन्याका परिचय चाहा । मयने अपने वंश तथा कन्याका परिचय देकर कहा कि इसके लिए वर खोजने आया हूँ । आप अपना परिचय दें । रावणने अपने वंशका परिचय तथा पिताका नाम बताया । महर्षिका पुत्र जानकर मयने उसके हाथमें मंदोदरीका हाथ पकड़ाकर कहा कि आप इसे पत्नीरूपसे ग्रहण करें । दशग्रीवने बात स्वीकार कर ली । वहीं अग्नि जलाकर उसने मन्दोदरीका पाणिग्रहण किया । (७।१२।४-२०) । मानसके 'दीन्हि आनी' में ये सब भाव आ जाते हैं । केवल भेद इतना है कि मानसकल्पमें मयने यह जानकर उसको दिया कि यह पटरानी होगी और वहाँ ब्रह्माके कुल तथा महर्षिका पुत्र जानकर कन्या दी गई ।]

४ 'हरषित भएउ''''' इति । (क) हर्षित होनेका भाव कि अन्य स्त्रियोंको पाकर इतना प्रसन्न नहीं हुआ । यह 'परम सुंदरी' है इससे प्रसन्न हुआ । [यह भारी रत्न घर बैठे ही मिल गया, अतः हर्षित हुआ । औरोंको तो बलात् लाया, उनके संबंधियोंको जीता, दुःख दिया या मार डाला था, वह भी पहले उदास ही रही होंगी । और मंदोदरीको तो उसका पिता स्वयं आकर अर्पण कर गया, कन्या और पिता दोनों ही प्रसन्न थे । इसीसे रावण भी प्रसन्न हुआ । प्रथम ही यह रत्न मिला अतः हर्ष है] (ख) 'पुनि दोउ बंधु''''' अर्थात् अपना विवाह हो जानेपर । 'जाइ' का भाव कि अपना ब्याह तो घर बैठे हो गया पर भाइयोंके विवाहके लिये उसे चढ़ाई करनी पड़ी । [वैरोचनकी पौत्री अर्थात् बलिकी बेटीकी बेटी जिसका नाम वज्र-ज्वाला था कुंभकर्णको ब्याही गई । गन्धर्वराज शैलूषकी लड़की सरमा, जो बड़ी धर्मज्ञा थी, विभीषणजीको ब्याही गई । यथा "वैरोचनस्य दौहित्रीं वज्रज्वालेति नामतः । २३ । तां भार्यां कुम्भकर्णस्य रावणः समकल्पयत् । गन्धर्वराजस्य सुतां शैलूषस्य महात्मनः ॥ २४ ॥ सरमां नाम धर्मज्ञां लेभे भार्यां विभीषणः । वाल्मी० ७।१२ ।"] (ग) 'बिआहेसि जाई'—रावणने जाकर इनका ब्याह किया । इससे सूचित हुआ कि ब्रह्माजी, पुलस्त्यजी, विश्रवा मुनि और कुबेर ये कोई रावणके काममें सम्मिलित न हुए और न हैं ।

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी । बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी ॥५॥
सोइ मय दानव बहुरि सँवारा । कनक रचित मनि भवन अपारा ॥६॥
भोगावति जसि अहिकुल-बासा । अमरावति जसि सक्रनिवासा ॥७॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका । जग बिख्यात नाम तेहि लंका ॥८॥

शब्दार्थ—त्रिकूट—तीन शिखरवाला पर्वत। कहते हैं कि सुंदर, कुम्भिला और सुवेला इन तीन शिखरोंके होनेसे इसका त्रिकूटाचल नाम पड़ा। इसीपर लंका बसी है। देवी भागवतके अनुसार यह एक पीठ स्थान है। वामन पुराणके अनुसार इस नामका एक पर्वत क्षीरोदसमुद्रमें है जहाँ नारदजी रहते हैं। कोई ऐसा भी कहते हैं कि एक बार गरुड़ और पवनदेवमें विवाद हुआ कि किसका बल बड़ा है। पवनदेवने प्रचंड वेगसे सुमेरुका त्रिकूट नामक शिखर उखाड़कर समुद्रमें फेंक दिया। यह वही त्रिकूटाचल है। लंका कौन और कहाँ थी इसमें मतभेद है। पर यह निश्चय है कि आजकी लंका वह लंका नहीं है। मँझारी=मध्यमें। बीचमें। में। निर्मित=निर्माण किया, रचा वा बनाया हुआ। दुर्गम=जिसमें किसीकी पहुँच बहुत कठिन हो। सँवारा=सजाया। बंका=बाँका, टेढ़ा, दुर्धर्ष। भोगावति (भोगवती)—नागदेवताओंकी रमणीय पुरीका नाम है जो पातालमें है। यह भोगप्रधान पुरियोंमेंसे एक है।

अर्थ—समुद्रके बीचमें ब्रह्माका निर्माण किया हुआ एक बहुत ही विशाल और दुर्गम त्रिकूटाचल पर्वत था॥ ५॥ उसीको मय दानवने फिरसे सँवारा सजाया। उसमें मणिजटित सुवर्णके अगणित महल थे॥ ६॥ जैसी नागकुलके निवासवाली भोगवती और जैसी इन्द्रके निवासकी अमरावती पुरी है॥७॥ उन (दोनों पुरियों) से भी बढ़कर रमणीय और अत्यन्त दुर्धर्ष तथा जगत्‌में प्रसिद्ध उसका नाम लंका था॥८॥

टिप्पणी—१ 'गिरि त्रिकूट···' इति। 'गिरि त्रिकूट', 'सिंधु मझारी', 'बिधिनिर्मित' ये सब 'दुर्गमता' के हेतु प्रथम कहकर तब 'दुर्गम' कहते हैं। अर्थात् पहाड़के ऊपर है; इससे 'दुर्गम' है। फिर चारों ओर समुद्र है। ब्रह्माका बनाया हुआ है अर्थात् ब्रह्माजीने ही इसके चारों ओर पहाड़ बना दिये हैं जिससे चढ़नेका गम्य नहीं। इसीसे 'अति' दुर्गम है। कोई जल्दी इसपर चढ़ नहीं सकता। [वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जीने लंकासे लौटनेपर उसकी दुर्गमताका विस्तारसे वर्णन किया है कि देवदानवादिका तो कहना ही क्या पक्षीकी भी वहाँ पहुँच नहीं। यथा 'देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। अप्रधृष्यां पुरीं लंकां रावणेन सुरक्षिताम्। ६।१।४।'—'ये वचन स्वयं श्रीरामजीके हैं कि रावणद्वारा सुरक्षित लंकापुरीमें देव, दानव, यक्ष, गंधर्व, नाग और राक्षस भी नहीं जा सकते। सुंदरकांडमें विशेष लिखा गया है।] 'अति भारी' कहा क्योंकि इसके एक ही शिखरपर अस्सी कोसका लंबा और चालीस कोस चौड़ा लंका नगर बसा हुआ है। ☞ यहाँ गिरि-दुर्ग वर्णन किया। गिरिदुर्ग समस्त दुर्गोंमें प्रशस्त माना गया है। यथा 'सर्वेषाञ्चैव दुर्गाणां गिरिदुर्गः प्रशस्यते। लंका गिरिके ऊपर है, यथा 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका। ४।२८।'

नोट—१ माल्यवान्, सुमाली और माली ये तीनों सुकेशके पुत्र थे। इन तीनोंने मेरु पर्वतपर जाकर घोर तप किया जिससे ब्रह्माजी प्रसन्न होकर इन्हें वर देने आए। इन्होंने ब्रह्माजीसे वर माँग लिया कि हममें परस्पर प्रेम बना रहे, हमें कोई जीत न पावे, हम अपने शत्रुओंका संहार करते रहें और अजर अमर हों। वर प्राप्तकर इन्होंने विश्वकर्मासे जाकर कहा कि हमारे निवासके लिये हिमालय, मेरु अथवा मंदराचलपर शिवभवनके समान बड़ा लंबा चौड़ा भवन बना दो। तब विश्वकर्माने उनसे बताया कि दक्षिण समुद्रके तटपर त्रिकूट नामका पर्वत है। वही यहाँ कवि कह रहे हैं—'गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी।'—'दक्षिणस्योदधेस्तीरे त्रिकूटो नाम पर्वतः। वाल्मी० ७।५।२२।' फिर विश्वकर्माने बताया है कि उसके पास ही दूसरा बड़ा पर्वत है जिसके बीचके शिखरपर लंका नगरी बसी है जो तीस योजन चौड़ी और सौ योजन लंबी है। यही मानसमें 'अति भारी' से जना दिया। उसके ऊपर पक्षी भी उड़कर नहीं पहुँच सकते; क्योंकि वह चारों ओरसे मानों टाँकियोंसे छीलकर चिकनाया गया है। यथा 'शकुनैरपि दुष्प्रापे टङ्कच्छिन्नचतुर्दिशि। ७।५।२४।' यही मानसमें "दुर्गम अति" कहकर जना दिया। विश्वकर्माने बताया है कि मैंने लंकापुरीको इन्द्रकी आज्ञासे बनाया था किंतु यहाँ 'बिधि निर्मित' कहते हैं। दोनोंका समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि त्रिकूटाचल विधिनिर्मित है और अति दुर्गम है। उसपर जो लंका बनी है वह विश्वकर्माने बनायी

होगी। अथवा, लंका भी विधि-निर्मित है। किसी कल्पमें विश्वकर्माने उसे सँवारा होगा इससे उसने अपनी बनाई कहा हो। फिर राक्षसोंका निवास होनेपर राक्षसोंके विश्वकर्मा मयदानवने उसे फिरसे सजाया हो।

टिप्पणी—२ 'सोइ मयदानव बहुरि सँवारा···' इति। (क) 'बहुरि' का भाव कि प्रथम तो यह ब्रह्माद्वारा निर्मित हुआ, उनकी बुद्धिसे बना। उसीमें फिर मयदानवने अपनी कारीगरी दिखाई; इसीसे लंकापुरी तीनों लोकोंसे अधिक सुन्दर है। जैसा आगे कहते हैं—'भोगावति···'। (ख) मयदानवने इसे सजाया क्योंकि लंका राक्षसोंका क़िला है और मयदानव राक्षसोंका कारीगर है, जैसे विश्वकर्मा देवताओंके कारीगर हैं। ब्रह्माकी बनाई हुई वस्तुको इसने सँवारा, इससे सूचित हुआ कि यह कैसा भारी कारीगर है। 'सँवारा' अर्थात् विशेष रचना की। लंका कैसी है यह आगे कहते हैं—'कनक रचित···' अर्थात् सोनेकी है, सोनेके भवन हैं, मणियोंसे जटित हैं तथा मणियोंके भी महल बने हैं और अपार हैं।

३ 'भोगावति जसि···' इति। अहिकुलबासा और शक्रनिवासा कहनेका भाव कि संसारमें भोगवती और अमरावती नामकी पुरियाँ हैं। यहाँ किस भोगवती और अमरावतीको कहते हैं? इस संदेहके निवृत्यर्थ 'अहिकुल··' कहा। अर्थात् अष्टकुली नागोंकी जो भोगवती पुरी है और इन्द्रके निवासकी जो अमरावती पुरी है वैसी ही परम सुन्दर पुरी यह है। (स्वर्गमें अमरावती और पातालमें नागदेवोंकी पुरीकी उपमा दी। पृथ्वीपरकी उपमा न दी क्योंकि पृथ्वीमें इसके समान दूसरी उस समय न थी। पुराणोंमें भोगवती और अमरावतीका विस्तृत वर्णन है)।

४ 'तिन्ह तें अधिक रम्य···' इति। (क) भाव कि भोगवती और अमरावतीसे भी यह अधिक सुन्दर है। लंका मर्त्यलोकमें है और इसके समान यहाँकी कोई पुरी नहीं है इसीसे इस लोककी किसी पुरीका नाम न दिया। अथवा, भाव कि मर्त्यलोकमें जैसी लंकापुरी है वैसी भोगवती और अमरावती भी नहीं हैं; इसीसे यह जगत्‌में विख्यात है। (ख) 'अति बंका' अत्यंत टेढ़ा है। अर्थात् दुर्धर्ष है। कोई इसे दबा या जीत नहीं सकता। यथा "त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंकानाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने। हनु० ६।४२।" इसी श्लोकका अनुवाद गोस्वामीजीने सुन्दरकांडमें किया है—'कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका। ५।३३।' श्लोकके 'दुर्धर्ष' का ही 'अति बंक' अर्थ किया। बंकका यह अर्थ नहीं है कि बनावमें टेढ़ा है। (ग) 'जग बिख्यात नाम'—तात्पर्य कि भोगवती नागदेवोंके निवाससे विख्यात है और अमरावती शक्रनिवाससे, किंतु लंका किसीके निवाससे विख्यात नहीं है। वह स्वयं अपने सौंदर्यसे विख्यात है। (पुनः भाव कि लोक तीन हैं - स्वर्ग, पाताल और मर्त्य। स्वर्ग और पातालकी पुरियाँ ऐसी सुन्दर नहीं हैं, इसीसे वहाँ वाले सब जानते हैं और मर्त्यलोकमें तो यह है ही इससे यहाँ विख्यात है)।

दोहा—खाईं सिंधु गभीर अति चारिहुं दिसि फिरि आव।
कनककोट मनि खचित दृढ़ बरनि न जाइ बनाव॥
हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ॥१७८॥

अर्थ—अत्यंत गँभीर (अथाह और दुस्तर) समुद्र उसकी खाँईं है जो चारों ओर फिरी हुई है। मणिजटित सोनेका बड़ा दृढ़ शहरपनाह वा किलाकी दीवारें हैं जिसकी बनावट वर्णन नहीं की जा सकती। भगवान्‌की प्रेरणासे जिस कल्पमें जो शूरवीर, प्रतापी और अतुलित बल वाला निशाचरराज होता है वही सेनासहित उसमें निवास करता है॥१७८॥

टिप्पणी—१ (क) 'खाईं सिंधु···', यथा 'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। ५।३।' (ख) पूर्व कहा था कि 'बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी', अब उस 'अति भारी' का स्वरूप दिखाते हैं कि लंकागढ़

इतना भारी है कि सौ योजनका समुद्र (उसके एक दिशाकी) खाई है। (इसी प्रकार चारों ओर अगणित योजन लंबा समुद्र है.) । गढ़के नीचे समुद्र खाईं सरीखा जान पड़ता है। (ग) 'अति गंभीर' से उसकी दुस्तरता दिखाई; यथा "सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा ॥ संकुल मकर उरग भख जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती। ५।५०।" (घ) "कनककोट···" इति। भाव कि जैसे घर सब सुवर्णके हैं और मणिरचित हैं, वैसे ही शहरपनाह भी मणिजटित स्वर्णका है। आशय यह कि भीतर बाहर एक रस शोभा है। 'बनाव' अर्थात् जिस कारीगरीका बना है वह कहते नहीं बनता। यथा 'स्वर्णप्राकार संवीता हेमतोरणसंवृता। वाल्मी० ७।५।२५।', 'दृढप्राकारपरिखां हैमैर्गृहशतैर्वृताम्। ७।५।२६।'

२ 'हरि प्रेरित जेहि··· सोइ' इति। (क) यह वृत्तान्त क़िलाके दरवाजेके ऊपर लिखा है। (ख) 'हरि प्रेरित'—भाव कि जब भगवान्‌की इच्छा लीला करनेकी होती है तब उनकी इच्छासे रावण लंकापति होता है। (ग) 'जेहि कलप'-भाव कि प्रत्येक कल्पमें भगवान्‌का अवतार होता है, यथा 'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं।' (घ) 'जोइ जातुधानपति होइ' का भाव कि जैसे एक कल्पमें जय विजय यातुधानपति हुए; एकमें जलंधर यातुधानपति हुआ, एकमें रुद्रगण यातुधानपति हुए, और इस कल्पमें भानुप्रताप अरिमर्दन यातुधानपति हुए, ऐसे ही अनेक कल्प जो हुए और होंगे उनमें जो यातुधानपति हुए और होंगे वही यहाँ निवास करते हैं एवं करेंगे। कोई नियम नहीं है (कि अमुक ही यातुधानपति होगा)। (ङ) 'सूर प्रतापी···'—भाव कि यदि इन गुणोंसे युक्त निशाचरपति न हुआ तो वह यहाँ बसने नहीं पाता। देवता लोग राक्षसोंको मारकर इसपर दखल कर लेते हैं। यही बात आगे कहते हैं- 'रहे तहां निसिचर···'। (च) 'जेहि कल्प०' से सूचित किया कि लंका अनादि है।

नोट—इसमें देवता निवास नहीं करते क्योंकि कहा जाता है कि त्रिकूटाचल हड्डीपर स्थित है। (प्र० सं०)।

रहे तहां निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर सघारे ॥१॥
अब तहं रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे ॥२॥
दसमुख कतहुं खबरि असि पाई। सेन साजि गढ़ घेरेसि* जाई ॥३॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई ॥४॥
फिरि सब नगर दसानन देखा। गएउ सोच सुख भएउ बिसेषा ॥५॥

शब्दार्थ—भारे=भारी, महान्। =रक्षामें (भार=सँभाल, रक्षा)। संघार (संहार)=नाश। रच्छक (रक्षक)=पहरेदार। जच्छपति (यक्षपति)=कुबेर। जीव=प्राण। पराई=भाग (गए)।

अर्थ—वहाँ भारी भारी निशाचर योद्धा रहते थे। देवताओंने उन सबोंको संग्राममें मार डाला ॥ १ ॥ इन्द्रकी प्रेरणासे अब वहाँ कुबेरके एक करोड़ रक्षक रहते हैं ॥ २ ॥ रावणने कहीं यह ख़बर पाई (तब) सेना सजाकर उसने गढ़को जा घेरा ॥ ३ ॥ बड़ा विकट योद्धा और बड़ी सेना (वा, विकटभटोंकी बड़ी सेना) देख यक्ष अपने प्राण लेकर भाग गए ॥ ४ ॥ रावणने घूम फिरकर सब नगर देखा। उसका शोच जाता रहा और वह बहुत सुखी हुआ।

टिप्पणी—१ (क) 'रहे तहँ निसिचर०'। भाव कि इस किलेमें राक्षसोंके रहनेकी आज्ञा ब्रह्माकी है; इसीसे राक्षस इसे अपनी वस्तु समझकर वहाँ रहते थे। देवताओंने उनपर चढ़ाई करके उन्हें मारा यह देवताओंकी जबरदस्ती है। (ख) 'भट भारे' का भाव कि वे भारी भट थे, इसीसे भागे नहीं, देवताओंसे

* घेरसि—१६६१।

संग्रामभूमिमें लड़े। 'सुरन्ह' बहुवचन शब्द देकर जनाया कि समस्त ३३ कोटि देवता मिलकर उनसे लड़े, तब माली सुमाली (?) मारे गए। देवता इनसे प्रबल थे।

नोट- १ पूर्व १७८ (५) के नोट १ में लिखा जा चुका है कि माल्यवान् आदिने विश्वकर्मासे देवताओंके समान रमणीक भवन बनानेको कहा तब उसने उन्हें लंकापुरीका पता बताया था। विश्वकर्माके कहनेसे वे सेवकों सहित वहाँ जाकर रहने लगे। यथा "विश्वकर्मवचः श्रुत्वा ततस्ते राक्षसोत्तमाः। सहस्रानुचरा भूत्वा गत्वा तामवसन् पुरीम्। वाल्मी० ७।५।२८।" वरके बलसे उन्होंने इन्द्रादिको बहुत सताया तब वे भगवान्‌की शरण गए। भगवान्‌ने राक्षसोंको मारनेकी प्रतिज्ञा की। यह सब समाचार माल्यवान्‌को मिला। उसने भाइयों आदिसे परामर्श किया। तब माली और सुमालीने सलाह दी कि हम लोग आज ही सब देवताओंको चलकर मार डालें। जिनके उभाड़नेसे विष्णुने ऐसी प्रतिज्ञा की है। बस सब सेना सहित देवलोकमें गए। इधर श्रीमन्नारायण भी आयुधोंसे सुसज्जित हो गरुड़पर सवार हो वहीं आ उपस्थित हुए। राक्षसोंने घोर युद्ध किया। सुमाली और मालीने भी भयंकर युद्ध किया। मालीकी गदाकी चोटसे गरुड़ विकल हो रणभूमिमें न ठहर सके। गरुड़ द्वारा युद्धसे विमुख किये जानेपर भगवान्‌ने उनकी पूँछकी ओर मुख करके मालीपर चक्र चलाकर उसका सिर काट डाला। माल्यवान्‌को गरुड़ने अपने पंखोंके पवनसे उड़ा दिया तब सुमाली भी भागकर लंकामें चला गया। भगवान् राक्षसोंको बराबर सताने और मारने लगे तब वे परिवार सहित पातालमें जा बसे। यथा "अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रतियोद्धुं भयार्दिताः। त्यक्त्वा लङ्कां गता वस्तुं पातालं सहपत्नयः। वाल्मी० ७।८।२२।"

टिप्पणी—२ 'अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे।'''' इति। (क) इन्द्रकी प्रेरणासे वहाँ कुबेरके कोटि रक्षक रहते हैं, इस कथनसे जनाया कि इन्द्र मालिक हैं। कुबेर उनकी ओरसे क़िलेदार हैं। कुबेर यक्षपति हैं इसीसे कुबेरकी तरफ़से कोटि यक्ष उस किलेमें रखवालीके लिए रहते हैं, जैसा आगेके 'जच्छ जीव लै गए पराई' से स्पष्ट है। (ख) ☞राक्षसोंको मारकर इन्द्रने वहाँ निवास न किया, यह क्यों ? क्योंकि लंकामें यातुधानपतिके दलसहित निवासका हुकम ब्रह्माका है, जैसा पूर्व कह आए हैं। यथा 'हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ। सूर प्रतापी अतुलबल दल समेत बस सोइ'। इसीसे उन्होंने अपने रक्षक रख दिए। क़िलेमें रक्षक होने चाहिएँ, यथा 'करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।५।३।', अतः रक्षक रक्खे। (ग) रच्छक कोटि रखनेका भाव कि कोटि राक्षस रहते थे उनको मारा है। अतः उतने ही रक्षक बसाए।

नोट—२ वाल्मीकीयके अनुसार राजा तृणबिन्दु अपनी कन्याको महर्षि पुलस्त्यको सौंप गए। उसकी सेवासे प्रसन्न हो महर्षिने आशीर्वाद दिया कि तूने मेरी वेदध्वनि सुनकर गर्भ धारण किया है अतः तुझे मैं अपने तुल्य पुत्र देता हूँ, जिसका नाम विश्रवा होगा। विश्रवाजी बड़े चरित्रवान् पुत्र हुए। वे पिताके समान तपमें संलग्न रहने लगे। यह देखकर श्रीभरद्वाजजीने अपनी देववर्णिनी नामकी कन्या उनको ब्याह दी। इसीके पुत्र वैश्रवण हुए। पुलस्त्यजीने नामकरण किया और कहा कि यह बालक धनाध्यक्ष होगा। वैश्रवणजीने एक हजार वर्ष कठोर तप किया। कभी जल पीकर, कभी पवन पानकर और कभी निराहार रहकर तप करते रहे। ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर वर माँगनेको कहा। उन्होंने लोकपालत्व और धनाध्यक्षत्व माँगा। ब्रह्माने इन्हें यम, इन्द्र और वरुणके समान चौथा लोकपाल और निधियोंका स्वामी बना दिया और पुष्पक विमान दिया। (उत्तरकांड सर्ग २ श्लोक २८-३३, सर्ग ३. श्लोक १-२०)। वैश्रवणने पिताजीसे जाकर सब वृत्तान्त बताकर कहा कि पितामहने मेरे रहनेका प्रबन्ध कुछ नहीं किया। तब विश्रवाजीने उनको विश्वकर्मा द्वारा निर्मित लंकामें निवास करनेको कहा। यथा "शून्या सम्प्रति लङ्का सा प्रभुस्तस्या न विद्यते ॥२९॥ स त्वं तत्र निवासाय गच्छ पुत्र यथासुखम्। वाल्मी०। ७।३।३०।" अ० रा० में भी ऐसा ही है। महाभारतमें

ब्रह्माने स्वयं लंकापुरीको कुबेरकी राजधानी बना दिया।—मानसकल्पकी कथामें इनसे भेद है। मानसके कुबेर लङ्कामें स्वयं नहीं रहते किन्तु उनके एक करोड़ रक्षक वहाँ रहते थे—'रच्छक कोटि जच्छपति केरे' और यक्ष ही वहाँसे प्राण लेकर भाग भी गए—'जच्छ जीव लै गए पराई।' इन्द्र देवराज हैं और कुबेर ब्रह्माके वरसे अब देवता हैं अतः इन्द्रने उन्हें लङ्कामें अपने रक्षक रख देनेको प्रेरित किया और उन्होंने रक्षक रख दिये।

टिप्पणी—३ "दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई।" इति। 'असि'—अर्थात् जैसा ऊपर ("गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी" से "अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे" तक) लिख आए। किससे खबर मिली, यह नहीं बताया; क्योंकि इस विषयपर मुनियोंके विभिन्न मत हैं। कोई नारदसे खबर पाना कहते हैं तो कोई मयदानवसे कहते हैं, क्योंकि इसीने लंकाको पुनः सँवारा है। इसी मयने अपनी कन्या रावणको दी है। अतएव उसीने कहा भी कि लंकापुरी अपनी ही है। तुम्हारे निवासके योग्य है। यक्षोंको हटाकर वहाँ वास करो। इत्यादि अनेक मत होनेसे कविने किसीका नाम न लिखकर सर्वमत-रक्षा हेतु 'कतहु' शब्द दिया।

नोट—३ वाल्मीकीयमें लिखा है कि रावणको वर मिलनेके पश्चात् उसका नाना सुमाली यह समाचार पाकर अपने मंत्रियों सहित निर्भय होकर पातालसे निकलकर रावणके पास आ उसे गलेसे लगाकर बोला कि बड़े सौभाग्यकी बात है कि मनोवांछित मनोरथ पूर्ण हुआ। विष्णुके भयसे हम लोगोंको दुःखी होकर अपना घरबार छोड़कर रसातलको भाग जाना पड़ा। हमारा वह भय आज दूर हुआ। लंका हमारी ही है। हम सब राक्षस उसमें रहते थे, किन्तु अब उसे कुबेरने अपने अधिकारमें कर लिया है—"अस्मदीया च लङ्केयं नगरी राक्षसोचिता।''' । ७।११।७।" पर रावणने नानाको समझा-बुझा दिया कि कुबेर हमारे ज्येष्ठ भाई होनेसे पूज्य हैं, ऐसा न कहो। कुछ दिनोंके बाद प्रहस्तने (जो रावणका मामा भी था) उससे कहा कि शूरोंमें भाईपनेका विचार नहीं होता। देवता और दैत्य दोनों भाई ही तो हैं पर दोनोंमें शत्रुता चली आ रही है। अतः तुमको भी वही व्यवहार करना चाहिए।—'सौभ्रात्रं नास्ति शूराणां''' । ७ । ११ । १४।' तुम चलकर उसे छीन लो।

टिप्पणी—४ (क) 'सेन साजि' का भाव कि जैसे देवता सेना सजाकर निशाचरोंसे लड़ने गए थे, वैसे ही इसने सेना सजाकर गढ़ घेरा। [उसमें एक करोड़ यक्षोंकी सेना रक्षामें रहती है अतः सेना लेकर जाना उचित ही था]। (ख) 'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई।' इति। 'बिकट भट' से जनाया कि इनके सामने यक्ष कुछ भी नहीं हैं। माली सुमाली भारी भट थे। उनसे देवताओंने संग्राम किया था। पर रावणकी सेनामें सब भट 'बिकट' हैं, इसीसे उनका सामना करनेका साहस न पड़ा। 'बड़ि कटकाई' से जनाया कि सेनामें यक्षोंसे अधिक राक्षस थे। [भानुप्रतापके पास अपार अक्षौहिणी सेना थी वह सब राक्षस हुई है वही सब लेकर चढ़ाई की है। भानुप्रतापके दिग्विजयके प्रसंगमें भी कटकई शब्द आया है 'बिजय हेतु कटकई बनाई'। वैसे ही यहाँ 'कटकई' साथ है] 'देखि' का भाव कि रावण सेना लेकर आया है, यह सुनकर नहीं भागे वरन् शत्रुके सम्मुख आए और शत्रुकी विकट भटोंकी बड़ी भारी सेना देखी तब भागे। (ख) 'जच्छ जीव लै गए पराई', इससे जनाया कि उनका सब द्रव्य लंकामें रह गया। यक्ष बड़े द्रव्यमान् होते हैं। वे अपना कुछ द्रव्य न ले जा सके। उन्हें तो प्राणके लाले पड़ गए थे। द्रव्य बचाते तो प्राणोंका बचना कठिन था। प्राणोंपर आ बनी देख जैसे तैसे प्राण लेकर भागे। (वाल्मीकीयके रावणने कुबेरके पास प्रहस्तको दूत बनाकर भेजा कि लंकापुरी हमें दे दो। कुबेरने उत्तर भेजा कि यह नगर और राज्य आदि सब तुम्हारा है, हमारा और तुम्हारा कुछ अलग-अलग नहीं है। तुम इसे भोग करो। फिर पितासे परामर्शकर उनकी आज्ञासे अपने बाल-बच्चों-मंत्रियों और धनसहित लंकाको छोड़कर

कैलासपर चले गए और अलकापुरी बनवाकर उसमें रहने लगे। और महाभारतके रावणने कुबेरसे युद्ध करके उनको जीतकर लंकासे निकाल दिया। तब वे गंधमादन पर्वतपर जाकर रहने लगे।

५ 'फिरि सब नगर दसानन देखा' इति। (क) चारों ओर घूम फिरकर देखनेका भाव कि कहींसे शत्रुके आनेका मार्ग तो नहीं है। (पुनः इस लिए सब तरफ फिरकर नगर भरको देखा कि कौन स्थान किसके योग्य होगा। कहाँ कचहरी होगी कहाँ महल, कहाँ सेना और कहाँ परिवारके रहनेके योग्य स्थान हैं, इत्यादि जानकारी और व्यवस्थाके लिये सब नगर देखा)। पुनः, उसकी सुन्दरता, उसकी दुर्गमता इत्यादि देखी जैसा आगे कहते हैं—'सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी'। (ख) 'गएउ सोच'। रावणको स्थानका सोच था, अपने रहने योग्य स्थान कहीं नहीं पाता था। (यहभी सोच था कि हमारा परिवार, सेना इत्यादि सबके अँटनेको जगह बहुत चाहिये। सुमाली, मय या जिसनेभी ख़बर दी थी कि यहां काफ़ी जगह है, सबके रहनेका सुपास है, वह सत्य पाई) अतः सुयोग्य स्थान पाकर शोच मिटा। (ग) 'सुख भएउ बिसेषा'। गढ़ विशेष है। यथा "गिरि पर चढ़ि लंका तेहि देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी। ५।२।" उसकी विशेषता देख विशेष सुख हुआ। [पुनः, सुखविशेष हुआ क्योंकि एक तो सोच मिटा। दूसरे यह उसकी प्रथम चढ़ाई थी, इसमें सफलता हुई, विना परिश्रम और बिना युद्धके सुन्दर रमणीक और अति दृढ़ और दुर्गम नगर प्राप्त हुआ। सब तरह प्रसन्नता और सुपास होनेसे विशेष सुख हुआ।]

सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥६॥
जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे। सुखी सकल रजनीचर कीन्हे ॥७॥
एक बार कुबेरपर* धावा। पुष्पक जान जीति लै आवा ॥८॥
दोहा—कौतुकहीं कैलास पुनि लीन्हिसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहु बल चला बहुत सुख पाइ ॥१७९॥

शब्दार्थ—कुबेर—इनके जन्मादिकी कथाएँ पूर्व दी जा चुकी हैं। ये विश्रवा मुनिके पुत्र, इन्द्रकी नवो निधियोंके भण्डारी, यक्षोंके राजा, उत्तर दिशाके अधिष्ठाता देवता और संसार भरके धनके स्वामी माने जाते हैं। इनके एक आँख, तीन पैर, और आठ दाँत कहे जाते हैं। बड़े तेजस्वी हैं। "पुष्पकयान"—यह विमान कुबेरका है जो राजा रघुसे इन्होंने दानमें माँग लिया था। वाल्मी० २।६। में ब्रह्मासे इनको यह विमान पाना लिखा है। इसमें कई खण्ड हैं। यह घट बढ़ सकता है। इसीपर श्रीरामचन्द्रजी सेना सहित लंकासे श्रीअवध आए थे। पुष्पाकार होनेसे पुष्पक ऐसा नाम पड़ा। वाल्मीकीय उत्तरकांड सर्ग १५ श्लोक ३६-३६ में, तथा युद्धकांड सर्ग १२४ श्लोक २४ २६ में इसका विस्तृत (वर्णन) है। लंकाकांडके मा० पी० टीकामें कुछ उद्धरण दिया गया है। रावणके छीन लेनेपर राजा रघुसे कुबेरने विनती की तब इन्होंने रावणको मारना चाहा था पर ब्रह्माजीने समझा-बुझा उन्हें रोक दिया। रघुजीने प्रतिज्ञा कर दी कि जब रामचन्द्रजी रावणको मारकर इसे लावें तब कुबेरको दे दें। इसीसे लंकासे लौटनेपर यह कुबेरको दे दिया गया।—यह मत विजयदोहावलीसे प्रमाणित होता है।

अर्थ—सहज ही सुन्दर और दुर्गम विचारकर रावणने वहाँ अपनी राजधानी की ॥ ६ ॥ जिसको जैसा योग्य था वैसा घर उसको बाँट दिया (इस प्रकार उसने) सब निशाचरोंको सुखी किया ॥ ७ ॥ एक बार (उसने) कुबेरपर धावा किया और पुष्पक विमान जीतकर ले आया ॥ ८ ॥ फिर उसने जाकर खेल ही खेलमें कैलाशको उठा लिया, मानों अपनी भुजाओंके बलको तौलकर बहुत प्रसन्न हो चल दिया ॥ १७६ ॥

* १६६१ में—यहाँ कैथी रकार 'न' है।

टिप्पणी—१ (क) 'सुंदर सहज अगम अनुमानी' इति । 'सहज अगम' है अर्थात् किलेके भीतर किसी प्रकार कोई शत्रु नहीं आ सकता। शत्रुको रोकनेके लिए सेना आदि रक्षकोंकी जरूरत नहीं, वह स्वाभाविक ही ऐसी बनी है कि देवताओंको भी उसके भीतर प्रवेश करना अगम है। सहज देहलीदीपक है। सहज सुन्दर है और सहज ही अगम है। भाव कि रचना करनेसे सुन्दर नहीं है किंतु स्वरूपसे ही स्वाभाविक ही सुन्दर है। ☞पुनः, 'सहज अगम' का भाव कि ब्रह्माने ही उसे अति दुर्गम निर्माण किया है; यथा 'बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी'। अतः सहज अगम है। और मयदानवने सँवारा है अतः सहज सुन्दर है। [नोट—रावणको ऐसा अनुमान था कि कोई शत्रु यहाँ आ ही नहीं सकता। इसीसे समुद्रमें सेतुका बँधना सुनकर वह ऐसा घबड़ाया था कि उसके दशोंमुखोंसे सहसा एकबारगी दश नाम निकल पड़े,—'सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना। बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस। सत्य-तोय-निधि कंपति उदधि पयोधि नदीस। लं० ५।'] (ख) 'कीन्हि तहाँ रावन रजधानी' का भाव कि निशाचरपतिके वासके लिए ही ब्रह्माने बनाया है,—'हरि प्रेरित०'। राजधानी बनानेके इतने कारण दिखाए—सहज सुन्दर है, सहज अगम है, यह क़िला राक्षसोंका ही है, ब्रह्माकी आज्ञा है।

२ (क) 'जेहि जस जोग' से पाया गया कि ब्रह्माने छोटे बड़े सभी प्रकारके स्थान यहाँ बनाए हैं, यदि सब स्थान एकसे होते तो यथायोग्य स्थान बाँटना कैसे कहते? (ख) 'सुखी सकल रजनीचर कीन्हें'। इसका एक कारण तो यही है कि यथायोग्य स्थान सबको मिला। अर्थात् बड़ोंको बड़ा और छोटोंको छोटा स्थान मिला। यदि बड़ोंको छोटा और छोटोंको बड़ा स्थान देते तो बड़े लोग दुःख मानते। ये सब स्थान स्वर्णके मणिजटित बने हैं, यथा 'कनक भवन मनिरचित अपारा', तथापि सामान्य विशेष हैं। सामान्य स्थानोंमें सामान्य मणि और सामान्य सुवर्ण लगे हैं, विशेषमें विशेष लगे हैं। सामान्य विशेष हैं, छोटे बड़े हैं; इसीसे 'यथायोग्य' कहा। [नोट—इससे जान पड़ता है कि विभीषणजी हरिभक्त तो थे ही उन्होंने हरिमंदिर देख अपने लिये ले लिया। उसी मंदिरका वर्णन सुन्दरकांडमें है,—'भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरिमंदिर तहँ भिन्न बनावा'।]

३ (क)-'एक बार कुबेर पर धावा'। भाव कि यक्षोंको तो प्रथम ही जीत चुका है अब उनके स्वामीपर धावा किया कि उन्होंने हमारे स्थानमें अपने सेवकोंको टिकाया था। दूसरे इससे धावा किया कि इसने सुन रखा था कि उसके पास पुष्पकविमान बहुत अच्छा है, उसको छीन लानेके लिये ही गया। (ख) 'जीति लै आवा' से जनाया कि रावण और कुबेरमें भारी युद्ध हुआ, रावणको विजय प्राप्त हुई। अतः जीतकर लाना कहा।

नोट—१ 'एक बार कुबेर पर धावा' इति। कुबेरपर चढ़ाई करनेका कारण यह था कि इसके अत्याचारोंको सुनकर उन्होंने उसके पास दूत द्वारा संदेश भेजा कि "आप कुलोचित उत्तम कार्य करें। नंदन वनके उजाड़े जाने तथा ऋषियोंके वधके कारण देवता तुम्हारे विरुद्ध उद्योग कर रहे हैं। मैंने तपस्याद्वारा शंकरजीको प्रसन्न करके उनकी मित्रता प्राप्त कर ली है। तुम कुलको कलंक लगानेवाले काम मत करो।"—यह संदेश सुनकर ही वह आगबगूला हो गया और बोला कि 'तूने जो कहा है वह मैं सहन नहीं कर सकता। तेरी बातोंको सुनकर अब मैं कुबेरके ही कारण चारों लोकपालोंको यमराजके घर भेजूंगा।' यह कहकर उसने खड्गसे दूतको मार डाला और निशाचरोंको खानेको दे दिया। फिर अपने मंत्रियों और सेनासहित कुबेरपर चढ़ाई की। यहाँ घोर युद्ध हुआ जिसका वर्णन सर्ग १४ और १५ में है। अंतमें रावणने कुबेरके मस्तकपर भारी प्रहार किया जिससे वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। तब वह जयका स्मारक स्वरूप उनका पुष्पक-विमान छीन ले गया। वि० त्रि० का मत है कि लंका समुद्रके बीचमें थी अतएव बाहर जाने-आनेके लिये यानकी बड़ी आवश्यकता थी। जानता था कि भाई साहबके पास पुष्पक है, अतः उन्हींपर चढ़ाई कर दी।

टिप्पणी—४ (क) 'कौतुक ही कैलास पुनि' इति। 'पुनि' अर्थात् पुष्पकको जीत लानेके बाद तब कैलासको उठाने गया। 'कौतुक ही' = खेलमें, सहज ही। अर्थात् इसके उठानेमें कुछ परिश्रम उसे न हुआ। (ख) 'मनहुं तौलि निज बाहु बल'। भाव कि पत्थर (के बाँट) से तौल की जाती है, इसने अपने भुजाओंका बल कैलासरूपी बाँटसे तौला। तौलनेमें एक ओर भारी वस्तु रक्खी जाती है, दूसरी ओर बाँट। यहाँ कैलासपर्वतरूपी बाँट वाला पल्ला ऊपर उठ गया। इससे जनाया कि भुजबल भारी निकला। (ग) 'चला बहुत सुख पाइ' अर्थात् बहुत प्रसन्न हुआ कि मैं बड़ा बली हूँ। ☞ कैलासके उठा लेनेसे इसको बड़ा सुख हुआ इसीसे यह बारंबार कैलास उठानेकी अपनी प्रशंसा करता है, यथा 'सुनु सठ सोइ रावन बलसीला। हरगिरि जान जासु भुज लीला। ६।२५।११।', 'हरगिरि मथन निरखु मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू। ६।२८।' तथा 'पुनि नभसर मम करनिकर कमलन्हि पर कर बास। सोभत भयो मराल इव संभु सहित कैलास। ६।२२।'

नोट—२ कौतुक ही अर्थात् गेंदसरीखा, यथा 'निज भुज बल अति अतुल कहउँ क्यों कंदुक ज्यों कैलास उठायो' (गीतावली लं० ३)। इसीको कवितावलीमें इस तरह कहा है—'जो दससीस महीधर ईसको बीस भुजा खुलि खेलनहारो। लोकप दिग्गज दानव देव सबै सहमैं सुनि साहस भारो।' (क० लं० ३८)। कुबेरको जीतकर पुष्पकविमानका ले आना कहकर कैलासको उठाना कहा। इसमें भाव यह है कि पुष्पकपर चढ़कर कैलासको गया। नन्दीश्वरने उसे वहाँ रोका। इसपर उसने क्रोधमें भरकर कैलासको उठा लिया। सहज ही कैलासको उठा लिया इससे विश्वास हुआ कि अब कोई मेरे बलके सामने खड़ा न हो सकेगा। अतएव सुखी हुआ। ☞इस कल्पके रावणका कैलासके नीचे दब जाना नहीं कहा गया।

सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥१॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥२॥
अति बल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहुं नहि प्रतिभट जग जाता ॥३॥
करै पान सोवै षट मासा। जागत होइ तिहूं पुर त्रासा ॥४॥
जौं दिनप्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई ॥५॥

शब्दार्थ—नूतन = नवीन, नया। प्रति = हर एक। प्रतिभट=[प्रति (= समान। बराबर, जोड़ वा मुकाबलेका)+भट] मुकाबला करनेवाला; समान शक्तिवाला योद्धा। जाता = पैदा हुआ। तिहुँ पुर=त्रैलोक्य, तीनोंलोकोंमें। चौपट=विध्वंस, नष्ट, सत्यानाश।

अर्थ—सुख, संपत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, जय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई ये सब नित्य नवीन बढ़ते जाते थे। जैसे प्रत्येक लाभपर लोभ अधिक होता जाता है। १-२। अत्यंत बलवान् कुंभकर्ण ऐसा उसका भाई था कि संसारमें जिसकी जोड़का योधा नहीं पैदा हुआ ॥ ३ ॥ वह (मदिरा) पीता और छः महीने सोता था। उसके जागनेपर तीनों लोक भयभीत हो जाते थे ॥ ४ ॥ यदि वह प्रति दिन भोजन करता (तो) सब जगत् शीघ्र ही चौपट हो जाता ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुख संपति सुत सेन सहाई।०' इति। सुखको प्रथम कहनेका भाव कि संपत्ति सुत, आदि जितने गिनाए इन सबकी प्राप्तिमें उसे सुख होता है। अधर्मीको सुख न मिलना चाहिए, यथा 'करहिं पाप पावहिं दुख०' और रावणको सुख प्राप्त होना लिखते हैं, यह कैसा? समाधान यह है कि भानुप्रतापशरीरमें जो भारी धर्म इसने किए थे उनका फल अब प्राप्त हुआ, यथा 'जानि सरदरितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए। ४।१६।' इसी तरह नारदकल्पवाले हरगण जो शापसे रावण हुए उनको नारदका

आशीर्वाद था कि 'निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ। १३५।६।' इससे उस रावणको भी सुख हुआ। (ख) भानुप्रताप शरीरमें राजाको अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों प्राप्त थे। यथा 'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु। १५४।', पर इस शरीरमें केवल सुखसंपत्तिकी प्राप्ति कही, धर्म और मोक्षकी प्राप्ति नहीं कही; क्योंकि राक्षसतनमें धर्म और मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। धर्म हो तो राक्षस ही क्यों कहलाएँ? (ग) 'सहाई'। सुभट, परिवार मंत्री आदि ये ही सब 'सहाय' हैं।

२ (क) 'नित नूतन सब बाढ़त जाई'। भाव कि पूर्व जन्मका भारी पुण्य है, यथा 'जहँ लगि कहे पुरान श्रुति एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप किये सहित अनुराग। १५५।' (ख) 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' इति। ☞ लोभका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि जैसे लोभका बढ़ना विकार है वैसे ही रावणके सुखसंपत्ति आदिका बढ़ना विकार है, जैसे लोभकी बाढ़का अन्त नहीं है वैसे ही रावणके सुख सम्पत्ति आदिकी बाढ़का अन्त नहीं। ☞ 'नित नूतन सब बाढ़त जाई' में 'सब' पदके साथ 'जाई' एकवचन दिया है, चाहिए था कि बहुवचन 'जाहीं' देते। (इसमें कारण यह है कि दूसरे चरणमें 'लोभ अधिकाई' एकवचन है उसीके साहचर्य्यसे यहाँ भी 'जाई' ही कहा। अथवा,) जाईं बहुबचन है उसे सानुस्वार उच्चारण करना चाहिए। यदि कहो कि दूसरी ओर तो 'अधिकाई' एकवचन है जो सानुस्वार नहीं है तो उसका उत्तर यह है कि ऐसी बहुतसी चौपाइयाँ इसी ग्रंथमें हैं। यथा 'अब सब बिप्र बोलाइ गुसाईं※। देहु धेनु सब भाँति बनाई। ३३०।७।' वहाँ प्रथम चरणमें अनुस्वार है, दूसरेमें नहीं। (च) 'प्रति लाभ' का भाव कि जैसे जैसे लाभ बढ़ता है तैसे तैसे लोभ बढ़ता है। ☞ जैसे सुख संपत्तिकी बाढ़के लिए 'जिमि प्रति लाभ लोभ०' का दृष्टान्त दिया वैसे ही रावणके सिरोंकी बाढ़के लिए भी यही दृष्टान्त दिया गया है, यथा 'काटत बढ़हिं सीस समुदाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई। ६।१०१।१।' विशेष लंकाकांडमें देखिये।

नोट—१ 'प्रति लाभ लोभ अधिकाई' अर्थात् जैसे जैसे सुख संपत्ति आदि बढ़ते जाते हैं तैसे तैसे मनुष्यका लोभ बढ़ता है। उसके जीमें सदा एक न एक पदार्थकी कमी ही बनी रहती है जिसके पूरा करनेमें वह लगा रहता है। कितना ही घर भर जाय फिर भी संतोष नहीं होता, हवस नहीं मरती। '९९ का फेर' लोकोक्ति है। जैसे जैसे वस्तुकी प्राप्ति होती जाती है तैसे तैसे लालच बढ़ता है कि अमुक वस्तु और हो जाय। यथा 'कूस गात ललात जो रोटिन को घरबात घरै खुरपी खरिया। तिन्ह सोन सुमेरु से ढेर लहेउ मन तो न भरेउ घर पै भरिया।' इसी प्रकार रावणको ज्यों ज्यों सुख संपत्ति आदिकी नित्य प्रति प्राप्ति होती है त्यों त्यों उसे और अधिककी चाह होती है, वह नित्यप्रति उसके बढ़ानेकी फिक्रमें लगा रहता है।—यह भाव भी जनाया।

वि० त्रि०—"अधर्मेणैधते पूर्वं, ततो भद्राणि पश्यति, ततः सपत्नान् जयति, समूलश्च विनश्यति।" अर्थात् पहिले अधर्मसे वृद्धि होती है, तब कल्याण दिखाई पड़ता है, फिर शत्रुओंको जीतता है, अन्तमें मूलके सहित नष्ट हो जाता है। रावणने अधर्मपर पैर रक्खा है। पहिले घरमें ही छीन छोर आरम्भ किया। बड़े भाईकी लंका छीनी, पुष्पक विमान छीना। इष्टदेवका वासस्थान उखाड़ा। देखनेमें बढ़ोत्तरी होने लगी, यह 'अधर्मेणैधते' का उदाहरण है। नित्य नया सुख, नित्य नया अर्थलाभ, नित्य नई कुटुम्बवृद्धि, नित्य नई मित्रप्राप्ति, नित्य नई जीत, नित्य नये प्रताप, नित्य नया सामर्थ्य, नित्य नया आविष्कार और नित्य नई प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। बढ़ोत्तरीकी उपमा देते हैं—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'। लाभके साथ लोभके बढ़नेकी उपमा देकर दोषका बढ़ना सूचित करते हैं।

※ श्रावणकुंज का पाठ 'गुसाई' है। परंतु अन्यत्र ऐसे प्रयोग मिलते हैं। यथा 'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं। मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं। ३२२।' इत्यादि।

टिप्पणी—३ (क) 'अति बल कुंभकरन अस भ्राता'—यहाँ 'अति बल' कहकर दूसरे चरणमें 'अति बल' का स्वरूप दिखाते हैं कि इसके बराबरका बलवान् योद्धा संसारमें नहीं है—'जेहि कहँ नहिं प्रतिभट जग जाता'। 'जग जाता' अर्थात् त्रैलोक्यमें नहीं पैदा हुआ। यहाँ जग=त्रैलोक्य। यथा 'जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा।' (तीनों लोक भयभीत हो जाते थे इससे स्पष्ट है कि तीनों लोकोंमें ऐसा बलवान् कोई न था)। (ख) ☞रावणमें बल होना कहा, यथा 'मनहु तौलि निज बाहुबल चला बहुत सुख पाइ।', 'जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।'' और कुंभकर्णमें 'अति बल' कहते हैं। इससे सूचित किया कि रावणसे कुम्भकर्ण अधिक बलवान् है। *यह बात लंकाकांडमें स्पष्ट है*। रावणके घूँसेसे हनुमान्‌जी न गिरे पर कुम्भकर्णके घूँसेसे वे 'घुर्मित भूतल परेउ तुरंता।' १७६।३ देखिए।

प्र० सं०—'अति बल कुंभकरन अस भ्राता'।—रावणको इसके बलका बड़ा गर्व था। जब तब उसके वचनोंसे यह बात स्पष्ट होती है, यथा 'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध सक्रारि। ६।२७।' इसके बलका उसको बड़ा भरोसा था। यथा 'यह वृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि पुनि सिर धुनेऊ॥ ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा। ६।६१।', 'बहु बिलाप दसकंधर करई। बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई। ७१।' ऐसा बली था कि रणभूमिमें अकेला जा खड़ा हुआ तो भी माया छलसे इसने युद्ध न किया, जैसे रावण और मेघनादने किया था। ('अस' शब्द भाईपनके उत्कर्षका बोधक है। वि० त्रि०)

टिप्पणी—४ 'करै पान सोवै षटमासा।···' इति। (क) 'करै पान सोवै' का भाव कि मदिरा पान करनेसे निद्राका सुख बहुत मिलता है। निद्रा बहुत आती है। यथा 'करसि पान सोवसि दिन राती' (शूर्पणखा वचन रावण प्रति)। इसीसे मदिरा पान करना कहकर तब छः मास सोना कहा। 'पान करना' मदिरा पान करनेका अर्थ देता है, यथा 'महिष खाइ करि मदिरा पाना। ६।६३।', 'मान ते ज्ञान पान ते लाजा। ३।२१।' प्रथम जो कहा था कि 'मांगेसि नींद मास षट केरी', अब यहाँ उसीको चरितार्थ करते हैं कि 'करै पान सोवै षट मासा'। ('जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा' का भाव कि कुम्भकर्णसे कोई युद्ध क्या कर सके? तीनों लोक तो उसका आहार ही हैं। (कहा जाता है कि उसके जागनेके कई दिन पूर्व ही रावण तीनों लोकोंमें पहरा बिठा देता था कि कोई भागने न पावे।)

५ 'जौं दिन प्रति अहार कर सोई।···' इति। भाव कि एक दिनके आहारको विचारकर तो तीनों लोकोंमें त्रास उत्पन्न हो जाता है तब 'दिनप्रति' अर्थात् नित्यके आहारमें संसार कैसे रह सकता है? ☞इस अर्थकी चौपाई एक बार पूर्व हो चुकी है, यथा 'जौं एहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू। १७७।७।' यहाँ पुनः यही बात कहते हैं 'जौं दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई'। यह पुनरुक्ति भी साभिप्राय है। वहाँ ब्रह्माके विस्मयका कारण यह बताया है, उनके विस्मय (होने) पर ऐसा कहा है और यहाँ कुम्भकर्णकी बड़ाईपर ऐसा कहते हैं। पुनः, दूसरा समाधान इस पुनरुक्तिका यह है कि ब्रह्माको विस्मय हुआ कि चार प्रहरकी रात्रि सोकर जब जागे तब एक दिन हो, ऐसे ऐसे दिनमें जो यह रोज आहार करेगा तो संसार उजड़ जायगा और यहाँ कहते हैं कि जब छः महीने सोकर यह जगा तब इसका एक दिन हुआ; ऐसे दिनमें जो यह रोज आहार करे तो संसारका बहुत जल्द नाश हो जायगा। ☞यहाँ 'बेगि' चौपट होगा यह कहनेमें भाव यह है कि छः महीनेकी भूखके लिए आहार बहुत चाहिए, पूरा आहार मिले तो संसार नाश ही जायगा। 'अहार कर सोई' कहकर सूचित करते हैं कि राक्षस इसके लिए ला लाकर इसे आहार कराते हैं, यदि कहीं वह स्वयं ही उठकर जाकर अपनेसे पकड़पकड़कर खाने लगे तो तीन दिनमें तीनों लोक उजड़ जायँ।

समरधीर नहि जाइ बखाना। तेहि सम अमित बीर बलवाना॥६॥

बारिदनाद जेठ सुत तासू । भट महुँ प्रथम लीक जग जासू ।।७।।
जेहि न होइ रन सनमुख कोई । सुरपुर नितहि परावन होई ।।८।।

दोहा—कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय ।
एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ।।१८०।।

शब्दार्थ—बारिदनाद = मेघनाद । यह मंदोदरीके उदरसे रावणका प्रथम और सबसे बड़ा पुत्र था । जन्मते ही यह मेघवत् गर्जा था अतः मेघनाद नाम पड़ा । दैत्यगुरु शुक्राचार्य्यकी सहायतासे इसने निकुंभिलामें सात भारी यज्ञ कर शिवजीको प्रसन्नकर दिव्य रथ, शर, चाप, शस्त्र और तामसी माया प्राप्त की । इन्द्रको जब ब्रह्माजी छुड़ाने आए तब इसने उनसे बदलेमें यह वरदान पाया कि जबजब अग्निमें हवन करे तब तब एक दिव्य रथ इसको प्राप्त हुआ करे जिसपर जब तक यह सवार रहे तबतक अजय और अमर रहे । लंकाकांडकी टीकामें इसके यज्ञों और वरदानोंकी कथायें विशेषरूपसे दी गई हैं । कुमुख = दुर्मुख नामका निशाचर । कुलिसरद = वज्रदंत राक्षस ।

अर्थ—(वह) रणधीर (ऐसा था कि) वर्णन नहीं हो सकता । (लंकामें) उसके समान अगणित बली वीर थे ।।६।। मेघनाद उसका बड़ा पुत्र था, जिसकी योद्धाओंमें प्रथम गणना थी ।।७।। जिसके सामने रणमें कोई न (खड़ा) होता था और स्वर्गलोकमें तो सदा भगदड़ ही मची रहती थी ।।८।। दुर्मुख, अकम्पन, वज्रदन्त, धूमकेतु, अतिकाय ऐसे ऐसे उत्तम योद्धाओंके समूहके समूह थे (जिनमेंसे) एक अर्थात् हर एक अकेले ही जगत्‌भरको जीत सकता था ।।१८०।।

टिप्पणी—१ (क) 'समर धीर नहिं जाइ बखाना' । भाव कि कुम्भकर्णके बलवान होने, भट होने और समरधीर होनेका बखान तो तब किया जा सके जब किसी भटसे युद्ध हो, परन्तु जब उसकी समानताका वीर ही कोई जगत्‌भरमें नहीं है तब बखान क्या करें ? कैसे करें ? अतएव 'नहिं जाइ बखाना' कहा । जब लंकामें युद्ध हुआ तब इसकी समरधीरता वर्णन करते हैं, यथा 'मुर्यो न मन तन टर्यो न टार्यो । जिमि गज अर्कफलन्हि को मार्यो । ६ । ६४ ।' ऐसा समरधीर है । 'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव । काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव । ६ । ६४ ।'—ऐसा बलवान है । और शरीर ऐसा भारी है कि पर्वत उसके शरीरमें ऐसे लगते हैं जैसे हाथीके देहमें अर्कफल लगें अर्थात् पर्वत शरीरमें टकराते हैं तो उसके शरीरको कुछ मालूम भी नहीं होता । (ख) 'तेहि सम अमित बीर बलवाना' । भाव कि आहारमें इसके समान कोई न था, वीर इसके समान बहुत थे ।

नोट—१ पहले तो लिखा कि उसके मुकाबिलेका 'नहिं प्रतिभट जग जाता' और अब लिखते हैं कि 'तेहि सम अमित बीर बलवाना' । इन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध देख पड़ता है पर वस्तुतः है नहीं । तात्पर्य्य यह है कि लंकामें उनके जोड़के हैं पर अन्यत्र कहीं नहीं हैं । लड़ाई बाहरवालोंसे की जाती है न कि घरमें ही । 'प्रतिभट' का अर्थ 'मुकाबिलका शत्रु' है । वि० त्रि० लिखते हैं कि 'सम' ईषत न्यून अर्थात् 'कुछ कम' के अर्थमें प्रयुक्त होता है ।

टिप्पणी—२ 'बारिदनाद जेठ सुत तासू ।०' इति । (क) ☞ क्रमसे सबका बल वर्णन करते हैं । प्रथम रावणका बल कहा, तब कुम्भकर्णका बल कहा, उसके बाद विभीषणका बल कहना चाहिए था; किन्तु उनका बल न कहकर बड़े लड़केका बल कहने लगे । कारण कि विभीषणजीकी गणना भटोंमें नहीं है, उनकी गिनती तो महाभागवतोंमें है, जैसा पूर्व दोहा १७६।४-५ और १७७ में लिख आये हैं । इसीसे विभीषणका बल न कहा । [रावण उन्हें स्वयं भट न समझता था, पिद्दी वा कादर समझता था, यथा 'करत राजु लंका सठ त्यागी । होइहि जव कर कीट अभागी ।।', 'सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई । सागर सन ठानी मचलाई',

'सचिव सभीत बिभीषन जाके' इत्यादि । अतः भटोंमें इनकी गिनती न की गई । भाईके बाद लड़कोंका नंबर (गणना) आता है, अतः पुत्रोंमें प्रथम बड़े पुत्रका बल कहते हैं] 'तासू'का भाव कि जिसका कुंभकर्ण ऐसा अति बली भाई है, उसीका जेठा पुत्र मेघनाद है । 'जेठ सुत' कहनेका भाव कि वर्णन क्रमसे कर रहे हैं यह सबसे बड़ा है अतः प्रथम इसके बलका वर्णन करते हैं । फिर इससे छोटे पुत्रों कुमुख आदिका वर्णन करेंगे । (ख) ''भट महुँ प्रथम लीक जग जासू' इति । अर्थात् जगत्भरके वीरोंमें श्रेष्ठ है । भटोंमें प्रथम गणना है, इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि यह न समझो कि रावणके हजारों पुत्रोंमें यह प्रथम है किन्तु तीनों लोकोंके भटोंमें इसकी प्रथम रेखा है । वाल्मीकीय उत्तरकांडमें श्रीअगस्त्यजीने रावणवधके पश्चात् श्रीअयोध्याजीमें श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसा कहा था कि रावणवध कोई बड़ी बात न थी । मेघनाद उससे कहीं अधिक प्रबल और पराक्रमी तथा मायावी था, इन्द्रने रावणको परास्त ही कर लिया था यदि मेघनाद न पहुँच गया होता । उसने पहुँचकर इन्द्रको बाँध लिया तभीसे उसका नाम इन्द्रजित् हुआ ।

३ (क) 'जेहि न होइ रन सनमुख कोई' इति । भटोंमें इसकी प्रथम रेखा है, इसी वचनको चरितार्थ करते हैं कि इन्द्रादि देवता जो बड़े भट हैं वे भी उसके सम्मुख नहीं होते । (ख) 'सुरपुर नितहिं परावन होई' । सुरपुर कहकर सूचित किया कि मेघनादका आगमन सुनकर सारे सुरपुरके सब देवता भाग जाते थे, एक भी वहाँ न रह जाता था । जैसे 'रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तकेउ मेरु गिरिखोहा ।', वैसे ही इसका आगमन सुननेपर होता था । नित्य ही भगदड़ मची रहती थी, इस कथनका भाव यह है कि देवता राक्षसोंके बैरी हैं, यथा *'सुनहु सकल रजनीचरजूथा हमरे बैरी बिबुधबरूथा'* । इसीसे राक्षस सदा इनके पीछे पड़े रहते थे । पुत्रका बल कहकर अब छोटे पुत्रोंका बल कहते हैं । ये सब बलमें कुंभकर्णके समान हैं, यथा 'तेहि सम अमित बीर बलवाना ।' इनके समान लंकामें समूह भट हैं । ☞इसी प्रकार रामदलका वर्णन किया है । यथा 'ए कपि सब सुग्रीव समाना । इन सम कोटिन्ह गनै को नाना । ५।५५।१ ।' (ख) रावण कुंभकर्ण और मेघनाद भारी वीर हैं । यथा 'कुंभकरन अस बंधु मम सुत प्रसिद्ध संक्रारि । मोर पराक्रम नहि सुनेहि जितेउँ चराचर झारि । ६।२७ ।' अतएव इनके बल पृथक् पृथक् कहे और सबोंका बल एकट्ठा कहा । (ग) रावण कुम्भकर्ण और मेघनादकी जोड़का त्रैलोक्यमें कोई नहीं है, यथा 'रनमदमत्त फिरइ जग धावा । प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा । १८२।६ ।' इति रावणः । 'अति बल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता' इति कुम्भकर्णः । और, *'जेहिं न होइ रन सनमुख कोई'* इति मेघनादः । भाव यह कि अन्य वीरोंकी जगत्में जोड़ियाँ हैं, उनके सामने वीर सम्मुख हो सकते हैं पर यह सब वीर ऐसे हैं कि जगत्को जीत सकते हैं । (रावणने राज्यकी नींव डाली, कुम्भकर्णने त्रैलोक्यको संत्रस्त किया । मेघनादकी धाक स्वर्गतक जम गई । वि० त्रि०) ।

नोट—२ यहाँ यह शंका होती है कि जब एक भट विश्वभरको जीत लेनेके योग्य था तो ये वानरोंके हाथोंसे कैसे मारे गए ? इसका समाधान स्वयं ग्रन्थकारने शुकद्वारा सुन्दरकांडमें किया है । श्रीरघुनाथजीकी सेनाका वर्णन इसकी जोड़में यों है—''पूछेहु नाथ कीस कटकाई । बदन कोटि सत बरनि न जाई ॥ नाना बरन भालु कपि धारी । बिकटानन बिसाल भयकारी ॥''द्विबिद मयंद नील नल अंगदादि बिकटासि । दधिमुख केहरि कुमुद गव जामवंत बलरासि ॥ ए कपि सब सुग्रीव समाना । इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥ रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं । तृन समान त्रैलोकहिं गनहीं ॥'' निशाचर लोग जगत् जीतनेको समर्थ थे और वानरभालु जगत्को तिनकेके समान गिनते थे । संसारमें वे बली तो किसीको समझते ही न थे । पर यह था श्रीरामकृपासे । जगत्का अर्थ 'तीनों लोक' लेनेसे यह भाव हुआ और यदि 'जग' से मर्त्यलोकमात्र लें तब तो वे 'जग' के लिए भट हैं और वानरभालु त्रैलोक्यके लिये भट हैं । पर वस्तुतः जगका अर्थ यहाँ 'तीनों लोक' है ।

कामरूप जानहिं सब माया । सपनेहुं जिन्ह के धरम न दाया ॥१॥
दसमुख बैठ सभां एक बारा । देखि अमित आपन परिवारा ॥२॥
सुत समूह जन परिजन नाती । गनै को पार निसाचर जाती ॥३॥
सेन बिलोकि सहज अभिमानी । बोला बचन क्रोध मद सानी ॥४॥
सुनहु सकल रजनीचर जूथा । हमरे बैरी बिबुधबरूथा ॥५॥

शब्दार्थ—कामरूप = जैसी कामना करें जैसी इच्छा हो वैसा रूप धारण कर सकने वाला । माया = कपट, छलमय रचना, इन्द्रजाल, यथा "अनिप अकंपन अरु अतिकाया । बिचलत सेन कीन्हि इन माया ॥ भयउ निमिष महँ अति अँधियारा । वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा ॥ देखि निबिड़ तम दसहुँ दिसि कपिदल भयउ खँभार । एकहिं एक न देखहिं जहँ तहँ करहिँ पुकार ॥ ६।४६ ।" "नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा । महि ते प्रगट होहिं जल धारा ॥ नाना भाँति पिसाच पिसाची । मारु काटु धुनि बोलहिं नाची ॥ बिष्ठा पूय रुधिर कच हाड़ा । बरषइ कबहुँ उपल बहु छाड़ा ॥ बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा । सूझ न आपन हाथ पसारा ॥ कपि अकुलाने माया देखे ।···६।५१ ।", "धरु धरु मारु सुनिय धुनि काना । जो मारइ तेहि कोउ न जाना ॥ अवघट घाट बाट गिरि कंदर । माया बल कीन्हेसि सर पंजर ॥ इत्यादि । ६।७२ ।" दाया = दया । सभां = सभामें । जूथ (यूथ) = वृंद, झुंड । बरूथ = झुंड । मद=धन यौवन सौन्दर्यसे जो हर्ष युक्त क्षोभ होता है ।

अर्थ—सब कामरूप थे और सब आसुरी माया जानते थे, स्वप्नमें भी उनके न धर्म ही था न दया ॥ १ ॥ रावण एक बार सभामें बैठा अपने अगणित परिवारको देखकर ॥ २ ॥ (कि) पुत्र, सेवक, कुटुम्बी, और नाती ढेरके ढेर थे । (भला) निशाचर जातिको गिनाकर कौन पार पा सकता है (कौन गिना सकता है ?) ॥ ३ ॥ (और) सेनाको देखकर स्वाभाविक अभिमानी रावण क्रोध और अभिमानसे भरे हुए वचन बोला ॥ ४ ॥ समस्त निशाचरवृंदो ! सुनो । देववृंद हमारे शत्रु हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कामरूप जानहिं सब माया' इति । भाव कि जैसी माया करते हैं वैसा रूप धरते हैं । जैसे कि भानुप्रतापके यहाँ मायामय रसोई बनानेके लिए कालकेतुने पुरोहितका रूप धारण किया । श्रीसीताजीको हर लानेके लिए रावण यतीरूप बना । और श्रीरामजीको छलनेके लिए मारीच कंचन मृग बना । इसीसे कामरूप और मायाका जानना एकसाथ एक ही चरणमें कहे । यही बात सुन्दरकांडमें विभीषणजीके लिये सुग्रीवने कही है, यथा 'जानि न जाइ निसाचर माया । कामरूप केहि कारन आया' । (ख) 'सपनेहु जिन्हके धरम न दाया' । स्वप्नमें भी धर्म और दया नहीं है इस कथनका भाव यह है कि स्वप्नावस्थामें मनुष्यका मन अपने वशमें नहीं होता है, जाग्रतिमें अपने वशमें होता है, इधर उधर जाय तो समझकर लौटा सकते हैं पर राक्षसोंके मनमें तो स्वप्नमें भी धर्मादि नहीं हैं । तात्पर्य्य कि ये स्वाभाविक अधर्मी और निर्दयी हैं । धर्म नहीं है अर्थात् पापी हैं । दया नहीं है अर्थात् हिंसक हैं । यथा 'कृपारहित हिंसक सब पापी ।' धर्म बाहरके हैं, दया अंतःकरण की । बाह्याभ्यन्तरके भेदसे दया और धर्म दो बातें कहीं (नहीं तो दया भी धर्म ही है) ।

वि० त्रि०—माया कुहुक विद्या है, जिससे प्रकृतिके मर्मको जानकर बड़े-बड़े चमत्कारोंका प्रादुर्भाव होता है । आजकल भी उस विद्याका दौर-दौरा है, नहीं तो 'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये । आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥' (अर्थात्) कर्म वही है जिससे बंधन न हो, विद्या वही है जिससे मुक्ति हो, अन्य कर्म तो आयासके लिये है और अन्य विद्या शिल्पकी निपुणता मात्र है ।

१८० (१) से यहाँ 'सपनेहुँ जिन्हके धरम न दाया ।' तक 'अधर्मेणैधते' कहा । आगे 'ततो भद्राणि पश्यति' कहते हैं ।

टिप्पणी—२ (क) 'दससुख बैठ सभा एक बारा' इति । 'एकबारा' का भाव कि सभामें तो रोज ही बैठा करता था और परिवारको नित्य ही देखता था पर यहाँ चर्चा उस दिनकी करते हैं जिस दिन सभामें बैठ परिवारको देखकर उसने जगत्‌में उपद्रव करनेका हुक्म दिया । (ख)-'देखि अमित' से जनाया कि परिवार इतना बढ़ गया है कि गिनती नहीं की जा सकती । परिवारका नित्य नवीन बढ़ना पूर्व कह आए, यथा 'सुख संपति सुत सेन सहाई । जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ।। नित नूतन सब बाढ़त जाई ।' ☞आगे अपना परिवार गिनाता है । 'सुत···' ।

३ 'सुत समूह···' इति । 'समूह' का अन्वय सुत जन परिजन नाती तीनोंके साथ है । निशाचर जातिका पार कौन गने अर्थात् निशिचरजाति अपार है, कोई गिन नहीं सकता । रावणकी बाढ़को लोभकी उपमा दी थी,—'नित नूतन सब बाढ़त जाई । जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' । लोभका पार नहीं है, इसी तरह निशाचरोंकी जातिका पार नहीं है ।

नोट—१ 'गनै को पार···' इति । वाल्मीकीयमें इस संबंधमें कथा है कि राक्षसपत्नियाँ गर्भवती होते ही पुत्र जनेंगी और वह पुत्र जन्मते ही सयाना हो जायगा । इसीसे राक्षसोंकी गिनती नहीं हो सकती । वर की कथा इस प्रकार है—विद्युत्केश राक्षसकी पत्नी सालकटंकटा पुत्रको जन्म देते ही उसे मन्दराचलपर छोड़कर पुनः पतिके पास जाकर विहार करने लगी । उस बालकके रोनेका शब्द उधरसे आकाशमार्गसे जाते हुए शिव-पार्वतीजीने सुना । उसे देखकर उमाजीको दया लगी । उन्होंने शंकरजीसे कहकर उसको उसी दिन माताकी उम्रका और अमर करा दिया । पार्वतीजीने उसी समय राक्षसियोंको यह वर दिया कि वे गर्भधारण करते ही बालक जनें और वह बालक तुरंत माताके समान उम्रवाला हो जाय । यथा "सद्योपलब्धि-गर्भस्य प्रसूतिः सद्य एव च । सद्य एव वयः प्राप्तिर्मातुरेव वयः समम् । वाल्मी० ७।४।३१ ।"

टिप्पणी—४ (क) 'सेन बिलोकि सहज अभिमानी···' इति । भाव कि रावण स्वाभाविक ही अभिमानी है, उसपर भी अब उसने अपनी अपार सेना देखी; इससे उसका अभिमान और भी अधिक हो गया । क्रोध और मद रावणके वचनोंमें आगे स्पष्ट हैं, अतः 'क्रोधमदसानी' कहा । 'सेन बिलोकि' से बाहरी अभिमानका हेतु कहा और 'सहज अभिमानी' से अंतःकरणका अभिमान कहा । इसीतरह क्रोध और मद अंतर्वृत्तियाँ हैं और क्रोधमदसाने वचन कहना बाह्य वृत्ति है । इस तरह जनाया कि उसका भीतर बाहर क्रोध और मदसे आक्रान्त है । (ख) 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा ।···' इति । बैरी हैं क्योंकि राक्षसोंके क़िलेपर दख़ल कर लिया था, राक्षसोंको मार डाला था । जैसे देवताओंकी जातियाँ बहुत हैं वैसे ही निशिचरजातियाँ बहुत हैं । सब जातियोंके यूथयूथ बैठे हैं, इसीसे रावण कहता है कि 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा' । 'बिबुध बरूथा' कहकर समस्त देवताओंको अपना बैरी जनाया । (देख लिया कि अपना परिवार ही लंकाकी रक्षा करने में समर्थ है, अतः सम्पूर्ण सेनाको आज्ञा देता है । वि० त्रि०) ।

ते सनमुख नहि करहिँ* लराई । देखि सबल रिपु जाहिं पराई ।।६।।
तिन्ह† कर मरन एक बिधि होई । कहौं बुझाइ सुनहु अब सोई ।।७।।
द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ।।८।।
दोहा—छुधाछीन बलहीन सुर सहजेहिं मिलिहहिं आइ ।
तब मारिहौं कि छाड़िहौं भली भाँति अपनाइ ।।१८१।।

अर्थ—वे सम्मुख लड़ाई नहीं करते, बलवान् शत्रुको देखकर भाग जाते हैं ।। ६ ।। उनका मरण एक

* 'हि' था पर अनुस्वारपर हरताल लगा है । † पोथीमें 'तेन्ह' है ।

ही प्रकार हो सकता है। मैं उसे अब समझाकर कहता हूँ, सुनो ॥७॥ ब्रह्मभोज (ब्राह्मणभोजन), यज्ञ, होम, श्राद्ध, तुम इन सबोंमें जाकर विघ्न डालो ॥ ८ ॥ भूखसे पीड़ित (दुर्बल) और निर्बल होकर देवता सहज ही (स्वाभाविक ही) आ मिलेंगे तब उनको या तो मार डालूँगा या भली भाँति अपने वशमें करके छोड़ दूँगा ॥ १८१ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'ते सनमुख नहिं करहिं लराई ।०', यथा 'देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गए पराई ।', 'जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई ।', 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तकेउ मेरु गिरि खोहा' इत्यादि । (ख) 'देखि सबल रिपु जाहिं पराई' का भाव कि देवता कायर नहीं हैं, शत्रुको प्रबल देखकर भाग जाते हैं। नीति यही कहती है कि प्रबल शत्रुसे युद्ध न करे, यथा 'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि। ६।२३ ।' यह 'मद सानी' वाणी है। (ग) 'तिन्ह कर मरन एक बिधि होई'। मरणका भाव कि शत्रुको वध कर डालना चाहिए, छोड़ना न चाहिए, यथा 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ'। पुनः, यथा—"ऋणशेषं व्याधिशेषं शत्रुशेषं तथैव च। पुनः पुनः प्रवर्द्धन्ते तस्माच्छेषं न कारयेत् ।" अर्थात् ऋणशेष, व्याधिशेष, शत्रुशेष ये तीन शेष बढ़ा ही करते हैं अतः इन्हें सर्वथा निर्मूल कर देना चाहिये। इसीसे देवताओंके मरणका उपाय बताता है। देवताओंने हमारी लंका जबरदस्ती लेली थी उसका बदला तो हो गया कि हमने लंकापर दख़ल करलिया, रहगया मरण, उन्होंने राक्षसोंको मार डाला था,—'ते सब सुरन्ह समर संहारे', इसका बदला बाक़ी है। (उनको मारनेसे मारनेका बदला चुकेगा) उसका यत्न बताता है। ☞यह 'क्रोधसानी' वाणी है। (घ) 'द्विज भोजन मख होम सराधा ।०' इति । ब्राह्मणभोजन सब धर्मोंका पोषक है—मखका, होमका, श्राद्धका, इत्यादि । इसीसे सबके आदिमें इसे लिखा। देवता दो प्रकारके हैं। एक तो इन्द्रादि, दूसरे पितृदेव । मख और होम तो इन्द्रादि पाते हैं। और श्राद्ध पितृदेव पाते हैं।

वि० त्रि०—मर्त्यलोक और देवलोकमें एक व्यापार चलता है। पूर्वकालमें यज्ञके सहित प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा कि इसी यज्ञसे तुमलोग बढ़ोगे, यह तुम्हारे लिये कामधेनु होगा। यज्ञसे तृप्त होकर देवता तुमलोगोंको तृप्त करेंगे। तबसे यह व्यापार ब्रह्मभोज, यज्ञ, होम और श्राद्धके रूपमें चल पड़ा है। आहुतिमें दिये हुए अन्नसे अमृत बनता है, उसीसे देवता पुष्ट होते और मर्त्यलोकका कल्याण करते हैं।

टिप्पणी—२ 'छुधाछीन बलहीन···' इति। (क) 'सहजहि' का भाव कि अभी तो ढूँढ़े भी नहीं मिलते किन्तु तब अपनेसे आकर मिलेंगे। ☞यहाँ देवताओंके विषयमें 'मारिहौं कि छाँड़िहौं', वध करना अथवा छोड़ना, दो बातें कहीं। क्योंकि नीतिशास्त्रमें यही लिखा है कि शत्रुको वध कर डाले नहीं तो अपने अधीन कर रक्खे। शत्रु स्वतंत्र न रहने पावे। वध मुख्य है, इसीसे वधको प्रथम कहा। छोड़ना गौण है, अतः उसे पीछे कहा। गिरिधरकविजीने भी लिखा है—'जाकी धन धरती हरी ताहि न लीजै संग। जौ संग राखें ही बने तौ करि राखु अपंग'। (ख) 'भली भाँति अपनाइ' अर्थात् सबोंको सेवक बनाकर रक्खूँगा। जैसा कि नाटक इत्यादिमें कहा है—"इंद्रं माल्यकरं सहस्रकिरणं द्वारि प्रतीहारकं चन्द्रं छत्रधरं समीरवरुणौ संमार्जयंतौ गृहान्। पाचक्ये परिनिष्ठितं हुतवहं किं मद्गृहेनेक्षसे···ह०ना० ८।२३।" अर्थात् रावण गर्वसे अंगदसे कहता है कि इन्द्र तो मेरा फूलमाली है, सूर्य मेरे द्वारका ड्योढ़ीदार है, चन्द्रमा मेरे छत्रका धारण करनेवाला है, पवन और वरुण मेरे झाड़ूदार हैं, अग्निदेव मेरा रसोइया है। क्या तू इसे नहीं देखता ? पुनः यथा 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता', 'दिगपालन्ह मैं नीर भरावा। ६।२८।'

मेघनाद कहुँ पुनि हंकरावा। दीन्ही सिख बलु बयरु बढ़ावा ॥१॥
जे सुर समरधीर बलवाना। जिन्ह कें लरिबे कर अभिमाना ॥२॥

तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी । उठि सुत पितु-अनुसासन काँधी ॥३॥
एहि बिधि सबही अज्ञा दीन्ही । आपुन* चलेउ गदा कर लीन्ही ॥४॥
चलत दसानन डोलति अवनी । गर्ज्जत गर्भ स्रवहिं सुर-रवनी ॥५॥

शब्दार्थ—हँकरावा = बुलवाया । सिख = शिक्षा । लरिबे=लड़ने, लड़ाई । आनेसु=ले आना । काँधी-काँधना=कंधे वा सिरपर धरना, स्वीकार करना, अंगीकार करना, मानना, शिरोधार्य करना । डोलति=हिलती है । श्रवहिं (स्रवहिं)=पात होते हैं, गिर जाते हैं । रवनी=सुन्दरी, स्त्री । सुर रवनी=देव बधूटियाँ ।

अर्थ—फिर मेघनादको बुलवा भेजा और शिक्षा देकर उसके बल (उत्साह) और वैरको उत्तेजित किया‡ ॥ १ ॥ जो देवता समरमें धीर और बलवान् हैं और जिन्हें लड़नेका अभिमान है ॥ २ ॥ उन्हें लड़ाईमें जीतकर बाँध लाना । पुत्रने उठकर पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य्य किया† ॥ ३ ॥ इसी प्रकार उसने सभीको आज्ञा दी । स्वयं भी चला । हाथमें गदा ले ली ॥ ४ ॥ दशमुख रावणके चलनेपर पृथिवी हिलने लगती थी । उसके गर्जनसे देवताओंकी स्त्रियोंके गर्भ गिर जाते थे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) "पुनि हँकरावा" से जनाया कि मेघनाद वहाँ नहीं था जब सब सभा जुटी थी और सबको उसने समझाया था तथा शिक्षा दी थी कि किस प्रकार देववृन्द वशमें होंगे । यदि मेघनाद भी सभामें रहा होता तो वही शिक्षा उसको देनेका कोई प्रयोजन न होता । (ख) 'दीन्ही सिख बल बयरु बढ़ावा' इति । ☞यह शिक्षा सब निशिचरोंको दी थी । 'सुनहु सकल रजनीचर जूथा । हमरे बैरी बिबुध बरूथा', यह वैर बढ़ानेका सिखावन है और 'द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा' इससे देवता निर्बल हो जायेंगे, राक्षसोंका बल अधिक हो जायगा; अतएव यह 'बल' बढ़ानेका सिखावन है । (ग) 'जे सुर समर धीर बलवाना ।०' का भाव कि निर्बल देवता तो सबल रिपुको देखकर भाग जाते हैं, यथा 'ते सनमुख नहिं करहिं लराई । देखि सबल रिपु जाहिं पराई' । जो धीर हैं, समरमें भागते नहीं, डटे रहते हैं और युद्धके अभिमानी हैं, इन वचनोंसे उनके मनकी और 'बलवाना' से उनके तनकी दृढ़ता कही । वचनका हाल कुछ न कहा क्योंकि वीर वचनसे कुछ नहीं कहते, यथा 'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु । २७४ ।'

नोट—१ सभामें जो शिक्षा निशाचरोंको दी गई वह सामान्य शिक्षा है और सामान्य देवताओंके वश करनेके विषयमें है । ब्रह्मभोज, यज्ञ, होम, श्राद्ध आदिमें बाधा डालनेका काम उनको सौंपा गया और मेघनादको जो बुलाया गया वह समरधीर बलवान् देवताओंसे लड़नेके लिये । इसीसे पूर्व उसकी आवश्यकता भी न थी ।

२ 'दीन्ही सिख बल बयरु बढ़ावा' इति । शिक्षा दी कि युद्धमें शत्रुको वशमें करनेके साम, दाम, भय और भेद ये उपाय हैं । व्यूहरचना किस प्रकार करनी चाहिये और उसके तोड़नेके उपाय, इत्यादि । मायासे काम कहाँ लेना चाहिये; छल बल भी कर सकते हैं, इत्यादि जब जहाँ जैसा काम पड़े वैसा करनेमें संकोच न करना । अपनी जीत जैसे बने वैसा करना । ये भाव भी शिक्षामें आ सकते हैं जो लोगोंने कहे हैं ।

३ 'बैर बढ़ावा'—यों कि सुर और असुरका वैर स्वाभाविक अनादि कालसे चला आता है । देवता सदा छल करते आए । जैसे क्षीरसागर मथनेके समय छल करके सब अमृत पीकर अमर हो गए । लंका हम लोगों की प्राचीन राजधानी है सो उन्होंने अवसर पा छीन लिया था, इत्यादि । वैजनाथजी लिखते

---

* आपनु—१६६१ । १८२ छंदमें 'आपुन उठि धावै' है । 'आपनु' का अर्थ आप ही हो सकता है । नु=निश्चयेन । ‡ अर्थ—'शिक्षा और सेना दी और बैर बढ़ाया'—(वै०) । † अर्थ—'पुत्र ! उठकर पिताकी आज्ञाका पालन कर'—(वै०) ।

हैं कि यह सब समझाया कि यह राजनीति है कि शत्रुको न छोड़ना चाहिए नहीं तो वह एक न एक दिन अवश्य घात करेगा।

टिप्पणी—२ (क) 'तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी' ऐसी आज्ञा अन्य राक्षसोंको न दी थी, क्योंकि इसका सामर्थ्य उनको न था। मेघनाद यह काम करनेको समर्थ है, इससे इसको यह आज्ञा दी। 'आनेसु बाँधी' यह समरधीर अभिमानी बलवान् देवताओंको लाकर हाजिर करनेका उपाय बताया कि उनको जीत कर बाँध लाना, छोड़ न देना, जैसे अन्य निशाचरोंको भगोड़े देवताओंके हाजिर लानेका उपाय बताया था कि ब्रह्मभोजादिमें विघ्न करो तो 'छुधाछीन बलहीन सुर सहजहिं मिलिहहिं आइ।' [वे निर्बल हैं, अतः स्वयं आकर मिलेंगे। ये अभिमानी हैं, बाँधकर पकड़ लानेपर मिलेंगे। (बाँध लानेमें भाव यह भी है कि इन्हें बँधा देखकर ब्रह्माजी छुड़ाने आवेंगे और बदलेमें बरदान देंगे। वि० त्रि०) । (ख) 'आपुन चलेउ गदा कर लीन्हीं' इति। यहाँतक तीन बातें कही गईं। सेनाको देवताओंकी जीविका नाश करनेकी आज्ञा दी। मेघनादको उनके बाँध लानेकी आज्ञा दी। और, स्वयं देवताओंको मारनेके लिये गदा लेकर चला।

वि० त्रि०—रावणने तीन विधिसे कार्य्यारम्भ किया। देवताओंको रसद न मिलने पावे, इसलिये सेनाको मर्त्यलोक भेजा। इन्द्रादिसे युद्धके लिये मेघनादको भेजा। अन्य देवताओंकी सहायता इन्द्रको न मिलने पावे, इसलिये उनके लोकोंपर स्वयं रावणने आक्रमण किया।

नोट—४ 'चलत दसानन डोलति अवनी' इति। रावणके रणमदमत्त होकर चलनेपर धरती हिलती है; इसके विषयमें स्वयं पृथ्वीके वचन हैं कि 'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही।' पुनः, 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥ सकल धर्म देखै बिपरीता। कहि न सकै रावन भय भीता। १८३।' मंदोदरीने स्वयं कहा है 'तव बल नाथ डोल नित धरनी।... सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। ६।१०३।' और रावणने भी कहा है—'जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी॥ सोइ रावन जग बिदित प्रतापी। ६।२५।' भक्ति तथा कथाके योगसे तो यदि कैलासका उठाना विश्वास कर सकते हैं तो इसके चलनेसे पृथ्वीका हिलना तो कोई बड़ी बात नहीं है। यहाँ दूसरा उल्लास अलंकार है।

टिप्पणी—३ 'गर्ज्जत गर्भ श्रवहिं सुर रवनी' इति। यह बात श्रीपार्वतीजीके शापसे पूर्वकी है। क्योंकि श्रीपार्वतीजीके शापसे देवताओंकी स्त्रियोंके गर्भ धारण नहीं होता तब गर्भ गिरनेकी बात ही कहाँ? [यहाँ रावणकी बाढ़ (उन्नति) और देवताओंके तेज प्रतापकी अवनतिका समय है। इससे देवांगनाओंके गर्भ गिरे, देवसेनाकी संख्या बढ़ने नहीं पाती और राक्षसपरिवार दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया। जब रावणके अवनतिका समय आया तब श्रीहनुमान्जी द्वारा इसका बदला चुका। उनके गर्जनसे निशाचरियोंके गर्भ गिर जाते थे, निशाचर सेना न बढ़ पाती थी। यथा 'चलत महा धुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी। ५।२८।']

नोट—५ पार्वतीजीके शापका प्रसंग वाल्मी० १।३६ में इस प्रकार है कि जब तारकासुरसे पीड़ित हो देवताओंने ब्रह्माजीसे पुकार की और उन्होंने बताया कि भगवान् शंकरके वीर्यसे उत्पन्न बालकके हाथसे ही उसकी मृत्यु होगी, तुम उपाय करो कि शंकरजी पार्वतीजीका पाणिग्रहण करें। देवताओंने उपाय किये। विवाह हुआ। यह सब कथा मानसमें पूर्व आ चुकी है। तत्पश्चात् हर-गिरिजा-विहारमें सैकड़ों वर्ष बीत गए। देवता घबड़ाए। उन्होंने विहारमें बाधा डाली। जाकर प्रार्थना की। तब महादेवजीने अपने तेजका त्याग किया जिसे अग्नि आदिने धारण किया और उससे कार्तिकेय उत्पन्न हुए। देवताओंने जाकर उमा-शिवजीकी पूजा की। उस समय उमाने क्रोधमें आकर देवताओंको शाप दिया। यथा "अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥२१॥ समन्युरशपत्सर्वान् क्रोधसंरक्तलोचना। यस्मान्निवारिताचाहं संगता पुत्रकाम्यया ॥२३॥ अपत्यं

स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ । अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥ २२ ॥ वाल्मी० । १।३६ ।" अर्थात् श्रीपार्वतीजीकी आँखें क्रोधसे लाल हो गईं और उन्होंने देवताओंको इस तरह शाप दिया—मैं पुत्रकामनासे पतिके साथ थी । तुमने आकर रुकावट डाली । अतः तुम लोग भी अपनी पत्नियोंसे पुत्र उत्पन्न न कर सकोगे। अबसे तुम्हारी स्त्रियाँ पुत्रहीन होंगी । शिव पु० रुद्रसंहिता अ० २ में कोपके वचन ये हैं— "रे रे सुरगणास्सर्वे यूयं दुष्टा विशेषतः । स्वार्थसंसाधका नित्यं तदर्थं परदुःखदाः । १४ । स्वार्थहेतोर्महेशानमाराध्य परमं प्रभुम् । नष्ट चेक्रुर्मद्विहार वन्ध्याऽभवमहं सुराः।१५।''अद्य प्रभृति देवानां वंध्या भार्या भवन्त्विति।''''१८।'''।

रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा ॥६॥
दिगपालन्हके लोक सुहाये । सूने सकल दसानन पाए ॥७॥
पुनि पुनि सिंघनाद करि भारी । देइ देवतन्ह गारि पचारी* ॥८॥
रन मद मत्त फिरइ जग धावा । प्रति भट खोजत कतहुं न पावा ॥९॥

शब्दार्थ—सकोहा = क्रोधयुक्त, सकोप । तके = (को) शरण ली । दिगपाल (दिक्पाल)=दिशाओंके रक्षक (आगे इनके नाम कहे हैं । दशों दिशाएँ और उनकी उत्पत्तिके संबंधमें दोहा २८ (१) मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४५५-४५६ में देखिए । सूने=खाली । सिघनाद (सिंहनाद)=सिंहका सा गर्जन वा शब्द । पचारी (प्रचारी)=ललकारकर । मद=मद्य=मदिरा ।=घमंड ।

अर्थ—रावणको क्रोधयुक्त आता सुनकर देवताओंने सुमेरु पर्वतकी गुफाओं की शरण ली (उनमें जा छिपे) ॥ ६ ॥ लोकपालोंके समस्त सुन्दर लोकोंको रावणने खाली पाया ॥ ७ ॥ बारंबार सिंहके समान भारी गर्जन कर और देवताओंको गालियाँ दे देकर ललकारकर ॥ ८ ॥ वह लड़ाईके मदसे मतवाला तीनों लोकोंमें दौड़ा फिरता था । अपनी जोड़का योद्धा ढूँढ़ता था । (पर) कहीं न पाया ॥ ९ ॥

नोट—१ "देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा ।" से जनाया कि सुमेरुपर बहुत बड़ी-बड़ी और अगणित गुफाएँ हैं जिनमें सब छिप जाते हैं और रावण उन्हें ढूँढ़ नहीं पाता, इसीसे सब वहीं जाकर छिपते हैं। सुमेरुपर ही ब्रह्माकी कचहरी कही जाती है । जब कोई देवता सामने न आए तब वह उनके लोकोंके भीतर गया तो वहाँ सन्नाटा पाया जैसा आगे कहते हैं ।

टिप्पणी—१ 'दिगपालन्ह के लोक सुहाए' इति । 'सुहाए' का भाव कि ये लोक ऐसे सुन्दर हैं कि इन्हें छोड़नेको कभी जी नहीं चाहता, ये छोड़ने योग्य नहीं हैं तब भी रावणके डरसे वे इन्हें भी छोड़ कर चले गए । (☞ रावणका डर सबके हृदयमें कैसा अधिक है यह यहाँ दिखाया कि देवता उसके सामने भोगविलाससे विरक्त होजाते हैं ।)

२ (क)—'देइ देवतन्ह गारि पचारी' । गाली देता है ललकारता है जिसमें क्रोधवश होकर सामने आ जावें (जैसे भीमसेनकी ललकारपर दुर्योधन अपना मरण निश्चय जानकर भी लक्ष्मीको तिरस्कृत करके व्याससरोवरसे बाहर निकल आया था । वीर शत्रुकी ललकार नहीं सह सकते) । पर कोई प्रकट नहीं होता (इससे जनाया कि देवताओंका मान मर्ष आदि सब जाता रहा था, यथा 'तुम्हरे लाज न रोष न माषा', नहीं तो गाली और ललकार सुनकर अवश्य सामने आते) । (ख) 'रनमदमत्त फिरइ जग धावा ।०' । भाव कि देवताओंके यहाँ हो आया । वे सब भाग गए । मर्त्यलोकमें कोई नहीं है । इसीसे कहा कि 'प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा' । इसी तरह कुंभकर्णकी जोड़का संसारमें कोई नहीं है यह कह आए हैं, यथा 'अतिबल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहँ नहिं प्रतिभट जग जाता । १८०।३।' ['जग धावा' से जनाया

* प्रचारी—पाठान्तर ।

कि जहाँ कहीं किसीसे सुनता है कि कोई प्रतिभट है वहीं दौड़ा जाता है पर वहाँ जानेपर कोई मिलता नहीं। 'रनमदमत्त'—यहाँ रणको मदिरा कहा। मद्यपानसे जैसे कोई मतवाला हो जाय तो उसे और मद्यपानकी इच्छा होती है वैसा ही रावणका हाल है। यह कुबेरादिको जीत चुका है। रण-मदसे मतवाला हो रहा है। उसे यही सूझता है कि और कोई मिले जिससे लड़ूँ।]

नोट—२ 'सुर पुर नितहि परावन होई', 'सूने सकल दसानन पाए' इति। इसी प्रसंगसे मिलता हुआ एक प्रसंग यह है कि एक बार जब ब्रह्मर्षि संवर्त समस्त देवताओंके साथ राजा मरुतको यज्ञ करा रहे थे उसी समय रावण वहाँ पहुँचा। उसे देख इन्द्र मोर, धर्मराज काक, कुबेर गिरगिट और वरुण हंसका एवं अन्य देवता अन्य पक्षियोंका रूप धारण कर उड़ गए। यथा "इन्द्रो मयूरः संवृत्तो धर्मराजस्तु वायसः। कृकलासो धनाध्यक्षो हंसश्च वरुणोऽभवत्। ५। अन्येष्वपि गतेष्वेवं देवेष्वरिनिषूदन।" रावणके चले जानेके पश्चात् जिन जिन पक्षियोंका रूप धरकर वे बचे थे उन उनको उन्होंने वर दिया। तभीसे मयूरकी चन्द्रिकापर सहस्र नेत्र शोभित होने लगे, कौवे किसी रोगसे अथवा अपनेसे नहीं मरते, इत्यादि। (वाल्मी० ७ सर्ग १८)।

रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥१०॥
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा ॥११॥
ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसवर्ती नर नारी ॥१२॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥१३॥

दोहा—भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीकमनि१ रावन राज करै निज मंत्र ॥
देव जच्छ गंधर्ब नर किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि ॥१८२॥

शब्दार्थ—अधिकारी=जिसको लोक व्यापार करनेका अधिकार है-(वै०)।=जिनको लोक-पालनका वा लोकमें किसी विशेष कार्य्यके करनेका स्वत्व वा पद या अधिकार प्राप्त है। मंडलीकमनि= सार्वभौम, सम्राट्। पंथहि लागा=राहमें लगा अर्थात् सबकी राह रोकी, कोई अपने अधिकारका व्यापार नहीं करने पाता—(वै०)। मन्त्र=मति, इच्छा, विचार वा नियम। निज मन्त्र=स्वेच्छानुसार। यही Dictatorship डिक्टेटरशिप है। मनमाना करना ही 'निज मन्त्र' राज्य करना है।

अर्थ—सूर्य्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, यमराज इन सब लोकपालों और किन्नर, सिद्ध, मनुष्य, देवता और नाग सभीके पीछे (रावण) हठपूर्वक लगा ॥ १०-११ ॥ ब्रह्माकी सृष्टिमें जहाँ तक देहधारी स्त्री पुरुष थे वे सब रावणके आज्ञाकारी (अधीन) थे ॥१२॥ सभी डरके मारे उसकी आज्ञाका पालन करते हैं और नित्यही आकर उसके चरणोंमें नम्रतापूर्वक प्रणाम करते हैं ॥ १३ ॥ उसने विश्वभरको अपनी भुजाओंके बलसे वशमें कर किसीको स्वतंत्र न रक्खा। सब मण्डलीकोंमें शिरोमणि सार्वभौम सम्राट् रावण अपने मन्त्रके अनुसार राज्य करता था। देवता, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य, किन्नर और नागकी कन्याओंको तथा और भी बहुतसी सुन्दर उत्तम स्त्रियोंको अपने बाहु-बलसे जीतकर ब्याह लीं ॥ १८२ ॥

टिप्पणी—१ (क) रवि, शशि, पवन, वरुण, धनधारी (=धनद, कुबेर), अग्नि, काल, यम ये अष्ट लोकपाल हैं। (ख) ☞ 'आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही' से लेकर 'जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि' तक रावणका दिग्विजय वर्णन किया। आगे मेघनादका विजय कहते हैं।

१ मंडलीकपति (का०)

नोट—१ कुबेरको सर्वप्रथम जीतकर पुष्पक ले आया था। उस समय चार लोकपाल प्रधान थे। इन्द्र, वरुण, यम और कुबेर। यमलोकमें भी भारी युद्ध हुआ। यमराज सूर्यपुत्र हैं। -वाल्मी० ७. सर्ग २०, २१, २२ में युद्धका वर्णन है। यम कालदंड छोड़नेको उद्यत हुए तब ब्रह्माने आकर उनको रोक दिया। उनके कहनेसे वे वहीं अंतर्धान हो गए और रावणने अपने जयकी घोषणा की। वरुणको जीतनेकी कथा सर्ग २३ में है। वरुणकी सेना और पुत्रोंपर जय पाई। वरुण उस समय ब्रह्मलोकमें थे। मंत्रीने हार मान ली। रहे लोकपाल इन्द्र। इन्हें तो मेघनाद बाँध ही लाया था। सूर्य, चन्द्र आदि पर विजय प्रक्षिप्त सर्गोंमें है।

'ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबर्ती।'

यहाँ यह शंका होती है कि अवधेश, मिथिलेश, बालि, सहस्राजुन, बलि इत्यादि अनेक लोग ऐसे थे जो रावण के वशमें न थे, फिर 'दशमुख वशवर्त्ती' कैसे कहा ?

कथनका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि ब्रह्माजी जो सृष्टिके रचयिता हैं और शिवजी जो सृष्टिमात्रके संहार करनेवाले हैं जब वे ही रावणके वशमें हो गये, उससे भयभीत रहते और नित्य उसके यहाँ हाजिरी देते हैं तो फिर और कौन रहगया जिसको कहें कि वशमें नहीं है। राजाके वश होनेसे उसकी सब राजधानी वशमें कही जाती है। इसी प्रकार सृष्टिके उत्पन्न और संहार करनेवालोंके वशीभूत हो जानेसे सृष्टिमात्रका वशीभूत होना कहा जाना अयोग्य नहीं। कवित्तरामायणमें ग्रंथकारने कहा है—"वेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि ते सिर नावैं। क० ७।२।', 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता। ६।२।।' पुनः, 'वशवर्त्ती' का भाव यह भी हो सकता है कि विश्वभरमें कोई रावणको वशमें या उसका वध करनेमें समर्थ न था। भानुप्रताप रावण जिसके लिए परब्रह्मका आविर्भाव हुआ वह वस्तुतः किसीसे न हारा था। और कल्पोंमें रावण कहीं कहीं हार भी गया था। यदि कहें कि अंगद रावण-संवादमें तो उसका पराजय लक्षित होता है तो उसका उत्तर यह होगा कि जैसे इस ग्रन्थमें चार कल्पके अवतारों की कथा मिश्रित है वैसे ही अंगदके संदिग्ध वचनोंमें अन्य कल्पोंके रावणकी कथा भी जानिए।

त्रिपाठीजी भी लिखते हैं कि "सार्वभौम राजाका भी किसी अवसरमें पराजय हो जाता है, परन्तु यदि उसके शासनमें उस पराजयसे त्रुटि न आई हो, तो उस पराजयकी कोई गणना नहीं है। दो तीन स्थलोंपर रावणका बलसे पराजय सुना गया है, पर रावणमें एक विशेषता थी, उसमें केवल शारीरिक बल ही न था किन्तु तपबल, योगबल, अस्त्रबल, शस्त्रबल, सैन्यबल, दुर्गबल, इष्टबल आदि अनेक बल थे, जिनका समुच्चय और कहीं पाया नहीं जाता। सहस्राजुनका वध परशुराम द्वारा हो ही चुका था। बालिसे मैत्री हो चुकी थी। अतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि रावणने विश्वको वश्य कर लिया, परन्तु यह शंका समाधान उन रावणोंके लिये है जो जय विजय, जलंधर, या रुद्रगणके अवतार थे।"

फिर भी यहाँ यह शंका उठती है कि "आगे चलकर ग्रंथकारने इसे 'मण्डलीकमनि' कहा है और कहा है कि 'राखेसि कोउ न स्वतंत्र', तो दशरथमहाराजादिके विषयमें यह बात कैसे ठीक हो सकती है?" इसके समाधानके लिए कुछ बातोंपर विचार कर लेना जरूरी है। वह ये कि रावणने लगभग ७२ चतुर्युग तक राज्य किया और दूसरे यह कि राजनीतिमें शत्रुके वशीभूत करनेके चार उपाय—साम, दाम, भय, भेद कहे गये हैं। तीसरे यह कि दिग्वजय वर पानेके तुरत पीछेका है जब लंका राजधानी हो चुकी थी। ७२ चतुर्युगीके भीतर रघुकुलमें कई राजा हो गए। राजा रघुसे रावण लड़ने गया था। ब्रह्माजीने दोनोंमें मेल करा दिया। फिर राजा अनरण्यको उनकी वृद्धावस्थाके समय रावणने मार डाला। रघुकुलके राजा चक्रवर्त्ती होते आये हैं, जब उनको एक बार जीत लिया वा उनसे मेल कर लिया गया तो 'वशवर्त्ती' कहना अयोग्य न होगा। राजा दशरथने न कभी उसका मुक़ाबिला किया और न इनसे उसे युद्ध करनेकी आवश्यकता हुई।

पुनः यह भी हो सकता है कि राक्षसोंका वैर तो देवताओं और ऋषियोंसे सनातनसे चला आता है। वे मनुष्योंको बिल्कुल तुच्छ चींटी सरीखा समझते हैं, इनसे लड़नेमें भी अपना अपमान ही समझते हैं, यही कारण है कि उसने वर माँगते समय जानबूझकर मनुजको छोड़ दिया था, यथा 'अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः। एवं पितामहात्तस्माद्वरदानेन गर्वितः। वाल्मी० बा० १६।६।' इसीलिए 'नरेशों पर हाथ क्या चलाता, जब तक कोई सामना न करता? देवता और उनके पक्षपाती सभी इससे भयभीत रहते थे, नरसे देवता और ऋषि बली हैं ही।

यह भी स्मरण रखने योग्य है कि अनरण्य महाराजके मारे जानेपर उसको देवर्षि नारदका दर्शन हुआ। देवर्षिने उससे कहा कि तू बेचारे मनुष्योंको क्यों मारता है, ये तो स्वयं ही 'मृत्युके पंजेमें पड़े हुए हैं। ये तो सैकड़ों व्याधियोंसे स्वयं ग्रस्त रहते हैं। ऐसोंको मारनेसे क्या? ...मोहमें फँसे स्वयं नष्ट होनेवाले मर्त्यलोक को दुखी कर तू क्या पायेगा! तू निस्संशय इस लोकको जीत चुका। यथा 'तत्किमेवं परिक्लिश्य लोकं मोहनिराकृतम्। जित एव त्वया सौम्य मर्त्यलोको न संशयः। वाल्मी० ७।२०।१५।' यहाँके प्राणी यमपुरीको जायंगे, अतः तू यमपुरी पर चढ़ाई कर। उसको जीत लेनेपर तू निस्सन्देह अपनेको सबपर विजयी समझ। यथा "तस्मिञ्जिते जितं सर्वं भवत्येव न संशयः। वाल्मी० ७-२०-१७।" यह बात मानकर वह यमपुरीको गया और उसने वहाँ विजय प्राप्त की।

महाराज अनरण्यने मरते समय उसे शाप दिया था कि तूने इक्ष्वाकुकुलका अपमान किया है अतः इसी कुलमें दाशरथी राम उत्पन्न होंगे जो तेरा वध करेंगे। यथा "उत्पत्स्यते कुले ह्यस्मिन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम्। रामो दाशरथिर्नाम यस्ते प्राणान् हरिष्यति। वाल्मी० ७,१६,३१।" पुनः साहित्यज्ञ ऐसा कहेंगे कि कवियोंकी यह प्रथा है कि जब किसीकी प्रशंसा करनी होती है तो उसको हद तक पहुँचा देते हैं, उस समय उसका अपकर्ष नहीं कहते। इसीसे यहां उसकी जीत ही जीत कही, कहीं भी उसका पराजय नहीं कहा। हाँ! जब उसका प्रताप अस्त होने पर आयेगा तब मंदोदरी, हनुमान्‌जी और अंगद से बातचीत होनेके समय इनके द्वारा दो चार जगह जो उसका पराजय हुआ था उसका संकेत कवि कर देंगे। पुनः, यदि रावणका पराजय कहते तो उससे श्रीरामचन्द्रजीकी भी उसके मारनेमें विशेष प्रशंसा और कीर्तिकी बात न होती।

बाबा हरीदासजी शीलावृत्तमें लिखते हैं कि—"तनधारी" कहकर जनाया कि सृष्टि दो प्रकारकी है। एक तनधारी, दूसरी बेतनधारी। बुद्धि, चित्त, मन, इन्द्रिय, स्वभाव, गुण इत्यादि बेतनधारी (बिना तनवाली) सृष्टि बहुत है सो इस सृष्टिमें एक भी वश न हुआ। एक तनधारी सृष्टि ही वशमें हुई। सब तनधारी जीव दशमुखके आज्ञानुवर्त्ती हुए, इसका भाव यह है कि तनधारी जीवोंकी कोई जाति न बची, सहस्रबाहु आदि व्यक्तिगत भले ही बच गये पर जाति न बची।

वि० त्रि० का मत है कि तनधारीका वशमें होना कहकर जनाया कि जो तनधारी नहीं था अर्थात् अनंग (कामदेव) वह उसके वशमें न था वरंच वह ही कामदेवके वशमें था।

टिप्पणी—२ (क) "देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि" इति। यहाँ "कुमारि" शब्द देकर जनाया कि बिनब्याही कन्याओंको जीत कर लाया, विवाहिताओंको नहीं और उत्तरार्द्धमें 'बहु सुंदर बर नारि' पद जो दिया है वह शब्द उन्हीं कुमारी कन्याओंके लिए ही आया है। जब तक विवाह न हुआ था, केवल जीत कर लाना कहा था, तब 'कुमारि' दिया, उन्हींके साथ विवाह होनेपर उनको 'सुंदर बर नारि' कहा। (ख) देव, यक्ष, गंधर्व, किन्नरसे स्वर्गकी, नरसे भूलोककी और नागसे पाताल लोककी, इस तरह तीनों लोकोंकी कुमारियोंको जीतकर व्याहना कहा।

नोट—२ 'कुमारि' शब्द अल्पावस्थाकी कन्याओंके लिए प्रायः प्रयुक्त होता है। विशेषकर यहाँ इसी भावमें है। बूढ़ी अनब्याही स्त्रियाँ अभिप्रेत नहीं हैं। किसीने ऐसा भी कहा है कि श्रीसीताजीको छोड़ उसने

विवाहिता स्त्रियोंका अपहरण नहीं किया। परन्तु इसका निषेध स्वयं रावणके उस वाक्यसे होता है जो उसने श्रीसीताजीसे कहा था। यथा "स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः। गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा। वाल्मी० ५. २०. ५।" अर्थात् परस्त्रीके साथ संभोग करना अथवा उनका बरजोरी अपहरण करना निस्संदेह हम राक्षसोंका सदाका धर्म है। हाँ, विना उनकी मर्जीके वह उनके साथ रमण नहीं कर सकता था। क्योंकि पुंजिकस्थली अप्सराके साथ बलात्कार करनेसे ब्रह्माजीने उसको शाप दिया था कि यदि अब किसी स्त्रीके साथ ऐसा करेगा तो तेरे सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे। यथा "अद्यप्रभृति यामन्यां बलान्नारीं गमिष्यसि। तदा ते शतधा मूर्धा फलिष्यति न संशयः। वाल्मी०। ६.१३.१४।"

नोट—२ यहाँ मंडलीकमनिका भाव सार्वभौम (सब स्वर्ग, भू और पातालमंडलका) सम्राट् ही सङ्गत जान पड़ता है; नहीं तो पूर्वापर विरोध होगा। क्योंकि पूर्व कहा है कि 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी।०" यदि मंडलीकका अर्थ केवल १२ राजाओंका अधिपति लें तो 'मंडलीकमनि' का अर्थ होगा 'मंडलीक राजाओंमें शिरोमणि'।

३ "राज करै निज मंत्र" इति। अर्थात् धर्मशास्त्र नीतिशास्त्रकी आज्ञाको त्यागकर अपना मंत्र चलाता है, स्वेच्छाके अनुसार राज करता है। (खर्रा)। पुनः भाव कि राजाको मंत्री चाहिये, इस लिए उसने मंत्री रख लिए थे, नहीं तो उसने कभी भी मंत्रियोंकी सम्मतिकी परवाह न की। (वि० त्रि०)।

इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सब जनु पहिलेहिं करि रहेऊ ॥१॥
प्रथमहिं जिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा। तिन्ह कर चरित सुनहु जो कीन्हा ॥२॥
देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी ॥३॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया ॥४॥
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला ॥५॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउं पुर आगि लगावहिं ॥६॥
सुभ आचरन कतहुँ नहि होई। देव बिप्र गुरु† मान न कोई ॥७॥
नहिं हरिभगति जज्ञ तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना ॥८॥
छंद—जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा।
आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिँ काना।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना ॥*
सोरठा—बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति ॥१८३॥

शब्दार्थ—चरित=आचरण। परिताप=दुःख। घालै खीसा=नष्ट कर डालता है, यथा 'केहि के बल घालेहि बन खीसा। ५.२१', 'बातन मनहिं रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस। ५.५६', 'सो भुज-बल राखेहु उर घाली। ६.२९।'

---

† १६६१ में है * यह चौपइया छन्द है। इसके चारों चरणोंमें ३०, ३० मात्रायें होती हैं, १० वीं, १८ वीं और ३० वीं मात्राओंपर विराम होता है।

अर्थ—(रावणने) इन्द्रजीतसे जो कुछ कहा था वह सब (उसने) मानों पहले ही से कर रक्खा था ॥ १ ॥ जिन्हें (रावणने) सबसे प्रथम आज्ञा दी थी उनका चरित सुनो जो (उन्होंने) किया ॥ २ ॥ देवताओंको दुःख देनेवाले निशिचरसमूह सब देखनेमें भयावन और पापी थे ॥ ३ ॥ असुरसमूह उपद्रव करते थे । मायासे अनेक रूप धारण करते थे ॥ ४ ॥ जिस प्रकार धर्म निर्मूल हो वही सब वेदविरुद्ध (उपाय) करते थे ॥ ५ ॥ जिस जिस देशमें गऊ और ब्राह्मणोंको पाते थे उस उस नगर ग्राम और पुरमें आग लगा देते थे ॥ ६ ॥ शुभ आचरण (ब्रह्मभोज, श्राद्ध, यज्ञ, दान, गुरुसंतसेवा, इत्यादि) कहीं भी नहीं होते, देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुको कोई नहीं मानता ॥ ७ ॥ स्वप्नमें भी हरिभक्ति, यज्ञ, तप, दान नहीं होते और न वेदपुराणही सुननेमें आते थे ॥ ८ ॥ जप, योग, वैराग्य, तप, यज्ञमें देवताओंका भाग जैसे ही रावण कानोंसे सुनता (वैसे ही वह) आप ही उठ दौड़ता, कुछ एवं कोई भी रहने न पाता, धरपकड़ कर सबको विध्वंस कर डालता । संसारमें ऐसा भ्रष्टाचरण हो गया कि धर्म तो कानोंसे सुननेमें भी नहीं आता । जो कोई वेद पुराण कहता उसको बहुत तरहसे भय देता और देशसे निकाल देता था । घोर निशाचर जो घोर अन्याय करते हैं उसका वर्णन नहीं हो सकता । जिनका हिंसापर प्रेम है उनके पापोंकी कौन हद !१८३।

टिप्पणी—१ 'इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ ।' इति । (क) इंद्रजीत नाम यहाँ देकर जनाया कि इसने इंद्रको जीत लिया । 'जनु पहिलेहि करि रहेऊ' का भाव कि इंद्रादि समरधीर बलवान् देवताओं को जीतनेमें उसे बिलंब न लगा; उसने सबको बातकी बातमें जीत लिया । (ख) 'जो कछु कहेऊ' अर्थात् 'जे सुर समरधीर बलवाना । जिन्हकें लरिबे कर अभिमाना ॥ तिन्हहिं जीति रन आनेसु बांधी' यह जो कहा था वैसा ही उसने किया । इंद्रको बाँध लाया था, यह वाल्मीकीय में स्पष्ट है ।☞यहाँ कहते हैं कि 'इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ', परन्तु कहा था वस्तुतः 'मेघनाद' से, यथा 'मेघनाद कहुँ पुनि हँकरावा । दीन्ही सिख बलु बयरु बढ़ावा' इत्यादि, जब जीत हुई तब वह 'इन्द्रजीत' कहाया । इस कथनका समाधान दूसरे चरणसे किया है कि वह इन्द्रको इतना शीघ्र (आननफानन) जीत लाया मानों पहले ही से जीत कर बाँध रक्खा था, अब रावणके वचन सुनते लाकर दिखा दिया । [(ग)—कारण (युद्ध) न वर्णन करके कार्य्य प्रकट करना कि इन्द्रको मानों पहले ही से जीत रक्खा था "अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार" है । पर यह उत्प्रेक्षाके अंगसे आया है । युद्ध होकर हारजीत होती है किन्तु इस प्रकारकी उत्प्रेक्षा करना कि मानों युद्धके पहले ही जीत लिया हो "अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार" है । दोनोंमें अङ्गाङ्गी भाव है । (वीर)]

२ (क) 'प्रथमहि जिन्ह कहुँ आयसु दीन्हा ०' इति । दो चरणोंमें इन्द्रजीतका विजय कहा । अब सेनाका उपद्रव यहाँसे वर्णन करते हैं ।☞ जिस क्रमसे बल वर्णन किया था उसी क्रमसे उपद्रव वर्णन करते हैं । (ख) 'निसिचर निकर देव परितापी' इति । रावणने कहा था कि 'हमरे बैरी बिबुध बरूथा' हैं इसीसे देवताओंको अधिक परिताप देते हैं । ❀ ['देखत भीमरूप' से रूप भयानक, 'पापी देवपरितापी' से हृदय भयानक और 'करहिं उपद्रव' से करणी भयानक कही । देवताओंकी मरणविधिमें यत्नशील हैं, अतः देवपरितापी कहा । (वि० त्रि०)] । (ग) 'करहिं उपद्रव असुर निकाया' । असुर समूह उपद्रव करते हैं क्योंकि रावणकी आज्ञा सबको ऐसी ही है, यथा—'सुनहु सकल रजनीचर जूथा' । अतः सभी ऐसा करते हैं । उपद्रव करते हैं अर्थात 'द्विजभोजन मख होम श्राद्ध' सभीमें बाधा डालते हैं, यथा 'सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा' । [(घ)—'करहिं उपद्रव' कहकर 'नानारूप धरहिं करि माया' कहनेका भाव कि आसुरी सेना बड़ी भारी उतर आई थी पर उसने एक ओरसे सबके संहारमें हाथ नहीं लगाया । वे सब सम्पूर्ण देशमें फैल गए । कामरूप तो थे ही, उन सबोंने अनेक रूप धारण किये । कोई पंडितजी बन गए, कोई महात्माजी बन गये, कोई गोसाइँजी बन गए, सुधारक बने, कोई जनताके अगुआ बन गए, कोई देश-हितैषी बने तो

❀ जिनका आचरण तमोगुणी हो वे ही निशिचर हैं । निश + चर = तमोगुणचर । (लमगोड़ाजी) ।

कोई समाज-हितैषी बने । अपने रूपमें कोई न रहे, सब साधुरूपमें हो गए और उपद्रव आरम्भ किया । (वि० त्रि०)]

३ (क) 'जेहि बिधि होइ धरम निमूला ।···बेद प्रतिकूला' इति । वेदके प्रतिकूल करना यही धर्मका निमूल करना है, क्योंकि वेदके अनुकूल करना धर्म है और प्रतिकूल करना अधर्म है। वेदके प्रतिकूल कर्मोंका वर्णन आगे करते हैं-'जेहि-जेहि देस ··' । (ख) 'जेहि-जेहि देस···' कहकर जनाया कि गौ और ब्राह्मण सब देशोंमें नहीं हैं, बहुत कम हैं । [अथवा, डरके मारे सब छिपे रहते हैं वा भाग जाते हैं । 'धेनु द्विज पावहिं'-गौ ब्राह्मणको पाना कहा और किसीका नाम नहीं लेते । क्योंकि ब्राह्मण ही होम यज्ञ आदि करते और कराते हैं और धेनुसे यज्ञादिकी सामग्री प्राप्त होती है । यज्ञादिसे देव प्रबल होते हैं जो निशाचरों के शत्रु हैं अतः इन दोनोंका नाश करते हैं । 'नगर गाँउ पुर आगि लगावहिं'—नगरसे छोटा ग्राम और ग्रामसे छोटा पुरवा होता है; उसी क्रमसे कहा । 'पुर' से पुरवा समझना चाहिए। पुरवेमें कम होते हैं, उससे अधिक ग्राममें और इससे अधिक नगरमें । ये एकपर भी दया नहीं करते । 'धेनु द्विज' से यह भी जनाया कि एक भी गौ या एक भी ब्राह्मण हुआ तो सारे नगर आदिमें आग लगा देते हैं। भाव यह कि तुम लोगोंने इनको नगरसे निकाल क्यों न दिया, उसका फल तुमको भी वही देते हैं । वैरीका मित्र भी वैरी होता है ।] (च)—'आगि लगावहिं' कहकर जनाया कि सब बड़े आततायी हैं । [आग लगाना प्रथम आततायित्व है । यथा "अग्निदो गरदश्चैव धनहारी च सुतघः । क्षेत्रदारापहारी च षडेते ह्याततायिनः । प० पु० सृष्टि० ४८ । ५८ ।"] (छ) 'सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई' इति । इससे जनाया कि वे आप तो अधर्म करते ही हैं और दूसरोंके लिए भी हुक्म निकाल दिया है कि कोई भी धर्म न करे । इसीसे शुभ आचरण कहीं नहीं होते । यदि कोई धर्म करे, सुर, विप्र और गुरुको माने तो मार डाला जाय; इसीसे कोई इनको मानता भी नहीं । [देव, विप्र, गुरुकी पूजा बंद हो गई । सभ्य वही माना जाता था, जो भक्ति, यज्ञ, तप आदिको अन्धविश्वास माने । अतः कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका लोप हो गया । (वि० त्रि० ।]

नोट—१ वेद ही धर्मका मूल है, उसके उखाड़नेकी विधि वे जानते थे । पण्डितजी बनकर वे वेदका व्याख्यान करते थे, बतलाते थे कि वेद मनुष्योंका बनाया हुआ है, अब देश काल वैसा नहीं रह गया, नये वेदकी आवश्यकता है । वेदको खींचखांचकर मरोड़कर उसका अर्थ ही दूसरा करते थे । अर्थ करनेकी पद्धति ही बदल देते थे । कोई महात्माजी बनकर अपने माहात्म्यसे लोगोंको प्रभावित करके वेदमार्गसे च्युत करते थे, कोई गोसाईं बने हुए शिष्योंको अधर्म रास्तेपर लगाते थे । कोई अगुआ बनकर जनताको हरा बाग दिखाते हुए उसे विपत्ति सागरमें डुबाते थे । कोई सुधारक बनकर सम्प्रदाय और परम्पराके मिटा देनेमें ही कल्याणका मार्ग दिखाते थे । कोई देशहितैषी बनकर देशके देशको ईश्वरसे विमुख करनेमें लगे थे । कोई समाज-हितैषी बनकर एक जातिका दूसरे से वैर कराते थे । सभी धर्मोंके प्रतिकूल आचरण स्वयं करते और लोगों से कराते थे । जब जनता अधिक काबूमें हो गई तब स्पष्ट अत्याचार करने लगे । यज्ञमें प्रधान साधन हैं—गौ और ब्राह्मण। उन दोनोंसे संसारका अकल्याण पहिले ही बतलाते थे, अब यह नियम कर दिया कि जिस पुर आदिमें ये पाये जावें उसे एकदम फूँक दो ।

टिप्पणी—४ (क) 'जप जोग बिरागा···' इति । यह काम परम आवश्यक है । ऋषि मुनि इत्यादि अवश्य जप यज्ञ आदि करते हैं । इसके लिए वह किसीपर विश्वास नहीं करता । इसीसे यज्ञकी खबर पाते ही स्वयं ही उठकर दौड़ा जाता है । ('उठि धावै' से जनाया कि इसमें किंचित् भी आलस्य या विलंब नहीं सह सकता) (ख) 'अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा०' इति । ☞ प्रथम कह आए हैं कि 'जेहि बिधि होइ धर्म निमूला । सो सब करहिं बेद प्रतिकूला', अब बताते हैं कि उन्होंने धर्मको ऐसा निमूल कर दिया कि प्रत्यक्ष दिखाई देनेकी कौन कहे कहीं कानोंसे सुननेमें भी नहीं आता । धर्मका नाश यहाँ कहकर आगे धर्मके

मूलका नाश कहते हैं। (ग) 'तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना' इति। बेद पुराण धर्मका मूल हैं। वेदपुराण सुननेसे धर्मका बोध होता है अतः धर्म निर्मूल करनेकी यह भी एक विधि है कि वक्ता कोई रह ही न जाय। ☞ प्रथम श्रोताओंका हाल कहा कि 'सपनेहु सुनिय न बेद पुराना', अब वक्ताओंका हाल लिखते हैं। (घ) 'बहु बिधि त्रासै' से जनाया कि निशाचर मारते डरवाते तो श्रोताओंको भी हैं पर वक्ताओंको धर्मके उपदेष्टा समझकर बहुत प्रकारसे त्रास देते हैं। (ङ) 'बरनि न जाइ अनीति०' इति। यहाँ निशाचरोंके उपद्रवकी इति लगाई। आगे राक्षसोंके अनुयायियोंका उपद्रव वर्णन करते हैं,—'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा' इत्यादि। ['हिंसा पर अति प्रीति' कहकर एक हिंसाकर्ममें सभी छोटे बड़े पापोंका वर्णन 'द्वितीय पर्याय अलंकार' है।—(वीरकवि)]

वि० त्रि०—'जप जोग…' इति। जप आदिके संबंधमें कहते हैं कि इमली इमली कहनेसे मुँह मीठा नहींहोता, मिरचा मिरचा कहनेसे तीता नहीं होता, अतः जप करना व्यर्थ समय व्यतीत करना समझा गया। गाँजेकी दम लगाकर बेहोश होना और समाधि लगाना एक बात समझी गई। तप करके आँतोंको सुखाना अपनेको दुर्बल बनाना माना गया। विरागकी गिनती नालायकीमें हुई। यज्ञ खाद्यान्नदाहसे सम्पन्न होता है, अतः अपराध माना गया। महाराज रावणकी आज्ञा है कि ये सब दुष्कर्म हैं। अतः जप, योग, यज्ञ सब बंद हो गए। केवल उड़ती खबर यदि रावणको लग जाय कि कहीं यज्ञादि होते हैं तो स्वयं दौड़ पड़ता कि कहीं जाते जाते पूर्णाहुति न हो जाय, या जिसको इस कामपर भेजा है वह आलस्य न कर जाय। स्वयं ऐसा मुस्तैद रहता था जिससे सब सावधानीसे काम करें। अतः कवि कहते हैं कि घोर निशाचर जो करते हैं उस अनीतिका वर्णन नहीं हो सकता।

☞ इस वर्णनमें उपदेशका भाव है। वह यह कि देखिए, यहाँ तक धर्मका पतन होता है। अतः धर्मात्मा धर्मका ह्रास देखकर अधीर न हों। धर्मका नाश हो नहीं सकता, उसके सँभालनेके लिये भगवान्‌को आना पड़ता है।

श्रीलमगोड़ाजी—१ आपने देखा कि बालकांडमें यहाँ तक किस कुशलतासे कविने आध्यात्मिक और आधिदैविक रहस्य बड़ी ही रसमय भाषामें लिख दिये हैं।

२ जिस सामाजिक परिस्थितिमें भगवान्‌का अवतार हुआ है उसका वर्णन कला तथा नैतिक दोनों दृष्टिकोणसे विचारणीय है।

३ जबसे मैंने डाक्टर हरदयालजीका लेख 'प्रभा' में पढ़ा था कि प्राचीन हिन्दीसाहित्यमें रामचरितमानस एक अच्छा राष्ट्रीय काव्य है, क्योंकि इसमें राष्ट्रसंघटनके मूल नियम मौजूद हैं, तबसे बहुधा इस दृष्टिकोणसे विचार किया है और रामायणपर अनेक दृष्टिकोणोंसे विचार सम्बन्धी (माधुरीमें प्रकाशित अपने) लेखोंमें कुछ विचार प्रकट भी किये हैं। मैं राजनैतिक विशेषज्ञ नहीं हूँ। इसलिए अधिक लिखनेका साहस नहीं करता। हाँ, राजनीतिज्ञोंसे अनुरोध अवश्य करूँगा कि वे "रामराज्य" के नियमोंपर विचार करें। और इस दृष्टिकोणसे "रावण रथी बिरथ रघुबीरा" वाला रथके रूपकका प्रसंग बड़े महत्त्वका है। हाँ, एक बात याद रखना चाहिये कि मानस एक काव्य है; इस कारण उसमें पारिभाषिक राजनीति नहीं है परन्तु उसके संकेत बराबर हैं।

देखिये, हमने भानुप्रतापका सार्वभौम राज्य देखा। अब रावणका "मंडलीकमनि रावन राज करै निज मंत्र" वाला साम्राज्य देख रहे हैं और 'रामराज्य' की कथा तो पढ़ेहींगे। तीनों राष्ट्रोंकी तुलना बड़ी शिक्षाप्रद है। संक्षिप्ततः यह कहना अनुचित नहीं है कि भानुप्रतापके साम्राज्यमें राजस प्रधान है। धर्मका बाहरी रूप (यज्ञ-दान इत्यादि भी हैं) पर शासनकी इच्छा वासना-रूपमें है। सारी दुनिया मेरी हो। मुझपर कोई विजय न पावै। राज बलसे फैले, इत्यादि। रावणका साम्राज्य तो तामसिक स्पष्ट ही है। इसीलिये दोनोंका परिणाम विनाश और दुःख है। रामराज्यकी पताका ही "सत्य शील दृढ़" है, इससे वह सात्विक

है। उसका रथ "बल, बिबेक, दम, परहित घोड़े" से आगे बढ़ता है। परन्तु यह घोड़े, "क्षमा, दया और समता" के रज्जुसे जोड़े गए हैं।

सत्याग्रही भाई विचार करें कि अभी "शील" की कमी उनमें है। Non-violence केवल नकारात्मक है। सामवादी विचार करें कि Liberty (स्वतन्त्रता) की धुनमें उनकी 'समता' खूनमें सनी ही रही है। 'क्षमा, दया' से मिली नहीं है; इसीलिये Liberty (स्वतंत्रता) और Equality (साम्य) के साथ बेचारा Fraternity (भ्रातृभाव) यों ही रह गया, या अगर काम आया तो बहुत कम।

यह भी विचारणीय है कि अयोध्यामें "जो पाँचहि मत लागै नीका" वाला तत्त्व प्रधान है वहाँ "राज करै निज मंत्र" की डिक्टेटरी (Dictatorship) का पता नहीं।

बाढ़े खल बहु चोर जुवारा। जे लंपट परधन परदारा ॥१॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥२॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब* प्रानी ॥३॥
अतिसै देखि धर्म कै ग्लानी†। परम सभीत धरा अकुलानी ॥४॥
गिरि सरि सिंधु भार नहि मोही। जस मोहि गरुअ‡ एक परद्रोही ॥५॥
सकल धर्म देखै बिपरीता। कहि न सकै रावन भय भीता ॥६॥
धेनु रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहां जहं सुर मुनि झारी ॥७॥
निज संताप सुनायेसि रोई। काहू तें कछु काज न होई ॥८॥

छंद—सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
संग गो तनु धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका ॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई ॥

सोरठा—धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरु।
जानत जन की पीर प्रभु भंजिहि दारुन बिपति ॥१८४॥

शब्दार्थ—जुवारा = जुआड़ी, जुआ खेलनेवाले। लंपट = कामुक। दारा = स्त्री। ग्लानी=खेद, दुःख, शारीरिक वा मानसिक शिथिलता। अरुचि, खिन्नता। धरा = पृथ्वी। झारी = समस्त, सब। पीर = पीड़ा, दर्द, दुःख।

अर्थ—बहुत दुष्ट, चोर और जुआरी बढ़े जो पराये धन और स्त्रियोंमें लपटे रहते हैं (अर्थात् उनको ताकते हैं, हरते हैं, उनकी घातमें रहते हैं) ॥१॥ माता पिता देवता किसीको नहीं मानते। साधुओंसे सेवा कराते हैं ॥२॥ हे भवानी! जिनके ऐसे आचरण हैं उन सब प्राणियोंको निशाचर जानना ॥३॥ धर्मकी अत्यंत गिरी हुई दशा देखकर पृथ्वी बहुत भयभीत और व्याकुल हो गई ॥४॥ (वह मनमें सोचने लगी कि) मुझे पर्वत, नदी और समुद्रका बोझ (वैसा भारी) नहीं लगता जैसा एक परद्रोही भारी लगता है ॥५॥ वह सब धर्म उलटे देख रही है (पर) रावणके डरसे डरी हुई कुछ कह नहीं सकती ॥६॥ मनमें सोच-विचारकर

* सम–१७२१, छ०, को० रा०, प्र०। सब–१६६१, १७०४, १७६२। † ह्रानी–१७२१, १७६२, को० रा०। ग्लानी—१६६१, १७०४, छ०। ‡ गरुव—१६६१। गरुअ—प्रायः औरों में।

वह, गायका रूप धारण करके, वहाँ गई जहाँ सबके सब देवता और मुनि थे ॥७॥ (उसने) अपना सब दुखड़ा रो सुनाया, (पर) किसीसे कुछ काम न चला ॥८॥ सुर मुनि गन्धर्व सब मिलकर ब्रह्माके लोकको गए। भय शोकसे परम व्याकुल बेचारी पृथ्वी भी गऊ रूप धरे साथ थी। ब्रह्माजी सब जान गए। उन्होंने मनमें विचार किया कि मेरा कुछ वश नहीं है। जिसकी तू दासी है वह अविनाशी (है वही) हमारा और तुम्हारा सहायक है। (फिर) ब्रह्माजी बोले—'हे पृथ्वी!' मनमें धैर्य्य धारण कर। भगवान्‌के चरणोंका स्मरण कर। प्रभु अपने दासोंकी पीरको जानते हैं। वे इस कठिन विपत्तिका नाश करेंगे ॥१८४॥

टिप्पणी—१ [(क) 'बाढ़े' से जनाया कि पूर्व भी थे पर कुछ ही थे। अब निशाचर-शासनके कारण संख्या बहुत बढ़ गई। पुनः बाढ़े अर्थात् इनकी दिनोंदिन उन्नति देख पड़ने लगी।] (ख) (चोरी और जूआका साथ है। चोर ही पक्के जुआड़ी होते हैं, दूसरेके धनसे उन्हें जूआ खेलना ठहरा। अतः दोनोंको साथ कहा। वि० त्रि०)। 'मानहिं मातु पिता नहिं देवा' से कृतघ्न और नास्तिक जनाया। 'साधुन्ह सन करवावहिं सेवा' से अधर्मी सूचित किया; क्योंकि साधुकी सेवा करना धर्म है सो न करके उलटे उनसे सेवा कराते हैं। [(ग) 'ते जानहु निसिचर सब प्रानी' इति। ☞यहाँ निशाचरका अर्थ बताया है। बड़े बड़े दाँत सींग भयावनी शक्ल इत्यादि की आवश्यकता नहीं है। उपर्युक्त आचरण जिनके हों वे सब निशिचर ही हैं। 'सम' पाठान्तरका भाव यह होगा कि जो काम निशिचर करते हैं वही ये करते हैं अतएव यह निशिचरके समान हैं]

२ [(क) 'अतिसै देखि···' का भाव कि जब तक निशाचरोंमें ही अधर्म रहा तब तक दुःख विशेष न हुआ क्योंकि उनका तो यह स्वाभाविक गुण है। पर जब इनके कारण प्रायः संसारभरमें ऐसे ही आचरण होने लगे, सभी प्राणी निशाचरोंके आचरण करने लगे, जो कुछ धर्म करते थे वे या उनकी संतान ही अधर्ममें रत हो गई इत्यादि, तब पृथ्वी अकुला उठी। गीतामें भी अवतारके लिये धर्मकी ग्लानिका होना आवश्यक दिखाया है, यथा 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्। ४।७।' अतः यहाँ वही धर्मकी 'ग्लानी' शब्द देकर सूचित किया कि अवतारके लिये जैसा अधर्मका अभ्युत्थान और धर्मकी हानि होने चाहिए वे सब उपस्थित हो गए हैं] (ख) 'परम सभीत धरा अकुलानी' इति। यहाँ 'धरा' नाम देनेका भाव कि यह धर्मके बलसे सबको धारण किए हुए है; इसीसे अधर्मीका भार नहीं सह सकती। [धरा—'धरति विश्वम् धृञ् धारणे', 'धराः पर्वताः सन्त्यस्याम् वा'। अर्थात् पर्वत है जिसपर वह 'धरा' है, जो विश्वको धारण करती है वह धरा है। प० प० प्र०]

नोट—१ बाबा हरिदासजी कहते हैं कि-(क) यहाँ 'धरा' नाम सहेतुक है। जिसको कोई सदा धरे रहे, एवं जो सब वस्तु अपनेमें धरे रहे उसे 'धरा' कहते हैं। (यह अर्थ अशास्त्रीय है। प० प० प्र०)। शेषजी धरनीको सदा अपने शीशपर धारण किये रहते हैं। अतः 'धरा' अकुलाती है कि शेषजी मुझको पापसे लदी हुई समझकर अपने सिरपर बड़ा पापका भार जानकर कहीं जलमें बहा न दें। पापी जीव सिरपर पाप लादते हैं और शेषजी हरिभक्त हैं तब भला वे पापको सिरपर कैसे रहने देंगे? (ख) 'धेनुरूप धरि हृदय बिचारी' इति। हृदयमें यह विचारा कि जब शेषजी मुझे जलमें डाल देंगे तब मैं क्या यत्न करूँगी? सब जीव मेरे आश्रित हैं। वे सब डूब जायँगे। देवता तो गगनवासी हैं उनकी जलमें डूबनेकी कोई शंका नहीं। यह विचारकर गो-रूप धरकर देवसमाजको गई। [नोट—'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक पर द्रोही' के संबंधसे, वा विचारके अनुसार 'धरा' नाम बड़ा ही उत्तम पड़ा है]

टिप्पणी—३ 'जस मोहि गरुअ एक परद्रोही' का भाव कि एक परद्रोहीका भार इन सबके मिलकर भी भारसे अधिक भारी है और यहाँ तो अगणित परद्रोही हैं तब उनके बोझका वर्णन वा अन्दाजा (अटकल) कौन कर सकता है [सच्चे बोझका निषेध करके उसका भारीपन परद्रोहीमें आरोप करना 'पर्य्यस्तापह्नुति अलंकार' है। (वीरकवि)]

वि० त्रि०—'सकल धर्म देखै बिपरीता' इति। शास्त्र कहता है कि 'व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रम स्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।' (अर्थात् वर्णाश्रमकी स्थितिमें संसार सुखी होता है, कष्ट नहीं पाता; परन्तु तामसी बुद्धिवालोंको वर्णाश्रम आँखका काँटा हो जाता है। शास्त्र कहता है 'न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति', परन्तु तामसी बुद्धिवालोंको स्त्रीस्वातन्त्र्य सब कल्याणका मूल जँचता है। शास्त्र कहता है कि "शौचात् स्वाङ्ग जुगुप्सा परैरसंसर्गश्च' शौचका अभ्यास डालनेसे अपने शरीरसे घृणा हो जाती है, वह दूसरेका संसर्ग नहीं करता, पर तामसी बुद्धिवाले छुआछूत उठा देनेको ही धर्म समझते हैं। रावणने क़ानून लागू कर दिया है, इससे कोई कुछ कह नहीं सकता।

टिप्पणी—४ 'धेनु रूप धरि हृदय बिचारी' इति। धेनुरूप धारण करनेका भाव कि एक तो वास्तवमें पृथ्वीका गऊ रूप ही है, दूसरे गऊकी रक्षा सब करते हैं; अतः गौ रूप धारण किया। [श्रीमद्भागवतमें भी राजा परीक्षित और कलिके प्रसंगमें पृथ्वीको गौ, धर्मको बैल और कलिको कसाई रूप कहा गया है। सुकृती राजाओंके प्रसंगोंमें जहाँ तहाँ पृथ्वीरूपी गौका दुहना कहा गया है। पुनः गऊका रूप अति दीनताका स्वरूप है, अतएव गऊ बनी।] 'गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी' अर्थात् सुमेरु पर्वतकी खोहमें जहाँ ये सब छिपे थे, यथा 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा। १८२।६।'

प० प० प्र०—अन्य ग्रन्थोंमें 'गो'-रूपके उल्लेख मिलते हैं, पर 'धेनु' शब्दका व्यापक अर्थ उसमें नहीं है। 'धेनुः स्यात् नव सूतिका' अर्थात् नई ब्याई हुई गौको धेनु कहते हैं। ब्याई हुई गौके वत्स (बछड़ा) रहता है। धरारूपी धेनुका बछड़ा तो धर्म है, उसे रावणने धरणीपर नहीं रहने दिया, इसीसे धरा परम सभीत होकर व्याकुल हो गई। 'मेरे प्राणप्रिय वत्सको सुर-मुनि मुझसे मिला देंगे' इस आशासे वह 'गई जहाँ सुर मुनि झारी'। गो-शब्दसे यह भाव नहीं निकल सकता।

नोट—२ (क) "निज संताप सुनायेसि रोई" इति। गौको जो दुःख होता है तो वह मुँहसे कैसे कहे, अश्रु धारा बहाती है जिससे मालूम हो जाता है कि उसे दुःख है। देवताओंके समीप जाकर रोने लगी; इसीसे वे कष्ट जान गए। अथवा, जैसे उसने गौका रूप धारण किया वैसे ही मुँहसे अपना दुःख भी कह सुनाया और रोती रही। रोरोकर दुःख सुनानेसे दया शीघ्र आती है। दूसरे इससे प्रकट होता है कि कष्ट अत्यन्त भारी है, असह्य है; इसीसे रोना आता है। पुनः रोनेका भाव कि आप सब ऐसे समर्थोंके रहते हुए मेरी यह गति हो यह उचित नहीं। यथा 'सभा माँझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ। तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ। ३।२१।', 'सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाँह उठाई'। (ख) पुनः, रोकर जनाया कि देवता आदि तो भागकर बच भी जाते हैं, मैं तो भाग भी नहीं सकती, अतः रोती रहती हूँ। 'काहू तें कुछ काज न होई' क्योंकि ये सब तो स्वयं भयके मारे डरे छिपे रहते हैं, रावण दिन रात इनके पीछे पड़ा रहता है, यथा 'किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबहीके पंथहि लागा।' तब यह क्या सहायता कर सकते ?

टिप्पणी—५ (क) 'सुर मुनि···गे बिरंचिके लोका।' भाव कि आपने ही रावणको वर दिया है जिसके बलपर रावण सब अत्याचार कर रहा है। और आपने ही हमें अधिकारी बनाया सो सब अधिकार रावणने छीन लिये, हम भागे भागे फिरते हैं। आप ही अब हमारे बचनेका उपाय बताएँ। पुनः भाव कि आप सृष्टिके रचयिता हैं, सारी सृष्टिका नाश हो जायगा, अतः शीघ्र उपाय कीजिये। (ख) 'परम बिकल भय०' इति। भय रावणका है। यथा 'सकल धरम देखै बिपरीता। कहि न सकै रावन भय भीता।' शोक उसके अत्याचारका और धर्मके नाशका है, यथा 'अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी।' जो पूर्व कहा था उसीको यहाँ इन दो शब्दोंसे जना दिया।

६ (क) 'ब्रह्मा सब जाना' भाव कि देवताओंसे इसने अपना दुःख रोकर सुनाया तब उन्होंने जाना

था और ब्रह्मासे दुःख कहना न पड़ा, वे अपनेसे जान गए। 'कछू न बसाई' अर्थात् मेरी कुछ न चलेगी। ☞देवताओंसे कुछ काम न हुआ, यथा 'काहू तें कछु काज न होई'। और ब्रह्माजी भी यही अनुमान करते हैं कि मेरा कुछ बस नहीं। अर्थात् इनसे भी कुछ न हुआ। [(ख) 'जा कर तैं दासी सो अबिनासी'—भाव कि जिनका किसी न किसी कालमें विनाश है उनके हाथसे रावण नहीं मरेगा। जो अविनाशी है उसीके हाथसे उसकी मृत्यु होगी। वही प्रभु हमारे और तुम्हारे सहायक हैं। (बाबा हरीदासजी)] (ग) 'हमरेउ तोर सहाई' का भाव कि जैसी विपत्ति तुम्हें है वैसी ही हमें भी है।

प० प० प्र०—(क) जब सुर-मुनिने भी असमर्थता दिखाई तब निराशा हुई, अपने वत्ससे मिलना असम्भव समझ वह बेचारी गौ-के समान दीन बन गई। अतः 'गो तनु धारी' बनी। (ख) 'भूमि बिचारी' इति। पहले 'धरा' थी अब 'भूमि' बन गई। 'भवति इति भूमिः' (अमर व्या० सु०)। भाव कि अब कुछ (भवति) होगा, क्योंकि वे विरंचि हैं, उन्होंने रावणके विरुद्ध कुछ उपाय रचा होगा ही। देखिए, जब ब्रह्माने कुछ उपाय बताया तब बिरंचि-शब्द आया है, यथा 'कह बिरंचि हरिपद सुमिरु'। जब कहा कि 'मोर कछू न बसाई' तब ब्रह्मा-शब्द दिया है, क्योंकि ब्रह्मा=वृद्धिकर्ता। उन्होंने रावणको वर देकर उसके ऐश्वर्य, सत्ता आदिकी वृद्धि कर रक्खी है, इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते।

नोट—३ 'मोर कछू न बसाई' और 'हमरेउ तोर सहाई' का भाव कि हम भी तो उससे डरते हैं। देखो, हमें नित्य उसके पास वेद सुनाने जाना पड़ता है, हमारा भी बंधन वही प्रभु छुड़ावेंगे।

खर्रामें 'हमरेउ तोर सहाई' का भाव यह लिखा है कि "हमारे और तेरे सहायमें विरोध है। रावणके मरणसे तेरा सहाय है और हमने तो रावणको नर वानरसे मरनेका वर दिया है, अन्यसे न मरनेमें ही हमारी सहायता है। पर ऐसा कौन नर वानर है जो उसे मार सके, यह बात उसी अविनाशीके हाथ है वह चाहे तो सब सुगम है।"

टिप्पणी—७ (क) "धरनि धरहि मन धीर"—पृथ्वी भय और शोकसे परम व्याकुल है। अतः धीरज देते हैं। 'धरनि' का भाव कि तुम विश्वको धारण करनेवाली हो, अतः धैर्य्य धारण करो। धैर्य धारणकर अपना 'धरणि नाम सार्थक कर'। 'हरि पद सुमिरु'—हरिके चरणोंका स्मरण करनेको कहा क्योंकि भगवान्‌के स्मरणसे धैर्य्य बँधता और कष्ट निवृत्त होता है। कष्टमें भगवान्‌का स्मरण करना चाहिए, यथा-'कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुखदाता। ५।१५।' स्मरणमें 'हरि' पद दिया क्योंकि 'क्लेशं हरतीति हरिः' और 'विपत्ति' भंजन करनेमें 'प्रभु' शब्दका प्रयोग किया क्योंकि दारुण विपत्तिके भंजन करनेमें वे 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, इसीसे देवताओंने रघुनाथजीसे लंकामें कहा है कि 'दारुन बिपति हमहि यह दीन्हा'।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिय पुकारा॥१॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस* प्रभु सोई॥२॥
जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥३॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ†। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥४॥

शब्दार्थ—पुकारा=फ़रियाद, दुहाई, रक्षा या सहायताके लिये चिल्लाहट। अपनी ओर ध्यान आकर्षित करनेके लिये जोरसे किसीका नाम लेना या कोई बात कहना। किसीसे पहुँचे हुए दुःख वा हानिक उससे निवेदन जो दंड या पूर्तिकी व्यवस्था करे।

अर्थ—सब देवता बैठे हुए विचार करते हैं कि प्रभुको कहाँ पावें, कहाँ जाकर पुकार करें (अपना

* महँ बस सोई—(ना० प्र०)। महँ प्रभु सोई—(रा० प०)। 'रह प्रभु'। † १६६१ में 'रहेऊं' है।

दुःख सुनाएँ) ॥१॥ कोई वैकुण्ठ जानेको कहता है और कोई कहता है कि वही प्रभु क्षीरसागरमें निवास करते हैं ॥२॥ जिसके हृदयमें जैसी भक्ति और जैसा प्रेम है प्रभु (उसके लिए) वहीं सदा उसी रीतिसे प्रकट होजाते हैं ॥३॥ हे गिरिजे ! उस समाजमें मैं भी था । अवसर पाकर मैंने एक बात कही ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) "बैठे सुर सब करहिं बिचारा" से जनाया कि देवताओंने सभा की, उनका समाज विचार करनेके लिए बैठा जैसा आगेके 'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ' से स्पष्ट है। (अथवा ऐसाभी संभव है कि सब देवता वहाँ एकत्र थे ही, अतः सभी सोच रहे हैं कि कहाँ अविनाशी प्रभुको पावें ! कहाँ उनसे जाकर पुकार करें ?) । (ख) 'कहँ पाइअ प्रभु' अर्थात् जो हमारी विपत्ति हरण करनेको समर्थ हैं उनको कहाँ पावें, कहाँ जाकर मिलेंगे ? वे विचार करते हैं कि रावण हमसे अवध्य है, (ब्रह्माके पास गए सो उन्होंने स्वयं कहा है कि 'जाकर तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई' तथा 'प्रभु भंजिहि दारुन बिपति' । इससे यह स्पष्ट है कि वे भी कुछ कर नहीं सकते, यथा 'मोर कछू न बसाई', अतएव) वे अब न तो ब्रह्मासे कहते हैं और न शिवजीसे ही कि आप रावणका वध करें क्योंकि दोनों ही ने रावणको वर दिया है । यह बड़े लोगोंकी रीति है कि जिसे वे बनाते हैं उसे बिगाड़ते नहीं । (और यदि वे ऐसा करें तो फिर उनके वर और शापका मूल्य ही कुछ न रह जाय । और, जब वचनका मूल्य न रहा तो उन्हींका क्या मूल्य रह गया ? वाल्मीकीयमें शिवजीने स्वयं कहा है कि हम वर दे चुके हैं अतः इसको क्या मारें !) अब रहे विष्णु यह भी रावणको मार सकते हैं; ये वचनवद्ध नहीं हैं; अतएव सोचते हैं कि कहाँ जाकर उनसे पुकार करें ? इसीपर कोई बैकुंठ जानेकी सलाह देते हैं । (ग) प्रभुसे पुकार करनेका भाव कि जब जब देवताओंको दुःख होता है तब तब वे ही दुःख हरते हैं, यथा 'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो । ६।१०६ ।' (घ) 'पुर बैकुंठ जान कह कोई ।०' इति । भाव कि जब किसीने कहा कि प्रभुको कहाँ पावें ? तब किसीने उत्तर दिया कि वैकुण्ठको चलो, वे वहाँ मिलेंगे । जो स्थान जिस देवताका जाना हुआ है वह वही स्थान बताता है । (दूसरे जो क्षीरशायी भगवान्का अवतार लेना जानते हैं वे क्षीरसिंधु जानेको कहते हैं) । वैकुण्ठवासी और क्षीरशायी भगवान् अवतार लेते हैं । इसीसे उनके यहाँ जानेको कहते हैं । ☞देवताओंके वचन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं । 'कहँ पाइअ प्रभु करिय पुकारा' इस वचनमें प्रभुकी प्राप्तिका ठिकाना नहीं है, इससे 'पुर बैकुण्ठ जान कह कोई' यह वचन विशेष हैं क्योंकि इसमें प्रभुकी प्राप्तिका ठिकाना है । परन्तु वैकुण्ठ दूर है इससे कोई कहता है कि 'पयनिधि बस प्रभु सोई' यह वचन विशेष है । क्षीरसमुद्र निकट है । आगे शिवजीका वचन इससे भी विशेष है क्योंकि जहाँ सब बैठे हुए हैं वहीं प्रभुकी प्राप्ति उन्होंने बताई । ☞ (तीन उपासनायें यहाँ दिखाई । जो वैकुण्ठवासीके उपासक हैं, उन्होंने वैकुण्ठ जानेको और जो लक्ष्मीनारायणके उपासक हैं उन्होंने क्षीरसिंधु जानेको कहा) ।

वे. भू. पं० रा. कु. दास—ब्रह्माके एक दिनको कल्प कहते हैं । और 'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं', इस तरह ब्रह्माके एक वर्षमें ३६० बार प्रभुका अवतार हो जाता है । अतएव ब्रह्माजीने बहुत बार श्रीरामावतार देखा है, इससे वे जानते हैं कि रामावतार वैकुण्ठ अथवा क्षीरसागरसे नहीं होता किन्तु साकेताधीश श्रीराम ही दाशरथी राम होते हैं—'तथा रामस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्वतः । अथर्ववेद ।' विरजापार त्रिपाद्विभूतिमें केवल मुक्त जीव जा-आ सकते हैं—'यत्र गच्छन्ति सूरयाः' । देवता बद्ध जीव हैं—'भव प्रबाह संतत हम परे' के अनुसार ये वहाँ जा नहीं सकते ।

ब्रह्माजी तो इस विचारमें हैं कि क्षीरसागरवैकुण्ठादिसे काम न चलेगा जो एकपाद्विभूतिमें हैं अतः कैसे काम चलेगा ? रहे देवता । वे अवतारकी व्यवस्था नहीं जानते, क्योंकि एक कल्पके भीतर चौदह इन्द्र हो जाते हैं । प्रत्येक इन्द्रके साथ साथ मनु, सप्तर्षि और देवता आदि भी दूसरे-दूसरे हो जाते हैं । (विष्णुपुराणादिमें विस्तृत वर्णन है, इस तरह एक कल्पके भीतर देवताओंके कई जन्म हो जाते होंगे ।

देवता इतना जानते हैं कि वृन्दाका शाप वैकुण्ठाधीशको हुआ, जय-विजयको सनकादिक का शाप रमावैकुंठमें हुआ और नारदशाप क्षीरशायीको हुआ तथा नृसिंहावतार क्षीरसागरसे ही हुआ था, यथा "क्षीरोदार्णव शायिनं नृकेशरिणम् ।" नृ. ता. । अतः देवताओंका खयाल है कि नृसिंहवामनादिकी तरह रावण-वधार्थ भी क्षीरसागर या वैकुण्ठसे ही कोई अवतार होगा इससे वहीं जाना ठीक होगा। परन्तु दोमेंसे कहाँ जायँ ! इस सोचमें हैं ।

प० प० प्र०—वैकुण्ठाधीश विष्णु तथा क्षीरनिधिनिवासी श्रीमन्नारायणका रामावतार लेना तो अवतारहेतु प्रकरणसे स्पष्ट है । जिस कल्पमें यह सभा बैठी है उसमें तो 'रामस्तु भगवान् स्वयं' (प० पु०) का ही अवतार मनुशतरूपा वरप्रदानके अनुसार होनेवाला है, यह शिवजी जानते हैं, इसीसे उन्होंने कहा कि वे सर्वत्र हैं, जहाँ चाहो प्रकट हो सकते हैं । साधारण अज्ञानी लोग यह नहीं जानते कि विष्णु, नारायण और राम तत्वतः एक हैं अतः यहाँ दिखाया है कि रामावतार इन तीनोंमेंसे किसी एकका होता है ।

वैजनाथजी लिखते हैं कि देवताओंकी उक्तिमें भाव यह भी है कि जब किसीने वैकुंठ जानेको कहा तब सब वैकुंठ गए । वहाँ भगवान्‌ने कहा कि इस रावणकी मृत्यु हमारे हाथ नहीं है। तब किसीने क्षीरसमुद्र जानेको कहा वहाँ जानेपर भी वही उत्तर मिला । जब सब देवता असमंजसमें हुए तब वे शिवजीके पास आए और कहा कि अविनाशी प्रभु कहाँ मिलें । (यह भाव लचरसा जान पड़ता है) ।

टिप्पणी—२ (क) 'जाके हृदय भगति जसि प्रीती' इति । इस वाक्यके कथनका तात्पर्य्य यह है कि देवताओंके विचारसे न तो भगवान् प्रगट ही हुए और न आकाशवाणी ही हुई । इसीपर कहते हैं कि जिसके हृदयमें जैसी भक्ति और जैसी प्रीति है उसी रीतिसे प्रभु वहाँ सदा प्रगट होते हैं । देवताओंकी भक्ति और प्रीति वैकुण्ठवासी और क्षीरशायी विष्णु भगवान्‌में है इसीसे उनके पास वे जानेको कहते हैं । जब देवता वहाँ जाँय तब उनको भगवान् वहीं मिलें, यहाँ नहीं मिल सकते । 'जसि प्रीती' का भाव कि भगवान् प्रीतिसे प्रगट होते हैं, यथा 'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदय हरन भव भीरा ।' जहाँ भावना करो वहीं प्रकट होते हैं । [जैसे नारदजीने कौतुकी नगरमें ही खड़े खड़े प्रार्थना की तो वहीं प्रगट हो गए थे । यथा "बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला । प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला ।" 'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ' इससे जनाया कि उस समाजमें शिवजीका भी होना वे नहीं जानती हैं । पार्वतीजीकी यह प्रार्थना है कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहीं होई । सोउ दयालु राखहु जनि गोई । १११।४ ।' इसीसे शिवजी अपना वहाँ होना उनसे कहते हैं । (ग) 'अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ ।' तात्पर्य कि सब देवता अपने अपने विचार प्रगट कर रहे थे, इससे बीचमें कहनेका अवकाश न मिला था । जब सब कहकर चुप हो रहे, कोई एक विचार निश्चित न क़रार पाया तब अवसर पाकर मैंने कहा ।] 'अवसर पाइ' क्योंकि अवसरपर कही हुई बात काम करती है । यथा 'रानि राय सन अवसरु पाई । अपनी भाँति कहब समुझाई । २।२८४ ।' इत्यादि । अवसर यही था कि कोई मत निश्चित न कर सके, थककर बैठ गए, तब कहना योग्य था ।

नोट—शंकरजी कहाँसे आ गए ? उत्तर यह है कि देवता ब्रह्माजीके पास गए थे। ब्रह्माजीने सोचा कि यह बात मेरे वशकी नहीं है । अतः वे सबको साथ लेकर कैलास पर्वतपर गए। सब देवताओंने उनकी स्तुति की । शंकरजीने सबको अपने पास बुला भेजा । ब्रह्माजीने सबके आगमनका कारण बताया । तब वे भी साथ हो लिए । [(पद्म पु० पातालखंड) । इसके आगेकी कथा मानससे भिन्न है] मानस-कल्पकी कथासे ऐसा अनुमान होता है कि कैलासपर ही सब विचार होने लगा । शंकरजी सबको लेकर कहीं गए नहीं, यह उनके 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना' से स्पष्ट है । विशेष दो० १८७ में देखिए ।

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना । प्रेम तें* प्रगट होहिं मैं जाना ।।५।।

* तैं—१६६१ ।

देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं । कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥६॥
अगजगमय सब रहित बिरागी । प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी ॥७॥
मोर बचन सब के मन माना । साधु साधु करि ब्रह्म बखाना ॥८॥
दोहा—सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर ।
अस्तुति करत जोरि कर सावधान मति धीर ॥१८५॥

शब्दार्थ—'दिसि बिदिसि'—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार दिशायें हैं। अग्निकोण (पूरब दक्षिणके बीचमें), नैऋती (दक्षिण पश्चिमके बीचमें), वायवी (पश्चिम उत्तरके बीचमें) और ऐशानी (उत्तर पूरबके बीचमें) ये चार विदिशाएँ हैं। ऊपर, नीचे (ऊर्ध्व और अधर) ये दो मिलाकर सब दश दिशाएँ हैं। विदिशि = दो दिशाओंके बीचका कोना। अग = स्थावर, जड़ अचर। जग = जंगम, चर, चेतन। बिरागी = राग-ममत्वरहित, उदासीन। 'साधु साधु'—सत्य है सत्य है! वाह वाह! शाबाश! ठीक है ठीक है, तुम परम साधु हो!

अर्थ—'भगवान् सब ठौर एकसे व्याप्त हैं' और प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं, यह मैं जानता हूँ ॥५॥ कहिए तो, वह कौन देश, काल, दिशा, विदिशा है जहाँ प्रभु न हों? ॥६॥ (प्रभु) सब चराचरमय हैं, सबसे अलग हैं, और अलिप्त वा रागरहित हैं। वे प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं जैसे अग्नि (लकड़ीसे) ॥७॥ मेरी बात सबके मनमें जमी अर्थात् सबोंने मान ली। मनमें हर्ष हुआ, शरीरमें रोमांच हुआ और नेत्रोंसे जल (प्रेमाश्रु) बहने लगा, और वे धीरबुद्धि (ब्रह्माजी) सावधानतासे हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ॥१८५॥

टिप्पणी—१ (क) 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना'। देवताओंने भगवान्‌को एकदेशीय बताया अर्थात् उनका एक देशमें रहना बताया, यथा 'पुर बैकुंठ जान कह०', 'कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई'। इसीपर शिवजी कहते हैं कि वे सर्वत्र समान व्यापक हैं। (ख) 'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना' इति। 'मैं जाना' का भाव कि तीन कल्पोंकी बात देवताओंने कही। 'पुर बैकुंठ जान कह कोई' इससे जयविजय और जलंधरके निमित्त वैकुंठवासी भगवान् रामजी हुए। अतः इस वाक्यसे उन कल्पोंको कहा गया। 'कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई', यह वाक्य क्षीरशायी भगवान्‌का बोधक है। रुद्रगणोंके लिए क्षीरशायी भगवान् रामजी हुए। चौथे कल्पकी कथा कोई नहीं जानते, जो भानुप्रताप अरिमर्दनके लिए परात्पर ब्रह्मका अवतार है—'ब्रह्म भएउ कोसलपुर भूपा'। इसे महादेवजी कहते हैं। 'मैं जाना' का भाव यही है कि इस बातको शंकरजी ही जानते हैं और यह कथा भी कही हुई शंकरजीकी ही है। यथा 'सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी'। जो देवताओंकी जानी है वही आकाशवाणी है।

नोट—१ "सर्वत्र समाना"—"शिवजी इस गुप्त रहस्यको प्रकट न कर सकते थे क्योंकि सन्तमतमें भविष्य गुप्त भेद प्रगट करनेकी रीति नहीं है, दूसरे देवताओंकी दृष्टि यहाँ तक नहीं पहुँची थी, उनको प्रतीति भी न होती। अतएव उन्होंने इतना ही कहा कि प्रभु सर्वत्र हैं जहाँ प्रेमकी विशेषता हुई वे प्रगट हो गए, जैसे लकड़ीमें अग्नि सर्वत्र एकसी है पर जहाँ रगड़की विशेषता होती है वहींसे वह उत्पन्न हो जाती है।—(मा० त० वि०)। शिवजीने लक्षणारूपसे भगवान्‌का परिचय तो दे ही दिया केवल नाम न प्रकट किया, इस बातको केवल ब्रह्माजी समझे। (नेहलताजी)। 'समाना' का भाव कि यह बात नहीं है कि वैकुण्ठमें कुछ अधिक हों, या क्षीरसागरमें कुछ अधिक हों और यहाँ कुछ कम हों, वे तो सर्वत्र समान हैं, पर अव्यक्त रूपसे हैं। वे प्रेम से ही व्यक्तरूपमें आते हैं। (वि० त्रि०)।

२—इस प्रसंगमें पृथक् पृथक् मत दिखलाए हैं। कुछ तो यही समझते थे कि वैकुण्ठ भगवान् ही अवतार लेते हैं और कोई यह समझता है कि श्रीमन्नारायण ही अवतार लेते हैं। अपने अपने विश्वास

और भक्तिके अनुसार उन्होंने अपनी अपनी सम्मति दी कि वहाँ चलकर प्रभुसे प्रार्थना करें। या यों कहिए कि यहाँ नाना पुराणों और रामायणोंके आचार्य्योंके सम्मत एकत्र कर दिये हैं। किसीने वैकुण्ठसे अवतार गाया है जैसे जलंधर और जय विजयके लिए, और किसीने क्षीरसागर से जैसे हरगणोंके लिए, इसीलिए कोई वैकुण्ठ और कोई क्षीरसमुद्रकी सम्मति देता है—(मा० त० वि०)। केवल ब्रह्माजी और शिवजी जानते हैं कि वहाँ से यह अवतार न होगा। ये सबसे बड़े हैं जबतक ये भी उनसे सहमत न हों उनका प्रस्ताव चल न सकता था। पर जब देवता कोई एक बात निश्चित न कर सके तब श्रीशिवजी बोले। नोट ७ भी देखिए।

३ श्रीशिवजीने प्रथमही क्यों न कहा ? इस प्रश्नको लेकर लोग इसका उत्तर यह देते हैं कि (१)- उन्होंने सोचा कि सबकी सम्मतिसे यदि कोई विचार निश्चित हो जाय तो हमें कुछ कहना ही न पड़े। जब देखा कि सब अपनी अपनी गा रहे हैं, समय व्यर्थ जा रहा है, तब बोले। (२)—आप जानते हैं कि यह अवतार श्रीसाकेतविहारीका होगा न कि वैकुण्ठ वा क्षीरशायी भगवान्‌का। इसलिए जब सबकी सुन चुके तब यही विचारकर कि ऐसा न हो कि ये कहीं चल दें जिसमें व्यर्थ परिश्रम हो इन्होंने इससे अपना मत कह दिया। पुनः, (३)-यदि प्रथम ही अपना मत कह देते तो आपकी बातका इतना आदर न होता, संकोचवश कोई कुछ कहता नहीं पर जीको यह मत भाता या न भाता, यह निश्चय न था।

४—बाबा जयरामदासरामायणीजी यह अर्थ करते हैं कि 'जो प्रभु श्रीवैकुण्ठधाममें रहते हैं तथा जो प्रभु क्षीरसागरमें रहते हैं वही हरि व्यापक भी हैं, जहाँ प्रेम किया जाय वहीं प्रकट हो जाते हैं'। (कल्याण ५-६-६०७)।

टिप्पणी—२ (क) 'देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं'। पूर्व जो कहा था कि हरि सर्वत्र व्यापक हैं उसीका व्यौरा यहाँ करते हैं कि 'देश, काल' इत्यादि। (ख) 'अगजगमय सब रहित बिरागी'। बिरागी अर्थात् रागद्वेष रहित हैं। जहाँ बिराग है वहाँ राग है। वह (प्रभु) रागसे अगजगमय नहीं हैं तथा द्वेषसे सबसे रहित नहीं हैं। [अर्थात् अगजगमय होनेसे यह न समझो कि उनका इनमें राग वा प्रेम है और सब रहितसे यह न समझो कि वे सबसे द्वेष रखते हैं अतः सबसे अलग हैं; किन्तु जड़चेतनमय होते हुए भी वे सर्वरहित और विरागी भी हैं। यह दो विरोधी बातें कहकर उनका ऐश्वर्य दरसाया। अथवा, जैसे कमल जलमें होते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है वैसे ही जगमय होते हुए भी प्रभु सर्वरहित हैं। (ग) 'प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी' इति। भाव कि सेवकका काम विना प्रगट हुए व्यापकसे नहीं चलता। इसीसे प्रगट होनेका उपाय बताते हैं। जैसे अग्नि काठके भीतर रहता है और संघर्षणसे प्रकट होता है; इसी तरह हरि सर्वत्र व्यापक हैं। प्रेमसे प्रकट होते हैं। 'प्रभु अग्निकी तरह प्रेमसे प्रकट होते हैं', इस कथनका भाव यह है कि ब्रह्मका विवेक अग्निके समान है, यथा 'एक दारु गत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू'।

वि० त्रि०—अग्निका प्राकट्य चार प्रकारसे होता है—आवेश, प्रवेश, स्फूर्ति और आविर्भाव। इसी भाँति प्रभुका प्राकट्य भी चार प्रकारसे होता है। बर्तनके पानीमें जैसे अग्निका आवेश होता है। वैसे ही आवेशावतार कुछ दिनके लिये होता है। लोहेके गोलेमें अग्निप्रवेशकी भाँति प्रवेशावतार होता है। बिजली की चमककी भाँति स्फूर्ति अवतार क्षणभरके लिये होता है, और आविर्भाव तो पत्थरमें टांकीकी चोटसे साक्षात् अग्निके प्राकट्यकी भाँति प्रभुका आविर्भाव होता है; अतः अग्निकी उपमा दी।

लमगोड़ाजी—जैसा पहले विस्तारसे एक नोटमें लिखा जा चुका है कि तुलसीदासजीका अवतार- वाद बड़े ही rationaliot (तर्क पूर्ण) रूपमें है। इसीलिये उन्होंने उपमा भी वैज्ञानिक ही दी है कि जैसे अग्नितत्व सब जगह व्यापक है पर एक जगह संघर्ष या किसी अन्य प्रयोगसे प्रकट होता है उसी तरह परमात्मा 'सर्वत्र' 'समान' रूपसे व्यापक है और "प्रेम" रूपी प्रयोगसे प्रकट होता है।

नोट—५ "प्रगट सदा तेहि रीती"····'प्रेम तें प्रभु प्रगटै'।'-ब्रह्म तो सर्वत्र है पर प्रेम सर्वत्र नहीं। मंदिर और मूर्त्तिमें प्रेमका संचार अधिक होता है इससे वहाँ लोग सिर झुकाते हैं। जो सबमें प्रभुको एकसा देखते हैं, जिनका प्रेम सर्वत्र एकरस है जैसे प्रह्लादजीका, उन्हें अग्नि, जल, खम्भ सभीमेंसे भगवान् प्रगट हो जाते हैं। यथा—"प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो"-(वि०), "काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितु काल कराल बिलोकि न भागे। राम कहाँ? सब ठाउँ हैं, खंभ में? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे"—(क० उ० १२८), "प्रेम बदौं प्रह्लादहि को जिन पाहन तें परमेश्वर काढ़े" (क० उ० १२७), 'त्राहि तीन कहि द्रौपदी ऊँच उठायो हाथ। तुलसी कियो इग्यारहौं बसन बेष यदुनाथ' (दो०), 'तुलसी परखि प्रतीति प्रीति गति आरतपाल मुरारी। बसन बेष राखी बिसेष लखि बिरदावलि मूरति नर नारी'—(कृष्ण गीतावली)।'

६—'देस काल दिसि०' इति। यहाँ प्रभुको वस्तु, देश और काल तीनोंसे अपरिच्छिन्न कहते हैं। 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना' में वस्तु और 'देस काल दिसि बिदिसहु माहीं०' में देश और काल कहे।

टिप्पणी—३ 'मोर बचन सब के मन माना'। भाव कि और लोगोंकी बातें सबके मनमें न आईं, न जँचीं। यदि मनमें आतीं तो अनेक बातें क्यों कहते? मेरी बात सबको ठीक जँची। (क्योंकि सामञ्जस्य बैठ गया, किसीके अनुभवका खण्डन नहीं हुआ, बल्कि उपपत्ति हो गई। वि० त्रि०)। 'साधु साधु करि ब्रह्म बखाना' से जनाया कि मेरी बातसे ब्रह्मा अधिक प्रसन्न हुए, इसीसे वे प्रशंसा करने लगे। और देवताओं-के मन इस बातको मान गए, उनको यह बात अच्छी लगी क्योंकि इन्होंने भगवान्की प्राप्तिका सुगम उपाय बताया, कहीं जाना आना नहीं है। दूसरे शिवजीने अपना प्रमाण भी अपने वाक्यके साथ दिया है कि 'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना', इससे जनाया कि शिवजीके वचनोंका विश्वास सबको है। 'साधु साधु' कथनका भाव कि अच्छी बात सुनकर प्रशंसा करनी चाहिए, प्रशंसा न करना दोष है। दूसरे ऐसा न करनेसे कहनेवालेका अपमान सूचित होता है।

नोट—७ मा० म० और अ० दी० कार का मत है कि शिवजीने विचारा कि जिन परतम प्रभुके चरितमें गरुड़, सती और भरद्वाजको मोह हो गया उन अज अगुणब्रह्मके दशरथपुत्र होनेमें विषयी सत्संग-विहीन देवताओंको भला कब विश्वास होगा। और इस समय परब्रह्मका ही अवतार होना है। यदि देवता वैकुंठ गए तो वहाँसे आकाशवाणी होगी कि रावणका वध हमसे न होगा, फिर क्षीरसागर जानेपर भी यही उत्तर मिलेगा। तब ब्रह्मके अवतारका रहस्य प्रकट हो जायगा, जो प्रभु नहीं चाहते। दूसरे देवताओंको विश्वास भी न होगा। कभी-कभी किसी कल्पमें विष्णु आदिका भी अवतार हो जाता है, इससे ब्रह्माको भी पता नहीं चलता कि इस कल्पमें कौन अवतार लेगा। यह बात शिवजी ही जानते हैं। अतः उन्होंने गुप्त-रूपसे कह दिया 'प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी'। यहाँ 'प्रगट' शब्द गूढ़ है। मनुसे प्रभुने यही शब्द कहा था 'होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे'। देवता इस मर्मको न समझ पाए किन्तु ब्रह्माजी इस संकेतको समझ गए। अतः वे प्रसन्न हुए।

टिप्पणी—४ (क) 'सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलक०' इति। शिवजीने जो कहा कि प्रेमसे प्रभु प्रगट होते हैं, ब्रह्माने वही किया अर्थात् प्रेम किया। शरीर पुलकित हुआ, नेत्रोंसे जल बह चला, यह प्रेमकी दशा है [दूसरे, श्रीशिवजी परमभागवत हैं अतः उनके भक्तियुक्त वचन सुनतेही तुरत प्रेम उमड़ आया] (ख) यहाँ ब्रह्माजीका मन, कर्म और वचन तीनोंसे भगवान्की भक्ति करना दिखाते हैं—मन हर्षित है, तन पुलकित है, वचनसे स्तुति करते हैं—'रामहिं सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्ह तन पुलक नहिं ते जग जीवत जाय' इति दोहावल्याम्। (ग) 'सावधान मतिधीर' कथनका भाव कि शिवजीके वचन सुनकर प्रथम प्रेममें मग्न हो गए, फिर सावधान हुए बुद्धिको धीर किया।

नोट—८ (क) इस दोहेके तृतीय चरणमें एक मात्रा कम है। कवि इससे यहाँ अपनी भी प्रेम-

विह्वलदशा प्रकट कर रहे हैं। (ख) 'जोरि कर'। हाथ जोड़ना विशेष नम्रता तथा देवताको शीघ्र प्रसन्न करनेकी मुद्रा है। प्रसन्न करनेका यह एक ढंग है, यथा 'भलो मानिहैं रघुनाथ हाथ जोरि जो माथो नाइहै' इति विनये। पंजाबीजी लिखते हैं कि "दोनों हाथ जोड़कर दर्शित किया कि हमने रावणके नाशके लिये दो सन्धियाँ छोड़ रक्खी हैं।" (ग) स्तुति यहाँ केवल ब्रह्माजीने की क्योंकि ये सबसे बड़े हैं। ब्रह्माजी यहाँ सबके मुखिया बनकर स्तुति कर रहे हैं। पुनः भाव कि रावणको वर देने यही प्रथम गए थे। उसे वर देकर सब अनर्थका कारण ये ही हुए हैं, इससे सबका भार इन्हींके माथे है। पुनः प्रायः जब जब अवतारके लिए स्तुति की जाती है तब तब प्रायः ये ही सबकी ओरसे स्तुति करते हैं। यह परिपाटी है। अतः इन्होंने स्तुति की।

छंद—जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानै कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करो अनुग्रह सोई॥१॥
जय जय अबिनासी सब-घट-बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित* मुकुंदा॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।
निसिबासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥२॥

शब्दार्थ—घट=पिण्ड, शरीर, हृदय। अविगत=जो विगत न हो=जो जाना न जाय, अज्ञात, अनिर्वचनीय, यथा 'राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर। अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह। २।१२६।'=जिसमें किसीकी किंचित् गति या पहुँच नहीं, जिसकी दीप्ति सदा एकरस रहती है। यथा 'निष्प्रभे विगतारेकौ इत्यमरः'। वि० त्रि० जी लिखते हैं कि 'इःस्वप्रादौ' इस सूत्रसे यकारको 'इ' हुआ। 'विप्रकर्षः' इस सूत्रसे युक्त वर्ण पृथक् हुए। 'अजादौ स्वरादसंयुक्तानां क ख त थ प फां गघ दध बभाः' इससे 'क' को 'ग' होकर 'अव्यक्त' का 'अविगत' रूप सिद्ध हुआ। मुकुंदा=मुक्ति देनेवाले।

अर्थ—हे देवताओंके स्वामी! दासोंको सुखदेनेवाले! शरणागतरक्षक भगवान्! आपकी जय हो, जय हो! हे गऊ और ब्राह्मणोंके हित करनेवाले! असुरोंके शत्रु और सिंधुसुता श्रीलक्ष्मीजीके प्रिय कंत (पति)! आपकी जय हो। हे देवताओं और पृथ्वीके पालन करनेवाले! आपके कर्म अद्भुत हैं, उनका मर्म (रहस्य) कोई नहीं जानता। (ऐसे) जो स्वाभाविक ही कृपाल और दीनदयाल हैं वे (आप हमपर) कृपा करें॥ १॥ हे अविनाशी, घट घटमें वास करनेवाले, सबमें व्याप्त, परमानन्दरूप, जिनकी गति कोई नहीं जानता, इन्द्रियोंसे परे, पवित्र-चरित (पुण्यश्लोक चरित), मायारहित, मुक्ति मुक्तिके दाता! आपकी जय है, जय है! जिनके लिए वैराग्यवान् मुनिवृन्द मोहरहित होकर अत्यन्त अनुरागसे रातदिन ध्यान लगाते और जिनके गुणगण गाते हैं उन सच्चिदानन्द भगवान्की जय!॥ २॥

टिप्पणी—१ 'जयजय सुरनायक जन सुखदायक०' इति। (क) ☞श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्मस्तुतिमें "जयजय" शब्द प्रथम है। 'जय' शब्दका अर्थ है 'सर्वोत्कर्षेन वर्त्तस्व' अर्थात् आप सब प्रकारसे विजयी हों ('जय' शब्दका प्रयोग देवताओं वा महात्माओंकी अभिवंदना सूचित करनेके लिये होता है जिसमें कुछ याचनाका भी भाव मिला रहता है। पुनः 'जय' भगवान्का एक नाम भी है। यथा 'जयो जितारिः सर्वादिः

* रहीत—१६६१।

शमनो भय भंजनः । आ० रा० राज्यकांड १।१०३ ।' इस प्रकार 'जय जय' = हे सर्वविजयिन् ! आप उत्कर्षको प्राप्त हों ।) (ख) सुरनायक, जन सुखदायक इत्यादि सब विशेषण साभिप्राय हैं । (सुर; जन, प्रणत आदि जिनका जिनका यहाँ नाम ले रहे हैं उन्हीं उन्हींके लिए यह स्तुति कर रहे हैं। आप सुरनायक हैं, अतः समस्त देवताओंकी रक्षा कीजिए। सेवककी रक्षा स्वामी ही करता है। संत और मुनि आपके जन हैं। वे सब दुःखी हैं। आप जनसुखदायक हैं; अतः उनका दुःख दूर करके उन्हें सुख दीजिए। आप प्रणतपाल हैं। सब देवता, संत, मुनि, गौ और ब्राह्मण सब आपकी शरण हैं, हम सबोंको शरण दीजिए। आप भगवंत हैं, हम आपके भक्त हैं। भक्त और भगवंतका संबंध है, यथा 'ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ।। सो केवल भगतन हित लागी। १३।४-५।', 'भगतहेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।' [पुनः, भाव कि आप षडैश्वर्य्ययुक्त हैं। यह सारा जगत् आपका ऐश्वर्य्य है। रावण उसे नष्ट करना चाहता है। उसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है।] 'गोद्विज हितकारी' हैं, आप गौ ब्राह्मणके हितैषी हैं (रावण उन्हें खाए जाता है। उनका नाश कर रहा है, यथा 'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँउ पुर आगि लगावहिं', 'निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए')। उनका हित करना आपको उचित है। उनका हित कीजिए।

२ (क) यहाँ तक सुरनायक, जनसुखदायक, गोद्विजहितकारी विशेषणोंसे सुर, संत, गऊ, विप्र ये चार नाम कहे। इन चारके लिये ही प्रार्थना करनेका भाव यह है कि इन्हीं चारके लिए भगवानका अवतार होता है; यथा 'बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। १९२।' अतः इन्हींको पीड़ित कहकर इनकी रक्षाकी प्रार्थना की। (ख) 'जय असुरारी।' असुरारीका भाव कि देवता, गौ, ब्राह्मण, संत सबका हित असुरों के वधसे होगा। (पुनः, भाव कि दैत्यदलन तो आपका सहज स्वभाव है सो आप क्यों भूल गए ? अपना असुरारी नाम सत्य कीजिये। 'जय' का भाव कि आप असुरोंपर सदा जयमान हैं। 'जय' शब्द यहाँतक तीन बार आया है। इसमें आदरकी वीप्सा है। रा० प्र० का मत है कि इससे व्याकुलता और प्रेम प्रकट होता है) (ग) "सिंधुसुता प्रिय कंता' का भाव कि आप लक्ष्मीके प्रिय कंत हैं, वे आपको कभी नहीं छोड़तीं। अतः असुरोंका वध करनेके लिए आप लक्ष्मीसहित अवतार लीजिए। [पुनः भाव कि आप समुद्रकी कन्याके पति हैं। समुद्र दुःखी है। लक्ष्मीजीके सम्बन्धसे उसका दुःख दूर कीजिए। पुनः लक्ष्मीजी धनकी अधिष्ठात्री देवी हैं, उनका जड़ स्वरूप ऐश्वर्य (श्री) नीचोंके हाथ पड़ी है, रावणका 'असद्व्यय' देख वे भी दुखी हैं। (शीलावृत्त)]

नोट—१ वै० भू० जीका मत है 'सुरनायक···कंता' का भाव यह है कि आप भगवान् हैं, प्रणतपाल हैं; अतः गोद्विजादि पीड़ित होते हैं तब आगे कभी सुर-नायक (राजा) बनते हैं, क्षीरशायी श्रीमन्नारायण भी आपही बने जो आपका प्रथम अवतार है। यथा 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः। संभूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया। भा० १।३।१।' शेषशायीरूप ऐश्वर्य प्रधान अवतार है और इस समय माधुर्यमय राजारूपकी आवश्यकता है; इसीसे प्रथम 'सुरनायक' कहकर तब 'सिंधुसुता प्रिय कंता' कहा गया।

टिप्पणी—३ "पालन सुर धरनी···करहु अनुग्रह सोई" इति। (क) ☞ यहाँ भगवान्की परोक्ष स्तुति है। इसीसे कहते हैं कि जो इन इन गुणोंसे विशिष्ट है, जो ऐसा है वह अनुग्रह करे। ☞ यहाँ तक कर्मकांडके संबंधसे स्तुति है। (ख) 'पालन सुर धरनी अद्भुत करनी।' का भाव कि यदि कहें कि 'हम सुर संत गो-विप्रका हित कैसे करें ?' तो उसपर कहते हैं कि सुर और पृथ्वीके पालन करनेमें आपकी अद्भुत करणी है, उसका मर्म कोई नहीं जानता कि आप क्या करेंगे। [अर्थात् आप इनका पालन करनेके लिए आश्चर्यजनक कर्म करते हैं, अनेक भाँतिके अद्भुत रूप धारण करते हैं। 'मर्म न जानै कोई' का यह भी भाव हो सकता है कि कोई यह राज़ (मर्म) समझ नहीं पाता कि जो काल समस्त ब्रह्मांडोंको खा

जाता है वह भी जिसका किंकर है वह समर्थ स्वामी वराहादि तन क्यों धारण करता है।— (पं०, रा० प्र०)]। (ग) 'सहज कृपाला' का भाव कि आप स्तुति पूजा आदि किसी कारणसे नहीं कृपा करते। [आपके योग्य स्तुति, पूजा, जप तप कोई कर ही क्या सकता है ? जपतपादिसे कोई रिझानेका अभिमान करे तो महामूर्ख है। आप तो बिना कारण] अपने सहज स्वभावसे ही कृपा करते हैं, यथा 'सबपर मोहि बराबरि दाया। ७.८७।' दोहा २८ (४) देखिये। अब कृपामें देर क्यों हो रही है ? हम आपकी कृपा हीका आश्रय लिए हुए हैं]। 'दीनदयाल' का भाव कि इस समय समस्त देवमुनिवृंद आदि दीन हैं। दीन आपको प्रिय हैं, यथा 'जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवहु सो श्रीभगवाना', 'यह दिबान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।', ['केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग बिसेष' इति विनये। यहाँ परिकरांकुर अलंकार है]। (घ) 'करो अनुग्रह सोई।' अर्थात् जो अनुग्रह आप दीनों पर सदा करते आए हैं वही अनुग्रह हम पर कीजिए। यथा 'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना।' सोई = वही जो इन गुणोंसे युक्त हैं।

बाबा हरीदासजी—'पालन सुर धरनी''' का भाव यह है कि आप नर नाग यक्ष गंधर्वादि चराचर जीव-जन्तुओंको जो तीनों लोकोंमें जल, थल या नभमें जहाँ भी वे हैं अहर्निश जल चारा देते हैं, क्षणमात्र किसीको भूलते नहीं, ऐसी अद्भुत करनी किसीमें नहीं है। आप सहज हीमें यह पालन कार्य करते हैं क्योंकि कृपाल हैं।—वही अनुग्रह हम पर कीजिये। हमारे अपराधोंको भुलाकर हमें जल चारा दीजिए। यहाँ आकर ऐश्वर्यमान् राजा बनकर हमारा पालन कीजिए।

वैजनाथजी—(क) 'पालन सुर धरनी' 'जो सहज कृपाला''सोई' से जलंधर-रावण वाले कल्पके अवतार हेतु स्तुति सूचित की। जलंधरसे देवता और पृथ्वी व्याकुल हुए थे। शिवजी उसे मार न पाते थे तब आपने ही कृपा की थी जिससे वह मारा गया। वही 'सहज कृपाल' विष्णु अब फिर कृपा कीजिए क्योंकि वही जलंधर अब रावण होकर हमें सता रहा है। (ख) 'अद्भुत करनी मर्म न जानै कोई' में जय-विजय-रावण-कुंभकर्ण हेतु वैकुंठवासी भगवान्‌की स्तुति है। अद्भुत करनी है इसीसे कोई मर्म नहीं जान पाता। सनकादि ऐसे महर्षियोंको भी क्रोध आ गया और उन्होंने जय-विजयको शाप दे दिया - यह आपकी करनी है। जब जय-विजय हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए तब आपने अद्भुत नृसिंहरूप धारण कर खंभसे प्रकट हो प्रह्लादकी रक्षा की, हिरण्यकशिपुको मारा। वराहरूपसे हिरण्याक्षको मारकर पृथ्वीका उद्धार किया, इत्यादि। वह जय-विजय अब रावणादि हुए हैं अतः अब आप हमारी रक्षा इनसे भी करें।

प० प० प्र०—१ (क) छन्द १ में भुशुण्डी-कल्प नारदशापसंबंधित कथाकी प्रार्थना है। प्रथम चरणमें सुर और जन (अर्थात् मुनि आदि भक्त) अपनी रक्षाके लिए शरणागति जनाते हैं, यह 'प्रनतपाल' से सूचित किया है। किससे रक्षा करें और क्या करें यह 'असुरारी' और 'गो-द्विज-हितकारी' से सूचित किया। तीसरे चरणसे जनाया कि 'सुर धरनी' का पालन कीजिए, कैसे करें यह हम नहीं जानते, क्योंकि आपकी करनी अद्भुत है। चौथे चरणमें दयाके लिए दीनता प्रगट करते हैं। (ख) वैकुण्ठवासी विष्णु ही शेषशायी नारायण हो गए हैं। (प० पु० जालन्धरकथा)। सिंधुसुताके प्रिय कान्त होकर क्षीरसागरमें रहते हैं। अतः यह छन्द विष्णु और नारायण अवतारके कल्पोंकी कथामें उपयुक्त है।

टिप्पणी—४ "जय जय अबिनासी सब-घट-बासी ब्यापक परमानंदा।०" इति। (क) घटवासी और अविनाशीका भाव कि सब चराचर नाशवान् है। चराचरमात्रमें आपका निवास है तो भी सबके नाश होनेपर भी आपका नाश नहीं होता, क्योंकि आप सदा अविनाशी हैं। 'ब्यापक परमानंदा' का भाव कि व्यापक होनेसे अनुमान होता है कि सबके दुःखसे आप दुःखी होते होंगे सो बात नहीं है। आप परमानन्दरूप हैं। [पुनः भाव कि रावणके सामने नाशवान्‌की गति नहीं और हम सबोंका नाश अवश्य है।

आप अविनाशी हैं, उसका नाश कर सकते हैं।—'सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई।'] (ख) 'सब घट बासी' [यथा 'यथा सर्वेषु कुंभेषु रविरेकोऽपि दृश्यते। तथा सर्वेषु भूतेषु चिन्तनीयोऽस्म्यहं मुने।. इति ब्रह्मांडे।' अर्थात् जैसे सब घड़ोंमें एक ही सूर्य देख पड़ता है वैसे ही मेरा चिन्तन समस्त भूतोंमें करना चाहिए। 'गोतीत' इन्द्रियोंसे परे कहनेका भाव कि जब तक जीवकी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें वासनारूप दृष्टि बनी रहती है तबतक उसे प्रभुकी दीप्तिका दर्शन नहीं होता। अतीत=अदर्शन। यथा 'स्मातीतेऽस्तमदर्शने इत्यमरः'। (वै०)*] (ग) 'चरित पुनीत'—भाव कि आप अवतार लेकर जो चरित करते हैं वे समस्त जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं, यथा 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं'। आगे जो होंगे वे इनको गा-गाकर भवपार होंगे। अतः जीवोंके कल्याणार्थ अवतार लेकर चरित कीजिए। (घ) 'माया रहित मुकुंदा' इति। अर्थात् आप स्वयं मायासे परे हैं और दूसरोंको माया से मुक्त करनेवाले हैं। [मायारहित अर्थात् सत्वादि गुण और शब्दादि विषय जो मायाके विकार हैं उनका स्पर्श लेशमात्र आपको नहीं होता। (वै०)]।

बाबा हरीदासजी—'जय जय अबिनासी···मुकुंदा' का भाव कि "यदि आप कहें कि गर्भ दुःख भोग करनेको बुलाते हो तो यह बात नहीं है, आप षट्विकाररहित हैं। जीवधर्मरहित हैं और सदा 'सब-घट-वासी' हैं, हम तो एक ही घटमें वास करनेको बुलाते हैं। पुनः यदि कहें कि इन्द्रियाधीन होकर मलिन कर्म करनेको बुलाते हो तो उस पर कहते हैं कि आप गोतीत हैं, इन्द्रियोंके रसभोगसे परे हैं, आपके चरित पुनीत हैं कभी गोठिल नहीं पड़ते। यदि आप कहें कि हमें परिवारस्नेहद्वारा मोहमें पड़नेको कहते हो तो उस पर कहते हैं कि 'जेहि लागि०' इत्यादि"।

टिप्पणी—५ (क) 'जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी०' इति। वैराग्य अनुरागका साधक है। यथा 'एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा। ३.१६.७।' 'बिगत मोह' कहा क्योंकि मोह अनुरागका बाधक है, यथा 'मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग।' (ख) ☞ "जय जय अबिनासी" से "जयति सच्चिदानंदा" तक ज्ञान—संबंधसे स्तुति की। (तीन बार जय कहकर आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारकी विजय कही। वि० त्रि०)।

वैजनाथजी—"जय जय अबिनासी···सच्चिदानंदा" इति। यहाँ अन्तर्यामीरूपके संबोधनद्वारा साकेतविहारीकी स्तुति करते हैं। 'अनुराग' शब्दसे उपासना दर्शित करते हैं क्योंकि अन्तर्यामीरूपमें केवल आनंदमात्र है। ऋषियोंका उनमें अनुराग कहनेसे उपास्य, उपासक और उपासना तीनों भाव दर्शित किये गये हैं। यहाँसे अन्ततक साकेतविहारीके अवतार-हेतु स्तुति है।

प० प० प्र०—छन्द २ और ३ भगवान्‌के लिये ही हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश जिनके अंश (से उत्पन्न) हैं उन भगवान्‌को ही योगी लोग 'ध्याते' हैं। ब्रह्माजी सृष्टिके जनक हैं, पर वे ही प्रार्थना कर रहे हैं अतः छंद ३ भी भगवान् विषयक ही है। छंद ४ विष्णु अवतार रामकथासे संबंधित लेना उचित है। इसमें मंदर पर्वतका उल्लेख है। इससे कूर्मावतार लेनेवाले भगवान् सूचित किये गए हैं। यह तुलसीदास-संवादकी कथासे संबंधित है। चौथे छन्दमें 'श्री' शब्द भी विष्णु-अवतारसूचक है।

मानसमें मुख्य कथा मनुशतरूपा संबंधित रामावतारकी है। शिव-पार्वती-संवादवाली है। अतः उसके संबंधित दो छन्द इसमें रक्खे हैं। मानसमें यह भी बताया है कि विष्णु, नारायण और परमात्मा राम एक ही हैं। 'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी' ऐसा श्रीरामजीको ही देवकृत स्तुतिमें कहा है। मीनादि अवतार तो विष्णुके ही हुए हैं। 'शचीपति प्रियानुज' विष्णु ही हैं। 'जेहि पद सुर-सरिता···सीस धरी' यह भी वामनावतारसे ही संबंधित हैं, इत्यादि। अतः इस विषयमें विशेष ऊहापोह-की आवश्यकता नहीं है। तथापि मानस सर्वमत संग्राहक होनेसे उसमें तीनोंमें भेद भी दिखाया है।

* परंतु इसका अर्थ 'अतीत (भूत) मे स्म, अदर्शनम् अस्तं ये अव्यय हैं' ऐसा है।

☞चारों छन्द एक समयकी स्तुतिमें भी उपयुक्त हैं। इन छन्दोंके बहुत शब्द कौसल्याकृत स्तुतिके छन्दोंमें हैं। मिलान करनेसे व्यक्त हो जायगा। यहाँ लिखना अनावश्यक है।

जेहि सृष्टि उपाई, त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भवभय भंजन मुनिमनरंजन गंजन* बिपति बरूथा।
मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा॥३॥
सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवौ सो श्रीभगवाना॥
भवबारिधि-मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा॥४॥

दोहा—जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह।
गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह॥ १८६॥

शब्दार्थ—उपाना = उत्पन्न करना, यथा 'अखिल विश्व यह मोर उपाया'। चिंत = चिंता, याद, स्मरण, सुध, खबर, फिक्र। अघारी (अघ + अरि) = पापके शत्रु अर्थात् पापका नाश करनेवाले। बानी = स्वभाव, टेव, प्रकृति। यथा 'लरिकाई ते रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी।', 'श्रीरघुबीरकी यह बानि' (वि० २१५)। सयानी = सयानपन, चतुराई। क्रम = कर्म।

अर्थ—जिन्होंने त्रिगुणात्मकरूप बनाकर बिना किसी दूसरे संगी या सहायकके सृष्टिको उत्पन्न कर दिया, वे पापके नाश करनेवाले आप हमारी भी सुध लीजिये, हम न भजन ही जानते हैं न पूजन। जो भवभयके नाशक मुनियोंके मनोंको आनंद देनेवाले और विपत्तिजालके नाश करनेवाले हैं, हम सब देववृन्द सयानपनेकी टेवको छोड़कर† मन-कर्म वचनसे उन्हीं आपकी शरण हैं। सरस्वती, वेद, शेष और समस्त ऋषि किसीने भी जिसे नहीं जाना, जिन्हें दीन प्रिय हैं (ऐसा) वेद पुकार कर कहते हैं वे श्रीभगवान् कृपा करें। हे भवसागरके (मथन करनेके लिये) मंदराचलरूप! सब प्रकारसे सुन्दर गुणोंके धाम, सुखकी राशि! हे नाथ! आपके चरणकमलोंमें सब मुनि, सिद्ध और देवता भयसे अत्यन्त व्याकुल होकर प्रणाम करते हैं। देवताओं और पृथ्वीको भयभीत जानकर और प्रेमयुक्त वचन सुनकर शोक-संदेह-हारी गम्भीर आकाशवाणी हुई॥ १८६॥

करुणासिंधुजी—'त्रिबिध' इति। "तीन प्रकारकी सृष्टि सात्विक राजस तामस, देव मनुष्य दानव, विषयी साधक सिद्ध, इत्यादि। वा, त्रिधा सृष्टि अर्थात् जीवसृष्टि, ईश्वरीय सृष्टि और ब्रह्मसृष्टि। जीव-सृष्टिवाले स्वप्नावस्था और संसारमें वर्तमान हैं; ईश्वरीय सृष्टिवाले जाग्रत्में और ब्रह्मसृष्टिवाले तुरीयामें; प्रमाणमागमसारे—'त्रिधासृष्टिः पुरोजाता तत्रैका जीवसंज्ञका। द्वितीया चेश्वरी सृष्टिर्ब्रह्मसृष्टिस्तृतीयका॥ जीवसृष्ट्याद्विधावस्था सुषुप्तिः स्वप्नमध्यगा। ऐश्वर्या जागरावस्था ब्रह्मसृष्ट्या तुरीयका॥ ब्रह्मसृष्टिसमुत्पन्ना-स्तुरीयात्मान एव ये।'''। वा काल कर्म स्वभाव, उत्पत्ति पालन संहार।"—['स्वप्नसृष्टिको जीवसृष्टि इसलिये कहागया है कि स्वप्नका संबंध केवल द्रष्टा जीवसेही रहता है, अन्य किसीसे नहीं—(वेदान्तभूषणजी)]

*खंडन-१७०४, रा० प्र०। † यही अर्थ मु० रोशनलाल, रा० प्र०, पं० रामकुमारजी, वीरकवि आदिने किया है। बैजनाथजीने 'वाणी' अर्थ किया है।

नोट—१ 'त्रिबिध बनाई' का अर्थ दो प्रकारसे किया गया है। 'तीन प्रकारकी सृष्टि' बनाई। वह तीन प्रकारकी सृष्टि क्या है, यह करुणासिंधुजीकी टिप्पणीमें लिखा गया है। बैजनाथजीने "तीन प्रकारसे बनाई" अर्थ करते हुए सत्व, रज, तम तीन प्रकारसे बनाना लिखा। राजसगुणसे ब्रह्मा उत्पत्ति, सत्वगुणसे विष्णु पालन और तमोगुणसे शंकरजी संहार करते हैं। पंजाबीजी सत्व-रज-तम-गुणी सृष्टि तीन प्रकारकी सृष्टि मानते हैं। 'संग सहाय न दूजा' का भाव कि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' होनेसे उसके साथ उपादान निमित्त कारण कह नहीं सकते। (पं०)।

२ श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी—'संग सहाय न दूजा०'=विना दूसरे किसी संगी अथवा सहायकके अकेले ही (या स्वयं अपनेको त्रिगुणरूप ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप बनाकर अथवा विना किसी उपादान कारणके अर्थात् स्वयं ही सृष्टिका अभिन्ननिमित्तोपादन कारण बनकर) तीन प्रकारकी सृष्टि बनाई। (मानसांक)।

३ 'सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई' इति। श्रीपंजाबीजी आदिका आशय यह है कि संसारमें जितने भी कार्य होते हैं उनमें प्रायः उपादान (समवायि), निमित्त और साधारण ये तीन कारण होते हैं। जैसे स्वर्णका कुण्डल कार्य है। स्वर्ण उपादान कारण है। स्वर्णकार सुनार तथा जिसके निमित्त वह बनाया गया दोनों निमित्त कारण हैं। अग्नि जिसमें सोना गलाया जायगा, हथौड़ी, निहाई आदि उपकरण साधारण कारण हैं। 'ब्रह्म' शब्दका प्रधान अर्थ विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तानुसार 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' है। ब्रह्मके 'एकोऽहं बहु स्याम्' आदि संकल्प मात्रसे सृष्टिकी रचना हो जाती है। इसलिये उसको साधन सामग्री की आवश्यकता नहीं। और, 'संकल्प' भी उससे पृथक् नहीं है, इससे निमित्त और उपादान दोनों वह स्वयं ही है। 'सहाय न दूजा' भी इसी भावको पुष्ट करता है। इससे भगवान्‌में अचिन्त्य सामर्थ्य दिखलाया।

सांख्यकारिकामें सोलहवीं कारिकापर श्रीगौड़पादाचार्य्यजीके भाष्यमें भी तीन प्रकारकी सृष्टिका उल्लेख है। यथा "प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोकानैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं रजस्तमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तसुखिनः, मनुष्येषु रज उत्कटं भवति सत्वतमसी उदासीने तेन तेऽत्यन्त दुःखिनः, तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः। १६।" अर्थात् प्रकृतिसे तीन लोक हुए हैं। ये तीनों भिन्न-भिन्न स्वभावोंके होते हैं। देवोंमें सत्वगुण विशेष रहता है, इसलिये वे अत्यन्त सुखी रहते हैं। मनुष्यमें रजोगुण विशेष रहता है, इससे वे अत्यन्त दुःखी रहते हैं और पशु पक्षी आदि अन्य योनियोंमें तमोगुणकी प्रधानता होनेसे वे अत्यन्त मूढ़ होते हैं।—यह सांख्यमत है। वेदान्तमतसे ब्रह्मसे ही सृष्टि होती है। इस प्रकार देव, मनुष्य और तिर्यक् अर्थात् सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकारकी सृष्टि हुई। ☞स्मरण रहे कि कोई भी सृष्टि केवल सत्व, केवल रज अथवा केवल तमसे उत्पन्न नहीं होती, किन्तु उनके संमिश्रणसे होती है। जिसमें जिस-गुणकी प्रधानता है वह उसी नामसे कही जाती है।

४ इससे मिलता हुआ श्लोक अ० रा० में यह है—"मायया गुणमय्या त्वं सृजस्यवसि लुम्पसि। जगत्तेन न ते लेप आनन्दानुभवात्मनः। १।२।१५।" अर्थात् आप अपनी त्रिगुणमयी मायासे जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं पर उससे लिप्त नहीं होते। आप ज्ञानानन्दस्वरूप हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'जेहिं सृष्टि उपाई०'। भाव कि हम सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं। हम भी आपकी ही सृष्टि हैं (आपने ही हमें उत्पन्न किया और यह सारा जगत् भी आपने ही उत्पन्न किया है। यथा 'जो कर्त्ता पालक संहरता', 'जो सृजत पालत हरत' इत्यादि। सृष्टि आपकी वस्तु है अतः उसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। 'संग सहाय न दूजा' अर्थात् संसाररचनामें आपका कोई और साथी नहीं है कि जिससे जाकर हम अपनी विपत्ति कह सुनावें)। (ख) 'सो करउ अघारी चिंत हमारी'। अघारीका भाव कि अघरूपी राक्षसके आप नाशक हैं। अथवा, जैसे अघासुरके पेटमें बालक वत्सोंको बचाया है वैसेही हमको राक्षस ग्रास कर रहे हैं, हमारी सुध लीजिए। जैसे बालक वत्स भक्ति पूजा कुछ नहीं जानते थे वैसे ही हम कुछ नहीं जानते।

भजन स्मरण हममें कुछ नहीं है, एकमात्र आपकी शरण और आपकी कृपाका ही आशा-भरोसा है। ('अघ' का अर्थ 'दुःख' भी है। यथा 'अघस्तु वृजने दुःखे इत्यमरे।' इससे भाव यह होगा कि आप दुःखोंके नाशक हैं, हमारे दुःखोंको दूर कीजिये।

२ 'जो भव भय भंजन···' इति। (क) मन, कर्म और वचनसे समस्त देवताओंका शरण होना कहते हैं! इस प्रसंगमें यह कथन चरितार्थ कर दिखाया है। सब देवताओंका मन प्रभुमें लगा है, यथा 'मोर बचन सबके मन माना'। वचनसे सभी प्रभुकी ही चर्चा कर रहे हैं और स्तुतिमें लगे हैं। यथा 'पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।', 'कहँ पाइअ प्रभु करिय पुकारा।' और सब तनसे प्रभुको प्रणाम कर रहे हैं। यह कर्मसे शरण होना है। यथा 'नमत नाथ पद कंजा'। ('नमत नाथ' यह कहते ही सब प्रणाम करने लगे हैं यह भी यहाँ जना दिया)। (ख) 'बानी छाड़ि सयानी' कहनेका भाव कि जबतक जीवके मन, वचन और कर्ममें अपने सयानपनेका भाव बना रहता है तबतक प्रभु कृपा नहीं करते। इसीसे कहा है—'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई। २००.६।' 'सयानी' का अर्थ 'चतुराई' यहाँ खोल दिया गया। [देखिए द्रौपदीजीको जबतक अपने वचनका भरोसा रहा कि मैं इससे सबको परास्त करूँगी। मनमें अपने वीर पतियोंका बल भरोसा रहा और शरीरसे अपनी साड़ीको उघड़ने न देनेका विचार रहा, तबतक भगवानने कृपा नहीं ही की। जब तीनोंका अभिमान छोड़कर हाथ उठाकर प्रभुको पुकारा तब तुरत भगवान् वस्त्ररूप हो गए। सुग्रीवने वचनसे कहा था कि 'बालि परम हित'। मनसे छल और शरीरसे बल दिखलाता रहा। तबतक प्रभुने बालिको नहीं मारा। जब तीनोंका भरोसा न रह गया, यथा—'बंधु न होइ मोर यह काला', 'बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा···। ४.८।' तब 'मारा बालि राम तब'। इसी तरह बालिको तीनोंका अभिमान था। 'सम दरसी रघुनाथ', 'अस कहि चला महा अभिमानी। तृनसमान सुग्रीवहि जानी' क्रमसे वचन, मन और कर्मके अभिमान थे। बाण लगनेके पश्चात् तीनोंका सयानपन मिटा। 'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं।···अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।' यह वचन-चातुरी भगवान्‌के उत्तरसे मिटी। यथा—'सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।' मनका अभिमान मिटा, हृदयमें प्रीति हुई और वह शरण हुआ। यथा 'हृदय प्रीति', 'अंतकाल गति तोरि।' कर्मका भी अभिमान न रह गया, यह 'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि। ४।९।' से स्पष्ट है। अथवा 'बिकल महि' से कर्मका अभिमान गया। तब प्रभुने कृपा की। यथा 'बालि सीस परसेउ निज पानी' इत्यादि।]

वि० त्रि०—'सरन सकल सुर जूथा' इति। भाव यह है कि भगवान् शरणागतके उद्धारमें समर्थ हैं, दयाके समुद्र, कृतज्ञ और सुव्यवस्थित हैं, श्रेयकी प्राप्ति करा देते हैं। श्रेयके पीछे नहीं पड़ना चाहिए। निर्हेतुक उपासना ही सच्ची उपासना है। वह आर्त और अर्थार्थीको अपनी नियति से कर्मपाककी अपेक्षा न करके फल देते हैं। वह अनन्य शरणका योगक्षेम वहन करते हैं। अपनी नियतिको भी हटाकर उससे साधनका सम्पादन कराके उसे फलसे युक्त करते हैं। यही उनका बड़ा भारी स्वातन्त्र्य है कि प्रारब्ध और नियति भी उनसे विमुखको ही होती है।

टिप्पणी—३ 'सारद श्रुति सेषा···' इति। (क) आपको कोई नहीं जानता, यथा 'बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा। २.१२७।', 'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान। १.१२।', 'न त्वां केचित् प्रजानते। १०। ऋते मायां विशालाक्षीं··· ।११। (वाल्मी० ७।११०) अर्थात् श्रीसीताजीको छोड़कर दूसरा कोई आपको नहीं जानता। ये ब्रह्माजीने श्रीरामजीसे कहा है। इसीसे तो श्रीसीताजी सबकी आचार्या हैं। (ख) 'सारद श्रुति···' कहकर 'जेहि दीन पिआरे' कहनेका भाव कि जो ऐसे अगम्य हैं, अज्ञेय हैं वे ही दीनों

को प्राप्त होते हैं क्योंकि दीन उनको प्रिय हैं। विशेष दोहा १८ मा० पी० भाग १ पृष्ठ ३२४ तथा २८ (४) पृष्ठ ४५६ में देखिए। (ग) 'वेद पुकारे' का भाव कि वेद साक्षी हैं, प्रमाण हैं। उन्होंने आपको दीनबन्धु दीन दयाल आदि कहा है। (घ) 'द्रवौ सो श्रीभगवाना' इति। दीनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके सम्बन्धसे 'श्री भगवान' विशेषण दिया।

नोट—३ (क) 'भव बारिध मंदर'=संसारसागरका मंथन करनेको मंदराचलरूप। भाव कि आपका नाम भवसागरको मथकर सज्जनरूपी देवताओंको शान्त-संतोषादि गुणरूपी अमृत देनेवाला है। (वै०)। पुनः भाव कि आप 'संसार समुद्रमें डूबनेवालोंके आधारभूत हैं। वा, संसार समुद्रको मथकर सज्जनरूपी रत्नके निकालनेवाले' हैं (रा० प्र०)। श्रीकान्तशरणजी 'भव बारिधि से 'मुमुक्षुके हृदयसिंधु' का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि "दैवी-आसुरी संपत्तियां मथनेवाली हैं। ११ इंद्रियाँ और ३-अंतःकरण शुद्ध होकर १४ रत्नरूपमें प्रकट होते हैं" भव-सागरके मथने वाले देवता दैत्य, चौदह रत्न और जल जन्तु आदि क्या हैं यह पूर्व 'भवसागर जेहि कीन्ह···' दोहा १४ मा० पी० भाग १ पृष्ठ २६७ व २६६ में भी देखिए। (ख) 'नमत' का भाव कि आपकी बान है कि 'सकृत प्रनाम किए अपनाये।' (ग) 'सब बिधि सुंदर' का भाव है कि थोड़ी ही सेवासे प्रसन्न हो जाते हैं, जनके अपराध पर कभी रिसाते नहीं। 'गुनमंदिर सुख पुंज' का भाव कि आपके भजनसे भक्तजन अनेक उत्तम दिव्य गुणों और सुखसमूहको प्राप्त हो जाते हैं।" (बाबा हरीदासजी)।

वि० त्रि०- भगवान् भवसागरके लिये मंदर हैं। समुद्रके पार तो वानर भी गए पर उन्हें उसकी गहराईका पता नहीं; उसकी गहराई का पता तो मन्दराचलको है। इसी भाँति साधक प्रयत्नसे भवपार चले जाते हैं पर उसके तलका पता श्रीभगवान्को ही है। वे ही उसमेंसे अमृतका उद्भावन करके दैवी प्रकृतिवालों की पुष्टि कर सकते हैं, उन्हें विजययुक्त कर सकते हैं।

टिप्पणी—४☞'जेहि सृष्टि···' से 'नमत नाथ पद कंजा' तक भक्ति संबंधसे स्तुति की गई। इस तरह यह स्तुति कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे युक्त है। नमन करना, शरण होना इत्यादि भक्ति है। उसीका एक अंग शरणागति वा प्रपत्ति है।

(खर्रा)—ब्रह्माजी चतुरानन अर्थात् चार मुखवाले हैं, इसीसे स्तुतिमें चार छंद हैं। वेदोंमें प्रधान कर्म, ज्ञान और उपासना है सो प्रथम छंदमें ऋग् कर्म, दूसरेमें यजु ज्ञान और तीसरेमें उपासना साम-वेद है। ब्रह्माके मुखसे वेद निकले हैं इसीसे गोस्वामीजीने छन्द ही से कहा, दोहा चौपाईसे न कहा और चौथे छन्दमें दीनता कही। यहाँ घाटोंका भी क्रम है। याज्ञवल्क्यका कर्मघाट है सो पहले छन्दमें, शिव-जीका ज्ञानघाट है सो दूसरे छन्दमें, भुशुण्डिजीका उपासना घाट तीसरेमें और गोस्वामीजीका दैन्य घाट है सो चौथेमें है। दीनता वालेका कर्म है नम्रता। अतएव 'नमत नाथ पद कंजा' कहा जिसमें सबका अधिकार है।

नोट—४ इस स्तुति और आकाशवाणीके सम्बन्धमें मतभेद है। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि यह स्तुति सभीकी भावनासे युक्त है, क्योंकि ब्रह्माजी सभीकी ओरसे स्तुति कर रहे हैं। १८५ (१-५) में दिखा आए हैं कि यहाँ तीन मत, सिद्धान्त वा उपासनाके लोग एकत्रित हैं। उसीका निर्वाह यहाँ भी है।—(मा० त० वि०)। इस प्रकार प्रथम चार तुकोंमें 'सिंधुसुता प्रियकंता' पदसे क्षीरशायी भगवान्की वन्दना हुई फिर आठ तुकोंमें वैकुंठ भगवान् और महाविष्णुके अवतारवाले कल्पोंकी स्तुति है और अन्तमें श्रीसाकेतविहारीजी परात्पर ब्रह्मकी स्तुति है।

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि "ब्रह्माकी स्तुति और आकाशवाणी नारदकल्पकी कथा है, जिसमें नारदशापवश श्रीमन्नारायणने अवतार लिया। शिवजी परतम कल्पकी कथा कह रहे थे, परन्तु उनका

एकाएक प्रकट होना सबको विश्वासप्रद न होगा; अतएव यहाँ शिवजीने कल्पांतरकी कथा मिला दी जिससे सबको बोध हो जावे ।" ब्रह्माकी स्तुतिके बाद आकाशवाणी हुई, यह क्षीराब्धवासी श्रीमन्नारायण की है; यह बात आकाशवाणीके वचनोंसे सिद्ध होती है। जिस कल्पमें यह स्तुति की गई थी उसमें कश्यप अदिति दशरथ कौशल्या हुए थे। मानसरामायणमें कल्पभेदकी कथा जहाँ तहाँ सूक्ष्मरीतिसे वर्णित है। वैसे ही यहाँ भी है। परतम अवतारमें स्तुति आदिकी आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल शापित अवतार देव-स्तुति सुनकर होते हैं और परतम प्रभु तो मनुके प्रेमवश प्रसन्न होकर वरदान देकर स्वयं बिना विनयके प्रकट हुए। 'जय जय सुरनायक' से 'अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा' तकका प्रसंग परतम कल्पके बाहरकी कथा है।"

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "परतम कल्पमें स्तुति नैमिषारण्यमें मनुद्वारा हो चुकी है। यथा 'सुनु सेवक सुरतरु'''। १४६.१।' से 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। ६।' तक। स्तुतिके बाद प्रभुने प्रकट होकर कहा "होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत। १५।'''"। एक कल्पमें दो बार स्तुति तथापि दो बार आकाशवाणी कदापि नहीं हो सकती।"

मेरी समझमें जैसे कश्यप अदितिकी स्तुतिपर उनको वर दिया कि मैं तुम्हारा पुत्र तुम्हारे अवध-भुआल होनेपर होऊँगा और रावणका अत्याचार होनेपर ब्रह्माकी स्तुतिपर भगवान् अवतार लेनेको कहते हैं, तब अवतार होता है; वैसे ही यहाँ भी प्रथम मनुके लिए वरदान हुआ कि हम तुम्हारे अवधभुआल होने-पर तुम्हारे पुत्र होंगे। जब पुत्र होनेका समय आया तब रावणके अत्याचारसे ब्रह्माजीने स्तुति की और प्रभुने अवतार लेनेको कहा। इस तरह परतम प्रभुका अवतार गुप्त भी रहेगा।

टिप्पणी—५ 'जानि सभय सुर''' इति। भगवान्‌की प्रतिज्ञा है कि—'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्-व्रतं मम'। देवता आदि सभीत हैं, इसीसे शोक संदेहहारिणी वाणी हुई। [(☞यहाँ आकाशवाणी होनेमें दो कारण दिखाए। एक तो देवता और पृथ्वी दोनोंके भयभीत होनेसे, दूसरे स्नेहयुक्त वचन सुननेसे। शंकरजीने कहा ही है कि 'प्रेम तें प्रगट होहिं'। अतः आकाशवाणीरूपसे प्रगट हुए। और सब सभीत शरणमें आए हैं अतः अभयदायक वाणी बोली गई।) 'गंभीरका भाव कि इसमें अक्षर थोड़े ही हैं पर अर्थ बहुत है। (रा० प्र०)। ध्वनि भी गंभीर है। (पं०)। बोलनेवाला अदृश्य है और शब्द सुनाई पड़ रहा है, इस लिये 'गगन गिरा गंभीर' कहते हैं। अथवा, जो वाणीका भी वाणी है, उसकी गिरा आकाश द्वारा ही प्रकट होती है। कितने ऊपरसे वाणी आ रही है, इसकी थाह न होनेसे गम्भीर कहा। (वि० त्रि०)]

वेदान्तभूषणजी—१६ तुकोंमें स्तुति करनेका भाव कि जैसे आप लोकसृजनार्थ १६ कलाओंसे शेष-शायीरूपसे अवतरित हुये थे (भा० १।३।१), वैसे ही अब लोकरक्षणार्थ पुनः अवतार लेकर अपने अनन्त दिव्य गुणोंमेंसे १६ गुण तो अवश्य ही प्रकटकर भक्तोंको आनन्द दीजिए। परमावश्यक वे १६ गुण ये हैं—१ कला (ऐश्वर्य)। २ धर्म (ज्ञानस्वरूपता)। ३ यश (यशका कारण तेज)। ४ श्री (शक्ति)। ५ मोक्ष (निर्बन्धता)। ६ भरण (धारणशक्ति)। ७ पोषण (कल्याणप्रद शक्ति)। ८ आधार (सर्वव्यापकता, सर्वशरीरिता)। ९ उत्पत्ति। १० पालन। ११ संहार शक्ति। १२ शत्रुनाशक शक्ति। १३ रक्षण (विमुख जीवोंको स्वसम्मुख करनेकी शक्ति)। १४ शरण। १५ लालन (प्रेमप्रदर्शन)। १६ सामर्थ्य। इन्हीं उपर्युक्त १६ को षोड़श कला या अंश कहते हैं।

जीव प्रभुके वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य, सर्वशक्तित्व, कृपा, करुणा, सौन्दर्य, क्षमा आदि दिव्य कल्याण गुणोंका अनुसन्धान करते हुए उनसे अनेक संबंधमेंसे शेष-शेषी, पिता-पुत्र, भार्या-भर्तृत्व, नियाम्य-नियामक, आधाराधेय, सेवक-स्वामी, शरीर-शरीरी, धर्म-धर्मी, रक्ष्य-रक्षक, व्याप्य-व्यापक, भोक्ता-भोक्तृत्व, अशक्त-सर्वशक्तिमत्व, सख्य, अकिंचन-अवाप्तसमस्तकामत्व, पतित-पतितपावन और शरण-शरण्य षोड़श-संबंधपूर्वक भगवल्लीला विग्रहका आनन्दानुभव करते हैं।

वि० त्रि०—यह प्रभुका प्रथम गुणग्राम जगमङ्गलरूप है, यथा—'जगमंगल गुनग्राम राम के'। इसे अश्विनी नक्षत्र माना गया है। अश्विनी नक्षत्रमें तीन तीन तारे चमकते हैं। इस स्तुतिमें भी तीन रूपोंकी चमक है। विष्णु, क्षीरशायी और ब्रह्म। अश्विनी नक्षत्रकी आकृति अश्वमुखसी है। ब्रह्मविद्याके प्रधान उपदेष्टा भगवान् हयग्रीव हैं। उसी ब्रह्मविद्याका निरूपण इस स्तुतिमें है, इससे अश्वमुख माना। अथवा सामवेदके तुल्य होनेसे अश्वमुख माना। यह स्तुति ही जगमंगलके लिये ब्रह्मदेवने की थी।

प० प० प्र०—ब्रह्माकृत स्तुति और अश्विनी नक्षत्रका साम्य। (क) अनुक्रम—यह पहली स्तुति है और पहला नक्षत्र अश्विनी है। (ख) नाम-साम्य—नक्षत्रका नाम अश्विनी है। अश्विनी=घोड़ी। सूर्यपत्नी संज्ञाने अश्विनीका रूप लिया और पृथिवीपर रही। इसकी खोजमें सूर्य यहाँ आए और दो पुत्र हुए, वे ही अश्विनीदेव हैं। अश्वके समान रूपवाली होनेसे अश्विनी नाम है। तथा 'अश्नुते व्याप्नोति अश्वः'। इस स्तुतिमें प्रभुके त्रिविधरूपोंका व्यापक स्वरूपमें वर्णन किया ही है। छन्दोंको पढ़नेकी गति भी अश्वकी गतिके समान ही है। अश्व जब मुकामके समीप आने लगता है तब उसकी गतिमें फेर पड़ता है। वैसा फेर अंतिम छन्दमें भी है। स्पष्ट करनेमें विस्तार करना होगा, उसके लिये यहाँ स्थल नहीं है। (ग) तारा-संख्या-साम्य।—अश्विनीमें तीन तारे हैं। इस स्तुतिमें 'सिंधुसुता प्रिय कंता' (शेषशायी नारायण), सर्वव्यापक प्रभु भगवान् सगुण ब्रह्म और श्रीभगवान् (=लक्ष्मीपति वैकुण्ठाधीश विष्णु) ये तीन तारे हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि इस नक्षत्रके तीन तारे एक प्रतिके नहीं हैं; दूसरे, तीसरे और चौथे प्रतिका एक-एक तारा है। (नक्षत्र चित्रपट श्रीरघुनाथ शास्त्री)। इस स्तुतिमें सगुण ब्रह्म दूसरी प्रतिका तारा है। निर्गुण निराकर ब्रह्म प्रतिका तारा इसमें नहीं है। शेषशायी नारायण तीसरी प्रतिका (III Dimention) है और विष्णु चौथी प्रतिका है। यह साम्य कितना अद्भुत है! (घ) रूप-आकार-साम्य—नक्षत्रका आकार 'अश्वमुख' कहा है। सिंधुसुता प्रिय=लक्ष्मीका प्रिय उसका भाई है। उच्चैःश्रवा भी मंथनसे ही निकला है अतः वह भाई है और प्रिय है। यथा 'बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही'। (ङ) नक्षत्रका देवता अश्विनीकुमार हैं। संज्ञा जब अश्विनी बनी तब सूर्यको पृथ्वीपर अश्वरूपमें आना पड़ा और अश्विनीकुमारोंका जन्म हुआ। वैसे ही 'राम सच्चिदानंद दिनेसा' को अश्विनी स्तुतिसे इस पृथ्वीपर आकर पुत्ररूपसे अवतीर्ण होना पड़ा। (च) फलश्रुति—'जग मंगल गुनग्राम राम के। १।३२।२।' यह इस स्तुतिकी फलश्रुति है। यह स्तुति रामजन्मका साक्षात् हेतु है—'राम जनम जग मंगल हेतू'। गुनमंदिर (=गुणग्राम) शब्द स्तुतिमें ही है। यह स्तुति जगका मंगल करनेवाली है।

☞ यहाँसे उत्तरकाण्ड दो० ५१ की नारदस्तुति तक २८ स्तुतियाँ हैं। नारदकृत स्तुति रेवती नक्षत्र है। २८ नक्षत्रोंसे नक्षत्रचक्र बना है। वैसे ही स्तुतिरूपी नक्षत्रचक्र-नक्षत्रमंडल मानसमें है। अश्विनी-स्तुतिके कर्त्ता 'बिधि' हैं और रेवती-स्तुतिके कर्त्ता नारदजी हैं—'गए जहाँ बिधि धाम'; इस प्रकार मण्डलाकार पूरा किया गया। यह एक परम अद्भुत अनुपम काव्यकला है। ऐसे-ऐसे अद्भुतकलाओंके बहुत नमूने मानसमें हैं।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहौं नर बेसा॥ १॥

अर्थ—हे मुनियो, सिद्धो और सुरेश! डरो मत, तुम्हारे लिये मैं नरवेष धारण करूँगा॥ १॥

टिप्पणी—१ यह अभयप्रद वाणी है। आगे पुनः कहा है 'निर्भय होहु देव समुदाई'। जनि डरपहु' का भाव कि सब सभीत होकर शरणमें आए हैं, यथा 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा'। ब्रह्माजीने कहा भी है कि 'सरन सकल सुरजूथा'। अतः आकाशवाणी कहती है कि हम तुम्हें शरणमें लेते हैं, तुम सभीत हो, हम तुम्हारे भयको हरण करेंगे, यथा 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं। ५।४४।' किस तरह रक्षा करेंगे सो दूसरे चरणमें कहते हैं कि 'तुम्हहिं लागि धरिहौं नर बेसा'। यह वाणी 'हरनि सोक संदेह' है। 'जनि डरपहु' से शोक हरण किया और 'धरिहौं नरबेष'से संदेह

दूर किया। संदेह था कि मनुष्य तो राक्षसों का आहार है, वह रावणको कैसे मार सकेगा। भगवान् कहते हैं कि संदेह दूर करो, हमही मनुजरूप धारण करेंगे। २ 'तुम्हहिं लागि' का भाव कि वैसे तो ईश्वरके लिये नर शरीर धारण करना न्यूनताकी बात है, पर तुम्हारे हितार्थ हम यह भी करेंगे। इस तरह 'सुरनायक, जन सुखदायक, सहज कृपाला' आदि विशेषणोंको सत्य किया। 'नर वेष' धारण करनेके भाव 'राम भगत-हित नर तन धारी। २४।१।' मा० पी० भाग १ पृष्ठ ४०५, में आ चुके हैं।

वि० त्रि०—'धरिहौं नर बेसा'—भाव कि 'कर्मविपाक और आशयसे जिसका सम्पर्क नहीं, ऐसा पुरुष-विशेष ईश्वर है। यथा 'कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो० सू०।'; तब वह मनुष्य क्यों होने लगा। अतः कहते हैं कि यद्यपि कर्मविपाक और आशयसे मेरा लगाव नहीं है फिर भी तुम्हारे लिये मैं नर शरीर धारण करूँगा। ध्वनि यह निकलती है कि मैं तुम्हारे लिये नरशरीर धारण करूँगा परन्तु तुम लोग भी अपने लिये वानर शरीर धारण करो।

वेदान्तभूषणजी—ब्रह्मलोक जानेमें और स्तुतिके अन्तमें नमस्कार करनेमें मुनियोंका वर्णन आया है, विचार करनेमें नहीं। आकाशवाणीमें प्रथम 'मुनि' का नाम कहकर भगवान्‌ने सूचित किया है कि हमारे अवतार लेनेके प्रधान कारण 'मुनि' ही हैं। भगवद्भक्त होना मुनिका प्रधान लक्ष्य है; इसीसे भक्तोंकी 'मुनि' संज्ञा थी। यथा 'भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्। भा० १।२।२५।' (अर्थात् पूर्वकालमें मुनिजन भगवान् अधोक्षजका भजन करतेथे)। गोस्वामीजीने भी भक्तोंके लिये ही प्रधानतया अवतारका होना कहा है। यथा 'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि प्रगट किये प्रहलादा।', भगवान्‌ने स्वयं भी कहा है—'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहि आन निहोरें। ५।४८।' भगवती श्रुति भी यही कहती है—'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' उपासकोंका कार्य एकपाद्विभूतिमें बिना अवतार लिए नहीं हो सकता क्योंकि वे तो परमेश्वरको विविध संबंध-सूत्रोंमें ग्रथित करना चाहते हैं। उपासकों (मुनियों) की कामनापूर्त्यर्थ ब्रह्मको अनेक रूप बनाने पड़ते हैं इसीसे भयातुर नमस्कार करनेमें ब्रह्माजीने इन्हींका नाम प्रथम लिया है—'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत...'। [विचार करनेमें देवताओंका ही नाम दिया—'बैठे सुर सब करहिं बिचारा'। मुनियोंका नाम न दिया। कारण यह भी हो सकता है कि भक्त संकट पड़नेपर भी प्रभुको कष्ट नहीं देना चाहते, कर्मभोग आदि समझकर कष्ट सहते हैं। 'सुर' स्वार्थी होते हैं। इसीसे सुर ही यहाँ अगुआ बने, मुनि केवल साथ हो लिए हों! प्रणाम करनेमें वे पहले हुआ ही चाहें क्योंकि उपासक हैं]

प० प० प्र०—ये मुनि पृथ्वीतलपर रहनेवाले मुनि नहीं हैं, क्योंकि यहाँके मुनि ब्रह्मलोक और शिव लोक नहीं जाते। महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोकमें जो मुनि निवास करते हैं वे ही देवोंके-विनयानुसार उनके साथ होते गए। स्वर्गलोकसे देव निकले और सत्यलोकको गए जहाँ 'जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनि बृंदा। निसिबासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं'। ऐसे मुनि ही यहाँ विवक्षित हैं। भगवान् न तो केवल ज्ञानी मुनियोंके लिये अवतार लेते हैं और न केवल देवताओंके लिये। वे० भू० जीके लेखमें प्रमाण दिये ही हैं।

नोट—इस आकाशवाणीमें प्रथम मुनियों और सिद्धोंको सम्बोधन किया है और अन्तमें देव-समुदाय-को। इसका कारण एक तो यह है कि ब्रह्माकी स्तुतिमें भी यही क्रम है—"मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा'। प्रथम मुनि और सिद्धका नाम है तब देवताओंका। इसीसे आकाशवाणीने आदिमें 'मुनि सिद्ध सुरेसा' ('सुरेश' में ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तीनों आ गए) और अन्तमें 'देवसमुदाई' शब्द देकर सबको कह दिया। दूसरा कारण (पंजाबीजीके मतानुसार) यह है कि मुनि और सिद्ध सदाके जितेन्द्रिय हैं अतः उनके सम्मान हेतु उन्हें प्रथम कहा तब देवोंको।

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा । लेहौं दिनकर-बंस उदारा ॥२॥

अर्थ—उदार सूर्य्यवंशमें अंशोंसमेत मैं 'मनुज' अवतार लूँगा ॥२॥

बाबा हरीदासजी—जैसे ब्रह्माजीने गुप्त विनय की वैसे ही गगनवाणीने गुप्त ही वचनोंमें कहा। जैसे विधिने असुरारी सम्बोधन किया वैसे ही वाणीने 'अंसन्ह सहित मनुज अवतार लेहौं।' कहा अर्थात् असुरों-का नाशक मेरा सुदर्शनचक्र देह धरकर आवेगा, सो शत्रुघ्नजी अंश जानो। जो 'पालन सुर धरनी' कहा था उसकी जोड़में सब जगत्के पालनकर्त्ता विष्णुजी देह धरकर आवेंगे, सो अंश भरतजी जानो। और जो विधिने कहा कि 'भवभयभंजन···सरन सकल सुरयूथा' अर्थात् अपने सयानपनसे आपका गुणगान करना भूल गए, अब आप अवतार लेकर चरित करें जिसे गाकर हम भवपार हों; इसकी जोड़में वाणी कहती है कि सहसानन जो मेरा सदा गुणगान करते हैं वे अवतरेंगे, सो अंश लक्ष्मणजीको जानो।"

"अंसन्ह सहित मनुज अवतारा०" इति।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—"परम प्रभुके वे अंश कौनकौनसे हैं जिनके सहित सरकारका अवतार हुआ?

जिन परम प्रभुकी प्राप्तिके हेतु श्रीस्वायंभुव मनु तपस्या कर रहे थे, उन ध्येय तथा इष्टका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—'उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥···संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'—भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और शिव ये ही अंशस्वरूप कथित हैं। आगे चलकर 'बिधि हरिहर बंदित पद रेनू' कहकर श्रीपरमप्रभुको इन तीनोंका अंशी लक्ष कराया गया है। श्रीरामावतार तीनों अंशों समेत चतुर्विग्रहमें प्रगट भी हुआ, यह प्रमाणित है। श्रीरामजी, श्रीभरत-जी, श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीशत्रुघ्नजी चारों विग्रह चारों भ्राताओंके रूपमें प्रादुर्भूत हुए—'बेद तत्त्व नृप तव सुत चारी'। परन्तु कौन विग्रह किस अंशसे हुआ, इसका स्पष्ट निर्णय नामकरणके समय गुरु श्री-वशिष्ठजीके द्वारा किया गया है।···"बिस्वभरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।' जो संसार-का भरण-पोषण (पालन) करनेवाले विष्णु भगवान् हैं, इनका नाम भरत है। 'जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा', अर्थात् जो वेदका प्रकाश करनेवाले ब्रह्माजी हैं, जिनके स्मरणसे शत्रुओं-का हनन हो जाता है, इनका नाम शत्रुहन है। ब्रह्माके चारों मुखोंसे वेदोंका प्रकाश हुआ है। इसके अति-रिक्त मंथराके इस कथनपर कि 'कहौं झूठ फुर बात बनाई। तौ बिधि देइहि मोहि सजाई॥" ब्रह्माके अंश शत्रुहनजीने ही उसे दंड दिया-'हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भरि महि करत पुकारा'। अतः इससे भी शत्रुहनजीका ब्रह्माका अंश होना सिद्ध है। "लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥"—जो शुभ लक्षणोंके धाम रामजीके प्रिय शिवजी हैं,—एकादशरुद्रोंमें प्रधान रुद्र और सकल जगत्के आधार शेषजी हैं—उन शिवजीके अंशस्वरूप जो यह चौथे हैं उनका उदार नाम लक्ष्मण है। जीवके वास्तविक लक्ष्य भगवान् श्रीराम ही हैं। उस लक्ष्यको यथार्थतः श्रीशिवजीने धारण किया है; यथा 'जेहि सुख लागि पुरारि असिव बेष कृत सिव सुखद। ७।८८'; अतएव शिवजी 'लच्छनधाम' हैं। पुनः उनके समान कोई रामप्रिय भी नहीं,—'कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरे।'

इस प्रकार परमप्रभुके अवतार श्रीरघुनाथजी हैं और त्रिदेवगत श्रीविष्णु भगवान्के अवतार श्री-भरतजी, श्रीब्रह्माजीके अवतार श्रीशत्रुहनजी तथा श्रीशिवजीके अवतार श्रीलक्ष्मणजी हैं। अतएव सबके एकमात्र अंशी साक्षात् परमप्रभुने अपने तीनों अंशों—त्रिदेवों सहित अवतार लेकर यह वाक्य सिद्ध कर-दिया कि 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा॥'

नोट—१ उपर्युक्त मीमांसामें कुछ शंकायें और अड़चनें पैदा होती हैं। वे ये हैं—१ 'जासु अंस तें' मूलपाठ है, जिसका अर्थ है कि 'जिसके अंशसे' ब्रह्मादि उत्पन्न होते हैं न कि ये जिसके अंश हैं। अतः

फिर भी यह प्रश्न खुला रह जाता है कि वह अंश कौन हैं जिनसे ब्रह्मादिक उत्पन्न होते हैं ? २—गगन-ब्रह्मवाणी ब्रह्मा-शिवादिसे ही कह रही है कि 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा ॥", तो यह सिद्ध ही है कि ब्रह्मके अंश जिसका वाणीमें संकेत है सम्मुख खड़े हुए ब्रह्माशिवादिमेंसे कोई भी नहीं है वरंच इनसे अतिरिक्त कोई और ही हैं। ३—ब्रह्माजीका जाम्बवान् होना और शिवजीका हनुमान होना गोस्वामीजीका मत है जैसा कि दोहावलीमें उन्होंने स्पष्ट कहा है, यथा 'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुखा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान ॥ १४३ ॥' आकाशवाणी सुनकर ब्रह्माने सबको आज्ञा दी कि वानररूप धरकर 'हरिपद सेवहु जाइ' और स्वयं जाम्बवान् रूपसे अवतरे। ४—गुरु-श्रीवशिष्ठजी चारों भाइयोंको वेदतत्व कहते हैं, यह उपर्युक्त लेखमें स्वयं कहा गया है पर ब्रह्मा, विष्णु, महेशको कहीं भी वेदतत्व नहीं कहा या सुना गया है; तब ब्रह्मादिके अंशको श्रीवशिष्ठजी क्योंकर वेदतत्त्व कहते ? ५ पाँचवें, ऊपर परमप्रभुके अंश ब्रह्मादि बताए गए और ब्रह्मादिके अंश शत्रुघ्नादि बताए गए; इससे जाना गया कि भरतादि भ्राता भगवान्के अंशावतार न होकर त्रिदेवके अंशावतार हैं। इत्यादि कारणोंसे त्रिदेवको आकाशवाणीमें संकेत किये गए अंश नहीं माना जा सकता।

वेदान्त भूषणजी कहते हैं कि नारदपंचरात्रमें वैकुण्ठाधीशका भरतरूपसे, क्षीरशायी श्रीमन्नारायणका लक्ष्मणरूपसे तथा भूमापुरुषका शत्रुघ्नरूपसे श्रीरामसेवार्थ अवतीर्ण होनेका उल्लेख है। यथा "वैकुण्ठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः। शत्रुघ्नश्च स्वयंभूमा रामसेवार्थमागतः ॥" वैकुंठाधीश श्रीनारायण श्रीरामजीके अंश हैं। यथा—'नारायणोऽपि रामांशः शंखचक्रगदाधरः। इति वाराहपुराणे।' शेषशायी श्रीमन्नारायणको परात्पर ब्रह्मका षोडशकलायुक्त विराट् पुरुष कहा है। यथा 'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः। संभूतं षोडश-कलमादौ लोकसिसृक्षया। १। पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।...। ४। भा० १.३।" अष्टभुजी भौमापुरुष भी श्रीरामजीके अंश हैं। यथा "तस्मिन्साकेतलोके विविहरहरिभिः संततं सेव्यमाने दिव्ये सिंहासने स्वे जनकतनयया राघवः शोभमाने। युक्तो मत्स्यैरनैकैः करिभिरपि तथा नारसिंहैरनन्तैः कूर्म्मैः श्रीनन्दनन्दैर्हयगल हरिभिर्नित्यमाशोन्मुखैश्च ॥ यत्र केशववामनौ नरवरो नारायणो धर्मजः श्रीकृष्णो हलधृक् तथा मधुरिपुः श्रीवासुदेवोऽपरः। एतेनैकविधा महेन्द्रविषयो दुर्गादयोः कोटिशः श्रीरामस्य पुरो निदेशसुमुखा नित्यास्तदीये पदे। (बृहद्ब्रह्म-संहिता), 'स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मंचैव चतुर्भुजम्। परंचद्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्।' (आनंद-सं०), इत्यादि।

अब यह देखना है कि इन तीनोंसे अगणित त्रिदेव उत्पन्न होते हैं। वैकुण्ठाधीशसे उत्पन्न होने के प्रमाण, यथा "वैकुण्ठः साकारो नारायणः तेष्वण्डेषु सर्वेष्वेकैक नारायणावतारो जायते नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते नारायणादेकादशरुद्राः जायंते। ना० उ० ३।२ ॥" क्षीरसिंधुनिवासीसे अनेक त्रिदेवादि और फिर उनसे देव तिर्यक् और नरादिकी सृष्टिका प्रमाण, यथा 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः। भा० १.३.५।' (वे० भू० जी कहते हैं कि श्लोकके पूर्वार्धमें नाना त्रिदेवकी उत्पत्ति कहकर उत्तरार्धमें त्रिदेवादिसे देव तिर्यक् आदि की सृष्टि कही है)।

श्वेतद्वीप निवासीसे अनेक अवतार होनेका प्रमाण भूमापुरुषके "कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे। भा० १०.८९.५९ ॥" इस वाक्यमें मिलता है। वे भगवान् कृष्णसे कहते हैं कि तुम और अर्जुन दोनों हमारी कलासे अवतीर्ण हो। (गी० प्रे० गुटकामें यह श्लोक नहीं है)। (त्रिदेवोंकी उत्पत्तिका स्पष्ट प्रमाण उनके लेखमें नहीं है)।

प्राचीन ग्रंथोंसे स्पष्ट प्रमाणोंके रहते हुए कि क्षीरशायी लक्ष्मण और भूमापुरुष शत्रुघ्न होते हैं ब्रह्माजीका शत्रुघ्न और शिवजीका लक्ष्मण होना माना नहीं जा सकता।

'जा के सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा।' के 'बेद प्रकासा' का अर्थ 'जो वेदका प्रकाश करनेवाले हैं' ऐसा अर्थ खींचतान है। "तौ बिधि देइहि मोहि सजाई" यह एक लौकिक वाक्यप्रथा

है कि अमुक कर्मका फल विधि, दैव अथवा ईशादि देंगे। ☞दूसरे शत्रुघ्नजीके लिये कहा गया है कि उनके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है। जीवके प्रबल शत्रु मोह मनोजादि हैं और ब्रह्मादि स्वयं इनके वशमें हो जाते हैं। यथा 'मन महुँ करै बिचार बिधाता।'''जेहि बहु बार नचावा मोही।' ब्रह्माके स्मरणसे शत्रुओंके नाशका निर्देश श्रुतिस्मृतिमें नहीं सुना जाता। लक्ष्मणजी शिवावतार होते तो शिवजीका निरादर वे कदापि अपने वाक्योंसे न करते। 'अब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली।', 'जौ सत संकर करै सहाई। तदपि हतउँ रन राम दुहाई।' इत्यादि कभी न कहते।

कुछ लोग शंख, चक्र और शेषका भरतादि होना कहते हैं परन्तु मानसमें शङ्खादिके अवतीर्ण होनेकी सांकेतिक चर्चा भी न होनेसे इस विषयमें विचार उठाना व्यर्थ है। (संकीर्तन अवतारांकमें से)। ब्रह्माका विष्णु नारायण भूमापुरुष आदि भगवद्रूपोंसे तत्वतः गुणतः अभेद होनेसे उन्हींका चार भ्रातारूपसे अवतीर्ण होना विशेष संगत जान पड़ता है।

श्रीवैजनाथजीका मत है कि श्रीसाकेतमें प्रभुके अंश जो श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नजी हैं उन्हीं भाइयोंसहित प्रभु अवतार लेनेको कहते हैं। यह भी सुसंगत है।

प० प० प्र०—१ जब भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं जैसे उमा-शम्भु-सम्वाद कथामें तब क्षीरसागर निवासी नारायण लक्ष्मण होते हैं। विष्णु भरत होते हैं और महेश शत्रुघ्न होते हैं। इस कल्पमें शेषावतार लक्ष्मण माना जाय तो मानस-वचनोंसे विरोध होता है। शेषजी ब्रह्मावतार शत्रुघ्नको और विष्णु-अवतार भरतको कैसे मार सकेंगे? मानसके लक्ष्मणने रामरिपु भरत-शत्रुघ्नको मारनेकी प्रतिज्ञा की है। भगवान् शेषशायी ब्रह्मा-विष्णुसे श्रेष्ठ हैं, अतः ऐसी प्रतिज्ञा कर सकते हैं। धनुर्भंगके समय लक्ष्मणजीने 'कमठ अहि कोला' को आज्ञा दी है, शेषशायी ही कमठ, वराह, शेषको आज्ञा दे सकते हैं।

२ मानसमें ही लक्ष्मणजीको शेषावतार भी कहा है। वह इस प्रकार है—जब शेषशायी नारायण अथवा विष्णु राम होते हैं तब शेषजी लक्ष्मण, शंख भरत और चक्र शत्रुघ्न होते हैं। प० पु० तथा स्कंद पु० में विष्णु, शेष, शंख और चक्र का राम, लक्ष्मण, भरत शत्रुघ्न होना कहा गया है। प० पु० में वृन्दाका शाप शेषशायी और शेष दोनोंको है; वनवास दुःख और कपि-साहाय्यका शाप भी वृन्दाने दिया है। शंखका भरत होना मानसमें गूढ़ भाषामें सूचित किया है। 'बिस्व भरन पोषन कर जोई' अर्थात् विष्णु भरण पोषण कर्ताके करमें जो है वह भरत है। करमें शंख है ही। इसी तरह सुदर्शन चक्रके स्मरणसे शत्रुका नाश होता ही है, अतः चक्र शत्रुघ्न हुए।

वि० त्रि०—'अंसन्ह सहित'—भाव कि मैं (तुरीय का विभु) अपने अंशों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके विभुओं) के सहित मनुष्य अवतार लूँगा। अर्थात् जब अंशीका अवतार होगा तब साथमें अंश भी आवेंगे। राजाके साथ सारा समाज चलता है। सुषुप्तिके प्रभु ईश्वर, स्वप्नके हिरण्यगर्भ और जाग्रत्के विभु विराट् हैं। इन्हींके साथ अवतीर्ण होनेका आश्वासन दिया जा रहा है।

नोट—२ पूर्व कहा जा चुका है कि मानसमें मुख्यतः परात्पर परब्रह्म श्रीरामजीका ही अवतार और चरित कहा गया है; परन्तु 'श्रीरामावतार' का हेतु कहनेमें वैकुंठ और क्षीरशायीको शापका दिया जाना और उन शापोंके मिष भी श्रीरामावतारका होना कहा गया है। इसीसे उन तीन कल्पोंकी कथा भी गौणरूपसे मानसकल्पकी कथामें जहाँ-तहाँ ग्रथित है। इसके अगणित प्रमाण ग्रंथभरमें हैं। जैसे स्तुतिमें चार कल्पोंके अवतारोंकी स्तुतिका विवरण है वैसे ही आकाशवाणीमें भी चार कल्पोंके अवतारोंका प्रसंग सूक्ष्म रीतिसे है।

३ (क) भगवान्ने जो मनुजीसे कहा है कि 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता।', उसीको यहाँ 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं' कहकर चरितार्थ किया है। 'मनुज' शब्दमें श्लेषद्वारा यह ध्वनि भरी हुई है कि मनुको जो हमने वर दिया है उसे सत्य करेंगे, उनके पुत्र होंगे। (ख)

'लेहौं दिनकर बंस उदारा' इस वाक्यसे पूर्वके (मनुशतरूपाजीसे कहे हुए) 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे।', 'होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।' इन वाक्योंको चरितार्थ किया। ☞इस प्रकार इस वाणीमें 'मनु प्रार्थित' रामावतारवाले कल्पका प्रसंग है। (ग) 'बंस उदारा' इति। इस वंशमें समस्त राजा चक्रवर्ती और उदार दानी होते आए हैं। यथा 'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।' उदारसे श्रेष्ठ और महान् भी जनाया। रघुवंशी बड़े वीर और प्रतापी हुए हैं। यथा 'जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।', 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी। २८४।४।' इस कुलमें अवतार लेनेसे अवतार गुप्त रहेगा। अतः कहा कि इस कुलमें अवतार लूंगा। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'बंस उदारा' में अवतारका भाव यह है कि उस कुलमें प्रकट होकर विशेष उदारता प्रकट करूँगा। देशकाल पात्रापात्रका विचार न करके स्वार्थरहित याचकमात्रको मनोवांछित दान दूँगा। यथा 'सुसमय सब के द्वार द्वै निसान बाजै। कुसमय तैं दसरथ के दानि गरीब निवाजै।' (विनय)।

वि० त्रि०—उदार सूर्यवंशमें अवतार ग्रहण करनेका अभिप्राय यह है कि बारह कलाओंमें ही पूर्णता हो जायगी, क्योंकि सूर्यमें बारह कलाएँ हैं। चन्द्रवंशमें अवतार ग्रहण करनेसे सोलह कलाओंमें पूर्णता होती है। क्योंकि चन्द्रमें सोलह कलाएँ हैं।

कस्यप अदिति महा तप कीन्हा। तिन्ह कहुं मैं पूरब बर दीन्हा ॥३॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नरभूपा ॥४॥
तिन्ह कें गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई ॥५॥

अर्थ—कस्यप और अदितिने बड़ा भारी तप किया था। मैंने उनको पूर्व ही वर दिया था ॥३॥ वे दशरथ-कौसल्यारूपमें श्रीअयोध्यापुरीमें नृपति होकर प्रकट हुए हैं॥ ४॥ मैं उनके घरमें जाकर रघुकुलमें शिरोमणि चारों भाईके रूपमें अवतार लूँगा ॥५॥

नोट—१ (क) 'कस्यप अदिति···' इति। इससे जनाया कि महर्षिकश्यप और अदिति प्रायः दशरथ और कौसल्या होते हैं अथवा चार कल्पोंके श्रीरामावतारका हेतु कहा गया है; उनमेंसे तीनमें कश्यप-अदिति ही दशरथ-कौसल्या हुए। उनके यहाँ अवतार होना सब जानते हैं, यथा 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता। १२३।३।' जय-विजय-कल्पके प्रसंगमें शिवजीने 'बिख्याता' शब्द कहकर जना दिया कि कश्यप-अदितिजीका दशरथ-कौसल्या होना सब देवता जानते हैं। मनुशतरूपाका दशरथ-कौसल्या होना सब नहीं जानते। (ख) 'प्रगट नरभूपा' से जनाया कि तुम सब यह बात जानते हो। (ग) 'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई' इति। 'जाई' से जनाया कि हम शीघ्र ही अवतार लेंगे क्योंकि कश्यपादि दशरथादि रूपसे प्रकट हो चुके हैं। (घ) 'रघुकुल तिलक' इति। प्रथम 'दिनकर वंश' कहा और अब रघुकुल कहा। भाव कि इस कुलमें 'रघु' जी ऐसे प्रतापी तेजस्वी और उदार हुए कि 'दिनकरवंश' का नाम बदलकर लोग उसे 'रघुकुल' कहने लगे। रघुसे लेकर अनेक राजा इस कुलमें हो गए जिनसे रावण शंकित रहता था। अतः इस कुलमें प्रकट होनेसे रावणको इनके मनुष्य होनेमें कभी संदेह न होगा। (ङ) 'सो चारिउ भाई' से श्रीराम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नजी चारों भाइयोंका अवतार कहा।

२ श्रीवैजनाथजी तथा पं० रामवल्लभाशरणजी आदिका मत है कि इन चरणोंमें जलंधर और जयविजयवाले कल्पोंका प्रसंग है। इनके लिये वैकुण्ठसे अवतार हुआ था। इन कल्पोंके संबंधमें पूर्व जो कहा था कि 'कस्यप अदिति तहां पितु माता।···१२३।३।' उसीको यहाँ 'कस्यप अदिति···नरभूपा।' इस वाक्यसे चरितार्थ किया।

३ वेदान्तभूषणजीका मत है कि रावणकी तरह दशरथ भी कोई हों किंतु श्रीअयोध्याजीमें साकेत-विहारी ही अवतीर्ण होते हैं। इसपर शंका हो सकती है कि 'मनुको वर दिया गया तब यहाँ कश्यपका

दशरथ होना क्यों कहा ?' समाधान यह है कि—(क) मनु और कश्यप दोनों प्रजापति हैं, दोनोंसे सृष्टिका विस्तार होता है। दोनोंकी एक क्रिया होनेसे दोनोंमें अभेद दिखाया। (ख) किशोररामायणमें लिखा है कि 'मारीचो कश्यपो नाम मनुश्चापर जन्मनि । १।३।१८ ।' अर्थात् मरीचि मुनिके पुत्र कश्यप ही दूसरे जन्ममें मनु हुए। उसीमें आगे चलकर यह लिखा है कि श्रीरामजीका अर्चन करके जो कश्यप भगवान्‌के पिता हुए (वामनावतार उन्हींके द्वारा हुआ था) वही इस समय (दूसरे जन्ममें) मनु और (तीसरे जन्ममें) नृप होंगे तब परात्पर श्रीराम उनके पुत्र होंगे। यथा "समर्चनं यस्य विधाय कश्यपो ह्यदित्यया सार्धमवाप पितृताम्। रामस्य एवात्र भवे मनौ नृपे ह्यवाप्नुयात्पुत्र तनुं परात्परः । १।५।१२ ।" इसीसे कश्यपका महातप करना कहा। क्योंकि वे ही मनु और दशरथ हुए।

वृन्दाके शापवाले कल्पमें कश्यप अदिति माता पिता नहीं हुए थे। आ० रा० में धर्मदत्तका दशरथ होना कहा है।

कहाँ तो मनुसे कहा कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा और यहाँ देवताओंसे कहते हैं कि कश्यप दशरथ हुए हैं उनके यहाँ जन्म लूँगा, इस द्विवाक्यतामें भाव यह है कि जिन कल्पोंमें मैं स्ववाचाबद्ध होनेसे प्रकट होता हूँ उनमें मनु वा कश्यप ही दशरथ होते हैं और जिनमें मुझे अपने अंश वैकुण्ठ, क्षीरशायी आदिके बदलेमें दाशरथी होना पड़ता है उनमें धर्मदत्त आदि दशरथ होते हैं। मानसमें धर्मदत्तादिका नाम इससे नहीं दिया गया कि इसमें उन शापवाले कल्पोंकी कथा नहीं कहना है। [श्रीहरिदासाचार्यजी (श्रीरामतापनीयोपनिषदादिके भाष्यकार) का यही मत है जो उन्होंने विस्तारसे भाष्यमें लिखा है]।

वि० त्रि० -'कश्यप अदिति···चारिउ भाई' इति। 'जनि डरपहु···बंस उदारा', यह आकाशवाणी उस कल्पकी है जिसमें स्वयाम्भू मनु और शतरूपाकी प्रार्थनासे ब्रह्मका रामावतार हुआ था और भानुप्रतापका रावणावतार हुआ था। जय-विजयके रावण होनेके प्रकरणमें कहा था कि 'कश्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता'। वही बात आकाशवाणी अब कह रही है कि 'कश्यप अदिति महातप कीन्हा'··'ते दसरथ कौसल्या रूपा। कौसलपुरी प्रकट नरभूपा।' उन्हींके घर हम चार भाई होकर अवतार ग्रहण करेंगे। भाव कि देवताका आयुध वाहन आदि उनके स्वरूपसे पृथक् नहीं होता। इस अवतारमें शेष भगवान् लक्ष्मण हुए, पाञ्चजन्य शङ्ख भरत और सुदर्शनचक्र शत्रुघ्न हुए। वैकुण्ठनाथका रामावतार हुआ। यह जय-विजय रावणकुम्भकर्णवाले कल्पकी आकाशवाणी है।

प० प० प्र०—आकाशवाणीमें कश्यप-अदिति के दशरथ-कौसल्या होनेका उल्लेख है, मनु-शतरूपाके दशरथ-कौसल्या होनेका उल्लेख क्यों नहीं है ? समाधान—पहले बताया जा चुका है कि १८६ छन्द १ नारायणवतारविषयक है, १८६ छन्द २, ३ सगुण ब्रह्म विषयक हैं और छन्द ४ विष्णुविषयक है। नारायण, सगुण ब्रह्म द्विभुज (जिनका दर्शन मनुशतरूपाको हुआ था) और विष्णु यह क्रम स्तुतिमें है। इसका उलटा क्रम आकाशवाणीमें है। यथा—(१) 'तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेषा' कहनेवाले विष्णु वर वेषधारी नहीं हैं, वे चतुर्भुज हैं, इससे उन्होंने कहा कि नरवेष धारण करूँगा। (२) "अंसन्ह सहित' देहलीदीपक है। 'मनु-ज अवतार लेहौं' का मनुज श्लेष है। यह संकेत (मनु-जात और मनुष्य) सगुणब्रह्मावतारविषयक है। मनुजीको जब दर्शन दिया तब नररूप (द्विभुज) ही थे और साकेतनिवासी रामका नररूप ही है; अतः वहाँ 'नरबेष लेहौं' कहनेकी आवश्यकता नहीं है। गगनगिरा गंभीर है, अति गूढ़ है। अतः यही अति गूढ़ वचन है (३) 'कश्यप अदिति महातप कीन्हा'—यह शेष दो कल्पोंकी कथासे संबंधित है। एकमें वृन्दाशाप और दूसरेमें नारदमोह कारण है। दोनोंमें कश्यप अदिति दशरथ कौसल्या हैं। प्रथम जलंधर-रावण-कल्पका उल्लेख किया अंतमें नारदशापवालेका, क्योंकि मानसमूलमें वही कथा प्रथम है, वह कथा चारों कल्पोंके लिये सामान्य है और प्रत्येक वक्ताने अपने कल्पकी कथाको विशेष मिलाया है। इस प्रकार अर्थ करनेसे उलझन, शंका और

मतभेदके लिये स्थान ही नहीं है। जिस अवतारके जन्मकी कथा शिवजी कह रहे हैं वह अवतार सगुण ब्रह्मका ही है और १।४६।१ में भी मनुज शब्द है—'रावन मरन मनुज कर जाचा', यहाँ भी 'मनुज अवतारा' कहा है और दोहा १६२ में भी 'लीन्ह मनुज अवार' कहा है। चारों कल्पोंका समन्वय करनेके लिये ही १६२ छन्द १ में 'निज आयुध भुज चारी' ऐसे गूढ़ शब्द रक्खे गए हैं।

जय-विजयके लिये जो विष्णुका रामावतार हुआ उसमें कश्यप-अदितिके दशरथ-कौसल्या होनेका उल्लेख १।१२३।३ में कर आये हैं, अतः यहाँ स्पष्ट नहीं कहा। वहाँ अवतारहेतुकथनमें भी विष्णु-अवतार-का प्रथम उल्लेख है, वैसे ही यहाँ है। भेद इतना है कि मनुजीकी कथा विस्तारसे कथन करनेके बाद यह उल्लेख (आकाशवाणी) है। अतः केवल 'मनुज' शब्दसे संकेत कर दिया गया। शेष विस्तार वही है।

नारद बचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं ॥६॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई ॥७॥

अर्थ—नारदका सब वचन सत्य करूँगा। परम (आद्या) शक्ति सहित अवतार लूँगा ॥६॥ मैं पृथ्वीका सब भार हरूँगा। हे देववृन्द ! निडर हो जाओ ॥७॥

टिप्पणी—१ 'नारद बचन सत्य सब करिहौं ···'। (क) इससे सूचित हुआ कि नारदकल्पमें भी कश्यप और अदिति ही पिता-माता हुए। ['सब बचन' कहा क्योंकि उनके शापमें कई बातें हैं। यथा—(क) 'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु', राजा बनकर ठगा अतः राजा बनकर यह वचन सत्य करेंगे। (२) 'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी', अतः वानरोंसे सहायता लेंगे। (३) 'मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह'। राजा बनकर स्त्रीसे वियोग कराकर विरही बनाया। अतः रावण यती बनेगा और उसके द्वारा हम अपनी स्त्रीके हरण किये जानेकी लीला भी करेंगे। विरही भी बनेंगे। (४) 'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी'। अतः विरही बनकर यह भी चरित करेंगे।] (ख) 'परम सक्ति समेत अवतरिहौं' इति। 'नारि-बिरह' से दुःखी होनेका शाप दिया है इसीसे आकाशवाणी कहती है कि परम शक्तिके साथ अवतार लूँगा। [भाव यह कि मेरी परम 'शक्ति' ही मेरी स्त्री होगी, दूसरी कोई नहीं। परम, परा, आद्या ये सब एक ही हैं। उमानन्दनाथजीने एक तांत्रिक ग्रंथमें पराशक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—"यस्याहष्टो नैव भूमंडलांशो यस्या दासो विद्यते न क्षितीशः। यस्याज्ञातं नैव शास्त्रं किमन्यैः यस्याकारः सा पराशक्तिरेव ॥" अर्थात् 'परम शक्ति' वह शक्ति है जिसके लिये संसारका कोई भी अदृष्ट नहीं है। कोई ऐसा राजा नहीं जो उसका गुलाम न हो। कोई ऐसा शास्त्र नहीं जिसे वह न जानती हो।" पुनः, परम शक्ति = समस्त शक्तियोंका मूल स्रोत। (ग) मनुजीसे जो प्रभुने कहा था कि 'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि' वह भी 'परम सक्ति समेत अवतरिहौं' से चरितार्थ किया गया। 'परम' और 'आदि' एक ही बात है। ये उनकी साक्षात्स्वरूपा शक्ति हैं]

प० प० प्र०—'नारद बचन सत्य सब करिहौं' इति। पहले कहा था कि 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा'। यह शाप एक कल्पमें अवतारके लिये ही था। पर यहाँ शाप न कहकर 'नारद बचन' कहनेमें भाव यह है कि जिस कल्पमें किसी दूसरेका शाप कारण नहीं होता है, उसमें नारद-वचन ही सत्य किया जाता है। अद्भुत करनी है। अपने भक्तका प्रेम इतना है।

नोट—१ बैजनाथजीका मत है कि 'नारद बचन···' यह आकाशवाणी हरगण रावणके समयके क्षीरशायी भगवान्का वाक्य है। उन्हींको शाप हुआ था। यही मत पं० रा० व० श० जी का है।

२ पं० रा० व० श०—अवतार तीनों स्थानोंसे होता है। अतएव आकाशवाणीमें तीनोंका समावेश है। 'अवतार' शब्द तीन बार आया है। तीन क्रियाएँ पृथक्-पृथक् तीनों अवतारोंकी कथा सूचित करती हैं।

३ वे० भू० रा० कु० दास—जो यह कहते हैं कि नारदशापके कल्पमें कश्यप दशरथ हुए थे उन्हें

अद्भुत रामायण पढ़ लेना चाहिए। उसमें स्पष्ट लिखा है कि नारदशापकल्पमें अम्बरीष दशरथ हुए थे। (अद्भूत रा० ४।६०)।

टिप्पणी—२ 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई···' इति। (क) ये आकाशवाणीके अन्तिम वचन हैं। आदिमें 'जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा···' कहा है। ब्रह्माजीने कहा था कि सब परम भयातुर हैं, सुरयूथ आपकी शरण हैं, इसीसे ब्रह्मवाणीने आदि और अन्त दोनोंमें 'निर्भय' होनेको कहकर उनका आश्वासन किया। ['गरुआई' अर्थात् भार। पृथ्वी व्याकुल होकर मनमें विचारती थी कि 'गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही। १८४।५।' वही 'गुरुता', वही भार हरण करनेकी प्रतिज्ञा यहाँ है। पुनः, ब्रह्माजीने जो 'गो द्विज हितकारी जय असुरारी' कहा था उसके संबंधसे यहाँ 'हरिहौं···' कहा। अर्थात् पृथ्वीरूपी गौ, ब्राह्मणों और सुरोंका हित करूँगा। किस तरह? 'गरुआई' हरकर। राक्षस पृथ्वीका भार हैं, उनका बध करके सबका हित करेंगे। ब्रह्मस्तुतिके 'सकल सुरयूथा' की जोड़में यहाँ 'देव-समुदाई' है। 'सकल गरुआई' से जनाया कि पृथ्वी भरके निशाचरोंका नाश करूँगा]

मनुप्रकरण तथा नारदवचनसे इस आकाशवाणीका मिलान

मनु प्रकरण	आकाशवाणी
अंसन्ह सहित देह धरि ताता	१ अंसन्ह सहित मनुज अवतारा
इच्छामय नर बेष सँवारे	२ मनुज अवतारा
होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे	३ लेहौं दिनकर बंस उदारा
(नारदवचनसे मिलान) (क) बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तन धरहु श्राप मम एहा।	☞ अंसन्ह सहित मनुज अवतारा लेहौं दिनकर बंस उदारा।
(ख) कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥···	☞ इन बातोंके कहनेका कोई प्रयोजन न था। अतः आकाशवाणीने इसपर कुछ न कहा। नारदकल्पकी बात ब्रह्माको मालूम है, इसीसे वे देवताओंसे कहते हैं कि 'बानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ।'
(ग) नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी	—यहाँ इसके कथनका कोई प्रयोजन नहीं था।
आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।	४ परम सक्ति समेत अवतरिहौं (इसीमें 'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी' भी सिद्ध हो गया

☞ (परब्रह्मको जो करना है वही उन्होंने कहा। अन्य कल्पोंसे मिलान करके आकाशवाणीने देवताओंको निस्संदेह बोध कराया है।)

होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत	५ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा।

☞ देवता कश्यप अदितिके यहाँ ही अवतार जानते हैं। इसीसे यहाँ भी कश्यप अदितिके यहाँ अवतार होना कहा। यथा 'कस्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता।', 'कश्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्या बिख्याता।'

☞ बिख्याता का भाव कि कश्यप अदितिका दशरथ कौसल्या होना विख्यात है, मनुशतरूपा का दशरथ कौसल्या होना विख्यात नहीं है।

गगन ब्रह्म बानी सुनि काना । तुरत फिरे* सुर हृदय जुड़ाना ॥ ८ ॥

अर्थ—आकाशकी ब्रह्मवाणी कानोंसे सुनकर देवताओंके हृदय शीतल हो गए और वे तुरत लौट पड़े ॥८॥

टिप्पणी—१ "गगन ब्रह्मबानी" इति । ब्रह्माकी वाणीको भी ब्रह्मवाणी कहते हैं और परात्पर परब्रह्मकी वाणीको भी 'ब्रह्मवाणी' कहते हैं । पार्वतीजीके तपमें ब्रह्माकी वाणी है, यथा 'देखि उमहिं तपखीन सरीरा । ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा' । जो आकाशवाणी हुई वह ब्रह्मकी वाणी है (यह जतानेके लिए 'गगन ब्रह्म' बानी शब्द यहाँ दिए) ।

नोट—१ 'ब्रह्मबानी सुनि''' सुर हृदय जुड़ाना' । आकाशवाणी देवताओंने कानोंसे सुनी । स्पष्ट सुन लिया कि भगवान् कहते हैं कि 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई । निर्भय होहु देव समुदाई' । अतः वे संतुष्ट हो गए । 'वाणीको शोकसंदेहहारिणी कहा था, यथा 'गगनगिरा गंभीर भै हरनि सोक संदेह ।' उसको यहाँ चरितार्थ करते हैं कि 'सुर हृदय जुड़ाना' । 'हृदय जुड़ाना' से सूचित किया कि पूर्व संतप्त थे; जैसा कि 'बैठे सुर सब करहिं बिचारा । कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा', 'सो करउ अघारी चिंत हमारी', 'परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा' तथा 'हरनि सोक संदेह' से स्पष्ट है । शोकोत्पन्न संताप जाता रहा; अतः हृदय शीतल हो गया ।

"गगन ब्रह्मवाणी" इति ।

आकाशवाणीके संबंधकी शंका बड़ी जटिल है । जो कुछ पूर्व लिखा गया है उसीको समझनेके लिये मैं यहाँ उसे एकत्रित कर रहा हूँ । उससे सबके मत ठीकसे समझमें आजायँगे ।

पं० शिवलालपाठकजीका मत है कि 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी । १४१।१ ।' से लेकर 'मोर बचन सबके मन माना ।''' । १८४।८ ।' तक दिव्य परतमकल्पका चरित है । इस परतम प्रभुके अवतार की स्तुति मनुद्वारा हो चुकी है । यहाँ शंकरजीने देवताओंसे कहा कि प्रेम करो, प्रभु प्रकट हो जायँगे । आगे ब्रह्मस्तुति "जय जय सुरनायक०" से लेकर "यह सब रुचिर चरित मैं भाषा । अब सो सुनहु जो बीचहि राखा ।१८८।६।" तक नारदशापावतारका प्रसंग है जो परतम-अवतार-कल्पके चरितको छोड़कर शिवजी कहने लगे थे क्योंकि प्राकृत सृष्टिके लोगोंको परतमके अवतार में विश्वास न होगा ।

दूसरा मत यह है कि मानसमें श्रीरामावतारके हेतु-कथनमें चार कल्पोंके रामावतारका हेतु कहा गया है । तीन कल्पोंमें संक्षेपसे कहा । अंतमें अगुण-अरूप अजादि विशेषणयुक्त ब्रह्मके अवतारका हेतु विस्तारसे कहा क्योंकि इसीमें गरुड़जी और सतीजीको भ्रम हुआ था । मानसमें विस्तृत रूपसे परतम अवतारवाले कल्पकी ही कथा है पर बीच-बीचमें अन्य तीन कल्पोंके प्रसंग सूचक शब्द देकर ग्रंथकारने जना दिया है कि सब कल्पोंकी कथाएँ भी साथ-साथ इसमें ग्रथित हैं । इसीसे इस ब्रह्मस्तुतिमें चारों कल्पोंकी देवस्तुति और आकाशवाणीमें चारों कल्पोंकी आकाशवाणी है जैसा पूर्व दिखाया जा चुका है । यह मत श्रीवैजनाथजी, संत श्रीगुरुसहायलालजी आदि अनेक टीकाकारोंका है ।

तीसरा मत यह है कि यह आकाशवाणी परतमप्रभुके अवतारकी ही है और ब्रह्मवाणी है । अन्य कल्पोंसे इसका संबंध नहीं । यह वाणी 'गंभीर' और 'हरनि सोक संदेह' है । गँभीर अर्थात् गूढ़ है, अगाध है । यहाँ तीन मत वा सिद्धान्तके लोग हैं, इसीसे इसमें ऐसे शब्द आए हैं जिससे तीनोंको संतोष हो, सभीका शोक-संदेह निवृत्त हो, सभी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार वैसा ही समझ लें और अपना (परतम प्रभुका) अवतार गुप्त भी रहे, केवल उसके अधिकारी श्रीशिवजी, भुशुण्डीजी, अगस्त्यजी आदि ही जानें । दोहेके 'हरनि सोक संदेह' शब्द अभिप्रायगर्भित हैं । वाणी इस प्रकारकी न होती तो सबका समाधान न होता ।

* फिरेउ—१६६१

आकाशवाणीके वचन बड़ी युक्तिके हैं । जो उसने कहा वह सब सत्य है । 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा', 'तिन्ह कहँ मैं पूरब बर दीन्हा', 'ते दसरथ कौसल्या रूपा' और 'कोसलपुरी प्रगट नरभूपा' ये सब वाक्य सत्य हैं । कश्यप आदितिने तप किया था, उनको वर मिला था । उन्हींने मनु-शतरूपा होकर परतम-प्रभुके लिये तप किया और वर पाया । (यह त्रिदेव ही जानते थे । क्योंकि इनसे उन्होंने वर नहीं माँगा । सुतराम् श्रीसीतारामजीने उन्हें स्वयं दर्शन देकर उनके मनोरथ पूर्ण किये) । वही कश्यपमनु दशरथरूपसे प्रगट हुए हैं और अदिति-शतरूपा कौसल्या हुई हैं । अतः 'ते दसरथ कौसल्या रूपा । कोसलपुरी प्रगट नर भूपा' भी सत्य है । मनु-शतरूपाके वरदानकी बात सब नहीं जानते और प्रभु अपने अवतारको गुप्त रखना चाहते हैं, अतः आकाशवाणीने मनु-शतरूपाको कश्यप-अदितिमें ही गुप्तरूपसे जना दिया । अधिकारी जान गए, अन्य नहीं ।

आगे आकाशवाणी कहती है 'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई' । यह भी सत्य है । दशरथजीका घर सदा वही है, श्रीअवध वही है, अनादि है । श्रीरामावतार सदा दशरथ-कौसल्याके यहाँ होता है । मनु-शरीर या कश्यप-शरीरमें वह अवतार नहीं होता । श्रीरामावतारके लिये श्रीअवध ही कश्यपका घर है, वही मनुका घर है और वही दशरथका है । इसीसे 'गृह' शब्द बड़ी युक्तिका है ।

अब 'नारद बचन सत्य सब करिहौं ।...' इसको लीजिए । यह भी सत्य है । नारदके वचन ये ही तो हैं कि तुम राजाका शरीर धारण करो, वानर तुम्हारे सहायक बनें, स्त्री-विरह-दुःख तुमको हो । कोई भी रामावतार ऐसा है जिसमें श्रीराम राजा न होते हों ? सभीमें वे राजा होते हैं, सीता-हरण-लीला होती है, वे विरहीका नाट्य करते हैं और वानर ही सहायक होते हैं ।—यदि ये बातें नारद-शाप-कल्पके अतिरिक्त अन्य कल्पोंके अवतारोंमेंसे निकाल डालें तो फिर अन्य कल्पोंमें लीलाका कार्य ही न रह जायगा । न राम राजा होंगे, न सीता-हरण होगा, न रावण मारा जायगा और न कभी देवताओंका शोक संताप मिटेगा । नारद-शापका प्रसंग एक ही अवतारमें समाप्त हो जाता है पर नारद-वाक्य सभी रामावतारोंमें सत्य होते हैं । जो चरित्र प्रभु सदा रामावतार लेकर किया करते हैं, वही एक कल्पमें उन्होंने नारदके मुखसे शापमें भी कहलाए । अ० रा० में नारदवचनकी बात नहीं है फिर भी यह सब चरित्र हुए हैं ।

रा० प्र० का मत है कि आकाशवाणीमें कल्पान्तरोंके सूचक शब्द देकर वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु, क्षीरशायी श्रीमन्नारायण और अपनेमें अभेद बताया । जैसे भृगुने लात मारी विष्णुको और भृगुलता धारण करते हैं सभी लीलावतार तथा वृन्दाका शाप हुआ विष्णुको, पर शालग्रामरूपमें चिह्नभेदसे क्षीरशायी श्रीमन्नारायण और श्रीरामादि सभी भगवत्स्वरूप मिलते हैं । वैसे ही शाप होता है क्षीरशायीको और उसे धारण करते हैं सभी लीलाविग्रह—तत्वतः गुणतः स्वरूपतः भेद प्रदर्शित करनेके लिये । जैसे तीन कल्पोंके अवतारोंका हेतु कहते हुए बताया है कि उनमें कौन रावण हुआ, वैसे ही मनु-शतरूपाके प्रेमसे परतम प्रभु श्रीसीतारामजीके अवतारके लिये कौन रावण हुआ यह बतानेपर ही अगुण अरूप अज ब्रह्मके अवतारका हेतु समाप्त होता है । अतः बताया कि भानुप्रताप इसमें रावण हुआ । उसके अत्याचारसे देवता पीड़ित हो शरणमें गए । तब उनके शोक-संदेह-हरणार्थ आकाशवाणी हुई । अतः इस 'गगन ब्रह्मवाणी' का उसी कल्पसे संबंध होना उचित ही है ।

शापित अवतारोंमें प्रायः आकाशवाणी इस अवसरपर नहीं देखी-सुनी जाती जैसा वाल्मीकीय, अध्यात्म, आदि कतिपय ग्रंथोंसे सिद्ध है । वहाँ वैकुण्ठवासी अथवा क्षीरशायी भगवान्से ब्रह्मादि देवता प्रार्थना करते हैं कि आप रावणको नरावतार लेकर मारें ।

अतः यह मानना कि मनुको वरदान इस कल्पमें हुआ पर उनके लिए अवतार इस कल्पमें नहीं हुआ किसी दूसरे कल्पमें होगा, कहाँ तक ठीक हो सकता है पाठक स्वयं विचार कर लें । प्रभुका श्रीमुख वाक्य

है—"तात गए कछु काल पुनि । होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत ।" तब भला मनु-शतरूपाजी कल्पान्तका वियोग कैसे सह सकेंगे ?

नोट—२ ☞ बाबा श्रीहरिदासाचार्य्यजीने श्रीरामतापनीभाष्यमें श्रुति स्मृति आदि प्रमाणोंसे यह सिद्धान्त किया है कि रामावतार सदा साकेतसे होता है। वैकुण्ठ या क्षीरशायी भगवान् राम नहीं होते। शालग्राम और बल्लौरी शीशे आदिके दृष्टान्तोंसे इस सिद्धान्तकी पुष्टि भी की है। यही मत वेदान्तभूषणजीके लेखोंमें है। मानसके उद्धरणोंसे भी इसकी पुष्टि हो जाती है जैसा अन्यत्र कहीं-कहीं दिखाया भी गया है।

☞ मानसके प्रायः सभी टीकाकारोंने वैकुण्ठाधीश और क्षीरशायीका भी श्रीरामावतार लेना माना है। ग्रन्थोंमें देखा जाता है कि वैकुण्ठाधीश आदि देवताओंके सामने प्रकट हुए हैं और उनकी प्रार्थना सुनकर स्पष्ट कहा है कि मैं नर-शरीर धरकर रावणको मारूँगा। यदि वे श्रीरामावतार नहीं लेते तो उनका वाक्य असत्य ठहरेगा। मानसके 'पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई।२।१३९।५।' आदि वाक्योंसे इनके मतकी पुष्टि भी होती है।

नोट—३ (क) अंशोंके संबंधमें भी मतभेद है। कोई-कोई वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चतुर्व्यूह अवतार मानते हैं। (मा० त० वि०)। कोई शंख, शेष और सुदर्शनका क्रमशः श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न होना मानते हैं, जब वैकुण्ठ या क्षीरसिंधुसे अवतार होता है। साकेतसे अवतार होनेपर श्रीभरतादि भाई जो वहाँ हैं वे ही यहाँ अवतीर्ण होते हैं। (वै०)। और कोई यह मानते हैं कि अवतार सदा साकेतसे होता है और वैकुण्ठाधीश, विराट् तथा भूमापुरुष ही श्रीरामजीके अंश हैं जो श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नरूपसे श्रीरामसेवार्थ अवतीर्ण होते हैं। (वे० भू०)।

(ख) अ० रा० में क्षीरशायी भगवान् विष्णुके वचन इस आकाशवाणीसे मिलते हैं, केवल 'नारद-वचन सत्य सब करिहौं' यह अंश उनमें नहीं है। यथा "कश्यपस्य वरो दत्तस्तपसा तोषितेन मे। २५। याचितः पुत्रभावाय तथेत्यङ्गीकृतं मया। स इदानीं दशरथो भूत्वा तिष्ठति भूतले। २६। तस्याहं पुत्रतामेत्य कौसल्यायां शुभे दिने। चतुर्धात्मानमेवाहं सृजामीतरयोः पृथक्। २७। योगमायापि सीतेति जनकस्य गृहे तदा। १।२।२८।"

नोट—४ श्रीरामचरितमानसमें बाल, अयोध्या और उत्तर काण्डोंमें सब मिलकर नौ आकाश-वाणियाँ हैं। क्रमसे यथा—

(१) चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दिढ़ाई।

(२) देखि उमहिं तप खीन सरीरा। ब्रह्म गिरा भइ गगन गँभीरा॥

(३) माँगु माँगु बर भइ नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी।

(४) नृप सुनि साप बिकल अति त्रासा। भइ बहोरि बर गिरा अकासा॥ बिप्रहु साप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा॥

(५) जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह॥

(६) जग भयमगन गगन भइ बानी। लखन बाहुबल बिपुल बखानी॥

(७) मंदिर माँझ भई नभ बानी। रे हतभाग्य अज्ञ अभिमानी॥

(८) बिप्रगिरा सुनि परहित सानी। एवमस्तु इति भइ नभ बानी॥

(९) सुनि मुनि आसिष सुनु मति धीरा। ब्रह्म गिरा भै गगन गँभीरा॥ एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भक्त कर्म मन बानी॥

अनुमान होता है कि इनमेंसे जो वाणियाँ परात्पर परब्रह्म साकेतविहारीके स्वयं मुखारविंदसे निकली हैं, उन सबोंमें अपने गूढ़ाभिप्रायको जनतापर प्रकट करने हीके लिए महाकविने 'सुहाई', 'बर' और 'गंभीर' इन तीन विशेषणोंमेंसे किसी एकका प्रयोग अवश्य किया है। इस मीमांसाके अनुसार सरकारके अवतार

लेनेसे पूर्व बालकांडमें पाँच बार और उत्तरकांडमें एक बार आकाशवाणीके होनेमें कोई गूढ़ रहस्य अवश्य है। शेष तीन वाणियोंमेंसे एक (छठवीं) जो देवताओंके द्वारा हुई वह प्रसंगानुकूल जगदाधार श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुतिमें कही गई है। महाकवि वहाँ स्पष्टरूपसे लक्ष्मणजीके ही मुखसे क्षात्र धर्मानुकूल रघुकुलाभिमानका निदर्शन कराते हैं। और, सातवीं और आठवीं बार जो आकाशवाणियाँ हुईं वे श्रीशिवजीके मुखारविन्दसे निकली हैं। इनके द्वारा मानसके आदिकवि श्रीशिवजीने भुशुण्डीजीके हृदयको रामतत्व धारण करने योग्य अति पवित्र बनाया और उनको कालान्तरमें लोमशऋषि द्वारा रामचरितमानस प्राप्त करनेका शुभाशीर्वाद दिया।

इन नौके अतिरिक्त एक वाणी और ग्रन्थमें है। वह भानुप्रतापके प्रसंगमें है—'परुसन जबहिं लाग महिपाला। भइ अकासबानी तेहि काला।'— यह वाणी कालकेतु राक्षसकी है जो उसने भानुप्रतापके नाशके निमित्त अंतरिक्षसे कही थी।

नवीं वाणी स्वयं श्रीसरकारकी है। और वह मानसके मुख्याधिकारी श्रीभुशुंडिजीके प्रति आशीर्वादात्मक हुई है। इससे सूचित होता है कि लोमशऋषिके आशीर्वचन जो कागभुशुंडप्रति कहे गए और सरकारने जिनका स्वयं समर्थन किया है अधिकार प्राप्त रामचरित-मानसमें माहात्म्य तथा फल रूपसे अद्यावधि विद्यमान हैं और रहेंगे।—(नारायणप्रसाद मिश्रजी)।

☞ चरित्र और चरित्रनायक दोनोंके अवतार होनेके पूर्व पाँच ही बार ब्रह्मवाणी इसलिये हुई कि मृत्युलोकमें सरकारकी इच्छा पंचायतनरूपसे अवतार लेकर लीला करनेकी थी जिसका संकल्पात्मक बीजरूप निदर्शन ब्रह्मवाणी द्वारा किया गया।

नोट—४ बाबा जयरामदासजी रामायणीके "श्रीरामावतारके विभिन्न हेतु और उनके „रहस्य" शीर्षक (कल्याण ५-६ में दिये हुए) लेखका खुलासा यह मालूम होता है कि वे श्रीरामजीको अगुण अरूप अखण्ड नित्य परब्रह्म निर्गुण और सगुण तथा उससे भी परे नहीं मानते वरंच क्षीराब्धिशायी वा पर-वैकुण्ठनिवासी भगवान्‌का लीला-अवतार ही मानते हैं। त्रिपाद्विभूति पर-वैकुण्ठवासीका लीला तनही मनुजीके समीप आना कहते हैं। उनके ब्रह्म क्षीराब्धिशायी चतुर्भुज हैं। वे त्रिपादद्विभूतिपर-वैकुण्ठके क्षीराब्धिशायी एवं परविष्णुका ही नाम हरि मानते हैं। वे लिखते हैं कि साकेत शब्द ग्रंथमें कहीं नहीं आया अतः साकेतसे मनुजीके सामने द्विभुजरूपका आना कहना भ्रम है।

☞ इस विषयमें कुछ बातें सदा ध्यानमें रखनेसे भ्रमका निवारण पाठक स्वयं करनेको समर्थ रहेंगे। वे ये हैं—

१—'हरि' क्रिया-गुणात्मक नाम है जो भगवान्‌के सभी विग्रहोंके लिये आता है, चाहे वे एकपाद्विभूतिस्थ हों चाहे त्रिपाद्विभूतिस्थ, चाहे निर्गुण निराकार इत्यादि हों चाहे सगुण साकार इत्यादि। यह शब्द ग्रंथमें विष्णु, क्षीरशायी भगवान् और राम तीनोंके लिये आया है—'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान्' कहकर तुरत कहा है कि 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। १२८।१।' इससे स्पष्ट है कि श्रीरामका ही नाम 'हरि' भी है। ग्रंथके मंगलाचरणमें परब्रह्मका नाम राम बताया है—'रामाख्यमीशंहरिम्'। सतीजीको सर्वत्र राम ही त्रिपाद्विभूतिस्थ दिखाई दिये। पुनः मनुजीके सामने उपस्थितको 'छबि समुद्र हरिरूप बिलोकी' कहकर भी यही दिखाया है कि 'राम' का ही नाम 'हरि भी है। ये हरि द्विभुज हैं जिनका प्रतिपादन मानसमें है।

२ मानसमें कहीं साकेत, त्रिपाद्विभूति, परवैकुण्ठ आदि शब्द नहीं आए हैं। "अगुण अखंड अरूप" ब्रह्म कौन है और उसका स्थान कहाँ है, यह लोगोंने अपने-अपने मतानुसार टीकाओंमें लिखा है। मानसमें केवल "विश्वबास प्रगटे भगवाना" ये शब्द स्थानके लिये आए हैं जिसके लिये 'विश्वबास प्रगटे०' शब्द

आए हैं उस निर्गुण अव्यक्त ब्रह्मका दर्शन मनुशतरूपाजीको हो रहा है। उस अव्यक्त ब्रह्मका क्या रूप है वह यहीं दिखाया गया है।

३ यह दर्शन अवतारके लाखों वर्ष पूर्वका है। जो रूप सामने है वह 'लीला-तन' नहीं है, 'नरवेष' नहीं है, वह 'देह धरकर आना' नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सम्मुख उपस्थित विग्रह ये वचन कदापि न कह सकता कि —'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे', 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता'।

४ मानसके उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी ही परधाम, अखंड, निर्गुण, व्यापक आदि विशिष्ट गुण संपन्न ब्रह्म हैं और वे अनेक लीलातन भी धारण करते हैं। वे अवतारी और अवतार दोनों हैं। नित्य अखंड, अगुण इत्यादि रूप वह था जो मनुजीके सामने था और लीलातन वह था जो दशरथ-अजिर-विहारी हुआ और जिसने समस्त लीला की।

५ ब्रह्म श्रीराम जिनका मानसमें प्रतिपादन है उनका अपना धाम भी होना मानसमें ही स्पष्ट कहा गया है। यथा 'रामधामदा पुरी सुहावनि', 'मम-धामदा पुरी सुखरासी' (वक्ता श्रीरामजी हैं, अतः मम = राम), 'पुनि मम धाम सिधाइहहु जहाँ संत सब जाहिं' (इससे रामधाममें सब संतोंका जाना और उसका नित्य, त्रिपाद्विभूतिस्थ होना कहा।)

६ त्रिपाद्विभूतिस्थ रामधामको 'साकेत, अपराजिता, अयोध्या' इत्यादि अनेक नामसे कहा गया है। 'राम' ब्रह्म हैं, यह मानसभरमें सर्वत्र दिखाया गया है—'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' इत्यादि। और श्रीरामतापनीय आदि अनेक उपनिषदों, नारदपंचरात्र तथा अनेक स्मृतियों, संहिताओं और पुराणोंसे प्रतिपादित हैं—पूर्व भी और आगे तथा उत्तरकांडमें प्रमाण भी दिये गए हैं।

७—भुशुण्डि मनमानसहंस 'बालक रूप राम' हैं—'इष्टदेव मम बालक रामा' और शिवजी भी उसी रूपके उपासक जान पड़ते हैं,—'बंदउँ बालरूप सोइ रामू'; पर वह मनुजीके सामने नहीं है। दूसरे, मनुजीके सामने तो भगवान् श्रीसीताजीसहित हैं, और किशोर अवस्थाके हैं।—ठीक यही रूप उपनिषदोंमें ब्रह्म रामका कहा गया है। अतएव पाठक स्वयं सोच लें कि मनु समीप आया हुआ दर्शन साक्षात् ब्रह्मका है या उनके लीलातनका।

☞ यह भी स्मरण रहे कि उपासना ब्रह्म हीकी की जाती है।

८—क्षीरसिंधु, वैकुण्ठ और उनके पर्य्याय शब्द जो नारद-कल्प, जयविजयकल्प, वा जलंधर-कल्पके प्रसंगोंमें आए हैं वे एकपाद्विभूतिस्थ हैं न कि त्रिपाद्विभूतिस्थ। शापादि त्रिपाद्विभूतिस्थको नहीं होते, त्रिपाद्विभूतिमें जाकर पुनरागमन नहीं होता। इत्यादि। पर त्रिपाद्विभूतिस्थ सर्वव्यापक विश्ववास ब्रह्म राम अपने एकपाद्विभूतिस्थ साकार विग्रहोंको मिले हुए शाप स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं, जब उनकी ऐसी इच्छा हो।

९—भगवान्‌के सब नाम नित्य हैं, श्रीराम ब्रह्म सर्वनामनामी हैं।

१०—नारद वचन प्रत्येक कल्पमें सत्य किया जाता है। रावणवधार्थ सदा नरवेष धारण किया जाता है, सदा सीताहरण और विरह-विलापका नाट्य होता ही है और सदा ही वानरोंकी सहायता ली जाती है—बस यही तीन वचन नारदके हैं।

११—प्रायः कश्यप और अदिति ही मनु और शतरूपा होते हैं। दोहा १८७ (३-५) देखिए।

नोट—बाबा जयरामदासजीका मत मानसमें दिये हुए कल्पोंके प्रसंगोंके विषयमें यह है कि यह सब एक ही व्यापक ब्रह्मकी लीला है। वे लिखते हैं कि आकाशवाणीके "प्रसंगमें यह विचारणीय है कि यदि प्रभु एक न होते तो जहाँ भानुप्रतापके रावण होनेपर पृथ्वीको दुःख है, स्वायंभुव मनु और शतरूपाको दशरथ

और कौसल्याके रूपमें जन्म लेना है, वहाँ कश्यप-अदितिके तथा नारदवचनके सत्य करनेका ज़िक्र क्यों आता? नारदशापकी बात तो क्षीराब्धिनाथके समक्षकी है, कश्यप-अदितिको तो जयविजयके राक्षस बननेके अवसर-पर दशरथ और कौसल्याके रूपमें जन्म लेना है। सारांश यह कि यह सब एक ही व्यापक ब्रह्मकी लीला है।"

यदि इसका तात्पर्य्य यह है कि शापादि चाहे जिसको हों पर रावणवधके लिये व्यापक ब्रह्मका ही अवतार होता है (वह ब्रह्म भिन्नभिन्न मतानुसार जो भी हो) तब तो यह भाव बाबा श्रीहरिदासाचार्य्यके पुष्ट किये हुए सिद्धान्तके अनुकूल ही है जो वे० भू० पं० रामकुमारदासजी तथा स्वतन्त्र संपादकीय टिप्पणी-में यत्रतत्र दिया गया है।

श्रीभाईजी हनुमानप्रसादपोद्दारजी लिखते हैं—"भगवान् श्रीरामका प्रपंचातीत भवगत्स्वरूप कैसा है, इस बातको तो भगवान् ही जानते हैं। संसारमें ऐसा कोई नहीं है जो उनके स्वरूपकी यथार्थ और पूर्ण व्याख्या कर सके।...भगवान्‌का जो कुछ भी वर्णन है, वह पूरा न होनेपर भी उन्हींका है, और इस दृष्टिसे भगवान्‌के सम्बन्धमें जो जैसा कहते हैं ठीक ही कहते हैं। भगवान् श्रीराम परात्पर ब्रह्म भी हैं, विष्णुके अवतार भी हैं, महापुरुष भी हैं, आदर्श राजा भी हैं और उनके काल्पनिक होनेकी कल्पना करनेवाला मन आत्मरूप भगवानका ही आश्रित होनेके कारण वे काल्पनिक भी हैं। बात यह है कि भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है, जिसमें सभीका समावेश है क्योंकि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न है, उन्हींमें है, सबमें वे ही समाये हुए हैं—वे ही 'सर्व', 'सर्वगत', 'सर्व उरालय' हैं।

"दशरथात्मज राम साक्षात् भगवान् हैं। हाँ, कल्पभेदसे भगवान् विष्णु रामरूपमें अवतीर्ण होते हैं तो कभी साक्षात् पूर्णब्रह्म परात्पर भगवान्‌का अवतार होता है। परन्तु यह स्मरण रहे कि विष्णु भी भग-वान् हीके स्वरूप हैं, इसलिये स्वरूपतः इनमें कोई तारतम्य नहीं है, लीलाभेदसे ही पृथकत्व है। वे पूर्णब्रह्म, परात्पर ब्रह्म और साक्षात् 'भगवान् स्वयं' हैं।"

"अनेकों ब्रह्माण्ड हैं और सभी ब्रह्माण्डोंमें कल्पभेदसे भगवान्‌के अवतार होते हैं। बहुत बार भगवान् विष्णु ही रामावतार धारण करते हैं, जिस समय विष्णुभगवान्‌का श्रीरामरूपमें अवतार होता है उस समय श्रीलक्ष्मीजी उनके साथ सीतारूपमें अवतीर्ण होती हैं और जिस समय स्वयं परात्पर प्रभु अवतीर्ण होते हैं उस समय उनकी साक्षात्स्वरूपा शक्ति अवतार धारण करती हैं। परात्पर श्रीरामके लिये महारामायणमें कहा गया है—'भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः। करुण्यः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥"

जिस प्रकार परात्पर समग्र ब्रह्म श्रीरामसे समस्त ब्रह्माण्डोंमें भिन्नभिन्न शिव, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उनकी स्वरूपाशक्तिसे अनेकों ब्रह्माण्डोंमें अनेकों उमा, रमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं...परात्पर ब्रह्म ही इन सब रूपोंमें प्रकट है और उन्हींकी शक्तिसे ये सब कार्य्य करते हैं और उतना ही कार्य्य करते हैं जितनेके लिये विधान है। इसी बातको बतलानेके लिये श्रीरामरूप परात्पर पुरुषोत्तम ब्रह्मकी इस प्रकार महिमा गाई गई है—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ बिष्नु कोटि सम पालनकर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहरता॥...बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥'

"रामायणमें 'ब्रह्म' शब्द प्रायः परात्पर समग्र ब्रह्मके लिये ही आया है, वेदान्तियोंके निर्गुण ब्रह्मके लिये नहीं। क्योंकि वह तो गुणोंसे सर्वथारहित है और वह भगवान्‌की एक अभिव्यक्तिमात्र है। उसका अवतार नहीं होता, अवतार तो सगुण ब्रह्मका ही होता है।" (पर मानसका मत यह नहीं जान पड़ता)।

तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा॥९॥

दोहा—निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहै सिखाइ।
बानर तन धरि धरि* महि हरिपद सेवहु जाइ॥१८७॥

* धरि धरनि—को० रा०, १७०४। धरि महि—१६६१, १७२१, १७६२,

अर्थ—तब ब्रह्माजीने पृथ्वीको समझाया। वह निर्भय हुई और उसके जीको भरोसा (ढारस, सन्तोष वा विश्वास) हुआ ॥ ६ ॥ देवताओंको यही शिक्षा देकर कि तुम पृथ्वीपर जाकर भगवत् चरणकी सेवा करो, ब्रह्माजी अपने लोकको गए ॥१८७॥

नोट—१ 'तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा' इति। देवताओंने स्पष्ट सुना, अतः वे निर्भय और सुखी हो गए। तब ब्रह्माने पृथ्वीको समझाया, इस कथनसे जान पड़ा कि पृथ्वी वहीं खड़ी रही, वह न गई। देवताओंका कानसे वाणी सुनना और हृदय जुड़ाना कहा और इसके विषयमें ऐसा न कहकर ब्रह्मांका उसको समझाना कहा। इससे स्पष्ट है कि धरणी आकाशवाणीको नहीं समझ सकी। इसका कारण प्रथम ही कह चुके हैं कि वह रावणके भयसे शोकातुर थी। शोकसे परम विकल थी; यथा 'संग गोतनधारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका।' परम व्याकुलतामें चेतनाशक्ति जाती रहती है। खड़ी देखकर ब्रह्माने उसे समझाया।' पं० रामकुमारजी कहते हैं कि धरणी जड़ है अतः वह न समझ सकी। वि० त्रि० कहते हैं कि ब्रह्माने पृथ्वीको हरिपदस्मरणका उपदेश दिया था, यथा 'धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरिपद सुमिरु। १८४।', वह तबसे हरिपदका स्मरण करती रही, इसीसे उसने बात नहीं समझी। ब्रह्माने बताया कि आकाशवाणी हुई है, उसका तात्पर्य यह है।

वे० भू० जी कहते हैं कि जब देवगण तो प्रसन्न हो गए किन्तु पृथ्वीकी उदासी न गई तब इन्हे समझाना पड़ा। "आकाशवाणी तो स्पष्ट ही है, पृथ्वीकी समझमें क्या नहीं आया जो समझाना पड़ा और क्या समझाया ?" यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है। इसका उत्तर यह है कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं' का आशय उसे न समझ पड़ा। उसने समझा कि नारदशाप तो क्षीरशायी विराट्को हुआ वे ही अवतार लेंगे तो इस रावणका वध उनसे कैसे हो सकता है क्योंकि यह रावण तो राजरोगसरीखा उनको सदा व्याकुल किये रहता है, वे उसका कुछ नहीं कर सकते। यथा "रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर दिन दिन बढ़त सकल सुख राँक सो। क० सुं०।" इसीसे उसे समझाना पड़ा कि श्रीरामजीको परोक्ष प्रिय है—'परोक्षवादो ऋषयः परोक्षो हि मम प्रियः। भा० ११।' अतः इस वाणीमें भी परोक्षवाद है। अवतार तो साकेतसे ही होगा, क्योंकि दाशरथी राम वे ही होते हैं दूसरा नहीं। तब उसको शान्ति मिली।

२ 'अभय भई भरोस जिय आवा।' इति। ब्रह्माके समझानेसे वह निर्भय हुई। क्या भरोसा हृदयमें आया ? यही कि "प्रभु भंजिहि दारुन बिपति'। ब्रह्माने क्या समझाया ? यही कि आकाशवाणी हुई है कि 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु०'। प्रभु संपूर्ण भारको भंजेंगे। अवधपुरीमें राजा दशरथजीके यहाँ नररूपसे अवतार लेकर रावणका सपरिवार नाश करेंगे। 'धरनि धरहि मन धीर' और भगवान्का स्मरण कर। पुनः, विजयदोहावलीके अनुसार ब्रह्माजीका पृथ्वीको इस तरह धीरज देना कहा जाता है कि हम तेरे लिए त्रेतायुग द्वापरके पहिले ही किये देते हैं, यथा "सुनि ब्रह्माके बचन महि तब मन कीन्ह बिचार। द्वापर दीन्हे पाछ करि त्रेता कियो अगार'। कल्पभेदसे ऐसा हो सकता है पर इस ब्रह्मवाणीसे दशरथकौशल्याका आविर्भाव आकाशवाणीके पूर्व ही हो चुकना स्पष्ट है और वे त्रेतामें हुए ही हैं, इस वाणीमें इस भावसे विरोध देख पड़ता है। दूसरे सत्ययुगके बाद प्रथम द्वापर था इसका कोई प्रमाण नहीं।

३ ☞ पृथ्वीके भयका प्रसंग 'अतिशय देखि धर्म कै ग्लानी' १८४ (४) से चला। 'परम सभीत धरा अकुलानी' उपक्रम है और 'अभय भई भरोस जिय आवा। १८७।६।' उपसंहार है। इस तरह 'भरोस जिय आवा' का भाव खोला कि व्याकुलता दूर हो गई। मनको विश्राम हुआ, यथा—'भूमिसहित मन कहुँ बिश्रामा।१८८।१।'

४ 'निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहै सिखाइ' इति। ब्रह्माने ही धरणीको समझाया (क्योंकि वह समझी न थी) और देवताओंको सिखाया क्योंकि ये सबोंसे बड़े हैं, और यही यहाँ अगुआ भी हैं।

५ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं— 'यूयं सृजध्वं सर्वेऽपि वानरेष्वंशसम्भवान्। विष्णोः सहायं कुरुत यावत्स्थास्यति भूतले। ३०। इति देवान्समादिश्य समाश्वास्य च मेदिनीम्। ययौ ब्रह्मा स्वभवनं विज्वरः सुखमास्थितः। १।२।३१।" अर्थात् तुम लोग भी सब अपने-अपने अंशसे वानरवंशमें पुत्र उत्पन्न करो और भगवान् विष्णुकी सहायता करो। देवताओंको यह आज्ञा देकर और पृथ्वीको ढाढ़स बँधाकर ब्रह्माजी अपने लोकको चले गए।

वाल्मी० १.१७. में ब्रह्माकी आज्ञा पाँच श्लोकोंमें है। उन्होंने कहा है कि प्रधान अप्सराओं, गन्धर्वकी स्त्रियों, यक्ष और नागकी कन्याओं, भालुकी स्त्रियों, विद्याधरियों, किन्नरियों और वानरियोंमें अपने समान पुत्र आप लोग उत्पन्न करें पर उनका रूप वानरका होना चाहिए। वे वानर किन गुणोंसे सम्पन्न हों यह भी बताया है।

पं० रामकुमारजी—"पूर्व रावणने वर माँगा था कि 'हम काहूके मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे'। आकाशवाणी हुई कि 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा।०' अर्थात् हम मनुजरूपसे अवतरेंगे, इसीसे ब्रह्माने देववृन्दको वानररूप धरनेकी आज्ञा दी। साक्षात् देवता भूमिपर पैर नहीं धरते इसीसे स्पष्ट कहा कि पृथ्वीपर जाकर रहो।" वानरतन धरनेको इससे भी कहा कि ब्रह्मवाणीमें है कि 'नारद बचन सत्य सब करिहौं' और नारदजीने कहा ही था कि 'करिहहि कीस सहाय तुम्हारी।'

नोट—६ यहाँ यह शंका प्रायः की जाती है कि पूर्व कहा है कि 'सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका' और फिर वहाँसे ब्रह्माका अन्यत्र जाना नहीं कहा गया। तो फिर 'निज लोकहि बिरंचि गे' कहनेका क्या अभिप्राय है? इसका समाधान कई प्रकारसे किया गया है।—१ यह क्षीरशायी वाले कल्पके अनुसार है। अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि ब्रह्मादि क्षीरसागरको गए थे फिर वहाँसे लौटकर ब्रह्मलोकको आये। यथा—"तस्मात्क्षीरसमुद्रतीरमगमद् ब्रह्माथ देवैर्वृतो। अ० रा० १।२।७।"""ययौ ब्रह्मा स्वभवनं""। ३१।" २—ब्रह्माजीके दो लोक हैं एक तो सुमेरपर जिसे सभालोक वा सुरसभा स्थान कहते हैं; दूसरा उनका निजलोक ब्रह्म वा सत्यलोक। सभालोकमें ब्रह्माकी कचहरी होती है। वहीं सब जाकर अपनी पुकार किया करते हैं, वहीं अबकी भी गए। वहीं स्तुति हुई। अब वहाँसे ब्रह्माजी अपने निजलोकको गए। पूर्व 'बिरंचिके लोका' से कचहरी और 'निज लोकहि' से ब्रह्मलोक जानिए। ३—ब्रह्माजीने सबको वानरतन धरनेकी आज्ञा दी और फिर आप भी अपने लोक किष्किन्धाको जाम्बवान्‌रूप धारण करके गए। वा, ४—'निज लोकहि' अपने बारेमें कहा कि हम भी जाम्बवान् रूप धरकर जाते हैं, तुम भी चलो। यथा 'पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः। वाल्मी० १।१७।७।'

प्रोफेसर श्रीरामदासजी गौड़ इस विषयमें यह लिखते हैं—"बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा॥" प्रश्न होता है कि यह देवसभा कहाँ बैठी थी? यह तो निश्चय है कि बैकुंठ में और क्षीरसागरमें नहीं थी, नहीं तो इन दोनों जगहोंपर जानेका प्रस्ताव न होता। ब्रह्मलोकमें भी यह सभा नहीं बैठी, क्योंकि आगे कहते हैं, 'निज लोकहि बिरंचि गे'। किसी और देवताके धाममें भी नहीं थी, क्योंकि 'गये देव सब निज निज धामा' इसका निषेधार्थक है। ब्रह्माजीके लोकतक जानेका तो उल्लेख है ही। 'धरनि धरहि"'बिपति'। यही ब्रह्माजीका अन्तिम वाक्य ब्रह्मलोकमें है। ब्रह्माजीने जब अनुमान कर लिया कि 'मोर कछू न बसाई', मेरा भी कोई बस नहीं है, तब आगे उनका कर्त्तव्य क्या रहा?

बेबसीकी बात यह थी कि ब्रह्मा और शिवने ही मिलकर रावणको वर दिया था। देवताओंकी मंडलीमें जो ब्रह्मलोक पहुँची थी, भगवान् शंकरकी चर्चा नहीं है। परन्तु जब देवता लोग कहीं बैठकर विचार करते हैं, तो वहाँ भगवान् शंकर कहते हैं 'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ'। अपना उस समाजमें उपस्थित रहना पहले-पहल कहते हैं; कथा कहनेवाले स्वयं ठहरे। अन्तमें ब्रह्मादि देवताओंका अपने अपने धामको जाना भी कहते हैं—'गये देव सब निज निज धामा।' परन्तु अपने जानेकी वा अपने स्थानको

चले आनेकी कोई चर्चा नहीं करते। प्रसंगसे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् शंकर 'उस समाजमें थे और अपने ही स्थानपर थे', इसीलिए न अपने आनेकी चर्चा की, न जानेकी। समाज में उपस्थित रहने मात्रकी चर्चा स्पष्ट कहे देती है कि यह देवसभा शिवलोकमें हुई थी, और यह परम्परा भी चली आयी है कि जब जब देवोंपर संकट पड़ता है ब्रह्माजी सब देवताओंको लेकर पहले भगवान शंकरके पास जाते हैं, तब सब मिलकर भगवान् विष्णुके पास जाते हैं। यह सदाकी विधि यहाँ भी बरती गई है।

प्रसंग और ध्वनिसे ही घटनास्थलकी सूचना देना कवित्वका अपूर्व चमत्कार है। साथ ही यह भी कोमलता ध्यान देने योग्य है कि भगवान् शंकर स्वयं कथा कहते हैं, अपनी महत्तासूचक किसी घटनाका वर्णन, विशेषतः अपने इष्टदेवकी चर्चाके साथ, विनय और शिष्टाचारके विरुद्ध है। भगवान् शंकर तो उस सभाके प्रमुखोंमेंसे हैं, उन्हींके पास लोग दोहाई देने गये हैं। परन्तु शालीनता और नम्रताकी हद है कि कहते हैं 'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन इक कहेऊँ।' फिर 'मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु कहि ब्रह्म बखाना', बात सबको भा गयी। विनयपूर्वक कहनेका कैसा उत्तम ढङ्ग है। वास्तव में भगवान् शंकरका फैसला था कि काम यों होना चाहिये। (स्वभावतः ब्रह्माजी अगुआ हुए, जिनकी सृष्टि थी, जिसकी रक्षा उन्हें इष्ट थी, पर उनके हाथमें न थी। आकाशवाणीके बाद सभा विसर्जित हुई। भगवान् शंकर रह गये। सब चले गये।)

गए देव सब निज निज धामा। भूमि सहित मन कहुं बिस्रामा ॥१॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥२॥
बनचर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥३॥
गिरि तरु नख आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहिं मति धीरा ॥४॥
गिरि कानन जहं तहं भरि* पूरी। रहे निज निज अनीक रचि† रूरी ॥५॥

अर्थ—सब देवता अपने-अपने स्थानको गए। पृथ्वीसहित सबके मनको विश्राम हुआ ॥१॥ ब्रह्माजीने जो कुछ आज्ञा दी थी उसमें देवता प्रसन्न हुए और (उसके पालनमें) देर न की ॥२॥ पृथ्वी पर उन्होंने वानरदेह धारण की। उनमें बेअंदाज (अमित) बल और प्रताप था ॥३॥ सब वीर थे। पर्वत, वृक्ष और नख उनके अस्त्रशस्त्र थे। वे धीरबुद्धि भगवान्‌की राह देखने लगे ॥४॥ अपनी-अपनी सेना बनाकर जहाँ तहाँ पर्वतों और जंगलोंमें वे भरपूर छा गए ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'गए देव सब निज निज धामा।०' इति। ब्रह्माजी अपने लोकको गए, यथा—'निज लोकहिं बिरंचि गे' और देवता अपने अपने धामको गए। भाव कि ये धाम से भागे भागे फिरते थे—'देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा', अब निर्भय होनेसे निज निज धामको गए। 'मन कहुँ बिश्रामा' कहनेका भाव कि शोक और संदेह के कारण मनका विश्राम चला गया था, शोकसंदेह मनमें होता है। आकाशवाणीसे शोकसंदेह दूर हुआ। अतः अब मनको विश्राम हुआ। (ख) 'भूमि सहित मन कहुँ बिश्रामा' कहनेका भाव कि यहाँ भूमि मुख्य है, प्रथम यही व्याकुल होकर देवोंके पास गई थी, देवता उसे लेकर ब्रह्माके पास गये। (ग) 'हरषे देव बिलंब न कीन्हा' इति। ब्रह्माजीकी आज्ञा है कि 'बानरतनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ'; इसमें भगवान्‌के चरणोंकी प्राप्ति समझकर हर्ष हुआ, वानरतन धरनेकी आज्ञा पालन करनेमें खेद न हुआ। क्योंकि जिस शरीरसे भगवान्‌की प्राप्ति हो वही सुन्दर है; यथा 'जेहि सरीर रति राम सों सोइ आद-

*—महि पूरी—१७२१, छ०। भरि पूरी—१६६१, १७०४, १७६२, को० रा०। †—'रुचि रूरी'—१७०४, १७६२। रचि रूरी—१६६१, को० रा०। छ० का पाठ है—'रहेनि तहाँ निज निज रचि रूरी'।

रहिं सुजान । रुद्रदेह तजि नेह बस बानर भे हनुमान । दोहावली १४२ ।', 'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा । जो तन पाइ भजिअ रघुबीरा । ७.९६ ।' दोहा १८.२ मा० पी० भाग १ पृष्ठ ३०५, ३०६ देखिए । भगवान्‌के चरणोंकी प्राप्तिका और शत्रुको मारनेका बड़ा उत्साह हुआ । इसीसे विलंब न किया । अथवा, भगवान्‌ने शीघ्र ही अवतार लेनेको कहा है; यथा 'तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई', अतएव तुरंत आज्ञा पालन की ।

२ (क) 'जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा' । आज्ञा प्रथम लिख चुके हैं वही यहाँ 'जो कछु' से जनायी । अथवा भाव कि आज्ञा होने पर फिर उस पर कुछ भी विचार न किया कि हम देवतन छोड़कर वानर कैसे हों क्योंकि गुरुजनोंकी आज्ञा पाकर उसमें पसोपेश करना, उस पर विचार करना कि करने योग्य है या नहीं, करें या न करें, दोष माना गया है । यथा 'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी । बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी । ७७.३ ।', 'गुरपितु मातु स्वामि हित बानी । सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी । उचित कि अनुचित किये बिचारू । धरमु जाइ सिर पातक भारू । अ० १७७ ।'' विचार करने से पाप लगता, अतः विचार न किया । मुदित होकर बड़ोंका वचन मानना चाहिए, अतः हर्षित होकर आज्ञाका पालन किया । 'बिलंब न कीन्हा' में ध्वनि यह है कि यह आज्ञा ऐसी थी कि इसके करनेमें संकोच होता, इसमें दुःख और विलंब करने की बात थी, वह यह कि देवतासे वानर होना निषिद्ध है । [पंजाबीजी का मत है कि हर्ष इससे हुआ कि इस कार्य्यसे शोक हरण होनेकी आशा है, दूसरे भगवत्सेवामें मन लगेगा और तीसरे इस शरीर से रावणसे बदला भी लेंगे] । (ख) ब्रह्माजीने शरीर धारण करनेकी आज्ञा दी क्योंकि शरीर धारण उन्हींकी आज्ञासे होता है, कर्मके अनुसार ब्रह्मा तन देते हैं ।

३ ''बनचर देह धरी छिति माहीं ।०'' इति । देवता (अपने साक्षात् रूपसे) पृथ्वीका स्पर्श नहीं करते, वानररूपसे उन्होंने उसका स्पर्श किया । जैसे देवोंमें अतुलित बल और अतुलित प्रताप होता है वैसा ही वानरोंमें है ।

नोट—१ जब उतना ही बल है तब ये रावणका क्या कर सकेंगे, भागे भागे फिरेंगे ? यह शंका हो सकती है । इसका समाधान यह है कि वरदानके कारण देवबल उसपर कुछ कारगर नहीं होता, नहीं काम देता । वानर और मनुष्य दोको वह छोड़ चुका है, उनमें जब वह देवबल होगा । तब तो वह पराजित होगा ही । पुनः, अतुलितका भाव यह भी हो सकता है कि देव-शरीर और राक्षसोंसे इनमें अधिक बल है ।

वाल्मीकीयमें ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा है कि आप लोग अपने समान पराक्रमी वानररूपधारी पुत्र उत्पन्न करें जो बलवान् हों, कामरूप हों, राक्षसीमायाको जान सकते हों, वीर, नीतिज्ञ, वायुवेगवाले, अवसरानुकूल उपाय करनेकी बुद्धिवाले, अस्त्रविद्याके ज्ञाता और विष्णुके समान पराक्रमवाले हों । यथा 'विष्णोः सहायान्बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ।२। मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमाञ्जवे । नयज्ञान्बुद्धिसंपन्नान्विष्णुतुल्य पराक्रमान् । ३ । असंहार्यानुपायज्ञान्सिंहसंहननान्वितान् । सर्वास्त्रगुणसंपन्नानमृतप्राशनानिव ।४।' ··· सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान् । ६ ।'' (सर्ग १७) । वे ऐसे हों कि शत्रु द्वारा अपने पक्षसे हटाये न जा सकें ।—ये सब भाव 'अतुलित बल प्रताप तिन्ह माहीं' में आ जाते हैं । जैसे राक्षसोंका बल कहनेमें ''अति बल कुंभकरन अस भ्राता ।'' इत्यादि कहा है, वैसे ही उनसे विशेष बल होनेका भाव यहाँ 'अतुलित बल ···' से जनाया । अतुलित प्रताप कहकर जनाया कि ये जयमान होंगे क्योंकि प्रतापसे सर्वत्र जय होती है ।

वै० भू०जीका मत है कि देवशरीरमें इन पर रामकृपा नहीं थी, इसीसे राक्षसोंसे भागे भागे फिरते थे । जिसपर रामकृपा होती है उसके लिए तो कहा गया है कि 'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल' इत्यादि । वानरशरीरमें उनपर कृपा होनेसे उनमें अतुलित बल आ गया । यथा 'राम कृपा अतुलित बल तिन्हहीं', 'रामकृपा बल पाइ कपिंदा । भए पक्षयुत मनहुं गिरिंदा ।' इसीसे वानररूपसे वे राक्षसों पर विजयी हुए ।

२ 'बनचर देह धरी' इति । देवता, महर्षि, गरुड़, नाग, किंपुरुष, सिद्ध विद्याधर, उरग सभीने

हजारों पुत्र उत्पन्न किये। चारणोंने अप्सराओं, विद्याधरियों, नागकन्याओं और गंधर्विनीयोंसे कामरूपी सिंहसमान गर्वीले बलवान् वानर उत्पन्न किये, नख और पर्वत ही जिनके आयुध हुए। इन्द्रने बालिको, सूर्यने सुग्रीवको, वृहस्पतिने बुद्धिमान् तारको, कुबेरने गन्धमादनको, विश्वकर्माने नलको, अग्निने नीलको, अश्विनीने मयन्द और द्विविदको, वरुणने सुषेणको, पर्जन्यने शरभको उत्पन्न किया, वायुके द्वारा (रुद्रसे) हनुमान् और ब्रह्मासे जाम्बवान् उत्पन्न हुए। इन सबोंका बल अप्रमेय था, "अप्रमेयबला वीरा" वाल्मी० १.१७.१८ ही मानसका 'अतुलित बल' है।

टिप्पणी—४ पूर्व कहा था कि 'गए देव सब निज निज धामा' और यहाँ कहते हैं कि 'बनचर देह धरी छिति माहीं' इससे जनाया कि साक्षात् देवरूपसे ये सब अपने अपने धाममें भी रहे और अपने अपने अंशोंसे वानरतनसे पृथ्वीमें अवतरित भी हुए। ☞ बल और प्रतापसे शत्रु जीता जाता है, इसीसे वानर तनमें दोनोंका वर्णन किया।

५ "गिरि तरु नख आयुध सब बीरा।०" इति। 'हरिमारग चितवहिं' का एक भाव तो यह है कि सब वीर हैं, मतिधीर हैं अतः राह देखते हैं कि कब भगवान् आवें, शत्रुपर चढ़ाई करें तो हम भी चलकर युद्ध करें। दूसरे यह कि ब्रह्माजीकी दो आज्ञायें हैं एक तो वानरतन धरकर पृथ्वीपर रहनेकी सो वानरतन तो धारण ही कर लिए। दूसरी आज्ञा है कि 'हरिपद सेवहु जाइ।' वह हरिपदसेवा अभी बाक़ी है। उसके लिए हरिकी राह देख रहे हैं। इस तरह दोनों आज्ञाओंमें तत्पर दिखाया। पुनः 'हरिमारग चितवहिं' कहकर सूचित करते हैं कि ब्रह्माजीने यह भी कह रक्खा था कि भगवान् आकर तुमको मिलेंगे। अतः उनकी बाट जोह रहे हैं। 'गिरि तरु नख' आयुध हैं, यह कहकर जनाया कि अपनेको छिपाए हुए हैं। रावणकी मृत्यु नर वानरके ही हाथ है, अन्यसे नहीं है। अतः जैसा रूप धारण किया, वैसे ही हथियार भी हैं। ☞ यहाँ वानरोंमें चार गुण दिखाए—बल, प्रताप, वीरता और बुद्धि।

६ अध्यात्म रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—"देवाश्च सर्वे हरिरूपधारिणः स्थिताः सहायार्थमितस्ततो हरेः। महाबलाः पर्वतवृक्षयोधिनः प्रतीक्षमाणा भगवन्तमीश्वरम्। १.२.३२।"

७ "गिरि कानन···" इति। पं० रामकुमारजी 'महि पूरी' 'रुचि रूरी' पाठ देकर अर्थ करते हैं कि वानरोंसे पृथ्वी पूर्ण हो गई, अपनी सुन्दर रुचिसे वे वानर हुए हैं। 'भरिपूरी' =भरपूर पूर्ण भरकर। 'निज निज अनीक रचि' से जनाया कि सेना और सेनापति दोनों हैं। जो विशेष देवता हैं, वे राजा और सेनापति हैं और जो सामान्य हैं वे सेनाके सुभट हैं। भाव यह कि देवोंमें जो मुखिया थे, वे यहाँ भी मुखिया हुए, जैसे वहाँ उनके यूथ थे, वैसे ही यहाँ भी उनके यूथ हैं और वे यूथपति हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—१ कलाके दृष्टिकोणसे देवताओंकी प्रार्थना और आकाशवाणीका प्रसंग बड़े महत्त्वका है। यह प्रसंग इतना सुन्दर है कि भारतवर्षमें नाटकोंके प्रारम्भमें अभिनेताओंका एकत्रित होकर प्रार्थना करनेके दृश्यकी प्रथा ही चल पड़ी।

२ नाटकीय और महाकाव्य कला दोनोंका बड़ा सुन्दर एकीकरण है। यह विचारणीय है कि मिल्टनने भी जब "पैराडाइज लास्ट" को नाटकीयमहाकाव्यरूपमें लिखना प्रारम्भ किया था, तब दैविक प्रार्थनासे ही प्रारम्भ किया था।

३ बनचर—(१) वास्तवमें देवता ही थे—(२) आधिदैविकवादके अनुसार तुलसीदासजीने पृथ्वी, पर्वत, सूर्य्य इत्यादिके अभिमानी देवताओंका रूप माना है। अधिक विस्तारसे आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक वादोंकी विवेचना देखनी हो तो तिलकका 'गीता रहस्य' देखिये। (३) हम यदि तुलसीदासजीके मतसे सहमत न हों तो भी उनके ग्रन्थोंके समझनेके लिये उनके मतसे उतनी सहानुभूति अवश्य रखनी चाहिये जितनी मिल्टन पढ़ते समय उस महाकविके मतसे एक अँग्रेज़ रखता है।

यह सब रुचिर चरित मैं भाषा । अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥६॥

अर्थ—मैंने यह सब सुन्दर चरित कहा । अब वह (चरित) सुनो जो बीच में रख छोड़ा था ॥६॥

वि० त्रि०—रावणावतारके चरितको रुचिर कहते हैं, पुनीत नहीं कह सकते । बहुत उच्चकोटिके जीव शापित होकर रावण होते हैं । उन्हींके कारण साक्षात् प्रभुको नरशरीर धरकर आना पड़ता है । अतः रावणका चरित भी रुचिर है । वह जो स्वाँग लेता है उसका ऐसा पूरा निर्वाह करता है कि सिवा प्रभुके आनेके उपायान्तर नहीं रह जाता ।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए । १२१.१ ।' उपक्रम है और 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा' उपसंहार है । 'सब चरित' अर्थात् जय विजय, जलंधर, नारद, मनु, भानुप्रताप, रावणके जन्म तप विभव और उपद्रव, पृथ्वी और देवताओं की व्याकुलता, ब्रह्मस्तुति देवताओंका वानरतन धारण करना,—यह सब कहे । (ख) 'जो बीचहिं राखा' इति । भगवान्‌ने मनुजीसे कहा था कि 'होइहहु अवध-भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत । १५१ ।' इस (अवधमें जाकर राजा हुए इत्यादि) कथाका वहाँ मौका न था इससे श्रीदशरथजीकी कथा बीचमें छोड़ दी थी । अब रावणके अत्याचार होनेपर ब्रह्माके स्तुति करनेपर आकाशवाणी हुई कि हम दशरथजी के यहाँ रघुकुलमें अवतार लेंगे । अतः अब उस कथाका उचित समय है । पुनः भाव कि शिवजीने पार्वतीजीसे रामावतार कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, यथा 'सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ । १२० ।' और कहने लगे हेतु, यथा 'हरि अवतार हेतु जेहि होई । इदमित्थं कहि जाइ न सोई । १२१.२ ।' इत्यादि । यहाँ तक अवतारके हेतु कहे । अवतार बीचमें कहना रह गया, केवल हेतु हेतु कहे । अब अवतार सुननेको कहते हैं ।

नोट—१ पं० शिवलालपाठकजीके मतानुसार रावणका दिग्विजय आदि कहते-कहते नारदकल्पकी स्तुति और ब्रह्मवाणी कहने लगे थे अब उसको समाप्त करके फिर पूर्व कथाका प्रसंग मिलाते हैं । नारद कल्पकी स्तुति और ब्रह्मवाणी इससे बीचमें कहदी कि जिसमें परतम प्रभुका अवतार गुप्त रहे, यथा 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ' ।

टिप्पणी—२ सब कल्पोंमें कुंभकर्ण और रावणका जन्म कह कहकर तब रामजन्म कहा है । यथा (१) "भए निसाचर जाइ तेइ महाबीर बलवान । कुंभकरन रावन सुभट सुरबिजई जग जान । १२२ ॥" "एक बार तिन्हके हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥" (२) "तहां जलंधर रावन भयऊ । रन हति राम परमपद दयऊ ॥ एक जनम कर कारन एहा । जेहि लगि राम धरी नरदेहा ॥ १२४ २-३ ।" (३) 'चले जुगल मुनिपद सिर नाई ॥ एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार ॥ १३९ ।' तथा इस कल्पमेंभी रावण का जन्म कहकर अब रामजन्म कहते हैं । 'अब सो सुनहु जो बीचहि राखा' यह कहकर मनुशतरूपाका प्रकरण भानुप्रतापके प्रकरणसे मिलाते हैं । तात्पर्य्य कि मनुप्रार्थित श्रीरामजीने भानुप्रताप रावणकावध किया ।

नोट—२ यहाँ तक श्रीपार्वतीजीके "प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी । ११०.४ ।" "राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी । सर्बरहित सब उर पुर बासी ॥ नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू । १२०.[illegible] ।" इस प्रश्नका उत्तर हुआ ।

अवतार-हेतु-प्रकरण समाप्त हुआ ।

(तदन्तर्गत भानुप्रताप-रावण-प्रकरण भी समाप्त हुआ)

"मानस-पीयूष" (बालकांडका "पूर्वार्द्ध") भाग २ समाप्त हुआ ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।